

सचित्र आयुर्वेद

मार्च, १९७८





प्रकाशक

बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि.
बैद्यनाथ भवन रोड, पटना-१

सूचना

सचित्र आयुर्वेद के पाठक कृपया ध्यान दें

सचित्र आयुर्वेद के ग्राहकों एवं अन्यान्य सदस्यों को सूचित किया जाता है कि आयुर्वेद के क्षेत्र में भारत में अब तक जो कुछ प्रगति हुई है उसके अध्ययनार्थ फरवरी ७८ माह के प्रथम सप्ताह में बी. एच. यू. में सदर्न इलीनायस यूनिवर्सिटी स्कूल आफ मेडीसिन, स्प्रिंगफिल्ड (अमेरिका) के कुछ डेलीगेट भारत भ्रमण के सिलसिले में आये थे। चूँकि इन विदेशी अतिथियों को सचित्र आयुर्वेद के फरवरी अंक की १-१ प्रति भेंट देनी थी अतएव उक्त अंक को हमने सम्पूर्ण रूप से अंग्रेजी में ही प्रकाशित किया था। सचित्र आयुर्वेद के अंग्रेजी भाषा से अनभिज्ञ पाठकों को एतदर्थ जो असुविधा हुई है उसके लिये हम क्षमा प्रार्थी हैं। भविष्य में सचित्र आयुर्वेद का सभी अंक पूर्ववत् हिन्दी, अंग्रेजी में ही निकला करेगा। फरवरी अंक के सम्बन्ध में पाठकों को व्यर्थ में पत्राचार से बचाने के लिये हमने यह सूचना निकाली है।

आशा है, हमारे पाठकवृन्द हमारी असमर्थता को ध्यान में रखते हुए हिन्दी में फरवरी अंक पुनः भेजने का आग्रह नहीं करेंगे।

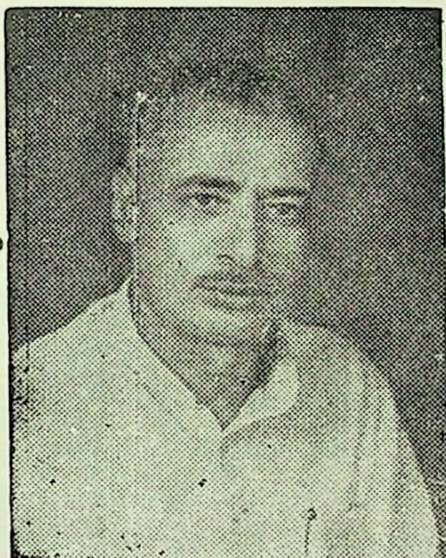
व्यवस्थापक
सचित्र आयुर्वेद

संरक्षक :
आयुर्वेद चक्रवर्ती, आयुर्वेद-शिरोमणि, प्राणाचार्य पं० दुर्गा प्रसाद शर्मा, आयुर्वेदाचार्य
परामर्शदाता :
आयुर्वेद-वृहस्पति आचार्य रामरक्ष पाठक
संपादक :
श्रीकान्त शास्त्री, एम. ए.

विषय-सूची

वार्षिक मूल्य १० रु.] [एक प्रति १ रुपया

'आयुर्वेद - वारिधि' की सम्मानोपाधि से विभूषित



प्राणाचार्य पं० दुर्गा प्र० शर्मा



आचार्य पं० रामरक्ष पाठक

अभी हाल ही में (८, फरवरी, ७८) वाराणसी में विद्वत् परिषद के तत्वावधान में सम्पन्न एक विशेष दीक्षान्त समारोह में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राच्य विद्या विभाग (डीन, फेकल्टी आफ द ओरियेन्टल लर्निंग) के अध्यक्ष श्री मधुसूदन शास्त्री के कर-कमलों से आपलोगों को "आयुर्वेद वारिधि" की सम्मानोपाधि से सम्मानित किया गया। आपलोगों का सम्मान जहाँ आयुर्वेद-जगत का गौरव-वृद्धि करता है, वहाँ आयुर्वेद-क्षेत्र में काम करने की प्रेरणा भी देता है। उभय महानुभावों को 'सचित्र आयुर्वेद' परिवार की ओर से अनेक बधाइयाँ।

—संपादक

सम्पादकीय

शत-शत अभिनन्दन

संयुक्त राष्ट्र अमरीका के सदर्न यूनिवर्सिटी स्कूल आफ मेडिसिन के ६ सुख्यात डाक्टरों का एक दल, अभी हाल ही में भारत आया था—जिसका उद्देश्य मनुष्य की सर्वाङ्गीण चिकित्सा सम्बन्धी कार्यक्रम में आयुर्वेद किस हद तक सहायक हो सकता है इस सम्बन्ध में अध्ययन करके जानकारी प्राप्त करना था। सेन्ट्रल कौंसिल आफ इण्डियन मेडिसिन के तत्वावधान में मासव्यापी कार्यक्रम तैयार कर उन अमरीकी डाक्टरों को आयुर्वेद के सम्बन्ध में समुचित जानकारी दी जा सके, इसका प्रबन्ध कौंसिल के चेयरमैन आयुर्वेद-चक्रवर्त्ती पं० शिवशर्मा के नेतृत्व में किया गया। डाक्टरों का यह दल भारत के उन स्थानों पर भी निरीक्षणार्थ गया जहां आयुर्वेद की शोध संस्थाएं कार्यरत हैं और जहां आयुर्वेदीय-पद्धतिसे ही रोग-निवारणके कार्य होते हैं—जिनमें बम्बई, दिल्ली, जामनगर, वाराणसी, पटियाला प्रभृति प्रमुख थे। आयुर्वेद के मूर्धन्य विद्वानों के आयुर्वेद के विविध अंग-उपांगों पर व्याख्यान का प्रबन्ध भी इस अवसर पर किया गया था और विदेशी विद्वानों द्वारा उठाये गए सन्देहास्पद प्रसंगों का निराकरण भी विद्वान भाषणकर्त्ता प्रश्नोत्तर प्रणाली से व्याख्यानोपरान्त किया करते थे। इसमें सन्देह नहीं कि इन व्याख्यानों से विदेशी विद्वानों के मानस में भारतीय चिकित्सा-प्रणाली की एक स्पष्ट रूपरेखा बनी होगी।

दिल्ली और वाराणसी में इन पंक्तियों के लेखक को भी इस दश विदेशी विद्वानों के साहचर्य का अवसर प्राप्त हुआ था और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के मौलिक सिद्धान्त विभाग के वरिष्ठ प्राध्यापकों—जिनमें प्रोफेसर एल० बी० सिंह तथा डा० ज्योतिर्मित्र प्रमुख थे, के साथ उनलोगों से विचार-विनिमय के भी अवसर आए। अमरीकी विद्वानों में आयुर्वेद के प्रति गहरी निष्ठा थी—उनमें आयुर्वेद का उपयोग आधुनिक चिकित्सा के स्तर पर किए जाने की दृढ़ भावना जोर मार रही थी—और इस प्राचीन चिकित्सा-पद्धति के सर्वाङ्गीण अध्ययन-अध्यापन के प्रति वे अत्यन्त जिज्ञासु थे। अमरीकी डाक्टरों का मूलोद्देश्य अमरीका में प्रचलित आधुनिक चिकित्सा-पद्धति के साथ कतिपय जीर्ण व्याधियों (क्रॉनिक डिसीजेज) के उन्मूलन में आयुर्वेदीय चिकित्सा-पद्धति का कहां तक तालमेल बैठाया जाकर उपयोग किया जा सकता है, तत्सम्बन्धी सम्भावनाओं का अध्ययन ही था।

जैसा कि, श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०, पटना के संयुक्त प्रबन्ध-निदेशक, आयुर्वेद चक्रवर्त्ती पं० दुर्गा प्रसाद शर्मा द्वारा आयोजित वाराणसी स्थित डायमण्ड होटल में एक प्रेस सम्मेलन में अमरीकी चिकित्सक दल के एक सम्मानीय सदस्य डा० टेलर ने बताया कि अमरीका में जहां तक संक्रामक व्याधियों का प्रश्न है, उनपर पूर्णतया नियन्त्रण प्राप्त हो चुका है। और निःसन्देह यह एक बड़ी बात है—बड़ी उपलब्धि है। किन्तु परिवेश एवं वातावरण-जन्य प्रदूषण (Environmental Pollution) तथा अत्यधिक औद्योगीकृत समाज-रचना-जन्य जो अनेक व्याधियां उत्पन्न हो रही हैं, जिन्हें आधुनिक भाषा में 'Stress-Disorders' कहा जाता है, के सम्बन्ध में अमरीका के चिकित्सकगण अत्यन्त चिन्तित हैं और उनके शमनार्थ वे प्रयत्नशील हैं। डा० टेलर ने अपने वक्तव्य में यह भी कहा कि जहां तक भारतीय चिकित्सा-पद्धति का सम्बन्ध है, वह अमरीकी जनता के लिए अत्यन्त युक्तियुक्त एवं उपादेय प्रतीत होती है—और अमरीकी जनता का आकर्षण भी भारतीय चिकित्सा के प्रति उत्तरोत्तर बढ़ रहा है। आगे डा० टेलर ने बताया कि किसी भी चिकित्सा-पद्धति को वैज्ञानिक जगत में मान्यता तभी प्राप्त होती है, जब वह शोध तथा अनुसन्धान के माध्यम से अपनी गुणवत्ता को प्रमाणित कर सकने में पूर्णतया सक्षम हो पाती है। इसी भावना से डा० टेलर ने आगे बताया, यह दल भारत में अध्ययनार्थ आया है और आयुर्वेद के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी प्राप्त कर अमरीकी सरकार को वह अपना इस आशय का प्रतिवेदन देगा कि आयुर्वेद का उपयोग वहां की चिकित्सा पद्धति के साथ किया जाना चाहिए।

बैद्यनाथ प्रतिष्ठान द्वारा अमेरिकी विद्वानों का समाद

भारत की यात्रा पर सदर्न इलीनाय यूनिवर्सिटी स्कूल आफ मेडिसिन, स्प्रिंगफील्ड से आये हुए ६ सदस्यीय अमेरिकी वैज्ञानिकों के दल का भारतीय पद्धति से राम-नाम एवं गायत्री मन्त्र अंकित रेशमी अंगवस्त्रम् के साथ रेशमी वेष्ठन में वेष्ठित बैद्यनाथ आयुर्वेदीय ग्रन्थों का समर्पण-समारोह भारत की सांस्कृतिक नगरी वाराणसी के भेलपुर अंचल में अवस्थित डायमन्ड होटल में गत ३ फरवरी, ७८ की सुहावनी संध्या के ७ बजे श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०, पटना के संयुक्त प्रबन्ध-निदेशक, आयुर्वेद शिरोमणि, आयुर्वेद-शास्त्र-वाचस्पति, आयुर्वेद-रत्न, आयुर्वेद-वारिधि, वैद्यरत्न, प्राणाचार्य पं० दुर्गाप्रसाद शर्मा, आयुर्वेदाचार्य के नेतृत्व में अत्यन्त उल्लासमय वातावरण में सम्पन्न हुआ। ग्रन्थ-समर्पण-समारोह में अमेरिकी विद्वानों के अतिरिक्त चिकित्सा-विज्ञान-संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राध्यापकगण एवं वाराणसी के गण्यमान्य आयुर्वेद-सेवी, पत्रकार तथा चिकित्सक उपस्थित थे।

प्रारंभिक परिचय के पश्चात् आयुर्वेद-चक्रवर्ती पं० दुर्गाप्रसाद शर्मा ने 'भवन' की ओर से अमेरिकी विद्वानों का भावभीनी स्वागत करते हुए भारत और अमेरिका के बीच आयुर्वेदीय चिकित्सा-पद्धति पर परस्पर प्रशिक्षण कार्यक्रम आयोजित करने, उच्च अध्ययन एवं आयुर्वेदीय औषधियों के निर्माण प्रभृति कार्यों के दोनों देशों के पारस्परिक सहयोग से कोई काम प्रारम्भ करने सम्भावना पर गम्भीर विचार प्रकट किए और प्र अमेरिकी विद्वान को रेशमी अंगवस्त्रम्, पुष्प स्त देकर बैद्यनाथ आयुर्वेदीय ग्रन्थों का सेट भेंट-स्वरूप दिया। पुस्तक-समर्पण-समारोह जिस गरिमामय एवं सुरुचिपूर्ण सांस्कृतिक वातावरण में सम्पन्न हुआ, उससे अमेरिकी विद्वान भी बड़े उल्लसित एवं प्रभावित हुए। वाराणसी के विद्वानों ने भी इस समारोह की भूरि-भूरि प्रशंसा की। जिन ६ अमेरिकी विद्वानों का समादर किया गया, उनके नाम एवं परिचय निम्न प्रकार है :—

१. ग्लेन. डब्ल्यू. डेविडसन, पी. एच. डी., प्रोफेसर एण्ड चेयरमैन, डिपार्टमेंट ऑफ मेडिकल ह्यूमेनिटीज, प्रोफेसर एण्ड चीफ ऑफ थेनाटोलाजी, डिपार्टमेंट आफ सायकेट्री।
२. सातु सोमानी, पी. एच. डी., को-प्रोजेक्ट को-ऑर्डीनेटर, एसोसिएट डीन एण्ड प्रोफेसर ऑफ फार्माकोलाजी एण्ड टाक्सीकोलाजी।
३. डी. डैम्स टेलर, एम. डी., एसोसिएट डीन एण्ड प्रोफेसर ऑफ पैथोलार्जा।
४. जे रोलाण्ड फोल्स, एम. डी., प्रोफेसर एण्ड चेयरमैन, डिपार्टमेंट ऑफ सर्जरी।
५. विलियम एल. स्टीवार्ट, एम. डी., प्रोफेसर एण्ड चेयरमैन, डिपार्टमेंट ऑफ फेमिली प्रैक्टिस।
६. डीन फेनले, एड. डी., डायरेक्टर, बायोमेडिकल कम्यूनीकेशन्स, एण्ड एसोसिएट प्रोफेसर।

मानना होगा कि अमरीकी डाक्टरों का यह दल जो भारत आया था, इस देश की सहस्राधिक वर्ष पुरानी चिकित्सा-पद्धति के आन्तरिक गुणों के प्रति आकृष्ट होकर ही—और यह एक बड़ी बात मानी जानी चाहिए। भारत की प्राचीन ज्ञान-सम्पदा ही भारत की अमूल्य थाती है—चाहे वह दर्शन, योग, चिकित्सा या संस्कृत वाङ्मय हो। अमरीका एक अत्यन्त विकसित देश है, जिसने विपुल साधन विज्ञान एवं प्राविधि (सायन्स एण्ड टेक्नोलॉजी) एकत्रित कर रखा है। व्याधियों के उन्मूलन की दिशा में भी वह देश अग्रणी है और अमरीकी जनता को निरामय रखने के साथ-साथ संसार के अविकसित देशों को निरामय बनाने की भी चिन्ता उसे परेशान करती है—जो वर्त्तमान जगत के लिए शुभ कहा जा सकता है। इस दृष्टि से रोग-शोक-परिताप से परिपूरित यह भारत खण्ड निःसन्देह अमरीकी चिकित्सक दल की इस यात्रा को मानव जगत के लिए वरदान-स्वरूप मानेगा, यदि इस देश की प्राचीन चिकित्सा-प्रणाली के सहयोग से मानव व्याधियों के उन्मूलन का पथ प्रशस्त हो सकेगा। मानव कल्याण-हित किए जानेवाले ऐसे सभी प्रयास सद्भावनापूर्ण एवं अभिनन्दनीय कहे जायंगे। ऐसे प्रयासों की जितनी भी प्रशस्ति की जाए, वह थोड़ी ही होगी। भूतदया से प्रेरित 'सर्वभूत हिते रताः' इन मानव-स्वरूप देवदूतों को हमारा शत-शत अभिनन्दन !!

'सचित्र आयुर्वेद' के उपयोगी संग्रहणीय विशेषांक मंगाना न भूलें

कहना न होगा कि 'सचित्र आयुर्वेद' के विशेषांकों की अपनी विशेषता रही है और अब तक के प्रकाशित विशेषांकों को आयुर्वेद-जगत में समुचित समादर मिला है। स्टाक में निम्नलिखित विशेषांक बच रहे हैं, जिन कृपालु पाठकों को उनकी आवश्यकता हो, वे विशेषांकों के सामने उल्लिखित मूल्य को भेज कर विशेषांक मंगा सकते हैं। आर्डर यथाशीघ्र भेजें। मूल्य प्राप्त होने पर विशेषांक मात्र पोस्टेजचार्य की वी० पी० पी० से भेज दिये जायेंगे।

	विशेषांक			*मूल्य*
				रु० पै०
१.	कुष्ठरोगांक	...	...	३-००
२.	आयुर्वेद-अनुसन्धान-अंक	...	...	३-५०
३.	रजत जयन्ती विशेषांक	...	...	४-००
४.	समीक्षा-अंक	...	...	४-००
५.	वनौषधि विशेषांक	...	...	४-००

व्यवस्थापक
'सचित्र आयुर्वेद'
बैद्यनाथ भवन रोड,
पटना—८००००१

रजिस्ट्रार ऑफ न्यूजपेपर्स (सेण्ट्रल) रूल्स, १९५६ के ८वें नियम के अन्तर्गत (सचित्र आयुर्वेद) मासिक पत्रिका के स्वामित्व एवं अन्य विषयों के सम्बन्ध में विवरण।

फ—४

१. प्रकाशत का स्थान	:	बैद्यनाथ भवन रोड, पटना—१
२. प्रकाशन का अधिक्रम	:	प्रतिमास
३. मुद्रक का नाम	:	श्रीकान्त शास्त्री, निमित्त स्वत्त्वाधिकारी श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०
राष्ट्रीयता	:	भारतीय
पता	:	बैद्यनाथ भवन रोड, पटना—१
५. सम्पादक का नाम	:	श्रीकान्त शास्त्री, एम० ए०
पता	:	बैद्यनाथ भवन रोड, पटना—१
६. उन शेयर होल्डरों के नाम	:	१. स्व० प० रामदयाल जोशी, ग्राम-कांसली, पो०-कोटपुतली, जि०-जयपुर
और पते, जिनके पास	:	२. पं० रामनारायण शर्मा वैद्य, १ गुप्तालेन, कलकत्ता-६
कुल पूंजी के १ प्रतिशत	:	३. श्रीमती भूरी देवी, जोशी वाटिका, चिड़ैयाटांड़, पटना-१
से अधिक के शेयर हैं।	:	४. श्री हीरालाल शर्मा, हीरालाल रामेश्वर प्रसाद, पो०-ओलनगंज: जौनपुर
	:	५. श्री बनवारी लाल शर्मा, १५६/सी० महात्मा गांधी रोड, कलकत्ता-७
	:	६. शिवनारायण एंग्लो संस्कृत विद्यालय, कांसली, पो०-कोटपुतली, जयपुर
	:	७. श्रीमती विमलादेवी शर्मा, राष्ट्रदूत प्रेस, जयपुर
	:	८. श्री घनश्यामदास ज्योतिषी, मु० पो०-प्रागपुरा, जि०-जयपुर
	:	९. श्री भगवान दास चौधरी, मु० पो०-कोटपुतली, जि०-जयपुर
	:	१०. श्रीमती सुशीलादेवी शर्मा, बैद्यनाथ भवन रोड, पटना-१
	:	११. श्री शिवलाल शर्मा, पुरानी मंडी, नारनौल—१
	:	१२. श्री दुर्गा प्रसाद शर्मा, बैद्यनाथ भवन रोड, पटना—१
	:	१३. श्री रामावतार शर्मा, १७८, अपरचितपुर रोड, कलकत्ता-३
	:	१४. श्री रमाकान्त शर्मा, बैद्यनाथ भवन रोड, पटना—१
	:	१५. श्रीमती कमलादेवी शर्मा, बैद्यनाथ भवन रोड, पटना-१
	:	१६. श्री हजारीलाल शर्मा, १७८, अपरचितपुर रोड, कलकत्ता-३
	:	१७. श्री राजेश्वर प्रसाद शर्मा, राष्ट्रदूतप्रेस, जयपुर
	:	१८. श्री विश्वनाथ शर्मा, गुसांईपुरा, झांसी
	:	१९. श्री वृजेन्द्र कुमार शर्मा, गुसांईपुरा, झांसी
	:	२०. श्री विश्वनाथ शर्मा, महाल, नागपुर
	:	२१. श्री रामकृष्ण शर्मा, बैद्यनाथ भवन रोड, पटना-१
	:	२२. श्रीमती स्नेहलता देवी शर्मा, गुसांईपुरा, झांसी
	:	२३. श्री सुरेश कुमार शर्मा, गुसांईपुरा, झांसी
	:	२४. श्री रमेश कुमार शर्मा, गुसांईपुरा, झांसी
	:	२५. श्री राकेश कुमार शर्मा, राष्ट्रदूत प्रेस, जयपुर
	:	२६. श्री प्रमोद कुमार शर्मा, बैद्यनाथ भवन रोड, पटना-१

मैं श्रीकान्त शास्त्री घोषित करता हूं कि ऊपर दिये गये सभी विवरण, जहां तक मैं जानता हूं तथा मेरा विश्वास है, सत्य है।

प्रकाशक का हस्ताक्षर—श्रीकान्त शास्त्री, ता० २०-२-७५

हमारा विशेष लेख

संस्कृत वाङ्मय में परिजात

डा० सीताराम झा,
प्राणाचार्य, आयुर्वेदाचार्य, अनुसंधान-सहायक,
वनौषधि सर्वेक्षण एकक,
राजकीय आयुर्वेदिक कालेज, जम्मू (तवी)

अमरकोष में मन्दार, पारिजातक, सन्तान, कल्पवृक्ष और हरिचन्दन—ये पाँच प्रकार के देवतरु कहे गये हैं।[1] पारिजातक इन पाँचों में भी अधिक प्रसिद्ध तरु है। यह इन्द्र के नन्दनवन का एक देववृक्ष है जो स्वर्गलोक का भूषण माना गया है। यह सुगन्धित पुष्पों से युक्त एक ऐसा दिव्य वृक्ष है जिससे विभिन्न कामनाओं की पूर्ति हो सकती है। समुद्र मन्थन से निकले १४ रत्नोंमें से यह एक रत्न है जो देवताओं की सम्मति से इन्द्र को दिया गया था।[2]

ब्रह्माण्ड पुराणके अनुसार यह समुद्रमन्थन-से निकला हुआ शिवलोक का वृक्ष है।[3] वायुपुराण एवं विष्णुपुराण में भी इसका उल्लेख मिलता है।[4] पौराणिक-कोष भी इसका समर्थन करता है।[5]

हरिवंशपुराण के अनुसार एक बार नारद ने कुछ पारिजात पुष्प लाकर श्रीकृष्ण को दिया जिसे कृष्ण ने रुक्मिणी को दिया जिस पर सत्यभामा अतिकोप करके रूठ गई। सत्यभामा को प्रसन्न करने के लिए श्रीकृष्ण इन्द्र से बलपूर्वक युद्ध करते हुए इस वृक्ष को जीतकर द्वारिका लाए थे।[6] हरिवंश पुराण के ६४ अध्याय से लेकर ८१ अध्याय तक इस पारिजात के प्रसंग में कथा चली है।

महाबली भीम भी गन्धमादन पर्वत से पारिजात! लाने चले थे। श्रीमद्भागवत् में कई स्थलों पर इसकी चर्चा है।

इस वृक्ष की उत्पत्ति के विषय में भी मतभेद है।

'पारमस्य अस्तीति पारी समुद्रः तत्र जातः पारिजात' अर्थात् समुद्र से उत्पन्न होने के कारण इसका नाम पारिजात है। भागवत् में भी प्रसंग आया है कि समुद्रमन्थन से ही पारिजात निकला था।[7] हरिवंश पुराण के अनुसार कश्यप ने इसकी सृष्टि की थी। हरिवंश में इसके नामों की निरुक्ति भी की गई है। मन्दार, कोविदार और पारिजात एक ही वृक्ष का नाम है। ऐसा भी हरिवंश में उल्लेख हुआ है। इन्द्र ने इन्द्राणि के सौभाग्य के लिए, चन्द्रमा ने रोहिणी के लिए, कुबेर ने ऋद्धि के लिए सौभाग्यवर्द्धक इस वृक्ष को दिया था। यह वृक्ष तीन शाखाओं से युक्त मनोहर दिव्यगन्धयुक्त पुष्पों से सुशोभित रहते हैं।[8]

इस पारिजात के लिए पारिजातक तथा पारिजाता का भी प्रयोग हुआ है। भागवत् के अनुसार यह वृक्ष दिव्य, देवताओं द्वारा पूज्य, नित्य पुष्पों को धारण करने वाला, सुन्दर गन्ध से युक्त होता है।

> दिव्यमभ्यर्चितं देवैः पारिजातं महाद्रुमम्।
> नित्यपुष्पधरं दिव्यं पुष्पगन्धमनुत्तमम्॥
> भागवत् अ० ६४, श्लो० ६६

कालिदास ने रघुवंश में इसकी चर्चा इस प्रकार की है—

'कल्पद्रुमाणामिव पारिजातः' —रघुवंश—६/६

ऋतुसंहार में—'शेफालिका कुसुमगन्धमनोहराणि'
ऋतु० सं० पृ० ३/४

शेफालिका भी पारिजात का ही पर्यायवाचक शब्द है। मिथिला में शेफालिका का प्रयोग बड़े ही सरस साहित्य में इसके लिए होता है।

मार्कण्डेय पुराण के अन्तर्गत दुर्गासप्तशती में—पारिजात भी बहुमूल्य वस्तु के रूप में वर्णित है[9]।

महाकवि श्री हर्ष ने रत्नावली नाटिका में पारिजात के पल्लव से अमृतरस निकलने की बात की है, अतः निश्चय ही इसके रस बहुत उपयोगी हैं।[१०] पारिजात हरण नाटक संस्कृत, हिन्दी, मैथिली, तेलगु, गुजराती आदि भाषाओं में प्राप्य हैं।

दक्षप्रजापति के यज्ञविध्वंस के बाद देवता लोग महादेव जी के प्रियनिवास कैलाश पर पहुंचे। कैलाश के वर्णन में आया है कि नाना तरह की मणियों की खान, नाना प्रकार के गैरिकादि धातुओं से विचित्र, नाना प्रकार के वृक्ष, लतावल्ली वाले तथा नाना प्रकार मृगों से व्याप्त शिखरों से सुशोभित है।[११] वहां पर मन्दार, पारिजात, सरल, तमाल, लाल कचनार, विजयसार, अर्जुन कदम्बादि वृक्ष सुशोभित हैं।[१२]

प्राचीन काल में वर्हिराजर्षि तपस्या करने के लिए महर्षि कपिल के आश्रम पहुंचे। वहां राजर्षि ने कठिन तपस्या की। नारायण ने प्रकट होकर वरदान मांगने को कहा। राजर्षि ने भगवान् से विनयपूर्वक कहा। जिस प्रकार अनायास पारिजात वृक्ष मिल जाने पर भौंरा दूसरे वृक्षों को नहीं चाहता वैसे ही आपके चरण मिलने पर हम अब क्या मांगेंगे।[१३] महाराज परीक्षित से शुकदेव जी त्रिकूट पर्वत पर बगीचा वर्णन करते हैं। जहां पर स्त्रियों के खेलने का स्थान है, जिसमें फूले हुए मन्दार पारिजात, पाटल, अशोक तथा चम्पक वृक्ष हैं।[१४]

वैकुण्ठ शोभा का वर्णन करते हुए व्यास जी लिखते हैं—जिस वैकुण्ठ में मन्दारकुन्द, बिलवृक्ष, चम्पा, कुमोदिनी, पुन्नाग, नागकेशर, मोरछली, कमल पारिजात ये सभी वृक्ष भगवान के समक्ष तुलसी की सुगन्ध की प्रशंसा करते हैं तथा तुलसी की तपस्या की सराहना करते हैं।[१५]

भागवत् में ही लिखा हुआ है कि वह पारिजात सुरलोक का भूषण है तथा याचकों के मनोरथ को पूर्ण करता है, जैसे हे राजन् आप है अर्थियों की कामनाओं को पूर्ण करते हैं।[१६]

आयुर्वेदीय निघण्टुओं में 'पारिजात' का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। वैद्य बापालाल जी ने अपने निघण्टु आदर्श में 'पारिजात' को पारिजातक (हरसिंगार) नाम से वर्णन किया। भावप्रकाश निघण्टु में पारिजात (हरसिंगार) नाम से वर्णन है एवं निघण्टु संग्रह में इसके पर्याय नाम—प्रजापत, पारिजात, हारसिंगार, रक्तपुष्प:, नाल कुंकुमक, रागपुष्पी एवं स्वरपत्रक दिये गये हैं[१७]। लेटीन नाम—Nyctanthus arbor tristis, Linn है। उत्पत्ति के सम्बन्ध में—पारिणः समुद्रात् जातो वा—इसका जन्म समुद्र में से हुआ माना जाता है। (निघण्टु आदर्श)

यह पुष्पवर्ग और हारिसिंगारादि कुल (Oleaceae) का छोटा, पतनशील पर्णयुक्त वृक्ष ऊंचाई १० से १५ फीट। नई शाखायें चतुष्कोण। छाल फीके धूसर वर्ण की सफेद श्वेताभ बालयुक्त। काष्ठ रक्तवर्ण। पारिजातक के वृक्ष बागों में लगाये जाते हैं। इसके पत्र खर होते हैं। पुष्प सफेद होते हैं, परन्तु पुष्पवृन्तिका लाल रंग की होती है। ये पुष्प रात्रि को विकसित होते हैं और प्रातः सूर्योदयकाल में वृक्ष के नीचे बिखरे हुए मिलते हैं। बच्चे लोग फूलों को चुनने के लिए वृक्ष के नीचे एकत्रित होते हैं। यह दृश्य दर्शनीय है। पुष्प की सुगन्ध बहुत मनमोहक होती है। यह वायु द्वारा दूर तक फैलती है। स्थान एवं जलवायु के अनुसार साल भर पुष्प रहते हैं। यथा—बंगाल में वर्षाकाल में फूल लगते हैं और फूल दिसम्बर में आते हैं। बिहार में शरद ऋतु में पुष्प लगते हैं और हेमन्त में फल आ जाते हैं।

उपयुक्त अंक–पत्र, पुष्प और त्वक।

मात्रा—त्वक ३ से ६ रत्ती, पत्र स्वरस १ से २ तोला।

'गुण[१८] धर्म और प्रयोग'—संक्षेप में रस कटु तिक्त। गुण—अनुलोमन, कटु पौष्टिक, पितद्रावक। विपाक—कटु। वीर्य—उष्ण, दोष-शमन-कफ।

शारीरिक अंगों पर प्रभाव—यकृत और आन्त्र।

स्थानीय लोगों द्वारा किये गये प्रयोगों के आधार पर– इसके फूलों की डंडियों को पीस कर रंग तैयार किया जाता है। पुष्पों की वृन्ति को पीस कर वस्त्र रंगे जाते हैं जो देखने में केसर के रंग जैसा ही होता है। पत्र—स्वरस—मधु मिश्रित पर उपर्युक्त मात्रा में जीर्ण और विषम ज्वरों में विशेष लाभकारी है। बच्चों के गोल कृमी एवं यकृत-वृद्धि रोगों में पत्र स्वरस मधु मिश्रित कर उपयोगी मालूम होता है।

'विमर्श'

आधुनिक मत के अनुसार यह संदिग्ध माना गया है कि पारिजात (जिसे लेटीन में 'Nyctanthus arbor-tristis, Linn' कहा गया है) देवताओं के प्रिय पारिजात हैं अथवा कोई अन्य वृक्ष है। जिस पुष्प के लिए सत्यभामा रूठ गई थी वह यही पारिजात पुष्प है या अन्य कोई पुष्प। यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता।

अमरकोष में जो पंचैते देवतरवो मन्दारः पारिजातकः इत्यादि स्पष्ट कहा गया है। वह पारिजातक नाम इसी हारसिंगार के लिए है या अन्य किसी के लिये, इस पर विद्वानों का परामर्श अपेक्षित है।

यहाँ मेरे विचार से निःसंदिग्ध रूप से यही वृक्ष देवलोक में भी था और उसके सभी गुण अभी इस वृक्ष में दृष्टिगोचर होते हैं।

हाँ, इतना अवश्य है कि स्थान और समय के परिवर्तन से इस वृक्ष की शक्ति क्षीण हो गई है। अन्य वनौषधियों के साथ भी यह बात लागू होती है।

आभार प्रदर्शन

इसके लिए यूनिट के परियोजना अधिकारी महोदय का हम विशेष रूप से आभारी हैं, जिनके द्वारा दिये गये पथ-प्रदर्शन के आधार पर ये कार्य पूर्ण हुए हैं।

---

१ पंचैते देवतरवः मन्दारः पारिजातकः।
सन्तानः कल्पवृक्षश्च पुंसिवा हरिचन्दनम ॥—अमरकोष १-१-५०

२ द्रष्टव्य भागवत ३-१५-१९; ४-६-१४; विष्णुपुराण ५-३०-३२, ८०-३८-७।

३ द्रष्टव्य ब्रह्माण्डपुराण—३-३२-६, तथा ४-९-७०

४ वायुपुराण—१०६-७४; विष्णुपुराण १-९-९५

५ द्रष्टव्य-पौराणिक कोष, पृ० ३०२

६ श्री भगवानुवाच—द्रष्टव्य-हरिवंश पुराण ६७ अध्याय—
दहन्तीव ममाङ्गानि शोकः कमल लोचने।
किमु तत्कारणं येन त्वमेवमतिविक्लवा ॥ २ ॥
यत्पारिजात कुसुमं दन्तवान्तारदस्तव।
तत्क्लिष्टजने दन्तं त्वयाऽहं परिवर्जिता ॥ ८ ॥
पारिजातक पुष्पाणि यदीच्छस्यति कोपने।
तदा दातास्मि सुश्रोणि [illegible]

७ ततोऽभवत्पारिजातः सुरलोक विभूषणम् ॥-भागवत ८-८-६

८ पारिजातं ततोऽस्राक्षीददित्याः प्रियकाम्यया।
सर्वकामप्रदैः पुण्यैरावृत नित्यगन्धदैः ॥
त्रिशाखं सर्वदा दृश्यं सर्वभूतमनोहरम्।
सर्वपुष्पाणि दृश्यन्ते तस्मिन्नेव महाद्रुमे ॥
ईदृशान्यपि पुष्पाणि बिभर्त्येकापि रूपिणी।
बहुरूपाणि चाप्यन्या पद्मानि च ततोऽपरा ॥
मन्दारादपि वृक्षाच्च सारमुद्धृत्य कश्यपः।
तस्मादेव तरुरेष्ठः सर्वेषां श्रेष्ठतां गतः ॥
ततस्तत्र निबध्याथ कश्यपं प्रददौ शुभे।
आदितिर्मम पुण्यार्थं सौभाग्यार्थं तथैव च ॥
आदित्या कश्यपो दत्तः पुण्यार्थं च तथा मम।
पुण्यदाम्ना वेष्टयित्वा कण्ठे पुण्यार्थमात्मवान् ॥
इन्द्रो दत्तस्तथेन्द्रयाण्या सौभाग्यार्थं ततो मम ॥
सोमस्याप्यथ रोहिण्या ऋद्धया च धनदस्तथा ॥
एवं सौभाग्यदो वृक्षः पारिजातो न संशयः।
पारिजातो विष्णुपद्या पारिजातेति शब्दितः ॥
मन्दारपुष्पैर्यधुवतो मन्दारस्तेन कथ्यते।
कोऽप्ययं दारुरित्याहुरजानन्तो यतोजनाः ॥
कोविदार इति ख्यातस्ततः स सुमहातरु।
मन्दारः कोविदारश्च पारिजातश्च नामभिः।
स वृक्षो आयते दिव्यो यस्यैतत्कुसुमोत्तमम्।—
हरिवंश अध्याय १७, श्लो० ६१ से ६२।

९. ऐरावतः समानीतो गजरत्नं पुरन्दरात्।
पारिजातश्चतरुयं तथैवोच्चैः श्रवा हयः ॥
दुर्गासप्तशती ५-९४

१०. श्रीरेषा पाणिरप्येषा पारिजातस्य पल्लवः।
कुतोऽन्यथा श्रवत्येष स्वेदछद्मामृतद्रवः ॥

११. जन्मौषधितपो मन्त्रयोगसिद्धैः नरेतरैः।
जुष्टं किन्नरगन्धर्वैरप्सरोभिर्वृतं सदा ॥
नानामणिमयैः शृङ्गैः नानाधातु विचित्रितैः ॥
—भागवत् ४-६-९-१०।

१२. मन्दारैः पारिजातैश्च सरलैश्चोपशोभितम्।
तमालैः शालातालैश्च कोविदारासनार्जुनैः
—भागवत् ४-६-१४।

१३. पारिजातेऽञ्जसालब्धे सारङ्गोऽन्यन्न सेवते ।
त्वदङ्घ्रिमूलमासाधद्या साक्षात्किं वृणीमही ।
—भागवत ४-३०, श्लो० ३२ ।

१४. सर्वतोऽलङ्कृतैर्दिव्यैर्नित्यं पुष्पफलद्रुमैः ।
मन्दारैः पारिजातैश्च पाटलाऽशोक चम्पकैः ॥
—भागवत ८-२-१० ।

१५. मन्दारकुन्दकुरबोत्पलचम्पकाणीः,
पुन्नागनागवकुलाम्बुजपारिजातः ।
गन्धेर्ऽर्चिते तुलसिका भरणेन तस्यः ।
यस्मिंस्तपः बहुमानयन्ति ॥—भागवत १५-१६ ।

१६. ततोऽभवत्पारिजातः सुरलोकविभूषणम् ।
पूरयत्यर्थिनो योऽर्थैं शश्वद्भुवि यथा भवान् ॥
—भागवत् ८-८-५ ।

१७. प्राजक्तः पारिजातश्च हारश्रृंगारपुष्पकः ।
नाल्कुंकुमको रागपुष्पी च खरपत्रकः ॥ नि० सं०

१८. पारिजातः कटुस्तिक्तो रुक्षः शीतश्च वातलः ।
विषमज्वरकफ पित्तकृमिकुष्ठविनाशनः ॥
—द्रव्यगुणशास्त्रम् वैद्य गो० आ० फडके ।

एक शोधपूर्ण लेख

समीर पन्नगरस

प्रोफेसर बदरी नारायण पाण्डेय
रसशास्त्र विभाग
स्टेट आयु० कालेज, लखनऊ

सर्वप्रथम 'समीरपन्नगरस' का उल्लेख रसचण्डांसु नामक रसग्रंथ के वात रोग चिकित्सा-प्रकरण में प्राप्त होता है। जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है कि यह समस्त प्रकार के वातरोगों की महौषधि है। इसी कारण इसका पाठ भी वातरोग चिकित्सा प्रकरण में किया गया है। इसका शाब्दिक अर्थ निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—'समीराय पन्नग इव, समीरपन्नग' अर्थात समीर रूप रोग (वातव्याधि) के लिए पन्नग (सर्प) के समान रस समीर पन्नग रस।' जिस प्रकार सर्प स्वाभाविक-रूपेण वायु का भक्षण करता है, ठीक उसी प्रकार यह औषधि भी वातनाशक कार्य करती है।

प्रथम 'समीर पन्नग रस' नामक योग लिखकर, पश्चात् 'अपरः' ऐसा लिखकर दूसरे योग का उल्लेख किया है। प्रधान एवं कूपीपक्व विधि से निर्मित होने वाला प्रथमयोग ही है। अतः यहां का वर्ण्य विषय प्रथम या प्रधान 'समीरपन्नगरस' ही है।

इसी योग का उल्लेख वैद्य पं० हरिप्रपन्न जी ने अपने 'रसयोगसागर' नामक ग्रन्थ में ठीक उसी प्रकार उन्हीं शब्दों में किया है। कहीं कोई मात्रा या शब्द का हेर-फेर ही काफी हो सकता है। वहां भी सन्दर्भ के रूप में 'रसचण्डांसु' का नाम ही लिखा है। इसके अतिरिक्त 'रसायन सग्रह-कृष्णशास्त्री भाटवडेकर कृत' का भी उल्लेख किया है।

पाठ निम्न प्रकार प्राप्त होता है :—

पारदं गन्धकं मल्लं हरितालं तथैव च।
एतच्चतुष्टयं सर्वं तुलसीरस मर्दितम्॥
वटिं कृत्वाऽभ्रकेनैव वेष्टयेद्गोलकं तु तत्।
शरावयुगले क्षिप्त्वा वालुकायन्त्रगं पचेत्॥
दीपिका प्रमितं बह्निं दत्वा यामचतुष्टयम्।
स्वांग शीतं समुद्धृत्य नाम्नाऽसौ वातपन्नगः॥
सन्निपाते तथोन्मादे सन्धिवाते (बन्धे) कफामये।
नागवल्यादलेनैव भक्षयेद् गुंजकाद्वयम्॥
(रसचण्डांसु वातरोग चि०)

घटक द्रव्य—शु. पारद, शु. गन्धक, शु. मल्ल, और शु. हरिताल, इन चारों को समभाग ग्रहण करना कहा है। स्नातकोत्तर-प्रशिक्षण केन्द्र जामनगर के भूतपूर्व प्रधानाचार्य स्व० भास्कर विश्वनाथ गोखले जी ने अपने चिकित्सा प्रदीप में 'समीर पन्नगरस' नाम से एक योग लिखा है, जिसमें उन्होंने उपर्युक्त चारों द्रव्यों के साथ समभाग शुद्ध मनःशिला का भी पाठ दिया है।

इन्हीं पांच द्रव्यों से (घटकों से) युक्त 'समीरपन्नगरस' का पाठ रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोग संग्रह में भी प्राप्त होता है। जिसमें 'औषधि गुण धर्म शास्त्र' नामक पुस्तक का सन्दर्भ प्रस्तुत किया गया है। उसी स्थान पर पुनः दूसरी विधि लिखकर उसमें पूर्व वर्णित चार घटकों (द्रव्यों) का उल्लेख कर इसका निर्माण करना बतलाया गया है। सबसे अन्त मे 'वक्तव्य' लिखकर, उसमें 'स्वर्ण समीर पन्नग रस' का भी उल्लेख किया है।

इसके अतिरिक्त भी कुछ स्थलों पर 'स्वर्ण समीर पन्नग रस' का पाठ प्राप्त होता है। स्व० वैद्य यादव जी त्रिकम जी आचार्य ने अपने 'सिद्धयोग सग्रह' नामक पुस्तक के 'वातरोगाधिकार' में किया है। जिसमें स्वर्णवर्क-१ भाग, शु पारद-४ भाग, शु. गन्धक-४ भाग, शु. संखिया-४ भाग, शु. मनःशिला-४ भाग, शु हरिताल-४ भाग लेने को लिखा है। इसका पाक वालुकायन्त्र में अत्यन्त मृदु अग्नि पर करने को बतलाया है। अर्थात्

इतनी ही अग्नि देनी चाहिए जिसमें बोतल के निम्न तल में गन्धक आदि पिघलकर पकते रहें। सम्भवतः श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन के द्वारा भी इस स्वर्ण समीर पन्नग रस का निर्माण किया जाता है तथा 'आयुर्वेद सारसंग्रह' जो आयुर्वेदिक फार्माकोपिया के रूप में बैद्यनाथ प्रकाशन द्वारा प्रकाशित उत्तम पुस्तक है, में भी इसका वर्णन प्राप्त होता है।

निर्माण-विधि :

शु. पारद, शु. गन्धक, शु. मल्ल और शु. हरिताल इन चारों द्रव्यों को समभाग में ग्रहण कर प्रथम शु. पारद् एवं शु. गन्धक की श्लक्ष्ण कज्जली निर्माण करके उसमें शु. मल्ल एवं शु. हरिताल का अलग-अलग सूक्ष्म चूर्ण बनाकर कज्जली में मिलाकर मर्दन किया। पश्चात् तुलसी पत्र स्वरस की क्रमशः तीन भावनाएं दीं।

(भावना देने के सम्बन्ध में कितनी भावनाएं दी जानी चाहिए, ग्रन्थों में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है, पर गुरुचरण के आदेशानुसार तीन भावनाए दी जानी चाहिए।)

तीन भावना देकर औषध द्रव्यों का गोलक बनाकर सम्यक् सुखाकर उसे दो अभ्रकपत्रों के बीच या दो शराब सम्पुट के बीच बन्द कर सुखा देना चाहिए। सूख जाने पर बालुकायंत्र में रखकर (बालुका के मध्य रख कर) चार याम अर्थात् १२ घण्टे तक मन्दाग्नि से पाक करना चाहिए। मूलपाठ में 'दीपिका प्रमितं बह्नि' अर्थात् दीपक के समान अत्यन्त मन्दाग्नि देनी चाहिए। स्वांगशीत होने पर शराब सम्पुट या अभ्रकपत्रों के बीच से 'समीरपन्नग-रस' ग्रहण करना चाहिए। यह निर्माण विधि पूर्णतया प्राचीन शास्त्रोक्त पद्धति के अनुसार कही गई है।

इन्हीं औषध द्रव्यों को जो पूर्णतया भावित एवं शुष्क कर लिए गये हों, उन्हें एक काँच कूपी या बड़े बोतल (कपड़मिट्टी की हुई) में भरकर बालुकायंत्र में मन्दाग्नि से (100°C—150°C) तलस्थ पाक करना चाहिए। मल्ल 100°C पर उबलने लगता है। अतः 100°C—150°C की मन्दाग्नि पाक में देनी चाहिए। अग्नि का समय प्रायः १८-२० घण्टे तक का होना चाहिए। इस तरह पाक करते समय २-४ घण्टे के बाद ही कूपी का मुख बन्द कर देना चाहिए। इस प्रकार मन्दाग्नि के द्वारा निर्मित रसौषधि 'समीरपन्नगरस' स्वांगशीत होने पर शराबसम्पुट या अभ्रकपत्रों के बीच से या कूपी को तोड़कर उसे ग्रहण करना चाहिए। इस विधि से निर्मित 'समीरपन्नगरस' तलस्थ माना जाता है। इसका रससिन्दूर या मकरध्वज की तरह पाक करके भी इसे निर्मित किया जाता है, जिसे 'कण्ठस्थपाक' कहते हैं। कुछ विचारकों के मत से यह तलस्थपाक सबसे अच्छा प्राप्त होता है। इसमें सभी औषध द्रव्य यथोचित मात्रा में पूर्णरूपेण प्राप्त होते हैं। प्राप्त सभी निर्मित औषधि को पीसकर सुरक्षित रख लेना चाहिए।

समीरपन्नगरस का कण्ठस्थपाक

हमारे गुरुवर वैद्य प्रवर श्री बी. एम द्विवेदी जो मेरे जामनगर के स्नातकोत्तर प्रशिक्षण काल में रसशास्त्र के प्राध्यापक एवं विभागाध्यक्ष रहे, ने दोनों ही विधियों से कार्य करके अपने अमूल्य अनुभवों का पूरा लाभ हम शिष्यों को दिया था। उसके आधार पर ही यहां प्रकाश डाला जायगा।

(क) औषध द्रव्य :—शु. पारद, शु. गन्धक, शु. मल्ल, तथा शु. हरिताल सभी अलग-अलग ७½ तो० या समभाग, भावनार्थ तुलसीपत्रस्वरस यथावश्यक।

(ख) साधन :—खल्वयंत्र, बालुकायंत्र, कपड़मिट्टी की हुई कांच की कूपी या मजबूत बोतल, भ्राष्ट्री (कोयले का चूल्हा) लोहे का शलाका, कोकिलादिक (कोयले आदि)।

पाककाल :—२४ घण्टे।

मुद्रणकाल :—अग्नि प्रारम्भ करने के १० घ० बाद (गन्धक जारण सम्पन्न हो जाने के बाद)।

द्रव्यमान :—३० तोले (अपक्व औषधिमान)

सिद्धौषधिमान :—१३ तो० ७ माशे।

निर्माण-विधि

सर्वप्रथम शु० पारद एवं शु० गन्धक की कज्जली का निर्माण किया। कज्जली निर्मित हो जाने के बाद शु० हरिताल चूर्ण डालकर मर्दन किया। पश्चात् तुलसीपत्र स्वरस की तीन भावनाएं देकर सम्यक् प्रकार मर्दन कर सुखाकर रख लिया। शु० मल्ल का सूक्ष्म चूर्ण बनाकर अलग रख लिया। इस प्रकार मल्लरहित औषधद्रव्य को कपड़मिट्टी की हुई काचकूपी या बोतल में भरकर,

बालुकायंत्र में रखकर, चूल्हे पर चढ़ाकर मन्दाग्नि देना प्रारम्भ किया। गन्धक का अंश जलने से कूपी से धीरे-धीरे नीला धूम निकलना प्रारम्भ हो जाता है। जो प्राय: ४ घण्टे तक नीलधूम के रूप में निकलता रहता है। इस प्रकार प्राय: १२-१३ घण्टे में गन्धक प्राय: सब जीर्ण हो गया। इस लक्षण को ज्ञातकर 'बालुकायंत्र' को थोड़ी देर के लिए चूल्हे से उतारकर कूपी में सावधानीपूर्वक सोमलचूर्ण डालकर उसके मुख को कार्क या अन्य वस्तु से बन्द कर दिया। बन्द कर उसे चूना और गुड़ या मिट्टी से दृढ़तर कर दिया। पश्चात् बालुका यंत्र को पुन: चूल्हे पर चढ़ाकर रससिन्दूर की भांति अग्नि देकर पाक किया। कार्क बन्द करने के बाद क्रमश: मध्यमाग्नि तथा तीव्राग्नि देनी चाहिए। इस प्रकार अग्नि मात्रा बढ़ाकर ३७५^0 C तक देनी चाहिए। यह मध्य, तीव्र अग्नि प्राय: १२ घण्टे तक देनी चाहिए। पश्चात् स्वांगशीत हो जाने के बाद कूपी को तोड़कर रससिन्दूर की तरह गलप्रदेश में स्थित 'समीरपन्नग' को ग्रहण कर लेना चाहिए। इस रीति से 'कण्ठस्थ समीरपन्नग' प्राप्त होगा। यदि पूरी सावधानी से यह निर्माण सम्पन्न किया जाय तो यौगिक (निर्मित औषध) की प्राप्ति सम्यक् होगी।

इसी निर्माण-क्रम में यदि प्रारम्भ में ही सभी द्रव्यों को मिलाकर बालुकायन्त्र द्वारा मन्दाग्नि से पाक करते हैं। तो मन्द-मन्द अग्नि से पाचित होने के कारण निर्मित औषध द्रव्य कूपी के तल भाग में ही स्थित रहते हैं। यह पाक भी प्राय: १८-२० घण्टे तक करने पड़ते हैं। यह पाक तलस्थपाक कहा जाता है। जिसका विशेष वर्णन पूर्व कर चुके हैं।

टिप्पणी—इस निर्माण-विधि में एक विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि शु० मल्ल कार्क बन्द करने के समय कूपी में डाला गया है, क्योंकि यदि पहले ही मल्ल डाल देंगे तो वह भी गन्धक के धूम्र के साथ उड़ जायगा। मल्ल 100° C पर उबलने लगता है। पश्चात् धीरे-धीरे धूम्र के रूप में उड़ने लगता है। इसीलिए मुखमुद्रण के समय ही शु० मल्ल डाल कर कूपी के मुख को बन्द कर देना चाहिए। कुछ विद्वान मल्ल-चूर्ण को प्रथम ही मिलाकर इस योग की पाक-क्रिया प्रारम्भ करते हैं। इस प्रकार कण्ठस्थ एवं तलस्थ दोनों ही प्रकार से निर्मित 'समीरपन्नगरस' प्राप्त होता है।

अवलोकन

कण्ठस्थ पाक में—पाक के समय पारद के साथ मल्ल भी ऊपर उड़ कर गल प्रदेश में जमा होता रहता है। जो रससिन्दूर की तरह दिखलाई पड़ता है, पर मल्ल मिश्रित रससिन्दूर से गुण-कर्मों में निश्चय ही भिन्न रहता है।

तलस्थ पाक में—तलस्थ पाक में कूपी का तल काला रहता है। औषध द्रव्यों का कुछ अंश ऊपर भी आकर एकत्रित हो जाता है। अत: ऊर्ध्व एवं अध: सभी द्रव्यों को एकत्रित करके पीस लेना चाहिए। जिससे मल्ल का अंश समान रूप से सम्पूर्ण औषध में प्राप्त हो सके।

यहां एक विशेष बात जो वैद्य पं० हरिप्रपन्न जी ने अपने अनुभव के आधार पर 'रसयोगसागर' में लिखी है, वह भी ध्यान देने योग्य है। यथा :—

'अस्यार्कक्षीरेण सप्तदिनानी मर्दनविधाय शुष्क कज्जलिकां विधाय काचकुप्यां विन्यस्य चतुर्यामं बालुकाऽग्नौविपाच्य प्रयोग करणे महत्फलं भवतीति स्वीयानुभवोऽस्तीति विद्वद्भिराकलनीयम्।'

(र. यो. सा. द्वि. भाग पृ. ४८९)

अर्थात् पाक करने के पूर्व सात दिनों तक अर्कदुग्ध की भावनां देकर, मर्दन कर, सुखाकर कांचकूपी में स्थापित कर चार याम (१२ घण्टे) तक बालुकायन्त्र में पाक करने से यह अधिक फलदायक होता है। यह मेरा स्वयं का अनुभव है। इसे विद्वज्जन प्रयोग में लाकर देखें।' अत: इसका प्रयोग आयुर्वेद के विद्वानों को करके देखना चाहिए। (र. यो. सागर)

वर्ण और स्वरूप :—**तलस्थ**—चमकता हुआ कृष्ण-वर्ण चूर्ण रूप में।

कण्ठस्थ—रक्ताभ, चमकदार, क्रीस्टल के रूप में।

परीक्षा :—(१) तलस्थ पाक में द्रव का अंश नहीं रहना चाहिए। जलीयांश रह जाने से उसमें सड़ान्ध पैदा हो जाती है। जिससे H_2S की सी गन्ध आती है।

(२) यदि श्वेत फंगस (Fungus) जमा होने लगे तो कच्चा पाक समझना चाहिये।

(३) तौल प्राय: जितनी ली जाती है प्राय: उतनी ही प्राप्त होती है। तलस्थ में क्षय कम होता है।

कण्ठस्थ पाक में गन्धक एवं हरिताल के अंश उड़

जाने से मात्रा प्राय: आधी से भी कम ही रह जाती है।

(४) दोनों प्रकार के पाकों से प्राप्त औषध को उसे पूरा ग्रहण कर, पीस कर, भलीभाँति मिलाकर रख लेना चाहिए। जिसमें संखिया सभी में समान रूप से मिल जाय।

गुणकर्म

जैसा कि इस औषध के नाम से पूर्णत: स्पष्ट है कि यह परमवातनाशक औषधि है। पाठ के अनुसार सन्निपात उन्माद, सन्धिबन्ध (सन्धिशोथ, सन्धिशूल) कफजव्याधि आदि को नागरपान के स्वरस से प्रयोग करने पर पूर्णतया नाश करता है। प्रयोग के द्वारा यह वातव्याधि, पक्षाघात, पार्श्वशूल, श्वास (तमक श्वास) जीर्णकास, फिरंगरोग इन सबों को नाश करता है।

'समीरपन्नग रस' प्रधानतया मल्ल (Arsenic) का यौगिक है, क्योंकि इसमें शु० मल्ल तथा शु० हरिताल दोनों का ही मिश्रण है। हरिताल में भी संखिया के दो परमाणु तथा गन्धक के तीन परमाणु (As 2/53) हैं। इसका पाक दो प्रकार से किया जाता है—१-कण्ठस्थ-रससिन्दूर की तरह तथा २-तलस्थ। कण्ठस्थ पाक-मृदु, मध्य एवं तीव्राग्नि से पकाया जाता है। तलस्थ पाक में सम्पूर्ण पाक मन्दाग्नि से ही सम्पन्न किया जाता है। कुछ विचारकों की राय से तलस्थ पाक उत्तम माना जाता है। इसका निष्कर्ष यह भी निकाला जा सकता है कि इसके निर्माण में संखिया की मात्रा अधिक से अधिक सुरक्षित रखी जा सके। कण्ठस्थ पाक की जो विधि यहां प्रदर्शित की गई है, उसमें भी संखिया सुरक्षित रह जाती है। हां निर्मित औषध की मात्रा कम अवश्य प्राप्त होती है। पर मेरा गुरुसम्मत विश्वास यह है कि कण्ठस्थ पाक अधिक आशुगुणकारी सिद्ध हो सकता है। जो प्रत्यक्ष प्रयोग के पश्चात् ही निश्चित किया जा सकता है। सोमल प्राचीनकाल से हमारे यहां प्रयोग में आता रहा है तथा सुप्रयुक्त होने पर अत्यन्त लाभदायक है। इसका विधिपूर्वक सेवन किया जाय तो भयंकर से भयंकर व्याधियां जिसमें वातकफ दोष का प्राधान्य हो अवश्य नष्ट हो सकती हैं।

मल्ल के गुणकर्मों को स्व० आचार्य यादव जी ने निम्न शब्दों में अत्यन्त स्पष्ट रूप में वर्णित किया है—

गौरीपाषाणक: शुद्धो मात्रया परिशीलित:।
कफ वातामयहरो बल्यो वृष्यो रसायन:।
श्वासं तीव्रज्वरं पाण्डुं प्लीहवृद्धिं फिरङ्गकम्।
श्लीपदं सन्धिवातं च तथा कुष्ठानि नाशयेत्॥
अम्लं च कटुकं तीक्ष्णं वर्जयेत्मल्लसेवक:॥
(रसामृतम्)

अर्थात् शु० संखिया उचित मात्रा में सेवन करने से कफवातजन्य रोगों को नाश करता है, बलकारक, वृष्य, रसायन है। श्वास शीतज्वर, पाण्डुरोग, प्लीहवृद्धि, फिरंगरोग, श्लीपद, सन्धिवात और कुष्ठ आदि रोगों का नाश करता है। संखिया सेवन करने वाले व्यक्ति को अम्ल, कटु, तीक्ष्ण, उष्ण पदार्थों का त्याग करना चाहिए।

शु० मल्ल की मात्रा $\frac{1}{100}$ रत्ती से $\frac{1}{80}$ रत्ती तक कही गई है।

इस योग में मल्ल के बाद प्रमुख द्रव्य पारद है। यों पारद तो सबसे प्रमुख द्रव्य है, पर योगों में मिश्रित करने के बाद इसका प्रधान कार्य-गुण योगवाही माना गया है। अर्थात् जो द्रव्य अन्य वस्तु के साथ मिलकर संयोग होने या पकने पर दूसरे के गुणों को ग्रहण करके उसे और बढ़ा देता है, उसे 'योगवाही' कहते हैं। सर्व कार्य साधन में इसको विश्वस्त सहायक माना गया है। इस विषय पर विचार करके ही रसशास्त्र के प्रत्येक योगों में पारद का सम्मिश्रण किया गया है। इस निम्न उक्ति से ऊपर की बातों की पुष्टि होती है। यथा—गृहणति योगवाही द्रव्यं संसर्गिवस्तु गुणान्।

पच्यमानं यथैतन्मधु जलतैल जासूतलोहादि॥

पारद के गुणों की विशेषता का वर्णन करते हुए 'रसेन्द्रसार संग्रह' में निम्न वचन कहा गया है—

हतो हन्ति जराव्याधिं, मूर्च्छितोव्याधिघातक:।
बद्धः खेचरतां धत्ते, कोऽन्यः सूतात्कृपाकर:॥
(र० सा० स०)

यहाँ हमारे लिए विशेष ध्यान देने योग्य रेखांकित 'मूर्च्छितो व्याधि घातक:' है। अर्थात् सभी प्रकार के योगों में विशेषत: कूपीपक्व रसायन में पारद मूर्च्छितावस्था में रहता है। पारद की मूर्च्छना या मूर्च्छितावस्था की परिभाषा शास्त्रों में निम्न प्रकार से दी है—

(i) 'अव्यभिचारित व्याधिघातकता मूर्च्छना ।'
(ii) भस्म भिन्नत्वे सतिरसभक्षण योग्यता कर्म (मूर्च्छना) ॥

अर्थात् निश्चित व्याधि घातकता को मूर्च्छना कहते हैं, या भस्म से भिन्न होने पर भी पारद का भक्षण योग्य यौगिक बनाने की प्रक्रिया को 'मूर्च्छना' कहते हैं।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि मात्र मल्ल ही अनेक प्रकार के रोगों को नष्ट करने में पूर्ण सक्षम है। इसके साथ पारद जैसा अत्यन्त महत्वपूर्ण योगवाही द्रव्य को मिश्रित कर उसे मूर्च्छितावस्था में स्थापित कर इसके कार्यकारी गुणों को और भी अधिक बढ़ा देते हैं। इस प्रकार अपने व्याधिनाशक गुणों के साथ-साथ योगवाही गुणों का भी पूर्ण उपयोग करता हुआ पारद निश्चय ही इस योग को एक महौषधि के रूप में सफल बनाने में पूर्ण सहयोग करता है।

चौथा द्रव्य इसमें शु० गन्धक है। गन्धक अपने गुण-कर्मों को संपादित करने के साथ-साथ पारद के तीव्र विषमयता को कम करते हुए, उसके गुणोत्कर्ष में सहायक होता है। जैसा कि रसशास्त्र में स्पष्ट वर्णित है :—

"सूतेन्द्रवीर्यप्रदः" (र० र० स०)

इस प्रकार 'समीरपन्नग रस' एक परम महौषधि के रूप में प्रमाणित होती है। इसके शास्त्रीय गुणधर्म पूर्व वर्णित किये जा चुके हैं। इसमें मल्ल, हरिताल किसी-किसी के मत से मनःशिला भी घटक के रूप में मिश्रित है। ये सभी अत्यन्त उग्र और उष्ण-वीर्य है। सबों में सोमल की ही प्रधानता है। फिर भी मल्लभस्म, मल्ल-पुष्प और मल्लसिन्दूर की अपेक्षा 'समीरपन्नग रस' कम तीव्र है। जहाँ मल्लभस्म के प्रयोग से हानि की संभावना रहती है, समीरपन्नग रस के प्रयोग से हानि की उतनी सम्भावना नहीं रहती है।

समीरपन्नग रस कटुरसात्मक, कटुविपाकी, उष्ण, तीक्ष्ण वीर्य, उत्तेजक, बल्य, कफवातघ्न है। सब प्रकार के वातविकार, विशेषतः अर्दित, पक्षाघात, कटिस्तम्भ तथा पार्श्वशूल नाशक है। कफाधिक तमकश्वास, सन्निपातज्वर के तन्द्राधिक्य, स्वेदाधिक्य तथा शीतांग आदि लक्षणों में परम लाभदायक है। सोमल प्रधान योग होने से फिरंग, उपदंश जन्य वातविकार में अत्यधिक लाभप्रद है। स्व० वैद्य यादव जी त्रिकम जी आचार्य के मतानुसार सामान्य 'समीरपन्नग' की अपेक्षा 'स्वर्णसमीरपन्नग' अधिक प्रभावकारी एवं गुणकारी तथा अन्य संखिया के योगों की अपेक्षा कम उग्र है। अतः इसका प्रयोग करना अधिक लाभप्रद है।

सम्प्रति हमारी संस्था में अनुसन्धान के रूप में स्नातकोत्तर [M. D. (Ay)] स्तर पर 'समीरपन्नगरस' पर कार्य किया जा रहा है। इस रस का निर्माण संस्था के रसशास्त्र एवं भैषज्य कल्पना विभाग (मेरे स्वयं के विभाग) में ही किया गया है। अनुसन्धान का कार्य मुख्य रूप में 'वातिक कास' ((Tropical pulmonary Eosinifilia) पर किया जा रहा है। यह कार्य काय-चिकित्सा विभाग के प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष प्रोफेसर चन्द्रबली दुबे जी के निर्देशन में हो रहा है। जिसके उत्साहवर्द्धक परिणाम आ रहे हैं। विशेष जानकारी तो थीसिस की परिसमाप्ति के बाद ही प्रकाश में आ सकेगी।

'समीरपन्नग रस' का विशेष गुण-धर्मों का विवेचन या निश्चयीकरण इसके अनेक प्रकार के प्रयोग के उपरान्त ही किये जा सकते हैं। यह कार्य Clinical Teachers (क्लीनिकल अध्यापकों) के द्वारा ही सम्पादित किया जा सकता है, अतः आग्रह है इस महान् कार्य की पूर्त्ति हेतु।

वनौषधि विवेचन

सदा बहार : रक्त कैंसर की वानस्पतिक औषध

श्री निरंजन चन्द्र शाह
(एमेलगेमेटेड युनिट-नैशनल वौटनिक गार्डेन, लखनऊ)

सर्पगधा (Rauvoljia Serpentina) के पश्चात अगर अन्य कोई वानस्पतिक औषधि चिकित्सा जगत में बहुचर्चित हुई है तो वह है सदाबहार ! इसे बंगाली में नयनतारा अथवा गुलफिरंगी, पंजाबी में रतनजोत, तेलगू—बिल्लांगनेरु, तामिल में—सुदुकादू मल्लिकाई, मलयालम में—उषामलारी, उड़िया में—एन्सकाटी, अंग्रेजी में पेरीविंकल तथा लेटिन भाषा में काथारांथुस रोसेउस (Catharanthus roseus G. Don) या विंका रोजिया (Vinca rosea L.) कहा जाता है।

सदाबहार, सर्पगंधा ही के कुल Apocynaceal का एक सदस्य है, यह एक बहुवर्षीय पौधा है जो १ मी० तक की ऊंचाई तक पहुंच जाता है। इसमें फूल साल भर तक आते रहते हैं। इसी कारण इसका नाम सदाबहार पड़ा। इसके मुख्ययतः ३ भेद माने जाते हैं जो फूल के रंग पर निर्भर करते हैं। (i) अल्बा (Alba) याने सफेद फूल (ii) ओसिलाटा (ocillata)-फूल सफेद किन्तु उसमें गुलाबी अथवा गहरे लाल केन्द्र (iii) रोजियस roseus) गुलाबी रंग के फूल। किसी भी वनस्पति उद्यान में सदाबहार के इन भेदों को सरलता से पहचाना जा सकता है।

सदाबहार का मूलस्रोत (origin) वेस्टइंडीज माना गया है। भारत में यह अंग्रेजों के आने के बाद ही लाया गया। अब यह भारत के समस्त उद्यानों में पाया जाता है। दक्षिण भारत में तो यह खुले मैदान तथा रेल की पटरियों के किनारे बहुतायत से पाया जाता है।

सदाबहार से प्राप्त औषधि संसार भर के समस्त रक्त कैंसर पीड़ित रोगियों के लिये बरदान सिद्ध हुई है। कई देशों में सदाबहार का उपयोग मधुमेह (डाइबिटीज) रोग पर किया जाता है। दूसरे विश्वयुद्ध में जब फिलीपाइन्स में इंस्यूलिन (मधुमेह की दवा) का आयात बन्द हो गया तो इसकी पत्तियों का प्रयोग वहाँ के निवासियों ने मधुमेह रोग के लिये किया।

लगभग १९५४ ई० की बात है ओन्टेरियो (कनाडा) की एक औषधि अन्वेषणशाला में कार्यरत डा० नोवेल तथा उनके सहयोगियों ने जमायका से सदाबहार मंगवा कर इसके कथित मधुमेह नाशक गुणों की वैज्ञानिक जांच करनी चाही। प्रयोग का विषय यह था कि क्या वास्तव में मधुमेह रोग पर इसकी पत्तियाँ असर करती हैं? पत्तियों का सत्त्व निकाल कर चूहों को पिलाया गया तथा उनके रक्त में पाई जानेवाली शर्करा (सूगर) की जाँच की गई। कोई आशातीत सफलता नहीं मिली। परंतु वैज्ञानिक निराश नहीं हुए। उन्होंने फिर एक बार इसके सत्त्व को इन्जेक्सन द्वारा चूहों को लगाया। मगर क्या ? विपरीत इसके कि चूहों में कुछ अच्छे परिणाम देखने को मिलते, पहले इन्जेक्सन के पश्चात् ही कई चूहों की मृत्यु हो गई। मृत्यु का कारण चूहों के घर में पाये जाने वाले एक प्रकार के जीवाणु यानी वैक्टीरिया को समझा गया और इस बात की पुष्टि करने के लिये, मृत्य चूहों का परीक्षण (ओटोप्सी) किया गया। शोध कर्त्ताओं ने पाया कि चूहों की मृत्यु का कारण चूहे-घर के वैक्टीरिया न होकर रक्त में पाये जाने वाले सफेद अणुकण (ह्वाइट ब्लड कार्पसल्स) का अत्यधिक मात्रा में नष्ट होना था ! सफेद अणु-कण का मुख्य कार्य बाहरी जीवाणुओं से शरीर की रक्षा करना होता है।

इस औषधि की सफेद-अणु कण को नष्ट करने की क्षमता को देखकर इन शोध-कर्त्ताओं के मन में यह विचार कौंधा कि क्यों न इस औषधि का प्रयोग रक्त-कैंसर रोग में किया जाय। रक्त कैंसर रोग, रक्त में पाये जानेवाले सफेद अणु-कण के बहुतायत से बढ़ने के कारण हो जाता है और इस रोग को ल्यूकोमियाँ कहते हैं।

प्रयोग के लिये, इन कनाडियन शोध कर्त्ताओं ने रक्त कैंसर से पीड़ति चूहों पर सदाबहार से निकाले हुए सत्त्व

को इंजेक्शन द्वारा देना आरम्भ कर दिया। परिणाम ? एक आशातीत सफलता !

इस प्रयोग के सफल होते ही सदाबहार के सत्त्व में पाये जानेवाले उन क्रियाशील तत्त्वों की खोज आरम्भ हो गई जो सफेद अणुकणों को नष्ट करते हैं। सन १९-५८ में डा० नोबेल के सहयोगी डा० बेयरने 'विंका ल्यूको ब्लासटीन' नामक क्षारीय तत्त्व खोज निकाला। डा० नोबेल ने अपनी इस खोज का प्रथम शोध-पत्र सन १९-५८ में न्यूयार्क एकेडमी आफ साइन्सेस में पढ़ा और संसार को चिकित्सा-विज्ञान की एक नई उपलब्धि से अवगत कराया।

डा० नोबेल की यह खोज, केवल मात्र भाग्य का खेल नहीं था, अपितु उस वैज्ञानिक की अनोखी सूझ, दूर दृष्टि तथा अटूट परिश्रम का फल था। साधारणतया, मृत्य चूहों के परीक्षण में रक्त के सफेद अणु-कणों का परीक्षण कभी नहीं किया जाता परन्तु डा० नोबेल ने यह सब कुछ किया।

सदाबहार से प्राप्त औषधि की कहानी यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती। इसकी कहानी में सबसे विचित्र बात यह है कि जिस समय कनाडा में वैज्ञानिक इस पर शोध कार्य कर रहे थे ठीक उसी समय अमरीका की विश्वविख्यात फार्मास्यूटिकल कम्पनी एली लिली के डा० स्वेवोडा भी इसी पौधे पर शोध-कार्य कर रहे थे। डा० स्वेवोडा के शोध-कार्य का विषय था—लगभग १८०० विविध वनस्पतियों का कैंसर रोग के लिए परीक्षण। इस परीक्षण-कार्य में, सदाबहार भी सम्मिलित था जिसे कि एली लिली कम्पनी ने मेडागास्कर, आस्ट्रेलिया, द. अफ्रीका तथा भारत से मंगवाया था। डा० स्वेवोडा को सदाबहार से विंक्रीस्टीन नामक क्रियाशील तत्त्व प्राप्त हुआ जिसका प्रयोग हाडजकिन रोग (लिंफेटिक ग्रन्थि, तिल्ली तथा यकृत के कैंसर) पर सफलतापूर्वक किया गया।

डा० नोबेल तथा डा० स्वेवोडा को एक दूसरे द्वारा किये जाने वाले शोध कार्यों का बिल्कुल भी पता नहीं था। जब डा. नोबेल को डा. स्वेवोडा के शोधकार्य का पता चला, तो उन्होंने तुरन्त ही उनसे संपर्क स्थापित किया तथा शोध-कार्यों का विनिमय किया। इस प्रकार सदाबहार पर होनेवाले शोध-कार्य को एक नई दिशा मिली।

जब विश्व के अन्य वैज्ञानिकों को सदाबहार के गुणों का पता चला तो उन्होंने भी इस औषधि पर शोध-कार्य आरम्भ कर दिया और इसमें पाये जानेवाले लगभग १२५ क्षारीय तत्त्व (एलक्लाइड) को खोज निकाला। परन्तु इसमें केवल दो क्षारीय तत्त्व 'विंका ल्यूकोब्लास्टीन' तथा 'विंक्रीस्टीन' ही मुख्यत: रक्त कैंसर अथवा ल्यूकोमिया तथा हाडजकिन रोग (लीवर, स्प्लीन कैंसर) में क्रमश: किया जाता है। विश्व के चिकित्सा - इतिहास में सर्पगंधा के बाद सदाबहार ही एक ऐसी वानस्पतिक औषधि है जिस पर की सबसे अधिक शोध पत्र लिखे जा चुके हैं और लिखे जा रहे हैं।

सबसे मुख्य बाधा इस औषधि के साथ यह है कि इसमें पाये जानेवाले क्रियाशील क्षारीय तत्त्वों (alkaloids) की मात्रा बहुत ही न्यून होती है तथा इसे १२५ से भी अधिक अन्य क्षारीय तत्त्वों से अलग करना बहुत ही जटिल कार्य होता है।

लगभग १२ टन सूखी पत्तियों से केवल मात्र एक आऊंस विंक्रीस्टीन (Vincristine) प्राप्त होता है याने ·०००२५%। इसी प्रकार ९ कि० ग्रा० सूखी पत्तियों से केवल मात्र १५०-२०० मि० ग्रा० 'विन्का ल्यूको ब्लास्टीन' (Vinca leuco blastine) याने ·००००१६ प्रतिशत। इन क्षारीय तत्त्वों को निकालने की तकनीकी विधि का ज्ञान संसार में केवल मात्र कुछ ही देशों को प्राप्त है जिनमें मुख्य हैं : अमरीका, हंगरी तथा इटली। हंगरी प्रतिवर्ष लगभग २ कि. ग्रा. विन्क्रस्टीन सल्फेट तथा विन्काल्यूकोब्लास्टीन का निर्माण करता है तथा इनका निर्यात करता है।

भारत से प्रतिवर्ष सैकड़ों टन सदाबहार की पत्ती तथा जड़ का निर्यात विदेशों को होता है। १९७७ में इसकी पत्ती लगभग ४) से ५) रु. प्रति किलो तथा जड़ १०रु. से १२ रु. प्रति किलो के भाव से निर्यात की गई।

भारत की कई अन्वेषणशालायें सदाबहार से क्रियाशील क्षारीय तत्त्वों को निकालने की दिशा में प्रयत्नशील हैं। जिस दिन यह तकनीकी ज्ञान भारत को प्राप्त हो जायेगा वह दिन भारत के चिकित्सा इतिहास में एक गौरवशाली दिन होगा।

सदाबहार का चिकित्सा में प्रयोग

औषध बाजार में, विन्काल्यूकोब्लास्टीन से बनाई गई इंजेक्सन Velban तथा ल्यूरोक्रिस्टीन से बनाई गई oncovia, Eli Lily & co. द्वारा उपलब्ध है जो रक्त कैंसर के उपचार हेतु प्रयोग किये जाते हैं। फिलिपाइन्स, द० अफ्रीका, लंका तथा आस्ट्रेलिया इत्यादि में इसकी पत्तियों को चाय की भांति उबाल कर उसके काढ़े का प्रयोग मधुमेह रोग पर किया जाता है। मगर वैज्ञानिक परीक्षण से इस बात की पुष्टि नहीं हो पाई।

कुछ भागों में इसके ५ या ६ फूल का सेवन प्रतिदिन प्रातः काल खाली पेट किया जाता है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इससे मधुमेह रोग ठीक होता है।

इसके अन्य प्रयोग, अतिसार, कृमिनाशक, दाद-खाज तथा अति मासिक स्राव इत्यादि रोग में किये जाते हैं।

तालसिन्दूर ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में

डा० नित्यानन्द पाठक
जी. ए. एम. एस , एम. एस. ए. एम.
सहायक अनुसंधान अधिकारी, वनौषधि सर्वेक्षण एकक, जम्मू

तालसिन्दूर का ऐतिहासिक दृष्टि से अनुशीलन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि इसका इतिहास बहुत प्राचीन नहीं है, तथापि भारतीय रसशास्त्र के इतिहास में यह एक अतीत के बाद प्रकाश में आया है। परन्तु रसशास्त्र की परम्परा में हरताल जो तालसिन्दूर का एक प्रधान घटक द्रव्य है, का स्थान अति प्राचीन तो नहीं फिर भी प्राचीन तो कहा ही जा सकता है। क्योंकि तालसिन्दूर की ऐतिहासिक विवेचना के पूर्व हरताल के कुछ आवश्यक तथ्यों का ज्ञान उपलब्ध है। अतः इस संदर्भ को दृष्टि में रखते हुए तालसिन्दूर के आधार पर हरताल के इतिहास के आवश्यक पहलुओं का संक्षेप में विवेचन आवश्यक है।

वैदिक एवं ब्राह्मण काल—वैदिक एवं ब्राह्मण कालीन ग्रन्थों के अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि उस काल में हरताल के प्रयोग से लोग अनभिज्ञ थे, जबकि रसशास्त्र की विभिन्न सामग्रियों (स्वर्ण, रजत, ताम्रादि धातुओं) का उपयोग वे अलंकार और अस्त्र-शस्त्र के रूप में करते थे।[1]

संहिता एवं संग्रह काल—सहिता ग्रन्थों में मुख्य रूप से चरक, सुश्रुत आदि छः संहिताए प्राप्त होती हैं। इन संहिता ग्रन्थों के अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में हरताल का ज्ञान विकसित हो चुका था। इतना ही नहीं, चिकित्सा में इसका प्रयोग भी शुरू हो चुका था। चरक संहिता में हरताल का प्रयोग कई योगों के रूप में देखने को मिलता है यथा—शिरोरोग में शिरोविरेचनार्थ धूम्रपान के रूप में, कुष्ठ रोग में अभ्यंगार्थ प्रयुक्त हुआ है।[2]

काय-चिकित्सा में जो ख्याति चरक संहिता को मिली है वही शल्य-चिकित्सा में सुश्रुत को है। सुश्रुत संहिता में चरक के समान ही हरताल का प्रयोग अनेक रोगों में देखने को मिलते हैं, यथा—व्रण, त्वक्रोग[3], अर्श[4], कुष्ठ[5], ग्रन्थि[6], भगंदर, उपदंश[7], उरूंशिका[8], कर्णकृमि[9], पूतना[10], अंधपूतना[11], लोमशातन[12], विष[13] आदि।

संग्रहकालीन ग्रन्थों के अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि इस युग में हरताल का चिकित्सा में प्रयोग एवं गुण-कर्म के विषय में पूरी जानकारी हो गई थी। अष्टांग हृदय में कुष्ठ[14], त्वक्रोग[15], मुखरोग[16], व्यंग, नीलिका[17], आदि रोगों के अतिरिक्त वृश्चिक-दंश[18] के ऊपर सफल प्रयोग का उल्लेख है।

रसकाल—संहिता एवं संग्रह कालों के बाद पांचवीं शताब्दि से नागार्जुन के आविर्भाव के साथ रस-शास्त्र का विकास आरम्भ हो जाता है, जो कि पांचवीं शताब्दि से विकसित होते-होते पन्द्रहवीं शताब्दि तक पर्याप्त विकसित हो चुका था।

रसहृदय तन्त्रम्—गोविन्द भगवतपाइद द्वारा लिखित

---

1. शतपथ (12/4/4/7), (2/6) 2. च. सू. 5/26, चि. 7/114, 3. सु. सू. 37/14, 18 चि. 1/60/97 (2/6/4/5).(14/2/2/54), 4. (4/4/1/1-2),(12/8/3/11), सु. चि. 6/12, 5. सु. चि. 9/10 6. सु. चि. 18/18, 7. सु. चि. 19/40, 46, 8. सु. चि. 20/28, 589, 9. सु. उ. 13/90, 10. सु. उ. 33/4, 11. सु. उ. 33/4, 12. सु. चि. 6/12, 13. सु. कं. 21/52, 14. अ. हृ. उ. 25/60, 15. अ. हृ. उ. 25/60, 16. अ. हृ. उ. 22/100, 17. अ. हृ. उ. 32/31 18. अ. हृ. उ. 37/35, 40

यह 11 वीं शताब्दि का ग्रन्थ है। इसमें हरताल-प्रयोग के विषय में पारद को रंजीत[1] करके और नाग को सत्वर जारण करके कई प्रयोगों का विशेष उल्लेख प्राप्य है। इस ग्रन्थ में हरताल को उपरस की श्रेणी में रखा है।[9/5]

रसार्णव—इस ग्रन्थ को रसशास्त्र की अमूल्य निधि कहा जाता है। ग्रन्थ का प्रारम्भ पार्वती और परमेश्वर के वार्तालाप से हुआ है। इसमें हरताल उपरस की श्रेणी में है। ग्रन्थ में हरताल के भेद[3], शोधन एवं मारण[4] का वर्णन है तथा सत्वपातन के समय उत्थित विभिन्न प्रकार की ज्वालाओं का वर्णन भी विशेष रूप से किया गया है। इसमें पारद बंध के लिए अनेक प्रयोगों का भी वर्णन है।

आनन्दकन्दम्—इसके लेखक मन्थानभैरव हैं जिनका काल १२वीं शताब्दि माना जाता है। यह एक संग्रह ग्रन्थ है। इसमें हरताल के भेद, शोधन, मारण एवं सत्वपातन के विषय में उल्लेख मिलता है।

रसरत्नाकर—यह पुस्तक पार्वती पुत्र नित्यनाथ सिद्धद्वारा १३वीं शताब्दि में लिखी गई है। इसमें लौह वेध सम्बन्धी बातें जगह-जगह देखने को मिलती हैं। इसमें हरताल के शोधन और सत्वपातन के साथ हरताल सत्व द्वारा ताम्र वेध का उल्लेख मिलता है।

रसेन्द्रचूड़ामणि—इस ग्रन्थ का काल 12वीं शताब्दि के मध्य माना जाता है। इसमें बहुविध शोधन पद्धति के साथ-साथ मारण प्रक्रिया का सुव्यवस्थित ढंग से उल्लेख मिलता है जो अन्य पुस्तकों में अलभ्य है। इस ग्रन्थ में हरताल के भेद[6], गुण-शोधन एवं सत्वपातन[7] का वर्णन है।

रसोपनिषत्—यह ग्रन्थ रसशास्त्र के धातुवाद पर आधारित है। यह कब और किस आचार्य के द्वारा लिखी गई है यह स्पष्ट नहीं होता। इसमें प्रायः लौह वेध और पारद संस्कार[8] तथा बन्ध[9] पर अधिक प्रकाश डाला गया है, जो अन्यत्र नहीं मिलता। हरताल द्वारा लौहवेध[10] की विशेष विधि भी बताई गई है। इसमें हरताल द्वारा स्वर्ण[11] बनाने की कई विधियों का भी उल्लेख है। इसमें तालद्रुति[12] का महत्वपूर्ण वर्णन है जो अन्यत्र देखने को नहीं मिलता।

1. र. हृ. त. 8/10-17, 2. र. हृ. त. 5/37-39, 42, 3. रसा. 5/95, 4. रसा. 7/74, 5. 15/107-111, 7/56, 6. रसे. चू. 11/29, 7. रसे. चू. 11/44 8. रसो. 1/67-120, 9. रसो. 1/88, 10. रसो. 7/41, 11. रसो. 14/37-44, 12. रसा. 7/42.

रसेन्द्रसार संग्रह :—यह संग्रह ग्रन्थ श्री गोपालकृष्ण भट्ट का है जो 13 वीं शताब्दि में हुये थे। इस ग्रन्थ में हरताल को उपरस में रखा गया है।[1] इसके गुण,[2] दोष,[2][3] शोधन,[4] मारण,[5] के साथ इसके कई योगों का भी उल्लेख किया गया है[6]।

रसरत्न समुच्चय :—यह ग्रन्थ आयुर्वेदीय रसशास्त्र का अत्यन्त विकसित ग्रन्थ कहा जाता है। इस ग्रन्थ की विषय - वर्गीकरण की शैली अपनी विशेषता रखती है। इसके लेखक रससिद्ध वाग्भट थे जो कि सिंहगुप्त के पुत्र थे। इसकी रचना 13 वीं शताब्दि में हुई थी परन्तु इसके सम्बन्ध में बहुत मतभेद पाया जाता है। पुस्तक में 27 अन्यान्य सिद्धाचार्यों के नामों का उल्लेख किया गया है और उनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की गयी है। इस ग्रन्थ में हरताल को उपरस की श्रेणी में रखा गया है[7] तथा इसके गुण,[8] भेद,[9] शोधन[10] एवं सत्वपातन[11] के साथ बाह्य एवं आभ्यन्तर रोगों में अनेक प्रयोगों का उल्लेख किया गया है।[13]

रसप्रकाश सुधाकर :—यह ग्रन्थ जूनागढ़ निवासी यशोधर की कृति है। इन्होंने हरताल को उपरस में गिना है और इसके भेद, शोधन, एवं सत्वपातन के साथ गुणों को भी बतलाया है।[14]

शारंगधर संहिता :—यह संहिता 14वीं शताब्दि में शारंगधर द्वारा लिखी गई थी। इस ग्रन्थ में काष्ठौषधि तथा रसौषधियों की एक समन्वयात्मक चिकित्सा का प्रतिपादन किया गया है। इसमें धातुओं के साधारण शोधन के साथ साथ विशेष शोधन का भी उल्लेख किया

1. र. स. सं. 1/118, 2. र. सा. सं. 1/187, 3 र. सा. सं. 1/78, 4. र. सा. सं. 1/179, 5. र. सा. स 1/184, 6. र. सा. सं. 1/191, 7. र. र. स. 3/1 8. र. र. स. 3/72, 9. र. र. स. 3/70, 10. र. र स. 3/77, 11. र. र. स. 3/80, 13. र. र. स. 20 25, 31, 14. र प्र. सु 6/2.5.6।

गया है।[15] धातुओं के भस्म बनाने के लिये भी इसका प्रयोग किया गया है।[16]

हरताल से बने कई योगों का प्रयोग अनेक रोगों में देखने को मिलता है।[17]

आयुर्वेद प्रकाश:—इस ग्रन्थ के लेखक माधव हैं। यह माधवनिदानकार से पृथक हैं। इनका समय 17वीं शताब्दि माना जाता है। रसार्णव, रसरत्नाकर आदि का इस ग्रन्थ पर विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। इसमें हरताल के भेद, लक्षण, शोधन, मारण, और सत्वपातन के विषय में विस्तृत उल्लेख मिलता है। साथ ही इसमें हरताल से बने कई योगों का भी वर्णन किया गया है।[18]

भावप्रकाश:—इस कृति की रचना श्री भाव मिश्र द्वारा 17 वीं शताब्दि में की गई थी। श्री भावमिश्र बनारस के एक प्रख्यात चिकित्सकों में से एक थे। इनमें भी इन्होंने शारंगधर जैसी समन्वयात्मक चिकित्सा प्रणाली अपनाई गयी है। इसमें इन्होंने हरताल के भेद, शोधन, सत्वपातन, गुण एवं कर्मों का उल्लेख करते हुए कई योगों का वर्णन किया है।[19]

भैषज्यरत्नावली:—गोविन्ददास द्वारा भैषज्यरत्नावली की रचना 19 वीं शताब्दि में की गई। इस समय तक आयुर्वेद में संग्रहात्मक कार्य चल पड़ा था। भैषज्यरत्नावली उसका ही एक उदाहरण कहा जा सकता है। इसमें उस समय के प्रचलित विशिष्ट योगों का संग्रह पाया जाता है। इसमें भी हरताल का प्रयोग बहुत योगों में उल्लिखित है ?[20]

रसायनसार—यह ग्रन्थ 20वीं शताब्दि की एक कृति है। इसके लेखक श्री श्यामसुन्दराचार्य जी थे। ये काशी के रहने वाले थे। इस ग्रन्थ में उन्होंने अपने अनुभूत प्रयोग लिखे हैं। इसमें पारद के बुभूक्षित करने का उल्लेख एवं स्वर्ण ग्रास देकर भार न बढ़ने सम्बन्धी कई अनुभूत प्रयोग भी लिखे हैं। इसी में मल्लचन्द्रोदय, तालचन्द्रोदय शिलाचन्द्रोदय ताम्रचन्द्रोदय आदि नवीन योग देकर उन्होंने अपनी सूझबूझ का परिचय दिया है।[1]

रसतरंगिनी—वैद्य सदानन्द शर्मा ने इस पुस्तक में आधुनिक और प्राचीन रसशास्त्र की समन्वयात्मक पद्धति को अपनाया है। यह पुस्तक 20वीं शताब्दी की रसशास्त्र सम्बन्धी श्रेष्ठ कृति मानी जाती है। इसमें हरताल के भेद,[2] विविध प्रकार के शोधन,[3] मारण,[4] सत्वपातन,[5] के उपरांत कृत्रिम हरताल बनाने की विधि बतलाई है[6]। इस ग्रन्थ में प्रत्यक्षरूप से तालसिन्दूर के नाम से तो कोई योग उपलब्ध नहीं होता परन्तु नवम अध्याय में इन्होंने हिंगुलीय माणिक्यरस का वर्णन किया है[7]।

रसयोगसागर—यह ग्रन्थ वैद्य हरिप्रपन्न जी के अथक परिश्रम का फल है। इस ग्रन्थ में उन्होंने हरताल के बहुत से योगों का संग्रह तथा स्वयं अपने भी कई स्वतंत्र योगों का उल्लेख किया है। साथ ही तालसिन्दूर की आठ विधियों का भी संग्रह किया है[8]।

रसामृत—वैद्य यादव जी महाराज अपने विशिष्ट अनुभवों के आधार पर इस पुस्तक का निर्माण किया है। इसमें हरताल के विविध शोधन, भारण, सत्वपातन के साथ ही तालसिन्दूर नामक योग का भी वर्णन किया गया है[9]।

तालसिन्दूर का इतिवृत्त—पूर्वोक्त विवेचन से यह सिद्ध है कि हरताल का प्रयोग आयुर्वेद में संहिता काल से प्रारम्भ हो गया था, यद्यपि इस काल में इसका अधिकतर प्रयोग वाह्य रूप में ही होता था। जैसे में धूमपान, कवलधारण, वृश्चिकदंश, व्रण, अर्श, भगंदर, उपदंशादि।

संग्रहकाल में हरताल का प्रयोग पारद रंजन, जारण एवं सत्वपातन आदि के लिए प्रारम्भ हुआ तथा बाद में ताम्रवेध, लौहवेध और पारद संस्कारों के लिए भी इसका प्रयोग शुरू हुआ। हरताल के शोधन, मारण के साथ-साथ इसके आभ्यन्तर प्रयोगों की भी चर्चा हुई जिसने हरताल के आभ्यन्तर प्रयोगों को भी संभव कर दिया। 20वीं

---

15. शा. ध. म. ख. 11/76-77, 16. शा. म. ख, 11/21, 22, 17. शा. म. ख. 42, 50-54, 18. आ. प्र. 2/173-175, 19. भा. प्र. धा, व. 128-132, 12/50 54, 176-180, 193-199, 184- 187, 209-210/212-213, 227-229, 230-232,

1. रसायनसार पृ०—172 182, 2. र० त० 11/4, 3. र० त० 11/16—25, 4. र० त० 11/26-51, 5. र० त० 11/94—102, 6. र० त० 11/9—12, 7. र० त० 9/50—53, 8. रसयोग सा० पृ० सं० 585 588 9. रसामृत पृ०—57।

शताब्दी के प्रारम्भ में तीन प्रमुख रस वैद्यों ने इसके आभ्यन्तर प्रयोगों का तालचन्द्रोदय और तालसिन्दूर के रूप में विकास किया।

रसायनसार के कर्ता काशी निवासी श्री श्याम सुन्दराचार्य ने तालचन्द्रोदय का विकास तथा रसयोगसागर के कर्ता वैद्य हरिप्रपन्न शर्मा एवं रस-तरंगिनी के लेखक वैद्य सदानन्द शर्मा घिल्डियाल ने हरताल से तालसिन्दूर बनाने की विधियों का उल्लेख किया। यहां द्रष्टव्य इतना ही है कि श्यामसुन्दराचार्य द्वारा उल्लिखित तालचन्द्रोदय वस्तुतः तालसिन्दूर का ही स्वर्ण बुभूक्षित पारद को ग्रहण करने के कारण इसका नाम सिन्दूर न रखकर चन्द्रोदय रखा गया। स्वर्ण बुभूक्षित पारद रहित तालसिन्दूर का उल्लेख सर्वप्रथम रसयोगसागर में वैद्य हरिप्रपन्न द्वारा किया गया। इसके बाद अनेक विद्वानों ने इसके निर्माण की प्रक्रिया लिखी है, जिनमें रसामृत, सिद्ध-भैषज्य मणिमाला आदि प्रमुख हैं।

तालिका-१

विभिन्न ग्रन्थों में हरताल प्रयोग प्रदर्शक तालिका

ग्रन्थ नाम	भेद	शोधन	मारण	सत्वपातन	विशेष
चरक संहिता	—	—	—	—	शिरोविरेचनार्थ कुष्ठ में कवल धारणार्थ।
सुश्रुत संहिता	—	—	—	—	व्रण, त्वक्‌रोग, अर्श, उपदंश।
अष्टांग हृदय	—	—	—	—	कुष्ठ, त्वक्‌रोग, वृश्चिकदंश
रसहृदयतंत्रम्	—	—	—	—	उपरस, पारद रंजीत एवं नाग के सत्वर जारण में
रसार्णव	+	+	+	+	इसमें धातुओं के सत्वपातन के समय उत्थित विभिन्न ज्वालाओं का वर्णन है जिनसे धातुओं की उपस्थिति का ज्ञान होता है।
आनन्दकन्दम्	+	+	+	+	
रसरत्नाकर	—	+	—	+	हरताल सत्व के साथ ताम्रवेध का विधान है।
रसेन्द्रचूडामणि	+	+	+	+	हरताल के गुणों का उल्लेख किया गया है।
रसोपनिषत	—	—	—	—	१. तालद्रुति का उल्लेख है। २. हरताल द्वारा लौहवेध की विशेष विधि का वर्णन है। ३. हरताल द्वारा स्वर्ण बनाने की प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है।
रसेन्द्रसार संग्रह	—	+	+	—	हरताल से बने कई योगों का उल्लेख है।

रसरत्न समुच्चय	+	+	--	+	हरताल को उपरस मे रखा गया है तथा साथ में कई योगों का भी उल्लेख है।
रसप्रकाश सुधाकर	+	+	--	+	उपरस की श्रेणी में रखते हुए गुणों का भी वर्णन है।
शारंगधर संहिता	—	+	--	—	१. सामान्य शोधन के साथ-साथ विशेष शोधन का उल्लेख है। २. हरताल से बने कई योगों का भी उल्लेख किया गया है।
आयुर्वेद प्रकाश	+	+	+	+	हरताल के लक्षण एवं गुणों के साथ कई योगों का वर्णन।
भाव प्रकाश	+	+	--	+	हरताल के गुण कर्मों का वर्णन करते हुए इसके कई योग लिखे है।
भैषज्यरत्नावली	--	--	--	--	हरताल से निर्मित अनेक योगों का संग्रह किया गया है।
रसायनसार	--	--	--	--	तालसिन्दूर के कई योगों का निर्माण किया है।
रसतरंगिणी	+	+	+	+	कृत्रिम हरताल बनाने के साथ-साथ हिंगुलीय माणिक्य रस का निर्माण किया है।
रसयोगसागर	--	--	—	---	तालसिन्दूर के ८ योगों का संग्रह देखने को मिलता है।
रसामृत	+	+	+	—	हरताल के गुण-कर्मों का वर्णन करते हुए तालसिन्दूर बनाने की विधि का भी उल्लेख किया है।

तालिका—2

विभिन्न ग्रन्थों में उपलब्ध तालसिन्दूर की पाठान्तर तालिका

क्रम सं.	ग्रन्थ नाम	पारद	गंधक	हरताल	सोमल	मन:शिला	हिंगुल	टंकण	नृसार	स्फटिक	चूना	भावना	अग्नि मात्रा	विशेष
1.	रसामृत, सिद्ध-भैषज्य मणिमाला	6	1	1	1	—	—	—	—	—	—	—	4 पहर	
2.	रसयोगसागर (नूतन कल्प से संकलित)	—	1	1	—	—	1	—	—	—	—	कुमारी स्वरस, पलासपुष्प	4 पहर	
3.	रसयोगसागर (रत्नाकर औषध संग्रह से संकलित)	1	1	1			—	1	—	—	—	पान, अर्कदुग्ध, आर्द्रक, चित्रक, रसोन मूल क्वाथ	4 पहर	
4.	रसयोगसागर(वृहद्-योग तरंगिनी से संकलित)	20	20	5	—	2½	—	2½	1¼	—	—	शाखुपत्र	16 पहर	1/16 गंधक मिला कर 7 बार कूपी पाक करना है।
5.	रसतरंगिनी	—	8	8	—	8	—	—	—	—	—	पलास पुष्प से सात दिन	3 दिन	यहां पर पारद के स्थान पर हिंगुल ग्रहण किया गया है।
6.	रसयोगसागर (योग-महार्णव से संकलित)	30	25	25	—	—	—	—	8¼	25	—	घृतकुमारी, मकोय रस से 1 दिन	12 पहर	इस प्रकार 3 बार पाक करें।
7.	रसयोगसागर (रत्नाकर औषध संग्रह, वसवंराजीयम वैद्य-चिंतामणिसे संकलित)	—	—	1	—	—	—	—	—	—	1	रक्तकर्पास पुष्प	3 दिन	यहां पर हरताल को चूना के साथ पाक किया है।
8.	रसयोगसागर (वृहद्-योग तरंगिनी रसायनसंग्रह, वैद्य चिंतामणि से संकलित।)	4	4	1	—	½	—	½	¼	—	—	शाकवृक्ष	16 पहर	

9.	रसायनसार (ताल-चन्द्रोदय)	1	2	1	—	—	—	—	—	—	—	—	3 दिन	स्वर्णबुभूक्षित पारद ग्रहण किया गया है।
10.	रसायासार (ताल-चंद्रोदय)	1	1	1	—	—	—	—	—	—	—	—	12 घंटा	षड्गुणबलिजारित पारद ग्रहण किया है।
11.	रसायनसार (ताल-चंद्रोदय)	1	1	1	—	—	—	—	—	—	—	—	4 पहर	शतगुण बलिजारित पारद ग्रहण का विधान है।
12.	रसायनसार (ताल-चंद्रोदय)	1	1	1	—	—	—	—	—	—	—	—	4 दिन	1. हरताल गंधक को भल्लातक स्नेह में पचित कर ग्रहण किया गया है। 2. स्वर्ण ग्रसित पारद लिया गया है।

....

उपसंहार—पूर्वोक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि तालसिन्दूर के विकास में रस वैद्यों ने अपने अनुभव के आधार पर कमी-वेशी की है। मुख्य रूप से घटकों के सम्बन्ध में निम्नलिखित परिवर्तन उपलब्ध होते हैं।

तालिका संख्या-2

निष्कर्ष—इस प्रकार यह तथ्य निष्कर्ष के रूप में निकाला जा सकता है कि रोग, रोगी, देश, काल, बल, बय एव परिणामादि के आधार पर तालसिन्दूर के घटकों में संशोधन-परिवर्द्धन की अभी गुंजाइश है।

वनौषधियों को समर्पित विरल जीवन

पुरुषार्थ की प्रतिमा : श्री बांबडाई

वैद्य रणजित राय देसाई

भारतीय भाषाओं की पत्र-पत्रिकाओं में प्रायः युवकों के लिए प्रेरणादायी जीवन-वृत्तान्त, घटनाएं आदि प्रकाशित होती रहती हैं, बहुधा ये वैदेशिक व्यक्तियों से संबंध रखनेवाली हुआ करती है। परन्तु, स्वयं भारत-भूमि के प्राचीन-अर्वाचीन इतिहास आदि से भी ऐसी असंख्य घटनाए एवं व्यक्तियों के चरित उपलब्ध हो सकते हैं, इसमें संशय नहीं। ग्राम-ग्राम और नगर-नगर से ऐसे दृष्टान्त एकत्र कर पत्र-पत्रिकाओं में तथा पुस्तिकाओं के रूप में प्रकाशित किए जाते रहे तो वे अपने ही देश से एव अपने ही वातावरण से सम्बद्ध होने से युवक-वर्ग को जितना आकृष्ट और प्रेरित कर सकते हैं, उतना विदेशी दृष्टान्त नहीं। यहाँ हम ऐसे एक गुर्जर महानुभाव का जीवन-वृत्तान्त दे रहे हैं; जिन्होंने अपना समस्त जीवन वनौषधियों के अध्ययन-अनुशीलन को अर्पित कर दिया था। सांप्रत काल में गुर्जर-भूमि ने इनके अतिरिक्त दो अन्य महानुभाव भी राष्ट्र को अर्पित किए हैं जिन्होंने वनस्पति-सम्बन्धी ज्ञानोपार्जन में अपने समग्र जीवन की आहुति दे दी। ये हैं—श्री जयकृष्ण इन्द्रजी तथा आचार्य बापालाल भाई। यहाँ जिनका चरित प्रस्तुत किया जा रहा है उन श्री बांबडाई तथा उक्त दोनों महानुभावों ने प्रयत्नोंपार्जित इस ज्ञान को अपने तक ही सीमित न रखते हुए विशालकाय ग्रन्थों के रूप में उसे जनता-जनार्दन के सेवार्थ समर्पित भी कर दिया है। वनौषधियों के उपासक ऐसे ही एक गुर्जर महानुभाव महाराष्ट्रान्तर्गत शोलापुर के एक व्यवसायी हैं। इनका परिचय भी यथाकाल करायेंगे। इस लेख में श्री बांबडाई का परिचय कराया जा रहा है। यह परिचय गुजराती मासिक 'जनकल्याण' में १९७२ फरवरी के 'व्यवहार-शुद्धि' विशेषाङ्क में आए श्री ईश्वरभाई पटेल के 'ज्ञान की पिपासा' शीर्षक लेख के भाषान्तर के रूप में कराया है। वाचक इससे प्रेरणा-लाभ करेंगे, यह आशा है।

कच्छ की मरुभूमि, ईसवी सन् १९२१ का काल। मांडवी बन्दरगाह पर एक कच्छी व्यापारी उतरा। साथ में हैदराबाद से आई रुग्णा पत्नी। रोग तो पत्नी को हैदराबाद से ही था। मुंबई में वैद्यों, डाक्टरों को दिखाया। सभी ने परामर्श दिया कि, पत्नी को अपने देश कच्छ में ले जाओ। व्यापारी मुम्बई बन्दरगाह से स्टीमर में रवाना हुआ। परन्तु स्टीमर के प्रस्थान के समय प्रचण्ड झंझावात उठा। स्टीमर झूले खाने लगी और रुग्ण सगर्भा स्त्री को स्टीमर में ही अपप्रसूति हो गई। सावधानी से उसे पुनः बन्दरगाह पर उतार, श्वशुर कुल की इच्छानुसार पत्नी को वहीं रखकर युवा पति स्वदेश पहुंचा।

पत्नी के अस्वास्थ्य से मनयों भी विकल था। रोग की वृद्धि ने उसे और बढ़ा दिया। तीनेक दिन में तो समाचार आया कि पत्नी कुछ ही दिन टिकनेवाली है, परन्तु व्यापारी के मन में अन्य ही तुमुल आरम्भ हुआ। आर्थिक दृष्टि से वह सुखी था, अतः इष्ट-मित्र पुनः विवाह करने की सलाह देने लगे। कइयों ने प्रस्ताव के संकेत भी दिये।

व्यापारी के मनोमन्थन का अन्य भी एक कारण था। इतनी आयु में वह तीन बार विधुर हो चुका था। अन्तिम इस चौथी पत्नी से तीन सन्तानें थीं—दो पुत्रियाँ एक पुत्र। मृत्यु-शय्या पर पड़ी पत्नी चिंतातुर थी अपने बच्चों के भविष्य के विषय में। पति पुनः विवाह करेगा और सौतेली माँ उसकी सन्तानों के साथ कौन जाने कैसा

व्यवहार करेगी ? पत्नी का जीव इसी चिन्ता में आसक्त था। जीव निकले नहीं और उसकी विकलता का अन्त आए नहीं।

युवक केवल द्रव्योपार्जन में चतुर न था। उसका अध्ययन अच्छा था, विचार भी परहितकारी। इसके अतिरिक्त वनस्पति परिचय का अदम्य शौक, भाँति-भाँति के फल-फूल, पौधे, लता और वृक्षों को पहचानना—उनका परिचय प्राप्त करना, उनके औषधीय गुण-धर्मों का ज्ञान प्राप्त करना, रुग्ण-चिकित्सा में औषधियों का उपयोग करना, अन्यों की सेवा—शुश्रूषा करना, बिना मूल्य औषध देना...इत्यादि संस्कार उसके चित्त में पड़े थे—उत्साह और शौक से इन प्रवृत्तियों में मग्न रहता। यह करके रुग्ण पत्नी के मन की स्थिति वह अनायास जान गया, उसे स्वयं भी स्फुरित हुआ कि तीन-तीन बार विधुर होने पर अब पुनः विवाह का वह अधिकारी ही नहीं है। भगवान की भी यही अभिलाषा है कि उसे अन्य कोई लोकहित का कार्य अपनाना चाहिए। क्रन्दन करती पत्नी के मुख में पानी छोड़कर उसने उसे विश्वास दिलाया कि अब वह पुनः विवाह करेगा नहीं। पत्नी की आत्मा को तत्क्षण शान्ति प्राप्त हुई। पति के साथ रहते हुए उसे श्रद्धा हो गई थी कि पति एक-वचनी है। उसे अत्यन्त सान्त्वना मिली। पन्द्रह एक मिनट में उसने पार्श्व-परिवर्तन किया और उसका आत्मा पिञ्जर-मुक्त हो गया। उस युवक के जीवन ने भी करवट बदल डाली थी। उसे लगा—'भलुं थयुं भांगी जंजाल, सुखे भजीशुं वनश्रीलाल।'[1]

तीन श्रेणी अंग्रेजी पढ़कर सोलह वर्ष की अपरिपक्व वय में संसार के बन्धन में पड़ने वाले ये व्यवसायी थे—अद्वितीय वनौषधि-वेत्ता, कच्छी जन-सेवक श्री गोकुल दास खीमजी बांबडाई।

वनस्पति-शास्त्र का अनुशीलन उसने कभी किया न था। ग्रीकलेटिन तो 'काला अक्षर भैंस बराबर' उनके लिए था। वनस्पतियों के वर्गों अथवा वर्गीकरण का लेश मात्र परिचय नहीं। तथापि एक पुरुषार्थी जिज्ञासु के रूप में स्व-परिश्रम से वनस्पतियों का अध्ययन करने वाले एवं नवीन शैली से वनौषधियों का वर्गीकरण कर वनस्पतियों के गुण-धर्मों के अतिरिक्त उनके सम्बन्ध में आर्थिक, औषधीय आदि विषयों का निरूपण करने वाले 'वनस्पति सृष्टि' नाम के तीन विशाल खण्डों में विभक्त ग्रन्थ स्व-व्यय से माता गुर्जरी के चरणों में प्रस्तुत करने वाले इस जन-सेवक का जीवन स्वयं-शिक्षक का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करता है।

पत्नी के मरण के पश्चात् संतानों के रक्षण-शिक्षण आदि का कर्तव्य-भार सिर पर पड़ा। कपास की ऋतु आरम्भ होने पर बालकों को साथ लेकर व्यवसायार्थ वे हैदराबाद (दक्षिण) गए, लड़के वहां इन्फ्लुएंजा के ग्रास हुए, अतः व्यापार समेट कर पुनः स्वदेश लौट आए। वहाँ सामाजिक जीवन में विविध सेवाएं करते रहे। मुख्यतया ध्यान केन्द्रित किया वनस्पतियों पर। नदी-तट पर जमीन खरीद उसमें वाटिका बना विभिन्न प्रकार की वनस्पतियां उगाना आरम्भ किया। परन्तु वनौषधि-उद्यान के लिए पानी की आवश्यकता होती है। इस हेतु वाटिका में ही बावड़ी बनवाई। बावड़ी में अपने लड़के को और उसके मित्रों को भी तैरना सिखाया। भाग्यवशात् बांबडाई के तेरह—चौदह वर्ष के एक मात्र पुत्र का पैर बावड़ी के पहले सोपान पर फिसला और वह पछाड़ खा कर गिर पड़ा। बावड़ी की किनारी से शिर टकराया तथा असामयिक मृत्यु को प्राप्त हुआ। गोकुल दास को मर्मान्तक आघात पहुंचा। इस आघात से मुक्ति तथा आध्यात्मिक शान्ति दिलाने की सदिच्छा से एक मित्र ने अरविन्द आश्रम में निवासार्थ बुलाया। वहां महर्षि का समागम हुआ। साथ ही, गीता, योग आदि पुस्तकों के स्वाध्याय से मन को कुछ शान्ति मिली। फलतः पन्द्रह-बीस दिवस पाण्डिचेरी प्रदेश की वनस्पतियों के निरीक्षण में व्यतीत किए और अनेक नमूने लेकर स्वदेश लौट आए। कच्छ के प्रखर वनौषधि-विशारद जयकृष्ण इन्द्रजी को ये नमूने दिखाए। उनके संसर्ग से वनस्पति-

---

१- मूल वाक्य प्रसिद्ध गुर्जर कवि नरसिंह मेहता का है। उसके अन्त में आए 'श्री गोपाल' शब्द के स्थान पर युवक ने अपने लक्ष्य के सूचक 'वन-श्री रूपी कन्हैया लाल' शब्द रखे हैं। मूल वचन नरसिंह मेहता ने अपनी पत्नी के अवसान पर उचारे थे। उनका अर्थ है : अच्छा हुआ, झंझट मिटा, अब निश्चिन्त हो श्रीगोपाल की आराधना में चित्त लगाएंगे।

विद्या का प्रेम अखण्ड हुआ। संसार के बन्धन से मुक्त जीव ज्ञान के बन्धन में उलझता गया।

भाग्य ने पुनः संसार-मुक्ति का एक अन्य अवसर उपस्थित कर दिया। मुम्बई में व्याही इनकी ज्येष्ठ पुत्री क्षय से पीड़ित हुई। चिकित्सार्थ उसे पंचगनी ले गए, पचगनी के निवास में एक नवीन गुरु ब्लेटर उपलब्ध हुए। पुत्री की शुश्रूषा-काल में अनेक वनस्पतियों का परिज्ञान प्राप्त किया। संपूर्ण सेवा और चिकित्सा के बावजूद पुत्री क्षयरोग में ही यम-पुरी को प्रयाण कर गई। श्री बांबडाई के शब्द उद्धृत करें तो 'एक और सांसारिक उपाधि टल गई।'

छोटी पुत्री विवाहानन्तर श्वशुर-गृह गई तो कौटुम्बिक कार्यभार से अधिकांश मुक्त हो गए। इस निवृत्ति-काल को सामाजिक एवं राजकीय प्रवृत्तियों तथा वनस्पति-विज्ञान के व्यासंग में व्यतीत करने लगे, स्वयं कांग्रेस के कच्छ के प्रतिनिधि भी थे, इस रूप में कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों में सम्मिलित होते, अधिवेशन की कार्यवाही में से समय मिलने पर तत्तत् प्रदेश के अरण्यों, बाजारों, पनसारियों की दूकानों, औषधि-विक्रेताओं, सरकारी तथा खानगी बगीचों आदि की मुलाकात कर शाकों, फलों एवं वनस्पतियों का निरीक्षण करते तथा उनके नमूने एकत्र करते, पश्चात् घर आने पर गुरु जयकृष्ण भाई के समक्ष सबको प्रस्तुत करते और उनके विषय में ज्ञान प्राप्त करते। इस प्रकार देश-विदेश के पर्वत और वन-उपवनों में परिभ्रमण किया, इतना ही नहीं, देखी-जानी सभी वनस्पतियों का वर्गीकरण कर गुजरात को अनुपम विद्या का उपहार भेंट में दिया।

आपका जन्म सम्बत् १९३७ के ज्येष्ठ वदी पञ्चमी को कच्छ-मांडवी में हुआ। जन्म का ग्राम मांडवी तहसील का बाबडाई गांव। इसी से आपका आस्पद बांवडाई हुआ, पिताजी का नाम श्री खीमजी बांबडाई, कच्छ के सागर को रौंदनेवाले साहसिक व्यापारियों के वंशज, नौ-दस पीढ़ियों से पश्चिम समुद्र (अरबी समुद्र) के उस पार के परदेशों में व्यापार-व्यवहार चलता था। पिता श्री खीमजीभाई का व्यवसाय केवल अफ्रीका तक सीमित। वर्तमान टांजानिया और उस काल के टांगानिका की राजधानी दारेसलाम में जमीन-जागीर भी। माता इनके बाल्यकाल में ही स्वर्गवासिनी हो गई। अतः पिता अफ्रीका का वाणिज्य-व्यवसाय समेट कर मातृभूमि में आ बसे और मांडवी में व्यापार आरम्भ किया।

मातृभाषा कच्छी। प्रारम्भिक शिक्षा प्राथमिक शाला में गुजराती में हुई। लिख-पढ़ सकें इतनी क्षमता प्राप्त हुई, थोड़ी अंग्रेजी भी सीखी। दो-तीन श्रेणियां भी पूरी कीं और गाड़ी वहीं अटक गई। वय अभी सोलह ही वर्ष की थी। उस काल बाल-विवाह की प्रथा थी। बहुत छोटी आयु में ही विवाह हो जाता था। उस पर गोकुलदास व्यापारी के पुत्र और धन से सुखी। फलतः, सोलह वर्ष की वय में ब्याह हो गया। गृह-संसार चालू हुआ और अध्ययन के ठिकाने रहा। पिता ने अध्ययन छोड़कर दूकान चालू करने का आदेश दिया।

उन्नीस वर्ष के ही थे कि पिता का देहावसान हो गया। परिणामतया, घर, व्यापार, माल-मिल्कियत और छोटे भाई को सम्भालने का भार उन पर आ पड़ा। छोटे भाई का वाग्दान हो चुका था। छोटे भाई के श्वशुर-कुल ने पिता के देहान्त के एक वर्ष पश्चात् शादी करने का प्रस्ताव उपस्थित किया। गोकुलदास ने स्वीकार कर लिया। छोटा भाई नाबालिग था। उसके श्वशुर-पक्ष तथा जुदा हो गए सौतेले भाई ने उसकी अनुभव-शून्यता का लाभ उठाकर गोकुलदास से अलग होने के लिए दबाव डाला।

सुकुमार वय के भाई के हाथ में मिल्कियत आएगी तो वह उसे सम्भाल न पाएगा और उसका अनुचित लाभ ऐरे-गैरे ले जाएगे, इस सद्वृत्ति से प्रेरित हो, तथा कुछ हितैषियों के सुझाव पर गोकुलदास ने तत्काल भाग देना स्वीकार नहीं किया। परिणामतः, मामला कोर्ट तक पहुंचा। पांचेक वर्ष चले इस फिसाद में उलझन बढ़े नहीं, इस प्रयोजन से धन्धा बन्द कर दिया था।

इस प्रकार प्राप्त अनिवार्य अवकाश वनस्पति-विज्ञान की आसक्ति के लिए ईश्वर के गुप्त आशीर्वाद-सम सिद्ध हुआ। नदी-तीर पर एक विधवा की बगीची थी। प्रतिदिन प्रातः स्नानार्थ वहाँ जाया करते थे। स्त्री की अनुमति लेकर बगीची में वनौषधि-उद्यान बनाने की स्फुरणा हुई। अपने व्यय से कुदाल, फावड़ा, खुरपी आदि साधन

और बीज लाकर बाग बनाना आरम्भ किया। कुआं को खुदाई कर साफ कराया और जमीन ठीक कर उसमें फूल के पौधे लगाए। नगर के मालियों को कलम करते और अङ्कूर या पौधों को उखाड़कर लगाते देखा था। सो यह पद्धति अपनाकर बाग को विकसित करने लगे। फूलों के पौधे के पश्चात् अनार, शरीफा आदि फलों के पौधे लगाए। उसी प्रकार आगे चलकर औषधियों में उपयोगी बीज, कलम, छोटे पौधे अथवा कन्द लाकर उद्यान बनाना शुरू किया।

गोकुलदास के पिता घरेलू औषधों के जानकार तथा शौकीन थे। छोटी-बड़ी कौटुम्बिक बीमारियों में वे ये औषधें उपयोग में भी लाते थे। पड़ोसियों को भी इसका लाभ मिलता था। अब अवकाश मिला तो मध्याह्न में भोजन के पश्चात् औषध-सम्बन्धी पुस्तकें बाँचते थे। इसी अन्तर में नगर के एक आयुर्वेद-रसिक व्यापारी का अवसान हुआ। उनके पास देशी और पाश्चात्य चिकित्सा की कुछ पुस्तकें थीं। गोकुलदास ने व्यापारी की विधवा से ये सब खरीद लीं।

इन पुस्तकों के अनुशीलन से गोकुलदास को नवीन सृष्टि का ही दर्शन हुआ। इनमें विभिन्न प्रकार की नई-नई वनस्पतियों के नाम जानने को मिले। पुस्तकों में वर्णित वनस्पतियाँ कैसी होंगी यह देखने और उनसे परिचित होने की उत्सुकता हुई। उनमें से जो भी वनस्पति हस्तगत हो उसे लगाने की अभिलाशा जाग्रत हुई। उपयुक्त वनौषधि को पहचानने का प्रथम सोपान था उसके प्राप्ति-स्थान का ज्ञान। एतदर्थ पन्सारियों की दूकानों और वैद्यों के यहाँ खोज चालू की। इस छानबीन के फलस्वरूप विदित हुआ कि इस क्षेत्र में समग्रतया अच्छी मात्रा में अराजकता व्याप्त है : एक ही वनस्पति का नाम एक पन्सारी अमुक बताए तो दूसरा अन्य ही। पन्सारियों और वैद्यों के बताए नामों में भी असीम भिन्नता। उनके यहां से मिले नमूने भी अतिशय पुराने और कृमि-कीटों द्वारा भक्षित। औषध में उपयोगार्थ पन्सारी जो द्रव्य दे वे कभी फफूंद वाले, धूलि-मिश्रित अथवा गन्दे हों : यह सब देखकर मन विकल-विह्वल हो और इस क्षेत्र में कुछ व्यवस्था, कोई नियम एवं कोई मार्ग-दर्शन हो इसके लिए उत्कण्ठा हुई।

मन में उत्पन्न उत्कट-उत्सुकता और घर में सुविधा होने के कारण पत्र-व्यवहार द्वारा, पर्वत-शिखरों की मुलाकातों एवं यात्राओं आदि अनेक पद्धतियों से वनौषधियों का विवरण प्राप्त कर उन्हें संचित करना आरम्भ किया। छोटा भाई समझदार हुआ तो उसका भाग उसे सौंप कर स्वयं पुनः व्यापार में लगे। उसमें तन्मय होते हुए भी प्रतिदिन प्रातः शीघ्र उठकर उद्यान में पहुंचना और फल, फूल, पौधे, वृक्ष आदि सबका दत्तचित्त होकर संरक्षण का कार्य भी यथावत ही रखा। वनस्पतियों से आयुर्वेदीययोग भी तय्यार करते और सेवा-भावना से उनका उपयोग किया करते।

मांडवी का व्यवसाय समेटकर हैदराबाद में रूई का व्यापार चालू किया। परन्तु उसमें भी रूई का मौसम पूरा होने पर शेष समय कच्छ आकर रहते और अवकाश का समय अपनी प्रिय प्रवृत्ति में व्यतीत करते। इसी बीच वे विधुर हुए और अवकाश का अधिकाधिक समय सामाजिक प्रवृत्तियों को देने लगे।

गांधी जी के साथ हुई कच्छ की मुलाकात के बाद असहकार और हरिजन प्रवृत्ति में भी भाग लेने लगे। सन् १९३२ के सविनय अवज्ञा आन्दोलन में आप मुंबई की सोलहवीं युद्ध-समिति के अध्यक्ष बने। फलस्वरूप पकड़े गए। पन्द्रह महीने के सख्त कारावास की सजा हुई और विसापुर जेल भेज दिए गए। सजा सपरिश्रम कारावास की होने से पत्थर ढोने का काम सौंपा गया। गोकुलदास हृदय से स्वच्छ और बापू के वचन में अडिग विश्वास रखकर व्यवहार करनेवाले व्यक्ति थे। सो, अन्य कैदी दो हाथों से एक पत्थर उठाते तो बांबडाई प्रत्येक हाथ में दो-दो पत्थर उठाते। तीसरे दिन जेलर राउण्ड पर आए। बांबडाई को पत्थर उठाते देखा। कृश शरीर पर अवस्था के चिन्ह स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहे थे। जेलर ने आयु पूछी और वन-प्रवेश (इक्यावन आदि वर्ष) पूर्ण कर चुके होने से बाग साफ करने का काम सौंपा। बांबडाई को तो मानो स्वर्ग-प्राप्ति हो गई। उनने जमीन साफ की और जेल के अस्पताल के निकट देव आम के पौधे थे उनके अङ्कुर लाकर लगाए। टूटी खपरैलें लाकर बाग की क्यारियां बनाईं। अगली मुलाकात के समय जेलर ने यह परिष्कृत उद्यान देखा और इसके कर्त्ता से मिलना

चाहा। बांबडाई को बुलाकर पूछा : 'तू माली है ?' उत्तर मिला : 'जी नहीं, धन्धे से तो व्यापारी हूं, परन्तु वनस्पतियों और उद्यान-कला के प्रति प्रीति अवश्य है।

इसके बाद तो कौन से पुष्प किस ऋतु में विकसित होते हैं, इस वस्तु की चर्चा चली। बाँबडाई ने कई वनस्पतियों के लेटिन वनस्पति-शास्त्रीय और अंग्रेजी नाम बताए। इसके अतिरिक्त, अपने पास की पुस्तकों के आधार पर कौन-से पुष्प-वृक्ष कब लगाने चाहिए इस विषय का विवरण दिया। अगले दिन जेलर उन्हें समीपवर्ती पीपलगाम-नामक गांव में ले गए और वहां के पुष्प-वृक्ष, कलमें, अङ्कुर आदि एकत्र करने को कहा। स्थान-स्थान से इस प्रकार विविध पुष्प-वृक्ष लाकर गोकुलदास ने जेल में सुरम्य उद्यान लगा दिया। जेलर ने उनके हाथ नीचे सोलह राजनीतिक कैदी सहायक रूप में दिए। सामान्यतया कैदियों को जेल के एक भाग से अन्य भागों में जाने नहीं दिया जाता। परन्तु बांबडाई और उनके सहायक-वर्ग को जेल के प्रत्येक भाग में जाने की अनुमति दे दी गई। जेलर के बंगले, अस्पताल के सामने, स्टेशन के निकट तथा अन्य स्थलों पर गोकुलदास ने उद्यान तैयार किए, पुष्प-वृक्षों के बीज अपने व्यय से मुंबई से मंगाए। सुपरिण्टेंडेंट ने तो परिहास में अपने व्यय से इनके मंगाने का प्रस्ताव रखा था। तथापि सिपाही, जेलर, डाक्टर अथवा कोई भी जेल का अधिकारी बाहर अन्य बस्ती में जाते तो नए बीज या नए पौधे ले आते और बाग के काम में वृद्धि होती। कुछ ही काल में जेल के कैदी तथा अधिकारियों में आपका नाम 'बगीचा चाचा' प्रख्यात हो गया।

पुष्प-वृक्षों के पश्चात् शरीफा, शहतूत, अमरूद आदि फल-वृक्षों के लगाने का कार्य आरम्भ किया। जेल से मुक्त होने के पूर्व तक नीम, बड़, वसन्त आदि बड़े वृक्ष १५० की संख्या में जेल में खड़े किए। परिणामस्वरूप, समग्र जेल में छाया की सुन्दर व्यवस्था हो गई। जेल में रहते हुए ही वनस्पति-शास्त्र का शास्त्रीय व्यासंग भी चलता रहा। इसकी जानकारी आगे करायी जाएगी। यहाँ तो इतना ही उल्लेख करेंगे कि, वनस्पतियों के प्रति आन्तरिक प्रेम द्वारा बाँबडाई ने अपना 'बगीचा चाचा, नाम अन्वर्थक किया।

आप व्यापारी होने पर भी प्रकृत्या परमार्थी थे। कौटुम्बिक बन्धनों से मुक्ति मिलने पर उनके परमार्थिक स्वभाव को नवीन दिशा दीखी। कच्छ में तिलक स्वराज्य-फण्ड के लिए धन-संग्रह के हेतु गांधी जी का पदार्पण हुआ, तो उनके संसर्ग से आपके हृदय में दीन-दलितों और पीड़ितों के प्रति नवीन अनुराग का उदय हुआ। और आगे के लिए हरिजन-उद्धार एवं निर्धनों और दलितों के उद्धार को अपने जीवन का ध्रुवतारक बनाया।

माँडवी में व्यवसाय-परायण थे तब भी विविध वानस्पतिक औषधें बनाकर सभी को बिना मूल्य वितरण करते थे। उनकी अन्तिम पत्नी को भी इस कार्य में अतीव रस था। इस कारण वे उत्साह और आनन्दपूर्वक वनस्पति, मूल, त्वक्, कन्द आदि का चूर्ण कर मलहम, लेप, वटी, अवलेह आदि बनाते थे।

आपके व्यावसायिक जीवन में घटित परपीडामुक्ति की एक उत्कृष्ट घटना नीचे देते हैं।

एक दिवस सायंकाल भ्रमणार्थ निकले। नदी के पुल के निकट एक वृद्ध फकीर को गधे पर बैठकर जाते देखा। दूर से उसकी दिशा से असह्य दुर्गन्ध आ रही थी। समीप जाने पर विदित हुआ कि फकीर के पैर पर मैली पट्टी थी। उसमें से पूय का प्रवाह निकल रहा था। गोकुलदास के पूछने पर कि 'क्या हुआ है ?' बुड्ढे ने जताया कि एक वर्ष पूर्व उसे कुत्ता काटा था। उसका व्रण अच्छा नहीं हुआ और कष्ट दे रहा है। अस्पताल में भी एक मास रह आया। वहाँ के डॉक्टरों ने हाथ खेंच लिए। इस लिए अब वापस घर जा रहा हूं। गोकुलदास ने छूटते ही कहा : 'मैं तुम्हारा उपचार करूंगा। चलो मेरे घर।' बुड्ढे को खाने-पीने की कोई स्थानीय सुविधा न थी। अतः उसने आने में असमर्थता प्रकट की। गोकुलदास ने अपने घर रखकर संपूर्ण व्यवस्था करने की तैयारी दर्शाई, अतः वृद्ध सिन्धी उनके साथ घर गया। उस काल में परकौम के—उसमें भी पर-धर्म के—व्यक्ति को अपने यहां रखना कैसा साहस का काम था, यह सुगमता से समझा जा सकता है।

गोकुलदास की पत्नी ने भी आगन्तुक का सहर्ष स्वागत किया। बूढ़े के लिए नीचे का कमरा खाली किया, और बबूल तथा नीम की छाल आदि का काढ़ा

बनाकर व्रण-प्रक्षालन की इच्छा प्रदर्शित की। गोकुलदास पट्टी छोड़ने जा ही रहे थे कि उन्हें पत्नी ने अटका कर पट्टी स्वयं उतारी और व्रण धोया। व्रण स्वच्छ करके 'जात्यादि घृत' नामक पहले से बनाकर घर में रखा मरहम लगाकर पट्टी बांध दी। पश्चात् बूढ़े को गर्म जल से नहला कर नए वस्त्र पहराए और स्वच्छ बिस्तर पर सुला दिया। रुग्ण को नमक-मिर्च रहित पथ्य आहार दिया। परन्तु उपचार का परिणाम विपरीत ही आया। पूय पूर्वापेक्षया अधिक निकलने लगा। गोकुलदास चिन्ता में पड़े, परन्तु फकीर ने कहा : वेदना कम हो गई है और निद्रा भी अधिक अच्छी आती है। गोकुलदास ने धैर्य सहित काम चालू रखा। व्रण के गढ़े में से सड़ा-गला मांस शनैः-शनैः पूय रूप में निकल गया और रक्तवर्ण केशिकाएं दीखने लगीं। डेढ़ मास में व्रण अच्छा हो गया, और फकीर प्रसन्न-चित्त अपने घर लौट गया। इसी प्रकार कितने ही रोगियों, भिक्षुकों और निर्धन जनों को घर पर ले आते, उन पर आयुर्वेदीय चिकित्सा आजमाते और उनकी सेवा-शुश्रूषा करते हुए सच्चिदानन्द प्रभु की सेवा का आनन्द प्राप्त करते।

विसापुर के कारागृह में थे तब भी साथी बन्दियों को चप्पल अथवा साबुन के बिना देखते तो अपने व्यय से बाहर से ये सब वस्तुएं मंगाकर देते थे। यही स्थिति पुस्तकों के विषय में थी। विसापुर के कारावास में पांच सौ-छः सौ जोड़ी चप्पल, साबुन, पुस्तक आदि अपने व्यय से मंगाकर आवश्यकतानुसार बन्दियों को सप्रेम दिये थे।

कारागृह से मुक्ति के अनन्तर आप वनस्पतियों के अनुशीलनार्थ कश्मीर गए। श्रीनगर में निवास करने के पश्चात् कश्मीर के प्रख्यात सरोवर देखने का विचार किया। इस हेतु दो मार्ग हैं—मोटर द्वारा तथा नौकाओं द्वारा। गोकुलदास ने नौका वाला मार्ग पसन्द किया। जाते समय नीचे की ओर प्रवाह में जाना था, अतः नौका सरसराट पहुंच गई, परन्तु लौटते हुए प्रवाह के विरुद्ध जाना पड़ा। नौका को प्रवाह के प्रतिकूल चलाने के लिए नाविक और उसकी पत्नी दोनों ने कटि पर रस्सी बाँधकर जोर से खेना आरम्भ किया। गोकुलदास इसे कैसे सहन कर सकते थे। खिन्न मन से वे नौका में से उतरे और नाविक की पत्नी को समझा-बुझा कर उसके पास से रस्सी ले स्वयं नौका चलाने लगे। परन्तु, आधा किलोमीटर पार करने में तो उनका दम फूल गया, हृदय की धड़कन बढ़ गई, शरीर पसीने से तर-बतर हो गया और पैर डोलने लगे। वह कठिन परिस्थिति समझ गई। उसने रस्सी हाथ में ली और नौका आगे बढ़ी। गोकुलदास बहुधा किनारे-किनारे चलते। थक जाते तभी नाव का आश्रय लेते।

गाँधी जी कच्छ में तिलक-स्वराज्य फण्ड के लिए धन-संग्रह करने पधारे तो गोकुलदास स्वयं जाकर उनसे मिले। फण्ड में अपनी ओर से २,५००) रुपए दिए और गाँधी जी की सूचना से हरिजन सेवा के काम में जुट गए। हरिजनों को स्पर्श करना भी उस काल में दुष्कर था। गाँधीजी की कच्छ की यात्रा में सरदार साहब ने उपहास में कहा कि गाँधीजी की मंडली में जो कुमारी है वह हरिजन है। यह बात जानने पर जिन जनों ने गाँधीजी को कच्छ पधारने का आमन्त्रण दिया था उनने भी गाँधीजी को अपने घरों में आवास नहीं दिया। फलतः, गाँधीजी को धर्मशाला का आश्रय लेना पड़ा।

हरिजन-सेवा के लिए अपनी ओर से तीस सहस्र रूपए निकाल गोकुलदास ने एक पुराने मकान में सन् १९२६ में 'गाँधी हरिजन छात्रालय' आरम्भ किया। परन्तु इसका कामकाज स्वाभाविक सरलता से चला नहीं। हरिजनों में मेघवाल और भंगियों के मध्य भी अस्पृश्यता का व्यवहार था। इन सब का विघ्न ऐसा मार्ग में आया कि, कुछ समय के लिए छात्रालय अपने जन्म-ग्राम बांबडाई में ले जाना पड़ा। वातावरण अनुकूल होने पर मांडवी में पुनः काम आरम्भ हुआ। स्वल्पकाल में ही छात्रालय इतना लोकप्रिय हो गया कि मकान संकरा हो पड़ा। अतः सरकार से जमीन लेकर अधिक पाँच सहस्र रुपए व्यय करके अठारह कमरोंवाला छात्रालय बंधवाया। काल-क्रम से यह मकान भी छोटा पड़ने लगा। सो, सरकार से पुनः जमीन माँगी और अपने व्यय से बड़ा नया मकान बनवाया और पुराने मकान का ट्रस्ट बना निर्धन हरिजनों के निवास के लिए सौंप दिया। यह मकान अद्यापि हरिजन निवास के रूप में अस्तित्व में है।

अफ्रीका में अपना मकान पुत्री के लिए रखा था।

परन्तु उसका निःसन्तान देहान्त हो जाने पर यह मकान कुछ काल भाड़ा लेकर बालछात्रालय को उपहार में दिया। पश्चात अवसर सुलभ होने पर उसे दो लाख रुपयों में बेच दिया और प्राप्त समग्र राशि पुनः बालछात्रालय को अर्पित कर दी।

कच्छ में हरिजनों के प्रति अस्पृश्यता की घृणा इतनी तीव्र कि कुछ कहा न जा सके। यह घृणा-भाव न्यून करने के निमित्त गोकुलदास हरिजन बालकों को लेकर ग्रामों और नगरों में प्रभातफेरी निकालते। ऐसी प्रभातफेरियों में कितनी ही बार अज्ञात लोकों की ओर से गुप्त मार भी सहनी पड़ी, तथापि कार्य तो निस्पृह रूप से चालू ही रखा।

हरिजनों की मेधवाल जाति बुनाई का व्यवसाय करती है। बुनकरों के पास सूत लाने के भी पैसे नहीं होते। युग-युग से चली आई परिपाटी यह कि, व्यापारी परस्पर संघटन कर कम से कम दाम में मेधवालों को सूत बुनने के लिए देते। इतनी आय में इन लोकों का निर्वाह चले कैसे? सामाजिक प्रसंग निभाने का अवसर आने पर ये व्यापारी भारी व्याज पर कर्ज देते। परिणामस्वरूप, बुनकर कौम सदा व्यापारी के दबाव में रहती। गोकुलदास ने गाँव के सभी बुनकरों का ऋण अपनी ओर से भर दिया और खादी के कार्य में उन्हें लगाकर नये धन्धे में प्रवृत्त किया।

रोजगार की समस्या हल हुई तो हरिजनों के निवास का प्रश्न हाथ में लिया। मेधवाल, भंगी, दातणिया, मारवाड़ी, जोगी इत्यादि समस्त निर्धन जातियों के लिए अपने खर्च से नवीन आवास रचवा दिए। इस बस्ती का अभिधान इन लोकों ने कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए 'गोकुलवास' रखा। अन्य जनों को भी आर्थिक साहाय्य दिया। स्वातन्त्र्य के पश्चात् सरकारी तौर पर यह कार्यक्रम आरम्भ हुआ तो लोकों की सहायतार्थ धन-राशि स्वयं देकर इस कार्य को वेगवान बनाया।

निवासस्थानों के अतिरिक्त इन जनों की अन्य बड़ी असुविधा पानी की थी। उच्च वर्ग के माने जाते लोक दया कर पानी देते। उसी पर उन्हें निर्वाह करना पड़ता था। गोकुलदास ने मांडवी की समस्त हरिजन तथा दलित जातियों के लिए नदी और तालाब में कुएें खुदवा दिए। ऐसे कुओं को प्रतिवर्ष सुधरवाने की आवश्यकता रहा करती है। स्वयं जीवित रहे तब तक अपने व्यय से इन्हें सुधरवाने का काम कराते रहे।

अपंग हरिजनों के लिए यह समग्र व्यवस्था अपर्याप्त प्रतीत हुई। अतः माँडवी के कितने ही अपंग और निराधार हरिजनों को स्वयं प्रतिमास निर्वाहार्थ धन देते। इतना ही नहीं, नित्य मजदूरी करके जीवन पूरा करनेवाले श्रमजीवियों को चौमासे में रोजगार न मिलने से भोजन बिना रहना पड़े तब सबको भोजन सुलभ हो सके इस भावना से प्रेरित हो आवश्यक मात्रा में अन्न-दान करते।

कच्छ प्रदेश में यह प्रथा थी कि, मेघवाल जाति में कोई पुनर्विवाह करे उसे राज्य को निर्धारित कर देना पड़ता। गोकुलदास ने इस अन्यायी प्रथा के विरुद्ध आंदोलन चलाया और राज्य द्वारा इस कर से मुक्ति दिलाई।

हरिजनों के संरक्षण के साथ महिलाओं के उद्धार की भी प्रवृत्ति आरम्भ की। उस काल बहिनों पर घोर अत्याचार हुआ करते थे। पति उन्हें मारते और ससुराल वाले त्रास देते। उन्हें तलाक दे दिया जाता और असीम कठिनाइयों में रहना पड़ता। यह सब जानकर बांबडाई का हृदय द्रवित हो उठा। ऐसी त्यक्ताओं और अनाथ महिलाओं के लिए आश्रम की स्थापना का विचार आया। परन्तु संचालक के अभाव में संस्था खड़ी कैसे की जाए। सौभाग्यवश एक उत्साही त्यक्ता बहिन मिल गई। अतः मांडवी में महिला-विकास गृह चालू किया। महिलाओं के सम्बन्ध में इस प्रवृत्ति के विरुद्ध समाज के बहुत-से लोकों में रोष प्रज्वलित हुआ। कारण यह था कि, यह प्रवृत्ति उनके मनोरथ में विघ्न-रूप थी। इन जनों ने गोकुलदास को, विकास गृह को और उसकी संचालिका को ऐसा हैरान-परेशान किया कि संचालिका बहिन संस्था छोड़कर चली गई और गृह बन्द कर देना पड़ा। गोकुलदास ने संस्था की शेष रही राशि में थोड़े और रुपए मिलाकर हरिजन बालाओं के लिए छात्रावास आरम्भ किया।

इस अन्तर में आपने देखा कि, अस्पृश्यता के कारण हरिजन बालक ग्राम की शाला में शिक्षार्थ जा नहीं सकते। गोकुलदास ने अपने व्यय से उनके लिए हरिजन-

वास में ही एक प्राथमिकशाला खड़ी करवा दी। उसमें ७०-७५ हरिजन बालक विद्योपार्जन करने लगे।

सर्वधर्म समभाव की आपकी भावना अतीव व्यापक थी। मांडवी के निर्धन मुस्लिमों को रहने का अत्यधिक कष्ट था। शहर के सोनावाला नुक्कड़ के निकट ही नौ कमरों की पीरमोहम्मद की बड़वाली जगह खरीदी और उसे सुधार कर अकिंचन मुस्लिम कुटुम्बों को निवासार्थ दे दिया। अपने को विरासत में प्राप्त पूंजी अफ्रीका की थी, अतः अफ्रीका के चार हबशी युवकों को भारत बुला कर अपनी राशि से वल्लभ विद्यानगर (आणन्द) की संस्थाओं में शिक्षण की सुविधा कर दी। इनमें दो विद्यार्थी बिड़ला इंजिनीयरिंग कालेज में प्रविष्ट हुए और दो भीखाभाई जीवाभाई कॉमर्स कॉलेज में।

स्वयं महात्मा गांधी के दृढ़ अनुयायी होने से प्रत्येक स्वातन्त्र्य-संग्राम में भाग लेते और इसके कारण लाठीमार से लेकर कारावास-पर्यन्त दण्ड सहन किए।

अपनी जायदाद और पूंजी का उपयोग गोकुलदास महात्माजी की विचार-सरणि के अनुरूप ट्रस्टीशिप की भावना से करते। स्वयं सादगी से रहते और जो द्रव्य अवशिष्ट रहता उसका विनियोग सत्कर्मों में अब तक दिया विवरण लोक-कल्याण-सम्बन्धी है। परन्तु विद्या के प्रसार के लिए—वनस्पतिशास्त्र के संवर्धन के लिए—भी अच्छी मात्रा में धन का उपयोग किया है। वनस्पति-सृष्टि के स्व-रचित विद्वद्भोग्य ग्रन्थ का प्रथम स्कन्ध (खण्ड) मुद्रित करा उसकी पाँच सौ प्रतियां कॉलेजों और पुस्तकालयों को उपहार रूप में दीं। द्वितीय-तृतीय स्कन्ध अपने व्यय से वल्लभविद्यानगर में छपवाए और उसके सर्वाधिकार चारुतर विद्यामण्डल को सौंप दिए।

स्वयं सुग्रथित किए वनस्पतियों के नमूने के भण्डार का आधा भाग गोकुलदास ने विद्यानगर के विट्ठलभाई पटेल महाविद्यालय को उपहृत किया एवं तद्विषयक व्यवस्था के हेतु १,५००) दिए। शेष अर्ध अंश भुज की लालन कॉलेज को भेंट किया तथा साथ ही १,०००) उन्हें रखने के साधन अलमारी आदि की व्यवस्था के हेतु दिए। इस वितरण के अनन्तर दो वर्षों में स्वयं जो नवीन संग्रह तय्यार किया उसे अहमदाबाद के सन्त जेवियर्स कॉलेज को सुपुर्द किया। इसके अतिरिक्त अग्रणी क्रान्तिकारी श्रीश्यामजी कृष्ण वर्मा का जीवनचरित लिखकर, स्वयं छपवा संस्थाओं को अर्पित किया।

मृत्यु के पूर्व विल बनाया और शेष मिल्कियत का आधा-आधा भाग वर्धा के महाकुष्ठ रुग्णालय (लेप्रसी हॉस्पिटल) और मांडवी के कॉलेज को बांट दिया। इस विल द्वारा प्रत्येक संस्था को लाख-सवा लाख रुपए प्राप्त हुए। इस प्रकार विचार, उच्चार और आचार द्वारा लोकहित के लिए जीवन अर्पित कर 'लोक-सेवक गोकुल-दास' का स्नेह-सिक्त विरुद प्राप्त किया।

गोकुलदास को उद्यान में रस हुआ इसका विवरण तो पहले दे ही चुके हैं। यह रस कालान्तर में वनस्पतियों के औषधीय गुण-धर्म के परिज्ञान के रूप में परिणत हो गया। वनस्पतियों के इस दृष्टि से परिचयार्थ पन्सारियों की दुकानों और आयुर्वेदीय फार्मेसियों में जाना आरम्भ किया। परन्तु यह चक्कर कुछ काम में न आया तो निकटवर्ती वनों में परिभ्रमण चालू किया। एक दिन ऐसे भ्रमण में एक मुस्लिम का संग हुआ। ये भाई कीमियागर (लोहसिद्धि के ज्ञाता) थे। गोकुलदास को स्वयं तो लोहसिद्धि में कोई रस न था; परन्तु इस भाई से अनेक वनस्पतियों का प्रत्यक्ष ज्ञान अवश्य उपलब्ध हुआ। इस पहिचान से उन्हें अन्य कितने ही कीमियागरों का परिचय हुआ। अब्दुल्ला पटेल नामक एक भाई ने तो इनके साथ घूम-फिर कर तीन-चार सौ वनस्पतियों का परिज्ञान कराया, और इन सर्व वनस्पतियों के नमूने एकत्र कर दिए।

मांडवी का व्यवसाय समेट कर हैदराबाद गए तो, वहाँ उन्हें खाली समय बहुत मिला। नगर के निकट ही विशाल वन था। व्यापारी पेढ़ी का कार्य तो अमुक मासम में ही रहा करता, सो खाली समय जंगल की वनस्पतियों को देखने, जानने और पहिचानने में ही व्यतीत करते। साथ ही 'वैद्यकल्पतरु', 'बूटीदर्पण' आदि सामयिक मंगाकर पढ़ते। इन सामयिकों में कच्छ के प्रखर तथा पुरुषार्थी वन-स्पति-शास्त्री श्री जयकृष्ण इन्द्रजी के लेख पढ़ने को मिले। कुछ काल बाद जयकृष्ण भाई की 'बरडा पर्वत की वन-स्पतियां' पुस्तक प्रकाशित हुई। खरीद कर उसे बाँचा। इसमें प्रत्येक वनस्पति का विस्तृत शास्त्रीय वर्णन, लेटिन-अंग्रेजी नाम तथा वर्गीकरण पाए। इस वर्गीकरण के

अनुसार एक वर्ग की वनस्पति गोकुलदास पहचानने लगे तो, कोई छोटा क्षुप, लता, वृक्ष सब उस एक ही वर्ग में अन्तर्भूत होते प्रतीत हुए। पत्रों की तुलना करें तो वे सब अत्यन्त भिन्न लगे। पुस्तक में दिए स्त्रीकेसर, पुंकेसर, गर्भाशय आदि के नाम कुछ समझ ही न पड़े। तथापि सरसरी दृष्टि से वर्णन वांचकर वनस्पति को पहिचान लेते। समझ में न आए तो नमूने जयकृष्ण भाई पोरबन्दर भेजते। उनके उत्तर में वनस्पति की लेटिन—अंग्रेजी संज्ञा, गुण-धर्म, उपयोग आदि संबन्धी सपूर्ण जानकारी-भरे प्रेमपूर्ण पत्र आते। फलस्वरूप, गोकुलदास का वनस्पतिशास्त्र में उपनयन संस्कार हुआ और वनस्पति को केवल वनौषधि के रूप में परखने वाले गोकुलदास अब शास्त्रीय दृष्ट्या अनेक गुण-धर्म, वर्गीकरण आदि का भी ज्ञान प्राप्त करने लगे। इस उपलब्धि के कारण इस क्षेत्र में जो जिज्ञासा जाग्रत हुई उसने आपको शनैः—शनैः वनस्पतिशास्त्र की गहराई तक पहुंचाया। और अन्त को तो यही उनके जीवन का एक मात्र ध्येय बन गया।

प्रारब्ध को अभीष्ट था कि, इस विषय में गोकुलदास अधिकतर गहराई में जाएं। सो, समस्त परिस्थिति इसी के अनुरूप उपस्थित हो गई। रूई के व्यवसाय में युद्ध के कारण खूब अच्छा लाभ हुआ। पत्नी आदि व्याधि-ग्रस्त हुए, अतः भागीदारी छोड़कर कच्छ आ रहे। इसी समय जयकृष्ण भाई भी निवृत्त हो पोरबन्दर से भुज आए, गोकुलदास को तो जानो अमृत-कलश मिल गया। मुलाकात चाही, तदनुसार गोकुलदास भुज पहुंचे तो जयकृष्ण भाई बालकों को एकत्र कर रामधुन में मस्त थे। गोकुलदास का नाम सुनते ही वे उठे और कासमर्द के बीजों से बनी अपने को प्रिय नीग्रो कॉफी से स्वागत किया। इसके पीछे चली वनस्पति की गोष्ठी-गोष्ठी के अनन्तर मध्याह्न—भोजन और विश्राम किया। इसके बाद के दो-तीन दिवस जयकृष्ण भाई ने गोकुलदास को समीपवर्ती भू-विभाग में घुमा कर तत्रत्य वनस्पतियों से परिचित कराया।

इन दोनों की ज्ञान-मैत्री को अधिक वेग प्राप्त हो ऐसा शुभ संयोग उत्पन्न हुआ। कच्छ के युवराज को मांडवी के निकट महल बनवाने और एक रमणीय उद्यान लगवाने की अभिलाषा हुई। उद्यान के सर्जनार्थ जयकृष्ण भाई को आमन्त्रण पठाया। और उन्होंने केवल वनस्पति-प्रेम के कारण ७०-७२ वर्ष की वृद्ध वय में भी यह कार्य-भार स्वीकारा, फलतः। गोकुलदास का उनके साथ प्रेम-सम्बन्ध घनिष्ठ होता चला, प्रतिदिन स्वयं गोकुलदास उद्यान के स्थल पर जा पहुंचते। और दोनों के मध्य वनस्पति-सम्बन्धी ज्ञान-संवाद जमता। गोकुलदास जो नमूना ले आएं उन्हें उनकी पहिचान जयकृष्ण भाई कराते, उसके वर्ग के विषय में विस्तार से समझाते, उसके विभिन्न अङ्गों के नाम बताते, नित्य के इस ज्ञानोपार्जन से गोकुलदास को वनस्पतियों के वर्ग और वर्गीकरण का ज्ञान प्राप्त होने के अतिरिक्त वनौषधि के आर्थिक उपयोग का भी प्रकरण निकलता। इस प्रकार गोकुलदास की वनस्पति-प्रीति जो अब तक औषधीय मर्यादा में ही सीमित थी, वह अब आर्थिक और शास्त्र-लक्षी (वनस्पति-विज्ञान विषयक) भी हो गई। इस प्रीति के अभिवर्धनार्थ जयकृष्ण भाई अपने पुस्तक-भंडार से गोकुलदास को पुस्तकें वांचने को देते। गोकुलदास को अंग्रेजी आती न थी। तो भी जयकृष्ण भाई के वनस्पति-विज्ञान के अंग्रेजी ग्रन्थ बांबडाई ने खरीद लिए। जयकृष्ण भाई वार्धक्यवश बधिर और दुर्बल होते जा रहे थे। अतः उन्हें कष्ट न देकर गोकुलदास हाईस्कूल के एक शिक्षक को रख कर प्रतिदिन एक-एक घण्टा अंग्रेजी पुस्तकों का अध्ययन करने लगे। काल-क्रम से भाषा की परिचितता में वृद्धि हुई तो शब्दकोश की सहायता से स्वतः अंग्रेजी ग्रन्थ पढ़कर नोट् करना आरम्भ कर दिया।

वनस्पति-विषयक बांबडाई की ज्ञान-पिपासा की तृप्ति कर उनकी जिज्ञासा को विकसित करने की अभिलाषा प्रारब्ध होगी, इससे एक नया संयोग और उपस्थित हुआ। अफ्रीका के अनेक मकान के संबन्ध में कुछ सरकारी विवाद खड़ा हुआ। मकान को सुधारना भी आवश्यक था ही। अतः दारेसलाम जाना हुआ। दारेसलाम में एक अच्छा वनस्पति-शास्त्रीय पुस्तकालय था। अपने मकान का काम-काज तो सप्ताह में ४-५ घण्टे चलता। इसलिए शेष समय ज्ञानोपार्जन में व्यतीत करने का संकल्प कर बॉटेनिकल गार्डन में, निकटस्थ वनों में, समुद्रतीर पर एवं

खोटर से जहां पहुंचा जा सके ऐसे पर्वतों पर भ्रमण करते और वनस्पति, फल, फूल आदि देखते और उनके नमूने एकत्र करते रहे। गार्डन में से तो वे अनुमति बिना नमूने तोड़ लेते। विद्या की उत्कण्ठा ऐसी तीव्र थी कि आज्ञा प्राप्त किये बिना पत्र-पुष्प आदि तोड़ने के परिणामों की आशङ्का न रखते हुए नमूनों में तल्लीन रहते।

एक दिवस बाग के स्वाहिली (नीग्रो) रखवाले ने आपको देख लिया और पकड़ कर अधिकारी के आगे ले जाने के लिए लगा खेंचने। गोकुलदास ने कितना ही समझाने का प्रयास किया कि यह तो ज्ञान के लिए नमूने लिए हैं और इनका कोई मूल्य भी नहीं है। पर रखवाला न माना और उनसे भेंट-सौगात अथवा रिश्वत की मांग करने लगा। परन्तु यह मांग गोकुलदास ने मानी नहीं। अन्ततः, आप अधिकारी के पास गए, अधिकारी का समागम उलटे एक आकस्मिक अनुकूलता रूप सिद्ध हुआ। टूटी फूटी अंग्रेजी और अधकचरी स्वाहिली भाषा में स्याहीचूसों में सुरक्षित कर रखे नमूने दिखाते हुए वनस्पति विज्ञान के प्रेम की बात की, साथ ही अधिकारी के निरीक्षणार्थ संगृहीत नमूने प्रस्तुत किये।

बॉटेनी के प्रति इनकी प्रीति से प्रभावित हुए अधिकारी ने उन्हें कुर्सी पर बैठने को और रखवाले को चले जाने को कहा। रखवाला तो खूब चिढ़ में था। अब उसे लगा, उसकी दाल गलने वाली नहीं। गोकुलदास ने अधिकारी से प्रार्थना की कि, कई वृक्षों के तनों पर उनके नाम-निर्देशक पट्टियां नहीं हैं, सो कृपया उनके नाम सूचित करें। अधिकारी भाई को भी उनका पता न था। अतः जर्मन अधिकारियों द्वारा तैयार किया गया उद्यान का नक्शा आगे धरा। इस अन्तर में बॉबडाई ने स्वयं जितने लेटिन—अंग्रेजी नाम विदित थे वे बताये। इससे अधिकारी को गोकुलदास के ज्ञान और अनुभव के सम्बन्ध में विश्वास बैठा। इस मुलाकात के फलस्वरूप निर्णय हुआ कि शेष नाम दोनों मिलकर निश्चित करें। निर्धारित क्रम के अनुसार कतिपय दिवसों के परिश्रम के परिणामस्वरूप, कुछ स्थानीय लोगों के साहाय्य से अंशतः स्वाहिली—अंग्रेजी कोष के आधार पर दोनों ने नाम निश्चित किये। वह अधिकारी तो इतना मुदित हुआ कि उद्यान के एवं उद्यान के संग्रहालय में बाहर से आये हुए अनेक नमूने, वनस्पतियों के बीज इत्यादि हवाले किये। बाग में वनस्पतिशास्त्र का उत्तम पुस्तकालय था। गोकुलदास ने उसका लाभ उठाने की अभिलाषा व्यक्त की। पुस्तकालय के नियमानुसार केवल यूरोपियनों को ही पुस्तकें बांचने को मिल सकती थीं। अतः विशेष अपवाद के रूप में लाइब्रेरी में बैठकर पढ़ने की अनुमति दी गई। बगीचे के अधीक्षक ने इस निमित्त एक कक्ष खाली करा दिया। एकाध मास गोकुलदास ने लाभ उठाया और अंग्रेजी पर पक्का प्रभुत्व न होने पर ठीक-ठीक उपयोगी नोट किये।

गोकुलदास लौटकर देश आये तो वहां एक नवीन अवसर के द्वार खुले। यों यह घटना दुःख की थी। परन्तु प्रकारान्तर से यह सुखान्त सिद्ध हुई। इनकी पुत्री को राजयक्ष्मा हो गया। डाक्टर की सलाह हुई कि उसे पंचगनी रखा जाए। पुत्री के ससुराल वाले तो यह कष्ट क्यों उठाते? अतः गोकुलदास ही उसे पंचगनी ले गए। प्रातः-सायं पर्वतों पर लगी वनस्पतियां देखने और नवीन ज्ञान प्राप्त करने आप जा पहुंचते। नई-नई वनस्पतियों के नमूने एकत्र कर सेनेटोरियम के डॉक्टर से उनके नाम पूछने लगे। डाक्टर ने उन्हें स्थानीय चर्च में रहते वनस्पति-शास्त्र के निवृत्त प्राध्यापक फादर ब्लेटर से मुलाकात करने की सलाह दी। कुछ नमूने साथ ले आप फादर के पास गए। विद्याप्रेमी फादर ने शरीर को अतिशय कष्ट देकर भी, इस विद्याभिलाषी की जिज्ञासा की सन्तुष्टि के लिए सभी नमूनों के नाम, स्थान, वर्गीकरण आदि बताए। बात-बात में विदित हुआ कि, बाँबडाई कच्छ के हैं। अतः कच्छ की अपनी दो यात्राओं और कच्छ की वनस्पतियों पर लिखे अपने लेखों की बात की। इन लेखों की प्रतियां बांबडाई को पढ़ने को दीं।

बांबडाई की ज्ञान-पिपासा देखकर ब्लेटर ने पंचगनी-महाबलेश्वर में पाई जानेवाली वनस्पतियों की टाइप की हुई सूची दी। इसमें निर्दिष्ट तत्-तत् वनस्पति किस पाइण्ट पर प्राप्त होती है इसका भी उल्लेख था। गोकुलदास को तो जानो अंधे को दो आंखें मिल गईं, ऐसा आह्लाद हुआ। फादर ने इन पाइण्टों को बताने के लिए एक मार्गदर्शक की भी सुविधा कर दी। मार्गदर्शक की सहायता से वे जिस किसी वनस्पति का नमूना ले आए

उसका सम्पूर्ण परिचय फादर कराते, यह परिपाटी रही। फादर के पास वनस्पति-शास्त्र की पुस्तकें भी थीं। उन्होंने अति आनन्द से ये पुस्तकें गोकुलदास को पढ़ने को दीं। यहीं गोकुलदास को वनस्पतियों के शास्त्र-विहित वर्गीकरण की गहराई में उतरने का अवसर सुलभ हुआ। एक दिवस आपने फादर से प्रश्न किया—'बेन्थाम और हुकर के पश्चात् हुए विद्वानों ने वर्गीकरण में कुछ संशोधन-परिवर्धन किए हैं?' फादर ने अनेक गार्डन्स की कई अनुसन्धान-पत्रिकाएं दीं और कहा कि : 'बेन्थाम और हुकर की पद्धति वैज्ञानिक है। डार्विन के विकासवाद की नींव पर इसकी रचना हुई है। तर्कपूर्वक फादर ने यह भी कहा कि : अब हचिन्सन की पद्धति सर्वमान्य होनी चाहिए।' इतना कहकर जर्मन वनस्पतियों के १८ ग्रन्थों की ग्रन्थमाला के प्रति चित्त आकृष्ट कराया। इस प्रकार पंचगनी के निवास से गोकुलदास को वनस्पति-विज्ञान की नवीन ही दृष्टि और एक नवीन ही गुरु की उपलब्धि हुई।

क्षय से पीड़ित पुत्री का तो देहावसान हो गया, और छोटी पुत्री श्वसुर-गृह गई। इससे वनस्पति-विद्या ही बांबडाई के जीवन का एकमात्र लक्ष्य रह गया।

लौटकर कच्छ आने के अनन्तर प्रखर वनस्पतिविद् वैद्य बापालाल भाई के यहां हांसोट एक मास रहे। श्री बापालाल भाई उन दिनों हांसोट में वैद्यकीय व्यवसाय करते थे। बापालाल भाई ने भी जयकृष्णभाई से वनस्पति-विद्या के रहस्य सीखे थे। गुरुबन्धु के नाते गोकुलदास ने उनसे अंग्रेजी पुस्तकों के स्वाध्याय में अत्यधिक सहायता पायी, और अनेक नोट्स लिए। इसके अतिरिक्त दोनों समय-समय पर भारत के विविध पर्वतों और वनों में जाकर वनस्पतियों के परिज्ञान में प्रवृत्त हुआ किए।

बापालालभाई वीसापुर में भी थे। वहां भी उनका लाभ तो मिला ही, साथ ही उनके मित्र पूना के कृषि कालेज के प्रोफेसर पुरुषोत्तम गायवाला की पुस्तकें पढ़ने का भी लाभ गोकुलदास को यहां उपलब्ध हुआ। उनमें से भी आपने उपयोगी उल्लेख किए। इस प्रकार भविष्य में रचे जानेवाले वनस्पति-शास्त्र के खण्डों की पूर्व तय्यारी होती रही।

कारा-मुक्त होने पर गोकुलदास पूना जाकर प्रोफेसर गायवाला से मिले। अपने पुस्तक-भण्डार का उन्मुक्त लाभ देने के अतिरिक्त वे गोकुलदास को महाबलेश्वर, पंचगनी आदि स्थलों पर अपने साथ ले जाकर वनस्पतियों का निरीक्षण, परिचय और पर्यटन करा लाए। प्रो० गायवाला एवं उनकी पुस्तकों के संग से गोकुलदास के मन में वनस्पति-विद्या के आरोहण का एक अभिनव सोपान-मार्ग तैयार हुआ।

पूना से कच्छ जाने के स्थान पर बांबडाई सीधे कश्मीर गए। वहां के चिनार से लेकर देवदारु-पर्यन्त सर्व प्रकार के वृक्ष, फल, फूल, पौधे आदि का निश्चितता से दर्शन और अनुशीलन किया। पश्चात् पुस्तकालय जाकर इन सबकी शास्त्रीय संज्ञाएं, स्थान, वर्गीकरण आदि लिपिबद्ध किये। ज्ञान की यह आराधना करते हुए ज्ञात हुआ कि, लखनऊ यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर मुखर्जी गुलमर्ग की वनस्पतियों का अध्ययन करने के लिए आये हुए हैं। ढूंढ़ते-ढूंढ़ते बांबडाई उनके यहां जा पहुंचे। प्रोफेसर मुखर्जी ऐसे वयोवृद्ध विद्याभिलाषी से मिलकर अति मुदित हुए। अपने पास संगृहीत वनस्पतियों के नमूने अणु-वीक्षण यन्त्र द्वारा दिखलाकर उनके अङ्ग-उपाङ्ग, विशेषताओं आदि की प्रत्यक्ष जानकारी करायी। इतना ही नहीं, नमूनों को समझाने की पद्धतियाँ, उनको सड़ने से बचाने की औषधियां, वनस्पतियों के छेद (सेक्शन) लेने की रीति आदि सब अत्यधिक धैर्य-सहित समझाया। इस कार्य में उपयोगी कई पुस्तकों के नाम भी लिखाये। गोकुलदास ने वनस्पतियों के वर्गीकरण की श्रेष्ठ पद्धति के विषय में प्रो० मुखर्जी का भी मत जानना चाहा। उन्होंने भी फादर ब्लेटर के समान हचिन्सन की ही पद्धति का समर्थन किया, एवं उसके पक्ष में सबल कारण भी प्रस्तुत किये। तदनन्तर स्वयं भारत के विभिन्न विभागों में पर्यटन कर विविध-वनस्पति विषयक जो विवरण एकत्र किये थे वे सब भी प्रो० मुखर्जी ने उन्हें दिखाये, इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष दर्शनार्थ, गोकुलदास को वन में ले गये, और विवृत्त बीज के कॉनिफेरी (देवदारु आदि) वर्ग के वृक्षों के फल-फूलों की रचना समझाई। उनकी समूह-रचना के सम्बन्ध में भी शास्त्रीय जानकारी दी। इस प्रकार गोकुलदास का ध्यान जीवन में प्रथम बार ज्ञान की नूतन दिशा के प्रति आकृष्ट हुआ।

श्रीनगर से पहलगाम होकर लाहौर, अमृतसर, सहारनपुर की मुलाकात लेकर अन्त को गोकुलदास देहरादून पहुंचे। तत्रत्य फॉरेस्ट डिपार्टमेण्ट और फॉरेस्ट कॉलेज के दर्शन किये। वहाँ के इमारती लक्कड़ों के संग्रहालय, फल-फूलों का संग्रह-स्थान एवं रासायनिक विश्लेषण की क्रिया आदि देखकर अत्यन्त उत्फुल्ल हुए। जर्मन विद्वान एंग्लर प्रेक्टल के अठारह पुराने और बीस नवीन वनस्पति-विषयक ग्रन्थ भी वहां देखने को मिले।

देहरादून से कलकत्ता गए और वहां के विश्रुत इम्पीरिअल बॉटेनिकल गार्डन और उसके ग्रन्थागार का लाभ उठाया। वहां के दो प्रोफेसरों ने अतिशय प्रेम और अनुकम्पापूर्वक वनस्पति-विद्या के अपने ज्ञान में इन्हें सहभागी बनाया। पश्चात् श्री शिवशंकर शुक्ल के साथ बांबडाई सह्याद्रि, मारमागोवा, मद्रास, मैसूर आदि स्थलों की यात्रा कर वहां की वनस्पतियों का परिचय प्राप्त करते हुए स्वदेश वापस लौटे। इस प्रकार गोकुलदास ने स्व-परिश्रम और स्व-अभ्यास से वनस्पतिशास्त्र सम्बन्धी खूब-खूब ज्ञानोपार्जन किया। एकदा इन्होंने जयकृष्ण भाई के समक्ष प्रस्ताव रखा : 'पाश्चात्य पंडितों ने अपने ज्ञान का निरूपण अपनी-अपनी भाषाओं में किया है। यह सब अपनी भाषा में रूपान्तरित किया जाए तो ? आपके पास विपुल ज्ञान है। अंग्रेजी ग्रन्थ तथा उन पर किये नोट्स हैं। सो आप ही वनस्पति-सम्बन्धी पुस्तकें लिखें तो कितना अच्छा हो ?' जयकृष्ण भाई ने प्रस्ताव की प्रशंसा करते हुए कहा : 'अनेक बार उदित हुई इस प्रकार की अभिलाषाओं को मैं साधनों के अभाववश मूर्त नहीं कर पाया। इसके अतिरिक्त देश पराधीन होने से ऐसे ग्रन्थ लिखे जाएं तो भी उनका विक्रय न होगा। स्थिति यह है कि, अपने ही देश के वन-उपवन देखने के लिए भी आज्ञा प्राप्त करनी पड़ती हो ऐसी स्थिति में पुस्तक-प्रकाशन को प्रोत्साहन मिलने की तो आशा ही कैसे रखी जा सकती है।'

बांबडाई ने प्रस्ताव किया—'बापालालभाई नहीं लिख सकते ?' जयकृष्णभाई ने उत्तर दिया—'बापालाल भाई विद्वान् हैं। परन्तु उनका ज्ञान प्रधानतः औषध-परक है।' इसके पश्चात् तत्क्षण हंसते-हंसते जयकृष्ण भाई ने कहा—'यह काम तू कर। तेरे पास द्रव्य का साधन है। निवृत्ति है। वय भी कुछ अधिक नहीं। वनस्पतियों पर तुझे अगाध प्रेम है। बाटेनी के रहस्य भी तूने अधिगत किए हैं।'

'पर...पर लिखना तो मुझे आता नहीं। अंग्रेजी का भी ज्ञान नहीं। मैं रहा व्यापारी। लेखनी कैसे चला सकूंगा ?'

'तू और बापालाल भाई अन्ध-पङ्गु न्याय से यह कार्य करो।'

इस प्रकार वनस्पति-विषयक ग्रन्थ-रचना के विचार-बीज का गोकुलदास की मनोभूमि में आरोपण हुआ।

गुरु जयकृष्ण भाई की प्रेरणा थी कि गुजराती में वनस्पति-विषयक ग्रन्थ सुलभ करो; अतः गोकुलदास का चित्त इसी दिशा में प्रवृत्त हुआ। प्रकाशन की व्यवस्था के लिए साधन-संपत्ति पर्याप्त थी। आवश्यक होने पर संस्थाओं को ग्रन्थ भेंट देने की तय्यारी के साथ यथेष्ट धन की सुविधा कर लेने के अनन्तर प्रश्न उपस्थित हुआ ग्रन्थ के लेखन का। इस निमित्त समस्त नोट्स संकलित कर निष्कर्ष निकाला तो सामग्री की विपुलता प्रतीत हुई। अतः विवरणों को व्यवस्थित करने का विचार करने लगे। वर्गीकरण किस पद्धति के अनुसार किया जाए यह समस्या तो थी ही। अधिक विचार करते इस निर्णय पर आए कि बेन्थाम-हुकर की प्रचलित पद्धति तो छोड़नी ही होगी। फादर ब्लेटर और प्रो० मुखर्जी जैसे विशारदों ने हचिन्सन की पद्धति की प्रशंसा की थी। परन्तु अद्यावधि लिखे गए सभी ग्रन्थ बेन्थाम-हुकर की पद्धति के अनुसार ही लिखे गए थे। नया ग्रन्थ भिन्न मार्ग का हो तो उसकी विद्वज्जनों द्वारा स्वीकृति की समस्या भी उपस्थित होगी ही। गोकुलदास ने नूतन पद्धति की परीक्षा कर देखी। आपको वह अनुकूल लगी। अतः इस निश्चय पर आए कि, हचिन्सन की पद्धति के अनुसार ही आगे बढ़ना चाहिए। वर्गों का विवरण भी उनका दिया ही स्वीकारा। वर्षों की तपश्चर्या थी, ज्ञान-साधना की भूमिका थी। विवरण पर प्रभुत्व था। अतः माता सरस्वती की वन्दना कर लेखनी उठायी। डेढ़ सौ वर्ग लिखे जाने पर एक खण्ड जितनी सामग्री तैयार हो गई। सो, इस चिन्ता में पड़े कि मुद्रण की क्या व्यवस्था की जाए ?

प्रारब्ध-योग से हरिजन सेवक संघ के कार्यकर श्री छगनलाल जोशी मांडवी आए और आपके ही अतिथि हुए। गोकुलदास ने सामग्री दिखायी। छगनलाल ने उनके वनस्पति-संग्रह का भी निरीक्षण किया और उत्तम संमति देकर प्रोत्साहित किया। नवजीवन कार्यालय में पुस्तक के मुद्रण की व्यवस्था की। इस बीच गोकुलदास को कार्य के प्रसंग से अफ्रीका जाना पड़ा। एक विश्वस्त भाई को काम सौंपा था, परन्तु उनने उचित ध्यान न दिया और मुद्रण में अगण्य भूलें तो रहीं ही, कुछ अपूर्णताएं भी रह गईं। बिना चित्त कार्य करने से कहीं-कहीं सामग्री ही छपी नहीं। बीस वर्ष का श्रम इस प्रकार निरर्थक जाना देखकर गोकुलदास को आघात लगा। तथापि मन को स्वस्थ रखकर, उसी भाई को सामग्री की भाषा देखने का कार्य सौंपकर प्रूफ जांचने आदि का कार्य अपने हाथ में रखा। अधूरे रहे पन्ने जोड़ दिए। इस प्रकार स्वयं उपस्थित रहकर ग्रन्थ के मुद्रण का कार्य पूर्ण किया। मुद्रित ग्रन्थ की प्रतियां पांच सौ संस्थाओं को बिना मूल्य भेंट कीं।

द्वितीय तथा तृतीय खण्ड (स्कन्ध) का मुद्रण स्वयं वल्लभविद्यानगर में उपस्थित रहकर पूर्ण कराया। इन दोनों खण्डों का भावी अधिकार चारुतर विद्यामंडल को अर्पित किया। मुद्रण का व्यय भी स्वयं वहन किया।

इस भांति वनस्पति-शास्त्र के तीन ग्रन्थ गुर्जरी को उपहृत कर अपना नाम उज्ज्वल किया। साथ ही इस शास्त्र के जिज्ञासुओं के लिए नूतन वाङ्मय का सर्जन किया। समग्र जीवन की ज्ञान-तपस्या का सुफल इस प्रकार गुजरात के चरणों में धर कर कृतकृत्यता का अनुभव किया।

उपर्युक्त ग्रंथ-त्रयी में वनस्पतियों के औषधीय उपयोग भी दिए गए हैं। ग्रंथों की तय्यारी में आयुर्वेद के अनेक निघण्टुओं, एतद्देशीय विद्वानों की गुजराती-मराठी पुस्तकों, लेखों, मेटेरिया मेडिका के २०-२५ ग्रंथों, फार्माकोपिया इण्डिका आदि का आश्रय लिया गया है, अर्वाचीन रासानिक विश्लेषण द्वारा विदित हुए औषधों के खनिज तत्त्वों, क्षारों, अम्ल तत्त्वों, जलीयांश, विष तत्त्व आदि घोर परिश्रम करके इस ग्रंथ में दिए गए हैं। इसके अतिरिक्त औषधोपयुक्त वनस्पतियों के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण जानकारी निबद्ध की है, साथ ही विश्व में उनके मूल स्थान से अन्यत्र प्रसरण का भी उल्लेख किया है।

गोकुलदास ने वनस्पति - विषयक ग्रंथ-रचना करके अंग्रेजी के ज्ञाता भारतीय वनस्पति-विदों के समक्ष एक अर्थ-पूर्ण निर्देश किया है कि, प्रो० हुकर, कर्नल वॉट, फादर ब्लेटर जैसे विदेशी भारतीय वनस्पतियों का सविस्तर अध्ययन-अनुशीलन कर उन पर ग्रंथ प्रकाशित करते हों तो क्यों न स्वयं हमें भी अपने पर्वत, टेकरी, चट्टान, वन, उपवन, मरुभूमि, समुद्रीय स्थल आदि का अवगाहन करके इस सम्पदा का उपार्जन करना न चाहिए ?

गोकुलदास ने भारतीय वनस्पतियों के साथ विश्व की वनस्पतियों का भी उल्लेख करते हुए अपने मस्तिष्क की उदार वृत्ति और सर्वग्राही दृष्टि का परिचय कराया है। ज्ञान पवित्र है, जहां-कहीं से उसकी उपलब्धि सम्भव हो वहां-वहां से उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्नवान् रहना चाहिए। ज्ञानार्जन के लिए देश-विदेश की सीमाओं को मिटा देने का इनका आह्वान उचित ही है। आप सत्य ही कहते हैं—सीताफल (शरीफा) और रामफल जैसे स्वादिष्ट फल-वृक्ष हमें वेस्ट इंडीज से प्राप्त हुए, आज इन्हें परदेशी कहने को कौन उद्यत होगा ? यही स्थिति लवङ्ग और हिमालय के पाप्रा (पोडोपाइलम) आदि की भी है। काली मिर्च, हरी मिर्च, आलू, टमाटर और तमाखू भी मूलतः अपने देश के नहीं, परन्तु अमेरिका से आए हैं, यह कौन स्वीकारेगा ? इन तथा अन्यान्य वनस्पतियों को हमने ऐसा अपना लिया है कि वे अपनी ही लगती हैं, वस्तुतः ये अब अपनी ही हैं भी।

गोकुलदास ने यहां की वनस्पतियों की औषधीय एवं अर्थोत्पादन-सम्बन्धी सम्भावनाओं का वैज्ञानिक-पद्धति से तलस्पर्शी आलोड़न करने की भी यथार्थ ही विनती की है। उनका कथन है कि, विद्या की प्राप्ति प्रत्यक्ष अनुभव से ही हुआ करती है, जैसे-जैसे परिचय में वृद्धि होती जाती है वैसे-वैसे उसके परिज्ञान और उपयोगिता-विषयक ज्ञान भी बढ़ता जाता है। ज्ञान का यह आनन्द अनुपम होता है। अनेकों के साथ ज्ञान-चर्चा करते हुए अथवा वनों, उपवनों और पर्वतों में भटक-भटककर वनश्री को निरखते गोकुलदास बांबडाई ने एक क्षण को भी क्षुधा, पिपासा, हुए वृद्धावस्था अथवा बीमारी की थकावट तथा ग्रीष्म,

वर्षा या शीत ऋतु की पीड़ा को बाधक न होने दिया।

जीवन में सुलभ भोग, विलास, मौज, शौक का त्याग कर सादगी, साहसिकता, तन्मयता और धैर्य से विद्या की साधना, आराधना और अन्त की प्राप्ति की। अपनी उपार्जित विद्या में गुजरात की आने वाली पीढ़ियों को सहभागी बना 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' इस ऋषि-वाक्य का अपने जीवन द्वारा चरितार्थ कर इक्यासी वर्ष की परिपक्व वय में सम्वत् २०१८ के पौष वदछ और सोमवार को आप परलोकवासी हुए। अपनी एकनिष्ठ सेवा के कारण गुजरात में वनस्पति-विद्या का आचमन होता रहेगा तब तक बांबडाई का नाम और काम अजर-अमर रहेंगे !!

२। अतिसार और ग्रहणी में अङ्कोल-मूल

निदान—चिकित्सा हस्तामलक (छात्रोपयोगी निदान-चिकित्सा) द्वितीय खण्ड की मुद्रणावस्था में अतिसार और ग्रहणी की विकट अवस्थाओं में भी कुछ मध्यकालिक लेखकों द्वारा किए गए अङ्कोल—मूल के विधान पर दृष्टि गई। शब्द इतने विश्वासोत्पादक प्रयुक्त किए गए है कि अनुसंधान-रसिक वाचकों का चित्त इस प्रयोग के प्रति आकृष्ट करने की उत्कण्ठा जाग्रत हुई। अंङ्कोल अति सुलभ और बिना मूल्य प्राप्त होनेवाला द्रुम है। प्रयोगों द्वारा इसकी एवं कांबोजी आदि की उपयोगिता तथा उपादेयता प्रकाश में लायी जाए तो विशेषतः ग्राम-वैद्यक को यह महत्त्व का प्रदान होगा। नगर-वैद्यक भी उतना ही उपकृत होगा।

अंङ्कोल (अंकोठ या अंकोट) ग्राम्य बस्ती में खेतों आदि की बाड़ पर तथा खुले स्थानों पर अप्रयत्नोत्पन्न वनस्पति है। इसके दो भेद होते हैं—एक गुल्माकार तथा दूसरा निम्ब आदि सदृश विशालाकृति। चरक सुश्रुत-वाग्भट में इसका तथा काम्बोजी का एकाध स्थल पर निर्देश है, परन्तु वह अतिसार, प्रवाहिका और ग्रहणी-चिकित्सा के अधिकार में तो नहीं ही। भावभिश्र ने अङ्कोल का दो वार, रसप्रकाश-सुधाकर के कर्त्ता यशोधरने एक बार चक्रदत्त और वङ्गसेन ने एक-एक बार अङ्कोल मूलत्वक् का अतिसार और ग्रहणी में विधान किया है। ये प्रकरण मूल ग्रन्थकारों के पदों में देखने का अब अवसर है। प्रथम भावमिश्र का वचन देखें :

अङ्कोल मूलकल्कस्तण्डुलपयसा समाक्षिकः पीतः।
सेतुरिब वारिवेग झटिति तिहत्यादती सारम्॥

अङ्कोल के मूल के कल्क को मधु-मिश्रित कर तण्डुलोदक के अनुपान से पिएं। जल का वेगवान् प्रवाह जैसे बन्ध (सेतु) से रूक जाता है, वैसे इस प्रयोग से अतिसार झटिति स्तब्ध हो जाता है।

अतिसार पर अङ्कोल मूल की गुणवत्ता का अन्य प्रमाण यशोधर-कृत रस प्रकाश सुधाकर में उपलब्ध होता है। यह ग्रन्थ स्व० वैद्य यादव जी त्रिकम जी आचार्य द्वारा सम्पादित और स्वव्यय से प्रकाशित आयुर्वेद ग्रन्थ-माला का एक पुष्प है। यशोधर ने अपने ग्रन्थ में एक प्रकरण १०० सिद्ध रसकल्पों का दिया है। इनमें एक कल्प अङ्कोल-मूल का है और इसे (अतिसाराङ्कुश) अभिधान दिया है। यह नाम ही रचयिता द्वारा अनुभूत इसकी गुणवत्ता का परिचायक है। 'रस' की स्वीकृत परिभाषानुसार रस न होने पर भी इसका रस-कल्पों में समावेश रस वैद्य यशोधर द्वारा अनुभूत इसकी रस-तुल्य उपयोगिता के प्रति ही अङ्गुलि-निर्देश करता है। कल्प का मूल पाठ यह है—

अङ्कोल मूल प्रभवास्त्वचश्च
छाया विशुष्का हि विचूर्णिता वै।
संचूर्ण्य शाणं मधुना लिहंश्च
जयेदती साररुजां परां च॥

—अङ्कोल के मूल की त्वचा ले उसे छाया शुष्क कर चूर्ण बना लें। यह चूर्ण एक शाण (३ माशा-चरकीयमान, ४ माशा-शार्ङ्गधरीय मान) की मात्रा में ले मधु-मिश्र कर सेवन करें तो अत्यधिक भी अतिसार रोग शान्ति को प्राप्त होता है।

चक्रदत ने भी अङ्कोल मूलत्वक् को निम्न पद्य में 'महाधोर' भी समस्त अतिसारों और ग्रहणी रोगों में उपयोगी कहा है। इसमें अङ्कोल मूल को तण्डुल जल में पीसकर आधा तोला की इसकी मात्रा विहित है—

तण्डुल जलपिष्टाङ्कोठ तमूलकर्षमिमपहरति।
सर्वातिसार ग्रहणी रोग समूहं महाधोरम्॥

वङ्ग सेन का भी यही मत है। अन्य परवर्ती ग्रन्थों में भी ऐसा उल्लेख होना संभव हैं। भाव प्रकाश में अङ्कोल मूल का एक संयुक्त कल्प अङ्कोल वटका

नाम से निर्दिष्ट हुआ है । इससे—

अंकोल के मूले एक पल (चार तोला) ले समभाग पाठा और दारुहरिद्रा चूर्ण मिला तण्डुलोदक में पीस १—१ गोले के वटक बनाएं । वटकों को छायाशुष्क कर एक-एक वटक तण्डुलोदक में पीस रुग्ण को पिलाएं । इनके उपयोग से वातज, पित्तज, कफज, द्वंद्वज तथा सनिपातज सर्व अतिसार शान्त होते है ।

प्राचीन संहिताओं में जैसा कि ऊपर कहा गया है कि दो—एक ही स्थलों पर अङ्कोल का निर्देश है, परन्तु उनमें अतिसार वा ग्रहणी पर इसके उपयोग का विधान नहीं है । निघण्टुकारों ने इसका एक पर्याय 'रेची' दिया है । राजनिघण्टु ने इसे 'रेचनीयक' कहा है । चरक ने सूत्रस्थान के २७वें अध्याय में इसके फल को 'विष्टम्भीं' कहा है । डल्हन ने भी इसे संग्राही कहा है। संभव है, रेचक क्रिया अंकोल के फल की हो । शेष मूल तो स्तम्भक ही होने चाहिए ।

कांबोंजीं आदि बिना मूल्य प्राप्त औषधियों का निर्देश भविष्य में करेगे ।

गुजरात क्षेत्र के जैन शास्त्र-भंडारों में उपलब्ध वैद्यक ग्रन्थ

वैद्य हरिश्चन्द्र जैन, एच. पी. ए.
लेक्चरर, गुजरात आयुर्वेद विश्वविद्यालय,
जामनगर

भारतीय संस्कृति और साहित्य के क्षेत्र में जैन साहित्य का योगदान अविस्मरणीय है। वेद और पुराणों के अनेक उद्धरणों द्वारा जैन साहित्य की ऐतिहासिकता प्रमाणित हो चुकी है। साहित्य देश, धर्म और जाति का जीवन होता है।

जैन साहित्य के उद्गम की कथा का आरम्भ भगवान् महावीर से होता है क्योंकि उनके पूर्व के साहित्य के संकेत उपलब्ध नहीं हैं।

ईसा से ५५७ वर्ष पूर्व राजगृह के बाहर विपुलाचल पर्वत पर भगवान महावीर की दिव्यवाणी निःसृत हुई, इनकी धर्मोपदेशता को श्रवण कर उनके प्रधान शिष्य गौतम गजधर ने उसे बारह अंगों में निबद्ध किया था। अतः यहीं से जैन वैद्यक साहित्य का प्रारम्भ मान सकते हैं।

जैन शास्त्र-भंडारों में आज भी साहित्य, धर्म, दर्शन, व्याकरण, ज्योतिष, आयुर्वेद, मंत्रशास्त्र, योग आदि के हस्तलिखित प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं किन्तु कई कारणों से वे प्रकाश में नहीं आ सके हैं। आज इनके प्रकाशन की अत्यावश्यकता है।

जैन आगमों में आयुर्वेद के अंश विद्यमान हैं, उन्हें संकलित करने की भी आवश्यकता है। इससे आयुर्वेद के निगूढ़ रहस्यों को उद्घाटन करने में सहायता मिल सकती है।

भारतवर्ष के जैन शास्त्र-भंडारों में अनेक वैद्यक ग्रंथ हस्तलिखित रूप में विद्यमान हैं; गुजरात क्षेत्र के पाटण, लींवडी, खंभात, भावनगर, अहमदाबाद, कोडापनो तथा मुंबई (पूर्व गुजरात में था) स्थित जैन शास्त्र-भंडारों का निरीक्षण सन् १९०९ में हुआ था और उस समय अनेक ग्रंथों का उपलब्ध होना पाया गया है।

मैंने जैन साहित्य के अध्ययन द्वारा गुजरात क्षेत्र के जैन शास्त्र-भंडारों में लगभग २० वैद्यक ग्रंथों का संकेत पाया है वे निम्न प्रकार हैं—

क्रम संख्या	ग्रन्थ नाम	श्लोक संख्या	कर्ता	रचना काल
१.	आयुर्वेद महोदधि	११००	सुषेण	—
२.	चिकित्सोत्सव	१७००	हंसराज	—
३.	द्रव्यावली (निघंटु)	९००	महेन्द्र	—
४.	प्रताप कल्पद्रुम	६०००	प्रतापसिंहदेव	—
५.	माधराज पद्धति	१००००	माघचन्द्र देव	—
६.	योगरत्नाकर	९०००	आंच नयनशेखर	१७३६
७.	योगरत्न समुच्चय	४५०	—	—
८.	योग शतक	२५०	—	—
९.	योग शत	पत्र २४	—	—
१०.	योग चिन्तामणि	२१००	हर्षकीर्ति	—
११.	रत्न सागर	१८००	—	—
१२.	रसचिन्तामणि	९००	अतन्तदेवसूरी	—
१३.	रसरत्नदीपिका	६००	अल्लराज महीपति	—
१४,	वीरसिंहावलोक	४०००	वीरसिंह देव	—
१५.	वैद्य वल्लभ	२६०	तपाहस्तिरुचिमणि	—
१६.	वैद्यक सारोद्धार	८००	हर्षकीर्ति	—
१७.	वैद्यक सार संग्रह	११००	,,	—
१८.	सिद्ध योगमाला	५००	सिद्धर्षि	—
१९.	सिद्ध सार	पत्र ७९	—	—
२०.	सुवर्ण सिद्धि	—	पादलिप्त	—

उक्त सभी ग्रन्थ हस्तलिखित हैं। उनमें चिकित्सा, द्रव्यगुण तथा रसशास्त्र-विषयक ग्रन्थ हैं। अनुसंधान के लिए इनमें सामग्री का प्राप्त होना सम्भव है। ग्रन्थ-रचना काल का स्पष्ट उल्लेख न होने से रचना काल का ठीक ज्ञान नहीं होता है। फिर भी उक्त वैद्यक ग्रन्थों की प्राचीनता अपरिहार्य है।

यदि प्रत्येक प्रांत के जैन शास्त्र-भण्डारों का वैद्यक ग्रन्थों की दृष्टि से निरीक्षण किया जावे तो आयुर्वेद के कई महत्वपूर्ण विषयों पर नवीन विचार उपलब्ध हो सकते हैं। इससे प्रस्तुत आयुर्वेद के अनुसन्धान में नया कीर्तिमान स्थापित हो सकता है।

संदर्भ ग्रन्थ—

१, जैन साहित्य का इतिहास भाग १. २, पं० कैलाश-चन्द्र शास्त्री, वाराणसी

२. जैन ग्रन्थावली—श्री जैन श्वेताम्बर कान्फ्रेंस, मुंबई

३. कल्याण कारक उग्रादित्याचार्य (प्रस्तावना)

४. पारद विज्ञानीयम् वैद्य वासुदेव मूलशंकर द्विवेदी शर्मा (आयुर्वेद मन्दिर प्रकाशन), झांसी

५. आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास—आचार्य प्रियव्रत शर्मा (चौखम्भ, वाराणसी प्रकाशन)

Prevention and Control of Small-Pox in Ancient India

Dr. Kaviraj Purushottam Dev,
Deputy Director (Ayurveda),
Retd. Govt. of Andhra Pradesh,
Hyderabad.

Small pox is one of the oldest diseases in the world. Earliest mention of this disease is found in Atharveda. There we find a reference to the eruptive fevers-fever with spots on the surface of the body. The spotted or speckled fever—'covered with spots like reddish sediments, refers to some eruptive fever, as the fever accompanying measeles or small-pox.

य: परुष: पारुषेयोऽवध्वंस इवारुण:
तस्मानं विद्वधावीर्याधिराञ्चं परासुवा

"Endowed with universal power, send fever downward far away; The spotty, like red coloured dust, sprung from a spotty ancester." Hymns of Athurvaveda by Rolf T. H. Griffith.

The disease was well known to Hindus and Chinese about 1100 B. C. There is a Chinese literature written long before Christ entitled 'Teontahinfa' or Heart words on the small pox. Holwell in his account of Small pox in east India in 1767 (Page 8) refers to the traditions amongst the Brahmins concerning the prevelance small pox in India & Temple worship of 'Sitala' the Goddes of small pox from very ancient times.

Temple Worship

The disease has existed in this country from the time immemorial and the temple worship of a deity has also existed from the earliest times as the protection and help of diety 'Sitala mata' were invoked on the epidemic out-break of this disease. Temple worship was very widely spread all over India specially in the North. Numerous temples of this kind are in existence in Rajasthan, Punjab, U. P, and even in Telangana region of Andhra Pradesh.

In 'Skandpurana' there is 'Shitalashtak Stotra' and Bhavamishra has also mentioned the same in 'Bhavprakash' treatise. In the Hymns to the Goddess Sitala it is distintctly stated that there is no medicine for this disease except prayers to the Sitala Diety. She is represented as having four-hands, holding a broom—stick in one hand, a water pitcher in another, a lotus in the third and the fourth hand is shown in the attitude of 'Abhaya-mudra' (the sign of fearlessness and hope). She rides on anass and has a winnowing fan as her hair dress. She is represented as naked. She resides in water. 'Sitala' really

means Goddess of 'Coldness or Water'. Her attributes refer to the hygienic measures to be adopted when Small pox rages in a epidemic form. Though described as Goddess who is worshipped by the mass, the patient is advised to contemplate her as thin like one of the fibres of peticle of lily, situated between her heart and navel.

The broom, fan and water pitcher are the appliances necessary to keep the room in which patient is isolated, clean and free from flies. Her nakedness is meant to represent the fact that the disease is often carried to healthy individuals to the clothes of nurses who should be as scantly dressed as possible. Even the patient is also to be as scantly dressed as possible.

The 'Sitala' is the puranic adaptation of the Vedic 'Apodevi' who is also described as the mother. The word 'Ap' in Sanskrit is used in feminine gender hence both 'Apodevi' and 'Sitala Devi' are described as female deities. The Brahman still recites in their daily prayers the beneficial qualities of water, invoked as mother by 'Sindhu-vipa' rishi of Gayatri Mantra.

"आपो हिष्टा मयो भुवा: स्तान ऊर्ज दधातनमेहरण्य चक्षसे
यो व: शिवतमो रस: तस्य भाजयते हन: । उद्वातीरिव मातर:
तस्मा अरं गमाम वो दस्य क्षयाय जिन्नथ आपोजन- यथाचन: ॥"

Water was regarded by Vedic medicine as the source of medicine and was used by them as therapeutic agent. It was also a means of purification.

Water is elixire of Immortality, water being means of soothing, and disinfection, water Goddesses are prayed for a cure. The application of cold water in Hypereamia was well-known. The spring water which runs down upon the mountain was used as a healing remedy. It was recommended as useful in checking discharges and removing pain. It is also styled as a great healer of wounds. The water is said to contain a hundred remedies. The waters are called the most skilled physicians in 'Atharvved'. It is interesting that waters are described varily healers, scatterers of disease and cure the diseases also.

Innoculation and Vaccination :

There is no mention of the practice of innoculation or vaccination in the hymns to 'sitala'; so it is difficult to decide whether innoculation not, to speak of vaccination was practised in Vedic or Puranic period. However, in the later period there are references to the practice of innoculation and vaccination in 'shakteya Granth' by Dhanawantari quoted in 'sabda kalpadruma' (Vol. V. P. 2311) and Ayurved Vignan (Vol. IV P, 178) by Binodlal Sen.

'धेनुस्तस्य मसूरी व नराणाञ्च मसूरिका ।
शस्जेषोतकृत्य तत्पूयं बाह्लमूले विचारयेत् ॥
तत्पूयं रक्त मिलितं स्फोट ज्वरं भवेत् ॥'
(धन्वन्तरि कृतशाक्तेय ग्रन्थ)

(1) 'The matter of the pustules on the teats of cows or on (arms of) men should be taken by means of a knife and introduced into the arms (of the child); the pus as it mixes with the blood causes the fever of small pox.'

धनुस्तस्य मसूरी वा नराणाञ्च मसूरिका ।
तज्जलं बाहुमूलाञ्च शस्त्रान्तेन गृहीतवान् ॥

बाहुमूले च शस्त्रेण रक्तोत्पत्ति करेण च ।
तज्जलं रक्तमिलितं स्फोट ज्वर सम्भवम् ।।'

(2) 'Take the serum from the pustules on the teats of cows or from the arms of men at the end of a knife and introduce into the blood on the arm (of the child) caused by sacrification with the knife. The serum when mixed with blood (of the child) causes fever of Small pox.'

The practice of vaccination in India can be traced in the works of Charak, Sushruta, Madhav, Bhava Mishra and other. There is no doubt that innoculation was frequently practiced in India long before the discovery of Jenner, Holwell's testimony supports it.

There are two types of epidemic diseases described in Ayurvedic texts. (a) with direct contact with the patient (b) due to environmental factors affecting the people on mass scale.

In 'Charak Samhita' there is a dialogue whena student asks his teacher that when there is difference in indiuidual's diet, mode of living, age, vigour and vitality etc. then how it is possible to have the people suffering from the same disease at a time ?

The taeacher replied, no doubt there are differences in individual's, mode of eating and living etc. but there are certain things which are common for all people as areWater, country and season. If any of these or all are polluted then at a time people may suffer from same type of disease. Their symptoms are described in detail in 'Charak Samhita.'

चतुष्वपि च दुष्टेषु कालान्तेषु यदा नरा:
भेषजे नोप पाद्यन्ते न भवन्त्यातुरास्तदा
येषां न मृत्यु सामान्यं न च कर्मणाम्
कर्म पंचविधं तेषां भिषजा परमुच्यते
रसायनानां विविध वच्चोपयोग: प्रशस्यते
शस्यते देहवृत्तिश्च भेषजै: पूर्वमुदधृतै: ॥
सत्यं भूते दया दानं वले या देवतार्चनम्
सद्वृत्ति स्यानुवृत्तिश्च प्रशमो गुप्तिरात्नन:
हितं जनपदानां च शिवानामुपसेवनम्
सेवनम् ब्रह्मचर्यश्च तथैव ब्रह्मचारिणाम्
संकथा धर्मशास्त्राणां महर्षिणां जितात्मनाम्
धार्मिकै: सात्विकैर्नित्यं सहास्या वृद्ध सम्यतै:
इत्येत्भैषजं प्रोक्तसायुषा: परिपालनम्
येषा मनियतो मृत्युस्तस्मिन्काले सुदारुणे

चरकसंहिता
(विमानस्थान)

Prophylaxis

Under prophylaxis of the disease, in Ayurveda it is prescribed to create immunity in the patient for which it is essential to avoid Tamasik and Rajasik diet and mode of living (i. e. Fear, Calamity. Worry, coopulation etc.) Whereas Satvik diet and mode of living (i. e. disciplined life, meditation, offerings to diety, reading of scriptures, Brahamacharya. etc.) help to keep body and mind clean and are supposed to increase immunity.

Where even fields are polluted, it is advised that the grains or rice of that place should not be used and one should leave for unaffected area.

The following two compound preparations are generally used by Vaidyas for prevenion of this disease.

(1) Neem (Margosa) seeds, Terminalia Bellerica and Turmeric (Haldi) all are combined in equal quantity and made into pills of 6 grain each. One pill is given 3-4 times daily with water.

(2) Tamarind & Turmeric—are mixed in equal quantity, and made into pills of 6 grain each. One pill is given 3-4 times daily.

Both the preparations act as good antidote to small Pox.

Central Council for Research in Indian Medicine & Homoeopathy Review of activities

Dr. P. N. V. Kurup*
&
Dr. K. Raghunathan**

The Central Council for Research in Indian Medicine and Homoeopathy was constituted as an autonomous body under Government of India to initiate, guide, develop and co-ordinate scientific research in different aspects—fundamental and applied—of Ayurveda, Siddha, Unani, Homoeopathy systems of medicine and Yoga, commenced functioning since the last part of 1969. Recognising that research is essential for the development of these systems and to contribute their best for national health, a basic objective of welfare State, the Council envisaged research programmes in different fields and also identified the areas of priority which have potentiality to be of greaterutilitarian value in the context of health and medical care needs of the country. Research or rather systematic investigation utilising the currently available technological skill and advancements help in providing interpretation and standardisation of the content of their theory and practice also helps in revival or establishing these systems on a proper footing and also to rehabilitate them and enables these systems to gain their positive glory and its place in the world of medicine of today.

The areas of research were broadly identified as below :—

1. Clinical research oriented not only to find a drug for successful treatment but to establish the pathogenesis of diseases.
2. Research in drugs used in Indian Medicine and Homoeopathy and folk practice at multidisciplinary level.
3. Medico-botanical survey of the entire country to assess the availability of medicinal resources.
4. Collection of folk information and recipes not described in classical works.'
5. Evolving of standards for drugs and pharmaceutical preparations used in Indian Medicine.
6. Research into fundamental doctrines on which the medical system is based.
7. Medicohistorical research concerned with the Indian systems and their influence on their contemporary systems and society.

*Director, CCRIMH and Adviser in ISM Ministry of Health & Family Welfare Government of India.

**Deputy Director, CCRIMH

8. Research into medical literature; interpretation and publication of critical edition.

In stupendous programmes of this nature, priorities naturally had to be fixed in the choice of fields where more intense investigations are to take place and those where the tempo of activity may not be accelerated to that extent, though all have been placed in the programme as concurrent subjects needing research. Broadly looking these may be sorted out as Clinical Research, Drug Research, Literary and medico-historical research and studies and research in reproductivity biology.

These different medical systems, being economic oriented and much suited to the socio-cultural background of our country and traditional beliefs and customs of the people, the results of research largely meet the common man's needs, in the field of health and medical care. As a pre-requisite to the understanding the demands of the common man and to study the needs at his own place, to make the research studies meaningful and purposeful, council initiated survey and surveillance programmes with an accent on research on rural problems. This has been taken on a priority level as three has been new dimension to health structure and disease pattern with the passage of time due to socio cultural stress and strains and urbanisation. The villages, which constitute over 80% of the country's area had to be taken care of as they are the foundations for life and activities at urban and metropolitan levels. The programme of survey and Surveillance was taken up to avert health planning crisis at that level and to meet the challenge so that the prosperity of the nation may not be undermined by sick village. The information gathered in these programmes cover a wide specimen of details which have scope to assist in the working out appropriate plans. The beneficial results of clinical research and applied drug research were made available at rural level so that the advantages of research at other levels are put to effective use. The aims and objects of the Survey and Surveillance programms carried out through Fact Finding mobile Clinical Research Units are broadly as below ;—

1. To study the nature and frequency of prevalent diseases, if any, in the villages under observation.
2. The standards and types of treatment available to the rural population of this area including Ayurvedic, Unani, Hmoeopathic, Allopathic and folk medicines.
3. Maintenance of contact with the village Vaidyas, evaluation of their contribution to the health service of the villagers dependent on them and refreshing and improving their knowledge through correction and guidance.
4. Studying and creating ways and means of prevention of diseases and of maintenance of health and improvement there of to ensure longevity and improved productive expansion of physical and mental energy.
5. To study the relation between the food habits and the incidence of disease in the areas under survey.

5. To assist the Family Planning Research Unit wherver necessary if a Family Planning Unit is functioning in the state.
7. To provide incidental medical aid.
8. To collect the folklore claims that are prevlent in the zone of operation of the units.
9. To make a general survey of medicinal plants available in thh areas visited.

The study being a long drawn one covering almost all States, the programme operation has to continue for a fairly long period. The data gathered from all quarters is pooled and appropiiate statistical orientation so that the data helps to providha to make the data utilisable in the National planning on the basis of health information on available disease proneness, disease pattern, disease prevalence and incidentally information on resources and facilities for medical and health care, is also being collected.

Closely moving with the subject of health and medical care is the subject of Clinical medicine. Clinical research is one of the fruitful lines of approach for clarification and principles and methods of diagnosis and treatment of diseases as mentioned in classical works; appropriate operational models and protocols were designed so that there can not only critical apprisal of the content related to realm of clinical medicine but also viable and helpful information suitable for application for the benefit of the ailing humanity. This study also helps to chalk out preventive measures in case of preventable illnesses. Central and Regional Research Institutes and units and enquiries were established to handle different kinds of research-clinical as well as drug and in the field of basic doctrines. The clinical material available were utilised in critical appraisal of theories of pathology, sympto-matology, clinical methods of diagnosis and prognosis, lines and methods of treatment, and drug therapy and other lines of treatment peculiar/particular to Ayurveda and use of reputed drugs in medicine in treatment of diseases. The programme of these institutes indicate that the work taken up has been on these lines and the results are considered to enhance the utilisation value of medical systems and also provide interpretation of the concepts of the medical systems. These activities resultant of long drawn considerations and elaborate discussions will be able to explain the rationaleof methods of diagnosis and lines of treatment of Indian medicine and will help to eliminate methods of doubtful value and utility. Researeh plans have also taken into account time-cum-situation based oriented needs as the passage of time and made of life and way of living have grossly changed since the time of first description of conditions in the classical works. Some old diseases have exhibited variations in their manifestations from age to age, country to country and also in relation to changed conditions of the individual and his social and other environments. The old time principles and methods of diagnosis will have to be studied where necessary revised and reoriented or supplemented in the light of new and known experience. The existing methodology available in texts has to be supple-

mented by the diagnostic and prognostic techniques and methods available currently and the projects taken up have subscribed to this approach at functional levels. The Central/Regional Research Institutes are charged with a range of subjects encompassing clinical and drug research agreements that are considered to have utilitarian importance both from the angle of common man's needs and advancements of the system of medicine. The objects before these institutes broadly are as below :—

1. to advance the art and science of system of medicine keeping in regard the principles and concepts laid down in the system.
2. To find out better, cheap and effective remedies for prevention and cure of various ailments.
3. to assess the efficacy of the claims of cure made by different individuals and institutions.
4. to provide training to the technical personnel of the various research units functioning under the council.
5. to interpret the concepts of the systems of medicine in the light of the modern availlable knowledge.
6. to undertake research on various clinical problems and on special therapies like panchakarma, agnikarma, raktamokshana etc.

Institutes handling homoeopathy in addition have taken up to provings of drugs and to corroborate the symptomatology of proved drugs. The research at clinical level while endeavouring to look at the principles of therapeutics, also finds remedies effective in particular situations. The sources for remedies in these systems are from vegetables, animal and mineral kingdom. Bulk of drugs used in different medical systems are available from vegetable kingdom and there is a need to have a complete picture of drug wealth of the country. Medicobotanical studies and surveys in this context occupies a pivotal position. This helps in obtaining information on distribution and extent of availability of medicinal plants finding place in Indian Medicine generally with special emphasis on plants enumerated in classical treatises. Further steps have been taken to utilise the indigenous drugs sources in the homoeopathic system so that it might be possible to have substitute remedies for medicines described in Homoeopathic treatises.

The objects of medico-botanical survey broadly as hereunder :—

1. Assessment fo the distribution and extent of availability of Medicinal plants finding use in the indigenous systems of medicine generally with special emphasis on the plants enumerated in various treatises.
2. Collection of various medicinal plants for the preparation of herbarium sheets.
3. Collection of medicinal plants for transplanting in medicinal plants garden, and the germ plasms for cultivation.
4. Collection of green specimens, seeds and other plant materials in sufficient quantities for investigations in different units.
5. Collection of plant material for pharmacognostic work on medicinal plants.

6. Collection and compilation of data on occurence, habit, habitat etc.
7. To look out for material of medicinal value belonging to animal and mineral kingdom.

This programme has the advantage of making available genuine/authentic plant material for the research studies. Further the report of work forms a standard guide on medicinal flora providing details of occurrence, habit, habitat, local folk uses etc. Herbaria and museums with collected material function as reference units. The eams during their exploratory surveys will be able to locate potential spots of much prized drugs which are either important or not easily available in their pure form.

Another programme of vital importance to the common man and pharmaceutical industry is research in evolving of working standards for formulations used as therapeutic agents. There is need for research in this field as it helps in obtaining genuine medicinal preparations whose quality can be assessed. This programme is not without its intrinsic problems in evolving firm standards as most of the medicines are compound preparations with large number of ingredients collected at different places and at different seasons. The raw drugs collected from different regions and different seasons tend to show variations in the analytical data. However, a beginning has been made into this important task so that an objective dimension of measurable and evaluative nature may emerge, which perhaps is the first attempt made in that direction in this country.

Another programme in the field of drug research which has added a new dimension is the study of currently used drugs from a multi-disciplinary angle utilising techniques and knowhow currently available in the field of pharmacognosy, chemistry, pharmacology and medicine. This provides scope for an interdisciplinary approach capable of providing interpretative discussion to the mechanism of action of drugs further these re-investigation studies help in confirming the described effects and actions and also facilitates to find new areas of utility for these drugs.

Briefly the scheme envisages effective collaboration between scientists of various disciplines. To accomplish the objects envisaged the clinical units comprising of Ayurvedic Physicians and allopathic study in close collaboration the disease process and the therapeutic effects utilising the methodology of their respective medical systems so that therapeutic value of the drug may be assessed. The effective control over the botanical identity of the drugs selected is achieved by associating a Pharmacognosist with the unit; the pharmacological screening of the drug is taken up along with the study of effects of different fractions of the drug obtained from chemical units. The fractions of the drug which is most potent in its action is isolated by the chemistry unit in collaboration with pharmacology unit. Toxicity studies (both acute and chronic) were also undertaken. If the drug is found non-toxic it is again taken up for detailed clinical screening. Structure elucidation is done

by chemistry units. Extractives and fractions are supplied by chemistry units. The structure of the plant together with the changes in the contents of the active principles depending on ecological variations are studied by the pharmacology units. General pharmacologic profile and the specific effect of the drug on various biological systems and the mechanism of action together with toxicity studies are conducted. At the end of the study in this manner a potent drug collected under known controlled conditions with known chemical configmation and pharmacognostic characteristics emerges. This research programme envisages in its content an exploratory approach to confirm the drug activity; the studies help to find methods that have scope to enhance its efficiency and utility and this will bring the knowledge of drugs in classical works of Indian medicine close to contemporary medical thought. This approach provides a rational investigation in to the wealth of knowledge propounded by seers and sages, savants and scholars through the ages and also makes one marvel at the successful use of variety of natural products as curative material. Effective remedies will be available to combat diseases and collaboration of all disciplines will be an asset in this great endeavour.

In the field of Homoeopathy the Council organised planned and systematic drug proving studies utilising the drugs indigenously available so that these may find place in therapeutics in time to come and may be able to reduce the cost element as the natural resources are harnessed in this programme. These studies are likely to bring out remedies for diseases for which no cures are available or may help in finding out substitutes in case of drugs difficult to obtain. New areas of utility may be located in case of drug provings conducted with already known drugs as the passage of time with industrialisation and progress have made in certain imprints as a form of reaction to stress and strain. The biological reactions at psycho-somatic levels are recorded in these provings so that a repertory suited to the times may be evolved.

The subject of medical care research was taken up as a project of importance as it is felt it is a subject needing particular attention for building up a welfare State with medicare availability to maximum population with tested remedies for simple ailments commonly met with so that it can play a significant role in making available medicare at doorstep at rural areas and remote pockets so that a larger section of the population of our country can be catered.

A medical kit with an easy to use simple remedies that are well tested and recipes resultant of experience of physicians was brought out with a guide so that the baffling challenge of caterring medical care at remote areas and rural pockets can be to a some extent met with.

The projects engaged in the medico-botanical surveys and survey and surveillance programmes among others have collected a number of folk claims prevalent in the regions of their visit and planned studies and investigations may be rewarding.

Another field which was given high priority is in the studies planned in reproductive biology and fertility control. Human fertility and accompanying problems of demographic explosion have been attracting individual attention. A number of drugs claimed to possess contraceptive potentiality are screened and the studies afford scope to get a drug from the medical lore of Indian medicine. Planned clinical trials are also initiated based on experience at chemico-pharmacological level.

Research Projects involving the fields of dietitic role in treatmeut of diseases and studies on prakriti were also taken up. The collection of source material projects were established to make available the authentic literary material of useful nature and the work is being further carried out at the Documentation Centre of the Council.

Medico-historical research and studies have been taken up by the Council. Medical history is not only the concern of history but of medicine as well. The work in this field contributes to progress of medicine through elaboration of course and trend of evolution of medical thought at a clinical condition or drug or a therapeutic approach. It is an established fact that one step forward leads for another. This is in short the basis of evolution in thoughts and ideas. It is the historian who can determine the ways and steps, methods and measures, that have been responsible in this sojourn of ideas. This will help to discover sources of knowledge and its influence on the contemporary and subsequent ideas. Though this is considered a scientific age it is nonetheless historically oriented in its outlook. The pervasive orientation of medical historiography is recognisable in the way of action of the research undertaken by the Council. The council through the Indian Institute of History of Medicine is releasing a quarterly bulletin highlighting different historical facts related to the medical systems.

The council is also releasing a quarterly Journal of Research in Indian Medicine, Homoeopathy and Yoga which is functioning as an effective forum for the research work done in the different medical systems and allied disciplines. The Documentation Centre of the Council with its library and Journal wealth has been documenting information of scientific interest and importance and assisting the research workers of the Council and others.

The brief foregoing review of the programmes taken up have been able to make a contribution of significant nature and importance in the direction of human welfare. The country has unfathomable sources of medical literature. Non-availability of refences easily holds up the research work and to obviate such situation the collection of source material units and the Documentation Centre have collected and documented valuable data pertaining to different medical systems and allied discipllines so that the referenceservice can provide needed assistance for uninterrupted pursuance of work. Research in various fundamental concepts and doctrines relevant to the clinical and other programmes is taken up so that meaningful

approach is possible in identification of clinical problems. Role of dietetics in therapeutics, place of prakriti in therapeutic approach, different principles of treatment in clinical conditions, effectiveness of single drugs and compound preparations in the treatment of diseases are a few of the problems taken up. Critical study and examination of various historical sources/works/manuscripts/inscriptions etc. were carried out in different parts of the country on the medical systems and other aspects of health care and medical services throw light on the different events, trends and ideas. The classical treatises, their commentaries provide glimpse of contemporary medical ideas and thoughts. Study of biographies of the propounders and commentators, medical ideas and thoughts. Study of biographies of the propounders and of commentators, medical sources from non-medical works of different period and travelogues have been taken up so that philosophy behind the thoughts may be legible.

In the field of medicobotanical survey, collection and cultivation, the Council has been able to make considerable progress despite financial constraints on the budget, and the petrol hike which has been a major limitation in the programme. About 140 forest divisions/areas have been surveyed for assessing the medicobotanical potentialities. The teams have collected about 32.170 plant specimens for their herbaria during their surveys and their herbarium sheets were prepared. About 3400 drug specimens were collected for the museum. New taxas, *Impatiens razainaSp.* Nov. *Marsedenia raziana* Sp. Nov. *Impatiens acantis* Ann. Var. *Granulata* Var. Nov., *Sonerila pedunovelosa* Thw. to name the only the few are added to botanical armamentarium. The drug requirements of the research projects have been met largely by the teams. Germ plasms, green specimens etc. were collected to intensify studies. Germination potential of some of the germ plasms received from Geneva were studied. Experimetnal cultivation of about 1600 plants like *Plantago ovata. Vinca rosea* etc. have been taken up; ecological studies are carried out with a view to assess the acclimatisation or scope of certain of the plants. *Crocus sativum* Linn. and *Glycyrrhiza glabra* Linn are examples of such study. Special survey tours covering Andaman and Nicobar Islands, Arunachal Pradesh, Leh and Laddak, Tribal pockets of Nilgiris, Lakshadweep, Sikkim etc. were carried out.The teams conducted studies covering a range of subjects like botanical resources, ecological and ethnologic studies, mineral resources, socio-cultural conditions, dietetics, traditional beliefs and faiths, folk customs and folk medical practices etc. These studies have paved way for knowing potentialities available for harnessing for the benefit of mankind and also to locate belts/areas where life saving drugs that are being imported are available. Areas where minerals like sulphur, borax, shilajith, sodium sulphate, sodium bicarbonate, Antimany sulphate etc. are available are located in the Leh, Ladakh area. Vegetable drugs like *Gentiana kurroa, Ephedra gerandiana, Orchis latifolia,*

Hyoseyamus niger, Physochlania praelata, Macrotomia benthania, Rheum Sp. Aconitum heterophyllum, Podophylum hexandrum which have therapeutic importance and which can enhance the drug trade are also located. The survey of Arunachal pradesh has brought to light of availability of plants like *Abies webbiana, Aconitum ferox, Antemesia vulgaris, Berberis aristata, Acoras calamus, Cinnamomum camphora Cinnamomum zeylanicum equilaria agalocha Roxb. Embelia ribes, Mallotus philippinsis, Mesua ferea, Nardostachys jatumansi, Piper langum, Rheum acuminatum, Rubia cordifolia, Scindapsus officinalis, Curculigo orchioides* etc. which have therapeutic significance. Ambergris, red corals, yellow and blue corals, cowrie shells, Os sepiae, pearloyester etc. are located at Andaman and Nicobar islands. Rhizophora Sp whose bark is used for extraction of Tanina needed for leather industry is also located in this part. A picture of natural resources and potentialities, folk remedies, dietitic and other living habits of different parts of the country have been mapped out and the study of these will be able to work out comprehensive health care programme of value to these remote parts of the country.

Another drug much prized as a valuable therapeutic remedy, which is got from musk deer may be available in Ladakh region. Studies on breeding this animal in captivity was taken up and living and dietitic habits of this animal have been gathered through musk deer breeding project. Similar project on the civet cat breeding was also taken up and civet collection is attempted.

The survey teams have in course of their exploratory sojourns collected about 1200 folk prescriptions for a variety of conditions which are locally in vogue and investigation with these is expected to be of value.

The research programme related to drug standardisation has helped to bring out a mannual containing preliminary pharmacoeopial standards for 415 medicinal preparations commonly used in medical practice. Standards for identification of 200 single drugs were worked out. Chemicopharmacological information on seventy drugs is currently available. Pharmacognostic studies on 116 drugs together with information on adulterants/substitutes/allied species is worked out. The chemical units have been able to isolate pure fractions and elucidated structure in regard to some of them. Use of *Aswagandha* in arthritic disorders, *pippali* as anti-tubercular drug as well as analeptic agent *karaveera* in cardiac disorders, *mandukaparani* in improving the mental faculies, *guggulu* in *medoroga* and its associated/accompanying complications, *kantakari* in respiratory disorders, *haridra* in allergic disorders, *prasarini* in *gridhrasi* and *sandhigatavata, yastimadhu* in *udara sula, changeri* in *amlapitta, Araghwadha* in *Thwakroga, Katukarohini* in hepatic disorder, *Lasuna* to control blood cholestrol levels, *Bhallataka* in *krimiroga, Punarnava* in *shotha Satavari* as Salaetagogue, *sirisha* as an anti allergic agent, *shigru* in *swasa roga,*

mammajjak in *madhumeha*, *saptarangi* in *madaumeha*, *varuna* in *aimari*, *haridra* an anti-inflammatory agent are a few of noteworthy leads with therapeutic potential for extending on a wider trial. Isolation of anabolic steroid considered to benefit healing of fractures is an interesting lead.

Use of *Jatyadi thaila/ghritha* in wound healing, *Kshara sutra* in the treatment of *fistula*, *Amasaya shodhana* with *varuna kvatha* in *Parinamasoola*, treatment of *Pakshaghata* with *panchkarma chikitsa*, use of *kanchanara guggulu in galaganda*, *timira* roga with *mahathiphaladhi ghritha* and use of *ksheerabala thaila* in *vataja shirashoola* are worthy of recording. *Brahmyadiyoga* in mental diseases, *panchkarma chikitsa* in *vatarogas*, *prakriti* studies, endocrine response to *rasayana* chikitsa, study of relation of *Jataragni* to *Dhatwaqni*, role of *soddhana*, *virechana vamana* and *raktamoksham chikitsa* in *Kshudra Kushta* are a few of important clinical programmes of significant importance to elucidate therapeutic principles. The Council has evolved cheaper and simpler remedies for the treatment of conditions like Leucoderma, Epilepsy, mental retardation, etc. Simple yogasanas and yogic techniques have been identified for treatment of arthritic disorders, diabetes, hypertension, obesity, gastrointestinal diseases and also to correct refractive errors.

Clinical studies on *Zeekheem-nafs* have shown that Unani medical system can provide an effective remedial measure. A simple preparation possessing the activity to relieve the hazards of *vajaul mafsil*. Positive results could be achieved from Unani medicine in *Zahur-e-Kuzmein*. *Yargan* (*Jaundice*) can be controlled by Unani Medicine. The study conducted by *Ustukhudoos* indicated its potentiality to relieve the symptoms of Ilteb-e-*Khaishoom-e-Muzmin*. *Atriial* indicated its curative effect in *Bars*. *Post-Bekh-Madar* has shown its effectiveness in *Zaheer Muzmein*. Pharmacognostic study of 15 single drugs used in Unani system of medicine has worked out. Chemical studies have been carried out on 76 drugs.

Standards for ten drugs used in Siddha system of medicine have been worked out. Clinical studies conducted on *Putrunoi* exhibited that Siddha drugs have scope to be used with advantage. However further studies are needed. Studies using certain Siddha remedies revealed that *manjal Kamalai* can be successfully treated. *Ambar meghugu* has shown a promising lead in the control of *sandhivata shoolai*. Likewise *Rasaganadhi Meghagu* indicated its action on Kalanjipadai.

Standardisation studies on 35 single drugs used in Homoeopathy have been carried out. Drug proving studies were completed on five homoeopathic drugs. Clinical studies conducted on amobeasis, bronchial asthma, tonsilitis, rheumatism, behavioural disorders, diabetes, hypertension, infective hepatitis, allergic manifestations, tratgeminal neuralgia, post-extraction complication proved that the Homoeopathic remedies have potential role in successful

treament. A number of drugs claimed to possess contraceptive potential have been screened. The results of study on Japakusum, Vidanga, and some other three coded drugs seem to show promising effects. Antifertility activity of Homoeopathic drug Pulsatilla and Caulophyllum is in progress, Major portions of Kent Repertory has been edited. Critical edition of Bhela samhita has been brought out. The following books of Unani system of medicine have to either translated from persian/arabic to urdu are getting ready for publication.

1. Rasal-e-Judia, Kitab-ul-abdal, Kitab-u-Umoda, Kitab-ul-Kuliyat—1, IV & V volume of Al-Havi and I volume of Kitab-al-Jane-e-Mufridal.

The Council has been publishing two quarterly journals i. e. Journal of Research in Indian Medicine, Homoeopathy and Yoga and Bulletin of Indian Institute of History of Medicine containing scientific articles and medico-historical importance. 41 scientific publications including monographs based on the study conducted by various research projects of the council have been brought out. Health statistics pertaining to rural areas selected on random basis in different States of India have been collected to work out disease atlas. disease proneness. and to work out suitable health programmes based on the needs, demands and at the same time harnessing local resources. The Council has evolved a medical kit containing simple easy to use remedies for many common ailments. The council has secured ten patents for the active principles isolated and negotiations are in progress with National Research Development Corporation to exploit them. The Council conducted various scientific Seminars and also participated in Indian Science Congress regularly and in the International conferences. As an outcome of the research carried out 1429 scientific articles were published in National and International journals. The council was recipient of Iranian Trophy for its exhibition under Bombay Natural History Society, Bombay. The Council had received the coveted award (First Prize) for excellence of printing of a book on Yoga, Science and Man. The work on certain clinical problems were much attracted and the units bagged gold and silver medals from various trusts and academies.

INSTITUTES/CENTRES/UNITS/ENQUIRIES WHERE WORK IS CARRIED OUT

The Central Council for Research in Indian Medicine and Homoeopathy has carried out the various research programmes under its aegis in the following Institutions etc.

1. Central Research Institute—
   1. Calcutta 2. Choruthuruthy 3. Hyderabad 4. Madras 5. Patiala.
2. Regional Research Institute—
   1. Bhubaneswar 2. Calcutta 3. Jaipur 4. Kottayam 5. New Delhi 6. Trivandrum.
3. Indian Institute of History of Medicine, Hyderabad.
4. Captain Srinivasamurti Research Institute, Madras.
5. Dr. A. Lakshmipathi Unit for Research in Indian Medicine, Madras.

6. Jawaharlal Nehru Ayurvedic Medicinal Plants Garden and Herbarium, Poona.
7. Amalgmated Unit, Tarikhet.
8. Regional Research Centre—
   1. Bangalore 2. Jhansi 3. Jogindernagar 4. Nagpur 5. Vijayawada.
9. Survey of Medicinal Plants Unit—
   1. Gauhati 2. Gwalior 3. Jammu 4. Patna 5. Rajpipla 6. Tirunelveli.
10. Standardisation Research Projects—
    1. Ahmedabad 2. Jamnagar 3. New Delhi 4. Patna 5. Varanasi 6. Vijayawada.
11. Pharmacognostical Research Project—
    1. Aligarh 2. Calcutta 3. Chandigarh 4. Jammu 5. Lucknow 6. Poona.
12. Chemical Research Project—
    1. Aligarh 2. Calcutta 3. Delhi 4. Hyderabad 5. Lucknow 6. Varanasi.
13. Pharmacology including Toxicity Study Projects—
    1. Bhopal 2. Bombay (3 projects) 3. Calcutta 4. Jodhpur 5. Lucknow 6. Meerut 7. Trivandrum 8. Varanasi.
14. Applied Drug Research Teams—
    1. Ahmedabad 2. Aligarh 3. Bombay 4. Gwalior 5. Lucknow 6. New Delhi 7. Pondicherry 8. Poona 9. Varanasi.
15. Clinical Research Projects—
    1. Ahmedabad (2 Projects) 2. Bangalore 3. Baroda 4. Bombay (2 projects) 5. Gauhati 6. Gudivada 7. Hardwar (2 projects) 8. Hyderabad 9. Jaipur 10. Jammu 11. Kettawal 12. Lucknow 13. Madras (3 projects) 14. New Delhi (4 projects) 15. Poona 16. Varanasi (9 projects) 17. Tirupati.
16. Survey and Surviellance Projects—
    1. Jamnagar 2. Kurukshetra 3. Varanasi 4. Vidisha.
17. Drug Proving Research Projects—
    1. Bhagalpur 2. Calcutta 3. Lucknow 4. Midnapore.
18. Family Planning Research Project—
    1. Bombay 2. Calcutta 3. Hyderabad 4. Jaipur 5. Lucknow 6. Trivandrum (2 projects) 7. Varanasi (2 projects) 8. Bhubaneswar 9. Jamnagar.
19. Literary Research Projects—
    1. Aligarh 2. Lucknow 3. Tanjore 4. Tirunelveli.
20. Documentation and publication Projects—
    1. New Delhi 2. Varanasi.
21. Research Scheme on Tibetian Medicine—
    1. Dharamshala 2. Leh.

दाँत

कविराज राधावल्लभ पन्त, भिषगाचार्यधन्वन्तरि
बी. आइ. एम. एस.
२९ बाजार लेन, नई दिल्ली—१

रेति—रद्यतेऽनेनेति रदनः बहुत्वे रदनाः, दशन्तीति दशनाः, दाम्यन्तीतिदन्ताः, रदन्तीतिरदाः इति चत्वारि दन्तानाम्। (अमरकोष)। हनूस्तदूर्ध्वं दशनाश्च दन्ता द्विजा रदास्ते रदनास्तथोक्ताः। (राजनिघण्टु ३९६ पृ०)। एक वर्ष की अवस्था के बालक के छैः दांत निकल आने चाहिये तथा डेढ़ वर्ष में बारह। दो वर्ष में सोलह और ढ़ाई वर्ष की अवस्था में दूध के बीस दांत निकल आने चाहिये। बच्चा जब छै वर्ष का होता है उस समय उसके पक्के दांत निकलने प्रारम्भ होते हैं। प्रथम चार पक्के दांत दूध के दांत के पीछे निकलते हैं फिर सामने दूध के दांत धीरे-धीरे उखड़ जाते हैं और उनके स्थान में पक्के दांत निकल आते हैं। 'द्विर्जायत इति द्विजः' दांतों के दुबारा निकलने के कारण इनको द्विज कहते हैं। 'यावत्स्वेव च मासेषु जातस्य सत उद्भिद्यन्तेंतावत्स्वेव च वर्षेषु पतिताः पुनरुद्भिद्यन्ते'। (काश्यप संहिता दन्त जन्मिकाध्याय पृ० ९) अर्थात् बालक के उत्पन्न होने पर जिन-जिन मासों में उसके दांत मांस चीरकर बाहर निकलते हैं उन २ वर्षों में गिरकर पुनः उग पड़ते हैं। श्रेष्ठ दांत—

'तथाष्टमेमासि सर्वगुणसम्पन्ना भवन्ति' (काश्यप संहिता दन्तजन्मिकाध्याय पृ० ९-१०) अर्थात् आठवें मास में जन्मे दांत सर्वगुण सम्पन्न होते हैं। और भी—स दीर्घायुषोऽष्टमान्मासात् परतो वा प्रवर्तते। इतरेषां तु-चतुर्थात्। ते ह्यतिबाल्येदन्तोत्पादवेदनयातिपीडा न सम्यक् सम्पूर्णधातुबला भवन्ति। अर्थात्—दीर्घायु होने वाले बालक का दन्तोद्भेद आठवें मास से अथवा उसके पश्चात् प्रारम्भ होता है। अल्प-आयु बालकों का चौथे मास से आरम्भ होता है। अत्यन्त छोटी अवस्था में दांतों के उत्पन्न होने की पीड़ा से आक्रान्त बालक परिपक्व धातु बल वाले नहीं होते अतः उनकी आयु अल्प होती है। छोटे बच्चों के दांतों की सफाई बड़ी सावधानी से करनी चाहिये। अनेक पुरुषों के दांत कुरूप होने में उनके बाल्यावस्था में दांतों की देखभाल उचित ढङ्ग से न होना एक कारण होता है। पक्के दांतों के निकलने के पूर्व ही दूध के दांत उखड़ जाने के कारण मसूढ़ों के खात खाली रहने से पक्के दांत निकलते समय टेढ़े या सामने, आगे को या पीछे को मुड़ जाते हैं। पक्के दांत बत्तीस होते हैं। पीछे के चार बड़े दांत सोलह या अठारह वर्ष तक नहीं निकलते। जीवन के अन्तिम समय तक पक्के दांतों को मुंह में रहना चाहिये। नाक-कान-आंख-हाथ-पैरों की अङ्गुलियों के समान दांत भी शरीर के अभिन्न अङ्ग हैं। अतः एक दांत का निकल जाना भी वैसा ही नुकसानदेह है जैसा कि किसी भी एक अङ्ग का अकर्मण्य हो जाना। दांतों का मुख्य कार्य भोजन को सूक्ष्म रूप में पीस तथा उसमें लालारस को भली प्रकार मिलाना है। दांतों से पाचन क्रिया आरम्भ होती है। दांतों से ही बोलने-चालने में भी सहायता मिलती है। जिन व्यक्तियों के दांत नहीं रहते वे अनेक शब्दों का उच्चारण भली प्रकार नहीं कर पाते। दांतों का उपयोग अत्यन्त आवश्यक है। दांतों के खराब होने से स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। मैले और रोगग्रस्त दांत स्वास्थ्य को नुकसान पहुंचाते हैं। जो व्यक्ति नित्य दांतों को साफ नहीं करता वह अपने दांतों को दांत कुरेदनी से कुरेद कर दांतों में लगे मैल को देखे तो उसके मैल की दुर्गन्ध से पता चल जायगा कि उस के दांतों में रोग के कीटाणु भरे पड़े हैं। दांतों के सड़ने के कारण—भोजन के कण जो भोजन चबाते समय दांतों के बीच लगा रह जाता है विशेषरूप से रात्रि के समय क्योंकि रात्रि में मनुष्य के मुख को कोई कार्य नहीं करना पड़ता है, अतः दांतों में लगे अन्न के कारण मुख में खमीर (सड़न) पैदा होती है। यह सड़न दांतों को खराब करने में विशेष सहायक होती है। जब एक दांत सड़ने लगता है तो

वह बराबर वाले दांत को भी बिगाड़ देता है जैसे, जामुन, शन्तरा, आम, लीची आदि के ढेर में एक भी गला फल हो तो वह पड़ोसी फल को अवश्य सड़ा देता है। भोजनके कण दांतों के बीच में मसूढ़ों में या दांतों की तह के छेदों में अटक जाते हैं तथा मसूढ़ों के किनारों में कीटाणु उत्पन्न होने लगते हैं। इससे मसूढ़े ढ़ीले होने लगते हैं तथा दांतों की जड़ें खुल जाती हैं और कीटाणु अपना मार्ग बना लेते हैं। जो लोग भोजन के पश्चात् मुख शुद्धि भली प्रकार नहीं करते उनके दांतों में अन्नकण लगे रह जाते हैं। इसीलिये धार्मिक ग्रन्थों में व्रतोपवासादि के अन्त में अछिद्र (पूर्ति) में 'दतान्तर्विलग्नं वा' यहां दांतों के मध्य में संलग्न अन्नादि का प्रायश्चित लिखा है। ऋषि मुनियों ने वैज्ञानिक सिद्धान्तों को दैनिक कार्यों में इस प्रकार सम्मिलित कर दिया था कि हर व्यक्ति उस नियम का भली प्रकार पालन कर सके। परन्तु आज का समाज इन बातों का (मन्त्र-तन्त्रों का) बिना सोचे-समझे मजाक उड़ाता है और कहता है कि मन्त्र-तन्त्र में क्या रखा है यह ढकोसला है। यहां 'मणिमन्त्रौषधीनामचिन्त्यः प्रभावः' अर्थात् मणि (पुखराज नीलम आदि) मन्त्र और औषधियों का अचिन्तनीय प्रभाव होता है, ऐसा लिखा है। ऋषियों के विषय में भी—वैशम्पायन चरक, अग्निवेशतन्त्र के प्रति सस्कार में लिखते हैं—

रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये।
येषां त्रिकालममलंज्ञानमव्याहतं सदा ॥१८॥
आप्ताः शिष्टा विवुद्धास्ते, तेषांवाक्यमसंशयम्।
सत्यं वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमाः ॥१९॥
(अ० ११, पृ० १४७)

अर्थात् रजस्तम मुक्त, तपोज्ञानयुक्त, त्रिकालज्ञ, अमल और अव्याहतज्ञान सम्पन्न आप्त, शिष्ट, परमज्ञानी ऋषि थे। उनका ज्ञान तथा उपदेश निभ्रन्ति और सत्य था। अस्तु धार्मिक कृत्यों के बिना दन्तधावन करने से जो पाप होता है उसका प्रायश्चित अछिद्र से किया जाता है। शौच के पश्चात् मुख प्रक्षालन करना उचित है। ब्रश या दातुन से दांतों को साफ करना चाहिये। दातुन का ब्रश (कूंची) अत्यन्त बारीक होना चाहिये। दातुन के सिरे को चार-पाँच मिनट तक भली प्रकार दांतों से चबा लेने से उत्तम ब्रश बन जाता है। यदि ब्रश के रेशे मोटे रह जाते हैं तो उनसे मसूढ़े छिल जाते हैं। दातुन में एक खराबी यह है कि इससे दांत पीछे की ओर से साफ नहीं होते। ब्रश से दांत आगे-पीछे दोनों ओर से साफ हो जाते हैं। ब्रश का व्यवहार करें तो कड़े बालों वाला लेना चाहिये। आगे-पीछे दोनों ओर से दांत इसी प्रकार से साफ किये जायं। ब्रश को इस प्रकार फेरने से दांतों के बीच में कोई वस्तु नहीं रहने पाती। ब्रश काम में लेने के बाद एक शीशी में जिसमें कारबोलिक अम्ल का घोल भरा हो, रखना चाहिए। सर्वसाधारण ब्रश का उपयोग तो करता है परन्तु वह उसको विधि के अनुसार न रख सकने के कारण रोग-संक्रमण में सहायता करता है। अतः दातुन का प्रयोग ही उपयुक्त है। नित्य ताजी मिल जाती है। दन्तधावनमन्त्र—औदुम्बरेण दन्तान्धावेत अन्नाद्यायव्यूहध्व ँ सोमोराजाऽयमागमत्। स मे मुखं प्रमार्क्ष्यतेयशसा भगेन चेति (गृह्यसूत्र)। गूलर की बारह अंगुल लम्बी तथा कनिष्ठिका के अगले भाग के समान मोटी दातुन को उक्त मन्त्र का उच्चारण करता हुआ करे तो मुख की शुद्धि होती है। यश और ऐश्वर्य प्राप्त होता है।

दन्तधावन की आवश्यकता—

मुखे पर्युषिते नित्यं भवत्यप्रयतोनरः।
दन्तधावनमुद्दिष्टं जिह्वा लेखनिका तथा ॥ (अत्रि)

मुख में दातुन न करने से मुख सदा अपवित्र होने पर मनुष्य सदा आलस्ययुक्त रहता है। अतः दातुन तथा जिह्वालेखनी का विधान किया है। और भी—

तत्रादौ दन्तपवनं द्वादशांगुलमायतम्।
कनिष्ठिकापरीणाहमृज्वग्रन्थिकमव्रणम् ॥
अयुग्मग्रन्थि यच्चापि प्रत्यग्रम् शस्तभूमिजम्।
आपोत्थिताग्रम् द्वौ कालौ सायं प्रातश्चबुद्धिमान्।
भक्षयेद्दन्तपवनंदन्तमांसान्यवाधयन ॥ (भा० प्र०)
अवेक्ष्यतु म् च दोषं च रसवीर्यं च योजयेत्।
कषायं कटुकं तिक्त मधुरं प्रातरुत्थितः* ॥
निम्बश्च तिक्तके श्रेष्ठः कषाये खदिरस्तथा।
मधुको मधुरे श्रेष्ठः करञ्जः कटुके तथा ॥
(धन्वन्तरि)

* पाठ भेद।

बारह अंगुली प्रमाण की दातुन जो कनिष्ठिका अंगुली के अग्रभाग के समान मोटी सीधी मृदु, गाठ तथा व्रणरहित गांठें असमान हों तथा प्रशस्त भूमि की हो, ऐसी दातुन नित्य प्रातः सायं दोनों समय कूंचीयुक्त दातुन से करें। आनन्दकन्द श्लोक ४१ अष्टादशोल्लास में 'दशांगुलं समुद्दिष्टंनारीणां चतुरङ्गलम्', स्त्रियों के लिए चार अंगुल का प्रमाण लिखा है। कूंची से इस प्रकार दांत साफ करे कि मसूढ़ों में बाधा (रगड़) न लगे। ऋतु, दोष और रस-वीर्य देख कर दातुन का प्रयोग करे। रस में कसैली, कटु, तिक्त, मधुर...तिक्त में नीम, कषाय में खैर, महुवे की मीठी, करञ्ज की चरारी दातुन श्रेष्ठ होती है। दन्तधावन के गुण— निहन्ति गन्धवैरस्यजिह्वा दन्तास्यज मलम्। निष्क्रुष्य रुचिमधत्ते सद्योदन्त विशोधनम् ॥ (च० सू० ५-६६) दातुन करना मुख की दुर्गन्धि तथा विरसता को दूर करती है और जिह्वा, दन्त तथा मुख के मैल को दूर करती है, रुचि को उत्पन्न करती है तथा दांतों को शीघ्र साफ करती है। दन्तशोधनार्थ शोधनचूर्ण—

क्षौद्रव्योष त्रिवर्गाक्त सतैल सैन्धवेन च।
चूर्णेन तेजोवत्याश्च दन्तान्नित्यं विशोधयेत् ॥
रास्नातेजोवतीधान्यशठी कुष्ठवचान्वितैः।
रोचना चन्द्रकंकोलैचूर्णम् दन्त विशोधयेत् ॥
एकैकं घर्षयेद्दन्तं मृदुना कूर्चकेन च।
दन्तशोधनचूर्णेन दन्तमासान्यबाधयत् ॥
तद्वौगन्ध्यौपदेहौ तु श्लेष्माणं चापकर्षति।
वैशद्यमन्नाभिरुचिं सौमनस्यं करोति च ॥
(सुश्रुत चि० स्था० अ० २४)

तेजोवती के चूर्ण को शहद, सोंठ, कालीमिर्च, पीपल छोटी, त्रिसुगन्धि—'तदेव त्रिसुगन्धिस्यात्रिजातकम-केशरम्' (वैद्यकपरिभाषाप्रदीप) अर्थात् दालचीनी, इलायची छोटी, तेजपात तैल तथा सैंधानमक मिलाकर नित्य दांतों की सफाई करें। रास्ना, तेजोवती, धनियां, कचूर, कूठ, घुड़वच, वंसलोचन, कपूर तथा कंकोल इनके चूर्ण से एक-एक दांत को मृदु कूंची से इस प्रकार घिसें कि मसूढ़ों पर रगड़ न लगे। दातुन करने से मुख की बदबू और दांतों का मैल तथा कफ दूर होता है। दांतों में चमक, अन्न में रुचि तथा मन में प्रसन्नता उत्पन्न होती है। दन्तधावन में निषिद्ध वस्तु—कुशं काशं पलाशं च निशुपं यस्तु भक्षयेत (गर्ग) कुश, काश, ढ़ाक की दातुन...गुवाकस्तालहिन्तालौ केतकश्च बृहत्तृणः। खर्जूरं नारिकेलं च सप्तैते तृणराजकाः॥ तृणराज-समुत्पन्नं यः कुर्याद्दन्तधावनम्। नरश्चाण्डालयोनिः स्याद्यावद्गङ्गां न पश्यति॥ (भावप्रकाश) सुपारी ताल, हिन्ताल (तालविशेष), केवड़ा, बांस, खजूर और नारियल इन सात को तृणराज कहते हैं। इनकी दातुन करने से **मनुष्य तब तक चाण्डाल रहता है जब तक गंगा का दर्शन न करे।** स्वाद्वम्ल लवणं शुष्कं सुषिरं पूति पिच्छ-ताम्। पलाशमासनं दन्त धावनं पादुकं त्यजेत्॥ (वृद्ध वाग्भट)। स्वादु अम्ल लवण (क्षारवृक्ष की) सूखी, पोली, सड़ी, पिच्छिल ढाक अश्वकर्ण की खड़े-खड़े दातुन न करे। और भी—अष्टाङ्ग संग्रह सूत्रस्थान दिनचर्या अ० ३, श्लो० २०-२३ :

नैवश्लेष्मातकारिष्टविभीतधवधन्वजात्।
विल्ववञ्जुलनिर्गुण्डीशिग्रुतिलवकतिन्दुकान् ॥
कोविदारशमीपीलुपिप्पलेगुदगुग्गुलून।
पारिभद्रकमम्लीकामोचक्यौ शाल्मलीं शणम्।
स्वद्वम्ललवणं शुष्कं सुषिरं पूतिपिच्छिलम्।
पालाशमासनं दन्तधावनं पादुके त्यजेत्॥
दन्तान्पूर्वमधो घर्षेत्प्रातः……

ल्हेह सुवे की, रीठे की, बहेड़े की, धव की, करीर की, बेल की, बेंत की, सिम्हाल की, सहजनें की, लोध्र की, तेन्दु की, कचनार, शमी पीलू, पीपल, हिंगोट, गूगल, फरहद, इमली, मोचक्यौ, सेम्हल और सन की दातुन न करें। आज कल लोग प्रातःकाल के समय सड़कों पर चलते-फिरते दातुन तथा ब्रश करते देखे जाते हैं। इस पर विचार करना चाहिये। दन्तधावन निषेध—फलान्य-म्लानि शीताम्बुरूक्षान्नं दन्तधावनम्। तथातिकठिनान भक्ष्यान्दन्तरोगी विवर्जयेत्॥ (शालाक्यतन्त्र)। दन्त-रोगियों में खट्टे फलों का सेवन, शीतलजल, रूक्षान्न (सत्तू आदि भूंजे), दातुन करना, अत्यन्त कठिन पदार्थों को चबाना वर्जित है। और भी—नाद्यादजीर्णवमथु-

—रेखाङ्कित विषय विचारणीय है क्योंकि सर्वत्र सारे भूमण्डल में तो गंगा दर्शन उपलब्ध न हो सकेगा।

श्वासकासज्वरार्दिती* । तृष्णास्यपाकहृन्नेत्रशिरः* कर्णामयी च तत् ॥ न खादे द्गलताल्वोष्ठजिह्वादन्तगदेषु तत् । मुखस्यपाके* शोथे च श्वासकासवमीषु* च ॥ दुर्बलोऽजीर्णभुक्तश्च* हिक्कामूर्च्छा मदान्वितः । शिरोरुजार्तस्तृषितः श्रान्तोयानः क्लमान्वितः ॥ अजीर्णरोगी*, वमनयुक्त* श्वास कास* ज्वर अर्दित (मुख में लकुवा मार जाना) तृषायुक्त मुखपाक* हृदय-नेत्र-शिर-कान के रोग वाला दातुन न करे । गल तालु ओष्ठ जीभ तथा दांत के रोगों में मुख के पकने* पर शोथ में श्वासकास* आदि युक्त दुर्बल अजीर्णी*, जिसने खाना खाया हो, हिक्का, मूर्छा, मदयुक्त (नशा किया हो) सिरदर्द, प्यासा, थका, सवारी पर चलने वाला क्लम से युक्त इन सबको दातुन नहीं करनी चाहिये । दन्तकाष्ठ के न मिलने पर—अभावेदन्तकाष्ठस्यनिषिद्धदिवसेषु च । अपांद्वादशगण्डूषैर्मुखशुद्धिर्विधीयते । (नागदेव, क्षेमकुतूहल) दन्तकाष्ठ के अभाव में, निषिद्ध दिनों में—प्रतिपद्दर्शषष्ठीषु नवम्यांरविवासरे । दन्तानांकाष्ठसयोगे दहत्यासप्तमं कुलम् ॥ (व्यास) [प्रतिपदा, अमावस्या, षष्ठी, नवमी तथा रविवार के दिन दांतों में काष्ठ (दातुन) के संयोग से सात कुलों की हानि होती है] जल के बारह गण्डूष (कुल्ले) करने से मुखशुद्धि अच्छी होती है । शर्करा का अधिक मात्रा में सेवन करना उतना अहितकर नहीं है जितनी हानि शर्करा का सेवन करते समय उसे मुख में अधिक समय तक रखने से होती है। यथा—चाकलेट, लेमनड्रोप्स, च्युइङ्गम, बिस्किट, आइसक्रीम टोस्ट, सूखे फल (काजू, पिश्ता, चिरौंजी, अखरोट आदि) ये दांतों से चिपक जाते हैं। भोजन में शर्करा अधिक होने से दन्तक्षरण भी अधिक होता है। एक सर्वेक्षण द्वारा यह विदित हुआ है कि जो व्यक्ति दिन में दो बार भोजन करते हैं उनके दांत, कई बार भोजन करने वालों की अपेक्षा कम क्षरित होते हैं। शतपथब्राह्मण में इसका उल्लेख है—तस्मादुसायंप्रातराश्येव स्यात्स यो हैवं विद्वान्त्सायंप्रातराशीभवति सर्वं हैवायुरेति ॥२-४-२-६। अर्थात् सायं और प्रातः दो काल खानेवाला पूर्ण सौ वर्ष की आयु प्राप्त करता है। यहां दो बार खाने का विधान मिलता है । प्राचीन काल में दन्तविज्ञान बड़ा उन्नत था । इसका प्रमाण ब्राह्मणग्रन्थों में—अदन्तक, पूषा, पूष्ण के प्रशीर्ण दांतों की चिकित्सा अश्वियों ने की । चरक चिकित्सा रसायनपाद १-४२ । दक्षप्रजापति के यज्ञ में शिव ने भगनेत्र हरे । ब्राह्मणग्रन्थों में 'अन्धोभगः' पाठ मिलता है । अश्वियों ने इनकी चिकित्सा की । चरक चिकित्सा रसायनपाद १-४२ । भुजस्तम्भ चिकित्सा चरक चिकित्सा रसायनपाद १-४२ । इन्द्र की स्तब्धभुजा की अश्वियो ने चिकित्सा कर रोग मुक्त किया । प्रशीर्णा दशनः पूष्णोनेत्रे नष्टे भगस्य च । वज्रिणोऽभूतभुजस्तम्भः पुनस्ताभ्यां चिकित्सितः ॥ (चरक चिकित्सास्थान) परन्तु दन्त रोगों के विषय में—'महासौषिर इत्येषः सप्तरात्रान्निहन्त्यसून' (भावप्रकाशे भोजः) कराल रोग में संग्रहकार का नाम भी भावप्रकाश में मिलता है । इन प्रमाणों से पता चलता है कि भोज और संग्रहकार के दन्त रोगों पर निबन्ध थे । प्रशस्तदन्तपवन तथा उसके प्रयोग से लाभ—अर्केवीर्यं वटेदीप्तिः करञ्जे विजयोभवेत् । प्लक्षेचैवार्थ सम्पत्तिर्बदर्यां मधुराशनम् । खदिरे मुखसौगन्ध्यबिल्वे तु विपुलं धनम् । उदुम्बरे तु वाक्सिद्धिराम्रे त्वारोग्यमेव च ॥ (भावप्रकाश) कदम्बे तु धृतिर्मेधा चम्पके दृढ़वाक्श्रुतिः । शिरीषे कीर्त्ति सौभाग्यमायुरारोग्यमेव च । अपामार्गे धृतिर्मेधा प्रज्ञाशक्तिस्तथासते । दाड़िमाभ्यां सुन्दराकारः कुकुभेकुटजेतथा । जातितगरसन्दारै दुःस्वप्न च विनश्यति ।। आंक की दातुन करने से शक्ति, वट की दातुन करने से दीप्ति (अग्नि तथा प्रभावृद्धि), करञ्ज की दातुन करने से जय, प्लक्ष की दातुन करने से (पाखर, पिलखन) अर्थ सम्पत्ति और बेर की दातुन करने से मिष्ट भोजन की प्राप्ति होती है । खैर की दातुन करने से मुख में सुगन्ध, बेल की दातुन करने से अत्यन्त धन-प्राप्ति, गूलर की दातुन करने से वचनसिद्धि तथा आम्र की दातुन करने से आरोग्य प्राप्त होता है, कदम्ब की दातुन करने से धैर्य तथा स्मरण शक्ति चम्पे की दातुन करने से वाणी तथा शब्द की दृढ़ता, शिरस की दातुन करने से कीर्त्ति, सौभाग्य, आयु की वृद्धि और आरोग्य, चिरचिरे की दातुन करने से धैर्य तथा धारणशक्ति, विजयसार की दातुन करने से सुन्दरता, अर्जुन तथा कुड़े की दातुन करने से सुन्दरस्वरूप का लाभ, चमेली, तगर तथा मन्दार की दातुन करने से दुष्ट स्वप्न

*पुनरुक्ति हो गई है सम्भवतः अन्य पाठ होगा ?

आना बन्द होते हैं। उपरोक्त पृथक्-पृथक् वृक्षों के दन्त-काष्ठों में जो गुण वर्णित हैं वे अन्य दन्त-चिकित्सा में नहीं मिलते। दन्त - रोग चिकित्सा तो बिल्कुल नहीं मिलती। अष्टाङ्ग चिकित्सकों की भांति इनके भी ग्रन्थ अलग थे। हिन्दी भाषा में दन्तविज्ञान नामक पुस्तक कविराज भास्करनारायण भागवत आयुर्वेदाचार्य डी. आई. एम. एस. झांसी आयुर्वेद विश्वविद्यालय का सुन्दर प्रयास बन पड़ा है। इस प्रकार के प्रयास की अत्यन्त आवश्यकता है। लेख समाप्ति पर आनन्दकन्द देखने को मिला। अनायास ही अष्टादशोल्लास में दन्तकाष्ठ पर दृष्टि पड़ी— अतः उसको मैं यहां देना उचित समझता हूं—

ततः शुद्धतनुर्भूत्वा दन्तकाष्ठं समाचरेत् ॥३१॥
आयुर्धीकीर्त्तिवर्चांसिप्रजापशुधनानि च।
ब्रह्मज्ञता बलारोग्य देहि मह्य वनस्पते ॥३२॥
दन्तानां शोधनार्थाय हरामि त्वां पुनीहि माम्।
मन्त्रेणानेन गृह्णीयाद्यथार्हं दन्तकाष्ठकम् ॥३३॥
अर्कापामार्गखदिरकरञ्जप्लक्षपञ्चकम्।
न्यग्रोधाञ्जनवासन्तीजात्याम्रातकजाम्बवम् ॥३४॥
आम्राशोकार्जुनोदुम्बरपालाशनिम्बकम्।
सर्जदाडिमकादम्बदारुणि हयमारकः ॥३५॥
अरिमेदश्च सरलशिरीषाङ्कोलकासनम्।
व्याघ्रीमधूक श्रीपर्णीबदरीवृषभादिकम् ॥३६॥
एतेषामेकमादाय यथालाभं नुवाच्यतः।
अथवा शुद्धभूजातं कादम्बं मूलमेव वा ॥३७॥
कटुतिक्तकषायाणामन्येषां भूरुहामपि।
कनिष्ठिकाग्रकस्थौल्य द्वादशाङ्गुलमायतम् ॥३८॥
सत्वक् सार्द्रमृजुं शुद्धं समच्छेदमपर्वकम्।
दन्तैर्वा शकुलनायश्मशानावासकूचितम् ॥३९॥
क्षुण्णाग्रं मृदुलं कार्यं दन्तकाष्ठं सुरेश्वरि।
अयं विप्रोचितो धर्मो नृपादीनां तु योषिताम् ॥४०॥
क्रमान्नवाष्टकासप्तचतुरंगुलकाः स्मृताः।
दशाङ्गुलं समुद्दिष्ट नारीणां चतुरङ्गुलम् ॥४१॥
प्रातश्च भोजनान्ते च द्विकालंदन्त धावनम्।
वराव्योषत्रिजातैश्च सक्षौद्रैयुक्तकूर्चिकान् ॥४२॥
वामाधोदन्तपङ्क्तिङ्च पूर्वमन्द च घर्षयेत्।
तदूर्ध्वदन्तपङ्क्तिञ्च दन्तमांसमबाधयत् ॥४३॥
आयुष्कामस्तु पूर्वास्यश्चासनस्थश्च वाग्यतः।
धनार्थी दक्षिणास्यस्तु कीर्त्तिकामस्तु मण्डितः ॥४४॥
पश्चिमास्योदन्तशुद्धिंकुर्यादुन्मुखः सदा।
अष्टाङ्गुलं मुमुक्षूणामङ्कोलस्य प्रशस्यते ॥४५॥
अर्केण दीप्तिजननं वश्यं स्याद्दन्तशूलहृत।
अपामार्गेण तुष्टिः स्याद्वृद्धि भूऋणमोचनम् ॥४६॥
खदिरेणार्थलाभश्च भवेद्दन्तास्यरोगहृत्।
करञ्जेनास्यपूतिघ्नं लक्षीकृत्वा रणेजयः ॥४७॥
प्लक्षेण कान्तिजननं चम्पकेनास्यपूतिहृत्।
न्यग्रोधेनव्रणघ्नं स्याद्भाग्यकृद्दन्तदार्दयंकृत् ॥४८॥
अर्जुनेनाधिकं भाग्यदन्तानां शोधनं भवेत्।
वासन्त्या वाञ्छितार्थः स्याज्जाति सर्ववशकरी ॥४९॥
आम्रातको धान्यवृद्धि जम्बूः श्रीवृद्धिकृद्भवेत्।
चूतः सौभाग्यदायी स्यादशोकः शोकनाशनः ॥॥५०॥
इन्द्राणी दन्तशूलघ्ना यज्ञाङ्गो ववत्रशुष्ठिदः।
पलाशो वश्यकृद् वृष्यो निम्बेन
(म्बस्तु) रुचिवित्तदः ॥५१॥
सर्जः पापहरो भाग्यं शत्रुघ्नो गुरभक्तिदः।
दाड़िमी प्रीतिकृद्देवदारुः श्रीवश्यदः शुभः ॥५२॥
दन्तशर्करोहृद्यो हयमारो विवृद्धिदः।
अरिमेदो दन्तकान्ति सरलो दन्तहर्षहृत् ॥५३॥
श्रीवश्यदः शिरीषस्तु लक्ष्मीञ्च स्थिरतांनयेत्।
अङ्कोलो दीप्तिजनको दन्तानां भाग्यदायकः ॥५४॥
असनः श्रीवश्यकरो व्याघ्री चायुष्यवर्धिनी।
मधूकं पुत्र पौत्राणां वृद्धि श्रीपर्णकाद्युतिम् ॥५५॥
करोतिवदरी वश्यं वासःराजवशंकरी।
कृताधिवासं प्रागेव दन्तकाष्ठं महोत्तमम् ॥५६॥
पथ्याचूर्णयुतेक्षिप्त्वा गोमूत्रे सप्तवासरम्।
त्रिजातकोष्ट (ष्ण) मरिचमध्वञ्जनयुतेऽम्भसि ॥५७॥
सनागकेशरेक्षिप्त्वा दन्तकाष्ठं क्षणं पुनः।
उद्धृत्य शोधयेद्दन्तान् घर्षणद्रव्यसंयुतान् ॥५८॥
दन्तहर्षप्रजननं मुखकान्तिकरं शुभम्।
आस्य वैरस्यवैगन्ध्यजनन (हरणं)
श्लेष्मनाशनम् ॥५९॥
रुच्यंपित्तहरं श्रोत्रनाड़ीशोधनकारणम्।
पावनंपुण्यजननं संभवे (जे) द्दन्तधावनम् ॥६०॥
ज्वरच्छर्दिश्वासकासाजीर्णार्दितमदभ्रमाः।
मूर्च्छास्यिापाकहृन्नेत्रश्रोत्रमूर्धरुजस्तथा ॥६१॥

तृणक्लेदयुता ये च बलहीनातितारिणः ।
एतैश्चदन्तकाष्ठानि वर्जनीयानि पार्वति ॥६२॥
धन्वयासोथवाक्षश्च तितिडोशिग्रुकद्वयम् ।
शेलुशालम (लि) काश्वत्था निचुलो
विल्वतिन्दुकौ ॥६३॥
पीलुः शमी गुग्गुलुश्चमल्लिकातिन्दुकेङ्गुदी ।
पलाशः कोविदारश्च नकुलिश्वित्रकाकुली ॥६४॥
मोचा च किंशुकः शाकः फेनिलस्तृणकस्तथ ।
त्वक्सारशणखर्जूण (र) पूगतालाश्चकेतकी ॥६५॥
महावटो नारिकेरो (प्र) हेलैरण्डेकोड्डुहः ।
जीर्णं सपिच्छिलच्छिद्रं सपर्णं पूतिगन्धिकम् ॥६६॥
निस्त्वकञ्च तथा शुष्कमज्ञातंकण्टकान्वितम् ।
एतानि दन्तकाष्ठानि हितार्थी परिवर्जयेत् ॥६७॥
जन्मर्क्षके विपत्तारे प्रत्यरं (र्या) च वधर्क्षके ।
चन्द्राऽष्टमे च प्रतिपन्नवमीद्वादशीषु च ॥६८॥

पक्वषष्ठः प्रजाद्वेषी वर्जयेद्दन्तधावनम् ।
अकीर्तिर्भास्करे राजमान्यः सोमे क्षितिः कुजे ॥६९॥
कान्तिर्बुद्धिः सुखंजीवे भाग्यं शुक्रे शनौशुचि ।
निषिद्धवारनक्षत्रे तद्धीनं दन्तधावनम् ॥७०॥
अलब्धे सति शुद्धाव्य (स्य) मङ्गुल्यापरिघर्षयेत् ।
सूक्ष्मं ज्योतिष्मतीचूर्णं वराभिर्वा कटुत्रयैः ॥७१॥
युक्तक्षौद्रयुतंवापि स तैलंवा स सैन्धवम् ।
अङ्गुल्या च समादाय शनैर्दन्तानि घर्षयेत् ॥७२॥
तद्लाभे शुद्धपर्णकटुतिक्तकषायकैः ।
घर्षयेद्दन्त पङ्क्तश्च ततः कोष्ण जलेन च ॥७३॥
कुर्यात् द्वादशगण्डूषंमुखशुद्धिर्भवेत्प्रिये ।
विषदुष्टि च दौर्गन्ध्यश्लेष्मघ्नं दन्तशोषहृत् ॥७४॥
दृढ़त्वंदन्तपङ्क्तेश्च भवेदङ्गुलिघर्षणात् ।

एलर्जी रोग एवं उनकी चिकित्सा

राजेश गुप्त,
३/२१ कौंसिल आफ सायन्टीफिक
एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च, लखनऊ

भारतवर्ष में लगभग पाँच करोड़ व्यक्ति भाँति-भाँति के रोगों से पीड़ित हैं। इनमें दमा, जुकाम, एलर्जी-जन्य त्वचा रोग तथा शरीर के अन्य तंत्रों की कार्य-प्रणाली के एलर्जी रोग भी आते हैं जो हवा में मिश्रित विभिन्न प्रकार के परागकणों, कवक जीवाणुओं और घरेलू धूल के कारण होते हैं। यह एलर्जी-जन्य रोग शरीर के किसी भी हिस्से में कब हो जाय और कौन-कौन सी शारीरिक तकलीफें या बीमारी फैला दे, कहना कठिन है। साथ ही इन रोगों के बारे में यह भी सच है कि ऐसा कोई बिरला ही होगा जिसका एलर्जी से अब तक पाला न पड़ा हो।

एलर्जी शब्द का अर्थ है अतिशय अनुभूति अथवा तीव्रग्राहिता। आपको किसी के प्रति एलर्जी है तो इसका अर्थ है कि आपमें उस पदार्थ के प्रति अनावश्यक रूप से अनुभूतिशीलता अथवा तीव्रग्राहिता है। स्वयं में यह कोई हानिकारक चीज नहीं है पर आपका इस पर जहर की तरह असर होता है जो विभिन्न रूप ले सकता है और इस गड़बड़ी का तात्कालिक कारण शरीर की किन्हीं कोशिकाओं से हिस्टेमाइन या हिस्टेमाइन 'एच' जैसे पदार्थ का निकलना है। हिस्टेमाइन एक रसायनिक पदार्थ है जिससे नाड़ियों में संकोचन या ऐठन पैदा हो सकती है। जैसे दमा के समय ब्राँकियल ट्यूब को नियंत्रित करने वाली नाड़ियाँ संकोचन का शिकार हो जाती हैं जिससे वायु न भीतर जा पाती है और न बाहर निकल पाती है और रोगी को साँस के लिये संघर्ष करना पड़ता हैं।

एलर्जी जन्य रोगों में साधारणतया पीड़ा एक निश्चित समय पर होती है और उसकी पुनरावृत्ति की भी सम्भावना प्रायः उसी समय रहती है। रात के बारह बजे के बाद, सुबह उठते ही या दोपहर को सोकर उठने पर जो तकलीफ होती है, हो सकता है वह धूल की एलर्जी से हो। घर के अन्दर की धूल बाहर के मुकाबले अधिक परेशान करती है क्योंकि इसमें कार्बनिक पदार्थ ज्यादा होते हैं। धूल के कारण होने वाले एलर्जी रोगों में मरीज को कष्ट सम्पूर्ण वर्ष बना रहता है जो सूखे मौसम में और सफर के दौरान बढ़ जाता है। सूर्योदय या सूर्यास्त के समय होने वाली तकलीफ फूलों के परागकणों से होने वाली एलर्जी के कारण होती हैं क्योंकि इस समय परागकण अधिक मात्रा में हवा में उड़ते रहते हैं। इनके द्वारा होने वाले एलर्जिक रोगों में मरीज़ को कष्ट किसी विशेष मौसम या किसी विशेष महीने में ही होता है जब वह फूल खिलते हों जिनके परागकणों से आप को एलर्जी होती है।

गर्म और आर्द्र जलवायुवाली जगह में फफूंद बहुत अधिक मात्रा में उगती है। यदि किसी व्यक्ति को फफूंदों से एलर्जी होती है तो ऐसी जलवायु वाली जगहों में उसकी तबियत खराब हो सकती है। एकाएक बादल छा जाने पर भी यह तकलीफ हो सकती है तथा ऐसे घरों में या कमरों में जहाँ पुराना फर्नीचर किताबें या कपड़े पड़े हों, वहां भी उन्हें तकलीफ हो सकती है। इस प्रकार के एलर्जिक लोगों को खटाई वाले तथा खमीर से तैयार किये गये खाद्य पदार्थों से भी दूर रहना चाहिये।

एलर्जी जन्य रोग कभी एक वस्तु के कारण होते हैं और कभी एक साथ बहुत सारी वस्तुओं के सम्पर्क में आने से होते हैं। तब यह अलग-अलग चीजें अपने-अपने ढंग की तकलीफें पैदा करती हैं जिनका मिलाजुला प्रभाव बड़ा गम्भीर लक्षण पैदा करता है। यही कारण है कि जिस भोजन या वातावरण से दिन में आपको कोई तकलीफ नहीं होती, उसी भोजन या वातावरण से रात में आपकी तबियत खराब हो सकती है। इस तकलीफ का कारण धूल जैसी एलर्जी पैदा करने वाली चीजों का

प्रभाव जुड़ जाना है । इसलिये अच्छा यही है कि जिन वस्तुओं से एलर्जी हो उनको न खाया जाय तब तकलीफ कम हो सकती है ।

इसके अलावा एलर्जी के साथ एक महत्वपूर्ण बात यह है कि कुछ खास कारणों से एलर्जी के लक्षण तीव्र हो जाते हैं, जैसे, तापक्रम के अचानक बदलाव से (तेज धूप से ठंढी छांव में आने पर), इत्र की तीखी गन्ध से, बहुत जोर से हंसने, चिल्लाने, सीढ़ियां चढ़ने, डर व मानसिक तनाव से । अतः एलर्जी से बचने के लिये इन कारणों को नियंत्रण में रखना चाहिये ।

एलर्जी के इलाज में पहला कदम होता है तकलीफ देनेवाली वस्तुओं (एलर्जेन) की पहचान । जिनकी पहचान कर लेने के बाद उन वस्तुओं से दूर रहना चाहिये, लेकिन परागकणों, फफूंद और धूल से दूर रहना असंभव है । अतः इनके द्वारा एलर्जी उत्पन्न होने के कारणों का विधिवत अध्ययन जरूरी है जिससे उनके द्वारा उत्पन्न एलर्जी का ठीक ढंग से उपचार हो सके ।

परागकणों और फफूंद से एलर्जी निर्धारण करने के लिए हमें तीन मुद्दों पर कार्य करना चाहिये—पहले हमें उस क्षेत्र के अधिक संख्या में पाये जानेवाले विभिन्न प्रकार के पौधों, खरपतवारों, घासों तथा वृक्षों का ज्ञान कर लेना चाहिये जो अधिक मात्रा में शुष्क, हल्के, परागकण उत्पन्न करते हों क्योंकि इस प्रकार के परागकण हवा में धूल के कणों की भाँति ही उड़ते रहते हैं और श्वास के साथ हमारे शरीर में घुसकर एलर्जी जन्य बीमारियों के कारण बनते हैं ।

हवा में कितने व किस प्रकार के परागकण उपस्थित हैं इसकी गणना व पहचान करने के लिये अमेरिकी वैज्ञानिक डाक्टर ओ. सी. डरहम द्वारा निर्मित यन्त्र का उपयोग करना चाहिये । इस यन्त्र में २५ सेंटीमीटर अर्धव्यास की दो स्टेनलेस स्टील की प्लेटें एक दूसरे से ८ सें.मी. की दूरी पर, ३ बड़े पेचों द्वारा, लगा दी जाती हैं । नीचेवाली स्टेनलेस स्टील की प्लेट पर सीसे की स्लाइड लगाने के लिये एक होल्डर लगा होता है । यह यन्त्र एक मीटर लम्बी छड़ पर सीधा खड़ा किया जाता है जिसका तला मजबूत लोहे का बना होता है । इस यन्त्र को किसी एक ऊंचे [illegible] की छत पर सीसे की स्लाइड पर वैसलीन लगाकर रखा जाता है और प्रत्येक २४ घंटे के अन्दर जितने परागकण उस सीसे की स्लाइड पर जमा होते हैं उनकी पहचान व गणना कर ली जाती है । इसके बाद अन्त में यह पता लगाया जाता है कि किस परागकण के कारण अमुक व्यक्ति या रोगी में दमा हुआ है ।

भारत में कार्य

हमारे देश में इस दिशा में काफी प्रगति हुई है तथा वैज्ञानिकों द्वारा दिल्ली, वाराणसी, लखनऊ, अल्मोड़ा, जयपुर, पूना और गोहाटी आदि शहरों में बीमारी फैलानेवाले परागकणों की पहचान व गणना कर ली गई है एवं अन्य शहरों में ऐसी ही गणना करने का प्रयास किया जा रहा है । दिल्ली के वल्लभभाई पटेल चेस्ट इंस्टीट्यूट, लखनऊ के किंग जार्ज मेडिकल कालेज और जयपुर के मानसिंह मेडिकल कालेज में इन वायु-जन्य बीमारियों का उपचार भी हो रहा है ।

परागकणों की गणना से यह पता चला कि हवा में परागकण हमेशा रहते हैं, अन्तर केवल इतना है कि उनकी संख्या कभी घट जाती है या कभी बढ़ जाती है । संख्या के घटने या बढ़ने के अनुसार रोगियों की संख्या भी बढ़ती-घटती रहती है । सबसे अधिक मात्रा में परागकण फरवरी से अप्रैल तक पाये जाते हैं । वे अधिकतर वृक्षों व कुछ खरपतवारों के होते हैं । इसके बाद मई से अगस्त तक हवा में परागकणों की संख्या काफी कम हो जाती है लेकिन सितम्बर के महीने से खरपतवारों, घासों व कुछ वृक्षों के फूलने से परागकणों की संख्या हवा में फिर बढ़ना प्रारम्भ हो जाती है ।

मौसमी दमा और छीकों वाला जुकाम ज्यादातर खरपतवारों के परागकणों के कारण होता है, उसके पश्चात घासों और वृक्षों का स्थान है ।

जिन वनस्पति के परागकण ये रोग पैदा करते हैं उनमें कुछ प्रमुख हैं—

होलोप्टीलिया अंट्रेगींफोलिया (चिलबिल), साइनोडान डेक्लान (दूबघास), साइप्रस रोटण्डस(नागर मोथा), पैनसेटम टाइफोडिस (बाजरा), प्रोसपोपिल जूलीफोरा (काबुली कीकर), रिचनस कम्यूनिस (अण्डी), केनाबिस सेटाइवा (भाँग), [illegible]पाडियम एलबम

(जंगली बथुआ), अमेरेन्थस इस्पाइनोसिस (जंगली चौराई), जेन्थियम स्ट्रूमेरियम (छोटा गोखरन), एजेडी-रिक्टा इन्डिका (नीम), अर्जिमोन मैक्सिकाना (सत्या-नासी) और पीथोसीलोबियम डलसे (जंगल जलेबी) आदि।

इलाज और रोकथाम

मौसमी दमा और छीकों वाले जुकाम को रोकने के लिये रोग फैलाने वाले परागकणों और घरेलू धूल के प्रतिजन (एंटीजन) तैयार किये जाते हैं और फिर प्रतिजनों का हल्का घोल बनाकर इन्जेक्शन तैयार किया जाता है। इसके बाद यह पता किया जाता है कि अमुक रोगी को किस परागकण या धूल के कारण दमा या छीकों वाला जुकाम है। उसी के प्रतिजनों के इन्जेक्शन रोगी को लगाये जाते हैं जिससे रोग के विरुद्ध शरीर में प्रतिपिण्ड (ऐंटीबाडी) तैयार हो सकें जो रोग का मुकाबला कर सकें। इन प्रतिजनों से रोग का प्रतिरोध (इम्यूनिटी) पैदा होता है।

पुराने दमे के रोगी में इंजेक्शन लगाने का काम रोग के परीक्षणों के पूरा हो जाने के तुरन्त बाद किया जाता है जो रोग की अवस्था के अनुसार छः महीने से लेकर ५ वर्ष तक चलता रहता है—जब तक रोगी में बीमारी की प्रतिक्रिया को उदासीन (न्यूट्रल) न कर दिया जाय। लेकिन मौसमी रोगियों में इंजेक्शन लगाने का काम रोग के मौसम से तीन महीने पहले प्रारम्भ कर दिया जाता है।

यदि आप इंजेक्शन नहीं लेना चाहते हैं तो फि आपको नियमित रूप से डाक्टर की सलाह के अनुसा दवाएं लेना जरूरी है जिससे दवा की पर्याप्त मात्रा आपके रक्त में प्रत्येक समय रहे। इसके साथ ही इस बात क भी ख्याल रखना चाहिये कि इन दवाओं की आपको ल न पड़ने पाये क्योंकि ये दवाएं एलर्जी रोग को जड़ खत्म नहीं करती हैं वरन् कुछ समय के लिए रोग क नियंत्रण करती हैं।

इसके अलावा कीर्तकर और बसु द्वारा लिखित 'भार तीय औषधीय पौधे' नामक पुस्तक में टाइलोफोरा अस्था-मेटिका (जिसका अब नया नाम टाइलोफोरा इण्डिका नामक जंगल बेल का एक पत्ता प्रतिदिन के हिसाब छः दिन सुबह खाली पेट चबा कर खाने से एलर्जी रोगियों को काफी आराम पहुंचता है। यह एक बहुवर्ष बेल है जो उत्तर-पूर्वी बंगाल, असम, पश्चिमीघाट, ब और श्रीलंका में खूब पैदा होती है। यदि चिकित्सक इ पत्तियों के उपयोग की आपको सलाह दें तब उसके निर्दे के अनुसार आपको इन पत्तियों का उपयोग करन चाहिये। अब तक ज्ञात औषधियों में इसके अलावा को भी ऐसी अन्य औषधि नहीं है जो इतनी थोड़ी मात्रा में केवल छः दिन तक खाने से मौसमी दमा जैसे भयंक रोग से छुटकारा दिला दे।

जन स्वास्थ्य की समस्याएँ

दीर्घजीवी कैसे बनें ?

(संकलित)

सोवियत सत्ता के ६० सालों में सोवियत संघ में लोगों की औसत जीवन-आयु दुगुनी से अधिक हो गयी है और अब यह ७० से अधिक है। लोगों की बढ़ती सुख-समृद्धि, नयी कार्यपरिस्थितियाँ, स्वास्थ्य-रक्षा की एक सुविकसित प्रणाली, निःशुल्क डाक्टरी सेवाए सोवियत संघ में जीवन-आयु के विकास के प्रमुख कारण हैं। देश में ऐसे लोगों की संख्या भी बड़ी है, जो आज ९० साल से अधिक आयु के हैं। दीर्घ-आयु का रहस्य क्या है ? स्वयं दीर्घजीवी लोग अपने स्वास्थ्य का कैसे मूल्यांकन करते हैं और दीर्घजीविता की समस्या पर उनके वैज्ञानिक दृष्टिकोण क्या हैं ? सोवियत साप्ताहिक 'लितेरातुर्नाया' ने इन और इनसे जुड़ी कई दूसरी समस्याओं को लिया। साप्ताहिक के स्टाफ के सदस्यों ने ९० से लेकर १३२ साल तक की आयु के लगभग एक हजार सोवियत दीर्घजीवियों से पूछताछ की।

'...दीर्घकाल तक नहीं रह पाऊंगी', १०८ वर्षीय एस. केरिमोवा कहती हैं। 'अपने जीवन में मैं ठीक पांच बजे सुबह उठती रही हूं।' और १०९ वर्षीय एस. ओगाद्जान्यान को लीजिए। वह हमेशा खुले में सोते हैं। साल के तीन-चौथाई समय में हैट नहीं पहनते। सामूहिक फार्म के फलोद्यान में उनके काम करने का सिलसिला अभी भी बना हुआ है।

जैसा कि प्रश्नावली से प्रकट है, दीर्घजीवी अपनी किशोरावस्था की आदतों के प्रति निष्ठावान हैं। उनके लिए एक भी सूर्योदय को देखने से वंचित रहने का अर्थ है एक नये दिन को देखने से वंचित रहना। उनके उत्तरों और पत्रों में यह बात सर्वसम्मति से कही गयी कि यदि आप दीर्घजीवी होना चाहते हैं तो शारीरिक कार्यों में लग जाइए। १३० वर्षीय जी. गोगोखिया का यह कहना है : 'आप मुझ से पूछते हैं कि मैं अपने स्वास्थ्य-स्थिति के बारे में क्या सोचती हूं—मैं अभी भी घरेलू कामकाज करती हूं और बिल्कुल स्वस्थ महसूस करती हूं।'

आब्खाजिया के पर्वतीय क्षेत्रों में अक्सर ऐसे वयोवृद्ध जनों से मुलाकातें हो जाती हैं जो कोसों पैदल चल कर किसी पड़ोसी से मिलने आते हैं। प्रसंगवश, उन भागों में इन मान्य सिद्धपुरुषों को वृद्ध नहीं कहा जाता। वे अपने को दीर्घजीवी कहते हैं और इस अन्तर को स्पष्ट करने के लिए एक बहुत सटीक स्पष्टीकरण देते हैं : 'एक बूढ़ा व्यक्ति वह है, जो बूढ़ा होता है, एक दीर्घजीवी व्यक्ति वह है, जो बूढ़ा हुए बिना दीर्घकाल तक जीता है'

कूइब्रीशेव क्षेत्र के ९० वर्षीय एस. खोख्लोव कहते हैं कि वह अभी भी बर्फ साफ करते हैं, जलाने की लकड़ी घर लाते हैं और कुएं से जल ढोते हैं। १०० वर्षीय नोवोसिबिर्स्क की यू. उत्यानोवा न केवल तमाम घरेलू कामकाज करती हैं, बल्कि नगर में भ्रमण भी करती हैं। एक दिन जब तापक्रम शून्य से ३० डिग्री नीचे था, वह बस से एक नया पासपोर्ट प्राप्त करने गयीं।

याकुतियाई स्वायत्त जनतन्त्र के ई. येफ्रेमोव की आयु १०८ साल है। हर साल आज दिन तक वे घास की कटाई करने जाते हैं। 'हंसिया उठाते ही मैं महसूस करने लगता हूं कि मेरी रगों में खून दौड़ने लगा है। और शिकार करना नहीं भूलता। मैं अभी भी भालुओं का शिकार करता हूं।'

विवाह-जयन्तियों को मनाने की एक सुन्दर परम्परा है। लेकिन क्या हमें अक्सर ऐसे जोड़े देखने में आते हैं, जो अपनी २५वीं विवाह-जयन्ती मना रहे हों ? एक ५० वर्ष की जयन्ती तो और भी दुर्लभ है। एक ७५वीं जयन्ती तो एक बिल्कुल ही अद्वितीय समारोह है।

नागोर्नी काराबाख में केसालार का गांव एक भव्य समारोह के लिए तैयारी कर रहा था। स्वस्थ कुलियेव दम्पत्ति अपने वैवाहिक जीवन की १००वीं जयन्ती मनाने के लिए तैयार हो रहे थे।

एक परिवार में कितने बच्चे होने चाहिए ? दीर्घजीवियों में ६ प्रतिशत ही ऐसे लोग हैं, जिनके एक बच्चा है, १४ प्रतिशत के २-३ बच्चे हैं, २२ प्रतिशत के ४-६ बच्चे हैं और ४२ प्रतिशत के सात या इससे अधिक बच्चे हैं। चेचेनो-इंगुशेतिया के १०६ वर्षीय के मेर्शेव के २१ बच्चे (सबसे अधिक) हैं।

जिन दीर्घजीवियों से पूछताछ की गयी, उनमें से मात्र 22 प्रतिशत लोग ही अपने आहारों को सीमित करते हैं और ये पाबन्दियां अधिकांशतः मांस से संबंधित हैं। बाकी यानी 78 प्रतिशत सभी तरह के भोजन करते हैं। दीर्घजीवियों ने इसका ब्यौरा इस प्रकार दिया—प्याज, लहसुन, टमाटर, ककड़ी, सफेद्र फलों के पौधे, लोबिया, अखरोट, मक्खन, दूध, खट्टा दूध, शहद, मांस और झरने का जल। एक चीज पर उन सभी की एक राय थी—जरूरत से ज्यादा भोजन करना खतरनाक है।

हम अक्सर बूढ़े लोगों को अपनी स्मरण-शक्ति के बारे में शिकायत करते हुए सुनते हैं। यह सबसे आश्चर्यजनक तथ्य है कि लगभग 70 प्रतिशत दीर्घजीवी अपनी स्मरण-शक्ति से संतुष्ट थे।

दीर्घजीवियों से पूछे गये सवालों में एक सवाल यह भी था। 'आप अपने स्वास्थ्य की स्थिति के बारे में क्या सोचते हैं ?' उनके जवाबों से यह ज्ञात हुआ कि उनमें से आधे लोग अपने को पर्याप्त रूप से स्वस्थ मानते हैं। कुइबीशेव की एन. पान्क्रातोवा, जिनकी आयु 100 साल हो गयी है, अभी भी बिना ऐनक के पढ़ लेती हैं। ओ. ओगान्यान की भी अच्छी नेत्र-दृष्टि है। वे सूई में धागा स्वयं डालती हैं। 90 वर्षीय एस. खोख्लोव भी मजे में हैं। वे कहते हैं कि उनके कोई बाल सफेद नहीं हुए हैं और एक को छोड़कर उनके बाकी सभी दांत अभी भी सही-सलामत हैं।

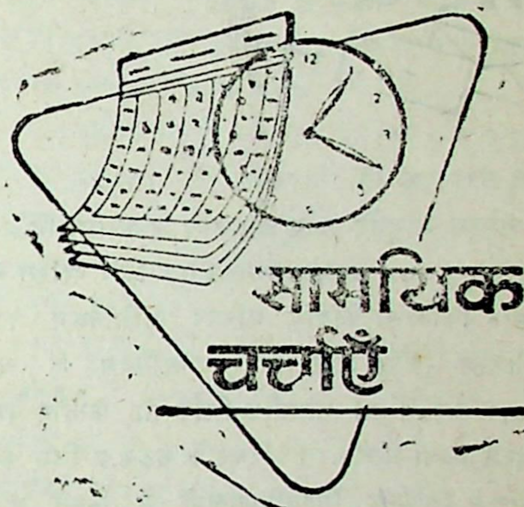
जरा विज्ञान संस्थान के निदेशक अकादमीशियन डी. चेबोतार्योव का कहना है कि 'आजकल जरा-विज्ञानविदों द्वारा काम में लाये गये 'पैमाने' के अनुसार बुढ़ापा 75 वर्ष की आयु में शुरू होता है, लेकिन मानव-शरीर में जीर्णता 30 के बाद ही शुरू हो जाती हैं (यह एक सबसे ज्यादा चिंताजनक आयु है, क्योंकि उस समय कोई अपने स्वास्थ्य की दशा के बारे में बहुत कम सोचता है और हर कदम पर छिपे प्रलोभनों का मुश्किल से ही संवरण कर पाता है।)

दीर्घजीवियों द्वारा भरी गयी प्रश्नावलियों से प्रगट है कि इन माननीय व्यक्तियों ने सम्भवतः अचेत रूप से अपने को अनेक 'सुखों' से वंचित रखा। उनमें से अधिकांश लोगों ने कभी धूम्रपान नहीं किया और उन्होंने अत्यधिक मद्यपान नहीं किया, बल्कि वे पूर्ण मदत्यागी थे।

शारीरिक श्रम करने वाले लोग अपने रचनात्मक कार्यकलापों को कब तक बनाये रखते हैं ?

सक्रिय रचनात्मक कार्य में लगे लोग इसे अपने अंतिम दिन तक करते रहते हैं। 'कार्य से जिस हद तक मैं परिश्रांत हो चुका हूं, उतना कोई नहीं हुआ है। मैं दिन-रात कार्य करते रहने के अलावा कुछ नहीं सोच सकता,' माकेल एंजेलो ने लिखा, जो ८९ साल की आयु तक जीवित रहे। अथवा न्यूटन, एडिसन, बोल्तेयर, तोलस्तोय को लें। अतः, हमारे लिए यह कहने का हर आधार मौजूद है कि जितना ही ज्यादा सघन मानसिक कार्य होता है, मानसिक क्रियाकलाप उतने ही ज्यादा समय तक बने रहते हैं।

(सोवियत दूतावास के सूचना विभाग के सौजन्य से)



अमेरिका में आयुर्वेदीय चिकित्सा के प्रति आकर्षण

भारत की यात्रा पर आए ६ सदस्यीय अमेरिकी चिकित्सा वैज्ञानिकों के अध्ययन दल ने यहां अमेरिका में आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति के प्रति लोगों के बढ़ते हुए आकर्षण की चर्चा की और कहा कि भारतीय चिकित्सा पद्धति अमेरिका में तेजी से लोकप्रिय हो रही है।

इलिनाइ विश्वविद्यालय, स्प्रिंगफील्ड के उक्त चिकित्सा वैज्ञानिक, सर्वश्री इलेन डब्लू. डेविडसन, सातू सोमानी, डी० डैक्स टेलर, जे० रोलैण्ड फोल्स, वीलियम एल० स्टीवर्ट, डीन फेनली वाराणसी के डायमण्ड होटल में ३ फरबरी, ७८ शुक्रवार को आयोजित गोष्ठी को सम्बोधित कर रहे थे। वक्ताओं ने कहा कि भारत में आकर तथा आयुर्वेदीय चिकित्सा केन्द्रों का भ्रमण कर हमें बहुत कुछ समझने का अवसर मिला। आयुर्वेदीय चिकित्सा के जनक इस देश में आकर आयुर्वेदीय चिकित्सा के बारे में हमें सही जानकारी मिली है।

भारत और अमेरिका के बीच आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति पर परस्पर प्रशिक्षण कार्यक्रम आयोजित करने, उच्च अध्ययन तथा आयुर्वेदीय दवाओं के निर्माण आदि कार्यों के दोनों देशों के सहयोग से कोई काम प्रारम्भ करने की सम्भावना पर हम विचार कर रहे है। अमेरिका वापस जाकर हम इस सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट अमेरिकी कांग्रेस को देंगे।

प्रारम्भ में वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड के प्रबन्ध निदेशक, दुर्गा प्रसाद शर्मा ने अतिथियों का स्वागत किया तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के चिकित्सा विज्ञान संस्थान के निदेशक, डॉक्टर उडुप्पा ने उनका परिचय दिया।

उक्त चिकित्सा वैज्ञानिकों के वाराणसी आगमन पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेद विभाग में विविध आयोजन हुआ। आयुर्वेद बिभागों में आयोजित परिसंवाद में विदेशी प्रतिनिधियों की उपस्थिति में आयुर्वेद में शोध कार्य के वर्तमान स्वरूप पर डॉक्टर उडुप्पा, दवाओं के समिश्रण तथा प्रभाव का सिद्धान्त विषय पर प्रोफेसर पी० वी० शर्मा ने आयुर्वेद के रचनान्तरण पक्ष पर प्रोफेसर जी० एन० चतुर्वेदी, आयुर्वेद में स्वस्थवृत्त के स्वरूप पर डॉक्टर ज्योतिर्मित्र तथा फिस्टुला इन एनों में आयुर्वेदीय चिकित्सा विषय पर डॉक्टर पी० जे० देशपाण्डेय ने विशेष शोध पत्र प्रस्तुत किया।

पाठकों के पत्र



श्रीयुत् सम्पादक जी,

सम्पूर्ण आयुर्वेद जगत इस तथ्य से भलीभांति अवगत है कि सन् १९७० में लोकसभा ने एक बिल पारित करके भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद् अधिनियम १९७० का निर्माण किया और इस अधिनियम के अधीन सितम्बर १९७१ को भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद् का गठन किया गया था। परिषद के गठन के लिए केन्द्रीय सरकार ने विभिन्न विश्वविद्यालयों में स्थित आयुर्वेद संकाय से एक-एक प्रतिनिधि तथा देश के प्रतिष्ठित वैद्यों में से प्रतिनिधि के रूप में कुछ वैद्यों, चिकित्सकों का मनोनयन किया था। इस परिषद के दो मुख्य कार्य हैं—एक केन्द्रीय स्तर पर सभी प्रांतों के समुचित अर्हताधारी चिकित्सकों का पंजीयन और दूसरा सभी प्रान्तों में स्थित विभिन्न परीक्षा निकायों द्वारा संचालित आयुर्वेद के पाठ्यक्रमों को समाप्त कर केन्द्रीय स्तर का केवल एक ही पाठ्यक्रम का निर्माण कर उसे सभी प्रांतों में लागू करना।

यह प्रसन्नता की बात है कि गत वर्षों में भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद ने एक अखिल भारतीय स्तर का आयुर्वेदीय पाठ्यक्रम का निर्माण किया और सर्वसम्मति से उसका अनुमोदन किया। गत वर्ष १९७६ में केन्द्र सरकार ने भी इस पाठ्यक्रम को स्वीकृति प्रदान कर दी। तत्पश्चात इसे सम्पूर्ण देश में लागू करने के लिए जारी किया गया और देश के उन समस्त विश्वविद्यालयों जहां आयुर्वेद संकाय विद्यमान हैं, में जुलाई ७७ से यह पाठ्यक्रम लागू किये जाने के लिए अधिसूचना जारी कर भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद द्वारा आदेश प्रसारित किए गए। किन्तु अत्यन्त खेद और दुर्भाग्य की बात है कि अनेक विश्वविद्यालयों ने भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद के आदेशों की खुली अवहेलना करके अधिसूचना और आदेशों का खुलकर मजाक उड़ाया। जिन दो-चार विश्वविद्यालयों ने परिषद के पाठ्यक्रम को लागू किया है, उन्होंने भी उसे यथावत रूप में लागू न करके उसे अपनी इच्छानुसार तोड़-मरोड़कर इतना विकृत कर दिया कि अपने परिवर्तित रूप में वह परिषद का पाठ्यक्रम कदापि नहीं कहा जा सकता। यह भी परिषद का एक खुला उपहास है।

इस प्रकार से परिषद द्वारा जारी अधिसूचना एवं आदेश की अवहेलना करना क्या परिषद और उसके माननीय सदस्यों का खुला अपमान नहीं है? इनके लिए जिम्मेदार कौन हैं? परिषद के कार्यालय में ऊंची-ऊंची कुर्सियों पर बैठे हुए अधिकारीगण इतने अकर्मण्य, निष्क्रिय और कर्तव्य विमुख हैं कि उन्होंने आज तक यह जानने की कोशिश नहीं की कि किस विश्वविद्यालय ने परिषद का पाठ्यक्रम अविकल रूप से लागू किया है और किसने नहीं? यदि यही हाल रहा तो जिस उद्देश्य को लेकर परिषद का गठन किया गया है वह उद्देश्य ही अपूर्ण रह जायगा। ऐसी बात नहीं कि परिषद के पास अपना पाठ्यक्रम लागू कराने के लिए पर्याप्त अधिकार न हो, किन्तु अधिकारियों को उसका बोध ही नहीं है। मजेदार बात तो यह है कि परिषद की नाक के नीचे ही दिल्ली विश्वविद्यालय है। उसने पाठ्यक्रम में इतना फेर-बदल किया है कि उसका मूल स्वरूप ही नष्ट हो गया है। इसी प्रकार राजस्थान विश्वविद्यालय, कानपुर विश्वविद्यालय, पंजाबी विश्वविद्यालय, रोहतक विश्वविद्यालय, नागपुर विश्वविद्यालय, बम्बई विश्वविद्यालय, पूना विश्वविद्यालय आदि ने अविलम्ब रूप से परिषद का पाठ्यक्रम लागू नहीं किया है। इन विश्वविद्यालयों द्वारा लागू पाठ्यक्रम का यदि अक्षरशः मिलान किया जाय तो पर्याप्त भिन्नता मिलेगी। आंध्र विश्वविद्यालय, लखनऊ विश्वविद्यालय, म० प्र० के पांचों विश्वविद्यालय, उस्मानिया विश्वविद्यालय, गुजरात आयुर्वेद विश्वविद्यालय आदि कुछ ऐसे विश्वविद्यालयों ने परिषद के पाठ्यक्रम को लागू न कर परिषद की खुली उपेक्षा कर उसका उपहास उड़ाया है।

वर्तमान में परिषद के अध्यक्ष पं० शिव शर्मा जी तथा उपाध्यक्ष कविराज आशुतोष मजूमदार जी हैं। ऐसे प्रतिष्ठित व्यक्तियों के पीठासीन होते हुए भी यदि परिषद ने अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह समुचित रूप से न करे तो आयुर्वेद का भविष्य अंधकारमय ही हो जायगा। अतः परिषद के उच्च पदाधिकारियों एवं

अन्त में वैद्य दीनानाथ उपाध्याय ने सभी के प्रति आभार व्यक्त किया।

भारतीय चिकित्सा स्नातकोत्तर स्नातक संघ का गठन

दिनांक ८-१-१९७८ को आर्यभवन, देवनगर, नई दिल्ली में भारतीय चिकित्सा के स्नातकोत्तर उपाधिधारियों की एक बैठक सम्पन्न हुई। विभिन्न प्रान्तों में स्नातकोत्तर उपाधिधारियों के साथ किए जा रहे पक्षपातपूर्ण व्यवहार तथा उनकी अन्य समस्याओं के निराकरण के लिए एक सशक्त संगठन की आवश्यकता का अनुभव किया गया और उक्त बैठक में इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया। संगठन की स्थापना के साथ-साथ उसे अखिल भारतीय स्वरूप प्रदान करने एवं अस्थायी रूप से उसके कार्य संचालन हेतु सर्वसम्मति से एक केन्द्रीय समिति का गठन किया गया, जिसमें ९ सदस्यों को मनोनीत किया गया।

समिति को यह अधिकार दिया गया कि वह प्रत्येक प्रान्त में नियुक्त प्रतिनिधियों को एक परिपत्र जारी कर उनसे प्रान्त के समस्त स्नातकोत्तर उपाधिधारकों के नाम व पते सहित सम्पूर्ण विवरण भेजने का अनुरोध करे, ताकि देश के प्रत्येक स्नातकोत्तर उपाधिधारी को इस संगठन से सम्बद्ध किया जा सके।

वैद्य मण्डल अमृतसर का वार्षिक चुनाव

वैद्यमण्डल (रजि०) अमृतसर का वार्षिक चुनाव दिनांक ८-१-७८ को वैद्य श्री सरदारीलाल जी मेहता की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ जिसमें नए पदाधिकारी एवं कार्यकारिणी के सदस्य सर्वसम्मति से चुने गये।

राज० आ० यू० चिकित्सा सेवा संघ, मुरादाबाद

गत दिनांक ४-१-७८ को श्रीमान् काजी बदरुद्दीन साहब क्षेत्रीय आयुर्वेद यूनानी अधिकारी महोदय की अध्यक्षता में राजकीय आयुर्वेदिक एवं यूनानी चिकित्सा सेवा संघ शाखा मुरादाबाद की बैठक हुयी, जिसमें पिछली कार्यकारिणी को निरस्त कर नवीन चुनाव कराये गये।

सर्वसम्मति से यह प्रस्ताव पारित हुआ कि आयुर्वेद एवं यूनानी चिकित्सा संघ मुरादाबाद समस्त जनता तथा कर्मचारी वर्ग के लिये नववर्ष की शुभकामनाओं की आकांक्षा करता है।

२—सर्वसम्मति से प्रस्ताव पारित कर क्षेत्रीय आयुर्वेद एवं यूनानी अधिकारी महोदय से प्रार्थना की गयी कि निर्देशक महोदय के यहां से जो भी आदेश प्राप्त हों उनकी एक प्रतिलिपि प्रत्येक चिकित्सालय में अविलम्ब भेजने का कष्ट करें।

३—सर्वसम्मति से प्रस्ताव पारित हुआ कि आंध्र प्रदेश बाढ़पीड़ितों की सहायता हेतु दस रुपये प्रत्येक चिकित्सा अधिकारी देकर सहयोग करें और यह रुपया प्रधानमन्त्री या मुख्यमन्त्री सहायता कोष में बैंकड्राफ्ट द्वारा भेजा जाये।

गांवों के लिये भ्रमणशील आयुर्वेद चिकित्सालय

जयपुर ४ फरवरी। आयुर्वेद राज्यमन्त्री श्रीमती विद्यावती ने यहाँ बताया कि ग्रामीण क्षेत्रों के लिए तीन भ्रमणशील आयुर्वेद औषधालय खोले जायेंगे।

संवाददाताओं से बातचीत करते हुए श्रीमती पाठक ने बताया कि ये इकाइयां ग्राम-ग्राम पहुंचकर आयुर्वेदिक उपचार करेंगी। श्रीमती पाठक ने बताया कि राज्य सरकार के निर्णयानुसार इस वर्ष २०० नए औषधालय खोल दिए गए हैं। इन सभी औषधालयों में वैद्य एवं औषधियां पहुंच चुकी हैं।

पंजाब को आयुर्वेद के लिए २० लाख रु०

चण्डीगढ़, ६ जनवरी। केन्द्र ने पंजाब सरकार को आयुर्वेद के संवर्धन के लिए २० लाख रुपये का अनुदान देना स्वीकार कर लिया है। राज्य सरकार के आयुर्वेद विभाग के प्रमुख डा० अमरनाथ शास्त्री ने बताया कि उक्त धनराशि स्नातक एवं स्नातकोत्तर शिक्षा के मानकीकरण पर खर्च की जाएगी।

आयुर्वेद संगोष्ठी

भारती की अग्रणी शैक्षणिक संस्थान गांधी विद्या मन्दिर अपना रजत जयन्ती महोत्सव दिनांक ५ फरवरी, ७८ से ११ फरवरी ७८ तक मना रहा है। इसके अन्तर्गत शिक्षा सम्मेलन, महिला सम्मेलन, पुरातन छात्र सम्मेलन, आयुर्वेद सम्मेलन आदि अनेक सम्मेलन होंगे।

दिनांक १० फरवरी, ७८ को राजस्थान सरकार के आयुर्वेद मंत्री श्रीमती विद्या पाठक की उपस्थिति में पंचकर्म विषय पर एक विशाल आयुर्वेद सम्मेलन होगा जिसमें भारत के अनेक प्रसिद्ध विद्वान् एवं आयुर्वेद विभाग के अधिकारी उपस्थित होंगे।

उक्त अवसर पर आयुर्वेद के विद्वानों को आमंत्रित किया गया है।

वैद्य सोहनलाल शर्मा
प्राचार्य

क्षेत्रीय आ० यू० चिकित्सा संघ, मेरठ

आज दिनांक ६-२-७८ को क्षेत्रीय आयुर्वेदिक एवं यूनानी अधिकारी महोदय के कार्यालय, मेरठ में क्षेत्रीय आयुर्वेदिक एवं यूनानी चिकित्सा सेवा संघ मेरठ क्षेत्र की एक साधारण सभा हुई, जिसकी अध्यक्षता श्रीमान् क्षेत्रीय आयुर्वेदिक एवं यूनानी अधिकारी महोदय, मेरठ ने की और जिसमें नवीन कायकारिणी का चुनाव सम्पन्न हुआ।

इसके बाद मंत्री महोदय ने लखनऊ अधिवेशन की गतिविधियों पर प्रकाश डाला तथा केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्री श्री राजनारायण जी एवं स्वास्थ्य मंत्री श्री कल्यान सिंह जी (उ. प्र.) की आयुर्वेद के प्रति अगाध प्रेम की सराहना करते हुए धन्यवाद दिया कि मंत्री महोदय ने उ. प्र. के राजकीय आयुर्वेदिक चिकित्साधिकारियों की वेतन एलोपैथिक के समान रु० ५५०-१२०० कर दिया है। अन्त में समस्त चिकित्साधिकारियों की ओर से स्वास्थ्य मंत्री जी को यह आश्वासन दिया गया कि हम सब आयुर्वेद के उत्थान के लिए हर सम्भव कोशिश करेंगे ताकि प्रदेश की जनता अधिक से अधिक लाभ पा सके।

इसके बाद श्रीमान् क्षेत्रीय आयु० एवं यूनानी अधिकारी महोदय, मेरठ ने समस्त चिकित्साधिकारियों को बधाई दी और आयुर्वेद के उत्थान के लिए कठिन परिश्रम का संकल्प लिया। अन्त में जलपान के साथ उक्त बैठक समाप्त हुई।

दक्षिण भारत के बाढ़-पीड़ितों के लिए अर्थदान

आंध्र प्रदेश एवं तमिलनाडु के बाढ़ पीड़ितों की सहायता हेतु श्री ओमप्रकाश शर्मा गोस्वामी, राजकीय आयुर्वेद चिकित्सालय, सूडसर (बीकानेर) ने चार सौ इक्यावन रुपए दान दिए।

बिहार आयुर्वेद स्मारिका

आयुर्वेदीय दृष्टि से बिहार में इतिहास की बहुत-सी सामग्रियां बिखरी पड़ी हैं। मैं बिहार का आयुर्वेद-सम्बन्धी इतिहास लिख रहा हूं। स्मरणीय है कि महर्षि चरक, वाग्भट, सुश्रुत, च्यवन, निमि, अश्विनी कुमार बिहार के ही थे। समुद्र-मन्थन की मथानी इसी प्रदेश में है। अतएव आयुर्वेद प्रेमियों से मेरी विनम्र प्रार्थना है कि आयुर्वेद की दृष्टि से बिहार में जिनके पास जो भी सामग्री हो, निम्नलिखित पते पर भेजने की कृपा करें।

द्वारिका मिश्र
पो०—ओड़ो
जि०—नवादा

वैद्य उदयलाल महात्मा का स्वर्गवास

वैद्य प्रवर श्री उदयलाल जी महात्मा जि. देवगढ़ (राज०) का दिनांक २१।१।७८ को अकस्मात हृदयगति के अवरोध से स्वर्गवास हो गया है। आपकी आयु ६८ वर्ष की थी।

आप उदयपुर जिले के महान् आयुर्वेद-सेवक, वनस्पति विशेषज्ञ एवं कर्मठ समाजसेवी थे। आयुर्वेद चिकित्सा एवं वनौषधि विषयक आपके लेख समय-समय पर विभिन्न आयुर्वेदिक पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते थे। धन्वन्तरि कार्यालय द्वारा प्रकाशित वनौषधि विशेषांक के सम्पादन का भार प्रधान सम्पादक स्व० आयुर्वेद सूरि श्री कृष्ण प्रसाद जी के निधन के बाद आपने ग्रहण किया और सफलतापूर्वक सम्पादन किया। उदयपुर जिला एवं राजस्थान प्रान्त के आयुर्वेद संगटनों में विभिन्न पदों पर रहकर आयुर्वेद के उत्थान में पूर्ण योगदान दिया।

वैद्य पूनमचन्द दीक्षित का निधन

स्थानीय वैद्य सभा के अध्यक्ष एवं भूतपूर्व नगर पार्षद श्री पूनमचन्द दीक्षित का गत चार जनवरी को चूरू में हृदय गति रुक जाने से आकस्मिक निधन हो गया। श्री दीक्षित अपनी लड़की से मिलने चूरू गये थे।

उनके निधन का समाचार सुनकर उनके पैतृक स्थान सरदार शहर में शोक की लहर दौड़ गई। उनकी शव-यात्रा में बड़ी संख्या में नगर के सामाजिक कार्यकर्ता, वैद्य, शिक्षक तथा अन्य गण्यमान्य व्यक्ति थे।

श्री वैद्यनाथ धर्मार्थ चिकित्सालय, पटना

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०, पटना द्वारा संचालित धर्मार्थ औषधालय एवं स्वास्थ्य रक्षा केन्द्र-पटना-१

में माह जनवरी १९७८ में १०२१ रोगियों की निःशुल्क चिकित्सा की गई। जिनमें १५४ रोगी नये तथा ८६७ रोगी पुराने आये।

नये रोगियों की संख्या निम्न प्रकार है :—आमातिसार ३५, वातश्लैष्मिक ज्वर ३०, कर्णस्राव १५, बाल रोग १०, वातव्याधि २५, चर्मरोग २२, नेत्राभिष्यन्द १०, कासश्वास ७।

श्री बैद्यनाथ धर्मार्थ चिकित्सालय, नागपुर

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०, ग्रेट नाग रोड, नागपुर द्वारा संचालित श्री बैद्यनाथ धर्मार्थ चिकित्सालय तथा स्वास्थ्य रक्षा केन्द्र, वाकर रोड, नागपुर में माह दिसम्बर सन् १९७७ में १००७६ रोगियों की निःशुल्क चिकित्सा की गयी जिनमें १००७४ रोगी नये आये। रोगियों की संख्या निम्न प्रकार है।

वातश्लैष्मिकज्वर ३७, ज्वर ११०, ज्वर कास २, सन्निपात ज्वर १, जीर्णज्वर ६, अतिसार ९, ज्वरातिसार १, अर्श ९, अग्निमान्द्य १८, क्रिमि १३, कामला २, राजयक्ष्मा ५, कास ८६, श्वास २०, अर्धाव १०, छर्दि २, दाह २०, वातव्याधि १७, रक्तविकार २, अर्दित २, वातशूल ८५, आमवात १५ उदरशूल २०, वक्षशूल ११, उदावर्त ४, प्रमेह ८, यकृदाल्युदर ३, शोथ ११, आन्त्रवृद्धि ३, अण्डवृद्धि ३, ग्रन्थी ४, व्रण ३, कफवात १, पामा द्रद्रू १०३, शीतपित्त ७, अम्लपित्त १३, दन्त ६, क्रिमिज्वर २, कण्ठरोग ५, मुखपाक ९, कर्ण रोग ९, प्रतिश्याय ४०, अनिद्रा २, नेत्ररोग ५, शिरोरोग ३, शिरःशूल १३, प्रदर १८, बहुमूत्र ८, कटिशूल ५, दौर्बल्य ६९, केमूर १, पित्त विकार ९।

परिवार कल्याण गोष्ठी का आयोजन

राजकीय आयुर्वेदिक चिकित्सालय खेड़ाजलालपुर जिला बदायूं के प्राँगण में दिनांक १७ जनवरी १९७८ मंगलवार को एक गोष्ठी का आयोजन किया गया, जिसमें चिकित्सालय के सभी कर्मचारियों, ग्राम के अध्यापकों, पुरुषों एवं महिलाओं ने भाग लेकर गोष्ठी को सफल बनाया। 'छोटा परिवार सुखी परिवार' में आस्था व्यक्त करते हुए ग्रामीण महिलाओं ने औषधियों (आयुर्वेदिक) के सेवन के द्वारा संतति-निरोध पर बल दिया।

श्री बैद्यनाथ धर्मार्थ चिकित्सालय, नागपुर

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि. ग्रेट नाग रोड, नागपुर द्वारा संचालित श्री बैद्यनाथ धर्मार्थ चिकित्सालय तथा स्वास्थ्य रक्षा केन्द्र, वाकर रोड, नागपुर में माह जनवरी सन् १९७८ में ८७५१ रोगियों की निःशुल्क चिकित्सा की गयी जिनमें १०९९ रोगी नये आये। रोगियों की संख्या निम्न प्रकार है।

वातश्लैष्मिक ज्वर २३, पानात्यय पित्त ४, नासारोग १, दाह २३, ग्रन्थी शोफ १, प्रतिश्याय ४९, ज्वर २३, अपस्मार ५, वातव्याधि ३३, व्रण १, नेत्ररोग ५, जीर्णज्वर ५, वक्षशूल ६, अतिसार ११, शिरोरोग ७, ज्वरातिसार ४, अर्दित १७, शिरःशूल ८, ग्रहणी २, गृध्रसी २, प्रदर २९, अर्श १६, वातशूल १२९, अग्निमान्द्य ३३, सूतिका २, आमवात ६, बालरोग ४, अजीर्ण १, उदर शूल ३२, पामा दद्रू १००, क्रिमि १८, शीतपित्त ६, पाण्डु २, अम्लपित्त १८, कामला ३, दौर्बल्य ७४, रक्तविकार ७, राजयक्ष्मा १०, बहुमूत्र १०, उरस्तोय क्रमिज्वर १, अश्मरी १, कास १०४, प्रमेह ७, गुदभ्रंस १, श्वास ४५, दन्त ३, कटिशूल ११, स्वरभेद १, उदर रोग ८, यकृदाल्युदर ५, कण्ठरोग २, कासज्वर ९, मुखपाक १०, केमूर ३, जलोदर कंपवात २, शोथ ३२, कर्ण रोग १४, सगर्भा २, आन्त्रवृद्धि ७, अण्डवृद्धि १। कुल जोड़ १०९९।

श्री बैद्यनाथ धर्मार्थ चिकित्सालय एवं स्वास्थ्य रक्षा केन्द्र, झांसी

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० द्वारा संचालित श्री बैद्यनाथ धर्मार्थ औषधालय एवं स्वास्थ्य रक्षा केन्द्र झांसी में मास दिसम्बर १९७७ में कुल ६३२६ रोगियों की निःशुल्क चिकित्सा की गई जिसमें नवीन रोगी १०२४ हैं प्रत्येक का विवरण निम्न प्रकार से है।

वातज ज्वर ८७, पित्तज ज्वर ५२, कफज ज्वर ५, जीर्ण ज्वर ३, विषम ज्वर १६, प्रसूत ज्वर ११, प्रतिश्याय १४, वातश्लेष्मक ज्वर १, कृमि ४, वातातिसार २०, रक्तातिसार ४, आमातिसार ३७, ज्वरातिसार १७, बालातिसार १६, ग्रहणी १, वातज कास ६४, कफज कास ७४, क्षयज कास ३, तमकश्वास ३, क्षुद्रश्वास १०, अग्निमान्द्य ७, आमाजीर्ण १८, अर्बुद १, विवंध ७,

वातोदरशूल २५, शिरःशूल ३४, पार्श्व शूल ८, संधिवात २, कटिशूल ६, उरः शूल १, वातव्याधि ३६, गृध्रसीवात २, विश्वाची ४, आमवात १, वातज गुल्म २, छर्दि ५, अम्लपित्त २, शीतपित्त ९, पीनस १, शोथ ५, विद्रधि २, व्रण ४५, पामा १, कण्डू ३७, विचर्चिका १३, दद्रु २ गर्भरोग ११, आघात ७, अर्श १, रक्तार्श २, प्रमेह १७, मूत्रकृच्छ १०, बहुमूत्र १, रक्त प्रदर १२, श्वेत प्रदर २५, रक्तात्पत्ता ७, कर्ण शूल २, कर्ण स्त्राव १०, दन्त शूल १५, अभिष्यंद ४, मुखपाक २३, गुल्म ८, दाह ३, उरःक्षत १, यकृत वृद्धि १, क्षीरालसक ६, सद्यो व्रण ५, पिड़िका २०, अर्द्धांगवात १, अण्डकोष वृद्धि १, दन्तोद्भेद १२, मासार्बुद १, सिध्म १, अग्निदग्ध २, मधुमेह १, तुण्डकेरी शोथ ४, अर्द्धाव भेदक १, गुद भ्रंश २, वातरक्त २, पाण्डु २, पाषाण गर्दभ १, पालित्य १, हृदय दौर्बल्य २, उपदंश १। नवीन १०२४, पुरातन ५३०२, मासिक योग ६३२६

श्री ५ को सरकार

स्वास्थ्य मन्त्रालय स्वास्थ्य सेवा विभाग

आयुर्वेद चिकित्सालय, नरदेवी, काठमांडू (नेपाल)

२०३४ साल के पौष महीने में निःशुल्क सेवा प्राप्त रोगियों का विवरण—

(क) नवीन तथा पुराने रोगियों की कुल संख्या—३४५५।

(ख) २०३४ साल पौष महीने में उपचारार्थ आये हुए नवीन रोगी—२०४४।

(१) पुरुष रोगी संख्या—८८१।

(२) महिला रोगी संख्या—१०६३।

(३) बालक रोगी संख्या—स्त्री ९६, पु० १०१ (१९७)

जिसमें निम्न विभागों में निःशुल्क उपचार (सेवा) किया गया है।

(१) काय चिकित्सा विभाग में उपचार किया गया—१०६३।

(२) शल्य-शालाक्य विभाग में उपचार किया गया—९८१।

पुनरागत रोगियों की सूची

(ग) पुनरावृत्ति उपचारार्थ आए हुए रोगियों की संख्या—१४११।

(१) काय चिकित्सा विभाग में उपचार किया गया—७१३।

(२) शल्य-शालाक्य विभाग में उपचार किया गया—६८८।

अन्तरंग विभाग में प्रविष्ट रोगियों का विवरण

(घ) प्रविष्ट रोगियों की कुल संख्या—४०।

(१) गत महीने में उपचार किए गए रोगी सं०—२०।

(२) वर्त्तमान प्रविष्ट रोगी सं०—२०।

(३) पूर्ण स्वास्थ्य लाभ किए गए रोगी सं०—१५।

(४) कुछ कम हुए रोगी सं०—८।

(५) स्वेच्छा से निकला हुआ रोगी सं०—x

(६) चिकित्साधिनस्थ रोगी सं०—१४।

(७) मृत्यु सं०—३।

वैद्यनाथ के नागपुर केन्द्र में आयुर्वेद विद्वानों का सम्मान

नागपुर, २३ जनवरी। श्री आयुर्वेद महाविद्यालय, भारतीय वैद्यक समन्वय समिति एवं विदर्भ प्रांतीय आयुर्वेद सम्मेलन तथा श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०, नागपुर के संयुक्त तत्वावधान में आचार्य वैद्य विश्वनाथजी द्विवेदी तथा आचार्य रघुवीर प्रसाद त्रिवेदीजी का भावभीनी स्वागत किया गया। यह स्वागत समारोह [illegible]क्वासा रूग्णालय भवन में हुआ। समारोह की अध्यक्षता पं० गुलराजजी शर्मा की।

अतिथि द्वय ने कहा कि आयुर्वेद में [illegible]ज्ञान शक्ति है। उसे मिटाने की शक्ति [illegible]सी में नहीं है। आयुर्वेद अपने गुणों के [illegible]धार पर जीवित है। आयुर्वेदिक दवा[illegible]ं विदेशों से करोड़ों रुपये भारत ला[illegible]ती है।

प्रारम्भ में पं० शिवकरण शर्मा [illegible]गाणी जी ने अतिथि द्वय का परिचय [illegible]या। विविध संस्थाओं की ओर से [illegible]थि का पुष्पमाला द्वारा स्वागत किया [illegible]। अतिथि द्वय को स्वागत समिति की [illegible] से मान-पत्र प्रदान किया गया।



श्री आयुर्वेद महाविद्यालय, भारतीय वैद्यक समन्वय समिति, विदर्भ प्रांतीय आयुर्वेद सम्मेलन तथा श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०, नागपुर के तत्वावधान में आचार्य वैद्य श्री विश्वनाथजी द्विवेदी तथा आचार्य श्री रघुवीर प्रसाद जी त्रिवेदी के अभिनन्दन समारोह में अपने विचार व्यक्त करते हुए श्री वैद्यनाथ प्रतिष्ठान के संस्थापक एवं संचालक वैद्य पं० रामनारायणजी शर्मा तथा अन्य दिखाई दे रहे हैं। बायें से दायें –

आचार्य श्री विश्वनाथ जी द्विवेदी, आचार्य श्री रघुवीर प्रसाद जी त्रिवेदी, पं० गुलराजजी शर्मा तथा पं० शिवकरण शर्मा छांगाणी।

[illegible]वैद्यनाथ प्रतिष्ठान के संस्थापक एवं संचालक वैद्य [illegible]रामनारायण जी शर्मा द्वारा अतिथि द्वयों का शाल [illegible]श्रीफल अर्पण करके सम्मान किया गया।

पं० रामदत्त जी शर्मा ने कहा, आज के अतिथिद्वय [illegible]सीम त्याग कर आयुर्वेद को जीवित रखा। हमारी [illegible]र रहने के बावजूद आयुर्वेद को प्राचीन अच्छे दिन देखने नहीं मिले हैं। आयुर्वेद अध्ययन को विशुद्ध [illegible]की अपेक्षा उसमें एलोपैथी को भी सम्मिलित [illegible] जाता है, जो हम नहीं चाहते। अभी इसके नकली डाक्टर तैयार [illegible]

कहा कि जनता शासन आयुर्वेद के प्रति सहानुभूति दिखाता है परन्तु इस सहानुभूति की अनुभूति हुई नहीं है। अतः शासन को आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति को प्रोत्साहन देने के लिए बाध्य किया जाये।

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन के संस्थापक एवं संचालक वैद्य पं० रामनारायणजी शर्मा ने कहा कि आयुर्वेद की उन्नति की दृष्टि से आचार्य विश्वनाथजी द्विवेदी तथा आचार्य त्रिवेदी जी ने अथक परिश्रम उठाये। अच्छी प्रामाणिक किताबें लिखी है।

आचार्य वैद्य विश्वनाथ जी द्विवेदी ने कहा कि हम

आज भी अपने आप को आयुर्वेद का विद्यार्थी समझ कर इस चिकित्सा प्रणाली की सेवा कर रहे हैं। आयुर्वेद किसी की दया पर जीवित नहीं बल्कि वह अपने गुणों पर जीवित हैं। उसे नष्ट करने की शक्ति किसी में भी नहीं है। उन्होंने आगे कहा कि आयुर्वेदिक दवाइयां न केवल सस्ती है बल्कि इससे प्रभावी रहने के कारण रोग समूल नष्ट होता है। इन दवाइयों में वह प्रभाव है कि स्वास्थ्य रक्षा के साथ-साथ अन्य रोगों का प्रादुर्भाव नहीं होता। देशवासियों के स्वास्थ्य रक्षा की दृष्टि से देश का धन विदेशों में जाने से रोकने हेतु हम आयुर्वेद चिकित्सा प्रणाली के मानने वालों को आगे आकर कार्य करना होगा। आयुर्वेद के बिना हमारे राष्ट्रीय स्वास्थ्य रक्षा की क्षमता अन्य चिकित्सा पद्धति में नहीं है।

आचार्य रघुबीर प्रसादजी त्रिवेदी ने कहा कि श्री बैद्यनाथ प्रतिष्ठान के संस्थापक एवं संचालक वैद्य पं. रामनारायणजी शर्मा के आह्वान पर हम आयुर्वेद के प्रचार-प्रसार का कार्य कर रहे हैं। हम आयुर्वेद का संगठन मजबूत बनाना चाहते हैं। आयुर्वेद का कार्य नागपुर में और विशेषतः श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि. नागपुर द्वारा ही अधिक होता है। उन्होंने आगे कहा कि आयुर्वेद में महान शक्ति है और उसका अर्थ एवं महत्व हमें समझ लेना होगा। मिशनरी के अनुसार कार्य करना होगा। आयुर्वेद की दवाइयों का महत्व विदेशियों के समझ में आ गया तो आयुर्वेद करोड़ों रुपये विदेशों से ला सकता है। इतनी प्रभावी यह चिकित्सा-पद्धति है। विज्ञान से हमारा मतभेद नहीं है। प्राचीन आयुर्वेद चिकित्सा-प्रणाली सर्वोत्कृष्ट है। यह सस्ती है तथा रोग का समूल नाश करनेवाली है। एलोपैथिक दवाइयों में भी मूल तत्व आयुर्वेदिक जड़ी-बूटियों के ही है।

पं. गुलराजजी शर्मा ने कहा कि आयुर्वेद चिकित्सा-प्रणाली का जनता को लाभ दिलाने का अधिकांश श्रेय श्री बैजनाथ आयुर्वेद भवन को है। अतिथि द्वय का योग हमारे लिये निश्चित ही महत्वपूर्ण रहा है।

डा. दुरुगकर द्वारा आभार प्रदर्शन हुआ।

इस अवसर पर सर्वश्री डा. दे.वा. दुरुगकर, भीमजी भाई भट, बबनराव ढवले, तात्याजी कडू, उमेश शर्मा, प्रा. कुंडले आदि अनेक प्रमुख नागरिक उपस्थित थे।

लोकनायक जयप्रकाश नारायण सम्मानित

विगत ८ फरवरी, '७८ को वाराणसी नगर में विद्वत्परिषद् के तत्वावधान में सम्पन्न विशेष दीक्षान्त समारोह में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राच्य विद्या विभाग के डीन श्री मधुसूदन शास्त्री महोदय के करकमलों द्वारा लोकनायक श्री जयप्रकाश नारायण को "भारत विभूति" की सम्मानोपाधि प्रदान कर सम्मानित किया गया।

बिहार के विद्वानों का सम्मान

अभी हाल ही में वाराणसी में सम्पन्न एक विशेष दीक्षान्त समारोह में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रो० डीन, फैकल्टी ऑफ दी ओरियन्टल लर्निंग श्री मधुसूदन शास्त्री के कर-कमलों से बिहार के निम्नांकित विद्वान् इन सम्मानोपाधियों से सम्मानित किये गये :—

१. श्री रामरक्ष पाठक, आयुर्वेद वारिधि, २. श्री श्रुतिदेव शास्त्री, विद्यावाचस्पति, ३. श्री दुर्गा प्रसाद शर्मा, आयुर्वेद वारिधि, ४. श्री कात्यायन प्रमोद पारिजात, भारताचार्य तथा विद्यावाचस्पति, ५. श्री अश्विनी कुमार वर्मा, साहित्यवाचस्पति, ६. श्री हीरालाल वर्मा, आयुर्वेदाचार्य।

सचित्र

SACHITRA AYURVED

आयुर्वेद

जुलाई, १९७८



मौलिक सिद्धान्त विशेषांक

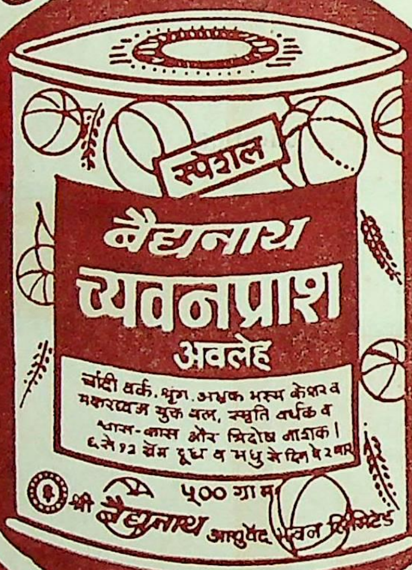




श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०

बैद्यनाथ भवन रोड, पटना-१

हर परिवार में
सबका मनचाहा
आदर्श आयुर्वेदिक टॉनिक





बैद्यनाथ

स्पेशल

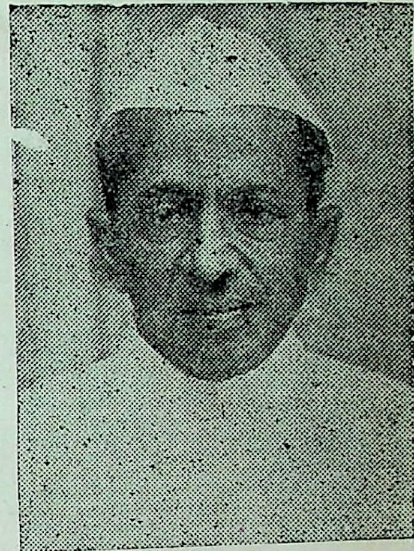
च्यवनप्राश

चांदी वर्क, केशर व
मकरध्वज युक्त
शुद्ध घी में
तैयार किया हुआ



शुभकामनाएँ एवं सन्देश

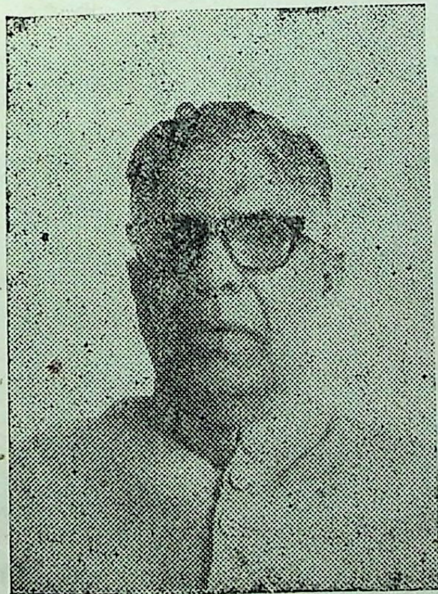
VICE-PRESIDENT, INDIA
New Delhi.



I am happy to learn that a special number of "Sachitra Ayurved" will be brought out by Shree Baidyanath Ayurved Bhawan Ltd., Patna on the Basic Principles of Ayurveda. I wish the publication all success.

Sd/. B. D. Jatti.

K. S. Hegde,
Speaker, Lok Shabha
NEW DELHI
Dated 14.4.78

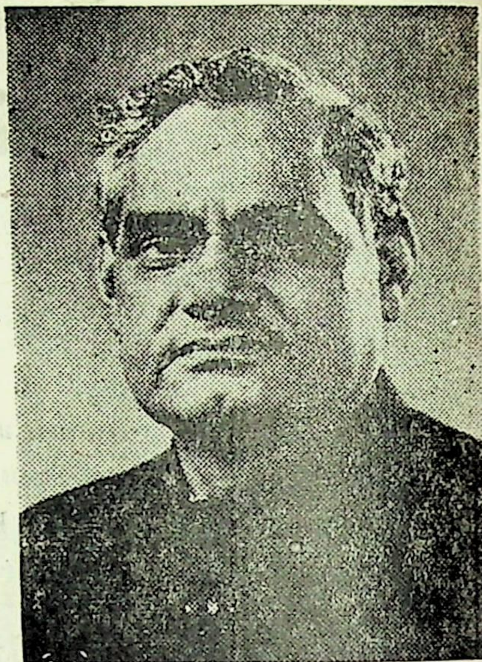


Dear Shri Shastri,

I am glad to learn that a special number of "Sachitra Ayurved" a monthly journal concerning the basic principles of Ayurved is being published shortly. Study and research of medical sciences is of immense significance to fight eradication of disease. The readers of your journal will benefit a great deal to know about the causes of various diseases and what precautions are necessary to be taken to prevent the spread thereof. Your publication will serve a useful purpose. I wish your venture all success.

Yours sincerely,
Sd/-K. S. Hegde

No. 3797-FM/78
Private Secretary to the Minister of External Affairs
NEW DELHI.
April 17, 1978



Dear Sir,

The External Affairs Minister, Shri A. B. Vajpayee is glad to know that Shree Baidynath Ayurved Bhawan Ltd., is bringing out a special number of "Sachira Ayurved".

He sends his best wishes for the success of the venture.

Yours faithfully,
Sd/-P. Ghosh

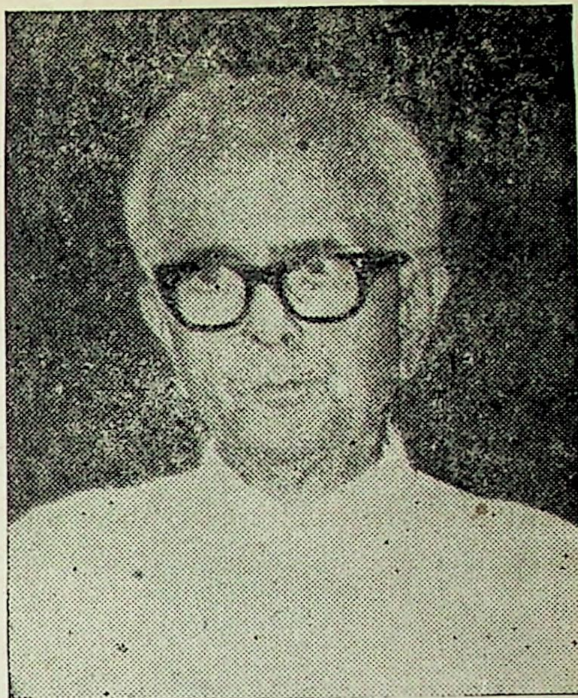
Raj Bhavan, Bangalore
Pin : 560001
Dt. 17th April, 1978.

Dear Sir,

The Governor is glad to learn that Shree Baidyanath Ayurved Bhawan Limited, Patna is bringing out a special number of "Sachitra Ayurved" a monthly journal of Ayurvedic Science, shortly. He sends his good wishes on this occasion.

Your faithfully,
Sd/-B. R. Prabhakara
Secretary to Governor

Raj Bhawan, Calcutta
13th June, 1978.



It is a matter of pleasure to know that Shree Baidyanath Ayurved Bhawan Limited, Patna, has decided to bring out a special number of the "Sachitra Ayurved", a monthly journal on Ayurvedic Science. Ayurved has played a significant role in the field of therapy from time immemorial in this country. Any effort to restore its rightful place in the medical world and highlight its importance is commendable.

I wish the venture all succcss.

Sd/-T. N. Singh
Governor of West Bengal

RAJ BHAWAN, PATNA
May 6, 1978

I am glad to know that Shree Baidyanath Ayurved Bhawan, Patna, is going to bring out a special number of its monthly journal "Sachitra Ayurved". Ayurvedic treatment is very popular in our country. Even today in villages where there is no allopathic dispensary people largely depend on herbs for their treatment.

I hope the special number will high-light its usefulness and popularity and afford an instructive reading.

I wish the efforts of the publisher all success.

Sd/-Jagannath Kaushal
Governor of Bihar.

RAJ BHAWAN, MADRAS.
Dt. 19. 4. 1978.

I am glad to know that Shree Baidyanath Ayurved Bhawan Limited, Patna, proposes to bring out a special number on the basic principles of Ayurveda. I am sure a publication like this will enlighten not only the medical practitioners but also the people on the efficacy of the Ayurvedic system of medicine. Ayurveda has attracted the attention of people in foreign countries and it has a vital role to play in our health services. I wish this special number every success.

Sd./Prabhudas B. Patwari
Governor of Tamil Nadu.

RAJ BHAWAN, LUCKNOW
April 17, 1978.



I am happy to know that Shree Baidyanath Ayurved Bhawan Ltd. 's 'Sachitra Ayurveda' is coming out with a special number shortly.

Ayurvedic science and philosophy was conceived and furthered by the saints, sages and monks during the course of centuries and its purpose and content envelopes a vast sphere of physical, mental and spiritual phenomena. Ayurvedic Pharmacopoeia has its roots on the soil of the land and besides being cheap, it suits our nature well. I am sure, the proposed publication shall go a long way to make the Ayurvedic Science popular, as also to bring it at par with the modern sciences wherever necessary. I wish the mission all success.

Sd/-G. D Tapase
Governor of Uttar Pradesh

Pt. SHIV SHARMA,
Ayurvedchakravarti, Vaidyaratna
CCIM/157/78

Baheristan; Bomanji Petit Road,
Kambala Hill, Bombay-400036,
April 17, 1978



I am glad to learn that the popular Ayurvedic monthly 'Sachitra Ayurveda' is bringing out a special issue dealing with the Basic Principles of Ayurveda very shortly.

This journal has maintained a high standard in giving useful Ayurvedic knowledge to the professional Ayurvedic physician, the teachers and students and others interested in the study of Ayurveda.

I am sure the prospective special issue will maintain the high quality of its predecessors.

I wish the publication every success.

Sd./Shiv Sharma

Dr P. M. MEHTA.

5, Sneha Sadan,
144, CHURCHGATE RECLAMATION,
BOMBAY-400020
15th April, 1978.



Dear Shri Shrikant Shastriji,

Thank you for your kind letter of 11.4.1978.

I congratulate you for your new adventure to publish a special number of your esteemed journal on the 'Basic Principles of Ayurved'

Baidyanath Bhawan is ever rendering pioneer services in the all Ayurved activities. Your endeavour for revival of Ayurved are both theoretical and practical.

Theoretically you have produced large number of useful books on Ayurved and inspired young people to study Ayurved. On practical side you are supplying the country with pure Ayurvedic Medicines.

Pandit Shri Durga Prasad ji is spreading message of Ayurveda all over the world. God Dhanvantari will give you full success in this academic endeavour.

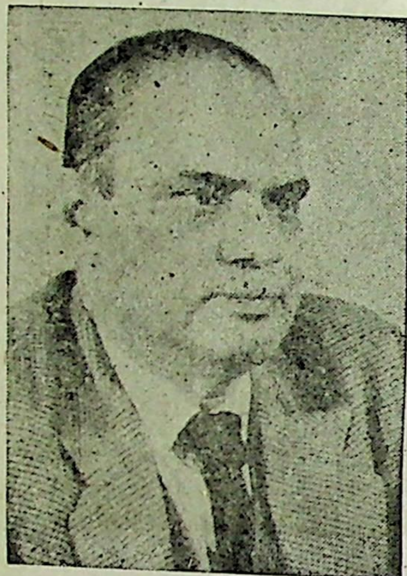
With best regards,

Yours sincerely,

Sd./ Dr. P. M. Mehta

Dr. K. N. UDUPA,
M. S, F. R. C. S. (c) F. A. C. S., F: A, M. S.
Professor of Surgery and Director
No. I-Gen /77-78/706.

Institute of Medical Science
Banaras Hindu Univeristy
VARANASI (U. P. INDIA)
Date May 6, 1978.



Dear Sir,

I am very happy to know that you are going to bring out a special number of 'Sachitra Ayurved' on the Basic Principles of Ayurveda shortly. It is really a good idea and hope it will greatly serve the cause of advancement of Ayurveda. While the Indigenous Medicine plays a great role in the total health care programme of a developing country, bringing out of such a special issue of your Journal, will go a long way towards furtherance or advancement of this ancient Science.

I therefore, wish this special issue of your journal great success.

Yours faithfully,

Sd/ K. N. Udupa.

Dr. V. NARAYANASWAMI, L. I. M.? HPIM.

70, TANA STREET,
VEPERY, MADRAS.
Date 2. 6. 1978.

Dear Shastri,

I am glad to know that your journal 'Sachitra Ayurveda' is bringing out a special number devoted to the Basic Principles of Ayurveda. I am sure the number will be highly useful to the public and Vaidyas as you always maintain a high standard.



Yours faithfully,

Sd./ V. Narayanaswamt

Member, Central Council of Indian Medicine.

Dr. C. DWARAKANATH.

13A, W. E. A.,
Karolbagh, New Delhi-5.
May 31, 1978.



Dear Shri Srikant Shastri,

I am in receipt of your letter No. 2547 dated 29th May, 1978. I am indeed glad to learn that a special number of 'Sachitra-Ayurveda' dealing with 'Basic Principles of Ayurveda' is to be published shortly. I am sure that this issue will go a long way in promoing a good understanding of the 'Basic-Principles of Ayurveda' and lead on to their practical application which has become an urgent necessity.

I wish the efforts of 'Sachitra Ayurveda' in this direction all success.

With kind regards,

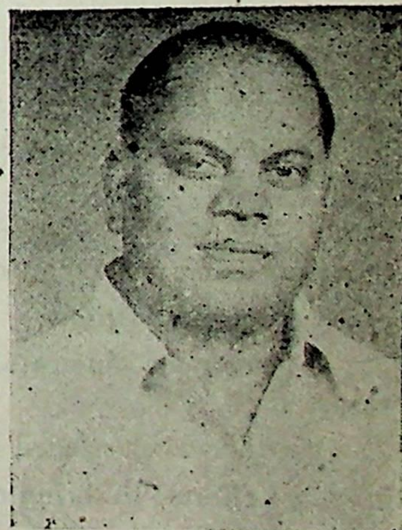
Yours sincerely,
Sd/ C. Dwarakanath

Dr. N. Sreedharan,
Director of Indigenons Medicine (Retired)
Mitra T. C. 28/125, Pettah P. O.,
Trivandrum (Kerala)

Trivandurm
17-4-1978.

Dear Shri Shastri,

I am glad to know that Shree Baidyanath Ayurved Bhavan, Patna, proposes to bring out a special number of 'Sachitra Ayurved', a journal devoted to the progress of Ayurvedic Science. It is an accredited fact that this journal has all along been upholding the cause of Ayurvedic System of treatment and studies. I wish Shree Baidyanath Bhavah every success in their new venture.



Yours sincerely,
Sd Dr. N. Sreedharan.

Dr. M. L. DWIVEDI,
Vice Chancellor
Gujarat Ayurved University
No. VC/I/21/30

Dhanwantari Mandir,
Jamnagar 20th April, 1978.



Dear Shri Shastri,

I am glad to receive your letter dtd. 12th April, 1978 and to know that 'Sachitra Ayurved' is bringing out a special number on the Basic Principles of Ayurved.

'Sachitra Ayurved' has richly contributed to the noble cause of Ayurved and has acquired dominating position among the Ayurvedic Journals. I hope this special number will provide valuable knowledge and guidance to the readers on the fundamentals of Ayurved.

I send my best wishes for the progress and prosperity of the journal and wish the special number a grand success.

Yours sincerely,
Sd./-M. L. Dwivedi

Ayurveda Chakravarty
GOVIND PRASAD VAIDYA
'Dhanwantari' AHMEDABAD-380021 (GUJARAT)
President : All India Ayurveda Congress.
Ref. No, 78/79

Date. 8. 7. 78.

Sir,

Pleased to learn that a special number of 'Sachitra Ayurved' monthly is going to be published very soon.

It will be a stepping stone to success which will bring out basic principles of Ayurved to the readers of Ayurved publications.

I convey my congratulations to you and your co-workers.

Further when needed I shall be co operating you in your efforts to bring out secrets of Ayurved to millions of our country-men.



Yours in co-operation
P. S. to, *Govind Prasad Vaidya*

प्रो० राजाराम शास्त्री, कुलपति

काशी विद्यापीठ
वाराणसी
दि० २२-४-१९७८

प्रिय शास्त्री जी,



'सचित्र आयुर्वेद' के विशेषांक की सूचना आपने दी, इसके लिए धन्यवाद। वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन इस पत्रिका को निकालकर आयुर्वेद तथा भारतीय जनता की बड़ी उपयोगी सेवा कर रहा है। अंग्रेजी राज में एकाएक अंग्रेजियत के छा जाने से भारतीय चिकित्सा-प्रणाली का सांस्कृतिक दमन हुआ, जिसके कारण अधिकांशजन इसके ज्ञान से वंचित हो गये और पाश्चात्य चिकित्सा-प्रणाली को ही सब कुछ समझकर आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत क्षतिग्रस्त हुए। आज स्वतंत्र भारत में इस स्थिति के परिमार्जन तथा क्षतिपूर्ति की नितान्त आवश्यकता है। आयुर्वेद के तिरोभाव से भारतीय जीवन में अपने परम्परागत संस्कारों और पाश्चात्य स्वास्थ्य प्रणाली के बीच एक असंगति उत्पन्न हो गई और यह खाई अभी तक पट नहीं सकी। उदाहरण के लिए कौमार भृत्य और अन्नप्राशन आदि संस्कारों को देखें तो इनमें स्वास्थ्य-रक्षण की जो विधियां प्राप्त होती हैं उनकी, पाश्चात्य चिकित्सा-पद्धति अपना लेने पर, पूर्ण उपेक्षा हो गई। एक प्रकार से लोग चिकित्सा-पद्धति पर ही सीमित हो गये। स्वास्थ्य-रक्षा की पुरानी विधियों का स्थान किसी नई विधि ने नहीं लिया। इस तरह स्वास्थ्य-रक्षा और चिकित्सा का सम्बन्ध ही टूट गया। क्योंकि स्वास्थ्य-रक्षा की विधि जनजीवन में स्थापित करने के लिए परम्परा और अभ्यास की आवश्यकता होती है। नई चिकित्सा-विधि ने इसकी कोई व्यवस्था नहीं की। इसका जहां एक कारण नये चिकित्सकों और देशी तथा विदेशी औषधि-विक्रेताओं का निहित स्वार्थ है वहां दूसरा कारण भारतीय जनता की निर्धनता भी है। क्योंकि आधुनिक स्वास्थ्य पद्धति को हमारे जनजीवन में स्थापित करना व्यय-साध्य है और वह उच्च वर्ग के कुछ पश्चिम-प्रेमियों के लिए ही सम्भव है। इसमें विदेशी सामग्री के आयात की भी आवश्यकता होती है जिससे देश की आर्थिक हानि होती है। ऐसी स्थिति में उपाय यही है कि भारतीय संस्कारों और अभ्यासों के अनुरूप परम्परागत भारतीय स्वास्थ्य एवं चिकित्सा-प्रणाली को ही पुनर्स्थापित किया जाय। हां, इतना अवश्य है कि आधुनिक आविष्कारों के द्वारा जो नई बातें उपलब्ध हुई हैं उनका समावेश और समन्वय अपनी आधारभूत पद्धति में कर लेना चाहिए। नहीं तो हमारी प्रणाली आज के युग में अन्य राष्ट्रों की तुलना में पिछड़ जायेगी।

मुझे विश्वास है कि 'सचित्र आयुर्वेद' इस दृष्टि से आयुर्वेद की शिक्षा और व्यवहार का समर्थन और प्रतिपादन करेगा। आपकी सफलता के लिए मेरी शुभकामनाएँ।

आपका
ह0 राजाराम शास्त्री।

KAVIRAJ ASHUTOSH MAJUMDAR
17, Pusa Road,
New Delhi,
10-5-78

सम्पादक,
सचित्र आयुर्वेद,
वैद्यनाथ भवन रोड, पटना-१



'आयुर्वेदीय मौलिक सिद्धान्तों' पर विशेष प्रकाश डालने के उद्देश्य से 'सचित्र आयुर्वेद' का विशेषांक निकाला जा रहा है, यह जानकर प्रसन्नता हुई।

किसी भी चिकित्सा विज्ञान के अस्तित्व का आधार उसके मौलिक सिद्धान्त ही हैं। वे इतने स्पष्ट होने चाहिए जिससे कभी भी किसी को उनकी मौलिकता में सन्देह न रहे, अन्यथा स्वस्थ व्यक्तियों के स्वास्थ्य की रक्षा और रोगियों का व्याधिहरण तो सभी चिकित्सा पद्धतियों में सम्भव ही है, पंचमहाभूत, त्रिदोष, प्रकृति विनिश्चय, रस-गुण-वीर्य-प्रभाव-अमृतीकरण, सम्पूर्ण द्रव्य का चिकित्सा में उपयोग, विपरीत एवं विपरीतार्थकारी चिकित्सा आदि सिद्धान्त आयुर्वेद के मौलिक हैं और आज के परिप्रेक्ष्य में इन पर प्रकाश डालकर वैद्यों और आयुर्वेद के छात्रों को विश्वास दिलाने की आवश्यकता है।

मुझे आशा है कि इस विशेषांक में इन विषयों पर विद्वान वैद्यों के सारगर्भित लेख होंगे, मैं इस विशेषांक की सफलता की कामना करता हूँ।

भवदीय,
ह० आशुतोष मजुमदार

वैद्यनाथ प्रतिष्ठान के संयुक्त प्रबन्ध-निदेशक एवं "सचित्र आयुर्वेद" के माननीय संरक्षक



आयुर्वेद-चक्रवर्ती, आयुर्वेदशास्त्र वाचस्पति, आयुर्वेद-वारिधि, वैद्यरत्न, वैद्यशिरोमणि, प्राणाचार्य

पं० दुर्गा प्रसाद जी शर्मा, आयुर्वेदाचार्य

आपका आयुर्वेदीय मौलिक सिद्धांतों की चिकित्सा में उपयोगिता के सम्बन्ध में अत्यन्त विचारपूर्ण लेख इस अंक में अन्यत्र पढ़ें। —सम्पादक

विषय सूची

सचित्र आयुर्वेद

संरक्षक :
आयुर्वेद-चक्रवर्त्ती,
आयुर्वेद-शिरोमणि
प्राणाचार्य
पं० दुर्गा प्रसाद शर्मा
आयुर्वेदाचार्य

परामर्शदाता :
आयुर्वेद-बृहस्पति
आचार्य रामरक्ष पाठक

सम्पादक :
श्रीकान्त शास्त्री, एम. ए.

अंग्रेजी

वार्षिक मूल्य १० रु०]   इस अंक का मूल्य : ५-००   [एक प्रति १ रुपया

Registered with the Registrar of Newspapers for India Under R. N. 2772/57
आयुर्वेद-जगत् में सर्वजन-समादृत और सर्वाधिक बिक्री होने वाला आयुर्वेद-विज्ञान का प्रमुख मासिक पत्र

आयुर्वेद-विज्ञान का प्रमुख मासिक पत्र

सचित्र आयुर्वेद

आयुःकामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम् । आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः ॥

३१ वर्ष | पटना, जुलाई, १९७८ | अंक—१

सुभाषितम्

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥ यजुर्वेद २५।२१

—हे देवो, हमारी जितनी आयु है उसमें कर्णो से कल्याणकारी बात ही सुनें, चक्षुओं से कल्याणकारक पदार्थ ही देखें। हे याजको, हम सम्पूर्ण आयु-पर्यन्त अपने स्थिर (अविकल और दृढ) अङ्गों से ईश्वर आराधना करते हुए देवों का (पदार्थ मात्र का) हित ही करते रहें।

★

सर्वमन्यत् परित्यज्य शरीरमनुपालयेत् ।
तद्भावे हि भावानां सर्वाभावः शरीरिणाम् ॥ च० नि० ६।६-७

—बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि जिन आहार-विहारादि से शरीर का योगक्षेम हो—नाम, अनागत व्याधियों की अनुत्पत्ति एवं बल-वर्णादि की प्राप्ति हो—उनके ही ज्ञान और अनुष्ठान का प्रयत्न करे। कारण शरीर ही इसका मूल है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थों के आचरण में शरीर ही कारण है।

★

धीधृति-स्मृति विभ्रंशः सम्प्राप्ति काल कर्मणाम् ।
असात्म्यार्थागमश्चैव ज्ञातव्या दुःख हेतवः ॥ च० शा० १।९८

—दुखों के तीन कारण हैं—१. बुद्धि (हिताहित का ज्ञान), (हिताहित का संयोग होने पर उनके हित और अहित होने की) स्मृति और (अहित के परित्याग और उसके सेवन के हित के लिए योग्य) धृति या संयम—प्रज्ञा के इन गुणों का नष्ट होना (प्रज्ञापराध); २. काल और कर्म की सम्प्राप्ति; तथा ३. इन्द्रियों का अपने अर्थों में असात्म्य योग।

★

शास्त्रं ज्योतिः प्रकाशार्थं दर्शनं बुद्धिरात्मनः ।
ताभ्यां भिषक् सुयुक्ताभ्यां चिकित्सन्नापराध्यति ॥

—जैसे वस्तुओं के दर्शन के लिए वाह्य आलोक—प्रकाश और चक्षु दो उपकरण अपेक्षित हैं, वैसे आयुर्वेद प्रतिपाद्य विषयों के प्रकाश नाम सम्यक् उपलब्धि के लिए शास्त्र अर्थात् शास्त्र के अभ्यास से प्राप्त की हुई बुद्धि ज्योति या वाह्य प्रकाश रूप है।

चिन्तन के क्षणों में

पञ्च महाभूत और त्रिदोष

भारतीय दार्शनिकों और चिकित्सकों का मत है कि समग्र चराचर सृष्टि के मूल कारण आकाश (नभस्) वायु, तेज (अग्नि), अप् (जल) और पृथ्वी ये पञ्चभूत हैं। इन पंचभूतों के न्यूनाधिक भावों से विशिष्ट संयोग तथ प्रकृति सम-समवाय (Physical mixture) या प्रकृति विषम-समवाय (Chemical composition) से संसा के सब विविध पदार्थों की उत्पत्ति और उनके विविध व्यापार होते हैं। यद्यपि सब द्रव्य पञ्चभूतों से उत्पन्न हुए है तथापि **'व्यपदेशस्तु भूयस'** इस न्याय के अनुसार जिन द्रव्यों में आकाश के गुण-कर्म अधिक थे उनका 'आकाशीय (नाभस), जिन द्रव्यों में वायु व गुण-कर्म अधिक थे उनका 'वायव' जिनमें तेज (अग्नि) के गुण-कर्म अधिक थे, उनक 'तैजस' (आग्नेय), जिनमें अप के गुण-कर्म अधिक थे, उनका 'आप्य' तथा जिनमें पृथ्वी के गुण-कर्म अधिक थे उनक पार्थिव नाम रखकर व्यवहार-सौकर्य के लिए समस्त कार्य द्रव्यों का उन्होंने पार्थिव, आप्य, तैजस, वायव्य औ नाभस्—इन पाँच वर्गों में वर्गीकरण किया है। तत्तत् वर्ग के द्रव्यों में तत्तत् महाभूत की अधिकता का निर्णय तत्तत महाभूत के गुण-कर्मों की अधिकता के अनुसार किया गया है। जैसे सृष्टि के सब पदार्थ पाञ्च भौतिक हैं वैसे मनुष्यादि सब प्राणियों के शरीर भी पाञ्च भौतिक हैं, तथापि व्यवहार-सौकर्य के लिए शरीर की प्राकृत क्रियाएं, शरीरावयवों की विकृति (रोग) और रोग-निवारण की दृष्टि से शरीरस्थ सब पदार्थों का वात (वात वर्ग), पित्त (पित्त वर्ग) और कफ (कफ वर्ग)—इन तीन वर्गों में वर्गीकरण किया गया है। प्राणि शरीर मे (वात, वायु और आकाश) महाभूत का, पित्त अग्नि महाभूत का और कफ जल (और पृथ्वी) महाभूत का प्रतीक (स्थानापन्न प्रतिनिधि) है। वाह्य जगत में जो क्रियाएं वायु महाभूत द्वारा होती हैं प्राणि शरीर में वे सब क्रियाए वात धातु द्वारा होती हैं, वाह्यजगत में जो क्रियाएं तेज महाभूत द्वारा होती हैं प्राणि शरीर में वे सब क्रियाएं पित्त धातु द्वारा होती हैं तथा वाह्य जगत् में जो क्रियाएं जल महाभूत द्वारा होती हैं प्राणि शरीर में वे सब क्रियाएं कफ धातु द्वारा होती हैं। जैसे पाञ्च भौतिक वर्गीकरण में सृष्टि के सब पदार्थ पाञ्च भौतिक होने पर भी एक-एक महाभूत के गुण-कर्मों की अधिकतानुसार पार्थिव आदि पांच वर्गों में उनका वर्गीकरण किया गया है, वैसे ही त्रिधातु वर्गीकरण में प्राणिशरीरस्थ सब पदार्थ त्रिधात्वात्मक होने पर भी एक-एक धातु के गुण-कर्मों की अधिकतानुसार उनका वात वर्ग, पित्त वर्ग और कफ वर्ग—इन तीन वर्गों में वर्गीकरण किया गया है।

सारांश यह कि प्राचीन भारतीय वैद्यों ने सृष्टि के समग्र पदार्थों को पार्थिव, आप्य, तैजस्, वायव्य तथा नाभस्—इन पांच वर्गों में और प्राणिशरीरस्थ सम्पूर्ण पदार्थों को वात, पित्त और कफ—इन तीन कर्मों में विभक्त करके इन दोनों वर्गीकरणों की आधारशिला पर अपने चिकित्सा-शास्त्र का प्रासाद खड़ा किया है। भारतीय चिकित्सा-शास्त्र के शरीर-क्रिया विज्ञान, द्रव्य गुण-विज्ञान, रोग विज्ञान और चिकित्सा—ये विषय इन दोनों वर्गीकरणों के आधार पर लिखे गए हैं—इस तथ्य को ध्यान में रखकर पंचमहाभूत और त्रिधातु (त्रिदोष) का विचार करने से ही उनका वास्तविक स्वरूप ध्यान में आ सकता है।

प्राचीन ग्रन्थों में वात-पित्त-कफ के जो भेद वर्णित हैं, वे उस समय में आविष्कृत (ज्ञात हुए) भेद हैं। प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित कुछ दोषों के भेद भी स्वतंत्र नहीं परन्तु अनेक अवान्तर भेदों के वर्ग हैं, जैसे पाचक पित्त। आधुनिक क्रिया शारीर (फिजियोलॉजी) में आयुर्वेदोक्त दोष-भेदों के अतिरिक्त दूसरे अनेक द्रव्यों का वर्णन पाया जाता है। उनका भी उन के गुण-कर्मानुसार त्रिधातु वर्गीकरण में समावेश करके त्रिधातु विज्ञान के नवीन ग्रन्थ के निर्माण की इस समय आवश्यकता है। त्रिधातु वर्गीकरण की शारीर-क्रिया-विज्ञान, रोग विज्ञान और चिकित्सा में क्या उपयुक्तता है और दोषलक्षणानुसार निदान और चिकित्सा करने में कितना सौकर्य है—इस विषय का प्रतिपादन करना और आयुर्वेद के त्रिदोष सिद्धान्त की उपयोगिता संसार के सामने रखना इस समय परमावश्यक है।

स्व० यादवजी त्रिकम जी आचार्य

सम्पादकीय

हमारा यह विशेषांक

जैसा भी बन सका, कृपालु पाठकों की सेवा में प्रस्तुत है। मासिक पत्रों की परम्परा वर्ष में एक विशेषांक प्रकाशित करने की रही है और 'सचित्र आयुर्वेद' भी इस परम्परा का पालन करता रहा है। हाँ, बीच में कई अपरिहार्य कारणों से हम विशेषांक प्रकाशित करने में अक्षम रहे—जिसका हमें खेद रहा। आमतौर पर आयुर्वेदीय पत्र किसी रोग-विशेष पर ही विशेषांक प्रकाशित करते हैं, जिनमें कोई नवीनता प्रायः होती नहीं; वही आर्ष ग्रन्थों की पिटी-पिटायी बातें—श्लोकों के उद्धरण पर उद्धरण। एक-एक रोग के कम-से-कम सौ आतुरों पर की गयी चिकित्सा के क्रम में प्राप्त सिद्धहस्त वैद्यों के अनुभवों का लेखा-जोखा हो तो बात बनती है, लेकिन ऐसा प्रायः होता नहीं। अकारण विशेषांक के कलेवर को बोझिल बनाया जाता है। इस सम्बन्ध में हमारा एक विशेष दृष्टिकोण रहा है—वह यह कि आयुर्वेद-शास्त्र के सैद्धान्तिक पक्ष पर अधुनातन ढंग से प्रकाश डालना एवं नवीन तथ्यों से उसको उदात्त एवं उजागर करना। पहले के प्रकाशित हमारे विशेषांक इसके प्रमाण हैं। व्याधियों पर भी हमने विशेषांक प्रकाशित किये हैं—और वे बहुप्रशंसित हुए—जैसे हृदयरोगांक, मधुमेहांक, प्रभृति।

गत फरवरी, ७८ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालयस्थ चिकित्सा विज्ञान संस्थान द्वारा आयोजित सेमीनार में एक प्रेक्षक के रूप में सम्मिलित होने का शुभावसर मिला था। संस्थान के मौलिक सिद्धांत बिभाग के विद्वान प्राध्यापकों, यथा डा० ज्योतिर्मित्र, डा० एल० वी० गुरु, डा० रामसुशील सिंह प्रभृति की सलाह हुई कि आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्तों (Basic principles) के सम्बन्ध में 'सचित्र आयुर्वेद' का एक सर्वांगपूर्ण विशेषांक प्रकाशित किया जाय। हमें यह सलाह मान्य हुई और विशेषांक की तैयारी में जुट गया। विशेषांक के लिए विषय-सूची डा० ज्योतिर्मित्र के योग्य-परामर्श से तैयारी की गयी; जिसकी एक प्रति आयुर्वेद-जगत के सुख्यात चिन्तक एवं विद्वान लेखक वैद्य रणजित राय देसाई की सेवा में भेज कर हमने यह चाहा कि वे भी यदि चाहें तो उक्त सूची में घटा-बढ़ी कर दें। श्रीयुत् देसाई जी ने सूची में कुछ विस्तार करके अपनी ओर से कुछ विषयों को जोड़ा। इसके लिए हम अभारी हैं। डा० ज्योतिर्मित्र के तो हम आभारी हैं ही। यह विशेषांक उनकी कल्पना का मूर्त्त रूप है। पुनः इन विद्वानों को सर्वान्तःकरण से हम धन्यवाद देते हैं, आभार मानते हैं।

X X X

कहना नहीं होगा कि आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्तों की परिधि व्यापक है—और विद्वानों में, जहाँ तक मौलिक सिद्धान्तों का प्रश्न है, उसकी सीमा एवं विस्तृति के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। मौलिक सिद्धान्तों के बारे में एक सर्वसम्मत स्थापना अभी तक निश्चित नहीं हो सकी है—सबसे बड़ी कठिनाई यही है। सच पूछिए तो मौलिक सिद्धान्तों की व्यापकता को दृष्टिगत करते हुए मौलिक सिद्धान्तों के बारे में प्रत्येक व्यक्ति की निजी स्वतंत्र राय हो सकती है। यों इन विषयों का अध्यनाध्यापन स्नातकोत्तर एवं स्नातक पूर्व पाठ्यक्रमों के अन्तर्गत होता रहा है, और सम्प्रति हो भी रहा है। फिर भी एक अनिश्चितता की स्थिति कुछ-न-कुछ अवश्य बनी हुई है। संभव है कि आगे चलकर आयुर्वेद के सुधी विचारक इस अनिश्यितता की स्थिति को दूर कर सकने में सक्षम एवं सफल सिद्ध हो सकें।

एक बात और। आयुर्वेद का आधार उसके मौलिक सिद्धान्त ही हैं और सच कहा जाय तो आयुर्वेद का वैशिष्ट्य उसके मौलिक सिद्धांतों पर आधृत हैं। एक पक्ष का यह कथन है कि आर्ष-प्रणीत ये सिद्धान्त कालजयी हैं, अपरिवर्त्तनीय हैं, शाश्वत हैं, और इनमें किसी तरह का परिवर्त्तन वांछनीय नहीं, क्योंकि सृष्टि के प्रारम्भ में जो इनके सिद्धान्त थे—वे ही आज भी हैं और वे ही सृष्टि-पर्यन्त रहेंगे। एक पक्ष कहता है कि परिवर्त्तित परिस्थितियों में इनमें परिवर्त्तन होना चाहिए और युगानुरूप बनाने के लिए संशोधन-उपबृंहण एवं प्रतिसंस्कार की गुंजायश प्रत्येक शास्त्र में रहनी चाहिए। आयुर्वेद का दार्शनिक आधार अत्यन्त विस्तृत, सुपुष्ट एवं प्रौढ़ हैं। जितनी दार्शनिकता का पुट

एवं गाभीर्य आयुर्वेद में है, किसी अन्य चिकित्सा-प्रणाली में नहीं। कुछ लोगों की ऐसी भी धारणा हो चली है कि आयुर्वेद को मात्र चिकित्सा-शास्त्र के रूप में रहना है, न कि दर्शन शास्त्र के रूप में। दर्शन शास्त्र Conceptual होता है, जबकि चिकित्सा-शास्त्र प्रात्यक्षिक एवं व्यवहारिक होता है। जीवन-जगत, लोक-परलोक, जीवात्मा-परमात्मा-सम्बन्धी विवेचन जिस ऊँचाई और गहराई के साथ भारतीय दर्शन-शास्त्र में हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। आयुर्वेद के स्रष्टा महर्षियों ने मानव पीड़ा से द्रवित होकर 'लोकानुकम्पाय' 'जरा-व्याधि नाशाय' आयुर्वेद शास्त्र की संरचना की और चूंकि मूलतया वे लोग दार्शनिक थे—चिन्तक थे—उन लोगों ने सुदृढ़ दार्शनिक भित्ति पर आयुर्वेद को प्रतिष्ठित किया, जो अत्यन्त स्वाभाविक ही था। इसका दार्शनिक सिद्धान्त ही आयुर्वेद का वैशिष्ट्य है। यह एक स्वर से सभी स्वीकार करेंगे।

X X X

अस्तु, प्रस्तुत विशेषांक जैसा भी बन सका, कृपालु वाचकों के समक्ष है। इसके गुण-दोष का विवेचन सुधी जनों पर छोड़ता हूं।

क्षमा-याचना

'मौलिक सिद्धान्त विशेषांक' के लिए जो लेख हमें प्राप्त हुए, प्रायः उन सभी का उपयोग करने का प्रयत्न हमने किया, मात्र वैसे लेख ही विशेषांक में स्थान न पा सके, जो पर्याप्त विलम्ब से प्राप्त हुए। हम उन कृपालु लेखकों से क्षमा चाहेंगे जिनके लेख विशेषांक में न आसके। हमारी विवशता को दृष्टि में रखते हुए वे अन्यथा न समझेंगे—ऐसी आशा है। विशेषांक के हेतु आए इन समस्त लेखों का प्रकाशन 'सचित्र आयुर्वेद' में हम करेंगे ही। आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि लेखक बन्धु पूर्ववत् अपनी कृपा बनाये रखेंगे।

[पृष्ठ १६ का शेषांश]

अपेत का अर्थ है अपकारक। पथ्य पथ (स्रोतों) के लिये अनपेत (अनपकारक) है अर्थात् पथ्य अपकार करने वाला नहीं होता है।

"पथ्य-त्रि पथः अनपेतः यत्पथ्ये चिकित्सानुसारी मार्गोपहितम्। चिकित्सोपयोगिनि रोगि सेव्ये वस्तुनि हितकारकं च" ।। शब्द स्तोम

"पथ्यं पथोऽनपेत यद्यच्चौक्तं मनसःप्रियः ।।"

—च० सू० अ० २५

जो आहार-विहार शरीर तथा स्रोतों में जाकर किसी प्रकार का अपकार न करे तथा शरीर एवं शरीरावयवों को पुष्ट करें—उनको पथ्य कहते हैं। पथ्य के सेवन से शारीर दोष, धातुएं तथा सम्पूर्ण शरीर अपने-अपने स्वरूप तथा व्यापार को स्वस्थ रूप में रखते तथा करते हैं। इससे स्वास्थ्य की रक्षा होती है। जो आहार-विहार दोष, धातु तथा मल को शरीर में समावस्था में रखे तथा उनके व्यापारों को भी प्रकृत रूप में सम्पन्न करने में सहायक हो तथा आत्मा, इन्द्रिय और मन को प्रसन्न रखें उसे पथ्य कहते हैं। तात्पर्य यह कि मन और शरीर का अनुपघाती आहार-विहार पथ्य कहलाता है।

यह पथ्य मात्रा, काल, क्रिया (संस्कार), भूमि, देह, दोष, इनके गुणों की अपेक्षा रखता है अर्थात् जो आहार-विहार मात्रा में देश-काल के विचार से उचित संस्कार कर शरीर और शारीर दोषों के विचार से अर्थात् इनके गुणों की दृष्टि से सेवन किया जाता है; वह पथ्य होता है।

पथ्य व्यवस्था को दो मुख्य विभागों में विभक्त कर सकते हैं। जैसे—(१) स्वास्थ्य संरक्षणार्थ पथ्य व्यवस्था और (२) रोगकालीन पथ्य व्यवस्था। इनमें स्वास्थ्य संरक्षणार्थ पथ्य व्यवस्था का वर्णन स्वस्थवृत्त में दिनचर्या, ऋतुचर्या, न वेगान धारणीय, मात्राशितीय आयुष्कामीय, आहार-विहार प्रभृति अध्यायों में प्राप्त होता है।

रोग तथा व्याधिकालीन पथ्य-व्यवस्था तत्तद् रोगों में उपशय सात्म्य तथा पथ्य के नाम से वर्णित उपलब्ध होता है। आचार्यों ने इस सम्बन्ध में कहा है कि पथ्य की व्यवस्था समुचित रहने पर औषध निषेवण की कोई आवश्यकता नहीं तथा पथ्य की अव्यवस्था रहने पर औषध सेवन से कोई लाभ नहीं होता। तात्पर्य यह कि पथ्य की सुव्यवस्था होने पर औषध के बिना भी रोग दूर किया जा सकता है।

पथ्ये सति गदार्त्तस्य किमौषधनिषेवणैः।
पथ्येऽसति गदार्त्तस्य किमौषधनिषेवणैः ।।

(वैद्य जीवन

सचित्र आयुर्वेद

चिकित्सा में आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्तों का उपयोग

आयुर्वेद-चक्रवर्त्ती, आयुर्वेद-शास्त्र-वाचस्पति, आयुर्वेद-शिरोमणि, वैद्यरत्न, प्राणाचार्य
पं० दुर्गा प्रसाद जी शर्मा
आयुर्वेदाचार्य

आयुर्वेद के चिकित्सा-सम्बन्धी मौलिक सिद्धान्तों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि चिकित्सा प्रारम्भ करने के पहले रोग तथा रोगी की परीक्षा कर लेना परमावश्यक है। कहा भी है।

रोगमादौ परीक्षयेत् तत्रान्तरमौषधम् ।
ततः पश्चात भिषक्कर्म, ज्ञानपूर्वं समाचरेत् ।।

अर्थात् प्रारम्भ में ही रोग तथा रोगी की परीक्षा कर लेनी चाहिये। उसके बाद रोग के निश्चय कर लेने पर वैद्य उस रोग के अनुसार औषध का विचार करे। औषध का विचार कर लेने पर ज्ञानपूर्वक चिकित्सा-कर्म करे।

रोग-परीक्षा, निदान पंचक के द्वारा अर्थात् निदान, पूर्व रूप, रूप, उपशय तथा सम्प्राप्ति इन पाँच उपायों द्वारा करे। इन पाँचों का वर्णन आयुर्वेद के ग्रंथों में विस्तार से पाया जाता है। उन्हें निदान पंचक कहते हैं। रोगी-परीक्षा प्रश्न तथा पंचज्ञानेन्द्रियों की सहायता से की जाती है। इन उभयविध परीक्षा को कर लेने के बाद चिकित्सा का कर्म प्रारंभ होता है।

चिकित्सा की परिभाषा करते हुये आचार्य ने कहा है कि चिकित्सा के चार पाद होते हैं।

जैसे-भिषक् (वैद्य), द्रव्य (औषध), २. उपस्थाता (परिचारक) और रोगी। इन चारों के चार-चार गुणों का

भी वर्णन है। इस प्रकार इन सोलह गुणों से युक्त चतुष्पाद को षोडश कला चष्तुष्पाद कहते हैं। ये षोडशकला चतुष्पाद विकार (रोग) की शान्ति के लिये तथा रोगी को रोग-मुक्त करने के लिए पर्याप्त माना गया है। कहा भी है—

भिषग् द्रव्यमुपस्थाता रोगी पाद चतुष्टयम् ।
गुण वत्करणं ज्ञेयं विकारव्युप शान्तये ।।

च० सू०—९।३

चिकित्सा की परिभाषा करते हुये भी आचार्य ने कहा है कि गुणवान वैद्य, औषध, परिचारक तथा रोगी इन चारों की प्रवृत्ति प्रशस्त धातुओं की विकृति को दूर कर विषम धातुओं की समावस्था में लाना है। यह धातु साम्य लाने की प्रवृति ही चिकित्सा कहलाती है और आयुर्वेद-शास्त्र का प्रयोजन धातुओं को साम्यावस्था में लाना ही हे।

चतुर्णां भिषगादीनां शस्तानां धातुवैकृते ।
प्रवृत्तिर्धातुसाम्यार्था चिकित्सेत्यभिधीयते ।

च० सू०—९।५

धातु साम्यं क्रिया प्रोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्

च० सू०—१।

आयुर्वेद दोष तथा धातु के वैषम्य को ही रोग मानता है। अतः वैषम्य को दूर कर उन्हें साम्यावस्था में लाना चिकित्सा कहलाता है।

वैषम्य का अभिप्राय है सम या प्रकृतावस्था में नहीं रहना। अर्थात् दोष तथा धातुओं का बढ़ जाना, घट जाना तथा दूषित हो जाना। अतः इन दोष तथा धातुओं को समावस्था में लाने के लिये, बढ़े को घटाना, घटे को बढ़ाना तथा साम्यावस्था की रक्षा करना चिकित्सा का मूल सिद्धांत है। कहा भी है—

वृध्याह्रासियेतव्या,हृष्टावर्द्धयितव्या, समा पालेयितव्या ।

—सु०

आयुर्वेद में शारीर दोषों में वात-पित्त - कफ, मानस दोषों में रज और तम कहा गया है। इन दोषों के वैषम्य से क्रमशः शारीर और मानस रोगों की उत्पत्ति होती है। यहां यह भी ध्यान रखना चाहिये कि शारीर रोगों से मन भी व्याकुल होता है और मानस रोगों का प्रभाव शरीर पर भी पड़ता है। अतः इन शारीर तथा मानस रोगों की चिकित्सा में इस तथ्य का भी ध्यान चिकित्सक को रखना चाहिये। दोष के साथ-साथ दूष्यों का भी वर्णन आयुर्वेद के संहिता ग्रंथों में उपलब्ध होता है। दूष्यों में सात धातुओं का जैसे—रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र का तथा स्वेद, मूत्र और पुरीष—इन तीन मलों का ग्रहण किया गया है। इनके अतिरिक्त उपधातुओं तथा उपमलों का भी ग्रहण है। ये धातुएं, उपधातुएं, मल तथा उपमल जब अपनी प्रकृतावस्था (समावस्था) में रहते हैं तब ये शरीर के धारण करने के कारण धातु भी कहलाते हैं। और विषमावस्था में होने पर शरीर को विकृत या दूषित करने के कारण तथा मलिन करने के कारण मल कहलाते हैं। इन दोष धातु तथा मलों की वृद्धि तथा ह्रास किन कारणों से होता है इनका विस्तृत वर्णन सुश्रुत के तथा चरक के दोष, धातु, मल, क्षय वृद्धि विज्ञानीयाध्याय में से प्राप्त होता है। इन उपर्युक्त क्षयवृद्धि के अतिरिक्त इनके प्रकोपों से तथा दुष्ट होने से रोगों की उत्पत्ति का वर्णन शास्त्र में प्राप्त होता हैं। अतः चिकित्सा में इनके प्रकोपों तथा दुष्टियों का ध्यान रखना चिकित्सा-सौकर्य के लिये परमावश्यक हैं। रोगों के आगन्तुक कारण भी होते हैं। जैसे—अभिघात, अभिचार, अभिशाप तथा अभिषंग। चिकित्सा में इनकी भी जानकारी आवश्यक है। नानाविध आवरणों से जैसे—दोषावरण, धात्वावरण, मलावरण और अन्योन्यावरण से भी रोग उत्पन्न होते हैं। चिकित्सा में सफलता प्राप्त करने के लिये इनकी भी जानकारी आवश्यक है। चिकित्सा में साम तथा निराम का भी विवेचन करना पड़ता है। इन सब विवेचनों के अनन्तर रोग-प्रतिकार के लिये रोगोत्पत्ति की विविधावस्थाओं पर भी विचार अनिवार्य है। जिसके विना किस प्रकार की चिकित्सा करनी चाहिये, इसका निर्णय कथमपि सम्भव नहीं। ये अवस्थायें इस प्रकार हैं। जैसे—(१) संचय, (२) प्रकोप, (३) प्रसर, (४) स्थानसंश्रय और (५) व्यक्ति तथा भेद। इन अवस्थाओं के ज्ञान के बाद यह निर्णय करना कि कब और कहाँ शोधन चिकित्सा करनी चाहिये और कब और कहाँ शमन चिकित्सा करनी चाहिये। साथ ही इसका भी ज्ञान हो जाता है कि किस अवस्था में दोष

प्रत्यनीक चिकित्सा करनी चाहिये और किस अवस्था में व्याधि प्रत्यनीक चिकित्सा एवं दोषादि प्रत्यनीक चिकित्सा करनी चाहिये।

संचय उस अवस्था का नाम है जिसमें दोष अपने स्थान में ही वृद्धि को प्राप्त होता है। यदि इस अवस्था में ही प्रतिकार कर दिया जाय तो दोष प्रकोपावस्था में नहीं जाता। इस अवस्था में दोष प्रत्यनीक चिकित्सा की जाती है। कहा भी है—'संचयेऽपहृता दोषाः लभन्ते नोत्तरा गतिं।' इसलिये कहा है कि—

"चये एव जयेत दोषम्"

प्रकोप उस अवस्था को कहते हैं जब दोष उन्मार्ग-गामी हो जाते हैं।

"कोपस्तु उन्मार्ग गामिता"

यदि प्रकोप के लक्षणों को देखकर भी उसका प्रतिकार नहीं किया जाय तो प्रकुपित दोष शरीर के विविध स्रोतों में फैलने लगते हैं। इस अवस्था को प्रसरावस्था कहते हैं। यह प्रसर १५ प्रकार का होता है।

इस अवस्था में प्रकुपित दोष शरीर के विभिन्न स्रोतों में परिधामन करने लगते हैं। प्रकुपित दोषों के परिधामन काल में जिस स्रोत में जहां वैगुण्य होता है वहां प्रकुपित दोष स्थान-संश्रयी हो जाते हैं। और उस स्रोत तथा स्रोतोमूल में रोग की अभिव्यक्त करते हैं। इस प्रकार स्थान संश्रया-वस्था रोग का पूर्व रूप कहलाता है। और जब रोग के लक्षण अभिव्यक्त होते हैं तो उन्हें व्यक्तावस्था कहते हैं। यह रोग की रुपावस्था है।

रोग की सम्प्राप्ति का वर्णन करते हुए कहा है कि

"कुपितानाम ही दोषानाम्, शरीरे परिधावताम्"।
यत्र संगः खवैगुण्यात् व्याधिस्तत्रोपजायते।

सु० सू० अ०—१४

इस प्रकार संचय—प्रकोप तथा प्रसरावस्था में दोष प्रत्यनीक चिकित्सा की जाती है। और स्थानसंश्रय तथा व्यक्तावस्था में व्याधिप्रत्यनीक चिकित्सा की जाती है।

भेदावस्था—रोगों की उस अवस्था को कहते हैं, जिसमें साध्यासाध्य तरुण और जीर्ण तथा सोपद्रव और निरुपद्रव का विचार करते हैं। व्रण की अवस्था में भेदा-वस्था व्रण के फट जाने की अवस्था समझी जाती है।

रोग के प्रतिकार का ही नाम चिकित्सा है। चिकित्सा रुक् प्रतिक्रिया"। रोग प्रतिकार के लिए अवस्थानुसार अनेक प्रकार के उपचारों का वर्णन है। रोग को न होने देने का उपचार भी चिकित्सा के ही अन्तर्गत आता है। इसका दूसरा नाम स्वास्थ्य-संरक्षण तथा रोग-प्रतिरोध है। आयुर्वेद के संहिता ग्रंथों में स्वास्थ्य-संरक्षण के तथा रोग प्रतिरोध के उपायों का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। कहा भी है।

"तच्च नित्यम प्रयुंजित स्वास्थ्यम् येनानुवर्तते
अजातानाम् विकारानाम अनुत्पति करं च यत।

अर्थात् ऐसा आहार-विहार मनुष्य को नित्य करना चाहिये जिससे स्वास्थ्य की रक्षा हो। और जो शरीर में अनुत्पन्न हुए विकारों को उत्पन्न नहीं होने दे। इसके लिये शास्त्रोक्त, दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या तथा अन्य सदवृत्त एवं आचार-सम्बन्धी उपदेशों का अनुपालन करे।

चिकित्सा में सर्वप्रथम उपदेश रोगोत्पादक हेतुओं से वचने का है। इसको निदान-परिवर्जन कहा है। अर्थात् जिन कारणों से रोग उत्पन्न हुआ हो उससे परहेज करना निदान परिवर्जन है। जो रोग प्रतिकार का प्रथम सूत्र है। कहा गया है 'संक्षेपतः क्रिया योगो निदान परिवर्जन'। निदान परिवर्जन के बाद रोगी की पथ्य व्यवस्था तथा चिकित्सा का क्रम प्रारम्भ होता है।

रोगी तथा रोग के बलानुसार शमन तथा शोधन चिकित्सा यथावश्यक करनी चाहिये। शोधन चिकित्सा से रोग का उन्मूलन होता है और शमन चिकित्सा से रोग तथा रोग से उत्पन्न कष्टों का उपशमन होता है। शोधन चिकित्सा के अन्दर पांच कर्म किये जाते हैं। इससे इसे पंचकर्म चिकित्सा भी कहते हैं। वमन, विरेचन, निरुह, अनुवासन तथा शिरोविरेचन ये पांच कर्म हैं। इन पांच कर्मों में वमन और शिरोविरेचन शरीर के उर्ध्व भाग अर्थात् जत्रु से ऊपर के अवयवों तथा अमाशय के दोषों को शरीर से बाहर निकालते हैं। अतः उर्ध्व भाग को संशोधन भी कहते हैं।

शेष तीन विरेचन, निरुह तथा अनुवासन शरीर के अधोभाग के दोष निकालने के कारण अधोभाग संशोधन कहे जाते हैं। ये पंच कर्म स्वास्थ्य संरक्षणार्थ देह शोधन के

लिये भी प्रयुक्त होते हैं। इन कर्मों के करने के पूर्व स्नेहन तथा स्वेदन करने की भी आवश्यकता होती है, इसलिये उन कर्मों को पूर्व कर्म कहा गया है। पंच कर्म को प्रधान कर्म कहते हैं। पंच कर्म द्वारा शरीर-शोधन के बाद शोधित पुरुष को प्रकृत आहार-विहार पर लाने के लिए संसर्जन-क्रम करना होता है। यह संसर्जन-क्रम शोधन के बाद किये जाने के कारण पश्चात कर्म कहलाते हैं। सामान्य रूप से रोगानुत्पत्ति तथा शरीर-शुद्धि द्वारा स्वास्थ्य-संरक्षण के लिये विधिवत् इन कर्मों को करने का उपदेश शास्त्रों में विस्तार से उपलब्ध होता है। इन कर्मों के करने के लिये समय, अर्थात् किस ऋतु में करना चाहिये और कौन संशोधन योग्य है इसका भी वणन किया गया है। इसके अतिरिक्त इन पांचों कर्मों के लिये औषधों तथा विधान का भी वर्णन है। निरुह तथा अनुवासन—ये दो वस्ति कर्म हैं। जिनके लिये वस्ति यंत्र की आवश्यकता होती है। निरुह वस्ति को रुक्ष तथा अस्थापन वस्ति भी कहते हैं। और अनुवासन वस्ति को स्निग्ध वस्ति भी कहते हैं। संसर्जन कर्म में मंड, पेया. यवागू विलेपी बनाकर क्रमश; शोधित पुरुष को देने का विधान है। और इस क्रम के पूरा होने पर ही शोधित पुरुष को भोजन के लिये यथायोग्य अन्न लेना चाहिये। सामान्य रूप से कफ के विकारों में वमन तथा शिरोविरेचन, पित्त के विकारों में विरेचन तथा वात के विकारों में वस्ति कर्म करने का उपदेश है। ये संशोधन कर्म करने के लिये शास्त्रों में यह भी बतलाया गया है कि किन्हें और कौन से रोग वमन के आदि उपर्युक्त कर्मों के योग्य हैं। पूर्व कर्म में कोष्ठ के अनुसार स्नेहन कर्म करने का विधान है। जैसे—कोष्ठ तीन प्रकार के होते हैं। मृदु, मध्य और क्रूर। मृदु कोष्ठ पर स्नेहन शीघ्र हो जाता है। मध्य कोष्ठ पर स्नेहन का असर देर से होता है। इनके लिये कहा है कि मृदु कोष्ठ को तीन दिन तक स्नेहन देना चाहिये। मध्य कोष्ठ को पांच दिन और क्रूर कोष्ठ को सात दिन तक स्नेहन देना चाहिये। इन स्नेहनों के लिये भी दोषानुसार औषधों का वर्णन है। स्निग्ध पुरुष को स्वेदन कर्म करने का विधान है। ये स्वेदन भी अनेक प्रकार के होते हैं। जैसे—अनग्नि स्वेद और अग्नि स्वेद। इनके पुनः अनेक भेद हैं और कौन-सा स्वेद किसे करना चाहिये, इसका भी शास्त्रों में उपदेश है। अस्निग्ध, अतिस्निग्ध तथा सम्यक स्निग्ध अस्विन्न तथा अतिस्विन्न तथा सम्यक स्विन्न के लक्षणों का भी वर्णन है।

संशोधन द्रव्य पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु महाभूतों के गुणों की अधिकता वाले होते है। ये दोनों मार्गों से दोष तथा मलों की निकालते हैं—अतः इन्हें उभयतोभागहर कहा गया है। जो द्रव्य मलों (पुरीष और दोष) के संचय को उनके स्थान से हटाकर ऊपर तथा नीचे के मार्गों से बाहर निकाले, उसको देह संशोधन कहते हैं।

वमन—इसे उर्ध्व भागहर तथा छर्दन भी कहते हैं। जो द्रव्य उर्ध्व भाग (मुख) से दोषों को बाहर निकाले उसे वमन, उर्ध्व भागहर या छर्दनीय कहते हैं। वमन द्रव्य प्रायः उष्ण तीक्ष्ण, सूक्ष्म व्यवायी तथा विकाशी गुण वाले होते हैं। वे अपने वीर्य से (शक्ति या प्रभाव) से हृदय प्रदेश में जा अपने सूक्ष्म तथा व्यवायी गुणों के कारण वहां से धमनियों द्वारा समग्र शरीर में पहुच कर स्थूल तथा सूक्ष्म, सब प्रकार के स्रोतों से दोषों को अपने आग्नेय गुण से द्रवीभूत (पिघला) कर तथा तीक्ष्ण गुण से विच्छिन्न कर उस द्रवीभूत तथा विच्छिन्न (अपने स्थान से हटे) दोष को (वमन से पूर्व) शरीर के स्नेह भावित किये जाने के कारण, जैसे स्नेह भावित पात्र में मधु नहीं चिपकता उसी प्रकार शरीर में कहीं न चिपकने के कारण तथा वमन द्रव्य के सूक्ष्म स्रोतोनुसरण और आमाशयगमनोन्मुख प्रभाव से आमाशय में आकर उदान वायु से प्रेरित हो वमन द्रव्य के उर्ध्व भाग प्रभाव से मुख मार्ग से बाहर निकालते हैं। वमन, द्रव्य, अग्नि तथा वायु की अधिकता से उर्ध्व भाग प्रभाव वाले होते हैं।

विरेचन—अधो भागहर संशोधन का एक अङ्ग विरेचन है। इस क्रिया से दोष तथा मलों को गुदा मार्ग द्वारा शरीर से बाहर निकाला जाता है। जो द्रव्य अधोमार्ग (गुदा) से दोष तथा मलों को बाहर निकाले उसे रेचन, विरेचन, अनुलोमन तथा अधोभागहर द्रव्य कहते हैं। ये द्रव्य प्रायः उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, व्यवायी विकाशी तथा सर गुण युक्त होते हैं। ये इन गुणों के प्रभाव से हृदय में पहुंच कर अपने सूक्ष्म तथा व्यवायी गुण से धमनियों द्वारा शरीर के स्थूल तथा अणु स्रोतों में प्रवेश कर सम्पूर्ण शरीर में पहुंचते हैं और समग्र शरीर स्थि

दोषों तथा मलों के संघात को अपने तीक्ष्ण तथा आग्नेय गुण से छिन्न-भिन्न कर विलीन (द्रवीभूत) करते हैं। इस प्रकार छिन्न-भिन्न तथा द्रवीभूत दोष एवं मलसंघात सम्पूर्ण शरीर में भ्रमण करता हुआ विरेचन के पूर्व शरीर के स्नेहभावित होने से, जिस प्रकार स्नेह से लिप्त पात्र में मधु नहीं चिपकने पाता उसी प्रकार शरीरावयवों में कहीं नहीं चिपकता हुआ अपने अणु प्रवण (अणु-सूक्ष्म स्रोतों में संचार करने वाले) तथा कोष्ठाभिमुख गमन स्वभाव वाला होने से आमाशय के अधोभाग में आ जाते हैं।

विरेचन द्रव्य पृथ्वी तथा जल महाभूत के गुणों (गुरु, स्थिर तथा अधोगति) की बहुलता वाले होने से अधोगमन स्वभाव वाले अथवा अधोभागहर प्रभाव वाले होते हैं। अतः ये उक्त गुणों तथा प्रभाव विशेष के कारण नीचे की ओर गमन करते हुए अपने साथ अपान वायु द्वारा प्रेरित पच्यमान दोषों को बलपूर्वक नीचे की ओर लाकर बाहर निकालते हैं। इसी से कहा है कि जो द्रव्य पक्व तथा अपक्व मल आदि को द्रव्य करके विरेचन द्वारा बाहर निकाले उसे रेचन कहते हैं। जैसे निशोथ।

वस्ति—गुदा, मूत्रमार्ग द्वारा अथवा योनिमार्ग द्वारा वस्ति यंत्र की सहायता से जो औषध द्रव्य शरीर के कोष्ठभाग में पहुंचाया जाय उसे वस्ति कहते हैं। यह वस्ति कर्म तीन प्रकार का होता है। १ निरुह वस्ति कर्म (अस्थापन वस्ति कर्म) २. अनुवासन वस्ति कर्म (३) उत्तर वस्ति कर्म।

निरुह वस्ति—शरीर के दोष तथा मलों को निकालने के कारण इसका नाम निरुह वस्ति है। वयः स्थापन तथा आयुः स्थापन इस कर्म का फल होने से इसको अस्थापन वस्ति भी कहते हैं। कर्म भेद से इसके अन्य अनेक विकल्प हैं। जैसे-उत्क्लेशन, संशोधन, संशमन, लेखन, वाजीकरण, मधु तैलिक, यापन, तथा सिद्ध वस्ति। निरुह वस्ति शोधन तथा लेखन कर्म द्वारा शरीर को शुद्ध करती है।

२ **अनुवासन वस्ति**—यह स्नेह प्रधान वस्ति है। इसका कर्म स्नेहन तथा बृंहण है। यह शोधन के समान मल-निर्हरण करने पर भी दुर्बलता नहीं उत्पन्न करती। शरीर में रहकर (अनुवास कर) भी दूषित नहीं होने से तथा प्रति दिवस दिये जाने से अनुवासन वस्ति कहलाती है। इसका विकल्प मात्रावस्ति है। मात्रा के विकल्प होने से इसे मात्रा वस्ति कहते हैं। जैसे—षट् पल प्रमाण, त्रिपल प्रमाण, मात्रा वस्ति इत्यादि। यह स्नेह की मात्रा होती है। और इसका निर्धारण रोग तथा रोगी की अवस्था तथा बलाबल को देखकर किया जाता है। षटपल मात्रा वस्ति को श्रेष्ठा, त्रिपल को मध्यमा तथा १½ पल को कनिष्ठामात्रा वस्ति कहते हैं।

शिरो विरेचन-शिरोविरेचन, शीर्ष-विरेचन, मूर्ध-विरेचन, नावन, नस्य, नस्यः कर्म-ये सब पर्याय अर्थात् १ एकार्थवाची शब्द हैं। ये कर्म उर्ध्व भागहर संशोधन के अन्तर्गत आते हैं। शिर अथवा जत्रूर्ध्व भाग के दोषों का निर्हरण इस क्रिया से सम्पन्न होने के कारण इसकी संज्ञा शिरोविरेचन तथा शीर्ष विरेचन और मूर्ध विरेचन है। इस कर्म में औषधियों का प्रयोग नासा द्वारा होने से इसे नस्य तथा नस्यकर्म कहा गया है। औषध द्रव्यों का चूर्ण, औषध द्रव्यों से सिद्ध स्नेह, औषध द्रव्यों का स्वरस नासिकाओं द्वारा दिया जाता है अतः इसकी संज्ञा नस्य है। इसे नावन भी कहते हैं। नावन उस कर्म को कहते हैं जिसमें औषध द्रव्यों का चूर्ण, औषध द्रव्यों से सिद्ध घृत तथा तैल, औषध द्रव्यों का स्वरस, तथा दूध आदि द्रव द्रव्य औषध द्रव्यों का धूम नासिका द्वारा दिया या लिया जाय। नासा पुटों में जो स्नेह डाला जाता है उसके लिये विशेष अर्थों में नस्य या नावन शब्द का प्रयोग होता है।

शिरो विरेचन तथा शिरःस्नेहन इसका द्विविध कर्म है। परन्तु प्रयोग भेद से यह पांच प्रकार का होता है। जैसे—(१) नस्य या नावन (२) शिरोविरेचन (३) प्रतिमर्श (४) अवपीड़न (५) प्रधमन। इसमें नस्य तथा शिरोविरेचन प्रधान है।

नस्य का प्रयोग प्रायः श्लेष्म विकारों की शान्ति के लिये होता है। वाग्भट ने कर्मानुसार नस्यों के तीन भेद कहे हैं। जैसे-१ विरेचन (२) बृंहण और (३) शमन। शिरोविरेचन ऐसे रोगी को देनी चाहिये जिनका तालु, कण्ठ और शिर श्लेष्म से अभिव्याप्त अर्थात् परिपूर्ण हो

तथा जो अरोचक, शिरो गौरव, शिरःशूल पीनस, अर्धावभेदक, नासाक्रिमि, प्रतिश्याय, अपस्मार, गन्ध का ज्ञान न होना तथा जत्रूर्ध्व कफज विकार से पीड़ित हो।

संशमन चिकित्सा

संशमन चिकित्सा के अन्तर्गत, दीपन, पाचनादि आलेपन, मणि धारणादि आते हैं। ये चिकित्सा की विधियां युक्ति व्यपाश्रय चिकित्सा के अन्तर्गत आती हैं। रोग तथा रोग के लक्षणों को इनके द्वारा उपशमन किया जाता है।

सामावस्था तथा निरामावस्था का विवेचन

यह प्रत्येक रोग में आवश्यक होता है। क्योंकि समावस्था में आमदोष को पचाने का क्रियाकर्म करना चाहिये। साम शब्द का अर्थ है कि आम संहित और निराम शब्द का अर्थ है आम रहित। दोष तथा दूष्य जब आम से सम्पृक्त होते हैं तो उन्हें साम कहते हैं। सामदोष तथा सामदूष्य रोगोत्पादक होते हैं। अतः इनसे उत्पन्न रोगों में इनके विशिष्ट लक्षण होते हैं। ये लक्षण ही व्याधि तथा सामावस्था की सूचक हैं। ऐसी अवास्थां में आम दोष का पाचन करना चिकित्सा की सफलता के लिये आवश्यक है। आम पाचन के लिये दीपन तथा पाचन औषधियों का प्रयोग करना चाहिये। औषध के चुनाव में साम दोष-दूष्य तथा उनसे उत्पन्न रोगों का ध्यान रखना आवश्यक है। सामान्य रूप से लंघन, स्वेदन तथा समय आम दोष के पाचन के लिये किया जाता है। लंघन और स्वेदन— इन दो कर्मों के द्वारा आम दोष का पाचन हो जाता है। समय (काल भी) आम दोष का पाचन करता है।

चिकित्सा में साम-निराम विचार की उपादेयता :—

सम्पूर्ण चिकित्सा को दो भागों में विभक्त किया गया है। अर्थात् (१) सन्तर्पण चिकित्सा, (२) अपतर्पण चिकित्सा। पुनः इन दोनों के मुख्य तीन भेद हैं जैसे सन्तर्पण के (१) बृंहण (२) स्नेहन और (३) स्तंभन तथा अपतर्पण के (१) लंघन (२) स्वेदन (३) रूक्षण।

पुनः लंघन के दो भेद अर्थात् शोधन और शमन किये गये हैं।

इन उपर्युक्त द्विविध उपक्रमों में आमप्रदोषज व्याधियों की चिकित्सा अपतर्पण प्रधान होती है। निरामावस्था में ही सन्तर्पण चिकित्सा का व्यवहार किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त दोषों के निर्हरणार्थ जहां पर शोधन का विधान है वहाँ भी स्पष्ट रूप से कहा है कि साम तथा धातु में लीन दोषों का निर्हरण न करें उन्हें दीपन-पाचन-स्नेहन द्वारा निरामावस्था में लाकर तथा स्वेदन द्वारा कोष्ठ में लाकर शोधन की व्यवस्था करनी चाहिये। ऐसा नहीं करने से दोषों के आश्रय धातुओं का नाश हो जाता हैं।

इसके अतिरिक्त यह भी कहा है कि ऊपर तथा नीचे की ओर उत्क्लिष्ट दोषों का धारण ही नहीं करें। ऐसे दोषों का जो स्वयं बहिर्मुख हो चुके हों, उनका अवश्य ही निर्हरण कर देना चाहिये। अन्यथा ये नाना प्रकार के रोगों को उत्पन्न कर देते हैं।

तीन प्रकार के दोषों में अर्थात् सामवात, सामपित्त तथा साम कफ के विकारों में रोगी के बलाबल का विचार कर अपतर्पण चिकित्सा करनी चाहिये। इनमें भी अल्प दोष में लंघन, मध्य दोष में लंघन, पाचन तथा प्रभूत दोष में शोधन (यथावश्यक वमन-विरेचन) करना चाहिये। अतः चिकित्सा-सौकर्य के लिये तथा व्यापत्तियों से बचने के लिये साम-निराम का ज्ञान चिकित्सक को होना परमावश्यक है।

शारीर विकारों के लिये दो प्रकार की चिकित्साओं का संकेत किया जा चुका है। जैसे—युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा तथा दैव्य व्यापाश्रय चिकित्सा। इनके अतिरिक्त अन्तः परिमार्जन, वहिपरिमार्जन तथा शस्त्रप्रणिधान— ये तीन भी शारीर व्याधियों के लिये किये जाते हैं।

मानस व्याधियों के लिये सत्वावजय चिकित्सा का उपदेश है। इनके अन्दर ज्ञान-विज्ञान, धैर्य, स्मृति तथा समाधि के द्वारा चिकित्सा करने का विधान है।

चिकित्सा में पथ्य का स्थान

पथ्य भी चिकित्सा या भेषज का पर्याय है। पथ्य की व्याख्या करते हुए आचार्य ने कहा है कि पथ्य उस आहार-विहार को कहते हैं जो पथ अर्थात् शरीर-मार्ग (स्त्रोतों) के लिये हितकर हो तथा जो मन को भी प्रिय हो। पथ्य चिकित्सा का प्रमुख अंग है। यह चिकित्सा के मार्ग को प्रशस्त कर देता है। हितकारक आहार-विहार का ही नाम पथ्य हैं। चिकित्सोपयोगी वस्तुओं को पथ्य कहते हैं।

[शेश पृष्ठ १० पर]

वनौषधियों का अक्षय भण्डार गिरिराज हिमालय



अस्ति उत्तरस्यांदिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः

आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्तों की परिधि

प्रो० वि० ज० ठाकर
अध्यक्ष, मौलिक सिद्धान्त विभाग
स्नातकोत्तर प्रशिक्षण एवं अनुसन्धान प्रतिष्ठान
गुज० आयु० युनिवर्सिटी, जामनगर

आयुर्वेदीय मौलिक सिद्धांत का विषय जितना सरल और सुबोध दिखता है उतना ही वह अधिक जटिल और बोझिल भी है। सबसे पहली कठिनाई यह है कि किन विषयों को उपयोगिता एवं विकास-क्रम में आयुर्वेद दृष्ट्या मूलभूत (Fundamental) अथवा मौलिक सिद्धान्त (Basic principles) माना जाय। और, किन विषयों को शाखा-प्रशाखाभूत अथवा-पत्र प्रसूनवत् उत्तान, गौण अथवा उत्तरकालीन माना जाय। आयुर्वेद के संहिता-ग्रंथों के अनुशीलन से यह बात स्पष्ट होती है कि संहिता निर्माण काल में ही अनेक सिद्धान्त प्रस्थापित हो चुके थे। वे सिद्धान्त दार्शनिक और आध्यात्मिक विषय से संबंधित भी थे और व्यावहारिक तथा नित्यप्रति के कार्यकलापों में उपयोगी भी थे। ये दोनों प्रकार के सिद्धान्त इतने प्रचलित तथा लोक-प्रसिद्ध थे कि वाद-विवाद की प्रत्येक सभा में उनका खुलकर उपयोग किया जाता था। अतः सृष्टि, उत्पत्ति तथा परमाणुओं की गणना-संबंधी दार्शनिक विचार तथा देह; द्रव्य, औषध, आहार, पाक, क्रिया, वृद्धि-क्षय, विकार और रोगनिवृत्ति आदि व्यावहारिक विषयों से संबंधित सभी सिद्धान्तों एवं मत-मतान्तरों का मौलिक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार करके ही संहिताओं में आयुर्वेद का प्रतिपादन किया है और प्रस्तुत लेख में भी उन सभी का ग्रहण करना अभीष्ट हैं।

मौलिक सिद्धान्तों के विषय में हरेक व्यक्ति की अपनी

स्वतंत्र राय हो सकती है। कोई एक सर्वसम्मत स्थापना इस विषय में अभी तक सामने नहीं आई, हालांकि यह विषय कई वर्षों से स्नातकोत्तर एवं स्नातकपूर्व पाठ्यक्रमों में समाविष्ट है। कुछ लोग पदार्थ विज्ञान को मौलिक सिद्धान्त का विषय मानते हैं, कुछ लोग तन्त्रयुक्तियों को, कुछ लोग त्रिदोष एवं पंचभूतों को, कुछ लोग शरीर एवं तदन्तर्गत रचना, क्रिया, गर्भोत्पत्ति तथा विकास तथा पोषण एवं वृद्धि-क्षय रूप जन्म से मृत्यु तक की घटनाओं को, तो कोई विकृति विज्ञान तथा द्रव्यों के गुण-कर्म विज्ञान को भी मौलिक सिद्धान्त का विषय मानते हैं। कुछ लोग प्रकृति (Constitution) तथा बीज स्वभाव एवं कुलज प्रवृत्ति के विषय को (Genetics & Heridity), कुछ लोग बल एवं व्याधिसहत्व को मौलिक विषय मानते हैं। तो कुछ लोग रसायन एवं दीर्घायुष्कर चिकित्सा तथा भूतविद्या जैसे विषयों को आयुर्वेद के मौलिक विषय मानते हैं। कुछ लोग निदान-चिकित्सा से संबंधित सारी व्यावहारिक बातों को ही छोड़कर शेष विशिष्ट अभिगम सूचक (Conceptual) बातों को ही मौलिक सिद्धान्त का विषय मानते हैं। द्रव्यों के कर्म-सबंधी रस, गुण, वीर्य, विपाक, सम्बंधी सिद्धान्तों को भी आयुर्वेदीय मौलिक सिद्धान्त मानने का एक पक्ष है तो दूसरा पक्ष द्रव्यों के गुण-कर्म-सम्बन्धी विषयों को छोड़कर शेष बातों में ही मौलिक सिद्धान्त की सीमा मानता है। कुछ लोग सर्वरोग संप्राप्ति-विषयक तथा प्रत्येक रोग की चिकित्सा के विशिष्ट सूत्रों को आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्त में रखने के आग्रही हैं। तो कुछ लोग इन सबको निदान-चिकित्सा के एकाधिकार में ही रखने के आग्रही हैं। इस प्रकार आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्तों की सीमा अथवा परिधि का निश्चय करके विषय के दायरे को मर्यादित करना बहुत कठिन काम है। तथापि पूर्वोक्त सभी विचारों के लिए सुश्रुत के शब्दों में यही कहा जा सकता है कि—'

पृथकत्व दर्शिनांह्येष वादिनां वादसंग्रहः।
चतूर्णां (बहुनां) अपि सामग्र्यं इच्छन्त्यत्र विपश्चित।

पूर्वोक्त सभी वादों का मौलिक सिद्धान्त के अन्तर्गत यथास्थान उपयोग है, क्योंकि ये सभी विचार पुरुष के स्वास्थ्य और विकार तथा औषध, एवं निदान अथवा उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि, विकास, विप्लव और विनाश संबंधी किसी न किसी अवस्था से संबंधित हैं। अतः आयुर्वेद का तथा मौलिक सिद्धान्त का प्रधान प्रतिपाद्य विषय आयु अथवा पुरुष ही है। अतः पुरुष की अथवा जीवित शरीर की सर्वथा, सभी प्रकार से, सर्वदा सभी काल से संबंधित तथा सर्व अर्थात् विभिन्न जाति और प्रकार (देशकालानुरूप) विभाग से विचार करने पर पूर्वोक्त सभी सिद्धान्तों का विचार प्रासंगिक एवं सर्वथा उचित ही मालूम होता है।

सिद्धान्तों का स्वरूप महर्षि आत्रेय ने अपने श्रीमुख से इस प्रकार प्रतिपादित किया है।

'सिद्धान्तो नाम यः परीक्षकैः बहुविधं परीक्ष्य हेतुभिश्च साधयित्वा स्थाप्यते निर्णयः।'

पूर्वोक्त सभी विषयों से सम्बन्धित सिद्धान्त तथा चर्चाएं सिद्धान्तों की इस कसौटी पर कसकर ही शास्त्र में संग्रहीत की गयी हैं। परीक्षक व्यक्ति कहने का अभिप्राय ऐसा है कि जो लौकिक सामान्य जन, अज्ञ, अल्पज्ञ, अबुध, (Layman) न हो किन्तु तद्विद्य, विबुध, प्राज्ञ अथवा विशिष्ट ज्ञान सम्पन्न इसी शास्त्र विशेष का विशेषज्ञ हो; जिसको आजकल की भाषा में Scientist, Specialist अथवा Expert कहा जाता है। ऐसे परीक्षक व्यक्तियों द्वारा प्रतिपादित बात भी निर्णय रूप में अथवा सिद्धान्त रूप में तभी स्वीकार की जाती है जब उसका विविध प्रकार से अनेकशः परीक्षण करने के उपरान्त जो निष्कर्ष प्राप्त हुआ हो उसको तर्क एवं बुद्धि की कसौटी पर कस कर तद्विद्यों के सामने प्रमाणित किया जाय और कार्य-कारण भाव की दृष्टि से अव्यभिचारी सम्बन्ध सिद्ध किया जाय।

पूर्वोक्त सभी विषय-सम्बन्धी सिद्धान्त आयुर्वेद के निष्णात विद्वानों एवं जो आप्त और आचार्य कोटि के थे, उनके द्वारा स्वयं परीक्षण करके तथा विद्वत् सभा में तथ्य के रूप में स्वीकृति प्राप्त हो जाने के बाद ही सिद्धांत के रूप में प्रसारित किये गये हैं। इन सिद्धान्तों में से कुछ सिद्धान्त सर्वतन्त्र सिद्धान्त होते हैं, जो आयुर्वेद के विभिन्न सम्प्रदायों के आचार्यों ने तथा विभिन्न दर्शनों ने माना है। कुछ सिद्धान्त प्रतितन्त्र सिद्धान्त होते हैं जो किसी एक संहिताकार ने अपने विषय को अनुकूल समझ-

कर स्वीकार किया हो और अन्य संहिताकारों ने उसको न माना हो। कुछ सिद्धान्त अधिकरण सिद्धान्त होते हैं कि जिसमें किसी मुख्य बात की चर्चा के प्रसंग में उस उक्त बात की आनुषंगिक बातों को यथास्थित सिद्ध मानकर उस प्रसंग के लिए सत्यरूप में स्वीकार किया जाता है। कुछ सिद्धान्त अभ्युपगम सिद्धान्त होते हैं जो केवल चर्चा चलाने के लिए तथा विवाद के प्रारम्भ करने के लिए पूर्व पक्ष में प्रस्तुत किया जाता है और बाद में उत्तर पक्ष के द्वारा उसका खंडन किया जाता है अथवा निराश कर दिया जाता है।

महर्षि आत्रेय ने व्याधि की सत्ता, निदानों की सत्ता तथा साध्य व्याधियों के औषधों की सत्ता को अर्थात् हेतु, लिंग, औषध ज्ञान को सर्वतन्त्र सिद्धान्त माना है। प्राचीन अर्वाचीन किसी भी चिकित्साशास्त्र की शाखाओं में इन तीन बातों का स्वीकार अवश्य होता है अतः ये आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्त हैं यह मानने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इसी प्रकार प्रमाण और प्रमेय के विषय में भी परीक्ष्य, और परीक्षा का स्वीकार करना तथा सद्-असद् रूप द्विविध रूप में लोक के सभी पदार्थों को परीक्ष्य मानना तथा इनकी परीक्षा के लिए प्रमाण के रूप में कोई न कोई साधन को स्वीकार करना यह भी सर्वतन्त्र सिद्धांत है। किन्तु प्रमाणों की संख्या के विषय में भिन्न-भिन्न मत होते हैं। यह प्रतितन्त्र सिद्धांत कहा जाता है। इसी प्रकार रोग के हेतुओं के विषय में निजआगन्तु कारण मानना तथा सत्व और शरीर को अधिष्ठान मानना यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है, किन्तु रोग केवल दोष-जन्य ही होते हैं ऐसा कोई आचार्य मानें तथा भूतादि-जन्य रोग होते हैं ऐसा कोई आचार्य मानें अथवा कोई आचार्य दोषज, कर्मज तथा दोषकर्मज इस प्रकार त्रिविध रोग मानें तो यह प्रतितन्त्र सिद्धांत होता है। आयुर्वेद का स्वस्थहित तथा आतुरपरायण इस प्रकार दो विभाग मानना तथा आयुर्वेद को अष्टांग मानना भी सर्वतन्त्र सिद्धांत है। किन्तु नियत आयु से रसायन द्वारा आयु को अधिक काल स्थायी बनाया जा सकता है अथवा नहीं बनाया जा सकता; इस विषय में अलग-अलग प्रतितन्त्र सिद्धांत होते हैं। किन्तु ये सब बातें विकार से ही सम्बंधित हैं अतः इसको यहाँ पर समाप्त करते हैं।

जैसा हमने पूर्व में कहा कि **आयुर्वेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय पुरुष अथवा आयु है।** और आयु का हित, अहित, सुख, असुख, इन अवस्थाओं की दृष्टि से विचार करना तथा आयुष्य के लिए हितकर अथवा विघातक द्रव्यों और उनके गुण-कर्मों का विचार करना तथा आयु को मानकर काल की दृष्टि से विचार करना तथा आयु के स्व-रूप का प्रतिपादन करना ही आयुर्वेद का प्रतिपाद्य विषय है, अतः पुरुष-सम्बन्धी इन सभी बातों का महत्व मौलिक दृष्टि से अवश्य है। किन्तु इन सबमें आयु अथवा पुरुष का स्थान मध्यवर्ती है क्योंकि उसके रहने पर ही सुख, दुख, हित, अहित, अल्प, दीर्घ इत्यादि का विचार प्राप्त होता है। पुरुष का महत्व चरक के निम्न वाक्य में इस प्रकार दिया है।—

'अत्र कर्मफलं चात्र ज्ञानं चात्र प्रतिष्ठितम्।
अत्र मोहः सुखं दुःखं जीवितं मरणं स्वता॥
एवं यो वेद तत्त्वेन स वेद प्रलयोदयौ।
पारम्पर्यं चिकित्सां च ज्ञातव्यं यच्च किंचन॥'
(च.शा. १)

पूर्वोक्त समग्र विषयों को मौलिक सिद्धांत के अंतर्गत लेना चाहिए—हमारे इस मत का समर्थन आचार्य के पूर्वोद्धृत वचन से होता है। अतः पुरुष के प्रतिपादन सम्बंधी जितने विचार हैं वे सभी मौलिक सिद्धांत के विषय हैं। यथा 'कतीधा पुरूषीय शारीर', अतुल्यगोत्रीय शारीर', अध्यायों में पुरुष सम्बन्धित जो-जो प्रश्न हुए वे सभी इस प्रकार के हैं। इसी प्रकार आयु के घटकरूप शरीर, इंद्रिय, सत्त्व और आत्मा से संबंधित जो-जो विचार खुड्डिका तथा महती गर्भावक्रांति', 'शरीरविचय, 'पुरुष विचय', 'शरीर संख्य', तथा जाति सूत्रीय अध्यायों में तथा सुश्रुत में 'सर्वभूतचिन्ता शारीर' 'शुक्र-शोणित शुद्धि शारीर', 'गर्भावक्रांति', 'गर्भव्याकरण', शरीर संख्या व्याकरण', 'प्रत्येक मर्मनिर्देश', 'सिरावर्ण विभक्ति', 'धमनी व्याकरण' तथा 'गर्भिणी व्याकरण' आदि शारीरों में प्रतिपादित विषय तथा 'तीस्त्रैषणिय', तथा इन्द्रियोपक्रमणिय', आदि अध्यायों में प्रतिपादित विषयों में शरीर, इंद्रिय, सत्त्व और आत्मा, चारों घटकों से संबंधित जो-जो विषय प्रतिपादित हैं वे सब मौलिक विषय हैं। यथा 'त्रयोपस्तंभाः', त्रिविधं बलम्, त्रयो रोगमार्गाः, त्रीणि आयतनानि, त्रिविधं भेषजम्, त्रिविधा

भिषजा, त्रयो रोगाः, तिस्र एषणाः, ये सभी विषय पुरुष की ही हिताहित तथा सुखासुख अवस्था विशेषसे संबंधित हैं। अतः इनका मौलिक महत्व है। पुरुष का विवेचन आयुर्वेद में प्रधान है इसको बताते हुए आयुर्वेद के दोनों आचार्य आत्रेय एवं धन्वन्तरि ने क्रमशः लिखा है (१) **स पुमान् चेतन तच्च तच्चाधिकरणं स्मृतं । वेदस्यास्य…तदर्थं हि वेदोऽयं संप्रकाशितः ।'**

चतुर्विंशति को ह्येष राशिः पुरुष संज्ञकः । संयोग पुरुषस्येष्टो विशेषः चेदनाकृतः ।

(२) **'एवमेतत् पुरुषो व्याधिः औषधं क्रियाकालः इति चतुष्टयं समासेन व्याख्यातम् ।' पुरुषग्रहणात् तत्संभव द्रव्यसमुहो भूतादिरुक्तः तदङ्ग प्रत्यङ्ग विकल्पाश्च लङ्गां-सास्थिस्रिरास्नायु प्रभृतयः ।**

स एष कर्मपुरुषश्चिकित्साधिकृतः ।

इन वाक्यों में पुरुष को आयुर्वेद का अधिकरण अथवा अधिकारी बताया है। सुख, दुःख तथा चिकित्सा का अधिष्ठान वही है और उसका ज्ञान स्थूल तथा सूक्ष्म रूप में अङ्ग-प्रत्यङ्ग विभाग से तथा सूक्ष्मभूतों के तथा चौबीस तत्वों के सूक्ष्मतम विचार से करना चाहिए, ऐसा निर्देश है। पुरुष के महत्व को सूचित करनेवाले निम्न शब्द अधिक महत्व के हैं । १. संयोग पुरुष २. राशि पुरुष ३. कर्मपुरुष. ४. चिकित्साधिकृत पुरुष।

१. **संयोग पुरुषः**—पुरुष के उत्पादक तत्वों किंवा उपादान कारणों का परस्पर संयोगसूचक यह शब्द है। इन घटक तत्वों का विभाजन विभिन्न प्रकार से स्थूल अथवा सूक्ष्म दृष्टि से संकोच अथवा विस्तार की दृष्टि से किया जाता है। किन्तु पुरुष के निर्माण में इन घटकों का संयोग अनिवार्य रूप में आवश्यक माना गया है। संक्षेप और स्थूल दृष्टि से दो घटक देह और देही अथवा शरीर और जीव का संयोग होने से आयु अथवा पुरुष बनता है। तीन घटक के रूप में सत्व, आत्मा और शरीर का संयोग चार घटक के रूप में शरीर, इन्द्रिय, सत्व और आत्मा का संयोग, पांच घटकों के रूप में शरीर, इन्द्रिय, सत्व और आत्मा का संयोग, पांच घटकों के रूप में सूक्ष्म चतुर्भुज तथा आत्मा का संयोग तथा इसी प्रकार षड् धात्वात्मक, चतुर्विंशति तत्वात्मक, पंच विंशति तत्वात्मक संयोग का वर्णन पुरुष के वर्णन में हमारे शास्त्र में मिलता है। और प्रत्येक भूतों के असंख्य सूक्ष्म परमाणुओं के संयोग से बनने के कारण पुरुष को अपरिसंख्येय अवयव-वाला कहा जाता है। इन सभी तत्वों के संयोग से ही पुरुष की उत्पत्ति तथा स्थिति होती है और इनके विभाग से पुरुष का नाश अथवा अभाव होता है। अतः इसे संयोग पुरुष संज्ञा द्वारा शास्त्र में निर्देश किया है।

२. **राशि पुरुषः**—पूर्वोक्त अनेक घटकों के समुदाय से पुरुष का निर्माण होने के कारण इसे राशिपुरुष अथवा समुदायप्रभवः कहा गया है। पृथक्-पृथक एक अथवा अनेक घटक हो जाने पर समुदाय टूट जाने से पुरुष का नाश होता है। यथा पंचत्व प्राप्ति में जीव एवं मन के हट जाने से मृत्यु होती है।

३. **कर्म पुरुषः**—यह संयोग पुरुष ही कर्म करने में स्वतंत्र होने के कारण तथा कर्म के परिणामस्वरुप उत्पन्न होने-वाले शुभाशुभ फल का अधिष्ठान तथा उपभोक्ता होने के कारण तथा चिकित्सारुप कर्म का भी अधिष्ठान होने के कारण कर्म पुरुष कहा जाता है।

४. **चिकित्साधिकृत पुरुषः**—व्याधिहरणरूप चिकित्सा में भी इसी राशि-पुरुष की ही योग्यता होती है। इसलिए शोधन, शमन, शस्त्रप्रणिधान, अग्नि, क्षार कर्म, तथा सत्वावजयरुप विविध प्रकार की चिकित्सा का अधिष्ठान होने से इसको चिकित्साधिकृत पुरुष कहा गया है।

इसी प्रकार एक पुरुष के विवेचन में ही अधिकरण सिद्धान्त के रूप में अर्थात् प्रासंगिक रूप में आवश्यक होने से स्वीकृत कर्म, कर्मफल, मोक्ष, व्याधि, चिकित्सा, सूक्ष्म अवयव, परमाणु की सत्ता, स्थूल अंगोपांगों की विविधरूप में पृथक् सत्ता, पुरुष की कर्म करने में स्वतंत्रता तथा उसके अंगोपांगों के चेतन संयोग से जीवन, जीवनमूलक प्रयत्न जन्य स्वाभाविक क्रिया, इच्छापूर्वक तथा कर्म परवश प्रवृत्ति तथा निवृत्ति का सिद्धान्त आदि कई अन्य सिद्धान्त गौण रूप में स्वीकृत होते हैं। पुरुष में विकास की दृष्टि से तथा विकारों की दृष्टि से आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक घटकों का पृथक् विभाग तथा सामाजिक स्वास्थ्य की दृष्टि से सद्वृत एवं अधारणीय एवं विधारणीय वेगों का प्रतिपादन तथा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, को तथा पुनर्जन्म को प्राप्त करने

लिए शुभाशुभ कर्म, कर्मफल, दैव एवं पुरुषकार के
लावल तथा परस्परोपघात का सिद्धान्त. इसी दृष्टि से
युर्वेद में निहित है। आयुर्वेद को छोड़कर अन्य किसी
ाकित्सा-शास्त्र में उभयलोक के हित का विचार नहीं
या गया है। यही आयुर्वेद की मौलिकता है एवं तत्सं-
धित सभी विषय मौलिक सिद्धान्त के अन्तर्गत आ जाते
। इस बात का संक्षेप में संकेत शार्ङ्गधर के निम्न
ोक में मिलता है—

'एवं चतुर्विशतिभिस्तत्वैः सिद्धे वपुर्गृहे,
भूतात्मा नियतेर्निघ्नो विशति स्वान्त दूतवान् ।।'

पुरुष ही प्रधान है यह आयुर्वेद का सर्वप्रथम सिद्धांत
। पुरुष अनेक अवयवों से बना है इसलिए अवयवी होता
शरीरादि उसके अवयव माने गये हैं। किन्तु इनमें
तन्य प्रदाता तथा कर्त्ता, भोक्ता पुरुष एक ही होता है
तः शरीर अथवा सत्व किसी भी अधिष्ठान में होनेवाले
ुख-दुःख का भोक्ता एक ही पुरुष माना जाता है। इस
ष्टिकोण को वर्तमान चिकित्सा-विज्ञान ने अभी-अभी
वीकार किया है और इसको Totality of the man,
Wholistic view, Man as a whole अथवा Biolo-
ical unit or psycho-sometic concept नाम से
तिपादित किया जाता है।

दूसरा सिद्धान्त लोक की सत्ता का है। लोक को
ुष का उपकरण अथवा उपभोग साधन माना गया है।
ुष भोक्ता है और लोक भोग्य माना गया है अतः पुरुष
साथ ही लोक का ज्ञान भी आयुर्वेद में उतना ही
वश्यक है। लोकविज्ञान भी पुरुषविज्ञान के समान
नेक दृष्टिकोणों से किया गया है। लोक को अग्नि-
मीय, स्थावर जंगमात्मक, पंचावयव, षड्भाव समुदित,
ुर्विंशति अथवा पंचविंशति तत्वात्मक तथा परमाणुरुप
्म अवयव की दृष्टि से अपरिसंख्येय अथवा अतन्तावयव
हा गया है। व्यावहारिक दृष्टि से इसका चेतन-अचेतन
भाग, स्थावर जंगम विभाग, तथा भौम, औद्भिद, और
गम तथा भूतों के उत्कर्ष के आधार पर पार्थिव, आप्य,
स आदि पंचविध विभाग व्यावहारोपयोगी हैं। लोक
पुरुष के लिए महत्व कई प्रकार से हैं। अशन
ोजन), वसन (वस्त्र), शरण (निवास), औषध, जल,
ु, देश, समाज, कुटुम्ब, परिवार, शासन, शिक्षा,
धनैषणा, पुत्रैषणा, परलोकैषणा और प्राणैषणा सभी का
साधन लोक है। शीत, उष्ण, वर्षा, क्लेद, शोष, स्निग्धता,
रूक्षता, आह्लाद, उत्ताप आदि भौतिक परिवर्तन एवं
तज्जन्य प्रभाव भी लोक से पुरुष पर पड़ता है। तथा
पुरुष के काम, क्रोध, लोभ, भय, आदि भावों का प्रभाव
लोक पर भी पड़ता है। संक्षेप में पुरुष के सुखावह
अथवा दुःखावह औषध, अन्न और बिहाररूप सभी
साधनों का मूल स्रोत लोक ही है। अन्य शब्दों में यूं कह
सकते हैं कि लोक की स्थिति पुरुष के बगैर निरर्थक है
और पुरुष की स्थिति लोक के वगैर असम्भव है। दोनों
का विचार एक—दूसरे से निरपेक्षरूप में नहीं किया जा
सकता। पुरुष की विशेषता यह है कि वह लोक के जड़-
चेतन उभयविध तत्वों को अपने भोग के लिए साधन
बनाने में समर्थ है। तथापि कालजन्य व्याधि, दैवकृत
व्याधि, आधिदैविक व्याधि और जानपदिक व्याधि
(मरक) और औपसर्गिक तथा संक्रामक व्याधियो में लोक
के जल-वायु-देश-काल आदि घटकों की दृष्टि का अधिक
महत्व रहता है। और प्रज्ञापराधजन्य शस्त्रादिकृत तथा
अधर्मकृत जनपदोद्ध्वंस में तो पुरुष का लोक पर
और लोक का पुरुष पर विकृत प्रभाव होता है—ऐसा
आयुर्वेद का मत है।

तीसरा सिद्धान्त लोक और पुरुष में समानता (लोक-
सम्मित पुरुषः) का है। लोकस्थित औषध, अन्न और
बिहार के साधनों का पुरुष पर प्रभाव तभी पड़ सकता
है जब दोनों में समानता अथवा सजातीयता हो। वाह्य
प्राकृतिक जगत के साथ दैहिक भावों का दृष्टादृष्टरूप
में परस्पर संबंध रहता है। और दोनों के उत्पादक तत्व
एक हैं। यथा पूर्व में षड्धातु सिद्धान्त, चतुर्विंशति तत्व
सिद्धांत, पंचविंशति तत्व सिद्धान्त, अग्निसोमीय सिद्धान्त
में बताया गया है। इस प्रकार का एकत्व होने से एक
का प्रभाव अन्य पर पड़ना संभव है। पुरुष और लोक के
सूक्ष्म तत्वों में जैसे समानता है उसी प्रकार उनके **स्थूल**
नियामक तत्वों में तथा उत्पत्ति से विनाश तक के **घटना-**
चक्र तक (उदय प्रलय) में भी समानता है। **यथा,**
जगत में सोम, सूर्य और अनिल ये स्थूल नियामक तत्व हैं

और देह में इन्हीं का प्रतिनिधित्व वात, पित्त, कफ करते हैं। ये त्रिदोष, पुरुष के समान ही जड़ जंगम-जगत में भी माने गये हैं। प्राणी, वृक्ष तथा खनिजों में इनका अस्तित्व माना गया है। इस भौतिक तथा द्रव्यसाम्य के अतिरिक्त गुणसाम्य भी लोक और देह में माना गया है। मानस क्षेत्र में सत्वादि तीन गुण का तथा शारीर क्षेत्र में गुर्वादि बीस गुणों का अस्तित्व माना गया है। इन्हीं का द्रव्यों में भी अस्तित्व प्रतिपादित किया जाता है। अतएव शरीर मे वृद्धि-क्षय रूप परिवर्त्तन वाह्य द्रव्यों के कारण होता है। ऐसा सिद्धान्त बनता है।

'गुणा च उक्ता द्रव्येषु शरीरेष्वपि ते तथा।
दोष वृद्धि-क्षयास्तस्मात् देहिनां द्रव्य हेतुकाः ।।'

आधिदैविक तत्त्वों में भी लोक और देह में समानता प्रतिपादित की गई है। लोक में परब्रह्म की विभूति के रूप में ब्रह्मा, इन्द्र, प्रजापति, सूर्य, चन्द्र, आदि आधिदैविक शक्तियाँ जगत की नियामक मानी जाती हैं उसी प्रकार देह में भी विशिष्ट आधिदैविक शक्तियों के द्वारा मन, बुद्धि तथा अन्य इन्द्रियों का नियमन होता है। इसी प्रकार लोक और पुरुष दोनों में सूक्ष्म मूल कारण, उत्पत्ति, वृद्धि, स्थिति' क्षय तथा विकार एवं नाश, यह क्रम भी समान रूप से चलता है। दोनों कार्यरूप हैं अतः सूक्ष्म कारण की अपेक्षा रखते हैं तथा संयोग रूप होने से विनाशशील अथवा नश्वर होते है। परमाणु रूप अवयवों की दृष्टि से दोनों में अनन्तावयवता समान है। इस सामान्य ज्ञान का उपयोग व्यवहार में दोषों के चय, प्रकोप, प्रशम, निज एवं आगन्तु विकारों के वर्णन में तथा विकारों के प्राकृत-वैकृत स्वरूप के वर्णन में किया गया है। जड़-चेतन जगतरूप पाँच भौतिक बाह्य लोक और पांचभौतिक दोष-धातु-मल-समुदाय रूप एवं चेतन अध्यात्म लोक दोनों में समानता और सजातीयता प्रतिपादित करके आयुर्वेद ने पुरुष को समग्र जगत का अर्थात् एक बड़े परिवार का एक सूक्ष्म संदस्य प्रतिपादित किया है। आधुनिक दृष्टि से जीवित प्राणी को समझने के लिए केवल Physico-chemical basis of Medicine ही नहीं किन्तु Bio-Physics तथा Bio-Chemistry का ज्ञान आवश्यक माना गया है। वही बात आयुर्वेद के लोक-पुरुष सामान्य सिद्धान्त में प्रति[illegible] होती हैं।

कार्य-कारण सिद्धान्त

लोक तथा पुरुष तथा उनके विकार एवं धातु[illegible] उभय अनित्य होते हैं। कार्यरूप जो-जो पदार्थ होते[illegible] सब उत्पत्ति विनाशशील होने से अनित्य होते हैं। हे[illegible] सभी पदार्थ अनित्य ही होते हैं। जगत, पुरुष, वि[illegible] और स्वास्थ्य ये सभी हेतुजन्य हैं अतः कार्य है और [illegible] होने से अस्थायी और अवश्य विनाशशील है। इसी [illegible] को दर्शाने के लिए आयु के लक्षण में नित्यग तथा सृ[illegible] वर्णन में उदय-प्रलय का वर्णन किया गया है। त्रिगुण[illegible] अव्यक्त अथवा चेतनाधिष्ठित प्रकृति अथवा शीतो[illegible] स्वभावसंसिद्ध लक्षणवाले पंचभूत-सभी के मूल का[illegible] और इन कारणों के संयोग से उत्पन्न सभी पदार्थ वि[illegible] कार्यरूप होने से नाशवान होते हैं। पुरुष का धातु[illegible] अथवा स्वास्थ्य, धातुवैषम्य अथवा विकार, संयोगह[illegible] चिकित्सा, वृद्धि-क्षय, सुख-दुख, हर्ष, शोक आदि वि[illegible] अवस्थाएं तथा चय-प्रकोप आदि परिवर्त्तन ये सभी [illegible] हैं और ये सभी विशिष्ट कारण सापेक्ष होते हैं। अत[illegible] में उपकरण भूत लोक का भोक्ता पुरुष पर शुभाशुभ [illegible] बताया गया है वह भी कार्य ही है। अतः कार्य[illegible] सिद्धान्त आयुर्वेद का अनिवार्य अंग बन जाता है। [illegible] बड़ा मौलिक महत्व है। कार्यकारण का ज्ञान अनुमा[illegible] विषय होता है अथवा युक्ति का विषय बताया गया[illegible] इस मुख्य सिद्धान्त के अवान्तर गौण सिद्धान्त के [illegible] कार्यकारणों के विविध विभाग भी आयुर्वेद में वि[illegible] प्रकार से वर्णित हैं जो आयुर्वेद की विशिष्टता है। [illegible] भी भाव अथवा घंटना या प्रक्रिया को समझने के [illegible] आयुर्वेद में कारणादि दस भावों का ज्ञान आवश्यक [illegible] गया है। और इन दस भावों के मूल में सामान्य-[illegible] पदार्थों का ज्ञान और हेतुत्व विचार किया गया[illegible] अन्य शास्त्रों में भी कार्यकारण भाव का सृ[illegible] समझने के लिए वर्णन मिलता है किन्तु यहाँ प[illegible] दशविध विभाग है वह आयुर्वेद की विशिष्टता[illegible] कार्यकारण सिद्धान्त के प्रसंग में आयुर्वेद की अन्य [illegible] षता बहुकारण जन्यता का सिद्धान्त हैं तथा इन बहु[illegible] के विशिष्ट संयोग को तथा क्रम को समझने के लि[illegible]

माणों में युक्ति प्रमाण को अधिक जोड़कर अपने विशिष्ट मत की स्थापना की है। कार्योत्पत्ति में कारणों के संयोग के विषय में आरंभवाद तथा परिणामवाद दोनों को स्वीकार किया गया है तथा इसी संदर्भ में प्रकृतिसम समवाय विकृति विषमसमवाय समान प्रत्ययारब्ध, विचित्र प्रत्यारब्ध, हेतु स्वधर्माणो विकाराः, हेतु विधर्माणो विकाराः, रस (गुण), प्रभाव तथा द्रव्यप्रभाव, दोषप्रभाव तथा व्याधिप्रभाव आदि कई विशिष्ट सूक्ष्म प्रक्रियासूचक सिद्धांत कारणानुरूप कार्य की निष्पत्ति तथा कारणारूप कार्य की निष्पत्ति को समझने के लिए प्रतिपादित किये गये हैं। इसी प्रकार विशिष्ट कार्य के प्रतिबंधक अथवा विरोधी कारण और बलवान से दुर्बल के अभिभव का सिद्धांत भी आयुर्वेद में विशिष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया है। इसी प्रकार स्थूल जगत अथवा पुरुष रूप विकार (कार्य) की उत्पत्ति के विषय में भी आयुर्वेद उदार मतावलंबी (पृथुदर्शी) है। अतः केवल प्रकृति के गुण परिणाम विशेष को जगत का कारण न मानकर स्वभाव, ईश्वर आदि अन्य छह अतिरिक्त कारणों को सिद्धांत रूप में स्वीकार करता है और इनके प्रतिपादन करनेवाले विविध वादों का भी यथास्थान वर्णन करता हैं। यथा स्वभाव-वाद, स्वभावोपरमवाद, आरंभवाद, क्षणभगवाद, परिणामवाद, यदृच्छावाद, नियतिवाद, ईश्वरवाद, कालकर्तृत्वाद, इत्यादि। सामान्य ढंग से जब किसी प्रश्न का समाधान नहीं मिल सके तो उक्त वादों के अनुसार सूक्ष्म विचार करके विभिन्न अतिरिक्त कारण परम्परा की प्रस्तावना इस प्रकार आयुर्वेद में सैद्धांतिक रूप में की गई है। कार्यकारण सिद्धांत का क्षेत्र अति विशाल है और निदान, चिकित्सा, पोषण, वृद्धि, व्याधिप्रतिबंधन आदि सभी विषयों में इस सिद्धांत का आश्रय करके ही चर्चा की जाती है। यथा शरीर के प्रसंग में स्वस्थ जाति अथवा योनिविशेष अथवा बीज स्वभाव के अनुरूप कार्य बनना। पुनर्जन्म सिद्धाँत, लिङ्ग शरीर का देहान्तरगमन और देह ग्रहण, कर्म के दृष्ट-अदृष्ट अथवा दैव-पुरुषकार के रूप में विभाग, सदसद्वाद, अथवा अव्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति तथा व्यक्त से पुनः अव्यक्त में लय का सिद्धांत, उत्पत्ति-नाश का अर्थ केवल अवस्थान्तरगमन ही हैं। सर्वथा नाश नहीं। सत्व का त्रिगुणात्मकत्व, शरीर का भूतमयत्व एवं दोष-धातु मल-मूलत्व, सत्व और शरीर का परस्परानुविधायित्व इत्यादि कई सिद्धांत इस प्रकार के हैं जो सभी कार्य-कारण सिद्धांत के ही पोषक तथा विशदार्थ करने वाले हैं।

इसी प्रकार **निदान पंचक** के विषय में समाविष्ट कारणों के प्रभेद सन्निकृष्ट, विप्रकृष्ट, व्यभिचारी कारण, प्रधान कारण, आभ्यन्तर तथा बाह्य कारण इत्यादि विवेचन नवीन एवं अनूठे ढंग से आयुर्वेदोपयोगी दृष्टि से किया गया है। सामान्य विशेष का भी वृद्धि क्षयरूप कार्य के लिए हेतुत्व तथा व्याधियों को दोषकृत् मानने का एक पक्ष और दोषकृत तथा भूतादिकृत मानने का दूसरा पक्ष का उल्लेख करके भूतों की सत्ता और भूतों की रोग-कारणता का सिद्धांत आत्रेय संप्रदाय संमत बताया गया है। इसी परम्परा में आगे चलकर, वाग्भट ने दोषज व्याधियों के अतिरिक्त कर्मज व्याधि और दोषकर्मज व्याधि का सिद्धांत प्रस्थापित किया है।

संप्राप्ति के विषय में हेतु— निदान सेवन से आरम्भ करके स्थान-संश्रय और व्याधिजन्य तक के सम्पूर्ण क्रियाकलाप को संप्राप्ति मानने का सिद्धांत है। संक्षेप में इसको दोष-दूष्य संमूर्च्छना कहा जाता हैं। इसका सूक्ष्म विचार सुश्रुत के षट्क्रियाकाल में संचय आदि क्रम से बताया है तो चरक में निदान, दोष, दूष्य का परस्पर अनुबन्ध, अननुबन्ध के सिद्धांत द्वारा बताया गया है। इसी के अंतर्गत अवान्तर सिद्धांत के रूप में दोषों तथा सत्वादि गुणों का परस्पर विरुद्ध होते हुए भी अविघातकत्व, इनका सहज सात्म्य, दोषों तथा गुणों का मिथुन वृत्तित्व, अन्योन्याश्रयत्व, अन्योन्यअभिभव, अन्योन्य जनन का सिद्धांत; इसी प्रकार भूतों का परस्परोपकार, परस्परानुप्रवेश और परस्परानुग्रह का सिद्धांत। विकारों में दोषों तथा गुणों की अंशांश कल्पना। स्वतंत्र परतंत्र भाव, वैगुण्य, आम-पच्यमान-पक्व अवस्था, नव, पुराण अथवा तरुण और जीर्ण भाव, दोषों का तथा विकारों का प्राकृत वैकृत भाव, दोषों का सप्रत्यनीकत्व, निष्प्रत्यनीकत्व, काल प्रकृति, तथा दूष्य विशेष से तथा व्याधिक्षमत्व रूप सहज बल से व्याधियों का विघात तथा बलक्षय से, देह के मार्गीकृत होने से धातुओं के दौर्बल्य से व्याधियों का पुनराक्रमण

व्याधि की निवृत्ति में दोषपाक, धातुपाक, आदि कई सिद्धान्त प्रासंगिक अथवा अधिकरण सिद्धान्त के रूप में मिलते हैं।

चिकित्सा में भी इसी प्रकार विभिन्न काल में तन्त्रों के अपने अधिकार के अनुरूप विभिन्न सिद्धान्त माने गये हैं। यथा—

काय चिकित्सा में प्रतिरोग में निदान परिवर्जन, संशोधन और शमन चिकित्सा का तथा अन्त: परिमार्जन-बहि: परिमार्जन का सिद्धान्त सर्वमान्य हैं। इसी प्रकार औषध-अन्न और बिहार के रूप में सुखजनक, किन्तु हित हो ऐसे प्रकृतिस्थापन तथा व्याधिहर चिकित्सा के लिए विपरीत चिकित्सा का सिद्धान्त। हेतु व्याधि, तथा हेतुव्याधि उभय विपरीत तथा देश, मात्रा, तथा काल से विपरीतगुण भेषज प्रयोग का सिद्धान्त प्रतिपादित हैं। साथ ही विपरीतार्थकारी चिकित्सा का सिद्धान्त भी विशिष्ट महत्व रखता है। शोधन चिकित्सा के तीन अंग-पूर्व कर्म (स्नेहन-स्वेदन), प्रधान कर्म (वमन, विरेचन, वस्ति, नस्य) और पश्चात् कर्म (संसर्जन क्रम से अन्न का प्रयोग) काय चिकित्सा के प्रधान सिद्धान्त हैं। संतर्पणोत्थ में अपतर्पण' अपतर्पणोत्थ में सन्तर्पण, कृश में बृंहण, स्थूल तथा वृद्ध में कर्षण अथवा लंघन तथा गुर्वादि गुणों में भी विपरीत गुणों द्वारा चिकित्सा का सिद्धान्त परिलक्षित होता है। इसी प्रकार षड्रस चिकित्सा में भी एक-एक दोष के विपरीत तीन-तीन रसों का शमनार्थ प्रयोग विपरीत चिकित्सा का उदाहरण आम के पाचन का तथा लंघन-बृंहण, स्नेहन-रूक्षण, स्वेदन-स्तंभन के षड्विधोपक्रम में भी परस्पर - विरोधी चिकित्सा का निदर्शन मिलता है।

अल्पदोष के लिए लंघन, मध्यदोष के लिए लंघन-पाचन तथा अधिक दोष के लिए दोषावसेचन अथवा निर्हरण का सिद्धान्त संशमन तथा शोधन चिकित्सा का ही विस्तार है आम दोष का पाचन ही करना चाहिए तथा पक्व दोष का ही शोधन करना चाहिए यह भी काय चिकित्सा का महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। पक्व और विलीन हुए दोष शाखा से कोष्ठ में आकर आशय में पहुंचकर उपस्थित अथवा स्वयं प्रवृत्त हो तभी शोधन से उनका आसन्न मार्ग से निर्हरण करना चाहिए यह शोधन का सिद्धान्त हैं।
शोणित रोगों में रक्त विस्रावण तथा विरेचन रूप [illegible] तथा रक्त पित्तहर औषध एवं उपवास का शमन [illegible] उपयोग करने का सिद्धान्त है।

मानस चिकित्सा में इष्ट प्राप्ति अथवा त[illegible] प्राप्ति, अनिष्ट से तथा अहित से निवृत, मन के [illegible] हेतुओं से मन की रक्षा, ज्ञान-विज्ञान-धैर्य-आश्वा[illegible] विस्मारण- विस्मापन तथा कामादि प्रबल मानसिक [illegible] का शमन, उनके प्रतिद्वंद्वी मानसिक भाव को जागृत [illegible] का सिद्धान्त भी महत्वपूर्ण हैं।

दैव व्यापाश्रय चिकित्सा का सिद्धान्त भी आयुर्वेद [illegible] प्रमुख अंग है। बलि-मंगल- होम-प्रायश्चित् -दान- स्व[illegible]यन- स्नान-यात्रा- जप- मंत्र पाठ- रत्नधारण तथा रक्षा[illegible] बांधना आदि चिकित्सा के कर्म अथवा शिव, विष्णु [illegible] विशिष्ट देवों की उपासना, श्रद्धा, विश्वास और भक्ति भाव को बढ़ाकर भय, चिंता, निराशा से मुक्त करके [illegible] का लाधव करता है। यह सिद्धान्त अचिन्त्य प्रभाव [illegible] विशिष्ट उदाहरण हैं। इसी प्रकार **दश भेषजकाल सिद्धान्त** भी काय चिकित्सा का विशिष्ट सिद्धान्त है।

पथ्य-अपथ्य अन्नपान का सिद्धान्त चिकित्सा का महत्वपूर्ण अंग हैं और पथ्य को भी मनोनुकूल बनाने [illegible] विशेष आग्रह रखा गया है। मन की अनुकूलता, प्रस[illegible] उत्साह तथा अनिर्वेद स्थिति से ऊर्जा एवं व्याधिस[illegible] बल बढ़ता है और व्याधि की निवृत्ति होती है-यह सिद्[illegible] भी आधुनिक Psycho- Sometic concept से प[illegible] किया जा रहा है। विरुद्धाहार जन्य रोगों का उल्लेख [illegible] उनकी चिकित्सा में शोधन के रूप में वमन- विरेचन [illegible] शमन द्रव्यों के उपयोग का महत्व तो है ही, किन्तु [illegible] अहित सेवनम् तथा 'तथा विधैश्च द्रवै: शरीरस्य अभिसं[illegible] 'ओक सात्म्य' तथा 'सात्म्यीकरण' और 'शरीरगुण [illegible]पादन' का सिद्धान्त आधुनिक Antigen, Antib[illegible] Reaction, Allergy, Allergic diseases, Desen[illegible]sation, Active immunity आदि आधुनिक सिद्[illegible] के प्रतिनिधि-स्वरूप आयुर्वेदीय सिद्धान्त हैं।

अन्त में एक मूलगामी सिद्धान्त बताया गया है [illegible] औषध एवं चिकित्सा केवल आलंबन मात्र है। दे[illegible] सहज बल ही व्याधि के निर्घात का प्रमुख साधन [illegible]

औषध आदि केवल उस बल की सहायता करके ही व्याधि विघात में उपकारक होते हैं।

शल्यतन्त्र में मन: शरीराबाधकर शल्यों के निर्हरण करने का विविध सिद्धांत प्रतिपादित किये गये हैं। जिनमें काय चिकित्सा के तथा मानस चिकित्सा के अतिरिक्त वेदना शमन, तथा संज्ञापहरण, रक्तस्राव का चतुर्विध निवारण, व्रणितागार में रक्षाविधान; आगार तथा व्रण का रक्षोघ्न द्रव्यों से धूपन, ओजोशन तथा शोणित भक्षि भूत तथा राक्षसों के उपसर्ग से रोगी की रक्षा, व्रणितोपासन में पूर्व कर्म, प्रधान कर्म तथा पश्चात कर्म के विशिष्ट विभाग, 'प्रनष्ट शल्य विज्ञानीय' 'व्रणस्राव विज्ञानीय,' के सिद्धान्त, शोथ के आम-पच्यमान'पक्वावस्थानुरूप भिन्न चिकित्सा के सिद्धान्त, दुष्ट शोणित ज्ञान तथा दुष्ट रक्त विस्रावण के दोषानुसार श्रृंग, जलौका, अलाबु का प्रयोग अथवा प्रच्छन्न, सिराव्यधविधि के सिद्धान्त तथा अष्टविध शस्त्रकर्म और शस्त्र- क्षार-अग्नि के अवचारण के सिद्धान्त व्रणों के छ: उपक्रम तथा चतु: षष्ठि उपक्रमों का सिद्धान्त जिनमें विम्लापन, सवर्णीकरण, तथा रोमसंजनन जैसे विशिष्ट सिद्धान्त विशेष उल्लेखनीय है। शस्त्र से परिहर्त्तव्य अंगों का सिद्धान्त—मर्मविज्ञान, मर्म रक्षा तथा स्रोतोमूलों का शस्त्र - कर्म में परिहार, मूलविद्ध के लक्षण, तथा सद्योव्रण की चिकित्सा के सिद्धांत प्रमुख हैं। **शालाक्यतंत्र में** नेत्र की रक्षा का विधान, कफ विरोधी तथा तेजोवर्धक प्रसादन, अंजन का नित्य प्रयोग दिन में करने का तथा स्रावन अंजन का रात्रि में प्रयोग करने का सिद्धांत है। पाद में अभ्यंग, मृक्षण, उद्वर्तन, लेपन तथा उपानत सेवन से नेत्र की रक्षा तथा नेत्र की बलवृद्धि का सिद्धांत तथा शिरोभ्यंग, मुखाभ्यंग और नस्य से नेत्र की रक्षा का सिद्धान्त, नेत्र के मंडलसंधि तथा पटल के भिन्न-भिन्न अधिष्ठान के अनुसार विशिष्ट शस्त्रकर्म के तथा तर्पण, पुटपाक आदि स्थानानुरूप विशिष्ट चिकित्सा के सिद्धान्त आयुर्वेद की विशेषता है। **कौमारभृत्य में भी** शुक्रशोणित शुद्धि, गर्भिणी परिचर्या, गर्भोपघातकर भाव, सूतिका की परिचर्या, सूतिका के रोग, बालक की जातकर्मा से लेकर पूर्ण विकसित होने तक विविध अवस्थानुरूप रोग और उसकी चिकित्सा के सिद्धांत, यथा—'बालो मृदुभेषजियानाम्' 'क्षीर सर्पिस्सात्म्य', तथा शिशु में मृदु, मधुर, शीत और शंकर

चिकित्सा करने का आदेश, विरेचन का निषेध, नस्य का निषेध, बस्ति एवं मर्शकाही प्रयोग का आदेश तथा शोधन चिकित्सा की आवश्यकता में माता को ही वमन-विरेचन देने का आदेश, बुद्धि-मेधाकर तथा पुष्टिकर लेह, घृत और मोदक का प्रयोग तथा त्रासन, संतर्जन का निषेध, बाल चिकित्सा के विशिष्ट सिद्धांत हैं।

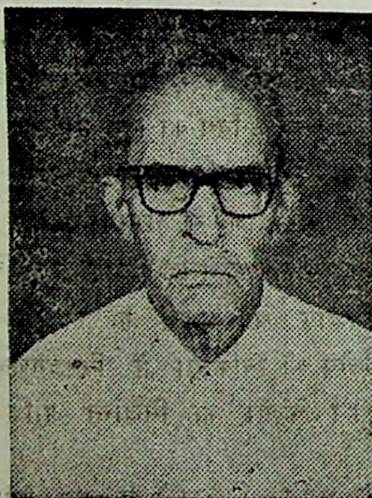
स्त्री-चिकित्सा में योनि एवं स्तनाश्रित रोगों का एवं आर्तव तथा क्षीर दोष का महत्व बताकर आर्तवशोधन चिकित्सा, क्षीरशोधन चिकित्सा तथा योनि रोगों में तैल का विशेष प्रयोग, वातशमन और योनिशोधन होने से करने का सिद्धान्त है तथा पूर्वकर्म में पंचकर्म से शोधन एवं उत्तर वस्ति में बलातैलादि स्नेह के प्रयोग का सिद्धान्त है तथा स्थानिक चिकित्सा के रूप में दु:स्थिता का स्थापन, संवृता का वर्धन, विवृता का परिवर्तन, उत्सन्न मांस का छेदन तथा ग्रन्थि का भेदन, पिचु, वर्ति, प्लोत, दौर्गन्ध्यनाशन, पैच्छिल्यहर योनि-गाठीकरण आदि विशिष्ट सिद्धांत उपलब्ध होते हैं।

अगदतंत्र में विषों की योनि के अनुसार चिकित्सा, भेद तथा विषवेगों के अनुसार आशय अथवा धातुगत विष की चिकित्सा के विशिष्ट सिद्धांत, दंष्ट्राविष और मूल विष का परस्परोपघातकत्व का सिद्धान्त, दुषिविष और गरविष के विशिष्ट प्रकार तथा चिकित्सा के विशिष्ट सिद्धान्त। अग्निगुणयुक्त विष का तथा मद्य का सोमगुणयुक्त ओज से सभी गुणों में विरुद्धत्व तथा सर्पि और क्षीर का सभी गुणों में ओज से समानत्व का सिद्धान्त, हृदयावरण तथा बंधकर्तन आदि विषचिकित्सा कें चौबीस उपक्रमों का सिद्धांत तथा अगदों का विषहर कर्म का सिद्धांत। मद्यदोष की चिकित्सा में विरुद्धगुणवाले मद्य के प्रयोग से ही चिकित्सा का सिद्धान्त आदि विशिष्ट सिद्धान्त हैं।

इस प्रकार मौलिक सिद्धान्तों की अति बड़ी व्यापकता होने से यहां पर केवल संक्षेप में तात्विक एवं व्यवहारिक विभाग करके कुछ सिद्धान्तों का यहां पर दिग्दर्शन मात्र किया है। आयुर्वेद के मनीषि लोग इनका अधिक विश्लेषण और विस्तार करें—यह वर्तमान समय का तकाजा है।

त्रिदोष सिद्धान्त

आचार्य कविराज श्री हरदयाल,
वैद्यवाचस्पति, आयुर्वेदाचार्य,
ई-२१ आनन्द निकेतन नई दिल्ली-२१



त्रिदोष सिद्धांत की जानकारी सृष्टि के आरंभ काल ही चली आ रही है। सृष्टि की यह ज्ञान-वर्षा वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध है। तदनु इसमें समय-समय पर परिवर्धन होता चला आ रहा है। उस काल से लेकर अद्यावधि त्रिदोष सिद्धांत में कोई परिवर्तन उपस्थित नहीं हुआ।

पंचभूतात्मक— वातपित्तकफ—की स्थिति और कार्य-कलाप में भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ। 'स्थित्युत्पत्ति विनाशेतु भूतानामेष कारणम्', त्रिदोष की यह सत्ता यथा-वत नित्य नूतन रूप लिए हुए है। त्रिदोष सिद्धांतवादियों का यह सिंहनाद कि प्राणिमात्र की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश वातपित्त और कफ की समता और विषमता पर ही निर्भर है अटल सत्य सदृश आज भी दीप्तिमान है।

आयुर्वेद के ऋषि-मुनियों द्वारा त्रिदोष सिद्धांत जिसके द्वारा रोगोत्पादक तथ्य तथा उसके निवारण की सरल चिकित्सा-व्यवस्था यह समस्त विश्व को आयुर्वेद की अनुपम देन है।

एक आयुर्वेदज्ञ जिसे पंचानिदान हस्तामलक है, उसे रोग निदान और रोग-विनिश्चय करने में कोई ऊहा-पोह उपस्थित नहीं होती।

उदाहरणार्थ देखिए —

,प्रागूरूपं तस्य हृत्पीड़ा शूलमाध्मानमेव च
आनाहोवक्त्रवैरस्यं शंख निस्तोद एव च।'

उपर्युक्त लक्षण साधारण अजीर्ण में भी सम्भाव्य हैं और साधारण अजीर्ण चिकित्सा से इनका दूर होना भी सम्भव है। किन्तु यदि चिकित्सक के पास रोगी बार-बार इनका वर्णन करता है तब यह एक अनुभवी आयुर्वेदज्ञ के लिए विचार-स्थल उत्पन्न करता है।

निदान पंचक पद्धति के अनुसार ये लक्षण श्वास के पूर्व रूप की कोटि में आते हैं। देखना यह होता है कि बार-बार इनके उत्पन्न होने का क्या कारण है? श्वास रोगोत्पादन में— प्राणान्नोदकवह स्रोतस की दुष्टि अवश्य-म्भावी है एवं आमाशयस्थ पाचक रसों की दुर्बलता के कारण कफ वृद्धि से विकृत वायु द्वारा उपरोक्त लक्षण— हृदयव्यथा, शूल, आध्मान, आनाह, मुख की विरसता के साथ-साथ शिरोव्यथा का अनुभव रोगी करता है। यह स्थिति बार-बार भी हो सकती है और सुदीर्घकाल के पश्चात् भी। कारण कि महाव्याधियों के पूर्व रूप व्यक्त रूप में परिणत होने के लिए अनेक वर्ष लेते हैं। कभी-कभी रोगी द्वारा श्रमसाध्य परिचर्या के कारण तथा आहार-विहार में सहसा परिवर्तन उपस्थित होने से, कभी-कभी जलवायु परिवर्त्तन करने आदि के कारणों के प्रभाव से श्वास रोगोत्पादक दोष - संचय को व्यक्त या तीव्र रूप में आने के लिए स्वाभाविक ही विलंब उपस्थित होता है। परन्तु इस परिणाम से यह समझना भूल होगी कि रोग शांत हो गया है।

'यथा—नात्यर्थं कुपितश्चापि लीनो मार्गेषु तिष्ठति।
निष्प्रत्यनीकः कालेन हेतुमासाद्य कुप्यति ॥
सु०सू०अ०२१

रोगोत्पादक दोषों की निर्बलता के कारण प्रकुपित दोष मार्गों में ही लीनीभूत होकर चुपचाप शांत अवस्था में स्थिति पकड़ लेता है और जब भी हेतु और समय उप-लब्ध होता है तब पुनः विकट रूप से दर्शन देता है। त्रिदोष सिद्धांत के वेत्ता को सचेत रहने के लिए इस सिद्धांत को दृष्टि-पथ में रखना पड़ता है।

इसके साथ ही आयुर्वेदीय चिकित्सक निर्बाध सफलता-हेतु त्रिदोष सिद्धांत चिकित्सा को सिद्धहस्त या पीयूषपाणित्व प्रदान करने के लिए एक अद्वितीय स्वर्णोपदेश प्रस्तुत करता है।

'यथा—संचयेऽपहृता दोषा लभन्तेनोत्तरागतीः।
ते तूत्तरासु गतिषु भवन्ति बलवत्तराः ॥
सु० सू० २१

रोगों के पूर्वरूप से ही ज्ञात हो जाता है कि अमुक रोगोत्पादक दोष-संचय को दोष-स्थिति के अनुसार तत्काल नष्ट करने का प्रयास करना चाहिए। कारण कि इस अवस्था में न तो दोष - संचय प्रवृद्ध होता है न ही दृढ़ मूल। ऐसी दशा में उसे सुखपूर्वक नष्ट कर देने से वह अपनी उत्तर दशा (भयंकर प्रकोप) को प्राप्त नहीं होता। जैसे छोटा-सा क्षुप बिना कष्ट के उखाड़ा जा सकता है। किन्तु वही क्षुप यदि वृक्ष के रूप को प्राप्त हो तो उसे नष्ट करना अति दुष्कर हो जाता है।

भविष्य के भावि रोगों से सुरक्षित रहने के लिए त्रिदोष सिद्धांत प्रशस्त मार्ग प्रस्तुत करता है।

त्रिदोष सिद्धांत की व्यापकता—वातपित्त और कफ, इनके द्वारा न केवल मानव शरीर की ही प्रत्युत चतुर्विध भूतग्राम के स्वस्थ और अस्वस्थ होने या रहने का आधार माना जाता है। 'रोगस्तु दोषवैषम्यं दोष साम्यमरोगताः अष्टा० हृ०। वातपित्तश्लेष्माण एव देह सम्भवहेतवः। तैरेवाव्यापन्नै रधोमध्येऊर्ध्व सन्निविष्टैः शरीरमेदंधार्यते। त एव च व्यापन्ना प्रलय हेतवः। सु० सू० अ० २१।

चरकसूत्र स्थान अ० २० में और अधिक स्पष्टता से वर्णन किया है। यथा—'सर्व शरीरचरास्तु वातपित्त-श्लेष्माणः सर्वस्मिन्न शरीरे कुपिताकुपिताः शुभाशुभानि कुर्वति—प्रकृतिभूताः शुभानि उपचंय बल वर्णप्रसादादीनि, अशुभानि पुनर्विकृतिमापन्ना विकार संज्ञकानि। आयुर्वेदीय वातपित्त और कफ के सिद्धांतभूत आधार पर अन्वेषणप्रिय कर्मठों द्वारा मानव आयुर्वेद के अतिरिक्त—गजायुर्वेद, अश्वायुर्वेद, गवायुर्वेद, वृक्षायुर्वेद के नाम से समय-समय पर पृथक-पृथक रूप से इनकी रचना हुई। एतद्‌रिक्त वन्य जीवजंतु, खनिज, जलचर प्राणियों के दुग्ध, दधि, तक्र, मलमूत्र, खुर, रोम, चर्म, त्वक् कर्णमल, मांसमेदा-अस्थि, स्नायु, यकृद् शोणित, जलौका, सरीसृप, वृश्चिक आदि के प्रयोग आयुर्वेद में उपलब्ध हैं। वृक्षायुर्वेद में तो क्षुप, लता, प्ररोह, फल, फूल और त्वक्, पत्र,

मूलत्वक्, निर्यास आदि का भरपूर प्रयोग होता है एवं इस वर्ग में आने वाले द्रव्यों के स्वस्थ और अस्वस्थ का वणन भी वात- पित्तकफ के प्रकृतस्थ और विषम दशाओं का वर्णन भी त्रिदोष सिद्धान्त पर ही आश्रित है। इस प्रकार यह त्रिदोष सिद्धान्त चतुर्विध भूतग्राम पर लागू होता है। प्राचीन विद्वानों ने जैसे वाह्य जगत के स्वास्थ्य और अस्वास्थ्य के लिए सोम, सूर्य और वायु के स्वस्थ आचरण से सुख और विषम भाव को असुख-कर माना है, वैसे ही वातपित्त और कफ शरीर का उत्पादन, संरक्षण और विकृतावस्थापन्न होने पर विनाश भी।

यथा—विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा ।
धारयन्ति जगद्देहं कफ-पित्तानिलास्तथा ।।

सु० सू० अ० २१

यह उदाहरण अण्ड और ब्रह्माण्ड की समता प्रकट करता है। (चन्द्रमा) सोम एव शरीरे श्लेष्मान्तर्गतः। क्लेदक और जल प्रधान द्रव्य है। सूर्य आग्नेय पित्त स्थानीय है। वायु विक्षेपक है अर्थात् शरीरस्थ मलमूत्र स्वेदादि का प्रवाहक है। इस प्रकार अंतः और वाह्य जगत का समन्वय ठीक बैठता हैं। इसी रहस्य को चरक ने स्पष्ट कर दिया है।—तावेता वर्क वायू सोमश्च काल स्वभाव मार्ग परिगृहीता—"इह खल्वायुर्वेदस्य प्रयोजनं व्याध्युपसृष्टानां व्याधि परिमोक्षः, स्वस्थस्य रक्षणं च'—इस ध्येय की पूर्ति तभी संभव है जब यह जान लिया जाए कि लोकाधार वातपित्त और कफ को कैसे समान अवस्था में रखा जाए? कारण कि नों की प्रकृतावस्था आरोग्यप्रद है और विकृतावस्था ही ग का कारण बनती है।

प्रकृतिस्थित वात के नाम, स्थान और कार्य - सम्पादन विधि को जान लेना आवश्यक है। एवं विध पित्त और कफ के भी। तथा विकृति व्यापन्न अन्य दोषोंके स्थान, नाम और कर्मविधि का ज्ञान भी आवश्यक है। वातादि दोषों की स्थिति के सम्बन्ध में संक्षिप्त परन्तु सारगर्भित विचार पर श्रीतीसटाचार्य का मत इस प्रकार है।

यश्चेष्टा चेतनयोस्तनोस्तनुभृतां देहेहि वायु स्मृतः।
य स्तापं विदधात्यविरक्तं देहेहि पित्तंतु तत्
यश्चाश्लिष्य वपुंसदा रसयति प्रीणाति सौख्यं कफः

वातपित्तकफ की समष्टि में वात ही प्रधान है। अन्य दोषों की रोग गणना की अपेक्षा वायु के ८०, पित्त के ४० और कफ के २० हैं। ये संख्या साधारण ही जाननी चाहिए। मिश्रितावस्था में एवं शरीर के अन्य धातूपधातु मलमूत्र स्वेदादि तथा स्थान-संश्रय की दृष्टि से असंख्येय रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

इस लेख में विशेषरूपेण वात के सम्बन्ध में ही विचार होगा।

वायु क्या है? इस पर महर्षि चरक का मत सर्वश्रेष्ठ प्रतीत होता है 'वायुस्तन्त्र (शरीरयंत्र) यंत्रधरः प्राणोदान समान व्यानापानात्मा, प्रवर्तकयश्चेष्टानामुच्चावचानां, नियंता प्रणेता च मनसः, सर्वेन्द्रियाणामुद्य योजकः सर्वेन्द्रियाथानामभिवोढा (मन को अभिलषित विषय में संलग्न करना), सर्वशरीरधातुव्यूहकरः (दैहिक धातुओं की सूक्ष्मातिसूक्ष्म रचना का कारण), संधानकरः शरीरस्थ (शरीरस्थ स्थूल और सूक्ष्म अवयवों का रचनात्मक एवं कर्मपरक सम्बन्ध स्थापक) प्रवर्तको वाचः, प्रकृतिः शब्द स्पर्शयोः, श्रोत्रस्पर्शनयोर्मूलं, हर्षोत्साहयोर्योनिः, समीरणोऽग्नेः संशोषणोदोषाणं, क्षेप्ता बहिर्मलानां, स्थूलाणु स्रोतसां येता, कर्ता गर्भाकृतीनां आयुषोऽनुवृत्तिप्रत्ययभूतो भवत्यकुपितः। कुपितस्तु खलु शरीरे शरीरं नाना विधैर्विकारैरुपतपति बलवर्ण सुखायुषामुपघाताय, मनोव्यथाहर्षयति, सर्वेन्द्रियाण्यु हन्ति, विविहन्ति गर्भान् विकृतिमापादयत्यति कालं वा धारयति, भयशोकमोह दैन्यातिप्रलापान् जनयति प्राणां चोपरुणद्धि। प्रकृति भूतस्य खल्वस्य लोके चरतः कर्माणीमानि भवन्ति, तद्यथा—धरणीधारणं, ज्वलनोज्ज्वालनम्, आदित्य चंद्रनक्षत्रग्रहगणानां संतानगतिविधानं सृष्टिश्च मेघानाम् अपांविसर्गः, प्रवर्तनं स्रोतसां, पुष्प फलानां चापि निवर्तनम्, उद्भेदनं चौद्भिदानाम्, ऋतूनां प्रविभागाः, विभागो धातूनां, धातुमान संस्थान व्यक्तिः, वीजाभिसंस्कारः शस्याभिवर्धन मविक्लेदोपशोषणे, अवैकारिक विकारोश्चेति। शिखरि शिखरावमथनम्, उन्मथन मनोवहानाम्, उत्पीडनं सागराणाम्, उद्वर्तनं सरसां प्रतिसरण मापगानाम, अकम्पनं च भूमेः, आधयनमम्बुदानां, नीहार निर्हाद पांशुसिकमामत्स्यये कारगक्षार रुधिराश्माशनिविसर्गः, व्यापादनं

पणगामृत नाम, शस्यानाम् संवातः भूतानांचोपसर्गः, भावानामभावकरणं, चतुर्युगांतकराणां मेघ सूर्यानलानिलानां च विसर्गः । स हि भगवान् प्रभवश्चाव्ययश्च, भूतानां भावाभावकरः सुखासुखयोर्विधाता, मृत्युः, यमः, नियंता, प्रजापतिः, अदितिः, विश्वकर्मा, विश्वरूपः, सर्वगः, सर्वतंत्राणां (शरीराणां) विधाता, भावानामणुः, विभुः, विष्णु क्रांतालोकानां, वायुदेव भगवानिति ।

चरक सू०अ० १२

महर्षि आत्रेय प्रतिपादित यह विस्तृत विवरण समस्त ब्रह्मांड एवं उसमें प्रतिष्ठित समस्त चराचर का है। वायु ही आयु और जीवन है। वायु ही उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का कारण माना गया है।

भगवान धन्वन्तरि वायु के गुण-गौरव के कथन में कहते हैं—

स्वयंभूरेव भगवान् वायुरित्यभिशब्दितः ।
स्वातन्त्र्यान्नित्य भावाच्च सर्वगत्वा तथैव च ॥
सर्वेषामेव सर्वात्मा सर्वलोक नमस्कृतः
स्थित्युत्पत्ति विनाशेषु भूतानामेष कारणम् ॥
अव्यक्तो व्यक्तकर्मांच···
अचिंत्यवीर्यो दोषानां नेतारोग समूहराट् ॥

इस प्रकार सर्वशक्ति-सम्पन्न वायु द्वारा ही चतुर्विध जनग्राम (स्वेदज, अण्डज, उद्भिज और जरायुज) सजीव सृष्टि में आते हैं। हमारा संबंध इस लेख में केवल जरायुज से है। इनमें पुरुष ही प्रधान है शेष सब उसके उपकरण हैं।

आयुर्वेद का मूल उद्देश्य भी यही है—'प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्य रक्षणमातुरस्य विकार प्रशमनं च' ॥ इन दोनों की प्राप्ति कैसे हो यह श्रमसाध्य विषय है।

त्रिदोष सिद्धान्त की व्यापकता का ज्ञान, वातपित्त, कफ, धातुपधातु, मलमूत्रादि कीस्थिति, ज्ञान, इन का व्यापार, समस्थिति, विकृत स्थिति वृद्धि, ह्रास की तारतम्यता का परिचय होने से ही स्वस्थ मनुष्य स्वस्थ रहकर चिरकाल रोगमुक्त भी हो सकता है। एतदर्थ चतुष्पाद चिकित्सा-क्रम का पालन करना होगा।

त्रिदोष की सत्ता—तीनों दोषों में वायु ही स्वतंत्र माना गया है। इसका सुविशाल क्षेत्र अति जटिलताओं से परिपूर्ण हैं।

यथा—वायुरायुर्बलंवायु वायुर्धाता शरीरिणाम् ।
वायुर्विश्वमिदं सर्वं प्रभुर्वायुश्च कीर्तितः ॥
अव्याहत गतियस्य स्थानस्थः प्रकृतौ स्थितः ।
वायुः स्यात् सोऽधिकं जीवेद् वीतरोगः समाः
शतम् । च०चि० अ० २८

इस प्रकार स्थान, नाम और कर्म-भेद से पंचधा विभक्त प्रकृत (स्वस्थ) वायु से शरीर, जीवन और स्वास्थ्य पूर्णतः प्रभावित होते हैं। वायु की प्रधानता इस श्लोक से भी स्पष्ट है—

यथा—पित्त पङ्गुः कफः पङ्गुः पङ्गवो मलधातवः ।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र वर्षन्ति मेघवत् ॥

शार्ङ्ग० पूर्वखंड ।

इस निर्णय से सब ऊहापोह नष्ट हो जाती है। कारण कि पित्त, कफ, मल और धातुएं सर्वथा ही अपने स्थान से इतस्ततः वा दूर गमन में रहती हैं। इनका संचालक वायु शरीर के किसी भी भाग में दूषित मलादि को ले जाता है उसी स्थान पर व्याध्युत्पत्ति होती है। 'यत्र संगःसर्वे गुण्यादव्याधियस्तत्रोपजायते' अन्यश्च—'वात पितकफा देहे सर्वस्रोतोऽनु सारिणः वायुरेव हि सूक्ष्मत्वाः द्रव्योस्तत्राप्युदीरणः॥

कुपितस्तौ समुद्धूय तत्रतत्र क्षिपन् गदान् ।

चर०चि० अ०२८

ऊपर के समस्त प्रमाणों से यह स्वतः सिद्ध है कि वायु की अनुलोमता तथा प्रतिकूलता ही स्वास्थ्य और अस्वास्थ्य का मूल कारण है।

अब प्रकृत वायु के नाम, स्थान और कर्म जान लेने से ध्येय-पूर्ति वीतशंक होगी—वस्तुतः वायुशक्ति एक ही है। स्थान-भेद से पृथक् नाम, स्थान एवं कार्यशक्ति के निर्बाध करते रहने से ही वायु को पंचधा विभक्त किया गया है।

प्राणोदानौ समानश्च व्यानश्चापान एव च ।
स्थानास्था मारुताः पचयापयंति शरीरिणम् ॥

सू०सू० अ०१

प्राणवायु—स्थान 'वायुर्यो वक्त्र संचारी सप्राणोनाय देहधृक' प्रकृत बोलचाल मे भी इसे प्राण ही कहते हैं।

निस्संदेह इसी के आश्रय से जीवन (आयु) का वहन होता है। जब कभी क्षण वा क्षणांश में प्राण वायु की गति में अवरोध हो तब तुरंत प्रलय-का सा समय उपस्थित हो जाता है। और यह ऐसा हृदयस्पर्शी अनुभव है जिसे भुक्तभोगी भी बाद में शब्दों या वाक्यों में वर्णन करने की स्थिति में नहीं होता। वायुओं में सर्वश्रेष्ठ वायु प्राणवायु ही है। इसी के सुव्यवस्थित रहने से अन्य नामधेय वायुएं प्रकृत वा विकृत दशाओं में अपना-अपना कार्य करने में सक्षम होती हैं। जब इसका गमनागमन शरीर में नहीं होता तब समग्र शरीर और उसके अन्य संचालक या उपकरण निष्क्रिय हो जाते हैं।

प्राणवायु का वक्र संचरण तो व्यावहारिक लोक प्रचलित नाम है। इसके संबंध में— "तत्र प्राणो मूर्धन्यवस्थितः कण्ठोरश्चरो बुद्धीन्द्रियहृदयमनोधमनी धमनीधारणाग निष्ठीवनक्षवथूद्गार श्वासोच्छ्वाससान्त प्रवेशादिक्रियः (अष्टांसं०)। इस प्रकार ये सभी क्रियाएं प्राणवायु द्वारा संपन्न होती हैं।

प्रकृतिस्थ—

"स्थानं प्राणस्य मूर्धोरः कर्णजिह्वास्यनासिकाः।
ष्ठीवन क्षवथूद्गारश्वासाहारादि कर्म च॥"
उदान—उदानो नामयस्तूर्ध्वमुपेति पवनोत्तमः।
तेन भाषित गीतादि विशेषोऽभिप्रवर्तते॥
उर्ध्वजत्रुगतान् रोगान् करोति च विशेषतः
सु०नि०१

उदानस्य पुनः स्थानं नाभ्युरः कण्ठ एव च।
वाक्प्रवृत्तिः प्रयत्नौज्जो बल वर्णादि कर्म च॥
चर०चि०२८

मानव समाज (स्त्री-पुरुष) में कभी-कभी कण्ठ स्वर बड़ा सुरीला होता है। उदान वायु की शुद्धता से ही वक्ता और गायकजन समारोहों में बड़ी प्रतिष्ठा पाते हैं एवं विकृत होने पर स्वर वाणी दोनों ही कठोर या मिन-मिंन गति सम्पन्न होते हैं तथा कण्ठ, नासिका, शिर और नेत्ररोग भी ऐसे पुरुषों के साथी रहते हैं।

समान वायु—आम पक्वाशयचरः समानोवह्निदीप
सोऽन्नं पचति लज्जांश्च विशेषांविनिनक्ति
सु० नि

गुल्माग्नि सादातीसार प्रभृतीन् कुरुते गद

समान वायु का व्यापार-क्षेत्र काफी विस्तृत यह आमाशय तथा पक्वाशय में व्याप्त रह कर अन्न पाचन करती है। परिपाक से होने वाली उपल (रस, दोष, मलमूत्रादि) का विभाजन करती है। इस शरीर का बृंहण होता है। जब यह स्वकार्य करने असमर्थ होती है तो मंदाग्नि के कारण गुल्म, अति अटोप, व्याकुलता आदि अनेक दुर्लक्षण उत्पन्न हो हैं।

स्वेददोषाम्बु वाहीनि स्रोतांसि समधिष्ठितः
अंतरोग्नेश्च पार्श्वस्थः समानोऽग्निबलप्रदः।
च. चि. अ.

चरकमतानुसार अन्नवह स्रोतों का मूल आमाशय यह विकारोत्पत्ति मन्दाग्नि से ही होती है। स्वेद म्बुवह स्रोतों पर इस स्थिति का प्रभाव अवश्य ही प है। बीमार को अन्न की अभिलाषा नहीं होती। अनि पूर्वक भोजन करने से प्रथमारम्भ में अरुचि, अवि कदाचित वमन या उत्क्लेश की अनुभूति होती रहती यह भी सत्य है कि ऐसे रोगी जब कभी एक स्थान दूसरे स्थान के जलवायु में रहें तो उन्हें प्रतीत होता कि यहां मेरे स्वास्थ्य में बड़ा परिवर्तन हुआ है और अब अस्वस्थ अनुभव करता हूँ। जलवायु के परिवर्तन ऐसा निश्चित ही होता है।

व्यान वायु—कृत्स्न देहचरो व्यानो रक्तसंवहनो
स्वेदासृक् श्रावणश्चापि पंचधाचेष्टयत्
क्रुद्धश्च कुरुतेरोगान् प्रायशः सर्वदेह
सु. नि. अ.

प्राणवायु से उतर कर दूसरे नम्बर पर व्यान का ही स्थान है। प्रकृतावस्था में शारीरिक स्वास्थ्य जीवन इसी पर अवलम्बन करता है। इसका सुवि कार्य-क्षेत्र है। आपादमस्तक समस्त शरीर में वि करता हुआ स्थानीय अवयवों और परमाणु को कार्य देती है।

व्यानो हृदि स्थितः (वाग्भट) इस दशा में व्यान का प्रधान स्थान हृदय है एवं हृदय से ही समग्र

में रक्त-संचरण होता है। अतः यह सर्वशरीरगामी है और हृदय के प्रायः सब विकार इसी की दुष्टि से संबंधित हैं। H. B. P. & L. B. P. में भी यही कारणभूत है। धमनीदार्ढ्य में भी यही सहायक होता है। व्यानवायु की विकृति (वृद्धि और क्षीणता) में रक्त और कफ का बहुत बड़ा अंश रहता है।

अपानवायु—पक्वाधानालयोऽपानः कालेकर्षातिस्याप्ययम्।
समीरणः शकृन्मूत्रशुक्रगर्भार्तवान्यधः
क्रुद्धश्च कुरुते रोगान् वस्तिगुदाश्रयान्।
सु. नि. १

शरीर के स्वस्थ और अस्वस्थ रहने में अपान वायु का विशेष महत्व है। सम्यक् प्रकार से प्रतिदिन मलमूत्रादि की स्वाभाविक प्रवृति इसी के अधीन है। वहिर्गमनार्ह मलमूत्र ही यदि नियमित रूप से शरीर से बाहर नहीं होते तब निरंतर स्वास्थ्य की आशा कैसे हो सकती है। इसकी अति दुष्टि के कारण वस्तिगत रोग (समस्तमूत्रकृच्छ्र और मूत्राघात) तूनी प्रतितूनी वाताष्ठीला, अष्ठीला मूत्र-ग्रन्थि-वृद्धि (प्रोस्टेटग्लैंडवृद्धि) एवं—अधोकाये विशेषेण शीतता च भवे दिह—यह चिरस्थायी लक्षण तब उत्पन्न होता है जब अपान वायु की विकृति के साथ-साथ व्यानवायु का भी प्रकोप चिरकालीन हो। ऐसे रोगी की पिण्डलियाँ और पादद्वय प्रायः शीतल ही रहते हैं। कारण कि व्यान वायु की विकृति के कारण अधोभागीय शाखाओं में रक्ताभिसरण पर्याप्त नहीं हो पाता।

पांचों प्रकार की वायुओं का प्रकोप युगपत कभी-कभी ही मनुष्यों को होता है और साध्य नहीं होता। वैसे भी इनकी प्रवल विकृति में शरीर में असंख्य रोग उत्पन्न होते हैं। सबका पृथक-पृथक निर्देश असम्भव है ही।

किन्तु एक आयुर्वेदीय चिकित्सक को प्रत्येक आशयस्थ वायु की विकृत और अविकृतता के लक्षणों का ज्ञान परम अनिवार्य है। एवं सप्तधातुस्थ प्रकृत और विकृत वायु के लक्षणों से परिचित रहना ही चाहिए। एतवन्मात्र ज्ञान होने से चिकित्सक सर्वत्र यशोलाभ करने के साथ-साथ रोगीजनों द्वारा सम्मानित भी होता है।

इस प्रसंग में हम केवल यहां आशयों में रहने वाले वायुओं का ही वर्णन करेंगे। शेष धातूपधातू तथा आवरणादि स्थित प्रकृत वात का वर्णन बहु विस्तारभय से करना उचित नहीं समझते। यह सब संहिता ग्रन्थों से देखना श्रेयस्कर होगा। जनसमाज में प्रायः अधिसंख्य रोगों की उत्पत्ति आशय स्थित विकृत वायु से अधिक संबंधित होती है।

आमाशयस्थ विकृत वायु

वायुरामाशये क्रुद्धः छ्यार्दीन् कुरुते गदान्।
मोह मूर्च्छापिपासां च हृद्ग्रहं पार्श्ववेदनम्॥
सु० नि० अ० १

इन साधारण लक्षणों को देखकर किसी भी पद्धति का चिकित्सक तुरत यह निश्चय कर लें कि कष्टप्रद लक्षणों का मूल स्थान आमाशय है। अधुना यह कठिन प्रतीत होता है। चरक ने इसे और भी विशेषता दी है।

हृन्नाभि पार्श्वोदररुक तृष्णोद्गार विसूचिकाः।
कासः कण्ठास्य शोषश्च श्वासश्चा माशय स्थित॥
चर० चि० अ० २८

आमाशयस्थ विकृत वायु के क्षेत्र में ये सब उठते हैं और श्वास प्राणोदकान्नवह स्रोतों का रोग है। इसलिए इसका अंतिम परिणाम श्वासहर होता है।

पक्वाशयस्थ विकृत वातजरोग

पक्वाशयस्थोऽन्त्रकूज शूलंनाभौ करोति च।
कृच्छ्रमूत्रं पुरीषाचमानाहं त्रिकवेदनाम्॥
सु० नि० अ० १

चतुर्विध ग्रहीत आहार के पचन का मार्ग पर्याप्त विस्तृत है। इसमें आमाशय, ग्रहणीकला, क्षुद्रांत्र आदि यथा-नियम अपने-अपने पाचक रसों द्वारा आहार-पाचन में सहायक होते हैं। अंत में पूर्णपाक पक्वाशय में होता है। यह पक्वाशय वृहदन्त्र के अन्तिम भाग में स्थित है। आधुनिक भाषा में इसे (Alimentary canal) कह सकते हैं। आहारीय द्रव्यों के गुणधर्म और विपाक परिचायक परिणाम उत्पन्न होते हैं। पक्वाशय के और अधोभाग से सम्बन्धित अपान वायु का स्थान है। इसी कारण पक्वाशय प्रदुष्ट वायु के प्रभाव से मूत्रकष्ट, पुरीष - प्रवृत्ति की मंदता, आनाह (कब्ज) एवं कटिशूल की उत्पत्ति होती है। उचित चिकित्सा के अभाव में ये लक्षण चिरसंगी बन जाते हैं।

चरक ने इसे और स्पष्ट कर दिया है।

अपान वायु विकृति

ग्रहो विन्मूत्र वातानां शूलाध्मानाश्मशर्करा: ।
जङ्घोरुत्रिक् पादपृष्ठ रोगशोषा गुदस्थिते ॥

च० चि० अ० २८

गुदस्थवायु जब अपनी नैसर्गिक क्रिया-कलापों को विकृत होने के कारण सम्पादन करने में अक्षम हो जाए तब उपर्युक्त लक्षण न्यूनाधिक रूप से उत्पन्न हो जाते हैं। कारण कि गुदभागीय कार्यकर अवयव और पेशी, स्नायु आदि का समीप का सम्बन्ध होने से प्रभावित होना अवश्यंभावी है। इसके साथ-साथ **अधःकाये विशेषेण शीतता च भवेदिह** । गुदस्थ पुराण विकृति रक्त के अधोभाग के प्रसरण में बाधा होने से रोगी की पिण्डलियां और पादद्वय का शीतल रहना स्वाभाविक है।

वायु का प्रधान केन्द्र (Center)—त्रिदोष सिद्धान्त के संबंध में आयुर्वेद का अटल और अन्तिम निर्णय—'वातपित्त-श्लेष्माण एव देह सम्भवहेतवः । तैरेवाव्यापनैरधो मध्योर्ध्व सन्निविष्टैः शरीरमिदं धार्यते··· ··· त एव च व्यापन्नाः प्रलयहेतवः । तदेभिरेव शोणित चतुर्थैः सम्भव-स्थिति प्रलयेष्वप्य विरहितं शरीरं भवति । सु.सू.अ. २१ .

अर्थात् वात-पित्त-कफ ये ही शरीर की उत्पत्ति के कारण हैं और यही शरीर के नीचे, मध्य और ऊपर यथा-क्रम स्थित रहते हैं। व्यापन्नावस्था में शरीर के नाश का कारण बनते हैं। उत्पत्ति, स्थिति और विनाश काल में भी वात-पित-कफ एवं रक्त, इनसे विहीन शरीर नहीं होता।

इस समग्र सृष्टि-क्रम में वायु की प्रधानता, अवाधगति और अद्भुत शक्ति आदि का संक्षिप्त वर्णन ऊपर हो चुका है। वायु के सम्बन्ध में स्थान और स्थानिक कार्य भी देख चुके हैं। यह भी ठीक है कि एक ही वायु स्थान और कर्म-भेद से पंचधा विभक्त होकर शरीर के संचालन का कार्य कर रहा है। इस अवस्था में इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक ही है। वायु का शरीर में कोई न कोई मूल केन्द्र भी होना चाहिये।

कारण कि विद्युत अपने उत्पादक-केन्द्र से अन्य सैकड़ों सब-स्टेशनों को बिजली भेजता है। विद्युत केन्द्र से बिजली का सम्यक् संचरण और प्रसरण होता रहे तब समस्त सब-स्टेशन अपना-अपना कार्य करते रहते हैं और जब वि[illegible] के प्रसरण में अवरोध उपस्थित होता है तब कार्य [illegible] हो जाता है। शरीर में वायु का भी कार्य ऐसा ही [illegible] है।

इस सम्बन्ध में बहुचर्चित, मानैषणा से विर[illegible] निस्पृह, आर्ष आयुर्वेद के अनन्य भक्त, कर्मठ विद्याव्यसनी रणजित राय देसाई महोदय ने इस विषय में अथर्ववेद [illegible] एक मंत्र अपने शरीर-क्रिया-विज्ञान के पृ. ४६२ पर दि[illegible] है। उससे यह ग्रन्थि भली प्रकार सुलझती है। उन्हीं [illegible] शब्दों में देखिए—'वायु का कार्यालय मस्तिष्क है। हृ[illegible] और मस्तिष्क का गाढ सम्बन्ध है—

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदये च यत् ।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधिशीर्षते ।

अथर्व १०-२-[illegible]

अथर्वा (ईश्वर) ने पुरुष के शिर तथा हृदय को प[illegible]स्पर अनुस्यूत—सीया हुआ, गाढ सम्बन्धयुक्त किया हु[illegible] कहा है। इसी सम्बन्ध के कारण वायु शिर में स्थि[illegible] मस्तिष्क में ऊपर रहता हुआ (प्रत्येक अवयव की निज-नि[illegible] कर्म करने की) प्रेरणा करता है।

अथर्ववेद की इस श्रुति से आयुर्वेद में वर्णित वायु [illegible] कलाप प्रभाव, अव्याहतगति, शरीरयंत्र संचालक-क्षमत[illegible] अव्यापन्न तथा व्यापन्न दशाओं के प्रभाव और जीव[illegible] दातृत्व आदि सब की सार्थकता स्वतः सिद्ध हो जा[illegible] है एवं वायु के स्व-स्व स्थानस्थ होकर शरीर यंत्र [illegible] संचालन स्वयं प्रतिविम्बित होता है।

आधुनिक विचारधारा—आयुर्वेद में कथित वा[illegible] एवं मन द्वारा होने वाली समस्त क्रियाओं को, अस्तित[illegible] को तो स्वीकार करते हैं परन्तु समस्त क्रियाओं के मू[illegible] भूत संचालक वायु के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते [illegible] ज्ञानेद्रियों और कर्मेन्द्रियों द्वारा सम्पन्न होने वाले का[illegible] मनोयोग से पूर्ण होते हैं। कारण कि आयुर्वेद मन [illegible] इन्द्रियों (उभय) का स्वामी मानता है और मन [illegible] स्वामी वायु को—इसलिए मन द्वारा होने वाली पूर्ति [illegible] वायु द्वारा ही समझनी चाहिए।

आधुनिक शरीरवेत्ता उपर्युक्त क्रियाओं की सम्पन्न[illegible] में स्नायुमण्डल Nervous systemको ही प्रश्रय देते हैं [illegible] बाहर और भीतरी चेष्टाओं, संज्ञाओं एवं आदेशों [illegible]

आदान-प्रदान का वाहक भी स्नायु-मंडल को ही माना जाता है।

इस स्थल पर एक जिज्ञासा का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। वह यह कि यदि शरीर के समस्त कार्य इन्हीं स्नायुओं द्वारा बिना किसी अन्य शक्ति की प्रेरणा से स्वत: ही होते हैं, तब निष्प्राण शरीर में भी ये सब यथा-वत और यथास्थान रहते ही हैं, परंतु शरीर का जीवन समाप्त हो जाता है। आधुनिकों की यह निग्रहा-वस्था है।

इससे अधिक सत्य पर आधारित और तर्कसंगत आयुर्वेद की मान्यता यह है कि **सर्वेषामेव सर्वात्मा सर्व-लोकनमस्य कृतः।**

स्थित्युत्पत्ति विनाशेषु भूतानामेषकारणम् सु० चि:
सर्वतंत्राणां (शरीराणां) विधता चर० ।।

प्रत्यक्ष लोकानुभूति भी यही है कि जब प्राणवायु का शरीर में आवागमन समाप्त होता है तब पार्थिव शरीर ही अवशिष्ट रहता है। एक महात्मा की उक्ति भी यही है—पड़े ठाठ रह जाएंगे जब लाद चलेगा बंजारा।

आयुर्वेद वायु को अव्यक्त होने पर भी व्यक्त कर्मा मानता है अत: शरीरस्थ यावतीय-शिरा, स्नायु, धमनी, स्रोतस, सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं स्थूलातिस्थूल, अणु-प्रत्याणु रन्ध्र, आशय, कलाएं तथा अन्य सरस और रसविहीन ग्रन्थियाँ—आदि, ये सब वायु के साधनभूत उपकरण मात्र हैं। इन्हीं के माध्यम से वायु शरीर यंत्र का संचालन करता है। केवल वायु की अनुपस्थिति मे ये सब निष्क्रिय बन जाते हैं। अत: ऐसी दशा में प्राचीन आर्ष सिद्धांत बुद्धि और तर्कसम्मत रूप में अविचल रह सकता है।

त्रिदोष सिद्धांत की एक अद्वितीय विशेषता

आयुर्वेद का मुख्य प्रयोजन तो— **इह खल्वायुर्वेद प्रयोजनं व्यांध्युपसृष्टानां व्याधि परिमोक्ष: स्वस्थस्यरक्षणं च' सु० सू० सू-क्ष०**

प्रजाहित हेतु जिस आयुर्वेद का अवतरण हुआ है उसके ये दोनों उद्देश्य समीचीन हैं। उद्देश्य तो दो हैं परन्तु साधनभूत तत्व एक ही हैं। स्वस्थ वही रह सकता है जिसके—

समदोष:समाग्निश्च समधातु मलक्रिया:।
प्रसन्नात्मेन्द्रिय मन स्वस्थइत्यभिधीयते ।। सु०

इस अवस्था के ठीक विपरीत अवस्था में ही मनुष्य व्याधित होता है। दोष धात्वादि के समत्व में ही आरोग्य और वैषम्य में रोग निवास रहता है।

"धातु साम्यक्रिया चोक्ता तंत्रस्यास्य प्रयोजनम्" सु०
अन्यच्च—विकारो धातुवैषम्यं साम्यंप्रकृति रुच्यते।
सुख संज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च ।।
चर० सू० अ० ९

चिकित्सक का प्रधान कर्म दोषधात्वादि में समता लाना ही है। इसीको चिकित्सा माना जाता है।

यथा—याभि: क्रियाभिर्जायंते शरीरे धातव: समा:।
सा चिकित्सा विकाराणां कर्मतद्भिषजां स्मृतम्।
च० सू० अ० १७

निरंतर यह समत्व कैसे उपलब्ध होता है। श्रीभगवद्गीता में और भी स्पष्ट है।

युक्ताहार विहारश्च युक्तचेष्टासु कर्मसु
युक्तस्वप्नाबोधश्च योगो भवति दुःखहा।

युक्त का अर्थ यहाँ समता है।

जो चिकित्सक चिकित्सा-क्षेत्र में सिद्धि और प्रसिद्धि प्राप्त करते हैं उन्हें देह के आधारस्तम्भ-वातपित्त, कफ, धातूपधातु एवं मलमूत्रादि की समता का पूर्ण ज्ञान होता है और जो चिकित्सक सिद्धि प्राप्त करना चाहें, उन्हें उक्त सिद्धांत का ज्ञानार्जन आवश्यक होता है। अन्यथा कर्म-कौशल से वंचित ही रहना पड़ता है।

यदुक्तम्—क्षयं वृद्धि समत्वं च तथैवावरणंभिषक्।
विज्ञाय पवनादीनां नप्रमुह्यति कर्मसु"
चरक० चि० अ० २८

अन्यश्च—'स एव कुपितोदोष: समुत्थान विशेषत:।
स्थानांतरगतश्चैव जनयंत्ययामयान बहून् ।।
तस्माद्विकार प्रकृतीरधिष्ठानानान्तराणि च
समुत्थान विशेषांच वुद्धवा कर्म समाचरेत् ।।
योह्येतत् त्रितयं ज्ञात्वा कर्माण्यारमते भिषक्।
ज्ञानपूर्वं यथा न्यायं स कर्मसु न मुह्यति ।।
चर० सू० अ० १२

यह सार्वभौमिक एवं अत्यावश्यक ज्ञातव्य हैं। इनका ही आलिंगन करने से चिकित्सक चिकित्सक-शिरोमणि बन सकता है।

चिकित्सक के लिए आवश्यक ज्ञातव्य—आयुर्वेद की इस देन का अन्य चिकित्सा-पद्धतियों में ऐसा स्पष्ट उपदेश अभी उपलब्ध नहीं।

यथा (१) संचयं च प्रकोपं च प्रसरं स्थानसंश्रयम्। अ०२१
व्यक्ति भेदं च यो वेत्ति दोषाणां स भवेद् भिषक्॥ सु.सू. ३-२१

महाप्राण आयुर्वेद का अमिट सिद्धान्त है। इसमें त्रिदोष तथा धात्वादि जन्य व्याधियों की विज्ञान तथा तर्क-संगत व्याख्या है। इसमें छह अवस्थाओं का वर्णन है। यह व्याध्युत्पत्तिक्रम् विप्रकृष्ट निदान से प्रारंभ होता है। इसका आद्यारम्भ स्व स्व कारण से प्रकुपित त्रिदोष एवं धात्वादि का किसी भी स्थान पर शनैः शनैः जमाव होने लगता है। इसी दशा को **संचय** कहते हैं। दूसरे शब्दों में इसे **पूर्व रूप** कहा जाता है। यथा-भाविव्याधि बोध कालेन पूर्व रूपम्। पूर्वरूपावस्था में भी शरीर में परिवर्तन होता है। परन्तु वह ऐसा प्रच्छन्न और अल्पबल होता है जिसको रोगी स्वयं किसी भी रूप में अपने-आपको रुग्ण अनुभव नहीं करता। यदुक्तम्-'तत्र संचितानां खलु दोषाणां स्तब्धपूर्ण कोष्ठता पीताव भासता मंदोष्मता चांगानां गौरवमालस्यं चयकारण विद्वेषश्चेति लिंगानि भवति। तत्र प्रथमऽ क्रियाकालः। संचयावस्था के लक्षण (निगूढ़) होते हैं जिनका आभास रोगी तो अनुभव करता है। परन्तु इन अल्पबल लक्षणों को सशक्तता से वर्णन करने की क्षमतायें नहीं होतीं और यदि बुद्ध मनुष्य चिकित्सक से कुछ कहता है तब चिकित्सक भी किसी विशिष्ट परिणाम तक पहुंचने में असमर्थ ही रहता है।

आद्यारंभ में यह संचय बीज में अदृश्य अंकुर सदृश ही रहता है। संचय का एक उदाहरण वातरक्त में देखा जा सकता है।

यथा—पादयोर्मूलमास्थाय कदाचिद्धस्तयोरपि। सू.नि.अ. ९

वातरक्त का प्रकोप सम्भव होने पर पूर्वरूपावस्था में पादमूल अंगुष्ठ और पैर का संधिस्थान एव हाथ के अंगूठे की पिछली संधि के स्थान पर दोनों अथवा एक संधि भाग में अवस्थित दोष यथाक्रम—पीड़ा, दाह और गुरुत्व की सूचना देते हैं। इस रोग के अनेक रोगियों के देखने से उत्पन्न अनुभूति के आधार पर चिकित्सक का ध्यान इस ओर सहसा आकृष्ट हो सकता है।

आयुर्वेद का आद्य चिकित्साक्रम संचय अवस्था से ही आरम्भ हो जाता है। इसी को **प्रथमक्रियाकाल** कहते हैं। यह विशिष्टता अद्यतन अन्य चिकित्सा - पद्धतियों में उपलब्ध नहीं। आयुर्वेदज्ञ ही यदि वह कृतविद्य और कृत-संकल्प हो तब 'छिन्नेमूलेनैवशाखा न पत्रम्'।

एवं—संचयेऽपहृतादोषा लभते नोत्तरागनीः।
तेतूत्तरासु गतिषु भवति बलवत्तराः। सु० सू० २१

यह निर्णय युक्तिसंगत है। कारण कि संचयावस्था में रोगोत्पादक दोष अल्पबल और अबद्धमूल होने से क्रिया सफलता से इष्टपूर्तिकर होती है एवं बद्धमूल और विकृति सबल होने तथा स्थानीय तंतुजाल भी निर्बल होने के कारण स्वल्प प्रयत्न से सिद्धि प्राप्त होने में सन्देह होना स्वाभाविक है।

(२) **प्रकोप**—व्यक्त लक्षण अथवा—तदेव व्यक्तता यातं रूप मित्यभिधीयते। संस्थानं व्यजनं लिंगं लक्षण चिह्नमाकृति॥ माधव। व्याध्युत्पादक अतिसूक्ष्म दोष विकृति जब भी ऊपर उठती है तब उसके व्यक्त रूप में दृश्यमान पूर्वसंस्थान, पूर्व व्यंजन, पूर्वलिंग, पूर्व लक्षण, पूर्व चिह्न, पूर्व आकृति में कुछ अभिव्यक्ति (उछाल) की स्पष्ट प्रतीति होती है एवं इसी रूपावस्था में दोषों के तारतम्य का भी ज्ञान होने लगता है।

'तेषां प्रकोपात् कोष्ठतोद संचरणाम्लिका पिपासा परिदाहान्न द्वेषहृदयोत्क्लेदाश्च जायंते'' । तत्र द्वितीयः क्रियाकालः।' सु० सू० अ० २१

इसी प्रकोपकाल में दोषोत्कटता का बोध होता है। यही चिकित्सा का द्वितीय काल है। संचयावस्था में यदि उचित चिकित्सा फलवती न हो तब रोग को नष्ट करने के लिए चिकित्सा के दूसरे अवसर पर सावधान रहना चाहिए।

(३) **प्रसरण**—यह दोषजविकृति वृद्धि का स्वाभाविक परिणाम है। संचय की अपेक्षा प्रकोपकाल विकृति अधिक बढ़ जाती है। तदनु उसका प्रसरण होता है। इस अवस्था को प्रसरण कहते हैं। प्रसरण अवस्था त्रिधा विभक्त है।

यथा—ऊर्ध्वं चाधश्च तिर्यक् विज्ञेयास्त्रिविधाऽपरा।
त्रिविधा चापरा कोष्ठ शाखा मर्मास्थि संधिषु।
च० सू० अ० १७

गतिकारक वायु है। जहां भी ले जाता है वहीं रोगोत्पत्ति होती है।

अन्यश्च—कृत्स्नेऽर्धेऽवयवेवापि यत्रांगे कुपितो भृशम्।
दोषो विकारं नभसि मेघवत् तत्र वर्षति ॥
सु० सू० अ० २१

यह अवस्था चिकित्सक के लिए बड़ी सहायक होती है। कारण कि वैद्य इस दशा में दोषों के तारतम्य को भली प्रकार जान लेता है। एवं निश्चित चिकित्सा व्यवस्था करने की भी सुविधा उपस्थित होती है। चिकित्सा का यह तृतीय काल है।

(४) **स्थान-संश्रय**—दोषों का प्रसरण तथा स्थान-संश्रय ये दोनों परस्पर अनुस्यूत हैं। प्रकोपावस्था में जब वायु इन्हें जहाँ ले जाता है उसी स्थान पर यह स्थिरीभूत होकर रोग की सम्प्राप्ति को जन्म देते हैं।

—"यथा दुष्टेन दोषेण यथा चानुविसर्पता।
निर्वृत्ति रामपस्या सौ सम्प्राप्तिर्जाति संगतिः।
संख्या विकल्प प्राधान्यबल काल विशेषतः।
माधव निदान

प्रकुपित दोषों के इस स्थान-संश्रय और परिसर्पण द्वारा विकृत दोष सम्पूर्ण शरीर में—यत्रसगः सर्वगुण्यात् व्यधिस्तत्रोपजायते। किसी भी स्थान पर रोग उत्पन्न हो सकता है।

यथा—एवं प्रकुपिताः तांस्तान् शरीरप्रदेशानागम्य तांस्तान व्याधीन् जनयति। —सु० सू० अ० २१

इस प्रकार विकृत दोषों की प्रवृत्ति यदि—उदराभिमुख हो तब उदर रोग, वस्तिगत हो तब मूत्र रोग, प्रमेहाश्मरी आदि को उत्पन्न करते हैं। एवं वृषण, मेढ्र, गुदरोग, अर्श, भगन्दर, शिरोगत होने पर ऊर्ध्वजत्रुज, शिरोरोग तथा त्वचा, मांस, रूधिर में स्थिती होने पर क्षुद्ररोग, कुष्ठ, विसर्प, मेदोगत होने से ग्रन्थि, अर्बुदगण्ड, गण्डमाला, अस्थिगत-विद्रधि, अनुशयी आदि, तथा पादाभिमुख प्रवृत्ति होने से श्लीपद, वातरक्त, पादकंटक आदि एवं सर्वाङ्गज होने से ज्वरादि सर्वांगज़ रोग की उत्पत्ति करते हैं। यह सिद्धांत निश्चित ही है कि

यथा—स एव कुपितो दोषः समुत्थान विशेषतः।
स्थानांतर्गगतश्चैव जनयत्यामयान् बहून्।
च० सू० अ० १९

स्थान-संश्रय के वर्णन का मूल उद्देश्य यही है कि

इसमें चिकित्सक के लिए अनेक सुविधाएं चिकित्सा में उपलब्ध होती हैं। यह चिकित्सा का चतुर्थ काल है।

(५) **व्यक्ति— व्याधेः प्रव्यक्तं रूपं व्यक्तिः।**
"अत ऊर्ध्वं व्याधेर्दर्शनंवश्यामः—शोक.र्बुदग्रन्थि विद्रधि-विसर्पप्रभृतीनां प्रव्यक्त लक्षणता ज्वरातीसार प्रभृतीनां च तत्र पंचमः क्रिया कालः।" सु. सू. अ० २१॥

इस दशा में प्रत्येक व्याधि के वीतशंक लक्षणों द्वारा प्रत्येक रोग का नामनिर्देशपूर्वक स्थिरीकरण होता है। इसी को व्याधिदर्शन अथवा व्यक्ति कहते हैं। इस पंचम क्रिया काल में चिकित्सक द्वारा सफलतापूर्वक चिकित्सा की जा सकती है।

(६) **भेद— (विशेष अवस्था)—अत ऊर्ध्वमेतेषाम-वदीर्णानां व्रणभावमापन्नानां षष्ठः क्रियाकालः ज्वराति-सार प्रभृतीनां च दीर्घकालानुबन्धः। तत्र प्रतिक्रियमाणे ऽसाध्यतामुपयान्ति। सु. सू. अ. २१**

यह षष्ठ क्रिया काल वैद्य को अंतिम चेतावनी है। अर्थात् यदि किसी असुविधा, उपेक्षा, असम्पन्नता अथवा पाद चतुष्ट्य चिकित्सा के अभाव में रोगशामक प्रथम कालारभ्य चिकित्सा न की जाए और इस षष्ठ काल में भी रोग निवारणार्थ उचित क्रम न अपनाया जाय तो प्रत्येक रोग याप्य, असाध्य अथवा दीर्घकालानुबंधी बन जाता है।

उपर्युक्त षड्विधत्व रोग-ज्ञान एवं समय-समय पर चिकित्सा का योग्य क्रम न होने से साधारण रोग भी अंत में असाध्य कोटि में चला जाता है।

**स्मरणीय— क्रमेणोपचयं प्राप्तो धातूननुगतः शनैः।
न शक्य उन्मूलयितुं वृद्धो वृक्ष इवामयः॥
स स्थिरमहत्वा च धात्वनुक्रमेणे न च।
निहन्त्यौषधवीर्याणि मंत्रान दुष्टग्रहो यथा॥
सु. सू. अ. २३**

आयुर्वेद का स्वर्णोपदेश— स्वास्थ्य-संरक्षण दूसरा आतुर रोग परिहरण। स्वास्थ्य-संरक्षण क्षेत्र में दोषधातु मलमूत्रादि की चेष्टाएं, प्रवृत्तियों पर पूर्ण ध्यान रखना। इनकी समता और प्रत्येक के स्व-स्वकार्य यथावत् होते रहने से स्वस्थता संगसंग रहती है। जब रुग्णता हो तब

दोषधात्वादि के वैषम्य को दूर करने के उपाय प्रयोग में लाने चाहिए।

यदुक्तम्- "दोषाः क्षीणा वृंहितव्याः, कुपिता प्रशमयितव्याः वृद्धा निर्हर्तव्याः, समाः परिपाल्या इति सिद्धांतः ॥

सु०चि०अ० ३३

आयुर्वेद के त्रिदोष सिद्धांतानुसार कितना सरल चिकित्सा-क्रम उपस्थित है। किंतु इसकी पूर्ण सफलता चिकित्सक के अपने विशाल अनुभव की अपेक्षा रखती है। व्यावहारिक परिभाषा में इसे तुलाधार सिद्धांत भी कहा जा सकता है।

जबतक आयुर्वेदीय चिकित्सक इस सिद्धांत को अपनाते रहे तब तक आयुर्वेद की पताका उज्ज्वल रही। आज दशा कुछ भिन्न है।

चिकित्सा-क्षेत्र में सुधार की अपेक्षा— सम्प्रति उपस्थित अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जब रोगी चिकित्सक के पास आता है और जो कष्ट वह कहता है, उसको ध्यान में रखकर औषधीय व्यवस्था उसे दी जाती है। इससे कुछ प्रतिशत को लाभ भी होता है परन्तु बहुसंख्यक रोगियों को लाभ न होने से प्रतिदिन नयी-नयी औषधों की व्यवस्था होती है किंतु रोगी संतुष्ट नहीं होता। उसके कष्ट प्रशमित होने में नहीं आते। यह दशा वैद्यों, हकीमों और होमियोपैथी तथा एलोपैथी से चिकित्सा कराने वालों की भी होती है।

निराश रोगी रोगमुक्त होने के लिए अनेक चिकित्सकों के द्वार खटखटाता है। अंत में उसे परामर्श दिया जाता है कि आप अपना मलमूत्र, रुधिर, कफ एवं हृदयादि का परीक्षण कराकर रिपोर्ट लाएं।

परीक्षणों का परिणाम नारमल आने पर उसे यह समझाने की कोशिश होती है कि परीक्षणों के आधार पर आपको कोई रोग नहीं। आप अपने मन को समझाएं। हर समय आपका ध्यान इसी ओर रहता है कि "मैं बीमार हूं" वस्तुतः आपको कोई बीमारी नहीं। चिकित्सक द्वारा यह अंतिम निर्णय सुनाए जाने पर रोगी अपने-आपको एक विचित्र स्थान पर पाता है। वह समझता है मैं तो तकलीफ से मरा जा रहा हूं और चिकित्सक महाशय कहते हैं कि तुम वहमी हो गए हो।

इस दशा में हम समझते हैं कि दोनों ही सच्चे हैं कारण कि परीक्षणों का परिणाम चिकित्सक के मार्ग का अवरोधक है और रोगी कष्ट ही कष्ट अनुभव करता है।

कारण इसका यह है कि कायचिकित्सक रोगी द्वारा सुनाए गए लक्षणों की लाक्षणिक चिकित्सा करता है और लक्षणों को प्रशमित करने के लिए सल्फाड्रग या एंटीबायोटिक्स औषधों का आंख मीचकर प्रयोग चलता है। व्याधि के मूल कारण का निश्चय न होने पर कोई भी तीव्रातितीव्र योग लाभप्रद सिद्ध नहीं होता।

आयुर्वेदीय चिकित्सा सिद्धांत-रोगमादौ परीक्ष्येत ततोनंतरमौषधम्—का पक्षपाती है। उदाहरणार्थ—कर्ण रोग में एक कर्णनाह रोग पठित है। यथा—

सकर्णगूथो द्रवतांगतो यदा विलायितो घ्राण मुखंविद्यते तदा सकर्ण प्रतिनाह संज्ञितो भवेद्विकारः शिरसोऽर्धभेदकृत

कर्णगूथ (कान का मैल) से कर्ण प्रतिनाह की उत्पत्ति मानी गयी है। कान में शनैः-शनैः मलसंचित होने के कारण पित्तोब्योस सूखकर कर्णपट पर संचित होता रहता है। इसमें कर्ण कण्डू प्रधान होती है। इसका स्नेहन-स्वेदनादि उपाय करने से यह द्रव रूप में होकर जब घ्राणमुख (भीतरशृंगाटकमर्म के समीप स्थानीय आश्रय से प्रसृत होकर विस्तार पाकर स्थानीय रक्तवाहिनियों और स्नायु तथा पेशीय सूत्रों में शोथ (अत्यल्प) उत्पन्न करके तीव्र अर्धावभेद (आधासीसी) का दर्द उत्पन्न करती है। कर्णप्रतिनाह में-दांतों की चर्वणक्रिया, एवं श्वास - प्रश्वास के समय रोगी को मंद-मंद ध्वनि सुनाई पड़ती है।

इस अर्धावभेद को नष्ट करने के लिए कितनी ही अचूक शिरो व्यथानाशक औषधि का प्रयोग करें यह शांत नहीं होती। इसकी शांति तबही सम्भव होती है जब घ्राणमुख का संशोधन हो और स्थानीय विकार तथा शोथ दूर हो। जब जब भी ऐसी दशा होगी परिणाम यही होगा।

दूसरा उदाहरण—

वायुरामाशये क्रुद्धश्चर्धादीन् कुरुते गदान्।
मोहं मूर्च्छां पिपासांच हृद्ग्रहं पार्श्ववेद नाम् ॥

सु. नि. अ. १

आमाशयस्थ वायु के प्रकुपित होने से प्रथमावस्था में अनन्न-

भिलाष; अरुचि, उत्क्लेश',तदनु वमन तथा मोह (Vertigo चक्कर आना) मूर्च्छा, तृषा हृदग्रह (Anginal attacks), आदि रोगों को उत्पन्न करती है।

आमाशयस्थ वायु दुष्टि के उपर्युक्त लक्षणों की समता प्रायः हृदय रोगों से भी पर्याप्त है। अत- भेदबोधक ज्ञान-प्राप्त चिकित्सक निस्संदेह सफल रहता है।

एक आयुर्वेदज्ञ चिकित्सक को—त्रिदोष, धातु, उपधातु, मलस्रोतस, रंध्रआशय,आवरण आदि में इनके प्रतिस्थल-क्षण तथा विकृति जन्य लक्षणों के ज्ञान के साथ-साथ चरकस्थ इन्द्रिय स्थान का भी उत्तम ज्ञान होने से चिकित्सा-काल तथा चिकित्सा-क्षेत्र में मोह उत्पन्न नहीं होता। इसी में आयुर्वेद की विजय है।

इन पंक्तियों के लेखक को १९६० में दिल्ली के प्रसिद्ध मूलचंद खैरायतीराम आयुर्वेदिक अस्पताल, लाजपतनगर में जब प्रधान चिकित्सक के रूप में कार्यभार ग्रहण करने का अवसर मिला तब ५०-६० हजार रोगी आउट डोर से प्रतिवर्ष लाभ उठा रहे थे। १९६० से १९६९ तक के अंत में २॥ लाख रोगियों कीसंख्या प्रतिवर्ष का रिकार्ड है। दूसरे यह कि ५०-६० हजार रोगियों की औषधादि पर ३-४ हजार रुपये का मासिक व्यय था। रोगियों की संख्या बढ़ते-बढ़ते २॥ लाख होने पर प्रतिमास व्यय-राशि दो-ढाई हजार से अधिक नहीं रही।

सम्प्रति आयुर्वेद की मांग—कुछ राज्याश्रय का प्रभाव, कुछ परिवर्तित वातावरण, कुछ सम्पन्न वैद्यों वैद्यक संस्थाओं द्वारा आयुर्वेद के उन सिद्धांतों को जो जनता को आयुर्वेद की ओर खींच सके, अभाव के कारण जनता के स्मृति-पट से आयुर्वेद के स्वर्णिम सिद्धांत लुप्त होते जा रहे हैं। इनका पुनर्जागरण होना चाहिए। तब ही गृहस्थ समाज में आयुर्वेद की पूर्व प्रतिष्ठा बनी रहेगी। प्राचीन गृहस्थों में साधारण और दैनिक कष्टों के लिए वृद्धाएं स्वयं ही इस कार्य को पूर्ण करती थीं। यह व्यवसाय परम्परा-गत रूप से चलता रहता था। आज जो दशा है वह कौन नहीं जानता। बच्चे को दूध की उलटी हुई नहीं कि सीधे डाक्टर के पास भागते हैं।

इसके अतिरिक्त—आयुर्वेद की दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या, स्वस्थ संरक्षण-विधि, स्वस्थवृत्त, सद्वृत्तआदि सर्वत्र सुलभ प्रायः बिना मूल्य के उपलब्ध होने वाले आयुर्वेद के नियम लोग भूल गये हैं। इन्हें पुनरपि जनता के मानसिक पटल पर अंकित करना आवश्यक है। एतदर्थ उपर्युक्त विषयों पर जनहिताय छोटी-छोटी पुस्तिकाएं जनता तक पहुंचानी चाहिएं।

इसी भावना से प्रेरित होकर हमने—दैनिक रोगों की घरेलू चिकित्सा, रोगी परिचर्या, आहार और स्वास्थ्य तथा मनुष्य स्वस्थ कैसे रह सकता है - इन चारों पुस्तिकाओं की रचना की है, जिनको दिल्ली स्थित 'सुलक्षणी देवी महाजन धर्मार्थ ट्रस्टों ने प्रकाशित किया है। जन समाज में उन पुस्तिकाओं जो उचित आदर मिला है।

जिज्ञासु की मांग पर ट्रस्ट इन्हें दूरस्थ स्थानों पर भी निःशुल्क भेजता है।

आयुर्वेद की लुप्त प्रतिष्ठा को जगाने के लिए जनता के मानसिक भावों में परिवर्तन लाना आवश्यक हो गया है। विविध अन्यान्य साधन भी अपनाए जाने चाहिए, प्रत्येक गृहस्थ में आयुर्वेद की ज्योति सतत रूपेण प्रज्वलित होती रहे।

आयुर्वेद-दर्शन तथा आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्त



आयुर्वेद-वृहस्पति
आचार्य पं० रामरक्ष पाठक

आयुर्वेद के संहिता ग्रन्थों के अवलोकन करने से दो घोषणायें यथा—

"आयुर्वेदोऽमृतानां—च० सू०

तथा "अत्रायत्तमैहिकमामुष्मिकञ्च श्रेयः"

—सु० सू०-१।२

अर्थात् आयुर्वेद अमृतों (अमर बनाने वालों) में सर्वश्रेष्ठ है तथा इस आयुर्वेद में इहलौकिक तथा पारलौकिक श्रेय (कल्याण) आयत्त (स्थित) है, आयुर्वेद के उद्देश्य तथा प्रयोजन के रहस्य का उद्घाटन करती है। इन उपर्युक्त मूलभूत उद्देश्यों तथा लक्ष्यों के ज्ञान के लिये आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्तों का, जिनकी आधारशिला आयुर्वेद के स्वतंत्र दर्शन पर खड़ी है, का स्वाध्याय आयुर्वेद जिज्ञासुओं के लिये परमावश्यक है।

आयुर्वेद आयु का वेद है। (आयुषो वेदः)

वेद शब्द, बिद् ज्ञाने, विद् लाभे, विद् विचारने, विद् सत्तायाम अर्थात् वेद शब्द आयु के ज्ञान, लाभ, विचार तथा उनकी सत्ता को बनाये रखने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अतः आयुर्वेद वह शास्त्र है जिसमें आयु-सम्बन्धी उपर्युक्त सभी विषयों का प्रतिपादन हो । जिस प्रकार विद् शब्द उपर्युक्त विचारों के कारण एक पारिभाषिक पद है उसी प्रकार आयु भी पारिभाषिक पद है। आयु की परिभाषा करते समय स्पष्ट रूप से आचार्य ने कहा है कि आयु शरीर, इन्द्रिय सत्व (मन), आत्मा

इन चारों के संयोगावच्छिन्न काल को कहते हैं। इसे ही जीवन धारण करने के कारण धारि, जीवित, नित्यग तथा अनुबन्ध भी कहा है। अर्थात् आयु, धारि, जीवित, नित्यग तथा अनुबंध पर्याय हैं। अर्थात् एकार्थवाची हैं। अतः आयु ज्ञान के लिये पाञ्च भौतिक शरीर, दश इन्द्रियाँ, मन और आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य है। इन चारों के ज्ञानान्तर इनके संयोग को अक्षुण्ण बनाये रखने का ज्ञान होना भी परमावश्यक है।

सर्वद्रव्यं पाञ्च भौतिकम् अस्मिन् अर्थे

अर्थात् आयुर्वेद वाङ्मय में प्रतिपादित सभी द्रव्य (शरीर द्रव्य, औषध द्रव्य तथा आहार द्रव्य) पाञ्च भौतिक हैं। (पञ्च महाभूतों से बने हैं।) अतः इन द्रव्यों के पाञ्च भौतिक संगठन की जानकारी आयुर्वेद के जिज्ञासुओं को होना आवश्यक है। जिसका वर्णन इस लेख में आगे किया जायेगा। शरीर आहार तथा औषध द्रव्यों के पाञ्च भौतिक संगठन को सम्यक रूप से समझने के लिये पंच महाभूतों की उत्पत्ति का ज्ञान भी जरूरी है। पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति पंच सूक्ष्म भूतों (पंच तन्मात्राओं) से होती है। पञ्चतन्मात्राएं प्रकृति स्थित गुणों में विक्षोभ होने पर रजोगुण की सहायता से तमोगुण से होती है। प्रकृतिगत गुणों का विक्षोभ पुरुष के सम्पर्क से होता है। प्रकृति और पुरुष का सम्पर्क अनवरत होता रहता है। जिससे प्रकृति के गुणों में विक्षोभ होकर जिस प्रकार रजोगुण की सहायता से तमोगुण से पञ्च तन्मात्रायें उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार रजोगुण की सहायता से सत्वगुण से सत्व प्रधान मन तथा पंच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पंच कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। ये एकादश इन्द्रियाँ तथा पंच महाभूत अर्थात् षोड़श उत्पन्न होने के कारण विकार कहलाते हैं। प्रकृति का पुरुष से सम्पर्क होता है तो उससे सर्वप्रथम महत्तत्व या महान की उत्पत्ति होती है। तदनन्तर महतत्त्व से अहंकार की उत्पत्ति होती है। चूँकि प्रकृति त्रिगुणात्मिका है अतः उससे उत्पन्न हुए महत् तत्व तथा अहंकार भी त्रिगुणात्मक ही होते हैं। इस प्रकार त्रिगुणात्मिका प्रकृति से उत्पन्न सभी विकार त्रिगुणात्मक ही होते हैं। प्रकृति से परिणमित होकर ये सभी विकार उत्पन्न होते हैं। अतः प्रकृति को परिणामी कहा गया है। परन्तु पुरुष अपरिणामी है। उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता, वह तो मात्र प्रकृति में अपने सम्पर्क से गुण विक्षोभ पैदा करता है। इस गुण विक्षोभ से परिणमित या उत्पन्न महान् (महततत्व) अहंकार तथा पञ्चतन्मात्रायें ये सात उत्पन्न होने के कारण विकार तथा अन्यों को उत्पन्न करने के कारण प्रकृति भी कहलाती है। इसी से सांख्य दर्शन में इस सृष्टि के क्रम को चार भागों में विभक्त करके इनका नामकरण किया गया है।

जैसे—(१) मूल प्रकृति—(अविकृति)

(२) प्रकृति, विकृतयः सप्तः

(महततत्व, अहंकार, पञ्च तन्मात्राएँ)

(३) षोड़श विकार

(एकादश इन्द्रिय और पंचमहाभूत)

(४) पुरुषः

(न प्रकृति न विकृति)

यह सृष्टि-क्रम सांख्य दर्शन के अनुसार है। जिसे आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ सुश्रुत संहिता में अपनाया गया है। इसका वर्णन सुश्रुत शारीर स्थान के प्रथम अध्याय, सर्वभूत चिन्ता शारीर नामक अध्याय में किया है। जैसे—

सर्व्व भूतानां कारणमकारणं सत्त्वरजस्तमोलक्षणमष्ट रूपमलस्य जगतः सम्भवहेतुरव्यक्तं नाम। तदेकं बहूनां क्षेत्रज्ञानामधिष्ठानं समुद्र इवौदकानां भावानाम्॥

सु० शा०—१।२

अर्थात् संसार के सभी भूतों (सत्ताधारियों) को उत्पन्न करने वाला (कारण) तथा स्वयं किसी से न उत्पन्न होने वाला (अकारण) सत्व, रज और तम लक्षणों वाला तथा आठ रूपों वाला (अष्ट रुपम्) सम्पूर्ण जगत का सम्भव हेतु (उत्पन्न करनेवाला) अव्यक्त नाम वाला मूल प्रकृति है। यह एक अव्यक्त नाम वाली मूल प्रकृति अनेक क्षेत्रज्ञों का उस प्रकार अधिष्ठान है जिस प्रकार समुद्र सभी जल जन्तुओं का अधिष्ठान है।

तस्मादव्यक्तान्महानुत् पद्यते तल्लिङ्ग एव।
तल्लिङ्गाच्च महतस्तल्लिङ्ग एवाहङ्कार उत्पद्यते।
स च त्रिविधो वैकारिकस्तैजसो भूतादिरिति ॥३॥
तत्र वैकारिकादहङ्कारात् तैजस सहायात्
तल्लक्षणान्येवैकादशेन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते।

तद्यथाश्रोत्र त्वक् चक्षुर्जिह्वाघ्राण वाग्घस्तोपस्थ पायुपाद मनांसीति। तत्र पूर्व्वाणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, इतराणि पंच कर्म्मेन्द्रियाणि, उभयात्मकं मनः। सु० शा०—१।४।५

अर्थात् उस अव्यक्तनामा प्रकृति से महत् तत्व की उत्पत्ति होती है। यह महत्तत्व भी प्रकृति के गुण और लक्षणों से युक्त होता है। इस महत् तत्व से त्रिगुणात्मक अहंकार की उत्पत्ति होती है। जिसे वैकारिक तैजस तथा भूतादि अहंकार कहते हैं। तेजस अहंकार की सहायता से वैकारिक अहंकार ११ इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। जिनमें श्रोत्रादि पांच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और वाग् हस्तादि पंच कर्मेन्द्रियां हैं, और ग्यारहवां मन है, जो उभयात्मक है। अर्थात् जिनकी सहायता के बिना ज्ञानेन्द्रियां तथा कर्मेन्द्रियां अपने विषयों का ग्रहण तथा कर्म का संपादन नहीं कर सकती। यहां इस तथ्य पर ध्यान देना आवश्यक है कि सांख्योक्त सात्विक, राजसिक तथा तामसिक अहंकार की संज्ञा यहां क्रमशः वैकारिक, तेजस तथा भूतादि दी गयी है।

भूतादेरपि तैजस सहायात् तल्लक्षणान्येव पञ्चतन्मात्राण्युत् पद्यन्ते तद्यथा - शब्दतन्मात्रं, स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रमिति।

तेषां विशेषाः शब्दस्पर्श रूपरस गन्धाः।
तेभ्यो भूतानि व्योमानिलानल जलोर्व्यीः।
एवमेषा तत्व चतुर्व्विंशतिर्व्याख्याता ।।६।।

तत्र बुद्धीन्द्रियाणां शब्दादयो विषयाः। कर्म्मेन्द्रियाणां यथा संख्य वचनादानानन्द विसर्ग विहरणानि। अव्यक्तं महानहङ्कारः पञ्च तन्मात्राणि चेत्यष्टौ प्रकृतयः, शेषाः षोड़श विकाराः। स्वः स्वश्चैषां विषयोऽधिभूतम्''।

अर्थात् भूतादि अहंकार से तथा तैजस की सहायता से पञ्चतन्मात्रायें क्रमशः उत्पन्न होती हैं। जैसे शब्द—तन्मात्रा, स्पर्श तन्मात्रा, रूप तन्मात्रा, रस तन्मात्रा, तथा गन्ध तन्मात्रा। इन तन्मात्राओं के विशिष्ट गुण क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध हैं। इन तन्मात्राओं मे क्रमशः आकाश, वायु, तेज, जल तथा पृथ्वी महाभूतों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार चौबीस तत्वों की व्याख्या की गयी। इनमें पंच बुद्धिन्द्रियों के क्रमशः शब्द, स्पर्श-रूप-रस-गन्ध विशिष्ट विषय हैं। पंच कर्मेन्द्रियों के क्रमशः वचन, आदान, आनन्द, विसर्ग, विहरण आदि कर्म हैं। इन उपर्युक्त चौबीस तत्वों में अव्यक्त, महान, अहंकार तथा पंच तन्मात्रायें अर्थात् आठ, अष्ठ प्रकृति कहलाती है और शेष पंचमहाभूत तथा एकादश इन्द्रियां अर्थात् षोड़श विकार हैं। इस प्रकार आठ प्रकृतियों तथा षोडश विकारों की व्याख्या की गयी। उपर्युक्त वर्णनों से स्पष्ट हो जाता है कि सांख्य के सृष्टि वर्णन को ही सुश्रुत ने ग्रहण किया है। इस ग्रहण में संज्ञा मात्र का भेद है। इन सभी विषयों को अपने इन्द्रिय में अधिभूत कहा गया हैं और ये विषय स्वयं अध्यात्म हैं। इनके अधिदेवता का वर्णन इस प्रकार है :—

अधिदेवता	ज्ञानेद्रियां - अधिदेवता	कर्मेद्रियां - अधि०
१ बुद्धि - ब्रह्मा	४ श्रोत - दिशा, दिक	९ वाणी - अग्नि
२ अहंकार-ईश्वर	५ त्वचा- वायु	१० हाथों - इन्द्र
३ मन - चंद्रमा	६ चक्षु - सूर्य	११ पादों - विष्णु
	७ रसना - जल	१२ गुदा - मित्र
	८ घ्राण - पृथ्वी	१३ उपस्थ-प्रजापति

के अधिदेवता हैं। इन उपर्युक्त २४ तत्वों को अचेतन कहा गया हैं। चेतन पुरुष को पचीसवां तत्व माना गया है। पुरुष के संयोग से ही इन सचेतन वर्गों में चेतना आती है। यह संयोग कार्य-कारणवश हुआ करता है। यद्यपि ये सभी अचेतन वर्ग के हैं तथापि चेतन पुरुष के कैवल्य के लिए प्रवृत्ति का उपदेश- ये उस प्रकार करते हैं जिस प्रकार माता के स्तन का अचेतन दुग्ध चेतन बालक के पोषणनार्थ स्वयम् प्रबृत्त होता है। इस वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सांख्य सृष्टि-क्रम को अपनाने पर भी आयुर्वेद के मूल उद्देश्य की सिद्धि के लिये यत्र-तत्र कुछ इनकी व्याख्या में आयुर्वेद में किंचित परिवर्तन कर अपनी स्वतंत्र दार्शनिक पृष्ठभूमि बनाया है।

इन वर्णनों के अतिरिक्त सुश्रुत में यह भी कहा गया है कि आयुर्वेद का क्षेत्रज्ञ तो नित्य होने पर भी असर्वगत है अर्थात् विभु नहीं है। जैसे—

''न चायुर्व्वेदशास्त्रेषूपदिश्यन्ते सर्व्व गताः क्षेत्रज्ञा नित्याश्च।
असर्वगतेषु च क्षेत्रज्ञेषु नित्यपुरुषख्यापकान् हेतूनुदाहरन्ति।
सु०शा०--१।।१६।।

अर्थात् आयुर्वेद-शास्त्र में क्षेत्रज्ञ को सर्वगत नहीं कहा गया है। परन्तु नित्य माना गया है। क्षेत्रज्ञ को असर्वगत न मानने का कारण भी युक्तिपूर्वक दर्शाया गया है और इस नित्य असर्वगत क्षेत्रज्ञ के सभी व्यापक उदाहरणों को भी दिया गया है। इतना ही नहीं, जहां सांख्य दर्शन में इन्द्रियों को अहंकारिक माना गया है, वहां आयुर्वेद में इन्द्रियों को भौतिक माना गया है। जैसे--

भौतिकानि चेन्द्रियाण्यायुर्वेदे वर्ण्यन्ते तथेन्द्रियार्थाः।

आगे चलकर यह भी कहा है कि भूतों के परे चिन्ता की चिकित्सा-शास्त्र में अधिक उपयोगिता नहीं है। "भूतेभ्यो हि परं यस्मान्नास्ति चिन्ता चिकित्सते"

इस प्रकार आयुर्वेद ने सांख्य दर्शन के विषयों के ग्रहण करने पर भी अपना स्वतंत्र दर्शन बनाया है। यहां संकेत मात्र ही अभी किया गया है, आगे चलकर इसी लेख में इसे और स्पष्ट किया जायेगा।

भगवान धन्वन्तरि ने सुश्रुत प्रभृति शिष्यों को आयुर्वेदोत्पत्ति के प्रसंग में आयुर्वेद की गरिमा वर्णन करने के पश्चात चिकित्स्य पुरुष का निरुपण किया है।

"अस्मिन शास्त्रे पञ्चमहाभूत शरीरिसमवायः पुरुषः इत्युच्यते।

तस्मिन् क्रिया सोऽधिष्ठानम्—सु०सू०--।।१८

अर्थात् इस आयुर्वेद-शास्त्र में पञ्चमहाभूत तथा शरीरी (आत्मा) के समवाय को पुरुष कहते हैं। इस पुरुष में ही चिकित्सा की सभी क्रियायें की जाती हैं।

अतः इसको चिकित्स्य पुरुष भी कहते हैं। कर्म पुरुष भी इसी का नाम है। यही चिकित्सा का अधिष्ठान है। इस उपदेश से यह स्पष्ट हो जाता है कि आयुर्वेदीय चिकित्सा के मौलिक सिद्धान्तों का निर्माण इस चिकित्स्य पुरुष को ध्यान में रख कर ही किया गया है। आयुर्वेद के प्रयोजन का उपदेश करते हुये भी कहा गया है कि स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य की रक्षा तथा रोगी पुरुष के रोग का प्रशमन ही आयुर्वेद का प्रयोजन है। इससे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्तों की आधारशिला इन उपर्युक्त दृष्टिकोण से ही रखी गयी है।

सिद्धान्त की परिभाषा बतलाते हुये चरक संहिता में कहा है कि--"सिद्धान्तो नाम स यः परिक्षकैर्बहुविधं परीक्ष्यम् हेतुभिश्च साधयित्वा स्थाप्यते"। चरक--

अर्थात् परीक्षकों द्वारा नानाविध परीक्ष्य भागों की परीक्षा करके तथा उन्हें हेतुओं से सिद्ध करके जो निर्णय किया जाता है उसका नाम सिद्धान्त है। अतः आयुर्वेद के मौलिक सिद्धांत भी इन उपर्युक्त कसौटियों पर कस कर ही निर्मित किए गए है।

आयुर्वेद का प्रयोजन बतलाते हुए कहा है कि स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य का संरक्षण उसका प्रथम प्रयोजन है। अतः सर्वप्रथम स्वस्थ पुरुष की परिभाषा की जानकारी जरूरी है।

"समदोषः समाग्निश्च समधातु मल क्रियः
प्रसन्नात्मेन्द्रिय मनः स्वस्थ इत्यभिधीयते।"

अर्थात् जिस जीवित पुरुष दोष (वात, पित्त, कफ) सम अर्थात् प्राकृत (Normal) हो और उनकी क्रिया भी सम हो। पाक प्रक्रिया परिणमन को पूरा करने वाली अग्नि (Digestive Juice and enzymes), पाचक पित्त तथा धात्वग्नियां (Inte cellular enzymes) प्रकृत रूप में हो और प्रकृत रूप में कार्य कर रही हों, धातुओं के निर्माण की क्रिया (metabolic action) सम रूप में हो रही हो, मल क्रिया, मल का निर्माण तथा निष्कासन भी प्रकृत रूप से होता हो, और इन सब क्रियाओं का परिणाम इन्द्रिय, मन तथा आत्मा की प्रसन्नता हो, उस पुरुष को स्वस्थ पुरूष कहते हैं। अतः स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य की रक्षा के लिये सम दोष क्रिया, समाग्नि क्रिया, समधातु क्रिया, सम मल क्रिया तथा इन्द्रिय मन तथा आत्मा की प्रसन्नता का ज्ञान स्वास्थ्य-रक्षा के लिये परमावश्यक है। इन सभी का वर्णन यथास्थल आयुर्वेद संहिता ग्रथों में विस्तार से वर्णित हैं। इन क्रियाओं को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये भी विधियां बतायी गयी हैं। इनके वर्णन में ही आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्त निहित हैं।

अभी तक उदाहरण-स्वरूप यह दर्शाया गया कि भारतीय विभिन्न दर्शनों का आश्रय लेने पर भी आयुर्वेद के मूल उद्देश्यों की सिद्धि के लिये यत्र-तत्र परिवर्तन कर आयुर्वेद ने अपना स्वतंत्र दर्शन बनाया है। यह तथ्य भारतीय सभी आस्तिक एवं नास्तिक तथा आत्मवादी

एवं अनात्मवादी दर्शनों के आयुर्वेद संहिताओं में उपलब्ध उद्धरणों से अधिक स्पष्ट हो जायगा। इसके अतिरिक्त यह भी स्पष्ट हो जायेगा कि आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्तों की स्थापना भी इन उपर्युक्त दर्शनों के आधार पर ही की गयी है।

जैसा कि पहले प्रतिपादित किया जा चुका है कि आयुर्वेद जिज्ञासुओं को आयुर्वेद का अविकल ज्ञान प्राप्त करने के लिये आयु का ज्ञान सर्वप्रथम आवश्यक है। आयु ज्ञान प्राप्ति के अनन्तर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन पुरुषार्थ चतुष्टय प्राप्ति के लिये दीर्घ जीवन प्राप्त करने का प्रयास करना आयुर्वेद की उद्देश्य-सिद्धि के लिये आवश्यक है। यही कारण है कि भगवान पुनर्वसु आत्रेय ने अग्निवेश आदि शिष्यों को आयुर्वेद का उपदेश करते समय सर्व प्रथम दीर्घ जीवन-जिज्ञासा का उपदेश किया है।

"अथातो दीर्घञ्जीवितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः
इति ह स्माह भगवानात्रेयः च० सू०-1-1-2

इतना ही नहीं, हिमवत् पार्श्व में समवेत महर्षियों की गोष्ठी द्वारा महर्षि भारद्वाज इन्द्र के पास दीर्घ जीवन की जिज्ञासा को लेकर ही प्रेषित किये गये थे।

दीर्घं जीवितमन्विच्छन्भरद्वाज उपागमत्।
इन्द्रमुग्रतपा बुद्ध्वा शरण्यममरेश्वरम् ।।

—च० सू०-1।3

दीर्घ जीवन-प्राप्ति आरोग्य के बिना कथमपि सम्भव नहीं; इसलिये आचार्य ने आरोग्य को पुरुषार्थ चतुष्टय प्राप्ति के लिये सर्वोत्तम मूल अर्थात् कारण या द्वार कहा है।

धर्मार्थ काम मोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्
रोगास्तस्यापःहर्तारः श्रेयसो जीवितस्य च ।।

—च० सू०-1।15

अर्थात् धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष इन पुरुषार्थ चतुष्टयों का मूल कारण आरोग्य है। रोग उस जीवन का अपहर्त्ता है और कल्याण का भी अपहर्त्ता है। तात्पर्य यह है कि रोग दीर्घजीवन में बाधक है और जीवन के लिये अकल्याणकारी है। इसलिये आचार्यों ने आरोग्य को बनाये रखने का सर्वप्रथम उपदेश किया है।

भगवान इन्द्र से त्रिसूत्र तथा त्रिस्कन्ध आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त कर महर्षि भरद्वाज ने अपने सहकर्मी अन्य ऋषियों को यथावत् बतलाया।

त्रिसूत्र तथा त्रिस्कन्ध आयुर्वेद की व्याख्या इस प्रकार है।—**त्रिसूत्र आयुर्वेदः**—(1) स्वस्थातुर परायण हेतु सूत्र। (2) स्वस्थातुर परायण लिंग सूत्र। (3) स्वस्थातुर परायण औषध सूत्र। इसका तात्पर्य यह है कि स्वस्थ पुरुषों के लिये उनके स्वास्थ्य को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये जो हेतु सूत्र है तथा आतुर (रोगी) के रोगों के कारण बतलाने वाले तथा दूर करने के लिये जो सूत्र हैं उनका सर्वविधि ज्ञान जिन सूत्रों में वर्णित हो, उन्हें स्वस्थातुर परायण हेतु सूत्र कहते हैं। इसी प्रकार स्वस्थ के लिंगों तथा लक्षणों को बतानेवाले तथा रोग एवं रोगी के लक्षणों को बताने वाले जो सूत्र हैं उन्हें स्वस्थातुर परायण लिंग सूत्र कहते हैं। स्वस्थातुर परायण औषध सूत्र वे हैं जिनमें स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये औषधों (उपचारों) का वर्णन है।

त्रिस्कन्ध आयुर्वेद :—उपर्युक्त हेत्वादि तीन आयुर्वेद के स्कन्ध हैं। अर्थात् आयुर्वेद इन तीन स्कन्धों पर ही स्थित है। इन उपर्युक्त वर्णनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इहलौकिक सुख के लिये धर्म, अर्थ, काम इन तीन पुरुषार्थों का यथा विहित रूप में प्राप्त करना (पूरा करना) परमावश्यक है। इसी प्रकार पारलौकिक सुख के लिये मोक्ष-प्राप्ति भी अनिवार्य है। क्योंकि जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति ही है। इन उभय विधि निःश्रेयस, अर्थात् इहलौकिक एवं पारलौकिक निःश्रेयस, प्राप्ति के लिये ही मानव इस वसुधा पर अवतरित होता है। यह उभय विधि निःश्रेयस आयुर्वेद के संहिता ग्रन्थों में विस्तार से वर्णित है।

चरक सूत्र ग्यारहवाँ अध्याय में भी तीन एषणाओं का जैसे—प्राणैषणा, धनैषणा तथा परलोकैषणा के वर्णन में भी इसी लक्ष्य की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है। इस प्रकार आयुर्वेद के मूल उद्देश्यों की सिद्धि के लिये आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्त की रचना हुई। सभी दर्शनों को अपना कर आयुर्वेद के प्रयोजन-सिद्धि के लिये तथा आयुर्वेद के वास्तविक स्वरूप को दर्शाने के लिये

स्वतंत्र आयुर्वेद दर्शन का निर्माण हुआ है । किन-किन दर्शनों का आयुर्वेद के स्वतंत्र दर्शन में उपयोग किया गया है इसका वर्णन इसी लेख में आगे चलकर किया जायेगा । इसी प्रकार आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्तों की परिधि का भी यथाशक्य संकेत किया जायेगा ।

भारतीय दर्शनों के विचारों को प्रदर्शित करने के लिये अनेक पारिभाषिक वादों की दार्शनिक विचारकों ने स्थापना की है । जैसे—**आरम्भवाद ।**

आरंभवाद—इसके प्रवर्तक न्याय दर्शन के रचयिता महर्षि गौतम तथा वैशेषिक दर्शन के रचयिता महर्षि कणाद हैं । इस वाद में यह दर्शाया गया है कि विश्व के सभी पदार्थ छः या सात भागों में विभक्त हैं। जैसे—१. द्रव्य २. गुण ३. कर्म ४. सामान्य ५. विशेष तथा ६. समवाय । ये छः भाव पदार्थ हैं । इसके अतिरिक्त नव्य नैयायिकों ने अभाव नामक सातवें पदार्थ का भी ग्रहण किया है । इन पदार्थों की व्याख्या करने के लिये नैयायिकों ने प्रमाणों का भी वर्णन किया है । यथार्थ ज्ञान (प्रमा) के लिए प्रमाणों की आवश्यकता पड़ती है । न्याय दर्शन में चार प्रमाणों का वर्णन उपलब्ध होता है।

जैसे १. प्रत्यक्ष प्रमाण २. अनुमान प्रमाण ३. शब्द या आगम प्रमाण तथा ४. उपमान प्रमाण । इन प्रमाणों द्वारा सृष्टि के पदार्थों का वास्तविक स्वरुप-दर्शन कराया जाता है । आयुर्वेद के संहिता ग्रथों में भी प्रमाणों द्वारा पदार्थों का प्रतिपादन हुआ है । जैसे—

'तस्याङ्गवरमाद्यमागमप्रत्यक्षानुमानोपमानैरविशुद्ध--
मुच्यमानमुपधारय सु० सू-१।१३

अर्थात् आयुर्वेद के सभी श्रेष्ठ अंगों का वर्णन आगम (शब्द) प्रत्यक्ष, अनुमान तथा उपमान प्रमाणों के अविरुद्ध कहे जाते हुए सुनो ।

द्विविधमेव खलु सर्वं सच्चासच्च ।
तस्य चतुर्विधा परीक्षा ।
आप्तोपदेशः प्रत्यक्षं, अनुमानं, युक्तिश्चेति ।

च०सू०--१

अर्थात् संसार के सभी पदार्थ दो प्रकार के हैं। सत् और असत् । इन दोनों की चार परीक्षाये हैं । ये दोनों चार परीक्षाओं (प्रमाणों) द्वारा स्थापित किये जाते हैं । जैसे-आप्तोदेश, प्रत्यक्ष, अनुमान और युक्ति । ऊपर के वर्णनों से स्पष्ट हो जाता है कि प्रमाण वर्णन में न्याय, वैशेषिक तथा आयुर्वेद में प्रायः समानता है । सुश्रुत ने तो न्याय के प्रमाण को ही बिना किसी परिवर्तन के अपना-लिया है । परन्तु चरक ने उपमान प्रमाण को न मानकर युक्ति प्रमाण का वर्णन किया है। यद्यपि चरक ने ही अनुमान की व्याख्या करते समय युक्ति को अनुमान की अनुग्राहिका माना है । जैसे--

अनुमानं खलु तर्को युक्त्यपेक्षः ।

च० वि०-१।४

और उपमान का वर्णन इस स्थल पर न कर अन्यत्र विमान स्थान में किया है । यहां यह अवधेय है कि युक्ति प्रमाण की आवश्यकता चिकित्सा-कार्य में अधिक होने से युक्ति को प्रमाण के अन्दर ग्रहण किया गया है । इस प्रकार प्रमाणों के वर्णन में भी आयुर्वेद की स्वतंत्र शैली है ।

यथार्थ अनुभव को 'प्रमा' कहते हैं, और उसके साधन को प्रमाण कहते हैं ।

यथार्थानुभवः प्रमा, तत्साधनम् च प्रमाणम् ।

चरक में प्रमाण की संज्ञा परीक्षा दी गयी है । इसलिये चरक में संसार के पदार्थों की चार प्रकार की परीक्षा का वर्णन किया है । चक्रपाणि ने इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है--

"परीक्ष्यते व्यवस्थाप्यते वस्तुस्वरमनेति परीक्षा ।"

अर्थात् वस्तु के यथार्थ स्वरूप की परीक्षा इसके द्वारा की जाती है, इससे इसे परीक्षा कहते हैं । इसी प्रकार आयुर्वेद के संहिता ग्रथों में पदार्थो का वर्णन भी प्राप्त होता है । जैसे--

सामान्यं च विशेषं च गुणान् द्रव्याणि कर्म च ।
समवायं च तज्ज्ञात्वा तन्त्रोक्त विधिमास्थिता
लेभिरे परमं शर्म जीवितं चाप्यनित्वरम् ।।

च० सू०--

अर्थात् महर्षियों ने ज्ञान चक्षु द्वारा जिन पदार्थों को देखा वे थे सामान्य, विशेष, गुण, द्रव्य, कर्म तथा समवाय। इन छः भाव पदार्थो का ज्ञान चक्षु के द्वारा दर्शन कर आयुर्वेद - शास्त्रोक्त विधि-विधानों का उन्होंने अनुसरण

किया, जिससे उन्हें परम शान्ति प्राप्त हुयी, तथा दीर्घ जीवन भी प्राप्त हुआ। चरक के षड़ पदार्थ न्याय तथा वैशेषिक दर्शन के अनुरुप होने पर भी इनके क्रम वर्णन करने में भेद है। कारण इन क्रमों का वर्णन आयुर्वेद चिकित्सा के मौलिक सिद्धान्त के अनुरुप है। आयुर्वेद चिकित्सा के मौलिक सिद्धान्त धातु साम्यकरण है। कहा भी है--

......कार्यम् धातुसाम्यमिहोच्यते।
धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्-
—च० सू०-१।५२।

अर्थात् चिकित्सा का धातु साम्य है।

धातु साम्य क्रिया :--धातुओं को साम्यावस्था में लाना ही आयुर्वेद-शास्त्र का प्रयोजन है। इस प्रकार पदार्थ वर्णन में भी आयुर्वेद दर्शन की शैली स्वतंत्र है। सामान्य तथा विशेष की परिभाषा तथा भेद में आयुर्वेद की स्वतंत्र शैली है :- जैसे।

सामान्यमेकत्वकरम् विशेषस्तु पृथक्त्व कृत्।
तुल्यार्थताहि सामान्यं, विशेषस्तु विपर्ययः ।।च०अ०।१।४४
सर्वदा सर्व भावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्।
ह्रास हेतुर्विशेषश्च, प्रवृतिरुभयस्य तु ।।

अर्थात् सामान्य एकाकार बुद्धि को उत्पन्न करता है। विशेष तो पार्थक्य बुद्धि को उत्पन्न करने वाला है। तुल्य अर्थ को बताने वाला सामान्य है। विशेष तो उससे विपरीत है। संसार में जितने भी भाव हैं अर्थात् पदार्थ हैं, उनमें सामान्य वृद्धि का कारण होता है। विशेष तो उसका ह्रास कराने वाला होता है। चक्रपाणिदत्त ने इसका स्पष्टीकरण अपनी व्याख्या में करते हुये कहा है कि द्रव्य सामान्य द्रव्य को बढ़ाते हैं, गुण सामान्य गुण को बढ़ाता है और कर्म सामान्य कर्म को बढ़ाता है। इसका स्पष्टीकरण उदाहरणों के द्वारा किया है। जैसे मांस भक्षण से मांस की वृद्धि होती है, यह द्रव्य सामान्य का उदाहरण है। गुण सामान्य के उदाहरण में कहा है कि घृत अग्नि को बढ़ाता है। इसी प्रकार कर्म सामान्य का उदाहरण देते हुये कहा है कि दौड़ने से वायु की वृद्धि होती है। इस व्याख्या को करते हुये उन्होंने सामान्य के भेदों का भी स्पष्टीकरण किया है। जैसे द्रव्यगोचर सामान्य गुणगोचर सामान्य तथा कर्मगोचर सामान्य। इस प्रकार सामान्य और विशेष के वर्णन में भी आयुर्वेद का अपना वैशिष्ट्य है।

इन दोनों दार्शनिक तथ्यों को अपनाते हुये आयुर्वेद के चिकित्सा के मौलिक सिद्धान्तों की आधारशिला का न्यास आयुर्वेद में है जैसे :—

हृष्टा वृद्धंतव्या वृद्धां ह्रासयेतव्या समा पालयेतव्या।

अर्थात् बढ़े हुए दोष-धातु तथा मलों को घटाकर समावस्था में लाना तथा घटे हुये दोष, धातु एवं मल को बढ़ाकर समावस्था में लाना तथा समावस्था को अक्षुण्ण रखना ही चिकित्सा का सिद्धांत है। इसी तथ्य को चरक ने चिकित्सा की परिभाषा करते हुये बड़े ही सुन्दर ढंग से बतलाया है। जैसे—

चतुर्णा भिषगादीनां प्रशस्तानां धातु वैकृतिः।
प्रवृतिर्धातु साम्यर्था चिकित्सेत्यभिधीयते ।।

अर्थात भिषक्, औषध, परिचालक, तथा रोगी इन चारों पादों का कार्य प्रशस्त धातुओं के विषम होने पर उन्हें साम्यावस्था में लाने की प्रवृति को ही चिकित्सा कहते हैं।

आरम्भवाद के अनुसार तथा न्याय दर्शन तथा वैशेषिक दर्शन के अनुसार वर्णित छः भाव पदार्थों में सामान्य तथा विशेष दो पदार्थों का वर्णन तथा आयुर्वेद के साथ इनके वर्णनों की तुलनात्मक समीक्षा तथा उन्हें चिकित्सा के मौलिक सिद्धान्तों में किस रूप में उपयोग किया गया है, इसका संकेत मात्र ही इस लेख में करना सम्भव है। इनका विस्तृत विवरण तो आकर ग्रथों के अवलोकन से ही समुचित हो सकता है। शेष चार पदार्थों का वर्णन भी संक्षेप रूप में देने का प्रयास किया जाता है। जैसे— द्रव्य का वर्णन न्याय, वैशेषिक तथा आयुर्वेद में द्रव्य की परिभाषा समान रूप से कही गयी है। जैसे :—

क्रिया गुणवत् समवायि कारणमिति द्रव्य लक्षणम्।
वै०सू०-१।१५
यत्राश्रिताः कर्मगुणाः कारणं समवायि यत् तद् द्रव्यं ।।
च०सू० ।१।

अर्थात जिनमें कर्म (क्रिया) और गुण समवाय संबंध से स्थित हो और गुण-कर्म का समवायि कारण हो उसे द्रव्य कहते हैं।

यहां यह बतला देना आवश्यक है किसी भी कार्य की उत्पत्ति में तीन प्रकार के कारण होते हैं। जैसे—

(१) समवायि कारण, (२) निमित्त कारण तथा (३) असमवायि कारण। समवायि कारण को उपादान कारण भी कहते हैं। यह कार्य के उत्पन्न करने के बाद भी बना रहता है। इसलिए इसको अपृथक भाव का कारण भी कहते हैं। इस कारण का कार्य के साथ नित्य सम्बन्ध बना रहता है। जैसे घट का कारण मिट्टी और पट का कारण तन्तु। निमित्त कारण वह है जो कार्य को उत्पन्न तो करता है पर उत्पन्न करने के बाद वह उससे अलग रहता है। जैसे कुम्भकारादि घट का निमित्त कारण और तन्तुवाय, जुलाहा आदि पट का निमित्त कारण है। ये दोनों घटोत्पादन और पटोत्पादन के बाद घट और पट से पृथक रहते हैं। ये दोनों जो समवायि तथा निमित्त कारणों से पृथक हैं पर कार्य की उत्पत्ति में अनिवार्य रूप से आवश्यक होते हैं। उसे असमवायि कारण कहते है। जैसे घट की उत्पत्ति में कपाल माला संयोग और पट की उत्पत्ति में तन्तु संयोग अनिवार्य कारण है। इस प्रकार गुण और कर्म समवाय सम्बन्ध से अर्थात् अपृथक भाव संबंध द्रव्य के अन्दर विद्यमान रहते हैं। चूंकि गुण और कर्म स्वतंत्र पदार्थ होने पर भी द्रव्य में ही पाये जाते हैं अतः द्रव्य उनके गुण-कर्म का समवायी कारण है। इन त्रिविध कारणों का ज्ञान आयुर्वेद के मौलिक सिद्धांत को समझने के लिए आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य हैं। आयुर्वेदीय चिकित्सा के मौलिक सिद्धांत में दोष, धातु वैषम्य को दूर करना ही चिकित्सा माना गया है। आयुर्वेद के अनुसार दोष-धातु वैषम्य, व्याधि का असमवायि कारण माना गया है। रोग का समवायि कारण तो ...व है और निमित्त कारण मिथ्या आहार-विहार है। ...ह नियम है कि असमवायि कारण के नाश से कार्य का नाश होता है। जैसे असमवायि कारण कपाल माला के संयोग के नाश से घट का तथा तन्तु संयोग के नाश से पट का, और दोष-धातु वैषम्य के नाश से व्याधि का नाश होता है।

...ण :—

समवायि तु निश्चेष्टः कारणं गुणः

च०सू०- १।

द्रव्याश्रय गुणवान् संयोग विभागेष्व कारणं मनपेक्ष इति गुण लक्षणम्

वै० द० ।१।१।१६

जो द्रव्य में आधेय रूप (आश्रित) से रहता हो, चेष्टा रहित हो (चेष्टा-क्रिया रूप जो कर्म उससे भिन्न हो), गुण रहित हो और स्वसमान गुण की उत्पत्ति में कारणभूत (असमवायि कारण) हो, उसको गुण कहते हैं। तात्पर्य यह कि जो द्रव्य में आश्रय करके (द्रव्याश्रित)हो, गुण रहित हो, जो कर्म रहित या कर्म से भिन्न हो और जो स्वसमान गुणान्तर की उत्पत्ति में असमवायिक कारण हो, उसे गुण कहते हैं। जो दूसरे का आश्रय होता तथा कर्त्ता हैं, वह प्रधान होता है और जो अन्याश्रित और उपकरण है, वह अप्रधान या गौण होता है। उक्त गुण अन्याश्रित (द्रव्याश्रित) तथा उपकरण होने के कारण गौण होने से गुण कहे जाते हैं।

संयोगे च वियोगे च कारणं द्रव्यमाश्रितम्।
कर्तव्यस्य क्रिया कर्म कर्म नान्यद् अपेक्षते।

च०सू०अ०- १

एकं द्रव्यम् गुणं संयोग विभागेष्वनपेक्ष कारण-मिति कर्म लक्षणम् **वै० द० १।१।१७**

अर्थात् जो एक द्रव्याश्रित गुण से रहित संयोग तथा विभाग के उत्पन्न करने में अपने से उत्तर भावी किसी भाव पदार्थ की अपेक्षा न करता हुआ कारण है, उसे कर्म कहते हैं।

समवाय :—

समवायोऽपृथग्भावो भूम्यादीनां गुणैर्मतः।
स नित्यो यत्र हि द्रव्यं न तत्र नियतो गुणः ।।

च०सू०अ०- १

इहेदमिति यतः कार्य कारणयोः सः समवायः ।।

अर्थात् भूमि आदि आधार द्रव्यों के साथ गुर्वादि आधेय गुणों का जो अपृथग्भाव (अलग न रहने) संबंध है, उसको समवाय कहते हैं।

वह नित्य है और जहां भी द्रव्य है, वहां नियत रूप से गुण वर्त्तमान है।

इसमें यह है, इस प्रकार की बुद्धि, जिसके कारण अवयव-अवयवी में होती है, उसका नाम समवाय है। वै द०

उपर्युक्त चार पदार्थों अर्थात् द्रव्य, गुण, कर्म तथा समवाय की परिभाषा तथा लक्षण सामान्य रूप से वैशेषिक दर्शन तथा आयुर्वेद में भिन्न लक्ष्य के होते हुये भी वर्णित हैं। लक्ष्यों की विभिन्नता का दिग्दर्शन इसी लेख में आगे किया जायेगा।

न्याय, वैशेषिक दर्शन के अनुसार ही आयुर्वेद ने भी ९ नित्य द्रव्यों का प्रतिपादन किया है। ये नौ द्रव्य कारण द्रव्य कहलाते हैं। क्योंकि इनसे ही कार्य की उत्पत्ति होती है। अर्थात् सम्पूर्ण चेतन तथा अचेतन सृष्टि इन ९ कारण द्रव्यों से ही हुई है। ये ९ द्रव्य इस प्रकार हैं। (१) आकाश, (२) वायु, (३) तेज, (४) जल, (५) पृथ्वी, (६) मन, (७) आत्मा, (८) काल, (९) दिक्। सेन्द्रिय चेतनं द्रव्यं, निरिन्द्रियम् चेतनम्। इन नौ द्रव्यों में जड़ (अचेतन) की उत्पत्ति में पंचमहाभूत तथा चेतन जगत की उत्पत्ति में पाँच महाभूत और मन तथा आत्मा अर्थात् सात द्रव्य समवायी कारण होते हैं। दिक् और काल उभयविधि सृष्टि की उत्पत्ति में निमित्त कारण होता है। इन सभी द्रव्यों का कारण असमवायि कारण होता है।

खादीन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्य संग्रहः। समवायि, असमवायि और निमित्त ये जो तीन प्रकार के कारण हैं, वे तीनों परस्पर मिलकर अपने से भिन्न कार्य का आरम्भ अर्थात् उत्पादन करते हैं, इसी का नाम आरम्भवाद है। यह नैयायिकों और वैशेषिकों को अभिप्रेत है।

इन कारण नौ द्रव्यों से उपर्युक्त प्रकार से उत्पन्न कार्य द्रव्य दो प्रकार के होते हैं।

(१) चेतन (२) अचेतन।

सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं, निरिन्द्रियमचेतनम्।

च० सू०-१।४८

अर्थात् इन्द्रिय युक्त उत्पन्न द्रव्य चेतन कहलाता है और इन्द्रियों से रहित उत्पन्न द्रव्य अचेतन कहलाता है। यह विभाग कार्य द्रव्यों का ही है।

संसार के सभी द्रव्य कारण द्रव्यों से ही उत्पन्न होते हैं। यह प्रतिपादित हो चुका है।

आरम्भवाद के अनुसार पंच महाभूतों के परमा[णु] की कल्पना की गयी है। ये पंचमहाभूत के परमाणु पर[स्]पर मिल कर द्वणु तथा त्रसरेणु का रूप धारण कर[ते] हैं। पुनः इन त्रसरेणुओं के संयोग से यथाक्रम पंच महा[भू]तों की उत्पत्ति होती है और इन पंच महाभूतों से पांच[भौ]तिक जगत का निर्माण होता है, जो जड़ जगत क[ी] उत्पत्ति का कारण तथा मन और आत्मा के संयोग [से] चेतन जगत् की सृष्टि होती है। इस क्रम में दो परमा[णु] मिलकर द्वणु होते हैं और तीन द्वणुओं का त्रसरेणु बन[ता] है। इसको समझने के लिये परमाणुवाद पर थोड़ा प्रका[श] डालना आवश्यक प्रतीत होता है।

परमाणुवाद—

न प्रलयोऽणु सद् भावात्

जो परम अणु अर्थात् परम सूक्ष्म परिमाण वाला है उसे परमाणु कहते हैं। जहां अवयवगत क्रिया द्वा[रा] लोष्ठादि अवयवी द्रव्य के अवयवों का परस्पर उत्तरोत्त[र] विभाग होने के कारण जहाँ अव्यवायी विभाग का प्रवा[ह] निवृत्त होकर शेष में जो परम सूक्ष्म अवयव रहता है जिसके उत्तर अन्य किसी अवयव का विभाग नहीं [हो] सकता, अर्थात् जो परम सूक्ष्म निरवयव द्रव्य है व[ह] परमाणु है। इसी अभिप्राय से वात्स्यायन मुनि ने न्या[य] भाष्य में कहा है—जब किसी लोष्ठ (मिट्टी के ढेले) [को] पीसने से उसके अवयवों का विभाग हो जाता है औ[र] उक्त विभाग से उत्तरोत्तर अवयव अल्प-अल्पतर होते हु[ए] जहाँ समाप्त हो जाते हैं अर्थात् जहाँ अवयवों का अल[्प] अल्पतर होने के तारतम्य समाप्त हो जाता है, जिस[के] अनन्तर विभाग करने से कोई अवयव विभक्त नहीं हो सकता, वही अवयव रहित होने से अन्त्यावयव निरवय[व] रूप हुआ। परम सूक्ष्म होने के कारण परमाणु कहला[ता] है। इन द्रव्य परमाणुओं से द्वणु तथा त्रसरेणु आदि के [क्रम] से संसार के सभी जड़-चेतन पदार्थों की सृष्टि होती है अतः इसे परमाणुवाद कहते हैं। सृष्टि का आरम्भ इ[न] परमाणुओं से होने के कारण इसका नामकरण न्या[य] वैशेषिक दर्शन में आरम्भवाद हुआ है। आयुर्वेद [के] मौलिक सिद्धान्तों के निर्माण में आरम्भवाद प्रतिपा[दक] न्याय तथा वैशेषिक दर्शनों का किस प्रकार उपयोग कि[या] गया है; इसका संक्षेप में दिग्दर्शन कराने का प्रयास कि[या]

जाता है। पूर्वोक्त वर्णनों से यह स्पष्ट हो गया है कि न्याय वैशेषिक के अनुरुप ही कारण द्रव्यों का ग्रहण किया गया है और द्रव्यगत गुण-कर्मों का वर्णन आरम्भवाद के अनुरूप है। कारण द्रव्यों से कार्य-द्रव्यों की किस प्रकार उत्पत्ति होती है संक्षेप में इसे भी समझाने का प्रयास किया गया है। ये कार्य द्रव्य दो प्रकार के होते हैं, जैसे जड़ और चेतन। यह भी प्रतिपादित किया जा चुका है। ये जड़-चेतन द्रव्यों को ही आगे चलकर मूलतः तीन भागों में विभक्त कर दर्शाया गया है। जैसे, देह, द्रव्य, आहार द्रव्य तथा औषध द्रव्य।

जीवित देह द्रव्य को आयुर्वेद वाङ्मय में (१) दोष (२) धातु तथा (३) मल इन तीन वर्गों में विभक्त कर इनका विस्तृत वर्णन शास्त्रों में उपलब्ध होता है। यहीं तक नहीं, इन तीनों को शरीर का मूल कारण कहा गया है। जैसे—दोष धातु मल मूलम् ही शरीरम्। अर्थात् इस जीवित शरीर का मूल दोष-धातु और मल है। वस्तुतः जीवित शरीर की रचना तथा व्यापार इन तीन मूल शारीर द्रव्यों पर ही निर्भर है। शारीर-सम्बन्धी अन्य वर्णन इन तीनों का ही विस्तार है। इसका स्पष्टीकरण आचार्य ने "नर्ते देहः कफादस्ति।

न पित्तान्न च मारुतात्। शोणितादपि वा नित्यं देह एतैस्तु धार्य्यते। सु०सू० २१।४

अर्थात् यह जीवित शरीर कफ के बिना, पित्त के बिना तथा वायु और शोणित के बिना नहीं है। इन कफ-पित्त-वात तथा शोणित से ही देह का धारण होता है। इतना ही नहीं, आचार्यों ने और भी कहा है कि 'देहस्य रुधिरम् मूलम् रुधिरेनैव धारयते तस्माद् यत्नेन संरक्ष्यम् रक्तं जीव इति स्थिति।

अर्थात् जीवित शरीर का मूल रक्त ही है। इसलिये रक्त की रक्षा यत्न से करनी चाहिये। क्योंकि रक्त में ही जीवन स्थित है। इस प्रकार शारीर-सम्बन्धी मौलिक सिद्धान्त दोष विज्ञान, धातु विज्ञान, मल विज्ञान तथा रुधिर विज्ञान पर स्थित है। शरीर शब्द 'शृ' धातु से बना है। 'शृ' का अर्थ होता हैं टूटना या नष्ट होना। जीवित शरीर में शरीरगत विभिन्न अवयवों के व्यापार को सम्पन्न करने में शरीर धातुओं का प्रतिक्षण नाश होता रहता है इसलिये इसे शरीर कहते हैं।

"शीर्यते अनेनइति शरीरम्" प्रतिक्षण क्षीयमानत्वात् शरीरम्।

अर्थात् यह शरीर प्रतिक्षण क्षीण होता रहता है। इस प्रकार इस प्रतिक्षण क्षीयमाणशरीर की पूर्ति भोजन द्वारा भोजनगत शारीर उपादानों से पूरा होता रहता है। इसलिये भोजन का दूसरा नाम आहार है जिसका अर्थ होता है अन्नादि से शारीरद्रव्यों का पूरा होते रहना। आहार की निरुक्ति में कहा भी है। "आह्रियते अन्नादिभिः शरीरम् अनेन इति आहारः। इसलिये शरीर का दूसरा नाम काय है। जिसका अर्थ हैं

चियते अन्नादिभिः अनेन इति कायः।

इस क्षय तथा पूर्त्ति क्रिया से जो अन्नगत शारीरों में उपादान की बचत होती है, उससे शरीर की वृद्धि होती रहती है इस क्रिया को जताने के लिये इस शरीर का तीसरा नाम देह है जो दीह्व उपचय (बढ़ना) धातु से बना हुआ है। अर्थात् इस शरीर के अंग-प्रत्यंगों की वृद्धि भी होती रहती है। अहर्निश शरीर में उपर्युक्त तीन व्यापारों के होते रहने को सूचित करने के लिये ही ये तीन पारिभाषिक शब्द जैसे, शरीर, काय और देह प्रयुक्त हुए हैं। इन तीन व्यापारों को आधुनिक शारीरविद् क्रमशः तीन पारिभाषिक शब्दों द्वारा जैसे—Catabolism, metabolism तथा anabolism क्रिया कहते हैं। यहाँ पर संक्षेप में यह दर्शाया गया कि जीवित शरीर के देह द्रव्यों की आहार द्रव्यों से पूर्त्ति होती रहती है। पहले कह आये हैं कि आयुर्वेद के अनुसार सभी द्रव्य पाञ्च भौतिक होते हैं। अर्थात् पाञ्चभौतिक देह द्रव्य की पूर्त्ति पाञ्च भौतिक आहार द्रव्यों से होती रहती है। आहार द्रव्य रस प्रधान होता है। इसलिये आहार-द्रव्य के गुणों का वर्णन पारिभाषिक रस शब्द के द्वारा ही किया गया है। वाग्भट्ट ने कहा भी है कि, "गुर्वादयो गुणा द्रव्ये पृथ्व्यादौ रसाश्रये, रसेषु व्यपदिश्यन्ते साहचर्योपचारतः', । अर्थात् पृथ्वी आदि पंच महाभूतों के गुर्वादि बीस गुणा, रस के आश्रय, पृथ्वी आदि में होते हैं। द्रव्यों के रसाश्रय होने से इन द्रव्यों के गुणों का रसों में ही व्यपदेश किया गया है। क्योंकि रस और द्रव्य का साहचर्य

सम्बन्ध है। इस प्रकार देह-द्रव्य और आहार द्रव्य की व्याख्या की गयी।

औषध द्रव्यशक्ति प्रधान (वीर्य) होते हैं। ये अपने वीर्य (शक्ति) से ही दोष तथा धातु-वैषम्य को दूर कर उन्हें साम्यावस्था में लाते हैं। यों तो सामान्य रूप से द्रव्यों के गुण-कर्म आदि को बतलाने के लिये द्रव्यगत पंच पदार्थों का सिद्धांत रूप से पृथक वर्णन किया गया है, जैसे

"द्रव्य गुणो रसो वीर्यम् विपाक: शक्ति रेव च पदार्था: पंच तिष्ठन्ति सम ष्वम् कुर्वन्ति कर्म च"

अर्थात् द्रव्य के अन्दर गुण, रस; वीर्य, विपाक तथा शक्ति ये पांच पदार्थ स्वभाव से ही रहते हैं। और ये अपना-अपना कर्म करते हैं। ये रस, गुण, विपाक, वीर्य तथा शक्ति का वर्णन ही आयुर्वेदीय आहार द्रव्य तथा औषध द्रव्यों के गुण-धर्म वर्णन के मौलिक सिद्धांत हैं। इन उपयुक्त वर्णनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि न्याय तथा वैशेषिक में वर्णित द्रव्य तथा तद्गत गुण-कर्मों को आयुर्वेद के औषध-गुण-धर्म वर्ण के सिद्धाँत में किस प्रकार अपनाया गया है।

दोष तथा रसों का पाञ्च भौतिक संगठन

पहले कह चुके हैं कि ये बात-पित्त-कफ तीनों दोष शारीर द्रव्य हैं और पाञ्च भौतिक होने पर भी बात वायु तथा आकाश महाभूतों की उल्वणता से, पित्त अग्नि महाभूत की उल्वणता से, तथा कफ पृथ्वी और जल महाभूत की उल्वणता से बना हुआ है। कोई-कोई आचार्य पित्त को अग्नि की बहुलता के साथ-साथ जल महाभूत का भी संयोग मानते हैं। इसी प्रकार छ: रसों के पाञ्च भौतिक संगठन में मधुर रस की उत्पत्ति में पृथ्वी और जल महाभूत का आधिक्य, अम्ल रस की उत्पत्ति में पृथ्वी और अग्नि महाभूत का आधिक्य, लवण रस की उत्पत्ति में जल और अग्नि महाभूत का आधिक्य, कटु में अग्नि और वायु का आधिक्य, तिक्त रस में वायु और आकाश का आधिक्य तथा कषाय रस में पृथ्वी और वायु का आधिक्य माना गया है। यही कारण है कि मधुर रस से कफ की वृद्धि होती है और तिक्तरस से वायु की वृद्धि होती है, अम्ल रस तथा कटु रस से पित्त की वृद्धि होती है। कषाय से वायु की वृ तथा पित्त का शमन होता है। ये एकान्त रूप से सम योनि से उत्पन्न होने के कारण समान योनि वाले क पित्त तथा वायु को बढ़ाते हैं और अपने से विप योनि वाले दोष का शमन करते हैं। कहा भी है जो जिन गुणों से भूयिष्ठ होते हैं वे उन गुणों का या उन ग वाले दोषों की वृद्धि करते हैं तथा विपरीत गुण वा दोषों को शान्त करते हैं।

वाय्वाकाशाभ्यां वायु:; आग्नेयं-पित्तं, अम्भः पृथिवीभ्यां श्लेष्मेति। —(अ० स० सू० २०)
क्षमाम्भोग्नि क्षमाम्बुतेज: ख वाटवग्न्यनिल गोनिलै:। द्वयोल्वणै: क्रमाद्भूतैः मधुरादि रसोद्भव:।। अ० हृ० रस० भेदीय—१

परिणामवाद और आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्त

सांख्यादि पक्षः परिणामवाद :—अर्थात् तात्वि अन्यथा भाव का नाम परिणाम है। अर्थात् जो अप रूप को छोड़कर दूसरे रूप में बदल जाता है, व परिणाम कहा जाता है। दूध अपना द्रवत्व रूप छोड़कर दही रूप को ग्रहण करता है, दही दूध परिणाम है, ऐसा व्यवहार लोक में प्रचलित है। सां पातञ्जाल और रामानुजाचार्य परिणामवाद को मानते हैं इनके मत में मूल प्रकृति या माया का परिणाम सकल प्रपञ्च है, ऐसा माना जाता है।

इस लेख के प्रारम्भ में ही सांख्य के अनुसार सृष्टि का वर्णन किया जा चुका है और साथ ही यह भी दर्शा गया है कि सृष्टि के इस वर्णन को सुश्रुत संहिता शारी स्थान के प्रथम अध्याय में किस प्रकार ग्रहण किया ग है तथा किंचित परिवर्तन के साथ आयुर्वेद में सृष्टि वर्णन कर अपनी स्वतंत्र शैली दर्शायी गयी है। इत ही नहीं, सांख्य के प्रकृति-पुरुष के साधर्म्य, वैधर्म्य वर्णन भी उपलब्ध होता है। जैसे—"**उभावप्यनादि उभावप्यनन्तौ, उभावप्यलिङ्गौ, उभावपि नित्यौ उभावप्यपरौ उभौ त्र सर्व्वगतावित‍ि; सु० शा०—१**

अर्थात् प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि तथा अनन्त हैं, दोनों लिङ्गरहित हैं, दोनों नित्य हैं, दोनों अपर तथा दोनों सर्वव्यापक हैं। इस साधर्म्य के वर्णन अनन्तर आयुर्वेद में पुरुष अपर नाम दो

को असर्वगत माना है जिसका वर्णन पहले कर चुके हैं। वैधर्म्य में कोई भेद नहीं उपलब्ध होता। जैसे-"**एका तु प्रकृति र चेतना त्रिगुणा बीज धर्म्मिणी प्रसवधर्म्मिण्यमध्यस्थ धर्म्मिणी चेति, वहवस्तु पुरुषाश्चेतनावन्तोऽगुणा अबीज धर्म्माणोऽप्रसव धर्म्माणो मध्यस्थ धर्म्माणश्चेति।**
-सु० शा०-१।८

अर्थात् प्रकृति एक है और वह अचेतन (जड़) है, त्रिगुण, बीजधर्मिणी तथा प्रसव धर्मिणी तथा अमध्यस्थ धर्मिणी तथा परिणामी है। पुरुष अनेक हैं, चेतन है, अबीज धर्मी हैं तथा अप्रसवधर्मी, मध्यस्थधर्मी तथा अपरिणामी हैं।

"**तत्र कारणानुरूपं कार्यमिति कृत्वा सर्व एवैते विशेषाः सत्वरजस्तमोमया भवन्ति; तदञ्जनत्वात्तन्मयत्वाच्च तद्गुणा एव पुरुषा भवन्तीत्येके भाषन्ते**"
सु शा०-१।१०।

अर्थात् आयुर्वेद के एक आचार्य तो कहते हैं कि कारणानुरूप कार्य के होने के कारण ये सभी विशेषभाव सत्व-रज और तमोमय ही होते हैं। तद् अञ्जन, तथा तनमयत्व तथा तद्गुण विशिष्ठ पुरुष भी होता है। अर्थात् जीवात्मा भी सगुण होता है। यही कारण है कि आयुर्वेद में जीवात्मा (क्षेत्रज्ञ) को असर्वगत माना गया है और उसे सुख-दुख का भोक्ता भी कहा है। इस प्रकार परिणामवाद को मानकर भी आयुर्वेद के दर्शन में वैशिष्ट्य प्रतिपादित किया गया है। अतः आयुर्वेद का दर्शन परिणामवाद के अनुरूप होते हुये भी स्वतंत्र है।

"**स्वभावमीश्वरं कालं यदृच्छां नियतिं तथा॥**
परिणामं च मन्यन्ते प्रकृतिं पृथुदर्शिनः
तन्मयान्येव भूतानि तद्गुणान्येव चादिशेत्॥
तैश्च तल्लक्षणः कृत्स्नो भूतग्रामो व्यजन्यत॥
सु० शा० १। १२

अर्थात् आयुर्वेद ने आरम्भवाद तथा परिणामवाद को ही अपने दार्शनिक कलेवर में सम्मिलित नहीं किया है अपितु स्वभाववाद, ईश्वरवाद, कालवाद, यदृच्छावाद, नियतिवाद को भी अपनाया है और कहा है कि ये भूत तथा भौतिक जगत प्रकृति से उत्पन्न होने के कारण उनके गुणों से युक्त तथा त्रिगुणात्मक ही होते हैं। अर्थात् संसार के सभी भौतिक पदार्थ इन उपर्युक्त तीन गुणों के लक्षणों से उक्त उत्पन्न हुए हैं। इस विशद रूप में किया गया दार्शनिक वर्णन आयुर्वेद का वैशिष्ट्य प्रकट करता है और इसी कारण आयुर्वेद की दार्शनिक भित्ति सर्वथा स्वतंत्र है।

आयुर्वेद के आचार्यो ने कहा कि इस जीवित शरीर की उत्पत्ति का कारणवात पित्त-कफ ही हैं।

वात-पित्त-श्लेष्माणं एव देह सम्भवहेतवः। तैरेवा व्यापन्नैरधोमध्योर्ध्व सन्निविष्टैः शरीरमिदं धार्यतेऽगारमिव स्थूणा भिस्तिसृभिः, अतश्च त्रिस्थूण माहुरेके। त एव च व्यापन्नाः प्रलय हेतवः तदेभिरेव शोणित चतुर्थैः संभवस्थिति प्रलयेष्वप्यविरहितं शरीरं भवति।

अर्थात् शरीर की उत्पत्ति में ये वात-पित्त और कफ ही हेतु हैं। ये तीनों अपनी अव्यापन्नावस्था में शरीर के अधो भाग, मध्यभाग तथा उर्ध्व भाग में क्रमशः सन्निविष्ट होकर इस शरीर को उस प्रकार धारण करते हैं, जिस प्रकार एक घर तीन स्तम्भों पर आधारित रहता है। यही व्यापन्नावस्था में शरीर के प्रलय के कारण बन जाते हैं। यही कारण है कि शरीर को त्रिस्थूण कहा गया है। इस प्रकार ये तीन और चौथा शोणित शरीर की उत्पति, स्थिति और विनाश में कारण माने गये हैं।

इन तीन दोषों की उत्पत्ति बतलाते हुये कहा है कि वायु रजो बहुल है, पित्त सत्व बहुल है और कफ तमोबहुल है। जैसे

रजोबहुलो वायुः, सत्वं बहुलं पित्तः तथा तमोबहुल श्लेष्मा।

ये रजो गुण, सतोगुण तथा तमोगुण देह के मूल जो तीन धातु दोष के उत्पादक हैं वे प्रकृति के ही गुण हैं। कहा भी है कि प्रकृति सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण की साम्यावस्था को कहते हैं। इस प्रकार परिणामवाद के आधार पर आयुर्वेद के मूल सिद्धान्तों की उत्पत्ति को दर्शाया गया है। परिणामवाद का ही दूसरा नाम सत्कार्यवाद है। इस वाद में यह दर्शाया गया है कि जो गुण कारण में रहते हैं वे ही गुण परिणमित होकर कार्य में आते हैं। इस वाद द्वारा इस तथ्य का उद्घाटन किया जाता है कि किसी भी तत्व या भौतिक पदार्थ की उत्पत्ति तथा विनाश नहीं होता, अपितु कारण जब

कार्य रूप में परिणत होता है अर्थात् कारण में लीन भावों की जब कार्य में अभिव्यक्ति होती है तो उसे उत्पन्न कहा जाता है। इसी प्रकार जब कार्य अपने कारण में लीन होता है तब उसको विनाश की संज्ञा दी जाती है।

स्वभाववाद

संसार की वस्तुओं की सृष्टि में स्वभाववादी स्वभाव को ही कारण मानते हैं और उदाहरण देते हैं कि काँटों में तैक्ष्यं, पशु पक्षियों में वैचित्र्य अर्थात रंग-रुप में विभिन्नता, ईख में मधुरता, मिर्च में कटुता ये स्वभाव से ही उत्पन्न हुए हैं। इनका अन्य कोई कारण नहीं है। इसी प्रकार स्वभाववाद का वर्णन चरक संहिता में भी अनेक स्थलों पर आया है। जैसे चरक सूत्र स्थान ११ वें श्लोक संख्या-६ तथा श्लोक संख्या १२ में कहा है कि छः धातुओं का जो स्वलक्षण कहा गया है उसके संयोग और वियोग में उनका स्वकर्म ही कारण है। तात्पर्य यह कि पृथ्वी का काठिन्य गुण, जल का द्रवत्व, अग्नि की उष्णता, वायु का तिर्यक्गमन तथा आकाश का अप्रतिघात एवं आत्मा का ज्ञानादि गुण या लक्षण स्वाभाविक है। इसी प्रकार सूत्र स्थान के १६वें चिकित्सा अध्याय में रोगों की उत्पत्ति तथा विनाश के सम्बन्ध में भी इस स्वभाव को ही कारण माना है। जैसे

जायन्ते हेतु वैषम्याद्विषमा देह धातवः।
हेतु साम्यात्समास्तेषां स्वभावोपरमः सदा ॥

च० सू० १६। २६

पुनः २५ वें अध्याय के यज्जः पुरुषीय नामक अध्याय में स्वभाववादी भरद्वाज के उद्धरण इस प्रकार मिलते हैं। जैसे--

भावहेतुः स्वभावस्तु व्याधीनां पुरुषस्य च।
खरद्रवचलोष्णत्वं तेजोऽन्ताना यथैव हि।

च० सू० - २५-२०

अर्थात स्वभाववादी भरद्वाज ने कहा कि जिस प्रकार संसार के सभी भावों का कारण स्वभाव है जैसे पृथ्वी, स्वभाव से ही कठोर, जल स्वभाव से ही द्रव, वायु स्वभाव से ही चल और तेज स्वभाव से ही उष्ण होते हैं उसी प्रकार पुरुष तथा पुरुष की व्याधि भी स्वभाव से ही उत्पन्न होती हैं।

दर्शनों में तथा आयुर्वेद के संहिता ग्रंथों में दो प्रकार के स्वभाववादी दृष्टिगोचर होते हैं—प्रथम-बौद्ध जो पुनर्जन्म को मानते हैं तथा अपने दर्शन में प्रत्यक्ष तथा अनुमान दोनों प्रमाणों को अपनाया है। जिनका वर्णन यहां किया जा चुका है। दूसरे चार्वाक आदि जो केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को मानते हैं और पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करते। उनका कहना है कि मरणमेपवर्ग अर्थात् मरण ही मोक्ष है। वे कहते हैं कि जो कुछ हम देख रहे हैं वही सत्य है, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् यावत् जीवेत सुखम् जीवेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनम् कुतः। अर्थात् कर्ज करके भी घी पीना चाहिये अर्थात् सब प्रकार का भोग विलास करना चाहिये। जब तक जीवें सुख से जीवें, इस शरीर के मरने के बाद, भस्म हो जाने पर पुनः यहां आगमन कहां? ये आत्मा तथा परमात्मा को नहीं मानते तथा भौतिक पदार्थों के अतिरिक्त किसी चेतन तत्व को नहीं मानते। उनका कहना है कि जिस प्रकार गुड़ के संधान से सुराबीज की उत्पत्ति हो जाती है तथा जड़ पदार्थों के मिलकर सड़ने से कृमि की उत्पत्ति हो जाती है, उसी प्रकार संसार में पदार्थों में परस्पर संयोग से चेतन तत्व उत्पन्न हो जाता है।

ईश्वरवाद तथा आत्मवाद

जिस प्रकार आयुर्वेद के संहिता ग्रंथों में स्भाव वाद का वर्णन मिलता है, उसी प्रकार ईश्वर तथा आत्मवाद का भी वर्णन प्रचुर मात्रा में आयुर्वेद के संहिता ग्रंथों में प्राप्त होता है। इस वाद में यह दर्शाया गया है कि संसार तथा संसार के आधि-व्याधियों का कारण, ईश्वर या आत्मा ही है। अर्थात ईश्वर ही संसार के सृष्टिकर्त्ता हैं और सृष्टि पदार्थों (जड़-चेतन को सुखी रखता है दुःख से युक्त करता है। यहाँ शरीर को सुखी और दुःखी बनाने का कारण शरीरी (आत्मा) या जीवात्मा को ही माना गया है। परमात्मा को तो निर्विकार कहा है। यह परमात्मा अपने अंशभूत जीवात्मा को नानाविध देहधारियों में भेजता रहता है। स्वयं सुख-दुःख का भोक्ता

न होकर देहधारियों में चैतन्य उत्पन्न कर साक्षी रूप में बना रहता है और जीवात्मा की क्रियाओं को देखता रहता है। कहा भी है।

निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्वभूत गुणेन्द्रियैः।
चैतन्ये कारणं नित्यो द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः॥
च० सू०-१।५५

पुनः यज्जः पुरुषीय अध्याय में आत्मवादी परीक्ष्य मौद्गल्य का उद्धरण प्राप्त होता है कि

"आत्मजः पुरुषो रोगाश्चात्मजा कारणं हि सः।
च० सू०-२५।८

अर्थात् पुरुष आत्मज है और उसके रोग भी आत्मज हैं। इसी प्रकार सूत्र स्थान ११ वें अध्याय में कहा है कि

अनादेश्चेतना धातोर्नेष्यते परनिर्मितिः।
पर आत्मा स चेद्धेतुरिष्टोऽस्तु पर निर्मितिः।
च० सू०-११।१३

अर्थात् चेतना अनादि, चेतना धातु है, अर्थात् इसका कोई कारण नहीं है। यही सभी चेतन द्रव्यों में चेतना का कारण है। सुश्रुत ने भी पुरुष की परिभाषा में इसका संकेत किया है। कर्म पुरुष, राशि पुरुष तथा चिकित्स्य पुरुष के वर्णन में भी आत्मा या ईश्वर का वर्णन प्राप्त होता है; जिसका संकेत पहले किया जा चुका है। पाञ्च भौतिक शरीर के साथ जब आत्मा समवाय रूप से संयुक्त होता है तभी चेतन शरीर या जीवित शरीर बनता है। इस चेतन तत्व (आत्मा) के शरीर से वियुक्त हो जाने पर शरीर मृत कहलाता है।

कालवाद

काल ही संसार की उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश का कारण है। ऐसा कालवादी मानते हैं। कहा भी है "कालः कलयतामहम्" काल नौ नित्य कारण द्रव्यों में है और संसार के जड़-चेतन पदार्थों की जड़, चेतन द्रव्यों की उत्पत्ति में निमित्त कारण होता है, यह पहले कह चुके हैं। चरक यज्जः पुरुषीय अध्याय में कालवादी काङ्कायन का उद्धरण प्राप्त होता है। जैसे

कालजस्त्वेव पुरुषः कालजास्तस्य चामयाः।
जगत् कालवशं सर्वं कालः सर्वत्र कारणम् २५
च० सू०-२५।२४

अर्थात् काल से ही पुरुष उत्पन्न हुआ है तथा उसके रोग भी कालज होते हैं। संसार की सभी क्रियायें काल के वश ही होती हैं। आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्त में काल का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। जैसे—दिनचर्या, ऋतुचर्या तथा दिन, रात, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, आदि के निर्माण में काल का ही हाथ रहता है। मानव शरीर के वातादि दोषों पर तथा जगत की वनस्पतियों के रसों पर काल प्रभाव से ही दोषों का संचय-प्रकोप और प्रशमन होता है। और वनस्पतियों में मधुरादि रसों का निर्माण होता है।

यदृच्छावाद—यदृच्छावादी कार्य की उत्पत्ति में कारण की अपेक्षा नहीं करते। अर्थात् संसार की सभी वस्तुओं की उत्पत्ति आकस्मिक मानते हैं।

'यदृच्छा कारणा प्रति नियमेनोत्पदः, न कारण प्रतिनियमेन कार्योत्पादोऽव धारयितु शक्यते,' अवधारक प्रमाणानां प्रामाण्यानवधारणात, तस्मादात्मैव पुनर्मनतु भवतीति न वाच्यमिति यादृच्छिकस्याभिप्रायः।' डल०

अर्थात् संसार के क्रिया-कलाप को यदृच्छावादी कारण के प्रमाण के अभाव में यादृच्छीक (आकस्मिक) मानते हैं।

नियतिवाद—इस वाद के मानने वालों का यह विश्वास है कि इस संसार में जो कुछ भी होता है वह धर्म तथा अधर्म के कारण ही होता है। अर्थात् शुभ-कर्म धर्म निमित्तक होता है और अशुभ-कर्म का कारण अधर्म होता है। इसका सुन्दर वर्णन चरक के जनपदोध्वंसीय अध्याय है।

जैसे—सर्वेषामप्यग्निवेश वाय्वादीना यद्वैगुण्य-मुत्पद्यते तस्य मूलधर्मः; तन्मूलं वाऽसत्कर्म पूर्वकृतं तयोर्योनि प्रज्ञापराध एव। च० वि—३/२०

अर्थात्, हे अग्निवेश, वायु आदि सभी दोषों का वैगुण्य जो उत्पन्न होता है, उसका कारण अधर्म है और उस अधर्म का मूल पूर्व-जन्मकृत असत् कर्म है। और यह असत् कर्म प्रज्ञापराध के कारण होता है। इस प्रकार अधर्म के बढ़ जाने से नगर निगम तथा जनपद के रहने वाले लोग तथा नगरपति, निगमपति तथा जनपदाधीश भी अधर्म करने लगते हैं। जिसके कारण देवतागण क्रुद्ध होकर

अवर्षण तथा अतिवर्षण आदि करने लगते हैं। ऋतुएं व्यापन्न हो जाती हैं। वायु भी ठीक रूप से नहीं बहती। औषधियाँ अपने स्वभाव को छोडकर विकृति प्राप्त करती हैं। इस प्रकार देश-काल और जल दूषित हो जाने से उसके व्यवहार करने वाले लोग जनपदोध्वंसीय व्याधियों से आक्रांत होते हैं और अकाल काल कवलित होने लगते हैं। इसे और भी व्यापक रूप से वर्णन करने के लिये आचार्य ने कहा है—

'युगे-युगे धर्म पादः क्रमेणानेन हीयते।
गुण पादश्च भूतानामेवं लोक प्रलीयते।'

च० वि० ३/२९

अर्थात् इस कर्म से प्रत्येक युग में धर्मपाद का ह्रास होता है और संसार के सभी भावों (पदार्थों का) गुण-पाद भी नष्ट होता है। अन्त में लोक का नाश हो जाता है अर्थात् प्रलय हो जाता है। पुनः शुभ कर्मों के करने से तथा शुभ धर्मों के आचरण से लोक का आविर्भाव होता है। इस तथ्य के आधार पर ही आयुर्वेद के संहिता ग्रंथों में कहा है। धार्मिक कर्मों के करने से हर्ष की वृद्धि होती है तथा अधर्म करने से शोक या दुःख होता है।

आयुर्वेद के मौलिक सिद्धांत में रोगों का वर्गीकरण करते हुये भी कहा है कि रोग दो प्रकार के होते हैं। १. **दृष्टापचारज** अर्थात् ऐसे अपचार जिन्हें हम देखते हैं, उनसे रोगों की उत्पत्ति या इस जन्म में किये हुए कर्मों से उत्पन्न होने वाले रोग होते हैं।

२. **अदृष्टापचारज** :—उस प्रकार के रोग हैं जिन्हे हम देख नहीं सकते और जो पूर्व जन्मकृत कर्मों के कारण होते हैं। इस प्रकार यह संसार तथा संसार के सुख हमारे पूर्व जन्मकृत शुभ कर्मों के कारण तथा दुःख अशुभ कर्मों के कारण होते हैं। पुण्य के क्षय होने पर इस मर्त्यलोक में कर्म भोग के लिये आता है और कर्म भोग भोगकर पुनः इस लोक को छोड़ कर चला जाता है। इन नियतिवाद के सिद्धांतों को कर्म-विपाक भी कहते हैं।

विवर्त्तवाद और आयुर्वेद

वेदान्त पक्षस्तु विवर्त्तवादः, अर्थात् विवर्त्तवाद वेदान्तियों का पक्ष है।

'अतत्त्वतोऽन्यथा भावः विवर्त्तः समुदीरितः।

अर्थात् अतात्विक अन्यथाभाव का नाम विवर्त्त है।

अर्थात् जो अपने रूप को छोड़ कर रुपान्तर में भासित होता है उसे विवर्त्त कहते हैं। जैसे रज्जु में सर्प का और शुक्ति में रजत का भान होना। इसलिये रस्सी का विवर्त्त सर्प और शुक्ति का विवर्त्त रजत कहा जाता है। अद्वैतवेदान्तियों का विवर्त्तवाद इष्ट है। इस वाद के माननेवाले ब्रह्म को सत्य और जगत को मिथ्या मानते हैं। और उनका कहना है कि यह विश्व रूप-प्रपंच ब्रह्म का ही विवर्त्त है। अर्थात् जिस प्रकार रज्जु सर्प के रूप में भासित होती है और शुक्ति रजत रूप में भासित होती है, उसी प्रकार ब्रह्म भी अखिल प्रपंच रूप में भासित होता है। इसी को **अध्यासवाद** भी कहते हैं।

अध्यास-अज्ञानवश होता है। इसलिये इसको अविद्या भी कहते हैं। विश्व प्रपंच है अर्थात् वास्तविक नहीं, मिथ्या है। यह ज्ञान हो जाने पर अर्थात् सत्य के ज्ञान हो जाने पर अविद्या तथा अध्यास की निवृति हो जाती है।

माया ब्रह्म की वह शक्ति है जिसके वश में होकर विश्व रुपी प्रपंच का विवर्त्त अर्थात् भान ब्रह्म में होता है। यही मायावाद है। इस माया को हम प्रकृति के साथ मिला सकते हैं। जो परिणमित होकर विश्व के प्रपंच का रूप धारण कर लेती हैं। प्रकृति और माया में अन्तर यही है कि वह सांख्य दर्शन के अनुसार नित्य है अर्थात अनश्वर है। परन्तु वेदान्ती माया के समान ही प्रकृति को भी अनित्य (नश्वर) मानते हैं। ब्रह्म को ही एकमात्र सत्य तथा नित्य मानते हैं।

विश्व के प्रपंच को मायिक होने से मिथ्या तथा अनित्य मानते हैं।

आयुर्वेद का सम्बन्ध इहलौकिक तथा पारलौकिक निःश्रेयस से है। अतः अद्वैतवाद तथा विवर्त्तवाद का संबंध ब्रह्मसे विशेष रुपेण न होकर ब्रह्म के विवर्त मायिक प्रपंच से ही अधिक है। धर्मार्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिये आरोग्य तथा दीर्घ जीवन की जिज्ञासा आयुर्वेद-शास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं। पहले कह चुके हैं कि इन चार पुरुषार्थों में धर्म, अर्थ और काम ये तीन इहलौकिक के मूलभूत अंग हैं। और मोक्ष-प्राप्ति

पारलौकिक निःश्रेयस का मूल है। आयुर्वेद के उपलब्ध संहिताओं में ब्रह्म तथा परमात्मा का वर्णन विस्तार से पाया जाता है। इन वर्णनों में चेतना धातुरूप पुरुष का भी उद्धरण है। इस प्रकार अवान्तर रूप से अद्वैतवादियों के ब्रह्म का वर्णन भी आयुर्वेद के संहिता ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।

लेख में अब तक के वर्णित विषयों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय दर्शनों का उपयोग यथावश्यक आयुर्वेद में किया गया है। और उनके आधार पर अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये यत्र-तत्र आवश्यक परिवर्तन कर स्वतंत्र आयुर्वेदीय दर्शन का निर्माण किया गया है। इस लेख में दर्शनों का संकेत करते हुये यह भी दर्शाया गया है कि आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्त भी इन दर्शनों के आधार पर ही स्थापित हुये हैं। यह तथ्य आगे के उपसंहारात्मक अंश से और भी पुष्ट और प्रमाणित हो जाएगा।

अस्तु,:—

आयुर्वेद में नानाविध पुरुषों का वर्णन

द्विविधो हि पुरुषः शुद्ध औपाधिकश्च।

पुरुष दो प्रकार का होता है, शुद्ध और औपाधिक। आयुर्वेद शास्त्र में चेतना धातु रूप पुरुष जो शुद्ध, मुक्त, निर्विकार है उसका संकेत मात्र ही है। विशेष वर्णन आयुर्वेद के प्रयोजन की दृष्टि में रखते हुये सुख-दुख का आश्रय राशि पुरुष, कर्म पुरुष तथा चिकित्स्य पुरुष का वर्णन ही उपलब्ध होता है।

१. चेतना धातु रूप पुरुष—च. शा. १।१६.

२. **द्विधातु पुरुषः**—क्षेत्र- क्षेत्रज्ञ के भेद से द्विधातु पुरुष। क्षेत्र शरीर को कहते हैं। इसको ज़ानने वाला जीवात्मा क्षेत्रज्ञ कहलाता है। जीवित शरीर क्षेत्रज्ञ का समुदाय है।

३. त्रिधातु पुरुष

यह पुरुष मन (सत्व) आत्मा और शरीर इन तीनों से इस प्रकार धारित हैं, जैसे-त्रिदंड के आधार पर तिपाई खड़ी रहती है। इससे पुरुष को लोक पुरुष भी कहते हैं। इसी को पुमान(पुरुष) तथा चेतन पुरुष भी कहते है। यह लोक पुरुष मन-आत्मा और शरीर के संयोग पर स्थित है। इस पर ही आयुर्वेद का सब कुछ प्रतिष्ठित है। आयुर्वेद का प्रकाश भी इस पुरुष पर विचार करने के लिए हुआ है। च० सू० १-४६-४७।

४. **षड्धातु पुरुष**—यह पंच महाभूत तथा आत्मा के समवाय संयोग से बना होता है, यह वैशेषिक मतानुसार आयुर्वेद में ग्रहण किया गया है।

पञ्चमहाभूतानि जीवात्मा चेति पुरुषस्य षड्धातवः इसी प्रकार चरक ने कहा है कि

षड् धातवः समुदिताः पुरुष इति शब्दं लभन्ते,

तद्यथा पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं ब्रह्मचाव्यक्तमिति

च० शा-५।४

अर्थात् छः धातुओं के समुदाय को पुरुष कहते हैं। जैसे पृथ्वी, अप, तेज, वायु, आकाश, और अव्यक्त ब्रह्म (जीवात्मा) का समुदाय षड्धातुज पुरुष है। इसी प्रकार च० शा० स्थान में कहा गया है—

खादयश्चेतनाषष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः

पुनः चरक सूत्र २५ वां अध्याय में कहा है कि—

च० शा० १।१६

षड् धातुजस्तु पुरुषो रोगाः षड् धातुजास्तथा।

राशिः षड्धातुजो ह्येष सांख्यैराद्यैः प्रकीर्तितः।

च० सू० २५।४

५. **चतुर्विंशतिक तथा पञ्चविंशतिक पुरुषः**

इसमें मन, दश, इन्द्रियाँ, पंच महाभूत, अव्यक्त, महान, अहंकार तथा पंचतन्मात्राएँ ये आठ जिसे अष्ट धातुकी प्रकृति कहते हैं ये चौबीस मिलकर चतुर्विंशतिक पुरुष कहलाता है। इनमें पच्चीसवाँ पुरुष को भी गिन लेने से पंचविंशतिक पुरुष हो जाता है।

—च० शा०-१।१७ से च० शा-१।६३ एवं ६४

६. **राशि पुरुष**:—इन उपर्युक्त सभी तत्वों की राशि से उत्पन्न होने के कारण इसे राशि पुरुष भी कहा गया है।

७. **कर्म पुरुष**:—मोह, इच्छा, द्वेष आदि कर्मों के उत्पन्न होने के कारण इसे कर्म पुरुष भी कहा है।

आयुर्वेद के संहिता ग्रन्थों में इन उपर्युक्त नानाविध पुरुषों के वर्णन उपलब्ध होते हैं। यह कहा जा चुका है कि इस पुरुष के कारण ही शरीर के सभी अचेतन तत्वों, द्रव्यों तथा भावों में चेतना आती है। इस चेतना के आ जाने पर ही शरीर की सभी बुद्धिइन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ

मन के सहकार से अपने-अपने विषयों के ग्रहण तथा कर्म के सम्पादन में समर्थ होती है। इसलिये मन की परिभाषा करते हुये आचार्य ने कहा है कि चेतना धातु रूप आत्मा के तथा इन्द्रियों एवं इन्द्रियों के विषय शब्दादि के रहने पर भी कभी-कभी किसी-किसी विषय का ज्ञान होता है और कभी-कभी किसी विषय का ज्ञान नहीं होता। यह इस तथ्य का प्रतिपादन करता है कि ज्ञान के होने और न होने का जो कारणान्तर है, वही मन है। अर्थात् मन जिस इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध रहता है उस इन्द्रिय के विषय का ज्ञान होता है और जिसके साथ सम्बद्ध नहीं होता उस इन्द्रिय के विषय का ज्ञान नहीं होता।

लक्षणं मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव च।
सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां सन्निकर्षे न वर्त्तते॥
वैवृत्यान्मनसो ज्ञानं सान्निध्यात्तच्च वर्तते।

—च० शा०-१-१७-१८

इसका कारण यह है कि आयुर्वेद में मन को अणु प्रमाण तथा एक माना है। कहा भी है—

अणुत्वमथ चैकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृतो।

—च० शा०-१।१८

मन के एक होने से एक काल में एक इन्द्रिय द्वारा ही विषय का ग्रहण होता है। सभी इन्द्रियों के विषयों का ग्रहण एक काल में नहीं हो सकता। कहा भी है—

'नै काला सर्वेन्द्रिय प्रवृत्ति'

समनस्क इन्द्रिय द्वारा ही इन्द्रियार्थ का ग्रहण होता है।

'इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि समनस्केन गृह्यते।

—च० शा०-१।२९

मन को संकल्पक कहा है। इसलिये कहा है कि इन्द्रियों द्वारा संग्रहीत विषय पर जब मन कल्पना कर लेता है, तब मनोबुद्धि पैदा होती है और इस बुद्धि द्वारा गृहीत विषय के गुण-दोष का विचार कर उसे ग्रहण और त्याग करने का कर्म होता है। अर्थात् वह गृहीत विषय उपादेय तथा हेय होता है। इस प्रकार मन तथा इन्द्रियों के गुण-कर्म का संक्षेप में वर्णन किया गया है।

चिन्त्यं विचार्यमूह्यं च ध्येयं संकल्प्यमेव च।
यत्किंचिन्मनसो ज्ञेयं तत् सर्वं ह्यर्थ संज्ञकम्॥

च० शा० १।१९

अर्थात् चिन्तन करना, विचार करना, ध्यान और संकल्प आदि मन के कर्म हैं। इन्द्रियों के विषयों का वर्णन पहले कर चुके हैं। इस प्रकार जीवित शरीर में स्थित चेतन तत्व (आत्मा) मन तथा इन्द्रियों का वर्णन संक्षेप में यहां समाप्त किया जाता है।

आयुर्वेद में व्याधि के आश्रय ये दोनों अर्थात् शरीर तथा मन ही माने गये हैं। शरीर में उत्पन्न होने वाले रोगों को शारीरिक तथा मन में उत्पन्न होने वाले रोगों को मानसिक व्याधियां कहा है।

शरीरं सत्त्व संज्ञं च व्याधीनामाश्रयो मतः।
तथा सुखानां, योगस्तु सुखानां कारणं समः॥

च० सू० १।५४

इस शरीर और मन का जब सुखद कारणों से संयोग होता है तो शारीरिक तथा मानसिक सुख की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार दुखद कारणों के साथ जब इनका संयोग होता है तो शारीरिक तथा मानसिक दुःख होते हैं। दुःख संयोग का दूसरा नाम ही व्याधि है।

तद्दुःख संयोगे व्याधयः इति।

वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोष संग्रहः।
मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तमएव च॥

च० सू० १।५६

प्रशाम्यत्योषधौः पूर्वो दैव युक्ति व्यपाश्रयैः।
मानसों ज्ञान विज्ञान धैर्यस्मृति समाधिभिः॥

च० सू० १-५७

अर्थात् वायु, पित्त और कफ जीवित शरीर के दोष हैं और रज और तम जीवित शरीर में स्थित मन के दोष हैं। ये तीनों शारीर दोष तथा मानस दोष जब विकृतावस्था में होते हैं तब इनसे क्रमशः शारीर की व्याधि या रोग तथा मन की व्याधियां तथा रोग उत्पन्न होते है। इन व्याधियों को शांत करने के लिये अर्थात् शरीर व्याधियों को शांत करने के लिए दैवव्यपाश्रय तथा युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा की शरण लेनी पड़ती है। और मानसिक व्याधियों को दूर करने के लिए सत्वावजय चिकित्सा की शरण लेनी पड़ती है। इस सत्वावजय चिकित्सा में ही ज्ञान-विज्ञान धैर्य, स्मृति तथा समाधि का अन्तर भाव है।

दैव्यपाश्रय चिकित्सा—वह है जिसमें मणि, मंगल, बलि, उपहार, मन्त्र, होम, जप आदि विधानों से रोग को दूर करने का विधान होता है। च० सू० ११।५४

युक्तिव्यपाश्रय—इस चिकित्सा में आहार, औषध एवं अन्य आभ्यन्तरिक तथा बाह्य प्रयोगों द्वारा रोगोन्मूलन तथा रोग-शमन का विधान होता है।

सत्वावजय—ज्ञान, विज्ञान, धी, धैर्य, समाधि के द्वारा मन पर नियंत्रण करने तथा अहित अर्थ से बचाये रखने के विधान को सत्वावजय चिकित्सा कहते हैं। इसे मनो चिकित्सा (Psycho therapy) भी कहते हैं।

आयुर्वेद के संहिता ग्रंथों में जीवित मानव शरीर का वर्णन बहुत ही विस्तार से प्राप्त होता है। उन्हें अविकल रूप से इस लघु लेख में देना सम्भव नहीं। अतः अति-संक्षेप में उनका दिग्दर्शन मात्र ही यहां सम्भव है। प्रारंभ में में शरीर को दो भागों में विभक्त कर बतलाया गया है। जैसे सूक्ष्म शरीर तथा स्थूल शरीर। सूक्ष्म शरीर को लिङ्ग शरीर तथा अधिवाहिक शरीर भी कहते हैं। यह अधिवाहिक शरीर ही पुर्व जन्मकृत शुभाशुभ गुणों को पुर्नजन्म होने पर पुर्नजात शरीर में लाते हैं और उसके अनुसार इस जन्म में शुभाशुभ फलों को भोगते हैं। इन शुभाशुभ गुणों के फलों पर इस जन्मकृत शुभाशुभ कर्मो का प्रभाव होता है। पूर्व जन्मकृत कर्मो को दैव्य कहते हैं और इस जन्मकृत कर्मों को पुरुषार्थ कहते हैं। यदि पुरुषार्थ शुभ गुणों से परिपूर्ण होता है तो दैव दब जाता है और उसके अशुभ कर्म के फल भोग में न्यूनता आ जाती है। इस पूर्व जन्मकृत अशुभ कर्मो से उत्पन्न होने वाली व्याधियों को अदृष्टापंचारज व्याधि कहते हैं जिनका संकेत पहले किया जा चुका है।

स्थूल शरीर— इसका वर्णन भी आयुर्वेद के संहिता ग्रंथों में विस्तार से प्राप्त होता है। इस स्थूल शरीर का वर्णन उस सूक्ष्म देह घटक से प्रारम्भ होता है जो अत्यन्त सूक्ष्म तथा अतीन्द्रिय है। जिनका चाक्षुष्य प्रत्यक्ष नहीं हो सकता और जो असंख्य हैं। इन्हें आयुर्वेद वाङ्‌मय मे देह परमाणु कहते हैं। अधुनिक शारीरविद् इसे जीव कोश (Cell) कहते हैं।

"शरीरावयवास्तु परमाणु भेदेना परिसंख्येया भवन्ति, अति बहुत्वादेति सौक्ष्म्यादतीन्द्रियत्वाच्च। तेषां संयोग विभागे परमाणूनां कारणं वायुः कर्म स्वभावश्च ॥

च० शा० - ६। १८

इन देह परमाणुओं से शरीर के अनेक अवयवों का निर्माण होता है। जैसे- धातु, उपधातु मल, उपमल, स्रोत, नाड़ी, सिरा, धमनी, त्वचा, कला, पेशी, स्नायु, कण्डरा आदि। इन सबों का विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। इनके समुदायों का भी वर्णन प्राप्त होता है। इस वर्णन में इनकी रचना तथा व्यापार का भी वर्णन सम्मिलित है। शरीर को आयुर्वेद में षड़ज कहा है। जैसे उत्तमाँग, मध्यमांग और चार शाखायें। इन अंगों के प्रत्यंगों का भी वर्णन है। इन प्रत्यगों में ही ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों के अधिष्ठान हैं। जिनका वर्णन पहले कर चुके हैं। इन सभी के विस्तृत वर्णन के लिये आकर ग्रंथ देखें। इन ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों के स्वरुप तथा व्यापार को प्रकृतरूप में बनाये रखने के लिए स्वस्थवृत्त का सुचारु वर्णन शास्त्रों में उपलब्ध होता है। जिसके अनुसार चलने से शरीर स्वास्थ रहता है और नहीं चलने से शरीर रुग्ण हो जाता है। इन स्वस्थवृत्त के वर्णनों में दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या का विस्तृत वर्णन है। साथ ही शरीर में उत्पन्न होने वाले अनेक वेगों का भी वर्णन है। वहां यह भी कहा हुआ है कि किन वेगों को धारण करना चाहिए और किन वेगों को धारण नहीं करना चाहिये। शरीर के पोषण के लिए आहार आवश्यक है। इस आहार के विधि विशेषायतन का भी वर्णन है। इस आहार विधि विशेषायतन के अनुसार भोजन करने से आहार के सभी गुण प्राप्त होते हैं। अन्यथा शरीर रोगाक्रान्त हो जाता है।

आयुर्वेद संहिताओं में चिकित्सा को दोभागों में विभक्त कर बतलाया गया है। जैसे स्वस्थ

(१) **स्वस्थस्योर्जस्कर चिकित्सा**

इसके अन्दर स्वास्थ्य को अक्षुण्ण रखने का विधान, वृष्य योगों का वर्णन तथा रसायन का वर्णन है।

(२) रोगी के रोग को दूर करने का विधान है।

च० चि० - १

इस विधान में रोग तथा रोगी की परीक्षा का भी वर्णन है। रोग परीक्षा के लिए पंच निदान, निदान पूर्व रुप, रुप, उपशम, सम्प्राप्ति इन पांच द्वारा रोगी के रोग निश्चय का विस्तार से वर्णन है। निदान वर्णन के लिये चौदह प्रकार के निदान का वर्णन है जैसे

(१) व्यविचारी निदान (२) सन्निकृष्ट (३) विप्रकृष्ट (४) प्रधान (५) असात्म्य इन्द्रियार्थ संयोग (६) प्रज्ञापराध (७) परिणाम (८) वाह्यनिदान (९) अभ्यान्तर निदान (१०) उत्पादक निदान (११) व्यन्जक निदान (१२) दोष निदान (१३) व्याधि निदान (१४) दोष-व्याधि निदान।

पूर्व रुप के दो भेद हैं—

(१) सामान्य पूर्व रुप (२) विशिष्ट पूर्व रुप

रुप के तीन भेद हैं। जैसे—

(१) पूर्वरुपात्मक रुप (२) व्याधि स्वरुप (३) उपद्रवात्मक रुप

उपशय ६ प्रकार का बतलाया गया है।

(१) हेतु विपरीत (२) व्याधि विपरीत (३) हेतु-व्याधि विपरीत (४) हेतु विपरीतार्थकारी (५) व्याधि-विपरीतार्थकारी (६) हेतु व्याधि विपरीतार्थकारी

व्याधियों के गूंढ लिङ्गों का निर्णय इस उपशय तथा अनुपशय के द्वारा होता है।

सम्प्राप्तिः—

ये भी संख्या प्राधान्य, बल,काल, विकल्प, अंशानुअंश कल्पना के भेद से वर्णित हैं। इन सभी पंच निदानों द्वारा रोग का निश्चय किया जाता है। पुनः रोगी परीक्षा का भी विस्तृत वर्णन है। रोगी-परीक्षा तीन प्रकार से की जाती है। जैसे-१ आप्तोपदेश द्वारा आयुर्वेद के संहिता ग्रंथों में प्रत्येक रोगों का लक्षण निदिष्ट है। अतः उनके आधार पर रोगी की परीक्षा की जाती है।

(२) **प्रत्यक्ष परीक्षाः**—यह परीक्षा प्रश्न द्वारा तथा पंचन्द्रियों की सहायता से की जाती है। इन परीक्षाओं का विशेष पारिभाषिक नाम भी शास्त्रों में दिया गया है।

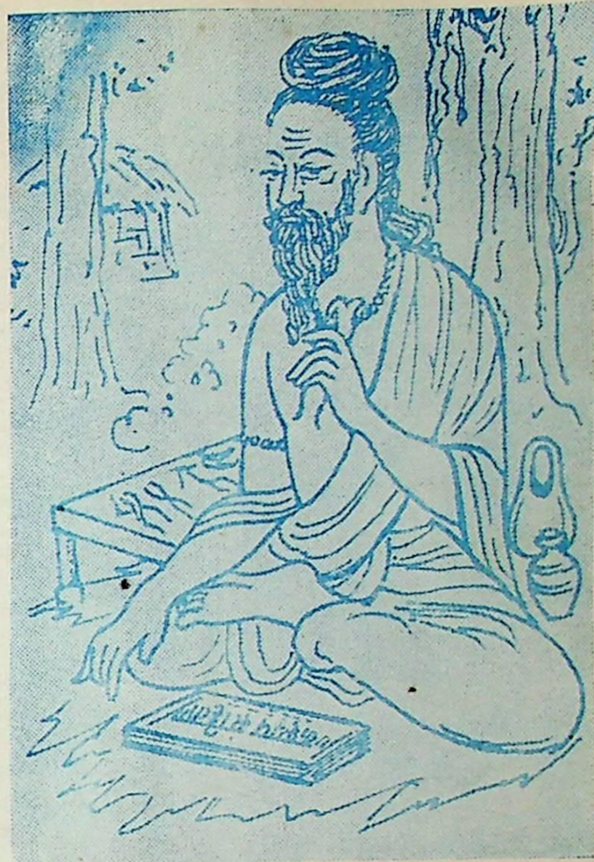
(३) **अनुमानः**—अनुमान द्वारा भी रोगी की परीक्षा की जाती है। जैसे-रोगी के मूत्र में पिपीलिका परिसर्पण से मधुमेह से पीड़ित रोगी का अनुमान इत्यादि। इसी प्रकार दशविध परीक्षाओं का वर्णन भी शास्त्रों में किया गया है। जैसे-प्रकृतितः परीक्षा (२) विकृतितः परीक्षा (३) सत्वतः परीक्षा (४) सात्म्यतः परीक्षा (५) वयसतः परीक्षा (६) सारतः परीक्षा ७ आहार शक्ति परीक्षा (८) संहननतः परीक्षा (९) व्यायाम शक्तितः (१०) शरीर प्रमाणतः परीक्षा। इनके अतिरिक्त दोष, दूष्य, देश तथा काल आदि के द्वारा भी रोगी की परीक्षा का विधान है। चिकित्सा के भेदों का संकेत पहले कर चुके हैं। इन सभी का विस्तार से वर्णन करना इस लघु लेख में सम्भव नहीं। चिकित्सा द्रव्यों के द्वारा (आहार-औषध द्रव्यों के द्वारा तथा उपचारों के द्वारा होती है। द्रव्य के अन्दर वानस्पतिक, खनिज तथा प्राणिज द्रव्यों का उपयोग होता है। इन्हीं के अन्दर सभी प्रकार के स्थावर तथा जांगम द्रव्य आ जाते हैं। इनका वर्णन द्रव्य गुण के ग्रंथों में देखे जा सकते हैं। ये द्रव्य अपने अन्दर स्थित गुण, रस, विपाक, वीर्य तथा प्रभाव के द्वारा शरीर के दोष तथा धातुओं पर अपना कार्य करते हैं। आयुर्वेद के अन्दर यद्यपि भौतिक, वैशेषिक तथा आध्यात्मिक. गुणों का वर्णन उपलब्ध होता है।

इनमें २० भौतिक गुण हैं जैसे-गुरु-लघु, शीत-उष्ण स्निग्ध-रुक्ष, मन्द-तीक्ष्ण, स्थिर-सर,मृदु-कठिन-विशद पिच्छल, श्लक्ष्ण-खर, स्थूल-सूक्ष्म, सान्द्र-द्रव—इन्हीं का उपयोग चिकित्सा-कार्य में हुआ है। शेष २६ गुणों का चिकित्सा के कार्य में विशेष उपयोग नहीं हुआ है।

रसः—रसना ग्राह्य विषय को रस कहते हैं। ये ६ हैं, जैसे, मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त एवं कषाय। ये वातादि दोषों पर तथा धातुओं पर किस प्रकार अपना कर्म करते हैं। इसका वर्णन पहले कर चुके हैं।

विपाकः—विपाक को निष्ठापाक भी कहते हैं। आहार द्रव्य जब शरीर में जाता है तो शरीरावयवों से निर्गत पाचक रसों द्वारा उन पर पाक क्रिया होती है जिससे उन आहार द्रव्यों में रूपान्तर, रसान्तर तथा द्रव्यान्तर होता है। पाचक रसों के परिणामस्वरूप जो क्रिया होती है, उसका नाम विपाक है। यह विपाक तीन प्रकार





आयु-
र्वेद

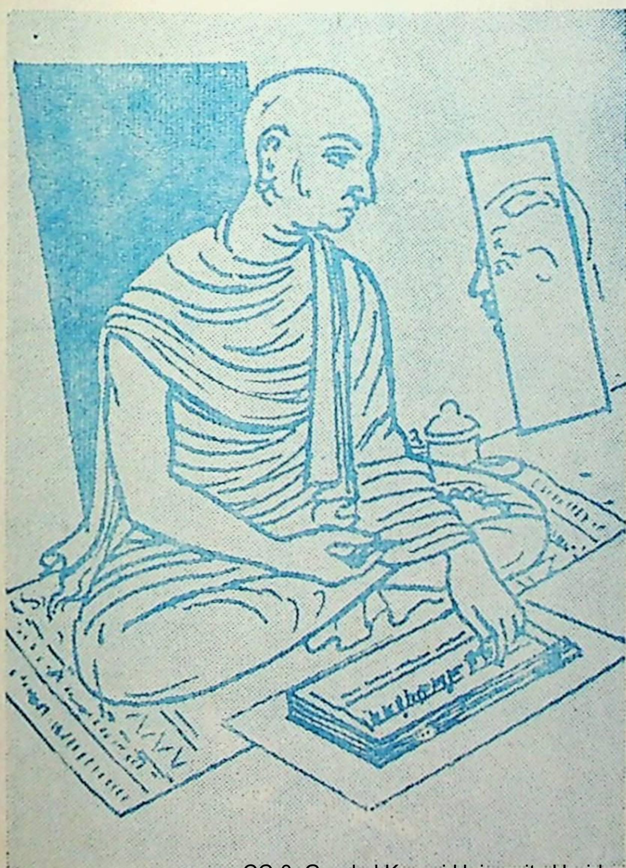
आचार्य अग्निवेश

प्रणेता

महर्षि कश्यप

ऋषि

गण

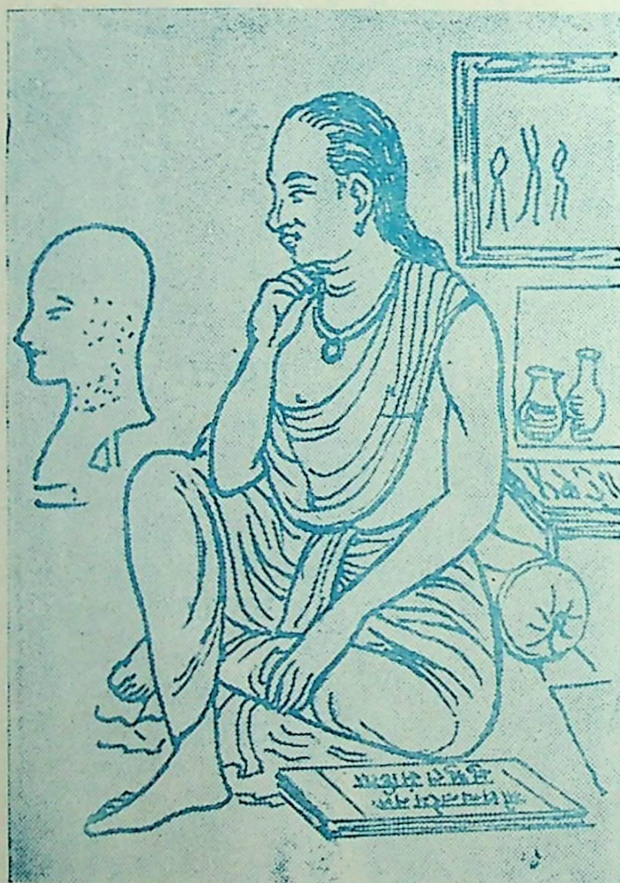




वृद्ध जीवक

महर्षि वाग्भट

आयुर्वेदीय शल्य-शालाक्य के प्रणेता



आचार्य सुश्रुत

...ना कहा गया है। जैसे—मधुर विपाक, अम्ल विपाक और कटु विपाक। मधुर और लवण का मधुर विपाक होता है। अम्ल का अम्ल विपाक होता है। कटु, तिक्त, कषाय का कटु प्रायः विपाक होता है। मधुर विपाक से कफ की, अम्ल विपाक से पित्त की और कटु विपाक से वायु की वृद्धि होती है।

वीर्य—वीर्य आहार द्रव्य के परिपाक के बाद शरीर के विविध स्रोतों तथा स्रोत मूलों में अधिवास होने पर होता है। वीर्य दो प्रकार का प्रधानतः माना गया है। जैसे—शीत और उष्ण। अष्ट विध वीर्यों का वर्णन भी शास्त्रों में उपलब्ध होता है। इसमें आठ उत्कर्ष गुणों को ग्रहण किया गया है।

शक्ति—शक्ति दो प्रकार की होती है—(१) चिंत्यशक्ति (२) अचिन्त्य शक्ति।

चिंत्य शक्ति को वीर्य में ग्रहण कर लिया गया है। अचित्य शक्ति को प्रभाव कहते हैं। शरीर पर द्रव्यों के ऐसे कार्य जिनकी व्याख्या रस, गुण, विपाक और वीर्य से नहीं हो सकती है, प्रभाव (specification) कहते हैं।

उपचार—उपचार से उस प्रकार की चिकित्सा का अभिप्राय है जिसमें किसी आहार या औषध द्रव्यों का प्रयोग नहीं होता, जैसे—लंघन या उपवास, विश्राम, नानाविध बिहार जैसे भ्रमण, देश परिवर्तन आदि।

इस प्रकार पाठकों के समक्ष इस लघु लेख में आयुर्वेद के स्वतन्त्र दर्शनों का दिग्दर्शन तथा आयुर्वेद के मौलिक सिद्धांतों पर संक्षेप रूप से प्रकाश डाला गया है। अवसर प्राप्त होने पर इनका विस्तृत वर्णन करने का प्रयास किया जायेगा।

सचित्र आयुर्वेद

आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्त पर एक दृष्टि

SACHITRA AYURVED



श्री विश्वनाथ द्विवेदी
प्राचार्य
लालबहादुर शास्त्री स्मारक
आयुर्वेद विद्यालय, जवाहरनगर, इलाहाबाद

प्राचीन काल में आयुर्वेद का साहित्य विशाल था और अनेक ऋषियों ने संहिताएं लिखी थीं। ब्रह्मा-संहिता आत्रेय संहिता, अग्निवेश संहिता, काश्यपसंहिता, भेल संहिता, पाराशर संहिता, हारीत संहिता, धन्वन्तरि संहिता, अश्विनी कुमार संहिता, भास्कर संहिता, इत्यादि अनेकों संहिताओं के नाम आते हैं, किन्तु ये उपलब्ध नहीं हैं। आज जो कुछ कहा जा रहा है वह चरक संहिता व सुश्रुत संहिता, के साहित्याधार पर ही आयुर्वेद के स्वरूप का निर्णय किया जाता है। चरक संहिता में आयुर्वेद को त्रिसूत्र माना है। इसका ज्ञान पितामह ब्रह्मा को ज्ञात था, यथा-

> **हेतुलिंगौषध ज्ञानंस्वस्थातुर परायणम्।**
> **त्रिसूत्रं शाश्वतं पुण्यं बुबुधेयं पितामहः।**

विद्वानों का विचार है कि स्वस्थ व आतुरपरायण यह आयुर्वेद त्रिसूत्र रूप में हेतु (निदान), लिंग (लक्षण), औषधि ज्ञान—इन विद्वानों का समूह है। यह चक्रपाणि आदि सब टीकाकारों ने लिखा है।

प्रश्न यह है कि क्या त्रिसूत्र ही आयुर्वेद है? यदि हाँ, तो जीवन विज्ञान आयुर्वेद का क्षेत्र अतीव सीमित हो जाता है। और मौलिक सिद्धान्त भी इनके ही पोषक होने चाहिए। तो, जिन्हें आज आयुर्वेद का मौलिक सिद्धांत मानकर अध्ययन किया - कराया जाता है सब बेकार व अर्थहीन है।

तब आयुर्वेद "अनंतपारं त्रिस्कंधमायुर्वेद महामतिः (बुबुधे)

जिसे ब्रह्मा से ज्ञात किया था, आयुर्वेद का प्रचार किया, कैसे अनन्त पार वाला यह विज्ञान इतने में सीमित रहेगा, यह त्रिस्कंध से रोग के हेतु ज्ञान, लिंग ज्ञान, औषधि ज्ञान को जानना अनन्त पार आयुर्वेद का ज्ञान था तो आगे इनका विवरण न देकर भरद्वाज से ऋषियों ने सीखा और ज्ञान चक्षु से-

'महर्षयस्ते ददृशुर्यथावत् ज्ञान - चक्षुषा। सामान्यं चा विशेषं च गुणान् द्रव्याणि कर्म च समवायं च तज्ज्ञात्वा तंत्रोक्तं विधिमास्थिताः ।

लेभिरे परमंशर्म जीवितं चाप्यनीश्वरम्

च० सू० अ० । - (28-29)

यहाँ पर यह विचार उठता है कि त्रिसूत्र के विषय का ज्ञान प्राप्त करने पर ऋषियों के हेतु ज्ञान, लिंग, ज्ञान, औषिधि ज्ञान होना चाहिए था, महर्षि भरद्वाज ने ब्रह्मा से इसका ज्ञान प्राप्त किया था और इसके ज्ञान को भरद्वाज से सीखने पर उनके ज्ञान चक्षु में-"सामान्य, विशेषं, गुण, द्रव्य, कर्म व समवाय का ज्ञान हुआ। यह संगतिठीक नहीं लगती।

ऋषियों की प्रथम संभाषा परिषद् में ब्रह्मा द्वारा प्रदत्त अनन्त पर ज्ञान राशि आयुर्वेद में यह ज्ञान ही ज्ञान चक्षु में क्यों आये इसका उत्तर स्पष्ट नहीं मिलता। स्वस्थ परायण में हेतु लिंगौषध ज्ञान क्या है ? आतुर परायण आयुर्वेद में हेतु-लिंगौषध ज्ञान क्या है। इनका ज्ञान करने वाले सामान्य विशेष द्रव्यगुण कर्म व समवाय को दिव्य चक्षु से प्रत्यक्ष किये क्या अर्थ रखता है। अग्निवेशादि के निबद्ध तंत्र को ऋषियों ने सुना और देवताओं ने भी सुनकर पुष्प वर्षा की और कहा कि यथावत[1] सूत्रितम और अग्निवेशादि के ज्ञान मंदिर में ज्ञान[2] देवता बुद्धि-सिद्धि-स्मृति-मेधा, धृति-कृति-क्षमा, दया लेकर आयें और उनके ज्ञान को दिया।

यहां पर ही चरक में आयुर्वेद की परिभाषा है। आयु का विचार है। आयुर्वेद का महान तत्व आयुर्वेद विद्या के पारंगत विद्वानों में जो 'वेदविदामतः,[3] इस लोक व परलोक के लिए हित है, उपदेश दिया। आगे सामान्य विशेष ज्ञान से ही इसका प्रारम्भ है।

इससे स्पष्ट है कि आयुर्वेद विज्ञान का क्षेत्र विशाल है। त्रिसूत्र इनके प्रधान ज्ञातव्य है किंतु इसके पहले अन्य ज्ञातव्य विषय भी है।

यथा—आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में बेसिक विषय केमिष्ट्री, फिजिक्स व बायोलोजी माने जाते हैं यद्यपि इनका मेडिसिन में आगे चल कर बहुत अल्प ही प्रयोग होता है और मेडिसिन विषय प्रौढ़ हो जाता है। इसी प्रकार आयुर्वेद में चिकित्साप्रधान होने पर भी शारीरिक, मानसिक चिकित्सार्थ रोग-प्रशमन में "दैव-युक्ति व्यपाश्रय,, व मानस दोष प्रशमनार्थ[6] ज्ञान-विज्ञान-धैर्य-स्मृति समाधि का ज्ञान आवश्यक माना है।

यहां ज्ञान उन ज्ञात स्रोतों से प्राप्त होता है जहां इनका वर्णन है। अर्थात्-शब्द ज्ञानार्थ व्याकरण, निरुक्त अन्य ज्ञानार्थ-दर्शन शास्त्र का ज्ञान (सांख्य-वैशेषिक न्याय योग-वेदान्त) का अध्ययन।

आस्तिक दर्शन व नास्तिक दर्शन के ज्ञान के लिए अध्ययन करना आवश्यक है। चरक ईस्वीय सन् 100 पूर्व हुए हैं तब संस्कृत विज्ञान-गगन में कपिल-कणाद-गौतम-व्यास-पतंजलि आदि के ज्ञान का आलोक फैल चुका था और ईश्वरवाद[7] —अनीश्वरवाद के प्रचारक चार्वाक, बौद्ध, जैन दर्शनों का भी विज्ञान फैल चुका था, जिसका विवरण वर्तमान चरक संहिता एवं सुश्रुत संहिता में

1—श्रुत्वा सूत्रणमर्थानामृषयः पुण्यकर्मणाम्। यथावत सूत्रितमिति प्रहृष्टासेनुमेनिरे। च० सू० अ० ।-34

2—अथाग्निवेश प्रमुखान विबिशुर्ज्ञान देवता। बुद्धिः सिद्धिःस्मृति मेधाः धृति कीर्त्तिः क्षमादया। च० सू०।

3—तस्यायुषः पुण्यतमो वेदो वेदाविदांमतः। वक्ष्यति यन्मनुष्याणा लोकयोजमयोर्हितः।

4—द्रव्य संग्रह-खादीन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्य संग्रहः।

5—प्रशामत्योषधै पूर्वो देवयुक्ति. व्यापश्रयैः।

6—मानसो ज्ञान विज्ञान धैर्य स्मृति समाधिभिः।

7—मातरं पितरं चैके मन्यन्तं जनमकारणम। स्वभावं परनिर्माण यदृच्छा चापरेजनाः॥

मिलता है। वैशेषिक मत से पदार्थ वर्णन मिलता है। चरक के सूत्र स्थान प्रथम अध्याय में पदार्थ द्रव्य के संग्रह का विवरण है। अतः यहां पर त्रिसूत्र में स्वस्थ परायण-हेतु-विज्ञान च आतुर-परायण हेतु-विज्ञान पृथक-पृथक है जहां बहुत-से विद्वानों का ध्यान नहीं गया है।

हेतु विज्ञान

हेतुज्ञान—हेतुज्ञान से शरीर के अतिरिक्त मन व आत्मा की जानकारी—

x—हेतु विद्या का ज्ञान (Logic and Philosophy)

2—अध्यात्मविज्ञान। आत्मापरमात्मादि का ज्ञान (Spiritual cience) मानस विज्ञान व आत्म विज्ञान ब्रह्मविज्ञान का अर्थ है।

इसके ज्ञानार्थ भारतीय दर्शन साहित्य में आस्तिक दर्शन—

1—वैशेषिक दर्शन—कणाद कृत

2—सांख्यदर्शन—कपिल कृत

3—न्याय दर्शन—गौतम कृत

4—वेदान्त दर्शन—व्यास कृत

5—मीमांसा दर्शन।

नास्तिक दर्शन प्रधान-

1—चार्वाक दर्शन

2—बौद्ध दर्शन

3—जैन दर्शन

अन्य दर्शन और भी हैं। यथा—

1—रसेश्वर दर्शन 2—पाशुपत दर्शन 3—शैव दर्शन, शाक्त दर्शन इत्यादि जो बाद में बने हैं। चरक व सुश्रुत संहिता में इनका विवरण आया है। किंतु आयुर्वेद में इनका सर्वांगीण ग्रहण न करके उपयुक्त दर्शनांश जो शरीर-मन व आत्म-सिद्धि में उपयोगी है, लिया है। चरक संहिता में सूत्र स्थान के प्रथम अध्याय, छठवां, अष्टम अध्याय, एकादश अध्याय (त्रिस्रैषणीय अध्याय, द्वादश (वात कला कलीय) षोडश अध्याय में स्वभावोपरमवाद-

इक्कीसवां अध्याय (निद्राविमर्श), पच्चीसवां अध्याय (यज्जः पुरुषीय), तीसवां अध्याय (अर्थेदशमहामूलीय), शारीर स्थान का प्रत्येक अध्याय-विमान स्थान का प्रत्येक अध्याय-बिना इन दर्शनों के ज्ञान के लग ही नहीं सकता

यह अवश्य है कि इनका ज्ञान यथावश्यक ही मान आयुर्वेद ने लोकनोपकारार्थ लिया है। अतः हेतु ज्ञा से-सृष्टि की उत्पत्ति (बाह्य लोक), पुरुष की उत्पत्ति ज्ञान (आभ्यंतर लोक का ज्ञान) जो षड्दर्शनों का सार है, ग्रहण करना चाहिए। यह स्वस्थ परायण हेतु विज्ञा है। इस दर्शन की सज्ञा इसलिए दी गई है कि आभ्यंतर बाह्यलोक के मूलभूत तत्व का दर्शन प्रत्यक्ष होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान-दर्शन (Observation) या मानव विज्ञान हेतु स्थिति का दर्शन होता है।

लिंग ज्ञान—व्याधि में इसे व्याधि लक्षण वली का समझा जाता है। इसके अतिरिक्त जीवन के लिंग-जीव को प्रदान करने वाले वस्तु तत्व विज्ञान का ज्ञान मानना चाहिये। यथा-देश विज्ञान में (देशो भूमि आतुर

देश विज्ञान- २-वानस्पतिक-देश विज्ञान (Pla Ecology)

2- प्राणि देश विज्ञान-(Animal Ecology)

वानस्पतिक व प्राणि देश विज्ञानमें-हमें भूमि की ऊंचा निचाई, वातावरण (Climalope) धरण्यादि विज्ञा (Edapholope)-पर्वत, नदी-धरणी विज्ञान -(Pedolog) अन्नस्वरूप विज्ञान (Nutrients) आदि का ज्ञान हो आवश्यक है।

अन्य वानस्पतिकज्ञान में (Phyloecoenosis) वान स्पतिक वर्गीकरण, उनकी उपस्थिति (Community) आ की उत्पत्ति के वातावरण (Environment etc) का ज्ञान चाहिए।

प्राणिविदेश विज्ञान—(Zoocoenosis)—में जीवन पर्यायी (प्राणिविज्ञान) की संख्या—(Popularities (Community) प्रकृति दोष-दूष्य—व्याधि व प्राणि शरी का वर्णन। जांगल-आनूप व सामान्य देश प्राणि का ज्ञान भूतल की ऊंचाई-निचाई के आधार पर प्राणि, प्रकृ —शरीर-पोषण-दोष-दूष्य का ज्ञान जैसा देश विज्ञान दिया है।

अन्नवर्ग-फल वर्ग-हरीतक वर्ग-शाक वर्ग-मांस वर्ग ज्ञान बिना इनके ज्ञान के संभव नहीं है। ऐसे ही-गोरस मांस-घृत-तैल वसा-मज्जा-मधु आदि का ज्ञान संभ नहीं है।

द्रव-द्रव्य विज्ञानीय-का देश की परिधि के ज्ञान के बिना संभव नहीं है। कन्दमूल-फल पुष्पविज्ञान के लिये तथा अन्य ज्ञान के लिए कृषि विज्ञान (Agriculture) (Horticulture) का ज्ञान आपेक्षित है।

सामाजिक विकास के लिए समाज विज्ञान (Civics) (Sociology) व राजनीति के ज्ञानार्थ विभिन्न प्रकार की राजनीति (Politics) का ज्ञान होना चाहिए। अन्यथा आपने व्यवसाय में रह कर जनसेवा सम्भव नहीं होगी और न आयुर्वेद की रक्षा। अतः समाज के द्वारा समाज प्रत्येक प्रकार के व्यक्तियों के संपर्क में आने के लिए समाज-शास्त्र का अध्ययन आवश्यक है। और उनमें उनकी सेवा आवश्यक है।

अतः जीव की प्रत्येक स्थिति की पूर्ति के लिए-धर्म-समाज आदि की स्थिति का ज्ञान अपेक्षित है।

अर्थ-धर्म-काम मोक्ष की प्राप्ति के जितने साधन हैं उनका ज्ञान मौलिक सिद्धान्त में आवश्यक है। यम-नियम-प्राणायाम-प्रत्याहार-समाधि इत्यादि।

औषधि ज्ञान—

इसमें—1—रसायन

2—वाजीकरण

3—व्याधि विध्वंसी

औषधियों का समावेश है।

औषधि ज्ञान—1—वानस्पतिक औषधि 2—प्राणिज औषधि 3—पार्थिव औषधि इससे-रस, धातु-उपधातु-रत्नमणि आदि का ग्रहण होता है।

रसायन औषधि—भूमि-पर्वत। अधित्यका-उपत्यका-संभव-औषधि। आनूप-सामुद्र नद-नदी पुष्करिणी-सरादि।संभव।

सामान्य-साधारण देशज औषधि

धन्वदेश-मरुस्थल में उत्पन्न औषधि

तल-देशीय-सागर व उसके आस-पास की भूमि के द्रव्य।

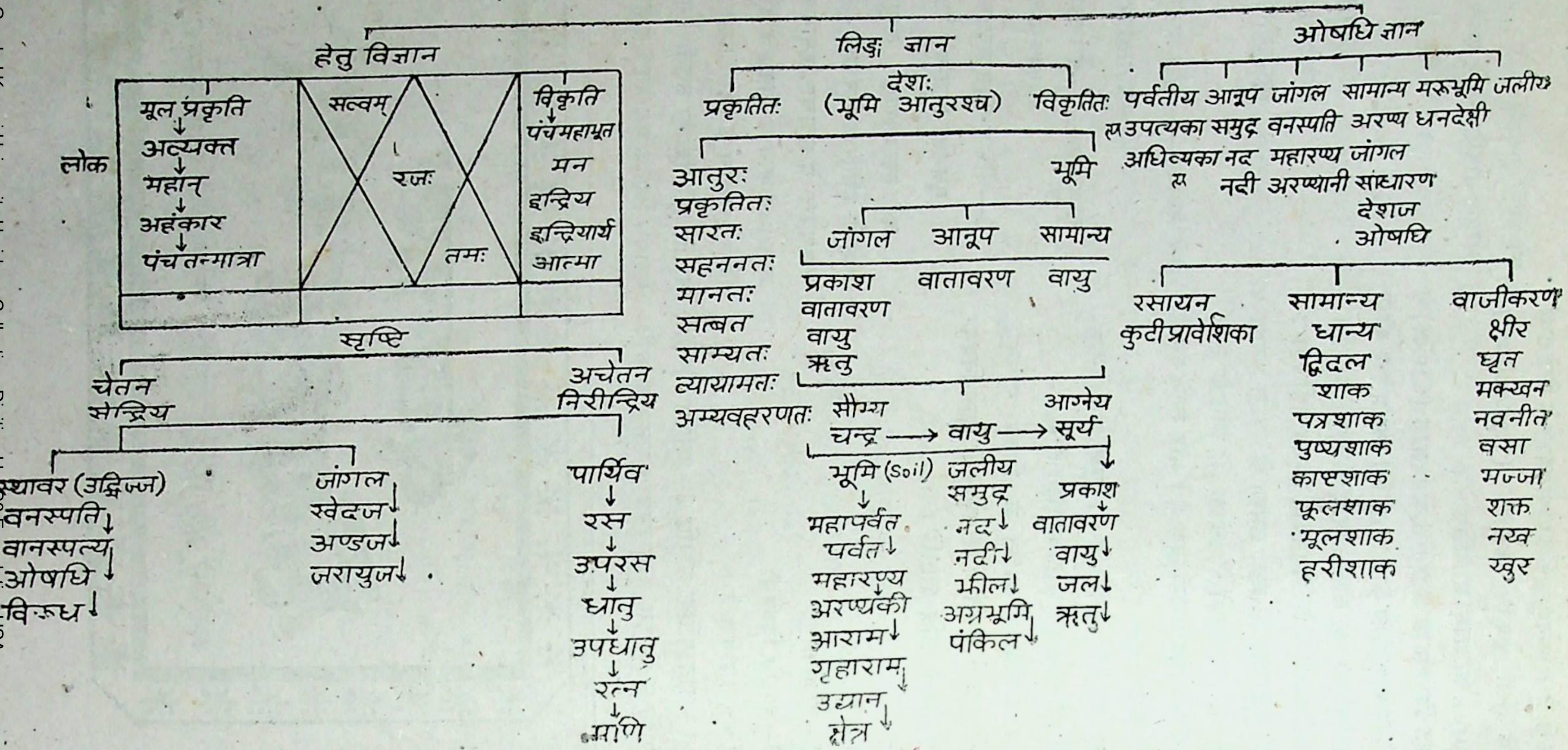
इनके रसायन—1—कुटी प्रावेशिक

2—वातातपिक

वाजीकरण—1—धान्यद्विदल, शाक, पुष्प, फल-मूल त्वक-क्षीर-कंटक आदि।

2—क्षीर-घृत-वसामज्जा-मांस-रक्त-नख-शृंग, खुर-मूत्र-विट-पित्त-चर्म-रेत आदि।

अतः स्वस्थपरायण आयुर्वेद के ज्ञानार्थ इन औषधि ज्ञान के अतिरिक्त दिनचर्या - रात्रि - चर्या, ऋतुचर्या का, स्वस्थवृत्त व सदाचार रसायन तक स्वस्थ परायण हेतु ज्ञान-लिंग ज्ञान व औषध ज्ञान का समावेश होता है। विना इस ज्ञान के स्वस्थ परायण त्रिसूत्र की सीमा की परिधि पूरी नहीं हो सकती। यही विवरण त्रिसूत्र स्वस्थ परायण विज्ञान त्रय का समाहार हो सकता है।


त्रिसूत्र आयुर्वेद
स्वस्थ परायण
हेतु विज्ञान
लिङ्ग ज्ञान
ओषधि ज्ञान
लोक
मूल प्रकृति
अव्यक्त
महान्
अहंकार
पंचतन्मात्रा
सत्वम्
रजः
तमः
विकृति
पंचमहाभूत
मन
इन्द्रिय
इन्द्रियार्थ
आत्मा
सृष्टि
चेतन
सेन्द्रिय
अचेतन
निरीन्द्रिय
स्थावर (उद्भिज्ज)
वनस्पति
वानस्पत्य
ओषधि
विरुध
जांगल
स्वेदज
अण्डज
जरायुज
पार्थिव
रस
उपरस
धातु
उपधातु
रत्न
मणि
देशः
प्रकृतितः
(भूमि आतुरश्च)
विकृतितः
आतुरः
प्रकृतितः
सारतः
सहननतः
मानतः
सत्वत
साम्यतः
व्यायामतः
अभ्यवहरणतः
भूमि
जांगल
आनूप
सामान्य
प्रकाश
वातावरण
वायु
वातावरण
वायु
ऋतु
सौम्य
आग्नेय
चन्द्र → वायु → सूर्य
भूमि (Soil)
महापर्वत
पर्वत
महारण्य
अरण्यकी
आराम
गृहाराम
उद्यान
क्षेत्र
जलीय
समुद्र
नद
नदी
झील
अग्रभूमि
पंकिल
प्रकाश
वातावरण
वायु
जल
ऋतु
पर्वतीय आनूप जांगल सामान्य मरूभूमि जलीय
उपत्यका समुद्र वनस्पति अरण्य धनदेशी
अधित्यका नद महारण्य जांगल
नदी अरण्यानी साधारण
देशज
ओषधि
रसायन
कुटीप्रावेशिका
सामान्य
धान्य
द्विदल
शाक
पत्रशाक
पुष्पशाक
काष्ठशाक
फूलशाक
मूलशाक
हरीशाक
वाजीकरण
क्षीर
घृत
मक्खन
नवनीत
वसा
मज्जा
शक्र
नख
खुर

आयुर्वेद के मौलिक एवं आधारभूत सिद्धान्त

डा० रविदत्त त्रिपाठी,
आयुर्वेदाचार्य, बी. ए., एम. एम. एस., डी. एवाई. एम.
लेक्चरर, मौलिक सिद्धान्त एवं संहिता विभाग,
राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय, लखनऊ

भारतीय विद्वानों का सर्वसम्मत विचार यह है कि आयुर्वेद की जो कुछ विशेषताएं हैं वे उसके मौलिक एवं आधारभूत सिद्धान्तों पर ही आधारित हैं। वही आयुर्वेद की मूलभित्ति या रीढ़ कही जाती है। इसका स्पष्ट कारण यह है कि इसके सिद्धान्त सर्वथा अक्षुण्ण हैं। सृष्टि के आदि में इसके जो सिद्धांत थे वे ही आज भी हैं और वे ही सृष्टि-पर्यन्त रहेंगे। वे अपरिवर्तनीय हैं। जिस विज्ञान के सिद्धांत समय-समय पर परिवर्तित होते रहते हैं, वह विज्ञान शाश्वत एवं सफल नहीं होता है। आयुर्वेद ने अपने अपरिवर्तनीय सिद्धांतों के आधार पर ही अपने को नित्य एवं सत्य विज्ञान सिद्ध किया है। वे सिद्धांत निम्नलिखित हैं-- (१) पंचमहाभूत (२) त्रिगुण (३) त्रिदोष (४) सप्तधातु एवं ओज (५) द्रव्यादि षट्पदार्थ (६) द्रव्यगत रसादि पंच पदार्थ (७) आत्मा-परमात्मा (८) चरकानुमत चतुर्विंशति एवं सुश्रुतानुमत पंचविंशति तत्व (९) पुनर्जन्म एवं मोक्ष।

१- पंचमहाभूत:—पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पंचमहाभूत हैं। इन्हीं से चेतनाधिष्ठानभूत मानव शरीर एवम् विश्व की समग्र वस्तुएं बनी हुई हैं। अतः समस्त पदार्थ पांचभौतिक है और जो भीतर है वह बाहर भी है--

"यावन्तो हि लोके भाव विशेषास्तावन्त: पुरुषे, यावन्त: पुरुषे तावन्तो लोके।" (च०शा० ५.३)

अर्थात् संसार में जितने भाव बिशेष हैं उतने ही पुरुष में और जितने ही पुरुष में, उतने ही लोक में। इस प्रकार विश्व को अपने में और अपने को विश्व में समान रूप से देखा जा सकता है। यही वास्तविकता है। आचार्य के इस कथन का यह अभिप्राय है कि विश्व का व्यष्टि स्वरूप पुरुष का शरीर है। इस बात को वेदान्त-दर्शन ने भी स्वीकार किया है।

"वनस्य व्यष्ट्यभिप्रायेण वृक्षा इत्यनेकत्व व्यपदेशो वा जलाशय व्यष्ट्यभिप्रापेण जलानिति।"

(वेदान्तसार)

पंचमहाभूत एवं मानवशरीर

पंचमहाभूत	त्रिगुण	मानव सरचना
आकाश + वायु + तेजस	सत्वगुण	मानस, ज्ञानेन्द्रिय
आकाश + वायु + तेजस + पृथ्वी + अप	रजोगुण	कर्मेन्द्रिय प्राण
आकाश + वायु + तेज + अप + पृथ्वी	तमोगुण	स्थूलदेह
आकाश	रजोगुण	जिह्वा
वायु	रजोगुण	हस्त
तेजस	रजोगुण	पाद
अप	रजोगुण	गुदा
पृथ्वी	रजोगुण	जननेन्द्रिय

२—त्रिगुण:—सत्व, रज और तम ये तीन प्रकृति-जनित गुण हैं जो इस शरीर से सम्बद्ध हैं। इनमें सत्व निर्मल, प्रकाशक, रोग-रहित, सुख-स्वरूप और ज्ञान स्वरूप है। रज तृष्णादि संग समुद्भूत रोगात्मक है। मनुष्य को उसके कर्म से बांधता है। तम अज्ञानजनित मोहात्मक एवं प्रमाद, आलस्य, निद्रा आदि अनेकानेक विकारों से मनुष्य को बाँधता है। आयुर्वेदानुसार सत्व गुण मोक्ष-कारक, तमोगुण तथा रजोगुण पुनर्जन्मकारक तथा मानसिक रोगोत्पादक है। मानसिक दोष रज और तम हैं।

"रजस्तमोभ्याम् युक्तस्य संयोगोऽयमनन्तवान्। ताभ्यां निराकृताभ्यां तु सत्व बुद्धया निवर्तते॥"

(च०शा० १-२६)

चतुर्विशंति तत्व संयोगात्मक यह अनन्त शरीर रजोगुण से ही प्रादुर्भूत है। रज और तम ही निवृत्ति तथा सत्वगुण की वृद्धि तथा सत्वबुद्धि के उदय से ही यह संयोग समाप्त हो जाता है और मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

त्रिगुण

सत्व	रज	तम
लाघव	चलत्व	गुरूत्व
प्रकाश	उपष्टम्भकत्व	आवरण
सुख	दु:ख	मोह

३—त्रिदोष:—वात, पित्त, कफ ये तीनों दोष हैं। समग्र शारीरिक रोग इन्हीं के दूषित होने से होते हैं। त्रिदोष की उत्पत्ति का मूल पांचभौतिक संगठन ही है। इसमें भी सक्रिय रूप से भाग लेने वाले तीन ही भूत प्रधान हैं। विभाजनादि रूप गति वायु के, पाकादि रूप संताप, अग्नि तथा संश्लेषणादि रूप आलिंगन जल के कार्य हैं। सुश्रुत संहिता में सोम, सूर्य और वात के प्रतिनिधि शरीरस्थ कफ, पित्त और वात कहे गये हैं—

"विसर्गादान विक्षेपै: सोम सूर्य्यानिला यथा।
धारयन्ति जगद्देहं कफपित्तानिलास्तथा॥"

त्रिगुण-त्रिदोष-पंचमहाभूत का सम्बन्ध

सत्व बहुलम् आकाशम्	रजो बहुलो वायु:	सत्वरजो बहुलो अग्नि:	सत्वतमो-बहुला आप:	तमो बहुला पृथिवी
वायुराकाशाभ्यांवायु:		आग्नेयंपित्तम्	अम्भपृथिवीभ्यां श्लेष्मा	

४—द्रव्यगत रसादि पंच पदार्थ:—

"द्रव्ये रसो गुणो वीर्य विपाका शक्तिरेव च।
पदार्था: पंचतिष्ठन्ति कुर्वन्ति स्वं स्वं कर्म च॥

(भाव प्रकाश)

षट् पदार्थों में जो द्रव्य एक पदार्थ है उसमें षट्रस, गुण, वीर्य, विपाक और शक्ति जिसे प्रभाव कहते हैं द्रव्य में होते हैं, जिन पर चिकित्सा आश्रित है। इनमें प्रभाव अचिन्त्य है जिसकी कोई परिभाषा नहीं है।

५—सप्तधातु एवं ओज

"रसाद्रक्त ततो मांसं मांसान्मेद प्रजायते ।
मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्ज्ञः शुक्रं तु जायते ।।"
(सु०सू० १४)

अर्थात् अन्नरस से प्रथम रस धातु का निर्माण होता है पश्चात् रक्त की, तत्पश्चात् मांस की और इसी क्रम में अन्य धातुओं का निर्माण होता है। आयुर्वेद का यह सिद्धान्त है कि वातादि दोष दूषित होकर इन्हीं सप्त धातुओं को प्रथम दूषित करते हैं तभी रोगोत्पत्ति होती है। इसी कारण इन सप्त धातुओं की दूसरी संज्ञा दूष्य है। इसके अतिरिक्त ओज को आयुर्वेद ने सबसे सारभूत धातु मानकर "तत् नाशात् न प्रणश्यति" यह कहकर सर्वाधिक महत्व प्रदान किया गया है।

६—**षट् पदार्थ** चरक संहिता के सिद्धि स्थान के बारहवें अध्याय में कुल छत्तीस एवं सुश्रुत संहिता के उत्तरतंत्र के पैंसठवें अध्याय में कुल बत्तीस तंत्र युक्तियां शास्त्र ज्ञान को लिखी गयी हैं। उन तंत्र युक्तियों में 'पदार्थ' नाम से भी एक तंत्र युक्ति दोनों महर्षियों ने कही है जिससे 'पदार्थ' भी एक तंत्रयुक्ति है। तंत्र शब्द का अर्थ शास्त्र है। युक्ति शब्द का अर्थ योजना है। इस प्रकार तंत्र युक्ति का अर्थ-शास्त्र योजना है जिसके द्वारा शास्त्र के अव्यक्त, लेश-मात्र कथित, संदिग्ध तथा गूढ़ एवं दुर्विज्ञेय विषयों का सम्यकतया परिज्ञान होता है और वही ज्ञान हमें आत्यन्तिक सुख तक पहुंचाता है। पदार्थों की संख्या ६ मानी गयी है। ये पदार्थ हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय, कुछ लोग अभाव को भी सातवाँ पदार्थ मानते हैं क्योंकि अभावात्मक अध्ययन भी वस्तु के स्वभाव को समझने का एक प्रकार है। संतुलित आहार विटामिन के अभाव में अभावात्मक रोग होते हैं।

७—**आत्मा-परमात्मा**—आत्मा शब्द जीवात्मा और परमात्मा उभयार्थ में व्यवहृत होता है। एक सर्वभाव रहित परमपुरुष परब्रह्म परमात्मा है दूसरा सर्वभाव सत्वादि कारण युक्त कर्मानुसार जन्म लेकर फल भोगने वाला प्रति शरीर भिन्न-भिन्न जीवात्मा है।

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्य पिप्पलं स्वाद्वत्य नश्नन्नन्यो अभिभाकशीति
(मांडुकोपनिषद्)

सहवासी सखाभाव वाले दो पक्षी एक वृक्ष के आश्रय में रहते हैं। उसमें एक तो उस वृक्ष के कर्मफलों का स्वाद लेता है और दूसरा अनशन करता हुआ केवल देखता ही है। आत्मा-परमात्मा की इस शरीर में यही स्थिति है।

आत्मा को जानने के दो ही उपाय हैं

१—स्वानुभव २—आप्त प्रभाषा

८—**तत्व**—दार्शनिकों के विभिन्न मान्यताओं की होते हुए भी अन्य दर्शनों की अपेक्षा आयुर्वेद एवं सांख्य दर्शन में तत्व विवेचना अधिक विस्तृत एवं स्पष्ट है। सांख्य शास्त्र तत्व ज्ञान को मुक्ति का हेतु बतलाता है।

**ततत्वात् संतत्वाच्च तत्वं तत्व विदो विदुः ।
ततत्वं सर्वतो भावः सतत्वं च कालतः ।।"**
(देवी भगवत)

जो सभी स्थानों पर सभी कालों में किसी न किसी रूप में उपस्थित रहता है उसको ततत्व (विस्तीर्णत्व) और संतत्व (सर्वकाल विद्यमानत्व) के कारण तत्व कहते हैं। अव्यक्त, महान-अहंकार, पंचतन्मात्रा, पंचमहाभूत, पंचज्ञानेन्द्रिय उभयात्मक मन, पंचकर्मेन्द्रिय इस प्रकार ये चतुर्विशित तत्व हैं। अव्यक्त जो प्रकृति है उसी में पुरुष का समावेश करके चरक ने चतुर्विंशति तत्व पुरुष माना है। सुश्रुत ने इन २४ (चौबीस) तत्वों को अचेतन तथा चैतन्य स्वरुप पुरूष को पचीसवाँ तत्व माना है। सांख्य दर्शन ने २५ तत्व माने हैं।

९—**पुनर्जन्म तथा मोक्ष**—आयुर्वेद पुनर्जन्म तथा मोक्ष के सिद्धांत को मानता है और इसी अनुसार इसकी सारी क्रियाएं समस्त उपदेश एव समस्त क्रम वर्णित हैं।

**"येषा द्वन्दे पराशक्तिरहङ्कार पराश्च ये ।
उदय प्रलपौ तेषां न तेषां ये प्वतोऽन्यथा ।।
"मोक्षो रजस्तमोऽभावात् बलवत्कर्म ।
वियोगः सर्व सयोगेरपुनर्भव उत्पते ।।"**
(च० शा० १ - १४२)

जिनकी द्वन्द्व रजस्तमोरूप मिथुन में आसक्ति है जो अहंकार-परक है, उन्हीं का प्रलय अर्थात् जन्म अथवा लयसर्ग होता है। जो इससे भिन्न हैं वे जन्म-मरण से मुक्त हैं। रज और तम के अभाव अथवा बलवत्कर्म के संक्षय तथा सर्व संयोग अर्थात् शरीर, बुद्धि, अहंकारादि के

असंयोग से मोक्ष होता है।

इसके अतिरिक्त आयुर्वेद का प्रयोजन अथवा मूलभूत सिद्धान्त स्वस्थ के स्वास्थ्य का संरक्षण एवं रोगी के रोग का हेतु लक्षण और औषध जानकर रोग का प्रशमन भी है। महर्षियों ने संसार में आयुर्वेद का प्रकाश इसी त्रिसूत्र को ध्यान में रखते हुए किया है।

"हेतु लिङ्गौषध ज्ञानं स्वस्थातुर परायणम्।
त्रिसूत्रंशाश्वतं पुण्यं बुबुधे यं पितामहः ॥" (च०सू०)

इसके अतिरिक्त महर्षि चरक ने स्वस्थ एवं आतुर के हित के लिए कुछ और भी मूलभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, जिनका स्वास्थ्य-रक्षा एवं चिकित्सा में अनुसरण करना परमावश्यक है। वे निम्नांकित हैं।

"अत्र खलु त्रयः उपस्तम्भ, त्रिविधं बलं, त्रीण्यायतनानि, त्रयोरोगाः, त्रयोरोगमार्गाः त्रिविधाभिषजः, त्रिविध औषधामिति।" (चरक)

१-उपस्तम्भ— आहार, निद्रा, ब्रह्मचर्य

२-बल— सहज, कालज, युक्तिज

३-आयतन— असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, कर्म (प्रज्ञापराध), काल (परिणाम)

४-रोग— निज, आगन्तुज, मानस

५-रोगमार्ग— शाखा (बाह्यरोग मार्ग), मर्मास्थिसंधयः (मध्यम रोग मार्ग), कोष्ठ (आभ्यान्तर रोगमार्ग)

६-भिषज— छद्मचर, सिद्ध साधित, जीविताभिसर

७-औषध— दैवव्यपाश्रय, युक्ति व्यपाश्रय, सत्वावजय

अन्तः परिमार्जन, वहिः परिमार्जन, शस्त्र प्रणिधान

अन्त में मैं अपनी संस्था के प्रधानाचार्य एवं अधीक्षक वैद्य वीरेन्द्रकुमार शर्मा तथा मौलिक सिद्धान्त एवं संहिता विभाग के विभागाध्यक्ष वैद्य श्री श्रीनाराय[ण] विद्यार्थी के सतत् उद्बोधन के लिये हार्दिक आभार प्रकट करता हूं। इसके साथ ही बैद्यनाथ प्रतिष्ठान के प्रति भी आभार प्रकट करता हूं क्योंकि वे 'सचित्र आयुर्वेद' के माध्यम से इस भौतिकवाद के युग में 'आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्तों' के प्रसार एवं प्रचार हेतु इस विषय पर विशेषांक प्रकाशित कर रहे हैं।

सन्दर्भ

१—चरकः चरक संहिता चक्रपाणि व्याख्या सहित, निर्णय सागर प्रेस-१९४१।

२—सुश्रुतः सुश्रुत संहिता, निबंध संग्रह व्याख्या सहित, सी० के० सेन० एवं कम्पनी लिमिटेड, कलकत्ता।

३—निरंजनदेव आयुर्वेदालंकारः- प्राकृतदोष विज्ञान, आयुर्वेदिक एवं तिब्बी अकादमी, उत्तर प्रदेश, लखनऊ-१९७१।

४—डा० शिवसागर शुक्लः—आयुर्वेदीय दर्शन व्याख्या एवं व्यवहार, कल्पकुटीर प्रकाशन लखनऊ १९७६।

५— वाग्भटःअष्टांगहृदय संस्कृत सीरीज, वाराणसी १९३९।

६—श्रीमदन्नम्भटा-तर्कसँग्रह-चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।

७—आचार्य ईश्वरकृष्ण-सांख्यकारिका-श्री कृष्णमणि त्रिपाठी व्याख्या सहित, भारतीय साहित्य विद्यालय सं० २०१३।

८—सदानन्द-वेदान्तसार श्री रामशरण त्रिपाठी शास्त्री व्याख्या सहित, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी १९६२।

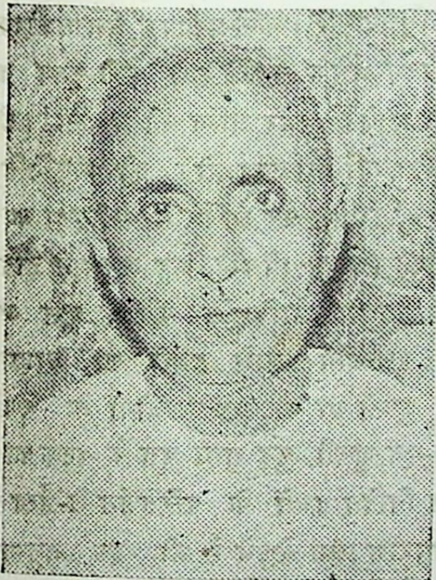
९—रामरक्षपाठक-पदार्थ विज्ञान-बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि० पटना १९७०।

१०—रणजित राय देसाई-आयुर्वेदीय क्रियाशारीरः बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राईवेट लि० पटना सम्वत् २०३०।

सचित्र आयुर्वेद

शीत और उष्ण गुण-वीर्य

SACHITRA AYURVED



वैद्य रणजित राय देसाई

लघुकाय इस लेख में कोई नवीन वक्तव्य प्रस्तुत करना अभिप्रेत नहीं है, इसका प्रयोजन केवल शीर्षकोक्त विषय एवं उसके आसपास विद्यमान जाल को मुक्त कर सिद्धांत को विस्पष्ट रूप देना है।

गुण-वीर्यों की कर्मानुमेयता—

अर्वाचीन भौतिक शास्त्र (फिजिक्स) के प्रभाववश आयुर्वेद-वर्णित गुण-वीर्यों के निरूपण के प्रचलित स्वरूप में यह वस्तु उतनी स्पष्ट हुई नहीं देखी जाती कि, आयुर्वेदोक्त गुण और वीर्य बहुधा द्रव्यों के अपने कर्मों से अनुमेय हैं, न कि उनके भौतिक गुण (फिजिकल प्रॉपर्टीज)। उक्त वाक्य में 'बहुधा' शब्द का प्रयोग सप्रयोजन किया है। अनेक प्रकरणों में गुण-वीर्य वाचक संज्ञाओं से द्रव्यों के भौतिक गुणों का भी ग्रहण आयुर्वेद में होता ही है। उदाहरणतया, वात-दूषित जिह्वा की खरता, शाक (सागौन) तथा गावजबां के पत्रों का खरत्व, वात प्रकृति पुरुषों में केशों की रूक्षता, मूत्र तथा स्वेद की द्रवता, बाह्य अग्नि एवं शरीर की प्राकृत-वैकृत उष्णता, मूत्र में विकृति-जन्य अधिक उष्णत्व, सौराष्ट्री (फिटकरी) आदि आहारौषध द्रव्यों की रूक्षता' स्नेहों का स्निग्धत्व, पानी में भिगोए स्निग्धजीरक (ईसबगोल), तुख्मेरिहां आदि की पिच्छिलता, लोह की गुरुता, वजन इत्यादि में प्रयुक्त गुणवाचक पद तत्-तत् द्रव्य के भौतिक गुण के ही द्योतक हैं, परन्तु गुणों और वीर्यों के प्रकरण में शुण्ठी की

उष्णता, मुक्ताफल की शीतता आदि जिन संज्ञाओं का व्यवहार किया गया है वे द्रव्यों के अपने-अपने कर्मों से अनुमेय (कल्प्य) गुण-वीर्य की सूचक होती है। शुण्ठी स्पर्शतः उष्ण नहीं होती। कदाचित् फ्रीज में रखी हो तो शीत भी होती है। परन्तु, उसका लेपादि के रूप में बाह्य उपयोग किया जाए किंवा मुखमार्गतः सेवन के रूप में आभ्यन्तर व्यवहार किया जाए तो अग्निदीप्ति, स्वेद, दाह, स्फूर्ति आदि परिणाम होते है। इससे इस अनुमान को अवकाश प्राप्त होता है कि, शुण्ठी में उष्ण वीर्य है। इसी प्रकार मुक्ताफल-प्रभृति शीत कहे जाने वाले द्रव्य स्पर्शतः शीत होने से शीत नहीं माने जाते, प्रत्युत, उनका बाह्याभ्यन्तर प्रयोग करने से शरीर में उष्णता और दाह की शांति आदि कर्म[1] देखे जाते हैं। अतः, ऐसे द्रव्यों में शीत वीर्य (अथवा वे आहार-द्रव्य हों तो शीत गुण) होने की कल्पना की जाती है।

शारीर दोषों के जो गुण कहे गए हैं, उनका परिज्ञान दोष समावस्था में हो तो वैसा नहीं होता। उनकी वृद्धि होने पर ही उनके द्वारा उत्पादित प्रत्यक्षीभूत कर्मों को दृष्टि में रखकर उनमें तत्-तत् गुण होने की कल्पना कर अनुमान किया जाता है। स्मरण रहे, दोष आदि समावस्था में हों उस काल में भी उनमें शास्त्रोक्त गुण-कर्म तो विद्यमान होते ही हैं, उनकी (दोषादिक की) वृद्धि होने पर वही गुण-कर्म सविशेष लक्षित होते हैं। इसके विपरीत दोषादिक का क्षय होने पर यही गुण-कर्म क्षीण हो जाते हैं, अथवा क्षीणता को प्राप्त दोष समावस्था में रह कर शेष दोषों को समावस्था में रखने का जो प्राकृत कर्म करता था उसका भी क्षय हो जाने से विरोधी शेष दोषों की वृद्धि हो जाती है। यह विषय कुछ ही आगे स्वतः स्पष्ट होगा।

दोषों की वृद्धि होने पर वृद्धि को प्राप्त उनके गुण-कर्मों की वृद्धि को देखकर उनके (दोषों के) प्राकृत गुण-कर्मों का परिज्ञान होता है, यह ऊपर कहा है। इसे उदाहरण से विशद करें। कफ-प्रकोपक स्निग्धजीरक (ईसबगोल) का सेवन अमुक प्रकृतिवाले स्त्री-पुरुष करें तो उनमें कफ का प्रकोप होकर अग्नि की मन्दता हुई देखने पर कफ के शीत एवं पिच्छिल होने की अनुमिति होती है। वायु की वृद्धि होने पर शरीर में शीतता का उदय हुआ देखकर वह (वायु) शीत है, यह अनुमान होता है। उधर, वात-प्रकोपवश आविर्भूत शैत्य, शूल आदि में स्वेदन, उष्ण गुण-वीर्य वाले द्रव्यों का बाह्याभ्यन्तर सेवन, (यथा, शुण्ठी या कट्फल या दोनों के चूर्णों का उद्वर्त्तन-घर्षण-एवं शुण्ठी, गुड़ तथा घृत के वटक का सेवन) और शीतत्वेन विदित द्रव्यों के परिवर्जन से-शैत्य प्रभृति लक्षणों का उपशम हुआ देखने से भी इस अनुमान को आधार मिलता है कि वायु शीत है।

शारीर दोष समावस्था में हों तो, जैसा कि ऊपर कहा, उनके शास्त्रोक्त गुण स्वयं वैसे प्रत्यक्ष नहीं होते उनका अनुमान अवश्य किया जा सकता है। स्थिति को समझने के लिए यह जान लेना चाहिए कि दोषों के गुण दो प्रकार से कर्म करते हैं : प्रथम तो अपने समस्त गुणों द्वारा तत्-तत् प्राकृत कर्म करते हैं, यथा पित्त

---

1. **'कर्म' तथा 'कार्य' शब्दों का अर्थ-भेद**—आहारौषध द्रव्यों की क्रियाओं (एक्शन्स) तथा शारीर-मानस दोषों, धातुओं आदि की क्रियाओं (फंक्शन्स) के लिए प्रायः 'कार्य' शब्द का व्यवहार किया जाता है। परन्तु, प्राचीनों ने सर्वत्र बाह्य एवं शरीर-गत द्रव्यों की क्रियाओं के लिए 'कर्म' शब्द का ही प्रयोग किया है। उसी का उपयोग करना उचित होगा। 'कार्य' शब्द विशिष्ट अर्थ में तन्त्र में परिभाषित है। तथाहि: **कार्यं तु तत् यस्य अभिनिर्वृत्तिम् अभिसंधाय कर्त्ता प्रवर्त्तते** (च० वि० ८।७२)। तात्पर्य, कर्त्ता जिसे करने का संकल्प करके प्रयत्न करता है—प्रवृत्त होता है, उसे 'कार्य' कहा जाता है। उदाहरणतया, इसी अध्याय में आगे चिकित्सा-शास्त्र का कार्य बताते संहिताकार ने कहा है—**कार्यं धातु साम्यम्** (च० वि० ८।८९)। लोक-प्रसिद्ध उदाहरण देना हो तो धट, पट आदि 'कार्य' हैं। 'कार्यकारण भाव संबन्ध' आदि शब्दों में 'कार्य' शब्द इसी अर्थ में आयुर्वेदीय अथ च आयुर्वेदेतर प्राचीन एवं अधुनातन भाषा-साहित्य में प्रसिद्ध है। हमारे वक्तव्य को समझने के लिए ६८ से ७० तक के पैराग्राफ भी वाचकों को देखने चाहिए। मौलिक सिद्धान्त से सम्बद्ध होने से ही यह वक्तव्य प्रस्तुत करना उचित माना हैं।

पचन क्रिया द्वारा शरीरावयवों की अपनी पुष्टि के लिए उचित सामग्री उपयुक्त रूपान्तर देकर प्रस्तुत करने आदि के रूप में; कफ उनके पोषण, स्नेहन आदि के लिए गुरु, स्निग्ध इत्यादि द्रव्य रस धातु के माध्यम से अर्पित करने के रूप में एवं वायु ज्ञान कर्मात्मक क्रियाओं के लिए अवयवों को प्रेरणा आदि के रूप में अपने-अपने प्राकृत कर्मों का सम्पादन करते रहते हैं। प्रत्येक दोष का अन्य प्राकृत कर्म यह होता है कि, वह अपने-अपने इतर-दोष विपरीत गुणों द्वारा अन्य दो दोषों को समावस्था में रखता है— उनकी वृद्धि नहीं होने देता, तद् यथा, कफ अपने शीत, स्निग्ध प्रभृति गुणों के योग से पित्त के उष्ण, तीक्ष्ण आदि गुणों की वृद्धि न होने देता हुआ उसकी (पित्तकी) एवं अपने गुरु, स्निग्ध आदि गुणों से लघु, रुक्ष आदि गुण-स्थान वायु की समता को बनाए रखता है, तद्वत्, वायु अपने लघु, रूक्ष आदि गुणों से कफ को तथा शीत, रूक्ष आदि गुणों से उष्ण, तीक्ष्ण, ईषत् स्निग्ध आदि गुणवाले पित्त को एवं पित्त अपने तीक्ष्ण, उष्ण आदि गुणों से मृदु, मन्द, शीत आदि गुण वाले कफ को, अथच इन तथा अन्य गुणों के कारण शीतगुणवान् वायु को समावस्था में रखता हुआ शरीर का धारण करता है तथा उसे स्वस्थ स्थिति में रखता हैं।

आचार्यों द्वारा प्रतिपादित शारीर द्रव्यों के एवं शरीर बाह्य आहारौषध द्रव्यों के गुणों और वीर्यों के विषय में अवतक जो विचार व्यक्त किए गए हैं उनको और अधिक बढ़ाकर एक अन्य मुद्दे की चर्चा की जा सकती है। प्राच्य मत को पाश्चात्य मत से समझने की दिशा में सुगमता हो, इस निमित्त प्रायः गुण-वीर्य वाचक संज्ञाओं का अंग्रेजी पर्याय प्रस्तुत करने की परिपाटी है। लेखक की नम्र संमति में ये अंग्रेजी शब्द मूल आयुर्वेदीय संज्ञाओं के व्यापक और गम्भीर अर्थ के वाहक नहीं, अतः आयुर्वेदीय विषय का अंग्रेजी में भाषान्तर करना हो तो भी मूल संज्ञाओं को यथास्थित ही रखना उचित है। शीत को शीत ही कहना चाहिए, कोल्ड नहीं, उष्ण को उष्ण ही, हाट नहीं, गुरु को गुरू ही, हैवी नहीं, एवं लघु को लघु ही लाइट नहीं...........इत्यादि, गुरु और लघु शब्दों का शास्त्राभिहित व्यापक अर्थ यहां प्रस्तुत किया जाए तो हमारा अभिधेय अधिक विशद हो सकेगा। आयुर्वेद में गुरु शब्द से केवल भारवात् (वजनदार) वस्तु का ग्रहण नहीं होता। किन्तु, जिन द्रव्यों को गुरू कहा जाता है उनमें गुरुत्व अनेक प्रकार से लक्षित होता हैं, जिसके आधार पर उन्हें गुरु कहना प्राप्त होता है। इसी प्रकार, लघु द्रव्यों को उनके तुला आदि द्वारा ज्ञेय (मेय) भौतिक हलके-पन के कारण लघु नहीं कहा जाता, प्रत्युत उनमें लघुता अनेकविध होती है, जो इन्हे लघु कहने में निमित्त होती है। तथा हि: गुरु द्रव्यों को गुरु और मन्द इस कारण कहा जाता है कि वे धान्य हों और उन्हें भूमि में बोया जाए तो उनके अंकुरित होने में अधिक काल लगता है, अंकुरित होने पर उनके धान्य के परिपक्व होने में भी समय अधिक लगता है, उन्हें राँधा जाय तो उनके पाक में भी काल अधिक अपेक्षित होता है, उनका आहरण (भोजन) किया जाने पर जठराग्नि द्वारा उनका पाक भी कठिनाई से होता है और अधिक समय लेता है। यही स्थिति उनके धात्वग्नियों द्वारा पचन में भी हुआ करती है, उनके पचने पर वे शरीर में गुरुता (भार की वृद्धि) तथा मन में भी वृद्धि को प्राप्त आम, मेद और कफ के सदृश गुरुता (अवसाद, शिथिलता, सुस्ती) उत्पन्न करते हैं। इनके ये सभी कर्म लघु कहे जानेवाले द्रव्यों के विपरीत होते हैं, अर्थात्, लघु द्रव्यों के अंकुरित होने, परिपक्व होने, रसोई में पकने तथा पचने में अल्प काल की अपेक्षा होती है, एवं पचने पर वे तन और मन में लघुता उत्पन्न करते हैं। शास्त्र प्रतिपादित ये सर्व अर्थ उनके सूचित अंग्रेजी पर्यायों 'हैवी' और 'लाइट' से प्रतिभासित नहीं होते— हो ही नहीं सकते, ततः, मूल आयुर्वेदिक शब्दों को उनके अधिक अर्थ के वाहक होने से यथावत् रखते हुए ही व्यवहार में लाना श्रेयस्कर होगा।

गुण, वीर्य आदि संज्ञाओं के सामान्य एवं विशिष्ट अर्थ—आयुर्वेदीय तथा आयुर्वेदेतर उभयविध वाङ्मय में कई शब्द सामान्यर्थ वाचक एवं बिशिष्टार्थ-वाचक दोनों होते हैं। सामान्य अर्थ से यह अभिप्रेत है कि, ऐसे शब्द किसी एक वर्ग या समूह के अङ्गभूत एक पदार्थ के वाचक तो होते ही हैं, साथ ही उस समुदाय का भी बोध (ग्रहण) उनसे होता है। आयुर्वेद का 'मधुमेह' शब्द इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। इस शब्द से

इसी नाम से प्रसिद्ध रोग-विशेष का तो ग्रहण होता ही है, साथ ही इससे प्रमेह-वर्ग भी सामान्य तया गृहीत होता है। द्रव्यों की औषधीय शक्तियों के भेदों के वाचक गुण, वीर्य और प्रभाव इन पदों से प्रथम तो द्रव्य की शक्ति-मात्र का भी ग्रहण होता है अर्थात् ये शब्द प्रत्येक रस, गुण, वीर्य, विपाक, प्रभाव और विशिष्ट प्रत्यारब्ध कर्म इन सबका बोध भी कराते हैं, साथ ही, गुण शब्द से गुरु-लघु आदि प्रसिद्ध गुणों का, वीर्य शब्द से उष्ण-तीक्ष्ण प्रभृति प्रसिद्ध वीर्यों का एवं प्रभाव इस संज्ञा ने 'अचिन्त्य शक्ति' नाम से प्रसिद्ध द्रव्य-शक्ति का भी ग्रहण हुआ करता है. द्रव्य गुण-विज्ञान शब्द में गुण शब्द से द्रव्य की समस्त शक्तियों और कर्मों का भी बोध होता है. यह साधारण-सी जानकारी आगे अमुक वस्तु को समझने में उपयोगी होगी।

गुणों की संख्या तथा नाम

यों तो गुणों की संख्या चालीस के आसपास होती है, रन्तु प्रस्तुत प्रकरण से जिनका सम्बन्ध है उन गुरु-लघु ादि प्रायः बीस गुणों का ही यहां विहङ्गवलोकन किया ाएगा। इन्हीं गुणों में कुछ कभी-कभी, विशेष तो वे अमुक औषध-द्रव्यों के गुण हों ऐसी स्थिति में, अपने प्राकृत कर्म अधिक उत्कृष्टता से करते हैं; तब इन्हें गुण न कहकर 'वीर्य' यह विशिष्ट अभिधान दिया है। संक्षेपतः निरूपित इस स्थापना का प्रकरणोपयुक्त कुछ विस्तार करें।

शब्द स्पर्शादि श्रोत्र-त्वक् आदि पांच ज्ञानेन्द्रियों के पांच विषय, गुरू-लघु आदि कोई बीस गुण (दस युग्म); बुद्धि, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और प्रयत्न ये आत्मा के गुण एवं पर-अपर आदि दस--इन सबको गुण कहा जाता है. आत्मा के गुणों में पवित्र बुद्धि शब्द से स्मृति, चेतन, धृति, अहंकार प्रभृति बुद्धि का भी ग्रहण टीकाकारों ने किया है. चरकोपस्कार टीका के कर्ता कविराज योगीन्द्र-नाथ सेन ने चिन्त्य, विचार्य आदि मन के अर्थों का भी युक्तिनिर्देशपुरःसर गुणों में अन्तर्भाव किया है। संग्रहकार ने सत्त्व-रज-तम की भी इस प्रकरण में गुणों में गणना की है, एवं इनमें विस्पष्ट विशिष्टता होने से इन्हें 'महागुण' यह पृथक् नाम दिया है।

गुरू-लघु आदि गुण बीस हैं। इनके प्रतिपादन में परस्पर विरुद्ध कर्म करनेवाले दो-दो गुणों का युग्म रूप में निर्देश संहिताकारों ने किया है. ये गुण सभी महाभूतों में समानतया अवस्थित होने से इन्हें 'सामान्य गुण' ही कहा जाता है पर अपर आदि दश गुणों को भी सामान्य गुण ही कहते हैं. परन्तु आयुर्वेद में उनका व्यवहार गुरु-लघु आदि की तुलना में न्यून होने से इनका गुणों की गणना प्रसंग में पृथक् और अन्त में उल्लेख किया गया है। सुश्रुत-जी ने गुणों की परिभाषा के प्रकरण तेईस (अथवा पचीस) गुणों का विवरण देकर भी उपसंहार में उनकी संख्या बीस ही लिखी है. अधिकोक्त तीन गुण व्यवायी, विकासी तथा आशुकारी ये हैं; डह्लन ने इस विरोध का ऊहापोहपूर्वक परिहार किया है. संग्रहकार ने जो स्पष्ट पदों में व्यवायी को सर गुणों का तथा विकाशी (पी) को तीक्ष्ण गुण का ही प्रकृष्ट (अधिक कर्मक्षम) रूप कहा है।

सुश्रुत ने वास्तव में तो तेईस नहीं, पच्चीस गुणों की व्याख्या दी है. इनमें उन्होंने सुगन्ध-दुर्गन्ध की परिभाषा दी है. टीकाकारों ने गौ-दुग्ध के गुणों के निर्देश में आए 'प्रसन्न' गुण का भी यहां स्मरण किया है.

बीस सामान्य गुण निम्न है; गुरू-लघु, मन्द-तीक्ष्ण, शीत-उष्ण, स्निग्ध-रुक्ष, श्लक्ष्ण-परुष, सान्द्र-द्रव, मृदु-कठिन, स्थिर चल, सूक्ष्म-स्थूल, विशद, पिच्छिल। आचार्यों ने इन गुणों का इन गुणों का निर्देश, जैसाकि ऊपर कह आए हैं, परस्पर विरुद्ध कर्म करने वाले गुणों के युग्मों के रूप में किया है। तथापि, जैसा कि अनेक बार कहा जा चुका है। चिकित्सा व्यवहार में परस्पर सहकारी गुणों को भी दृष्टि में रखा जाना उपयुक्त ठहरता है. स्थिर गुण सान्द्र (या आगे--जाकर शुष्क) गुण का सहचारी गुण है. पुरीष, मूत्र, शुक्र, आर्तव रक्त स्थवा रक्त पित्त किंवा क्षत से प्रवृत होते रक्त या अन्य द्रव धातु में सान्द्रत्व (घनत्व) अधिक हो जाय तो उनमें सापेक्ष स्थिरता आती है. परिणाम तया, मल का अवष्टम्भ आदि में विक्रियाएं उत्पन्न होती होती हैं। इस प्रकार सान्द्र गुण स्थित गुण का सहचारी गुण सिद्ध होता है. उधर, सर, द्रव, गुण का सहकारी है. इन्हीं पुरीष, मूत्र, शुक्र, आर्तव आदि में द्रवता अधिक हो तो सरत्व (सरणशीलता) भी अधिक होती है। परिणामतया, अति-सार, प्रमेह, स्वप्नदोष के रूप में अथवा समागम-काल में शुक्र की शीघ्र च्युति (प्रीमेच्योर इजेक्युलेशन, अर्ली डिस्चार्ज, शीघ्र पतन) और आर्तव की अधिक प्रवृत्ति

आदि होते हैं, अतिसार आदि हेतुओं से शरीर के अब्धातु के क्षय (उदकक्षय, डीहाइड्रेशन) के अङ्ग रूप में रस-रक्त में द्रवता अल्पत्व को प्राप्त हो जाए तो उसके सरत्व (वहनशीलता) का ह्रास होकर रस-रक्त के दबाव की अल्पता (हायपोटेन्शन, लो ब्लडप्रेशर), रस-रक्त का रस-रक्तवह स्रोतों में ही स्कन्दन एवं उसके परिणाम स्वरूप वृक्कों की कर्महीनता, उसके कारण रस-रक्त में मूत्र विष (यूरीमिया), हृद्रोग का आक्रमण, पक्षवध प्रभृति विकारों के रूप में स्थिर गुण दृश्यमान होता है।

तीक्ष्ण गुण के साथ सूक्ष्म गुण का सहचार हुआ करता है। तीक्ष्ण गुण (या वीर्य) के योग से जठराग्नि एव धात्वग्नियों द्वारा कमशः अन्नपान तथा अन्न रस का पचन यथावत् होने से वे सूक्ष्म रूप में आ जाते हैं; जिससे शरीर-परमाणु (कोशा, सेल्स)-सहित सभी स्रोतों में उनका सम्यक् प्रवेश होना संभव होता है। इसके विपरीत मन्द गुण के उद्रेकवश उल्लिखित अग्नियां मन्द हो तो अन्नपान अथच अन्नरस में यथोचित सूक्ष्मता न आने से—उनके स्थूल रह जाने से—स्रोतों द्वारा उनका ग्रहण समीचीन नहीं होता, एतावता, तीक्ष्ण और सूक्ष्म तथा मन्द और स्थूल परस्पर सहचरित गुण-वीर्य हैं, यह फलित होता है। इसी परिपाटी से अन्य भी गुण-वीर्यों का विचार किया जा सकता है।

इस सूक्ष्म गुण के विषय में अनेक बार प्रस्तुत एक और वक्तव्य भी दुहरा दें। 'सूक्ष्म' शब्द का व्यवहार आयुर्वेदेतर साहित्य के सदृश आधुनिक आयुर्वेदीय वाङ्मय में भी आकार (विस्तार, लम्बाई-चौड़ाई-मोटाई) में छोटी वस्तु के लिए किया जाता है। परन्तु, जैसा कि सुविदित है, सूक्ष्म शब्द आयुर्वेद में परिभाषित अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। सूक्ष्म भी स्रोतो में प्रवेश क्षमता जिस गुण या वीर्य के कारण हो उसे आयुर्वेद मे सूक्ष्म कहा गया है। भौतिकशास्त्र दृष्ट्या (फिजिकली) छोटेपन के लिए सूक्ष्म शब्द का (अथवा कभी लघु शब्द का) व्यवहार अशास्त्रीय है। उसके लिए स्थूल शब्द-विपरीत 'अणु' शब्द ही अन्वर्थक है, एक उदाहरण दूं। अंग्रेजी 'माइक्रोस्कोप' के लिए 'सूक्ष्मदर्शक' शब्द का प्रयोग प्रचलित है। उसमें परिवर्तन होना चाहिए, 'अणुवीक्षण' शब्द का व्यवहार भी प्रचलित है। वह योग्य प्रतीत होता है। वायु को 'स्थूल और अणु स्रोतों का भेद न करने वाला' कहा उसमें हुआ स्थूल विपरीतार्थवाची अणु शब्द का व्यवहार अर्थ को स्पष्ट करने वाला है।

वीर्यों का गुणों से भेद, नाम तथा परिभाषा

पूर्वकथित बीस गुणों में से ही कुछ को चुनकर उन्हें वीर्य यह विशेष संज्ञा पूर्वाचार्यों द्वारा दी गई है। गुणों की श्रेणी में तो उनकी गणना है, सो है ही। इन कतिपय गुणों को वीर्य नाम देने में प्रयोजन यह है कि: कई द्रव्यों में, विशेषतः औषधोपयुक्त द्रव्यों में, इन गुणों में कर्म-कारिणी शक्ति अधिक मात्रा में देखी जाती है। यथा शुण्ठी में स्थित उष्ण-तीक्ष्ण गुण। ऐसे गुणों को गुण न कहकर वीर्य कहना आयुर्वेद-संबल है। भदन्त नागार्जुन ने अपने रसवैशेषिक सूत्र[1] में तो स्पष्ट ही वीर्यों के लिए गुण शब्द का ही व्यवहार करते हुए उनकी गुणों से अधिक कर्मशक्ति के द्योतनार्थ उन्हें 'कर्मण्य' यह विशेषण लगाकर वीर्यों को 'कर्मण्य गुण' यह नाम दिया है, रस वैशेषिक सूत्र के भाष्यकर्त्ता ने कर्मण्य का अर्थ बताया है—चिकित्सा-कर्म में विशेष योग्यता रखने वाले—विशेष उपयोगी, भदन्त नागार्जुन का मूल वचन निम्न है: **शीतोष्णस्निग्धरूक्षविशदपिच्छिलगुरु लधु मृदुतीक्ष्ण गुणाः कर्मण्याः** (रसवैशेषिक सूत्र, अध्याय ३, सूत्र १११)

वीर्य संज्ञा का उपयोग नागार्जुन ने भी किया तो है ही, परन्तु वह छर्दनीय, अनुलोमनीय आदि कर्मशक्तियों के लिए गुरुवर्य वैद्य यादव जी त्रिकमजी आचार्य ने अपने द्रव्यगुण विज्ञान के पूर्वार्ध में इस रसवैशेषिक सूत्र से पुष्कल उद्धरण दिए हैं, तथापि, जिन वाचकों का यह ग्रन्थ सुलभ न हो उनके अनुशीलनार्थ रस वैशेषिक सूत्र से वे वचन उद्धृत किए जाते हैं, जिनमें भदन्त नागार्जुन-संमत वीर्यों का निर्देश किया गया है।

वीर्याणि पुनश्छर्दनीयानुलोमनीयोभयतो भाग प्रशमनीय संग्रहण (सांग्राहिक इति पाठान्तरम्) दीपनीय

---

1. यह रसवैशेषिक सूत्र द्रव्यगुण विज्ञान का ग्रन्थ है, न कि रस शास्त्र का कहीं पाठ्यक्रमों इसका सन्दर्भ ग्रन्थ के रूप में रसशास्त्र के पाठ्यक्रम में समावेश देखा है। वह इस के पाठ्यक्रम-निर्माताओं द्वारा स्वयं न देखने का परिणाम है।

प्राणघ्न मदन विदारणश्वयथुकरण विलयनानि ।

(अ० ४ सू०।३)

मेध्यायुष्य वृष्यवयस्यवर्चस्यरक्षोघ्न पुंसवन सौभाग्य विशल्यविमोक्षोन्माद क्लैव्यवशीकरण विद्वेषण प्रवासन कर्षणान्तर्धानिक पौष्टिकराजस्यरिक प्रभृतीनि च

(सू० २७)

तात्पर्य छर्दनीय (वामक), अनुलोमनीय (अधोभागहर), उभयतोभागहर, प्रशमनीय (वातप्रशमन, पित्तप्रशमन एवं कफ प्रशमन), सांग्राहिक, दीपनीय, मदनीय (मादक), प्राणहर, विदारण (व्रणादि को फोड़नेवाला), श्वयथुजनन (शोथकर) तथा श्वयथुविलयन (शोथ को बैठाने वाला) ये वीर्य हैं।

इनके अतिरिक्त मेध्य (ग्रन्थ में या भाषण में कही वस्तु को समझने की सामर्थ्य—ग्रास्पिग पावर—की वृद्धि करनेवाला), आयुष्य (आयु को दीर्घ करनेवाला जीवनीय) वृष्य, वयःस्थापन (वृद्धावस्था को दूर धकेलने तथा यौवन को दीर्घ बनानेवाला), वर्चस्य (कान्तिप्रद), रक्षोघ्न (राक्षस आदि योनियों का हन्ता), पुंसवन (पुरुष संतान उत्पन्न करनेवाला), सौभाग्यकर (जिसे देखकर सबकी उस पर प्रीति हो ऐसा बनानेवाला), विशल्यकर (शरीर से शल्य को निकालनेवाला), विमोक्षकर (हथकड़ी, बेड़ी आदि को लेपमात्र से मुक्ति दिलानेवाला), उन्मादजनक, क्लैव्य (नपुंसकता लानेवाला), स्त्रियों या पुरुषों का वशीकरण, विद्वेषण (मित्रों में परस्पर द्वेष उत्पन्न करनेवाला); प्रवासन (अपने देश से पुरुष को निकालनेवाला), आकर्षण (प्रेयसी आदि को दूर से भी खेंचनेवाला), आन्तर्धानिक (किसी सजीव या निर्जीव वस्तु को अदृश्य कर देनेवाला), पौष्टिक (धनादि की प्राप्ति करनेवाला), राजद्वारिक (राजा आदि शासक को वश करनेवाली) इत्यादि अन्य भी वीर्य हैं। भाष्यकार ने आगे निमि के पद्य उद्धृत किए हैं, उनमें शीतीकरण, पाचन और रोपण से वीर्य अधिक दिए हैं।

गुणों की गणना में निर्दिष्ट होने पर भी (अमुक द्रव्यों में स्थित अमुक) गुण तन्त्रकारों के ही पदों में कहें तो, औषधों के समग्र गुणों (रस-गुण-वीर्य-विपाक और प्रभाव) के सारभूत, अतएव जठराग्नि का (धात्वग्नियों का भी) संयोग होने पर भी रसादि के सदृश अपने स्वभाव का परित्याग न करने वाले एवं चिरकाल पर्यन्त शरीर में अपनी क्रिया प्रदर्शित करनेवाले, अति प्रकृष्ट (विशिष्ट, उत्कृष्ट वरिष्ठ)। शक्तियुक्त, व्यवहार में भी अन्य रसादि गुणों की तुलना में प्रधानभूत, शास्त्र एवं लोक में रसादि की अपेक्षया अग्रिम स्थान रखने वाले—यथा, वातादि के गुणों की परिसंख्या में, शेष रसादि का भी ग्रहण इन वीर्यों के निर्देश से ही प्राप्त हो जाता होने, अपनी शक्ति से रसों, मन्द-सान्द्र आदि शेष गुणों तथा विपाक को अभिभूत कर (दबाकर) अपना कर्म करने वाले होने से वीर्य कहाते हैं। शेष उपर्युक्त रस आदि में वीर्यों के सदृश उत्कृष्ट शक्ति का अभाव (पर सामर्थ्यहीनत्व) इत्यादि कारणों से गुण, रस या प्रभाव ही कहा जाता है।

इन वीर्यों के द्वारा होते विशिष्ट कर्मों का परिगणन करते सुश्रुत जी ने कहा है—वीर्य के प्राधान्यवश ही औषधों के ऊर्ध्वभागहरण (वमन), अधोभागहरण (विरेचन), उभयतोभागहरण, संशमन, सांग्राहिक, अग्निदीपन, पीड़न, लेखन, बृंहण, रसायन, वाजीकरण, श्वयथुकर, श्वयथु विलयन, दहन, दारण, मादन, प्राणहर, विषघ्न आदि कर्म हुआ करते हैं।

वीर्यों की संख्या तथा नाम—वीर्यों की संख्या तथा नाम—निर्देश के प्रसंग में चक्रपाणिदत्त ने (च० सू० २६।६४-६५ की टीका के आरम्भ में) जो निरूपण किया है वह इस लेख में अब तक किए विवेचन को पिण्डित रूप में प्रस्तुत करने वाला होने से उसे उद्धृत करते हैं।

वैद्य के हि रस-विपाक-प्रभावव्यतिरिक्ते प्रभूतकार्यकारिणी गुणे 'वीर्यम्' इति संज्ञा। तेनाष्टविधवीर्यवादिमते पिच्छिलविशदादयो गुणा न रसादिविपरीत

१. सुश्रुत ने शारीरस्थान में (अ० ५।२१-२२ में) अस्थियों को शरीर का सार कह कर इस विधान की व्याख्या करते कहा है कि अस्थियाँ शरीर की सार होने से ही (मृत शरीर को कब्र में रखा जाए और परिणामस्वरूप) त्वचा एवं मांसादि के चिरकाल पूर्व विनष्ट हो जाने पर भी अस्थियाँ वैसी ही रहती हैं, सार शब्द के इस अर्थ के आधार पर ऊपर पूर्वाचार्यों ने वीर्यों को जो सारभूत एवं चिरस्थायी कहा है उसकी व्याख्या की जा सकती है।

कार्यं प्रायः कुर्वन्ति, तेन तेषां रसाद्युप-देशेनैव ग्रहणम् मृद्वादीनां तु रसाद्यभिभावकत्वमस्ति। यथा, पिप्पल्यां कटुरसकार्यं पित्तकोपनमभिभूय तद्गते मृदुशीत वीर्ये पित्तमेव शमयतं इति; तथा कषाये तिक्तानुरसे महति पञ्चमूले तत्कार्यं वातकोपनमभिभूयोष्णेन वीर्येण तद्विरुद्धं वातशमनमेव क्रियते; तथा मधुरेऽपीक्षौ शीतवीर्यत्वेन वातवृद्धिरित्यादि। यदुक्तं सुश्रुते—'एतानि वीर्याणि स्वबल गुणोत्कर्षाद्रसमभिभूयात्मकर्म दर्शयन्ति (सु० सू० ४०।५) इत्यादि।

तात्पर्य, आयुर्वेद में रस, विपाक एवं प्रभाव से भिन्न प्रभूत (अतिशय) कर्म करने वाले गुण-विशेष के लिए 'वीर्य' इस संज्ञा का का व्यवहार हुआ है। शेष जिन गुणों को प्रभूतकार्यकारी न होने से वीर्य नहीं कहा गया है, वे पिच्छिल, विशद आदि गुण इन गुणों वाले द्रव्यों में स्थित रसों के जो कर्म कहे गए हैं उन्हीं कर्मों को प्रायः करते हैं। उनके रसों के विरुद्ध कर्म प्रायः नहीं करते। इसके विपरीत, मृदु आदि जिन गुणों को वीर्य कहा गया है वे रसों के गुण-कर्मों को अभिभूत कर—दबा कर—अपना विशिष्ट कर्म किया करते हैं। इस विषय में चरक ने स्पष्ट कहा है—

तेषां रसोपदेशेन कर्तव्यो गुणसंग्रहः।
वीर्यतोऽविपरीतानां पाकतश्चोपदिश्यते॥

—च० सू० २६।४६

चक्रपाणि तथा शिवदास सेन की व्याख्याओं का आश्रय लेते हुए इस वचन का अर्थ देते हैं:—रसों के गुण-कर्मों के निर्देश के प्रकरण में कहा गया है कि, रसों के माध्यम से द्रव्यों के गुण-कर्मों का उल्लेख करते कहा है कि, मधुर, तिक्त और कषाय रस शीत हैं, तथा कटु, आम्ल और लवण उष्ण; एवं कटु—तिक्त—कषाय ये यो रस अ-वृष्य हैं. इसी प्रकार बहुधा रसों के गुणों-कर्मों के निर्देश द्वारा द्रव्यों के वीर्यों और विपाकों का भी निर्देश हो जाता है. इसके विपरीत, कई द्रव्यों के वीर्य अथवा और विपाक रसों के विरुद्ध कर्म करनेवाले भी होते हैं. ऐसे द्रव्यों के कर्मों का परिज्ञान उनके रस-विपरीत वीर्यों और विपाकों का कण्ठ रव से निर्देश करने के रूप में किया जाता है। शास्त्र में निर्दिष्ट एतादृश कुछ द्रव्यों को उदाहरण तया प्रस्तुत करते चक्रपाणि दत्त जी कहते हैं—

पिप्पली कटुरस होने पर भी रस के कारण पित्त को प्रकुपित नहीं करती, परन्तु अपने मृदु और शीत वीर्यों से रस को दबा कर पित्त का शमन ही करती है; कषाय रस और तिक्त अनुरस होने पर भी महा पञ्चमूल रसाश्रित वात प्रकोप नहीं करता, परन्तु अपने उष्ण वीर्य से वायु का शमन ही करता है; इसी प्रकार इक्षु (गन्ना) मधुर होने हुए भी अपने मधुर रस के योग से वायु का शमन नहीं करता, किन्तु अपने शीत वीर्य से वायु का प्रकोप ही किया करता है।[1]

---

१. **कामला में इक्षु की सेवन विधि**—इक्षु के सम्बन्ध में कथित इस वक्तव्य से चिकित्सा-व्यवसायोपयुक्त एक तथ्य के प्रति ध्यानाकर्षण किया जा सकता है। कामला में पित्त का प्रकोप प्रत्यक्ष दिखाई देता है, अतः अज्ञान जन इसके शमन एवं इक्षु के मूत्रल होने से मूत्र-मार्ग से पित्त की शुद्धि को दृष्टि में रखकर इक्षु-रस का सेवन कराते हैं और वह भी मात्रा पर विशेष लक्ष्य दिए बिना। चिकित्सक भी बहुधा इसी पथ का अनुसरण करते देखे जाते है। इस विषय में सत्य स्थिति यह होती है कि, कामला के प्रायशो-दृष्ट प्रकार शाखाश्रित कामला में मूल में पित्त का प्रकोप नहीं होता, परन्तु अपने प्रकोप के कारणों से प्रकुपित हुए कफ और वायु ही इसमें कारण हुआ करते हैं। इनमें कफ तो याकृत पित्त वाही के शिकाओं (वात्तल केपिलरीज) का अवरोध कर इस पच्यमानाशय में आने न देकर यकृत् में संचित करता है तथा वायु संचित इस पित्त का सर्वाङ्ग में विक्षेपण करता हुआ उन्हें पीतवर्ण कर देता है। ततः, इस रोग के उपचार में कफ-वात विरोधी आहारौषध की योजना की जानी चाहिए, इक्षु रस शीतवीर्य होने से कफ और वात की तथा मधुर-शीत होने से कफ की वृद्धि करता हुआ व्याधि-वर्धक ही सिद्ध होता है। स्थिति यह होते हुए भी इक्षु का उपयोग हितावह तो होता ही है, यदि इसके रस का उपयोग न करके चूसने के रूप में किया जाय, इससे उसके शैत्य का वैसा प्रभाव नहीं होता; साथ ही, लालारसके साथ जो याकृत पित्त से मिश्र होता है वह उदर में जाकर स्नेहों के पचन में भी कुछ न कुछ उपयोगी सिद्ध होता है।

सूत्र स्थान के ४० वें अध्याय में सुश्रुत ने गद्य में इसी प्रकार के अन्य उदाहरण देने के अनन्तर किन्हीं पूर्वाचार्य के पद्य उद्धृत कर वीर्यों द्वारा रसों के अभिभव के कुछ नियम दिए हैं। इन पद्यों में कहा गया है-जो रस (मधुर-अम्ल-लवण) वात के शामक कहे गए हैं, उनके द्रव्यों में यदि रूक्षता, लघुता तथा शीतता ये वीर्य हों तो इन वीर्यों के कारण ही वे वायु का शमन नहीं करते। जो रस पित्त का शमन करने वाले (मधुर-तिक्त-कषाय) कहे गए हैं, उनके आश्रयभूत द्रव्यों में यदि तीक्ष्ण, उष्ण, और लघु ये वीर्य हों तो वे पित्त का शमन न कर वृद्धि ही करते हैं; एवं, जो रस (कटु-तिक्त-कषाय) कफ के शामक कहे गए हैं, उनके (आश्रयभूत) द्रव्यों में स्निग्ध, गुरु और शीत ये वीर्य हों तो वे कफ का शमन न कर इन वीर्यों के योग से कफ की वृद्धि ही किया करते हैं।

कई द्रव्यों में उत्कृष्ट शक्ति सम्पन्न होने से जिन्हें जिन गुणों को यह संज्ञा प्रदान की गई है ऐसे गुण आठ और निम्न है; मृदु-तीक्ष्ण, गुरु-लघु स्निग्ध रूप,उष्ण-ीत स्पष्ट ही गुणों के निर्देश के सदृश वीर्यों का यह निर्देश भी परस्पर विरुद्ध कर्म करनेवाले वीर्यों के युग्मों के रूप में किया गया है। दोनों वाग्भटों ने इस सूत्र में 'मृदु' के स्थान पर 'मन्द' शब्द रखा है। सुश्रुत जी ने गुरु-लघु के स्थान पर 'विशद पिच्छिल' की गणना की है। सुश्रुत के वर्तमान शती के टीकाकार एवं व्यवसाय में भी सुश्रुतोक्त यन्त्र क्रिया को व्यवहार में लाने वाले कविराज हाराणचन्द्र जी ने ऊहापोहपूर्वक गुरु-लघु को हटाकर संहिताकार ने विशद-पिच्छिल का जो समावेश किया है उसे अन्याय्य कहा है। उनका कथन है कि स्वयं संहिताकार ने भी आगे पद्यों में गुरु-लघु को ही स्मरण किया है,• एवं अन्य तन्त्रकर्त्ताओं ने भी (यहां तक कि कविराज जी के अनन्तर उपलब्ध रस वैशेषिक के कर्त्ता सुश्रुतानुयायी महन्त नागार्जुन ने भी) विशद और पिच्छिल की वीर्यों में गणना न करके गुरु-लघु के ही स्थान दिया है---भदन्त नागार्जुन ने **'कर्मण्य गुणों'** की गणना के प्रसंग में। इन्हीं आठ वीर्यों को 'चिकित्सा में उपयोगी एवं 'लोक-व्यवहार सिद्ध' होने से (जनता में भी किसी भी आहारौषध द्रव्य को 'गर्म' या 'टंडा' इन विशेषणों द्वारा ही पहिचाना जाता होने से) 'शीत और 'उष्ण' इन दो वीर्यों के रूप में पूर्वाचार्यों ने विभक्त किया है। इस प्रकरण को समझने के निमित्त प्रस्तावना रूप में द्रव्यों के इसी प्रकार के विभाजन के प्रसंग में संहिताकारों ने जो कहा है उसका उल्लेख आवश्यक प्रतीत होने से प्रथम करते हैं :

सुश्रुताचार्य ने (सु० सू० १।२२ में) सृष्टि के समस्त द्रव्यों को पञ्चमहाभूतात्मक कह कर भी उन्हें 'आग्नेय' अथ च 'सौम्य' इन दो वर्गों में विभक्त किया है। टीकाकृत् डह्लन ने इस वर्गीकरण का प्रयोजन द्रव्यों के चिकित्सा में उपयोगी दो धर्मों का प्रतिपादन बताया है। अग्नि महाभूत तथा उसकी अधिदेवता का प्राधान्य जिन द्रव्यों में हो, उन्हें 'आग्नेय' एवं सोम (जल महाभूत) तथा उसके अधिदैवत की प्रधानता जिनमें हो उन्हें 'सौम्य' कहा जाता है। संहिताकार ने इस वर्गीकरण का कारण 'तद्भूयस्त्वात्' इस शब्द से जताया है। टीकाकर्त्ता इसकी व्याख्या करते कहते हैं :—सृष्टि में बाहुल्य (भूयस्त्व) इन्हीं दो प्रकार के द्रव्यों का देखा जाता है— **प्रायेण हि सर्वं द्रव्येशीतमुष्णं च, न तृतीयो राशिर**'स्त अतो द्वावेव **अग्नीषोमौ भूयांसौ (डह्लन)**। तात्पर्य, प्रायः समस्त द्रव्य शीत और उष्ण इन दो राशियों (वर्गों) में ही पुञ्जित हुए देखे जाते हैं। तीसरी कोई राशि है ही नहीं, तस्मात्, सर्व द्रव्यों का यथार्थ ही इन दो वर्गों में विभजन किया गया है।

चरक ने जिस प्रकरण में वीर्यों के शीत-उष्ण ये दो वर्ग कहे हैं, उसकी टीका में चक्रदत्त ने भी जगत् के अग्नीषोमात्मक होने से शीत एवं उष्ण का ही प्राधान्य प्रदर्शित किया है। इसके समर्थन में उनने लघु वाग्भट का एक पद्यात्मक वचन उद्धृत किया है। वृद्ध वाग्भट में भी यह पद्य पठित है :—

नाना मकपि द्रव्यमग्निषोमौ महाबलौ।
व्यक्ताव्यक्तं जगदिव नातिक्रामति जातुचित्॥

--अ० सं० सू० १७; अ० ह० सू० ९।१७-१८

अर्थात्, जिस प्रकार विश्व नाना रूपोंवाला होते हुए भी उसे ब्यक्त (स्थूल, दृश्य) और अव्यक्त (सांख्यों के मत से अर्थ लें तो, महत् आदि व्यक्त तथा प्रधान-प्रकृति-

एवं पुरुष रूप अव्यक्त) इन दो ही वर्गों में विभक्त किया गया है। तद्वत् विश्व के समस्त द्रव्य पाञ्चभौतिक, स्थावर-जङ्गम, चेतनाचेतन आदि अनेक राशियों में विभक्त होने पर भी वे महाबली (उत्कृष्टशक्ति संपन्न) 'अग्नि' और 'सोम' इन दो वर्गों में ही अन्तभूतः होते हैं। अन्य पदों में कहें तो, कोई द्रव्य आग्नेय होता हैं और कोई उष्ण, सो, स्वभावतः द्रव्यों में भी कोई उष्णवीर्य होता है और कोई शीतवीर्य ।

सुश्रुत ने जगत् के अग्नीषोमीय होने से रसों को भी इसी प्रकार सौम्य और आग्नेय इन दो वर्गों में समाविष्ट करते हुए मधुर-तिक्त-कषाय इन रसों को सौम्य एवं कटु-आम्ल-लवण को आग्नेय कहा है। साथ ही सौम्य रसों को शीत एवं आग्नेय रसों को उष्ण कहा है । (देखिए : सु० सू० ४२।७)

वीर्य-विषयक कृत्रिम जटिलता

इस लेख में अब तक किये विवेचन से एक निष्कर्ष यह निकाला जा सकता है कि, वीर्य शब्द का दो अर्थों में प्रयोग पूर्वाचार्यों ने किया है। एक द्रव्य की कर्मकारिणी शक्ति मात्र के अर्थ में, तथा द्वितीय ऐसे कुछ गुणों के अर्थ में जो (गुण) कई द्रव्यों में रहते हुए उत्कृष्ट कर्म-शक्ति रखते हैं, इस द्वितीय प्रकार के दो भेद हैं—आठ प्रकार के वीर्य तथा शास्त्र और लोक-व्यवहार में प्रसिद्धि को लक्ष्य में रखते हुए उन्हीं के संक्षेप में उष्ण और शीत ये दो प्रकार।

इतनी सीधी-सादी वस्तु का प्रतिपादन न केवल व्याख्याकारों ने, प्रत्युत स्वयं संहिताकारों ने भी इस प्रकार किया है कि, जिससे अध्येता को भ्रान्ति होती है कि, मानो वीर्यों के सम्बन्ध में प्राचीन आचार्यों में कुछ मत-भिन्नता है, जिनका स्वरूप यह है कि—कुछ आचायर्य बहु-विध वीर्यवादी या शक्तिरूप वीर्यवादी हैं। द्रव्यों की शक्तिमात्र को जो गुण और प्रभाव इन संज्ञाओं के समान ही वीर्य कहा गया गया, वह मानो सर्व-संमत मत न होकर कतिपय आचार्यों का मत है। ऐसी छाप इस विधान से पड़ती है। अन्य आचार्य पारिभाषिक वीर्यवादी, गुणवीर्य-वा अष्टविधवीर्यवादी माने और कहे जाते हैं, एवं अन्य द्विविधावीर्यवादी, प्रारम्भिक कक्षा के कोमलमति विद्या-र्थियों के समक्ष एतद्विध मतभेदमूलक प्रतिपादन उनके मानस में आयुर्वेद के प्रति अप्रीति का ही उत्पादक सिद्ध होता है। इस लेख में किया गया वीर्य-विषयक विचार ऐसी छाप विद्यार्थी पर न पड़े इस पद्धति से किया गया है।

खेद का विषय है कि, कुछ तन्त्रकारों तथा टीकाकारों ने यही शैली विपाक के निरुपण में भी अपनाई है। वस्तु-स्थिति यह है कि, कुछ तन्त्रकारों ने विपाक का विचार उसके (विपाक के) रसों को लक्ष्य में रखकर किया है तो अन्यों ने उनके (विपाकों के) गुरु-लघु इन गुणों को दृष्टि में रखकर किया है। इस पिछली शैली के तन्त्रकारों ने गुरु-लघु विपाकों का विवरण देकर अन्त में स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि, अन्य आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट मधुर विपाक गुरु होता है तथा शेष कटु और अम्ल विपाक लघु होते हैं। इस समन्वयात्मक निरुपण की विद्यमानता में भी आयुर्वेद के अध्यापन और लेखन में यह रीति अपनाई जाती है कि, विपाक का विचार करने वाले प्राचीन संहि-ताकारों में कुछ मतभेद है—कुछ आचार्य विपाकों की संख्या तीन मानते हैं और कुछ दो। यह तथा अन्य प्रक-रणों-सम्बन्धी भ्रम-जाल दूर करके ही विद्यार्थियों के समक्ष सिद्धांतों की स्थापना की जानी चाहिये।

प्रसंगवश इतना विवेचन कर शीत तथा उष्ण गुणों और वीर्यों (कर्मण्य गुणों) के कर्मों पर दृष्टि-निक्षेप करते हैं।

शीत-उष्ण गुणों और वीर्यों (कर्मण्य गुणों) के कर्म

शीत—शीत गुण, वीर्य अथवा कर्मण्य गुण में—इनसे युक्त द्रव्यों में स्तम्भन की शक्ति सविशेष होती है। स्तम्भन का अर्थ है ऐसे द्रव्यादि, जिनके आभ्यन्तर अथवा बाह्य अथवा उभयविध उपयोग के परिणामस्वरूप स्पष्ट गतिमान छर्दि, अतिसार, रक्तपित्त, प्रस्वेद, मूत्र, रक्तप्रदर, व्रण से स्रुत होने वाले रक्त अथवा लसीका (सीरम) आदि द्रव द्रव्यों का शरीर से बाहर निकलना रुके (स्तब्ध हो), अथवा शरीरान्तर संचारी रक्त, पित्त, पुरीष प्रभृति की संचरणशीलता में न्यूनता आए। यहां आए स्तम्भन शब्द से यह भी अर्थ गृहीत है कि शीत वीर्य द्रव्यों के उपयोग से तथा शरीर अवयवों में स्तम्भ (स्तब्धता, जकड़ाहट) एवं ग्रह तथा ये जितने अंश में विद्यमान हों उतनी मात्रा में चेष्टा हानि होती है। प्रातः काल वातावरण की शीतता

के कारण ये विकार विशेष रहते हैं। शीत प्रधान ऋतुओं में भी यही स्थिति हुआ करती है। उष्ण द्रव्य इन विकारों में सात्म्य होता है। स्तम्भन होने के अतिरिक्त शीत द्रव्य आह्लादन अर्थात् दाह, तृषा, स्वेदादि उष्णताजन्य असुखकर (त्रासदायी) अनुभवों से उष्णार्त्त पुरुष को मुक्तकर शीतलता (शैत्य) आदि के रूप में सुखदायी, रक्त और पित्त का प्रसादन (उन्हें शुद्ध करने वाला-प्राकृत स्थिति में लाने वाला), गुरु, बल्य, वृष्य, जीवन (आयुष्य, प्राणधारण के लिए हितावह), कफ और वात का प्रकोपक एवं रक्त तथा पित्त का शामक हैं यह मूर्च्छा, तृषा, स्वेद या दाह का प्रशमन करता हैं। इसके उपयोग से द्रव्यों के संघात में घनत्व उत्पन्न होता है। शीत गुण, वीर्य किंवा कर्मण्य गुणों वाले द्रव्यों में जल महाभूत का प्राधान्य होता हैं। ये गुण कर्मानुमेय (बाह्याभ्यन्तर सेवन के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए कर्मों को देखकर विज्ञातव्य) एवं स्पर्शनेन्द्रिय-ग्राह्य भी हैं जैसा कि पहले कह आए हैं, शीत की स्पर्शनेन्द्रिय ग्राह्यता स्पर्श में शीत द्रव्यों के संबंध में ही समझनी चाहिए, औषधीय गुण के विषय में नहीं। यह सत्य है कि शीत आहारौषध द्रव्यों के सेवन से शरीर में जो शीतता आती है वह तो स्पर्श बोध्य भी होती हैं।

उष्ण—उष्ण गुण, वीर्य अथवा कर्मण्य गुण अर्थात् एतद्युक्त द्रव्य संक्षेप में शीत-विपरीत हुआ करते हैं। इनमें स्वेदन की-प्रस्वेद लाने की-शक्ति सविशेष होती है। ये दाह, स्वेदाधिक्य आदि द्वारा असुखोत्पादक, स्वेद-रक्त पुरीषादि की प्रवृत्ति कराने वाले, विशेषतः पाचक अर्थात् जाठराग्नि और धात्वग्नियों को प्रेरित कर आमावस्था में रहे अन्नपान तथा अन्नरस को पक्व करने वाले, अथच व्रणशोथ पर उपनाहादि स्वेदों के रूप में उपयोग किया जाने पर उसे बैठाने वाले एवं उसका जो अंश पाकोन्मुख हो उसे दोषों का पाचन कर पक्व-पूयरूप में परिणत-करने वालें होते हैं। इस प्रकार स्वेदन और पाचन होने के अतिरिक्त उष्ण द्रव्य दहन (दाह जनक अथवा दग्धकर्म करने वाले), विलयन (स्रोतों या शरीरावयवों में लीन रोगारम्भक दोष आदि को विकीर्ण करने वाले), लघु अवृष्य (शुक्र की हानि करने वाले), वात-कफ प्रशमन तथा पित्तवर्धन और रक्त दुष्टिकर होते हैं। स्वेदन कर्म द्वारा उष्ण द्रव्य शरीरस्थ अथवा बाह्य शीत द्रव्य के योग से सर्वांग किंवा एकाङ्ग में हुए स्तम्भ (स्तब्धता, जकड़ाहट, चेष्टा हानि) एवं जाड्य (गौरव) और शैत्य को नष्ट करते हैं। इनके अतियोग से भ्रम, तृषा, ग्लानि (हर्षक्षय तथा शुक्रक्षय), स्वेद, दाह, वमन, विरेचन, रक्त स्राव तथा आशुपाकिता (व्रणादिका शीघ्र पक जाना) ये कर्म होते हैं। इन द्रव्यों के पञ्चमहाभूतात्मक होने पर भी अग्नि महाभूत का आधिक्य होता है। उष्ण गुण भी कर्मानुमेय एवं स्पर्शनेन्द्रियग्राह्य हैं। इन विशेषणों का अर्थ शीत गुण के प्रकरण में निरूपित प्रकार का समझना चाहिए।

उष्ण और तीक्ष्ण गुण-वीर्यों में भेद : प्रसंगवश इस विषय का भी विचार कर लें, दोनों गुणों के कर्म यद्यपि समान ही कहे गए हैं, आथच दोनों प्रायः एक ही द्रव्य में रहते भी जाए तो प्रतीत होगा कि, उष्ण गुण-वीर्य वाले द्रव्यों में शरीरोष्मा की वृद्धि का स्वभाव विशेष होता है, जबकि तीक्ष्ण द्रव्यों में अन्नपात, अन्नरस तथा व्रणशोथके' पचन का तथा इसके मन्दगुण विपरीत होने से शरीर में वहनशील रस-रक्त-पुरीषादि का वेग (गति) और बल (प्रेशर) की वृद्धि करने का धर्म विशेष होता है। इन शब्दों का (उष्ण-तीक्ष्ण का) प्रयोग प्रायः समान अर्थों में तथा कभी-कभी एक - दूसरे के अर्थों में किया जाता है। अतः, यह निवेदन करना उचित माना हैं।

'शीत और 'उष्ण' इस नामाभिधान का मूल

आयुर्वेद-भिन्न सभी भाषाओं के समस्त प्राचीन-अर्वाचीन वाङ्मय में शीत और उष्ण शब्द स्पर्शनेन्द्रिय (त्वचा) से स्पर्श द्वारा जिनका बोध होता है उन गुणों के लिए व्यवहृत हुए हैं। सामान्य व्यवहार में इन्हें क्रमशः 'ठंडा' और 'गर्म' कहा जाता है। आयुर्वेद में इन शब्दों का विशिष्ट अर्थों में (परिभाषित अर्थों में) प्रयोग हुआ हैं। द्रव्यों का बाह्याभ्यतन्र उपयोग करने से जो कर्म या परिणाम शरीर में देखे जाते हैं, उनको लक्ष्य में रखकर इन शब्दों का अर्थ निर्धारित किया गया है। अर्थात्, जैसा कि ऊपर कहा

गया है। ये तथा इतर गुण-वीर्य अपने कर्मों से अनुमेय हैं। अवश्य ही, विभिन्न गुण-वीर्यों का परिज्ञान त्वचा आदि ज्ञानेन्द्रियों द्वारा भी आयुर्वेद में होता माना गया है। परन्तु, वास्तव में तो ज्ञानेन्द्रिय-ग्राह्य गुण-वीर्य भी उनके द्रव्यों का बाह्याभ्यन्तर सेवन किया जाने के पश्चात् दृष्टि में आए विशिष्ट कर्मों को लक्ष्य में रखकर ही निरूपित हुए हैं, यह सदैव ध्यान में रखना चाहिए। अब, केवल शीत और उष्ण गुण-वीर्यों को लक्ष्य में रखते हुए यह विचार प्रस्तुत करेंगे कि, मूल में (आरम्भ में) स्पर्शनेन्द्रियग्राह्य होते हुए भी ये दोनों गुण-वीर्य किस आधार पर कालान्तर में शरीरान्तर्गत वातपित्तकफादि पदार्थों के गुण-धर्मों का निर्देश करने के लिए तथा शुण्ठी-मरिच गोधूम-यव-सितोपला प्रभृति आहाररौषध द्रव्यों के गुण-धर्मों के विवरण के लिए प्रयुक्त किए गए।

इस विषय में यह कल्पना दृढ विश्वासपूर्वक प्रस्तुत की जा सकती है, कि स्पर्शनेन्द्रिय त्वचा द्वारा स्पर्श कर जिन पदार्थों को प्रथम शीत या उष्ण कहा जाता रहा वे ही शरीर के संसर्ग में आने पर जो कर्म करते हैं वे ही कर्म या परिणाम जिन आहारौषध द्रव्यों (एवं चेष्टा, देश-जलवायु-तथा काल-विशेषतः ऋतु) का शरीर से संपर्क होने पर देखे गए अथवा जिन शरीर पदार्थों में लक्षित हुए उन्हें क्रमशः शीत और उष्ण संज्ञाएँ प्रदान की गई। संक्षेपतः कथित इस विधान की अपेक्षित व्याख्या करें।

प्रारम्भ में उदाहरण द्वारा यह जान लिया जाना उचित होगा कि, स्पर्शन आदि ज्ञानेन्द्रियों द्वारा द्रव्य आदि के जो गुण जाने जाते हैं वे भी आयुर्वेद-दृष्टया परिभाषित अर्थ में उनके गुण-वीर्य नहीं हैं। वास्तविक गुण-वीर्य तो ऐसे भी द्रव्यों का शरीर से संपर्क होने पर उत्पन्न हुए कर्मों को ध्यान में रखकर ही जाने जाते हैं। अपने कथयितव्य में मक्खन के दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास करें। मक्खन स्पर्शतः स्निग्ध और श्लेक्ष्ण है, यह निर्विवाद सत्य है। परन्तु केवल स्पर्शनेन्द्रिय-ग्राह्य होने से ही उसे स्निग्ध और श्लेक्ष्ण कहने की अपेक्षया यह मानना सत्य के अधिक निकट कहा जाएगा कि, मक्खन का अभ्यङ्गादि के रूप में बाह्य प्रयोग करने से अथच उसका मुखतः सेवन करने से शरीर में स्निग्धता और श्लक्ष्णता का उदय होता देखा जाता है। अतः मक्खन में स्निग्ध तथा श्लक्ष्ण ये दो तथा अन्य गुण-वीर्य विद्यमान माने गए हैं।

अष्टाङ्ग हृदय के टीकाकार हेमाद्रि ने गुण-वीर्यों का परिचय उनकी एक-एक कर्म-शक्ति के निर्देश के रूप में कराया है। शीत गुण-वीर्य की परिभाषा उनने यह दी है कि, जिस गुण-वीर्य में उनसे युक्त द्रव्य में स्तम्भनकी शक्ति विशेष हो उसे शीत, कहा जाता है। इसी प्रकार, जिस गुण-वीर्य में (उनसे युक्त द्रव्य में) स्वेदन का-पसीना लाने का सामर्थ्य विशेष हो उसे 'उष्ण' कहते हैं। इन गुण-वीर्यों का परिचय कराते हुए इस वस्तु का उल्लेख किया भी जा चुका है। सो पहले स्पर्शतः शीत और उष्ण द्रव्यों की इन शक्तियों को ही स्मरण कर लें, आधुनिक द्रव्यगुण विज्ञान के ग्रंथों में कहा गया है कि, उष्ण जल त्वचा पर छोड़ा जाए तो त्वचा की स्वेद-ग्रन्थियों पर क्रिया होकर प्रस्वेद होता है। इससे रक्त-वाहिनियों का भी विस्तरण होने से शरीरगत रक्त अधिक परिमाण में त्वचा में आता है, जिससे अन्तर्गत अवयवों में शोथ या रक्त-संचय (कंजेश्चन) हो तो उनमें रक्त की मात्रा का ह्रास हो जाता है। इस प्रकार अन्न, पित्तवाहिनी तथा मूत्रयन्त्र के शूल (क्रमशः इण्टेस्टाइनल, बिलिअरी तथा रीनल कॉलिक) शान्त होते हैं। इसके अतिरिक्त, इससे धातुओं की स्तब्धता दूर होकर उनमें मार्दव (लचकीलापन) आता है, परिणामतया, मूत्र प्रसेक की बद्धता (स्ट्रकचर), उदर शूल, अन्नवृद्धि, बालकों के आक्षेप आदि रोगों में होनेवाला मांस धातु का आकुञ्चन (स्पैज्म) दूर होता है। प्रस्वेद के फलस्वरूप मूत्रमार्ग से निकलने वाले विकारी द्रव्य स्वेद द्वारा निकल जाने से वृक्कों को इतने अंश में राहत मिलती है। इस से दृष्टि वृक्क-विकृतियों में स्वेदन उपकर्त्ता सिद्ध होता है। सहसा शैत्य के कारण हुए अनार्तव, उदावर्त्ता योनि (कष्टार्तव नाम से प्रचलित), मूत्रकृच्छ्र, मूत्राशय-शोथ आदि में उष्ण जल में कटि-प्रदेश के अवगाह स्वेद (हॉट सिट्ज बाथ) से अच्छा लाभ होता है। इसमें थोड़ा राजिका-चूर्ण भी संयुक्त किया जाए तो आर्तव-प्रवृत्ति द्रुततर होती है। उष्ण जल से स्नान, स्वेदन (अथवा अन्य द्रव्यों से स्वेदन से शैत्यवश

हुए स्तंभ (जकड़ाहट), ग्रह शूल आदि ऐच्छिक मांसपेशियों में हुए विकारों की शांति भी अनुभव-सिद्ध है। प्राग्भक्त (भोजन के पूर्व) थोड़ा-थोड़ा करके उष्ण जलपान किया जाए तो आमाशय-शोथ, अमाशय-शूल तथा आमाशय-क्षत में होनेवाला त्रास शान्त होता है। इस प्रकार उष्ण जल आमाशय के लिए उत्तम शामक (सिडेटिव) सिद्ध होता है। किंचित् उष्ण अथवा शीतजल भोजन के साथ यकृत् तथा अग्न्याशय (पेन्क्रियास) के पाचक रसों के स्राव में वृद्धि होती है। जल के इस प्रकार सेवन से अन्नरस में अपेक्षित द्रवता रहने से उसका रसवाहिनियों द्वारा ग्रहण (एब्जॉर्प्शन) अच्छे प्रकार से होता है। पुरीष में द्रवत्व यथावत् रहने से उसकी प्रवृत्ति सुस्थित होती है। मलावष्टंभ नहीं होता। अन्नपान का बड़ा अंश पूर्वोक्त प्रकार से रसवाही स्रोतों द्वारा गृहीत हो जाने से पक्वाशय में पुरीष पर अपनी क्रिया द्वारा कोथ (सड़ाँद) उत्पन्न करने वाले-आयुर्वेद की परिभाषा में प्राकृत-वैकृत उभयविध वायु के उत्पादक-जीवाणुओं को अपने क्रिया के निमित्त सामग्री अल्प मात्रा में उपलब्ध होने से वायु तथा अन्य विकारी द्रव्यों की उत्पत्ति वैसी हो नहीं पाती, उष्ण जल अधिक मात्रा में लेने से वमन होता है।

शीत जल बाह्याभ्यन्तर प्रयोग के परिणाम इसके विपरीत होते हैं। त्वचा के संपर्क में शीत जल आए तो प्रादेशिक रक्त- वाहिनियों का सकोच होता है। परिणाम तया, इनके माध्यम से शरीर के अन्तरावयवों में उत्पन्न उष्णता बाहर न आने से शीतलता और तज्जनित आह्लाद प्राप्त होता है। स्वेद-ग्रन्थियों पर शीत जल का साक्षात् प्रभाव होने से, तथा च उन्हें स्वेद की उत्पत्ति के हेतु रक्त की उपलब्धि अल्प मात्रा में होने से स्वेद की शान्ति होती है। इस प्रकार स्वेदाधिक्यवश होने वाला त्रास भी दूर होता है। अपतन्त्रक (हिस्टीरिया), मूर्च्छा, सिनकोप, फेंण्टिग), विषद्रव्यों के सेवन से हुआ संज्ञानाश, आक्षेप, लू लगने से हुई संज्ञाहानि आदि में शीतल जल चुल्लू में भरकर उसका मुख पर पुनः पुनः बलवत् प्रहार करने से रोगी ज्ञान में आता है। प्रसव में शिशु मृतजन्मा हो तो उस पर भी यह उपाय अपनाया जाता है। प्रातः शय्या-त्याग के अनन्तर तत्काल एक गिलास शीतजल पान करने की सूचना मलावष्टम्भ-पीड़ितों को प्रायः दी जाती है। प्रकृति विशेष उष्ण जल का उपयोग हितावह हुआ करता है। कफ-वाद प्रकृति पुरुषों में शीत जल का पान, विशेषतः खाली पेट और प्रातःकाल के शीत प्रधान वेला में, एवं अनुरूप देश में करने से आमपक्वाशय का घटक मांसमय मन्डल स्तब्ध हो जाने से अन्नों की अपकर्षणी गति वन्धित होती है। प्रतिश्याय, कास, अङ्गमर्द, मंद ज्वर आदि भी होने का संभव बहुधा रहता है। इन परिस्थितियों में शीत जल के स्थान पर सुखोष्ण जल की पसंदगी करना हानिकर तो होता नहीं, गुणकारी ही होता है। तमक श्वास में रोगी तृषा का वेग होने पर सुखोष्ण जल ही पीने का नियम रखे तो औषध-प्रयोग बिना भी उसे रोग के लक्षणों में अतीव लाघव प्रतीत होता है। प्रकृति भेद से शीत अथवा उष्ण जल का इस प्रकार, एवं सामान्यतः अहोरात्र में अन्य कालों में भी, पान उत्तम मूत्रल सिद्ध होता है। बर्फ, अथवा शीत जल में भिगोए वस्त्र की गद्दी का प्रादेशिक उपयोग करने से नासागत रक्त पित (नकसीर), रक्तछर्द्रि) आदि में रक्त-स्तम्भत्त होता है। बर्फ चुसाने से भी सामान्य अथवा रक्त की छर्दि एवं तृषाधिक्य में लाभ होता है, बर्फ त्वचा पर घिसने से प्रादेशिक रक्त वाहिनियों का तो आकुञ्चन होता ही है प्रत्यावर्तित क्रिया (रिफ्लेक्स) द्वारा अन्तरावयवों के रक्तवाही स्रोत भी संकुचित होते हैं। अतएव, ऊपर कहे प्रकार से आभ्यन्तर रक्तस्राव में भी लाभ होता है। ५० से ६० अंश फेरनहीट उष्णता-मान के शीतल जल से स्नान शरीर के लिए अति उत्कृष्ट बलावह (टानिक) होता है। इस अन्नपान के जठराग्नि द्वारा पचन एवं धात्वग्नियों द्वारा पाक (मेटाबॉलिजम) की क्रिया सुधरती है। शीत जल, वायु, शीतल स्थान पर शयन आदि से उष्ण द्रव्यों के विपरीत स्तब्तधा, ग्रह, शूल (यथा, कटि में) आदि होते हैं।

शीत जल की जो क्रिया ऊपर दर्शाई है वही क्रिया शीत ऋतु अथवा काल अथवा हिमपात (ओस, कुहासा, या बर्फ पड़ना), शीतल वायु आदि की भी शरीर पर होती है। इसी प्रकार उष्ण जल के तुल्य ही क्रिया सूर्यातप (धूप), उष्ण जल के झरनों में स्नान, विभिन्न स्वेद, अग्नि

के ताप, उष्ण काल एवं विशेषतः उष्ण काल में निवात गृह में निवास आदि की भी शरीर पर हुआ करती है।

इस प्रकार यहां सामान्य लोक-व्यवहार में, ठंढे या गर्म नाम से प्रसिद्ध जल आदि द्रव्यों में स्थित भौतिक (फिजिकल) शीतता या उष्णता की शरीर पर क्रिया देखी गई, ऐसी ही क्रिया शरीर के अङ्गभूत दोष आदि की अथवा शरीर-बाह्य आहारौषध द्रव्यों की देखकर उनमें प्रकृत्या शीत किंवा उष्ण गुण अथवा वीर्य होने का निश्चय पूर्वाचार्यों ने किया। इसी परिपाटी का अनुसरण कर शेष गुणों अथवा वीर्यों को तत्-तत् संज्ञा प्रदान किये जाने की भी भूल शोधी जा सकती है।

सचित्र आयुर्वेद

आयुर्वेद में गुण-निरूपण



डॉ० अयोध्या प्रसाद अचल

एम० ए० (द्वय), पी० एच० डी०, आयुर्वेद-वृहस्पति,
योगायुर्वेद शोध संस्थान, बुनियादगंज,
गया-८२३००३

आयुर्वेद की दार्शनिक भित्ति बहुत हद तक भारतीय दर्शन हैं। भारतीय दर्शनों में से विशेष दर्शन में 'गुण' का समुचित विवेचन उपलब्ध होता है। अतः आयुर्वेद में वर्णित गुणों के स्वरूप को समझने के लिए आवश्यक है कि पहले हम वैशेषिक दर्शन में वर्णित गुणों के स्वरूप का संक्षेप में परिचय प्राप्त कर लें।

वैशेषिक दर्शन में गुण का स्वरूप

वैशेषिक दर्शन के अनुसार गुण सात पदार्थों में से एक है। इस दर्शन के सूत्रकार महर्षि कणाद ने गुण की परिभाषा निम्न शब्दों में दी है।

द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्कारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्। —वै० द० १।१।१६

उक्त परिभाषा का विश्लेषण करने पर हम पाते हैं कि इसमें गुण के तीन प्रमुख लक्षण बतलाए गये हैं—द्रव्याश्रित्व, निर्गुत्व और निष्क्रियत्व। नीचे संक्षेप में इनका विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

द्रव्याश्रित्व—द्रव्य स्वतः विद्यमान रहता है। वह वस्तुओं का समवायी कारण होता है। गुण की अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं होती। गुण की सत्ता को गुणवान की सत्ता से पृथक नहीं किया जा सकता। उसकी सत्ता बराबर द्रव्य के आधीन रहती है। गुण जब भी पाया

जाएगा द्रव्य में ही। यथा, लाली एक गुण है। लेकिन लाली जब भी पायी जाएगी किसी द्रव्य में ही, वस्तु में ही—जैसे लाल फूल, लाल कपड़ा, लाल रंग आदि। वस्तुओं से अलग लाली के स्वतंत्र अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती।

निर्गुणत्व—किन्तु मात्र द्रव्याश्रयी कहने से ही गुण का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। बहुत-से द्रव्य भी तो दूसरे द्रव्यों के आधीन रहते हैं। अतः गुण की परिभाषा में एक ऐसा विशेषण भी जोड़ना आवश्यक है जो उसे उक्त प्रकार के द्रव्यों से पृथक् कर सके। यही काम 'अगुणवान' करता है। जहाँ तक द्रव्यों का सवाल है वे चाहे स्वतंत्र हों या आश्रित उनमें गुण अवश्य होंगे पर गुण में कोई गुण नहीं होता।

निष्क्रियत्व—अब यदि हम मात्र इतना कहें कि गुण वह है जो द्रव्य के आश्रय में रहता है और अगुणवान होता है तो कर्म का भी इस परिभाषा में समावेश हो जाएगा चूँकि कर्म भी द्रव्य के आश्रय में रहता है और अगुणवान होता है। इसी अतिव्याप्ति के दोष से बचने के लिए इस परिभाषा में एक तीसरा विशेषण भी जोड़ा गया है "निष्क्रियत्व"। अर्थात् गुण निष्क्रिय होता है। उसमें स्वयं गति या कर्म नहीं पाया जाता। कर्म या गतिशीलता द्रव्य के आश्रित है। कोई द्रव्य ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा सकता है। अपना स्थान परिवर्तन कर सकता है, गुण नहीं। गुण की यही विशेषता उसे कर्म से पृथक् करती है। कर्म संयोग, विभाग आदि का कारण है। लेकिन गुण में यह बात नहीं है। उसे संयोग विभाग आदि से कोई मतलब नहीं है। इसी भेद को परिलक्षित करने लिए परिभाषा में "संयोगविभागेष्व-कारण मनपेक्षः" कहा गया है।

गुणों का वर्गीकरण

वैशेषिक दर्शन के प्रमुख भाष्यकार प्रशस्तपादाचार्य ने गुणों का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से वर्गीकरण किया है। उनमें से प्रमुख निम्न हैं :—

क—द्रव्यों में उपस्थिति के आधार पर

(१) एक ही द्रव्य में रहनेवाले—यथा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि।

(२) दो या अधिक द्रव्यों में रहनेवाले—यथा संयोग, विभाग आदि।

ख—वैशिष्ट्य के आधार पर

(१) **विशेष**—विशेष गुण किसी भी द्रव्य, वस्तु का विभेदकगुण होता है। इसी आधार पर उस गुण को धारण करनेवाले द्रव्य का दूसरे गुणों से भेद किया जाता है। यथा शब्द आकाश का विशेष गुण या विभेदक गुण है। यह मात्र आकाश में ही पाया जाता है। इसी गुण के कारण आकाश अन्य द्रव्यों से भिन्न है।

(२) सामान्य—सामान्य गुण वे गुण हैं जो सामान्य रूप से एक साथ अनेक द्रव्यों में पाए जाते हैं, यथा संख्या, परत्व, अपरत्व आदि।

(ग)—इन्द्रियगम्यता के आधार पर

(१) ऐसे गुण जिनका एक ही इंन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष किया जा सकता है, यथा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि। रूप का प्रत्यक्ष-मात्र नेत्रेन्द्रिय से, रस का मात्र रसेन्द्रिय से, गन्ध का गन्धेन्द्रिय से, स्पर्श का स्पर्शेन्द्रिय से, तथा शब्द का प्रत्यक्ष मात्र श्रोत्रेन्द्रिय से ही किया जा सकता है।

(२) ऐसे गुण जिनका प्रत्यक्ष एक से अधिक इंद्रियों के द्वारा किया जा सकता है, यथा दूरी, संयोग, तरलता, संख्या आदि। संख्या का ज्ञान देखकर, स्पर्श करके तथा सुन करके भी प्राप्त किया जा सकता है।

(३) ऐसे गुण जो इन्द्रियगम्य नहीं हैं इनका ज्ञान प्रत्यक्ष के अलावा अन्य प्रमाणों (अनुमान आदि) के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। जैसे धर्म, अधर्म, संस्कार आदि।

गुणों की संख्या

महर्षि कणाद का गुणों के नाम-निर्देश से सम्बन्धित निम्न सूत्र है —

रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्या परिमाण पृथकत्वं संयोग--विभागौ परत्परापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः। —वै० द० १।१।६

इस सूत्र में कुल १७ गुणों के नाम आए हैं। लेकिन अन्त में जो 'च' शब्द आया है उससे भाष्यकार प्रशस्त-पादाचार्य ने उसमें ७ गुण और जोड़े हैं। इससे सब मिलाकर गुणों की संख्या २४ हो जाती है। नीचे इनका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

(१) **रूप**—वह गुण जिसे केवल नेत्रेन्द्रिय ग्रहण करती है। रूप के आधारभूत तीन द्रव्य हैं-पृथ्वी, जल और तेज। रूप इन्हीं तीनों में पाया जाता है। रूप के आठ भेद बतलाए गए हैं-। उजला, लाल, पीला, काला, हरा, भूरा, नीला और चितकबरा।

(२) **रस**—वह गुण जिसे मात्र रसनेन्द्रिय ही ग्रहण करे। रस छः प्रकार के माने गएं हैं-मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त।

(३) **गन्ध**—वह गुण जिसे मात्र गन्धेन्द्रिय ही ग्रहण करती है। गन्ध दो प्रकार की मानी गई है-सुगन्ध और दुर्गन्ध।

(४)**स्पर्श**—वह गुण जिसे मात्र स्पर्शेन्द्रिय ही ग्रहण करती है। स्पर्श तीन प्रकार का माना गया है-शीत, उष्ण तथा अनुष्णशीत (न ठण्डा न गरम)।

(५) **शब्द** वह गुण जिसे मात्र श्रोत्रेन्द्रिय ही ग्रहण करती है। इसके दो भेद माने गए हैं-'वर्णात्मक' जिसका कण्ठ-तालु आदि की सहायता से उच्चारण किया जाए तथा 'ध्वन्यात्मक' जो अस्फुट ध्वनि मात्र हो।

(६) **संख्या**—जिस गुण से एक, दो, तीन, आदि शब्दों का व्यवहार किया जाता है उसे संख्या कहते हैं। संख्या की वृति नित्य, अनित्य, प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष आदि सभी द्रव्यों में है।

(७) **परिमाण**—अधिकता, अल्पता, छोटा, बड़ा आदि का बोध कराने वाले गुण को परिमाण कहा जाता है। संख्या की तरह यह भी सभी द्रव्यों में पाया जाता है। इसके चार भेद माने गए हैं-अणु, महत्, ह्रस्व और दीर्घ।

(८) **पृथकत्व**—'यह उससे अलग है' ऐसा ज्ञान-बोध जिसके आधार पर होता है उसे पृथकत्व कहते हैं।

संयोग—संयोग के व्यवहार का हेतु अर्थात् 'यह पदार्थ उसके साथ संयुक्त है' यह बोध कराने वाले गुण को संयोग कहते हैं। संयोग दो पहले से अलग पदार्थों का बाह्य सम्बन्ध है। यह तीन प्रकार का माना गया है-

क-**अन्यतरकर्मज**—जहां एक पक्ष आकर दूसरे से मिल जाता है।

ख-**उभयकर्मज**—जहां दोनों ही पक्षों की क्रिया संयोग का कारण होती है।

ग-**संयोगज**—जहां एक संयोग से दूसरा संयोग स्वतः हो जाता है।

(१०) **विभाग**—जो पदार्थ पहले से परस्पर संयुक्त या मिले हुए थे, उनका अलग हो जाना ही विभाग कहलाता है। संयोग की तरह ही विभाग भी तीन प्रकार का हो सकता है-अन्यतरकर्मज, उभयकर्मज और विभागज।

(११-१२) **परत्व एवं अपरत्व**—दूर और समीप के व्यवहार के हेतु गुणों को परत्व और अपरत्व कहते हैं। ये भी दो प्रकार के माने गए हैं-दैशिक एवं कालिक। एक ही पदार्थ देश की दृष्टि से पर और काल की दृष्टि से अपर तथा उसका विपरीत भी सम्भव हो सकता है। यह ध्यान रखना चाहिए कि परत्वापरत्व सापेक्ष होते हैं।

(१३) **गुरुत्व**—जिस गुण के कारण पदार्थ की गति स्वाभाविक रूप से नीचे की ओर होती है उसे गुरुत्व कहते हैं।

(१४) **द्रवत्व**—जिस गुण के कारण कोई वस्तु बहती है उसे द्रवत्व कहते हैं। द्रवत्व दो प्रकार का होता है-सांसिद्धिक अर्थात् स्वाभाविक, जैसे जल में, तथा नैमित्तिक अर्थात् कारण विशेष से प्रसूत, जैसे घी, अग्नि के संयोग पाकर पिघल जाता है।

(१५) **स्नेह**—जिस गुण के कारण किसी वस्तु में संग्रह-पिण्डीभाव (अर्थात् चूर्ण से पिण्ड के रूप में परिवर्तित हो जाना) तथा चिकनाहट पाए जाते हैं उसे स्नेह कहते हैं। स्नेह केवल जल में ही पाया जाता है। तेल, घी आदि पार्थिव वस्तुओं में जो स्नेह के लक्षण देखने को मिलते हैं वे उनके जलीय अंश का ही धर्म हैं।

(१६) **संस्कार**—संस्कार के तीन भेद बतलाए गए हैं—वेग, भावना और स्थितिस्थापक। कर्मज संस्कारों को वेग कहते हैं। मूर्त द्रव्यों में कारण विशेष से वेग उत्पन्न होता है। इसी के कारण द्रव्य किसी दिशा विशेष में गतिमान होता है। ज्ञानज संस्कार को 'भावना' कहते

। भावना आत्मा का गुण है। यही स्मरण और त्तिभिज्ञान का कारण है। प्रतिकूल ज्ञान, मद तथा :खादि इसके विरोधी हैं। जिस गुण के कारण पदार्थो स्थानच्युत अवयव पुनः अपने स्वाभाविक स्थान पर आ जाते हैं उसे 'स्थितिस्थापक' कहते है।

(१७) **बुद्धि**—सभी प्रकार के व्यवहार का हेतु ज्ञान बुद्धि कहलाती है। बुद्धि के दो भेद हैं—अनुभव और स्मृति। यथार्थ अनुभव को ही प्रमा भी कहते हैं। अनुभव दो प्रकार का होता है—प्रत्यक्ष और लैंगिक। लैंगिक ज्ञान ही अनुमिति कहलाता है। प्रत्यक्ष ज्ञान की दो अवस्थाएं होती हैं—सविकल्प और निर्विकल्प। अनुमान के पांच अवयव होते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन।

पूर्वानुभव के संस्कार से जो ज्ञान होता है उसे स्मृति कहते हैं। अनुभव दो प्रकार का होता है—यथार्थ और अयथार्थ। यथार्थ अनुभव को प्रमा और अयथार्य अनुभव को अप्रमा कहते हैं। अयथार्थ अनुभव के भी दो भेद माने गए हैं—संशय और विपर्यय।

(१८) **प्रयत्न**—उत्साह और उद्योग का भाव, या कार्य के आरम्भक गुण को प्रयत्न कहते हैं। प्रयत्न दो प्रकार का होता है—जीवनपूर्वक अर्थात् जो प्रयत्न आत्मा और मन के सयोग से हो, तथा इच्छाद्वेषपूर्वक अर्थात् जो इच्छा और द्वेष से प्रेरित हो। विषय के अनुसार भी प्रयत्न के तीन भेद किए जाते हैं—विहित, निषिद्ध तथा उदासीन।

(१९-२०) **सुख और दुःखः**—जो सभी के अनुकूल हो, जिससे सभी को आनन्द की प्राप्ति हो, उसे सुख कहते है। सुख दो प्रकार का माना गया है—सांसारिक और स्वर्गीय अथवा लौकिक और अलौकिक। सांसारिक सुख प्रयत्नसाध्य होता है और स्वर्गीय सुख इच्छाधीन।

सुख का उलटा, जिसे कोई न चाहे उसे दुःख कहते हैं।

(२१) **इच्छा**—किसी वस्तु की कामना को इच्छा कहते हैं। इच्छा आत्मा और मन के संयोग से, सुख अथवा सुख की स्मृति के कारण उत्पन्न होती है। कामना, अभिलाषा, संकल्प आदि इसी के भेद हैं।

(२२) **द्वेष**—जिससे चित्त में दग्धता की अनुभूति हो उसे द्वेष कहते हैं। यह भी आत्मा और मन के संयोग से, दुःख या दुःख की स्मृति के कारण उत्पन्न होता है। क्रोध, मोह, मन्यु, अमर्ष आदि इसी के भेद हैं।

(२३-२४) **धर्माधर्म**—धर्म आत्मा का गुण है। जिसके द्वारा कर्त्ता को सुख, सुख-साधन अथवा मोक्ष की प्राप्ति हो उसे धर्म कहते हैं। धर्म के भी दो रूप हो सकते हैं—सामान्य और विशेष। सामान्य धर्म वे हैं जो सभी के लिए सामान्य रूप से विहित हों,—यथा अहिंसा, सत्य, परोपकार, दया, क्षमा आदि। विशेष धर्म वे हैं जिनका वर्ग, वर्ण या आश्रम विशेष के लिए विधान किया गया हो।

ठीक धर्म के विपरीत, जिसके द्वारा कर्त्ता का अहित हो, उसे दुख की प्राप्ति हो या वह बन्धन में पड़े, उसे अधर्म कहते हैं। धर्म में विहित आचरण के प्रतिकूल व्यवहार करना ही अधर्म है।

उक्त २४ गुण मूल गुण हैं। इनमें से अनेक के अनेक भेदोपभेद हो सकते हैं जैसा कहीं-कहीं संकेत भी किया गया है। उन सब को शामिल किया जाए तो गुणों की संख्या काफी बढ़ जा सकती है।

आयुर्वेदोक्त गुण और उनकी संख्या

जहां तक गुण की परिभाषा का सम्बन्ध हैं, चरकाचार्य ने भी वैशेषिक की परम्परा का अनुसरण करते हुए ही इसकी परिभाषा निम्न शब्दों में दी है —समवायी तु निश्चेष्टः कारणं गुणः—च० सू० १। पर आगे चल कर जैसा कि हम देखेंगे स्वयं चरक ने तथा अन्य संहिताकारों ने गुण शब्द का प्रायः वही अर्थ लिया है जो चिकित्सा शास्त्रीय दृष्टिकोण से ग्राह्य हो सकता है, उपयोगी हो सकता है।

चरक का गुणों की संख्या के सम्बन्ध में निम्न कथन है —

सार्था गुर्वादयो बुद्धिः प्रयत्नान्ताः परादयः।
गुणाप्रोक्ताः ॥ —च० सू०-१

अर्थात् 'अर्थ के साथ, गुरु, आदि, बुद्धि जिसके अन्त में प्रयत्न हैं, पर आदि—इन्हें गुण कहा जाता है।'

उक्त सूत्र की व्याख्या से स्पष्ट है कि चरक ने गुणों को चार वर्गों में बांटा है:—

क—**सार्था**—अर्थात् अर्थ के साथ। इसमें पांच इन्द्रिय गुण आते है—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध।

ख—**गुर्वादि**—अर्थात् गुरु आदि। ये २० हैं—गुरु, लघु, मन्द, तीक्ष्ण, हिम, उष्ण, स्निग्ध, रुक्ष, श्लक्ष्ण, खर, सान्द्र, द्रव, मृदु, कठिन, स्थिर, सर, सूक्ष्म, स्थूल, विशद और पिच्छिल।

ग--**बुद्धि आदि**—इनकी संख्या छः है—बुद्धि; सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न।

घ—**परादि**—इनकी संख्या दस है—पर, अपर, युक्ति संख्या, संयोग, विभाग, पृथकत्व, परिमाण, संस्कार और अभ्यास।

इस हिसाब से चरक के अनुसार गुणों की संख्या ४१ हुई।

चरक के अतिरिक्त अन्य संहिताकारों एवं भाष्य-कारों ने गुणों की संख्या मुख्य रूप से २० ही मानी है और उसमें गुर्वादि का समावेश किया है। चरक और वाग्भट की सूची लगभग समान है। सुश्रुत ने गुणों की संख्या तो बीस ही बतायी है पर सूत्र स्थान के ४६वें अध्याय में विवरण २२ का प्रस्तुत किया है। समन्वय की दृष्टि से उनके श्लक्ष्ण और कर्कश गुणों का क्रमशः पिच्छिल और विशद में अन्तर्भावन किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त सुश्रुतोक्त सुगन्ध, दुर्गन्ध, विकासी, व्यवायी भी चरक तथा वाग्भट में नहीं पाए जाते। शेष गुण लगभग समान हैं। लेकिन वाग्भट ने भी अन्यत्र २० से पृथक् व्यवायी, विकासी आदि गुणों का उल्लेख किया है—**इन्द्रियार्था व्यवायी च विकासी चापरे गुणाः**

—**अ० हृ० सू०-१।**

आयुर्वेदोक्त गुणों का संक्षिप्त परिचय

सुश्रुत के सूत्र स्थान के ४६वें अध्याय तथा भाव प्रकाश के प्रथम खण्ड में आयुर्वेदोक्त गुणों का विस्तार से परिचय दिया गया है। उन्हीं विवरणों के आधार पर यहां संक्षेप में उनका उल्लेख किया जा रहा है—

(१) **लघु**—हलका, शीघ्र पचनेवाला, परम पथ्य, कफनाशक, शरीर कृशकारक एवं व्रणरोपक।

(२) **गुरु**—भारी, देर से पचनेवाला, वातनाशक, पुष्टिकारक, कफवर्धक; स्थूलता लानेवाला एवं मलवृद्धिकर है।

(३) **मन्द**—शिथिल, देर से एवं थोड़ा प्रभाव उत्पन्न करनेवाला।

(४) **तीक्ष्ण**—तीखा, शीघ्र ही एवं अधिक मात्रा में प्रभाव उत्पन्न करनेवाला।

(५) **हिम**—शीत, ठण्डा, आह्लाद देनेवाला (रक्तादि की) गति को रोकनेवाला, मूर्च्छा, तृषा, स्वेद और दाह का शामक या नाश करनेवाला।

(६) **उष्ण**—गर्म, शीतगुण के विपरीत कार्य करने-वाला, उष्णताजनक एवं पाचक।

(७) **स्निग्ध**—चिकना, तर, स्नेह और मार्दव करने-वाला, बल-वर्ण-वर्धक, स्तम्भक, वातनाशक एवं वृष्य है।

(८) **रुक्ष**—रूखा, खुश्क, वातकारक एवं कफनाशक।

(९) **श्लक्ष्ण**—साफ, स्नेह से रहित एवं कठोर होने पर चिकना।

(१०) **खर**...खुरदरा, (त्वचा आदि में) खुरदरापन उत्पन्न करने वाला।

(११) **द्रव**—पतला, शरीर को तर करने वाला।

(१२) **सान्द्र**—(सुश्रुत के शब्दों में 'शुष्क') गाढ़ा, क्लेद-नाशक शुष्कताजनक, शरीर को स्थूल एवं पुष्ट करने वाला।

(१३) **मृदु**—कोमल, नरम, मृदुता या सुकुमारता उत्पन्न करने वाला।

(१४) **कठिन**—(सुश्रुत के शब्दों में 'कर्कश') कठोर, कड़ा, सख्त, निष्ठुरता, क्रूरता एवं दृढ़ता को उत्पन्न करने वाला।

(१५) **स्थिर**—अचल, स्थायी, वायु, मल एवं हृदय आदि अवयवों की गति को अवरुद्ध करने वाला।

(१६) **सर**—चल, फैलने वाला, गतिशील; वायु एवं मल आदि का प्रवर्तक, हृदय आदि अवयवों के गतिरोध को दूर करने वाला।

(१७) **सूक्ष्म**—शरीर के सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्रोतों में भी सरण या आसानी से प्रवेश करने वाला।

(१८) **स्थूल**—मोटा, शरीर में स्थूलता एवं स्रोतों में अवरोध उत्पन्न करने वाला।

(१९) विशुद्—टूट जाने वाला, क्लेदनाशक, कफ आदि का लेखन करने वाला एवं व्रणरोपक।

(२०) पिच्छिल—चिपचिपा, लुआबदार, लसीला, टूटी हुई हड्डी को जोड़ने वाला, कफ को बढ़ाकर ढीला करने वाला एवं बलकारक।

वैशेषिक दर्शन एवं आयुर्वेदोक्त गुणों की सूचियों की तुलना

(१) वैशेषिक दर्शन में गुणों की संख्या २० मानी गई है जबकि आयुर्वेद में चरक ने ४१ तथा अन्य संहिताकारों ने २० मानी है। चरक ने वैशेषिक दर्शन की मर्यादा की रक्षा करते हुए उस सूची में उन गुणों को और जोड़ लिया है जो चिकित्साशास्त्रीय दृष्टिकोण से अनिवार्य प्रतीत हुए। ये गुर्वादि बीस गुण, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, तथा युक्ति एवं अभ्यास। युक्ति का अर्थ है। दोष, 'देश, प्रकृति, काल आदि को ध्यान में रखते हुए की गई औषधि की योजना।' अभ्यास का अर्थ है। 'किसी भी भाव पदार्थ औषधि या व्यवहार का बार-बार सेवन करना।' शीलन एवं सतत क्रिया का भी प्राय: इसी अर्थ में प्रयोग किया गया है। वैशेषिक के धर्माधर्म को आयुर्वेद में गुणों की सूची में स्थान नहीं दिया गया है।

(२) वैशेषिक दर्शन में गुणों को प्राय: मूल सत्ता के अर्थ में लिया गया है। आयुर्वेद में गुण को लगभग उसी अर्थ में लिया गया है जिसे अर्वाचीन आयुर्विज्ञान में भेषजगुण विज्ञानीय प्रतिक्रिया या प्रभाव (Pharmacological Action) कहते हैं। यह बात चरक तथा सुश्रुत के निम्न कथनों से और भी स्पष्ट हो जाती है।

गुरुणां लाघवं विद्यात् संस्कारात सविपर्ययम्।
व्रीहेर्लाजा यथा च स्युः सक्तूनां सिद्धपिण्डिका।।
प्रकृतिविकृतिविचारदेशकालवशास्तेष्वाश्रयेषु
द्रव्यसंज्ञकेषु गुणः
गुरुलघुशीतोष्णस्निग्ध रूक्षाद्याः। —चरक
अतऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि गुणानां कर्मविस्तरम्।
कर्मभिस्त्वनुमीयंते नानाद्रव्याश्रया गुण।। —सुश्रुत

(३) वैशेषिक दर्शन में गुणों के वर्गीकरण का आधार पूर्णतया दार्शनिक एवं आध्यात्मिक है जबकि आयुर्वेद में चिकित्साशास्त्रीय दृष्टिकोण को प्रधानता दी गई है। यहां तक कि चरक ने अपनी सूची में वैशेषिक के जिन गुणों को स्थान दिया भी है उन्हें प्राय: उसी अर्थ में नहीं लिया है जिस अर्थ में वे वैशेषिक दर्शन में लिए गए हैं। उदाहरण के लिए संस्कार को ही लिया जाए। आयुर्वेद में इसे मर्दन, रंधन, भावना आदि अनेक प्रकार की क्रियाओं द्वारा द्रव्यों के गुणों में परिवर्तन उत्पन्न करने के अर्थ में लिया गया है। यही बात गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह आदि के बारे में भी कही जा सकती है।

(४) आयुर्वेद में मान्य गुरुवादि गुणों के अतिरिक्त वाग्भट ने तीन महागुणों का भी उल्लेख किया है—सत्व रजस्तमश्चेति त्रयः प्रोक्ता महागुणाः (अ० सं० सू०-१)। ये महागुण त्रिगुणात्मिका प्रकृति और उसके समस्त विकारों में पाए जाते हैं। अन्तर रहता है तो मात्र मात्रा और अनुपात का।

गुणों का साधर्म्य एवं वैधर्म्य

साधर्म्य

(१)- सभी गुणों में गुणत्व पाया जाता है।

(२)- सभी गुण द्रव्य के आश्रय में रहते हैं।

(३)- सभी गुण अगुणवान होते हैं।

(४)- सभी निष्क्रिय होते हैं।

वैधर्म्य—

(१) रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परत्व, अपरत्व एवं गुरु आदि बीस गुण मात्र स्थूल या मूर्त वस्तुओं में ही पाए जाते हैं।

(२)- बुद्धि, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार और शब्द मात्र अमूर्त वस्तुओं में पाए जाते हैं।

(३)- संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग और विभाग-ये मूर्त और अमूर्त दोनों ही प्रकार की वस्तुओं में पाए जाते हैं।

(४)- संयोग और विभाग के प्रकट होने के लिए निश्चित रूप से एक से अधिक वस्तु का होना आवश्यक है।

(५)- संख्या कभी एक और कभी अनेक वस्तुओं में पायी जाती है।

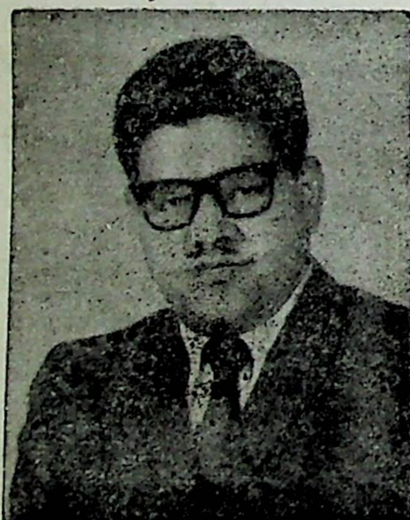
(६)- शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार और गुरु आदि बीस गुण—'विशेषस्तु पृथक्त्कृत के अनुसार विशेष गुण कहलाते हैं। ये विभेदक गुण का काम करते हैं।

(७)- संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और द्रवत्व—एक साथ अनेक वस्तुओं में पाए जाने के कारण सामान्य गुण कहलाते हैं।

प्रकृति निर्माण में पंचमहाभूतों का महत्त्व

सचित्र आयुर्वेद

SACHITRA AYURVED



वैद्य हरिदास श्रीधर कस्तुरे
M. A., G. C. A. M, H. P. A., काव्यतीर्थ
सुप्रिटेंडेंट, श्री म. अ. ह, सरकारी आयुर्वेद हॉस्पीटल,
अहमदाबाद

विकृति परीक्षा के पूर्व प्रकृति परीक्षा की जानी चाहिये, ऐसा आयुर्वेद शास्त्र का ठोस सिद्धांत है। आयुर्वेद में प्रकृति शब्द का उपयोग भिन्न-भिन्न अर्थ में लिया है, तथापि प्रयोजन आतुर परीक्षा की प्रकृति के अर्थ से भिन्न नहीं है।

सृष्टि-निर्माण-क्रम में सुश्रुत ने अव्यक्त, महान, अहंकार, तथा तज्यन्य पंच ज्ञानेंद्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, उभयेंद्रिय मन, और पंच तन्मात्रा इस तरह चातुर्विंशतिक तत्वों से पुरुष की उपपत्ति बतायी है। इनमें अव्यक्त, महान, अहंकार और पंचतन्मात्रा इनको अष्ट प्रकृति माना गया है और शेष सोलह को विकार माना गया है।[1] चरक ने भी 'प्रकृतिः का, विकारः के ?' इसके उत्तर में-आकाशादि पंच सूक्ष्म भूत, बुद्धि, अव्यक्त और अहंकार इनको भूत प्रकृति कहा है। और अन्य सोलह तत्वों को विकृति कहा है।[2] अव्यक्त यह प्रकृति का पर्याय है। और सत्वरजतमो रूप इस अव्यक्त से महदादि की उत्पत्ति होती है जो अपने कारण की अपेक्षा विकृति है। और अपने कार्य की अपेक्षा प्रकृति रूप होते हैं।

प्रकृति शब्द के विभिन्न अर्थ :—

चक्रपाणि ने प्रकृति शब्द का अर्थ कारण ऐसा किया

१. सु०.शा० १-३,४,५,६,
२. च० शा० १-६३

है। वायु के वर्णन में 'शब्द स्पर्श को प्रकृति' ऐसा कहा है। 'प्रकृतिश्च शब्द स्पर्शयो:' कहा है। जहां चक्रपाणि शब्द और स्पर्श के कारण रूप प्रकृति शब्द लेते हैं। 'रोग प्रकृति' शब्द की टीका में भी चक्रपाणि रोग का कारण ऐसा अर्थ करते हैं।

अन्यत्र प्रकृति शब्द से स्वभाव अर्थ किया है। दोषों के क्षय-वृद्धि-लक्षणों का वर्णन करते समय कहा है कि दोषों की प्रकृति से (कार्यों से) विशेषता होना यह दोष-वृद्धि का लक्षण है-यहां दोष प्रकृति में दोषों का स्वभाव ऐसा अर्थ किया है।[३] चरक ने भी 'प्रकृतिरुच्यते स्वभावो' ऐसा कह कर प्रकृति का अर्थ द्रव्यादि का स्वभाव किया है।[४]

प्रकृति क्या है ?:—

जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट किया गया है-प्रकृति शब्द से मूल कारण तथा स्वभाव ऐसे दो अर्थ इंगित किये गये हैं। 'स्वस्थ भाव: स्वभाव:'-'भवंति सत्तामनुभवंति इति भाव:' के अनुसार-अपने भावों को स्वभाव कहते हैं। और भाव वे हैं-जो होते हैं-सत्ता (अस्तित्व) का अनुभव करते हैं। मनुष्य का अपना शरीर का संहनन, दोषों के स्वभाव, धातुओं के कार्य की नियत गति, मन, बुद्धि तथा इंद्रियों के अपने-अपने विषयों में विशिष्ट कार्यकारिता इनमें जो भाव उत्पन्न होते हैं उनके द्वारा उस मनुष्य का स्वभाव निश्चित होता है।

प्रकृति ज्ञान का प्रयोजन:—

किसी व्यक्ति की प्रकृति मालूम कराना इसलिये आवश्यक होता है कि व्यक्ति विशेष के अनुसार उसके अनुकूल आहार-विहार देश-काल तथा रोग - परीक्षा और रोग-चिकित्सा निश्चित कर सकते हैं।

(अ) स्वस्थ मनुष्यों में हिताहित ज्ञानार्थ प्रकृति ज्ञान:-एक व्यक्ति के लिये जो हितकारक होता है वह दूसरे व्यक्ति के लिये अहितकारक भी हो सकता है। चक्रपाणि में स्वस्थ पुरुषों के अनेक प्रकृतिभेद किये गए हैं। उन प्रकृतिभेदों के अनुसार हिताहित जानने के लिये प्रकृतिज्ञान आवश्यक होता है।[१]

(आ) ऋत्वनुकूल आहार विहारादि सात्म्य ज्ञान के लिये प्रकृति ज्ञान आवश्यक होता है :[२]

(इ) बल परीक्षा के लिये प्रकृति ज्ञान:-बल तीन प्रकार का होता है। सहज, कालज तथा युक्तिकृत बल।[३] इनमें सहज बल वह होता है जो शरीर तथा मन का प्राकृतिक बल है।

सत्व-अर्थात् मन का बल उत्साह है। मन का वह बल जो जन्मादि प्रवृत्त हो तथा प्राकृत धातु की वृद्धि से अन्य हेतु की अपेक्षा न रखते हुए उत्पन्न होता है। कई लोग स्वभाव से दुर्बल होते हैं और कई बलवान होते हैं। यह बल रोग-ज्ञान तथा चिकित्सा में महत्त्व का होता है।।

(ई) विकृति ज्ञान के लिये प्रकृति ज्ञान:—प्रकृति ज्ञानांतरत्वाद् विकृति ज्ञानस्य......के कारण विकृति ज्ञान यथावत् होने के लिये प्रकृति ज्ञान आवश्यक होता है।

(उ) रोगावस्था तथा रोगबल ज्ञान के लिये प्रकृति का ज्ञान आवश्यक होता है।

(ऊ) साध्यासाध्यता ज्ञान के लिये प्रकृति ज्ञान आवश्यक होता है।

(ए) अरिष्ट-अर्थात् मृत्यु सूचक लक्षणों को ठीक प्रकार से समझने के लिये प्रकृति ज्ञान आवश्यक होता है।[४]

(ऐ) आयुष्य तथा वय के निर्धारण के लिये प्रकृति ज्ञान आवश्यक होता है।

प्रकृत्युत्पादक घटक कारण-तथा पंचमहाभूत:

प्रकृति के अनेक भेद चरक ने बताए हैं। ये भेद वस्तुत: प्रकृत्युत्पादक घटकों के आधार पर ही निश्चित किए गये हैं। ये भेद हैं--१. शुक्रशोणित प्रकृति २. काल गर्भाशय प्रकृति ३. मातुराहारविहार प्रकृति ४. जाति-कुल देश वयानुपातिनी प्रकृति ५. प्रत्यात्मनियता प्रकृति ?[५]

३. च० सू० १७-६० पर चक्रपाणि
४. च० वि० १-२६

१. च० पा: च० सू० ७.४१ पर
२. च० पा० च० सू० ७.४१ पर
३. च० सू० ११-६६
४. च. इं. ९-११ पर च. पा.
५. च. वि. ८-७७

यद्यपि चरक ने इन्हें कारण के रूप में कहा नहीं है तथापि चक्रपाणि ने स्पष्ट किया है कि ये घटक प्रकृति निर्माण में कारण ही हैं।' अर्थात् शुक्र शोणित-कालादि जो प्रकृति उत्पादक कारण है उनमें जो बलवान होगा, कारणांतर से पुष्ट होगा, वह प्रकृत्यारंभक होता है। काल गर्भाशयादि हेतु-शुक्र-शोणित को प्रभावित करके ही प्रकृत्युत्पादक होते हैं। तन्नांतर में शुक्र - शोणितगत दोष के द्वारा ही प्रकृति उत्पत्ति कही गई है।

सुश्रुत ने शुक्रशोणित संयोग के दोषोत्कता के आधार पर प्रकृति उत्पन्न होती है, ऐसा कहा है।'[1] डल्हणमतानुसार वातादि जो प्राकृत उत्कटता में होते हैं वे प्रकृति निर्माण के लिये तथा विकृत दोष जो एकदेशीय उत्कटता युक्त होते हैं; गर्भव्याघातकर होते हैं।[3] वाग्भटने शुक्र शोणितादि घटकों को स्पष्ट रूप से प्रकृति उत्पादक कारण स्वरूप मान लिया है।[4]

गर्भधारण के समय—शुक्र शोणित के संयोग में जो दोष उत्कट होगा उसकी प्रकृति होगी। गर्भधारण के समय जीव संमूर्च्छना के साथ-साथ ही प्रकृति-निर्माण होता है। संक्षेप में प्रत्येक मनुष्य अपने शरीर का संहनन, आभ्यंतर अवयवों का रचना - वैशिष्ट्य, बुद्धि, मन, इंद्रियों का प्रसाद, अथवा विषाद इत्यादि भाव शुक्र-शोणित से अर्थात अपने माता-पिता से प्राप्त करता है। प्रकृति निर्माण में शुक्र-शोणित, मातुराहार विहार, काल-गर्भाशय इत्यादि घटकों द्वारा क्या-क्या तत्वों का निर्माण होता है यह स्वतंत्र विषय है इसका विस्तार चरक में मूल संदर्भ में देखना चाहिये। यहां हम महाभूतों का इसमें जो कार्य भाग है इसका विस्तार से वर्णन करेंगे।

पंच महाभूतों का प्रकृति-निर्माण में महत्व :

पंच महाभूत—पृथ्वि, आप, तेज, वायु और आकाश इनके समुदाय के साथ आत्मा का संयोग होना यह षड्धातुज पुरुष कहलाता है। केवल शरीर की ही निर्मिति में नहीं अपितु मन के साथ भी महाभूतों का सम्बन्ध होता है। आयुर्वेद में मन को भौतिक माना गया है।

प्रकृति-निर्माण में महाभूतों का अत्यंत महत्वपूर्ण भाग होता है। चरक शारीर अध्याय दो में एक प्रश्न पूछा गया है कि—गर्भ शरीर में परम्परागत सदृश भाव क्यों उत्पन्न होते हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं कि—गर्भ में मातृज, पितृज, आत्मकर्मज तथा आहारजन्य भाव-और चार प्रकार के चार भूत ये कारण होते हैं—जिनमें जो कारण बलवान होता है उस महाभूत के सदृश रूप उस संतान में होता है। और मन में सत्व-रज—तथा तम में जो गुण प्रधान होता है वैसे ही उसकी उत्पत्ति होती है।

यहां चक्रपाणि टीका में कहते हैं कि—'**जन्त्वनुव्यानं सादृश्य कारणमभिधाय**—सादृश्य कारणांतर माह...' अर्थात् परंपरागत रूप सादृश्य उत्पन्न होने का। दूसरा कारण बताते हैं। यहां चार भूतों का ही निर्देश किया है। आकाश को निर्विशेषत्व के कारण छोड़ दिया है। मातृ संभव का अर्थ है---माता का शोणित (बीज) और पितृ संभव का अर्थ है--पिता का शुक्र--। आहार-से-शुक्र-शोणित संयोग के अनंतर मातुराहार लेना चाहिये। आत्मकृतानि का अर्थ है--आत्मा के द्वारा कृत कर्मों की प्रतिबद्धता। इनके शुभ कर्मों से सदृश और अशुभ कर्मों से विसदृश रूप उत्पन्न होता है। आत्मा के अन्दर जो सूक्ष्मभूत होते हैं उसे अतिवाहिक शरीर रुप कहते हैं। वे सादृश्य में कारण होते हैं।

इसका सरलार्थ यह है कि शुक्र--शोणित--तथा मातुराहार इनमें भी भूतों की उपस्थिति होती हैं और उनमें पार्थिवादि जो बलवान होगा उसके सदृश रूप, वर्णादि गर्भ में प्राप्त होते हैं। और इस क्रिया में आत्म कर्म (प्राक्तन) भी महत्व का भाग रखता है।

आत्मा के बारे में कहा गया है कि--वह चार भूतों के साथ सूक्ष्मतया संयुक्त हो कर पूर्व कर्मानुसार मनोवेग से एक देह से--अर्थात् मृत देह से निकल कर अन्य देह में प्रवेश करता है--दिव्य चक्षु से ही यह आवागमन दिख सकता है।[1]

१. उपर्युक्त पर च. पा.
२. सू. शा. ४.
३. उपर्युक्तपद डल्हण.
४. अ. हृ. सू. ३-७२

१. च. शा. २-३१

चक्रपाणि ने सूक्ष्म का अर्थ अतिद्रिय कहा है। आकाश निष्क्रिय होने के कारण उसका देहान्तर गमन कहा नहीं गया है। इससे-आत्मा व्यापक होते हुए यद्यपि इसे देहांतर गत नहीं है--तथापि उसकी मनोगति से भूतसहित गति अभिप्रेत है। उस अतिवाहिक शरीरयुक्त आत्मा का दृश्यरूप नहीं होता--योगी लोग ही दिव्य चक्षु से उसे देख सकते हैं।[2]

शरीर में रस, आत्मा, मातृज भाव, पितृज भाव इनके भेद से चार महाभूत से सोलह प्रकार के होते हैं। और आत्मा इन महाभूतों में आश्रित होती है।[3]

इस तरह विचार करने पर प्रतीत होगा कि महाभूतों के बाहुल्य से तत्सदृश परम्परागत भाव-रूप-वर्ण उत्पन्न होते हैं। इन सोलह प्रकारों को निम्नांकित तरह से स्पष्ट किया जा सकता है।

महाभूतों के आधार पर रसजादि भावों के सोलह प्रकार--

१. रसज भावों में पृथ्वी महाभूत का बाहुल्य
२. ,, ,, ,, अप् ,, ,, ,,
३. ,, ,, ,, तेज ,, ,, ,,
४. ,, ,, ,, वायु ,, ,, ,,
५. आत्मज भावों में पृथ्वी ,, ,, ,,
६. ,, ,, ,, अप् ,, ,, ,,
७, ,, ,, ,, तेज ,, ,, ,,
८. ,, ,, ,, वायु ,, ,, ,,
९, मातृज (शोणित) भावों में पृथ्वी ,, ,,
१०. ,, ,, अप् ,, ,, ,,
११. ,, ,, तेज ,, ,, ,,
१२. ,, ,, वायु ,, ,, ,,
१३. पितृज (शुक्र) ,, पृथ्वि ,, ,, ,,
१४. ,, ,, अप् ,, ,, ,,
१५. ,, ,, तेज ,, ,, ,,
१६. ,, ,, वायु ,, ,, ,,

दूसरे प्रकार से कहना हो तो (१) पृथ्वी, महाभूत प्रधान रसज[1] भाव, पृथ्वी महाभूत प्रधान आत्मज[2] भाव, पृथ्वी महाभूत प्रधान मातृज[3] भाव और पृथ्वी

२. च. पा. उपर्युक्त पर
३. च. शा. २. ३३.

महाभूत प्रधान पितृज[4] भाव गर्भ में होते हैं। (२) अप् महाभूत प्रधान रसज[5] भाव, आत्मज[6] भाव, मातृज[7] भाव और पितृज[8] भाव गर्भ में होते हैं। (३) तेज महाभूत प्रधान रसज[9], आत्मज[10], मातृज[11] तथा पितृज[12] भाव होते हैं। और (४) वायुमहाभूत प्रधान रसज[13], आत्मज[14] मातृज[15] और पितृज[16] भाव उत्पन्न होते हैं।

यहां चक्रपाणि और स्पष्टता करते हैं कि आत्मा की जो देहान्तरगति है वह महाभूतों के आश्रय से रहने वाले आत्मा की ही है न कि व्यापक आत्मा की।[1]

माता और पिता के द्वारा उत्पन्न होनेवाली महाभूतों की अवस्था गर्भ मे रज और शुक्र कहलाती हैं। पांच महाभूतों के द्वारा शुक्र और आर्तव की वृद्धि होती हैं। और रस के द्वारा महाभूतों का पोषण होता है। चारों महाभूत जो आत्मा में आश्रय लेकर या लीन होकर आत्मा के साथ गर्भ में प्रविष्ट होते हैं वे कर्मजन्य कहलाते हैं--- और पूर्वकृत शुभ तथा अशुभ कर्मों के अनुसार गर्भ में प्रविष्ट होते हैं---यह बीजधर्मा, सूक्ष्मकारणभूत आत्मा चेतना धातु स्वरूप आत्मा में जाती हुई शुभाशुभ विभिन्न शरीर में चली जाती है।[2]

इसका अर्थ ऐसा है कि आत्मा जो चार महाभूतों के आश्रय से रहता है...वह बीज धर्मा कर्मवश आत्मा है पर चेतना रूप आत्मा से मिल जाता है। अर्थात् महाभूतों का ही रूप से रूपप्रभव में उत्तरदायित्व है।

रुपसदृश रूप प्रभव में महाभूतों की उत्तरदायिता---

आत्मलीन भूतसंतान आत्मा को चक्रपाणि ने बीजस्वरूप कहा है। और बीज अपने सदृश अंकुर को जन्म देता है। जिससे यह आत्मलीन भूत संतान (महाभूत-समुदाय) सदृश रूप देहरूप धारण कर बीजधर्मा हो जाता है। "रूपाद्धिरूप प्रभवः प्रसिद्धः रूप से ही सदृश रूप होता है...इस प्रसिद्ध सूत्र पर टीका करते हुए चक्रपाणि कहते हैं...[3]जो आँखों से देखी नहीं जाती ऐसी भूत-

१, च० पा० च० शा २-३३ पर
२. च० शा० २-३४,३५
३. च० पा० उपर्युक्त पर

चतुष्टयी मन की प्रवृत्ति के साथ बीजधर्मिणी है, ऐसा क्यों स्वीकार करना चाहिये ? क्योंकि परिदृश्यमान षड्-भौतिक शरीर शुक्रशोणित कारक है। इसलिये रूप से रूप - प्रभव कहा जाता है। रूप का अर्थ 'रुप्यते-इति रुपं भौतिकं शरीरं' ऐसा है। इससे अभौतिक शरीर से भौतिक शरीर उत्पन्न होता है। यह आगमसिद्ध है। जिससे आगम से ही सांख्यदर्शन रूप से अतिवाहिक शरीर से व्यक्त शरीर उत्पन्न होता है। यद्यपि गर्भ शरीर की उत्पत्ति मेंशुक्र और रज ही कारण रूप है तथापि अतिवाहिक सूक्ष्म-भूत शरीर मिल जाय तो भी शरीर की उत्पत्ति करेंगे—अन्यथा नहीं। अगर शुक्रशोणित अतिवाहिक भूतशरीर की निरपेक्षया गर्भजनन करेंगे तो क्या जीवाधिष्ठान के विना कर सकेंगे ? कदापि नहीं। अतः सिद्ध है कि आत्मा स्थित सूक्ष्म भूतों के द्वारा ही बीज रूप शुक्रशोणित के साथ गर्भ जन्म लेता है। ये आत्मा स्थित तीनभूत माता और पिता के भूतों के समान कर्मवशात् शरीरोत्पत्ति में कारण होते हैं।[1] स्पष्टार्थ यह हुआ कि माता-पिता के सदृश रूप प्राप्ति में महाभूतों के विकारों का अतीव महत्त्व है।

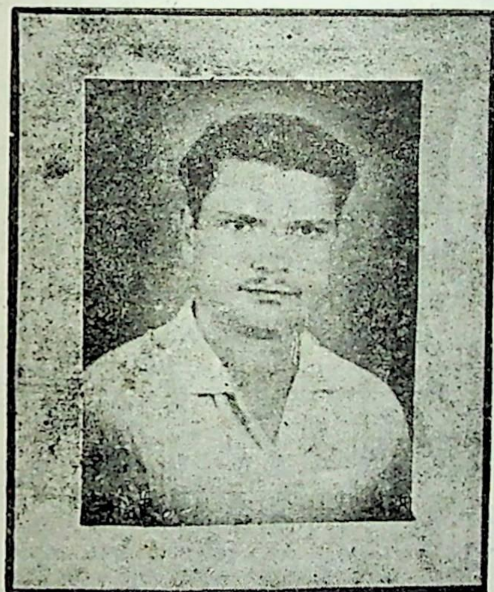
यहाँ स्पष्टतया एक और बात समझनी चाहिये कि महाभूतों के आश्रय से आत्मा रहता है—अतएव प्रकृति-निर्माण में जो आत्मज भाव कहे गये हैं, वे वस्तुतः भूतों के समन्वय से ही उत्पन्न भाव हैं। वे आत्मज भा[व] कहे गये हैं—उन-उन योनियों में (मनुष्य-कीटादि[...] उत्पत्ति, आयु-ज्ञान, आत्मज्ञान, मन के कार्य, इन्द्रियो[ं के] कार्य, प्राण-अपान के कार्य, प्रेरणा, धारणा, आ[...] स्वर, वर्ण विशेष, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, चेतना, [...] बुद्धि, स्मृति, अहंकार, तथा प्रयत्न।[2] वर्ण के साथ [...] भूतों का स्पष्ट सम्बन्ध बताया गया है। तेजधातु, [...] और आकाश के साथ गौरवर्ण संतान उत्पन्न करता [...] तेज धातु पृथ्वी और वायु के साथ संयुक्त होकर श्याम संतान होगी। यह संयोग—सूक्ष्मभूत तथा मातृपितृ [...] के भूताधिक्य पर निर्भर होता है। इस तरह वर्ण के [...] नहीं बल्कि मन के भाव-इन्द्रियों के कार्य-धारणा [...] इ. सभी में भूतों के बाहुल्य का विचार करना चाहि[ये।] सामान्यतः माता-पिता के बुद्धि-धारण-प्रेरणा-रूप-[...] संहनन-इत्यादि की सदृश उत्पत्ति में—उपर्युक्त प्रका[र] भूतसंयोग महत्वपूर्ण कार्य करता है। विशेष संयोगों में इसके विसदृश परम्परा उत्पन्न होती है—इसका अति[वा]हिक शरीर तथा भूतों के सोलह प्रकार के भावों के त[...] मता के आधार पर विवाह करना चाहिये।

१. च. शा. २.३६. तथा च. पा. टीका

२. च. शा. ३, १६



भैषज्य कल्पना के आधारभूत सिद्धांत



डा० दामोदर जोशी,
ए. एम. एस., एच. पी. ए., पी. एच. डी.
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, फार्मेसी एवं द्रव्यगुण विभाग
स्नातकोत्तर शिक्षण एवं अनुसन्धान-केन्द्र,
आयुर्वेदिक कॉलेज त्रिवेन्द्रम् (केरल) भारत

भूमिका

आयुर्वेद की गणना संसार की प्राचीनतम चिकित्सा-पद्धतियों में की जा सकती है। इसका सम्बन्ध भारतीय वाङ्मय के प्राचीनतम साहित्य 'वैदिक वाङ्मय' के साथ वर्णित है। वैदिक वाङ्मय में यद्यपि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इस प्रकार से चार वेदों का समावेश होता है और उन सभी के साथ आयुर्वेद - शास्त्र सम्बन्धित है परन्तु अथर्ववेद के साथ यह विशेष रूप से सम्बन्धित है ऐसा आयुर्वेद की प्राचीन संहिताओं में निर्दिष्ट है।

संसार की अन्य चिकित्सापद्धतियों के समान इस चिकित्सा-पद्धति के द्वारा भी रोगों की चिकित्सा की जाती है। परन्तु जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है यह शास्त्र चिकित्सा के साथ-साथ आयु के विभिन्न पक्षों पर विशेष रूप से प्रकाश डालता है इसीलिए इसे आयुर्वेद कहा गया है। रूपान्तर से यही बात इस प्रकार कही जा सकती है कि मानव सुखी रहते हुए किस प्रकार दीर्घायु प्राप्त कर सकता है, इसका इस शास्त्र में विशेष रूप से वर्णन किया गया है। अतः यह पद्धति चिकित्सा के साथ-साथ मानव के स्वास्थ्य, सुख एवं दीर्घायु से सम्बन्धित ज्ञान भी

प्रदान करती है। और यही इसकी अन्य चिकित्सा पद्धतियों की तुलना में विशेषता भी है।

आज के युग में जबकि भौतिकवाद का चारों तरफ बोलबाला है और मनुष्य के लिए स्वस्थ रहते हुए दीर्घायु प्राप्त करना कठिन समस्या है। ऐसी स्थिति में आयुर्वेद में निर्दिष्ट सिद्धान्तों का और विशेष रूप से आहार और विहार-सम्बन्धी मूलभूत सिद्धांतों का अनुसरण और पालन किया जाय तो कोई कारण नहीं कि मनुष्य रोगों से आक्रान्त हुए बिना तथा स्वस्थ रहते हुए दीर्घायु प्राप्त न कर सके। अतः आयुर्वेद-शास्त्र में निर्दिष्ट में मूलभूत सिद्धान्त प्राचीन काल में जितने उपयोगी व आवश्यक थे आज वे उससे कई गुना अधिक उपयोगी व आवश्यक हो जाते हैं। क्योंकि मिथ्याहार - विहार का आज जितना बोलवाला है उतना प्राचीन समय में नहीं था और जितना ही अधिक मिथ्या आहार-विहार होगा रोगोत्पत्ति और स्वास्थ्य हानि भी उतनी ही अधिक होगी।

आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्तों, जिनका कि चिकित्सार्थ सतत उपयोग होता है, में त्रिदोष, पंचमहाभूत, सप्तधातु और तीन मल विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं परन्तु इनके साथ-साथ शोधन और शमन आदि चिकित्सा के सिद्धान्त. रस, गुण, वीर्य, विपाक, प्रभाव, कर्म आदि द्रव्य गुण के सिद्धान्त तथा तोयाग्निसन्निकर्ष, शौच. मन्थन (मर्दन), देश, काल, भाजन, भावना आदि औषधि - निर्माण के विविध संस्कार एवं प्रक्रियाएं भी सैद्धान्तिक दृष्टि से कम महत्व नहीं रखती।

प्रस्तुत पत्र में सभी सिद्धांतो के विषय में विवेचन सम्भव न होने से औषधि-निर्माण की दृष्टि से आधारभूत सिद्धान्त माने जा सकने वाले तोयाग्निसन्निकर्षादि का सोदाहरण वर्णन प्रस्तुत किया जायेगा। क्योंकि इन्हीं के कारण औषध द्रव्यों के विविध संस्कार सम्भावित होते हैं जो कि उनके गुणाधान या गुणान्तराधान में कारण होते हैं और इन्हीं सिद्धांतों के आधार पर औषधकल्पनाओं में होने वाले विविध प्रकार के परिवर्तनों या परिवर्धनों का स्पष्टीकरण भी किया जा सकता है।

भैषज्यकल्पना के आधारभूत सिद्धांत

चिकित्सा के चार पादों में औषध द्रव्य का दूसरे स्थान पर निर्देश किया गया है। अर्थात् चिकित्साकार्य में भिषक् के पश्चात् औषधद्रव्यों का ही महत्व है। औषध द्रव्य सामान्य रूप से प्राप्ति के आधार पर तीन वर्गों में वर्गीकृत किए गए हैं यथा---

१. औद्भिदद्रव्य या वानस्पतिक द्रव्य।
२, जाँगम या प्राणिज द्रव्य और
३. पार्थिव या खनिज द्रव्य।

इनमें से सभी प्रकार के द्रव्यों का यद्यपि चिकित्सार्थ उपयोग किया जाता है परन्तु रोगी में उनका यह उपयोग उसी रूप में जिस रूप में कि ये प्राप्त होते है, सम्भव नहीं होता। रोगी में प्रयोग के पूर्व उन्हें किसी संस्कार द्वारा संस्कारित करके इस योग्य बनाना आवश्यक होता है कि रोगी उनका आसानी से सेवन कर सके तथा सेवन के पश्चात उनका पाचन व प्रचूषण भी हो सके। एतदर्थ उनका किसी-न-किसी कल्पना के रूप में परिवर्त्तन आवश्यक होता है। ये कल्पनाएं द्रव्य के स्वभाव, स्वरूप और तज्जन्य-सम्भावित कर्म के अनुसार भिन्न-भिन्न हो सकती हैं किन्तु उनमें से अधिकांश में कुछ ऐसें सिद्धाँत रूप कर्म या प्रक्रियाओं का प्रयोग होना आवश्यक है जिनसे कि उनके स्वरूप, गुण एवं कर्म में परिवर्त्तन या परिवर्धन हो सके तथा वे अपने विषप्रभाव से भी मुक्त हो सकें यदि उनमें किसी प्रकार का विषप्रभाव हो तो। और साथ ही वे प्रयोग के योग्य भी हो सकें।

इस प्रसङ्ग में निम्नांकित आधारभूत सिद्धान्त उल्लेखनीय हैं—

१. **तोयाग्नि सन्निकर्ष**—औषध द्रव्यों को चाहे वे किसी भी प्रकार के क्यों न हों उन्हें किसी कल्पना में कल्पित करने के लिये तोय (जल या द्रव) और अग्नि या ताप का न्यूनाधिक अंश में संयोग सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है। अर्थात द्रव्य को औषधि के रूप में उपयोग के योग्य बनाने के लिए या तो उसे किसी द्रव के संपर्क में या अग्नि अथवा अन्य किसी प्रकार के ताप के सम्पर्क में कुछ काल के लिए लाया जाता है। हाँ, सम्पर्क काल एवं प्रकार में द्रव्य एवं कल्प के आधार पर भिन्नता हो सकती

है परन्तु द्रव्य को कल्प के रूप में परिवर्तित करने के लिए तोयाग्नि सन्निकर्ष परमावश्यक होता है।

२. **मर्दन या मन्थन**—तोयाग्निसन्निकर्ष के अतिरिक्त मर्दन या मन्थन का भी द्रव्य को कल्प के रूप में परिवर्तित करने की दृष्टि से कम महत्व नहीं है। क्योंकि इसके द्वारा द्रव्य का संघातभेदन और अन्य द्रव्यों के साथ सम्यक् मिश्रण सम्भव होता है जो कालान्तर में द्रव्य के स्वरूप एवं गुणों में परिवर्तन का कारण बनता है।

३. **शौच या शुद्धिकरण**:—शौच (स्वच्छता) या शुद्धिकरण के बिना औषधि द्रव्यों में कुछ ऐसे अवाञ्छित तत्व रह जाते हैं जो रोगी के लिए हानिकारक और कभी-कभी घातक भी सिद्ध हो सकते हैं। अतः द्रव्यों को वास्तविक कल्प के रूप में कल्पित करने के पूर्व उनका शुद्धिकरण या शोधन एक ऐसी आवश्यक क्रिया है जिसका कि कल्प के गुणधर्मों के साथ सीधा सम्बन्ध है। अर्थात् इसके बिना द्रव्यों के अवाञ्छित प्रभाव से मुक्ति नहीं मिल सकती। अतः इसे भी औषधि - निर्माण का आधारभूत सिद्धान्त माना जाता है।

४. **काल सन्निकर्ष या प्रकर्ष**—औषधि - निर्माण में काल सन्निकर्ष या प्रकर्ष का भी बहुत महत्व है। क्योंकि किसी भी कल्प के निर्माण में तोयाग्नि सन्निकर्ष, मर्दन या अन्य जो भी क्रिया करनी होती है तो वह कितने समय तक की जाय इसका जानना सैद्धान्तिक दृष्टि से बहुत आवश्यक है। क्योंकि इसी ज्ञान पर औषधिकल्प के गुण-धर्म निर्भर करते हैं। और यह देखा गया है कि जब काल-सन्निकर्ष उचित अनुपात में न होकर न्यून या अधिक हो जाता है तो उस कल्प के गुण-धर्म भी बदले हुए प्रतीत होते हैं। अतएव कल्प को समुचित उपयोगी एवं प्रभावी बनाने के लिए कालसन्निकर्ष का सम्यक् योग आवश्यक है। औषधनिर्माण की दृष्टि से ऋतुओं का सम्यक् योग भी बहुत महत्वपूर्ण होता है।

५. **देश एवं भाजन**—काल के समान ही देश (स्थान विशेष) और भाजन (पात्रविशेष) का सम्यक् प्रयोग भी औषधि-निर्माण की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण होता है। क्योंकि कुछ कल्पों के निर्माण के लिए विशिष्ट प्रकार के स्थान, वातावरण एवं पात्र की आवश्यकता होती है। देश (स्थान) या पात्र का महत्व केवल औषधि-निर्माण

की दृष्टि से ही न होकर औषधि-संग्रहण और संरक्षण की दृष्टि से भी बहुत है। क्योंकि औषधियों के कौन से कल्प कितने समयतक अपने स्वाभाविक गुणों में बिना किसी प्रकार के परिवर्त्तन के किस स्थान और पात्र में रखने पर स्थिर रह सकते हैं इसके लिए काल के साथ-साथ स्थान विशेष और पात्र विशेष भी महत्वपूर्ण उपादान है जो कि कल्पों के गुणों को प्रभावित होने से बचाते हैं। अतः इन्हें भी आधारभूत सिद्धान्त की श्रेणी में रखा जा सकता है।

आधारभूत सिद्धान्तों का व्यावहारिक पक्ष—

अबतक औषधिनिर्माण के लिए उपयोगी पाए गए कुछ आधारभूत सिद्धान्तों का सामान्य रूप से निरूपण किया गया है; अब उनके व्यावहारिक पक्ष का उदाहरण पूर्वक निरूपण किया जायगा। इन्हें आधारभूत सिद्धान्तों की श्रेणी में इसलिए रखा गया है कि ये ऐसे कर्म या प्रक्रियाएं हैं जिनके द्वारा औषधिद्रव्यों के स्वाभाविक गुणों में संस्कार के समय या पश्चात् परिवर्त्तन या परिवर्धन होता है। अथवा उनमें होनेवाले परिवर्तन या परिवर्धन की इनके द्वारा व्याख्या या स्पष्टीकरण किया जा सकता है।

१. तोयाग्नि सन्निकर्ष:—

आयुर्वेद—चिकित्सा पद्धति के अधिकांश औषध कल्पों में तोय (द्रव) सन्निकर्ष या अग्नि (ताप) सन्निकर्ष (पाक) एक ऐसी आवश्यक प्रक्रिया है जिसके बिना न तो उस कल्प का निर्माण ही सम्भव होता है और न उनके स्वाभाविक गुणों में परिवर्त्तन या परिवर्धन ही। आयुर्वेदीय भैषज्य कल्पना के स्वरस, क्वाथ, हिम, फाण्ट, मन्थ, यूष, प्रमथ्या, शर्कर, अर्क, पानक, स्नेहपाक, आसवारिष्ट, शुक्त, चुक्र, कांजी, लेप, वस्तिकल्प, शोधन एवं मारण के अधिकांश प्रकार, सत्वपातन के प्रकार, रस संस्कार तथा सिन्दूरादि कुछ ऐसे कल्प हैं जिनमें किसी न किसी रूप में तोय सन्निकर्ष की आवश्यकता पड़ती ही है गुणान्तराधान के लिए। तोय सन्निकर्ष से किसी भी प्रकार के द्रव के साथ औषध द्रव्य या द्रव्यों के मिश्रण को न्यूनाधिक काल के लिए उसके सम्पर्क में रखा जाता है। इस प्रकार

विभिन्न द्रव्यों का विभिन्न द्रवों के साथ किया गया विभिन्नकालिक संयोग या तो उन द्रव्यों के उन-उन द्रव विलेय अंशों को प्राप्त करने के लिए किया जाता है या उन द्रव्यों के अवाञ्छित अंशों को वा उनके विष-प्रभाव को दूर या कम करने के लिए अथवा उनके गुणों में वृद्धि के लिए किया जाता है।

अग्निसन्निकर्ष से हमारा तात्पर्य उन उन कल्पों में होने वाले विविधविध पाक से है जो कि भिन्न-भिन्न प्रकार के ताप द्वारा होता है। यह पाक कुछ कल्पों में प्रधान प्रक्रिया के रूप में प्रयुक्त होता है और कुछ में अन्य प्रक्रियाओं की सहयोगी प्रक्रिया के रूप में प्रयुक्त होता है। परन्तु किसी भी रूप में प्रयुक्त क्यों न हो यह निम्नांकित कल्पों में गुणधान या गुणान्तराधान की दृष्टि से एक परमावश्यक प्रक्रिया है। यथा क्वाथ, फाण्ट, क्षीरपाक, प्रमथ्या, अर्क, शार्कर, रसक्रिया, लेह, अवलेह, स्नेहपाक शोधन-मारण एवं सत्वपातन के अधिकांश प्रकार, रस स्कार के अधिकांश प्रकार, पर्पटी, पोट्टली और सिन्दूरादि प।

उपर्युक्त कल्पों में यह पाक अग्निद्वारा न्यूनाधिक कालपर्यन्त किया जाता है जिससे कि उपर्युक्त कल्पों के लिए प्रयुक्त द्रव्यों के भौतिक स्वरूप और रासायनिक संघटन में परिवर्त्तन होता है और फलतः एक नवीन यौगिक का निर्माण होता है, जो गुणधर्म की दृष्टि से अंशतः या पूर्णतः परिवर्तित या भिन्न स्वरूप का होता है। कभी-कभी पाकजन्य में परिवर्त्तन अंशतः होते हुए भी देखे जाते हैं। ऐसी स्थिति में द्रव्य में कुछ भौतिक परिवर्त्तन ही सम्भव हो पाते हैं, रासायनिक परिवर्त्तन की स्थिति नहीं आ पाती। परन्तु द्रव्य के गुणों में परिवर्त्तन तो स्पष्टतः दृष्टिगोचर होते हैं। द्रव्यों का यह पाक अग्निताप के अतिरिक्त सूर्यताप, भूमिगत ऊष्मा एवं मर्दन जन्य ऊष्मा से भी सम्भावित है। ताप के प्रभाव से होनेवाला पाक ताप के स्वभाव और सम्पर्क के काल पर निर्भर करता है। साथ ही यह पाक किस कल्प में, किस प्रकार का और कितना करना चाहिए इसका निर्धारण द्रव्य के स्वभाव और कल्प विशेष पर किया जाता है यथा-भस्म निर्माणार्थ सीधे अग्निताप की आवश्यकता होती है जो मृदु प्रकार से लेकर तीव्र प्रकार तक का हो सकता है। सत्वपातन के लिए प्रायः तीव्रताप की आवश्यकता होती है। पर्पटी निर्माणार्थ मृदुताप की और सिन्दूर (कूपीपक्वकल्प) निर्माणार्थ क्रमशः मृदु, मध्य और तीव्र ताप की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार क्वाथ निर्माणार्थ मध्यमताप की अधिक समय तक आवश्यकता होती है जबकि फाण्ट निर्माणार्थ मध्यम ताप की अल्प समय के लिए ही आवश्यकता होती है।

मर्दन या मन्थन—यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसकी प्रायः अधिकाँश कल्पों के निर्माणार्थ आवश्यकता होती है। इस क्रिया द्वारा द्रव्य को स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्मतम बनाया जाता है ताकि उसका अधिकांश भाग expose हो सके। इसमें भौतिक विधियों से द्रव्य का संघात भेदन करके उसे इतना सूक्ष्म बना दिया जाता है कि उसका शरीर में आसानी से प्रयोग किया जा सके और प्रयुक्त होने पर आसानी से रसीभवन भी सम्भव हो सके। क्योंकि रसीभवन योग्य हुए बिना यदि द्रव्यों का अन्तः प्रयोग किया जायगा तो उनका सम्यकतया पाचन व प्रचूषण नहीं हो पाएगा और अभीष्ट फल-प्राप्ति भी संभव नहीं होगी।

मर्दन से सूक्ष्मीकरण के अतिरिक्त विभिन्न द्रव्यों का एकत्र सम्मिश्रण भी किया जाता है। जिससे किसी भी योग में सभी द्रव्य समान रूप से व्याप्त हो सकें। ऐसा होने से सभी मिश्रित द्रव्यों का प्रभाव उस मिश्रण के किसी सूक्ष्मांश में भी दृष्टिगोचर हो सकेगा। मर्दन के द्वारा द्रव्य में न केवल भौतिक परिवर्त्तन ही सम्भव हो पाते हैं प्रत्युत तज्जन्य ऊष्मा से कुछ रासायनिक परिवर्त्तन भी सम्भव हो सकते हैं। इसका उत्तम उदाहरण पारद+गन्धक के मिश्रण से निर्मित कज्जली हो सकती है। जिसमें केवल मर्दन द्वारा ही पारद एवं गन्धक से Mercury Sulphide बन जाता है तथा सम्पूर्ण यौगिक श्वेत एवं पीत के स्थान पर कृष्ण वर्ण के यौगिक में परिवर्तित हो जाता है।

इसके अतिरिक्त यही मर्दन जब किसी द्रव के साथ किया जाता है तब उस द्रव के गुण भी उस मर्दित पदार्थ में समाविष्ट हो जाते हैं जिससे कि मर्दन द्वारा गुणान्तराधान भी होता हुआ दृष्टिगोचर होता है। इस क्रिया को भावना द्वारा गुणान्तराधान कहा जाता है।

मन्थन भी मर्दन का ही एक प्रकार है जो प्रायः द्रव-द्रव्यो के लिए प्रयुक्त होता है। इसके द्वारा विभिन्न द्रव-द्रव्य और घन द्रव्य या कभी-२ घनीभूत द्रव द्रव्य एक दूसरे से मिश्रित या पृथक् किए जा सकते हैं। इसके उदाहरण-मन्थकल्प, वस्तिकल्प, दधि से तक्र - निर्माण और नवनीत पृथक्करण आदि हो सकते हैं '

शौच या शुद्धिकरण—यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिससे कि द्रव्य के साथ संलग्न या मिश्रित उस अंश को पृथक् किया जाता है जो शरीर के लिए उपयोगी न होकर हानिकारक होता है। इसके लिए उपर्युक्त तोय सन्निकर्ष, अग्निसन्निकर्ष, तोयाग्निसन्निकर्ष, मर्दन और पृथक्करण आदि प्रक्रियाओं का उपयोग किया जाता है। इससे द्रव्यगत दूषित तत्व दूर कर दिए जाते हैं और कभी-कभी उनके गुणों में वृद्धि भी की जाती है तथा उन्हें सूक्ष्म भी बनाया जाता है। यह क्रिया प्रायः औषध-द्रव्य को वास्तविक कल्प के रूप में कल्पित करने के पूर्व ही की जाती है ताकि उस द्रव्य में कोई अवाञ्छित तत्व उपस्थित न रह सके। और बाद में उस द्रव्य को शरीर में प्रयोग योग्य कल्प के रूप में कल्पित भी किया जा सके।

काल सन्निकर्ष या काल प्रकर्ष

औषधि निर्माण की दृष्टि से काल सन्निकर्ष और काल प्रकर्ष भी बहुत महत्वपूर्ण होते हैं। क्योंकि किसी भी कल्प के निर्माण के समय जो तोयाग्नि सन्निकर्ष, मर्दन आदि क्रियाएं की जाती हैं वे कितने समय तक की जायं इसका निर्देश, ज्ञान व निर्धारण परमावश्यक है। क्योंकि बिना इस प्रकार के ज्ञान के किसी भी कल्प का सम्यक् निर्माण सम्भव नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए क्वाथ कल्पना में यदि तोयाग्निसन्निकर्ष की अवधि का निर्देश अथवा ज्ञान नहीं होगा तो क्वाथ कैसे बन पायेगा। इसी प्रकार अन्य कल्पों के विषय में भी इस प्रकार का निर्देश बहुत आवश्यक है। इसीलिए क्वाथ निर्माणार्थ तोयाग्नि सन्निकर्ष की अवधि का निर्देश चतुर्थाष्टम षोडशांसावशेष से, भस्मों के निर्माणार्थ विभिन्न प्रकार के पुट और उनकी संख्या का निर्देश, सत्वपातनार्थ शुद्धावर्त्त की अवस्था प्राप्त होने का निर्देश, मूर्च्छन संस्कार में नष्टपिष्ट अवस्था का निर्देश, रसक्रिया में घनत्व होने तक पाक का निर्देश, आसवारिष्ट में पक्ष या मास से जात रस होने का निर्देश आदि कुछ ऐसे शास्त्रीय संकेत, हैं जो औषधि-निर्माण में कालसन्निकर्ष की अवधि को सूचित करते हैं। उपर्युक्त कल्पों के निर्माण के समय यदि उपर्युक्त संकेतों की ओर समुचित ध्यान न दिया जाय तो उन कल्पों का सम्यक् निर्माण असम्भव होगा। अतः कल्पों के सम्यक् निर्माणार्थ कालप्रकर्ष का विचार एवं निर्धारण सैद्धान्तिक दृष्टि से परमावश्यक है।

कालसन्निकर्ष के समान काल प्रकर्ष का भी कल्पों की गुणहीनता और गुणवृद्धि की दृष्टि से बड़ा महत्व है। क्योंकि कुछ कल्प कुछ काल पश्चात् गुणहीन होने लग जाते हैं जब कि कुछ अन्य कल्प जैसे - जैसे पुराने होते हैं गुणवृद्धि को प्राप्त होते हैं। इस प्रसङ्ग में शार्ङ्गधर का निर्देश उल्लेखनीय है यथा—सामान्य औषधियाँ उसी रूप में रहने पर एक वर्ष पश्चात्, चूर्णरूप में कल्पित होने पर २ मास पश्चात्, घृत-तैल योग के रूप में कल्पित होने पर, ४ मास पश्चात् और गुटिका तथा लेह रूप में कल्पित होने पर, १ वर्ष पश्चात् हीनवीर्यत्व को प्राप्त होने लगती हैं। इसी प्रसङ्ग में यह भी निर्देश मिलता है कि आसवारिष्ट कल्प, धातुकल्प (भस्म आदि) और रसकल्प (पारदीय योग) पुराण होने पर अधिक गुणयुक्त होते हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि कालप्रकर्ष का किन-किन औषध कल्पों पर क्या-क्या प्रभाव पड़ता है। आधुनिक वैज्ञानिक भाषा में Aging का औषध कल्पों पर जिस प्रकार का प्रभाव होता है वही काल प्रकर्ष का भी समझना चाहिए।

देश एवं पात्र—औषध-निर्माण में जिस प्रकार कालसन्निकर्ष और प्रकर्ष का सैद्धान्तिक दृष्टि से महत्व बताया गया है उसी प्रकार देश (स्थान विशेष) और पात्र (पात्र विशेष) का औषधं निर्माण पर जो प्रभाव पड़ता है वह भी सैद्धांतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण होता है।

औषध-निर्माण के समय कुछ कल्पों के निर्माणार्थ स्थान विशेष का बड़ा महत्व होता है। यथा-आसवारिष्ट या अन्य कोई भी सन्धान कल्प। सन्धान कल्पों में संधान-क्रिया ठीक प्रकार से हो सके इसके लिए सन्धान पात्रों को भूमि के अन्दर गाड़कर रखा जाता है। इसका कारण सन्धान पात्र को सीधे बाह्य वातावरण के प्रभाव से बचाना है।

क्योंकि सन्धान प्रक्रिया एक निश्चित तापक्रम पर ही ठीक प्रकार से सम्पादित होती है। यदि सन्धान पात्र का तापक्रम बाह्य वातावरण के तापक्रम के अनुसार बराबर बदलता रहेगा तो सन्धान-प्रक्रिया में बाधा पड़ेगी और सन्धान ठीक से नहीं होगा फलतः सन्धान कल्प भी समुचित नहीं बनेगा। अतः सन्धान कल्पों के लिए ऐसा स्थान विशेष उपयोगी सिद्ध होगा जो बाह्य वातावरण के प्रभाव से मुक्त हो। आजकल इसीलिए Air Conditioned Rooms का एतदर्थ उपयोग किया जाता है। इसी प्रकार छाया शोषण और आतप शोषनार्थ भी स्थान विशेष की आवश्यकता होती है। इस प्रकार स्थान विशेष कल्प विशेष के गुणधर्मों को पूर्णतः या अंशतः प्रभावित कर सकता है अतः सैद्धान्तिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

निर्माण के अतिरिक्त संग्रह की दृष्टि से भी स्थान विशेष का बहुत महत्व होता है। क्योंकि विशिष्ट स्थान में उत्पन्न और विशिष्ट स्थान से संग्रहीत द्रव्य विशिष्ट गुणयुक्त देखा जाता है; जो गुण किसी अन्य स्थान से संग्रहीत द्रव्य में नहीं देखा जा सकता। उदाहरणार्थ त्रिवृत जो कि गुजरात के गिरिनार क्षेत्र से संग्रहीत किया जाता है, में जितना श्रेष्ठ विरेचन का गुण उपस्थित पाया जाता है उतना सामान्य किसी भी स्थान से संग्रहीत त्रिवृत में नहीं देखा जाता। इसी प्रकार औषधियों और कल्पों के संरक्षणार्थ भी स्थान विशेष का बड़ा महत्व है। यथा-अतिशीत और अतिउष्णताप वाले स्थान तथा जहाँ सीलन या नमी अधिक हो ऐसे स्थान औषध द्रव्यों व कल्पों के संरक्षणार्थ उपयुक्त नहीं होते। क्योंकि ऐसे स्थानों पर शीत-उष्ण या आर्द्रता के प्रभाव से द्रव्य शीघ्र विकृत होते देखे जाते हैं।

स्थान विशेष के साथ-साथ भाजन या पात्र विशेष का भी इस प्रसङ्ग में कम महत्व नहीं है क्योंकि पात्र विशेष का भी निर्माण के समय और संरक्षण के समय औषध कल्पों के गुणधर्म पर पूर्ण प्रभाव होता देखा गया है। उदाहरणार्थ—धातु निर्मित पात्र या खल्व पारदीय कल्पों के निर्माणार्थ उपयुक्त नहीं होते; केवल लोहपात्र को छोड़कर। क्योंकि प्रायः सभी धातुएं पारद के सम्पर्क में आने पर न्यूनाधिक अंश में उसमें घुलमिल जाती हैं। इस प्रकार के पात्र सन्धानार्थ भी उपयुक्त नहीं माने जाते। इसके लिए मृत्पात्र या काष्ठ पात्रों का ही उपयोग श्रेष्ठ होता है। अम्लीय पदार्थों के मर्दनार्थ या स्थापनार्थ ताम्र या पित्तल निर्मित पात्र उचित नहीं होते। च्यवनप्राशादि लेह लोहपात्र में निर्मित होने पर विवर्ण हो जाते हैं। इसके कारण विभिन्न प्रकार के Chemical actions or Reactions माने जा सकते हैं जो विभिन्न धात्वीय पात्रों के विभिन्न अम्लीय या क्षारीय पदार्थों के ससर्ग में आने के कारण सम्भव होते हैं। इसी प्रकार मृत्पात्र अपनी सच्छिद्रमयता एवं ताप कुसंचालकत्व के कारण बहुत-से अग्नि कार्यों के लिए उपयुक्त अब नहीं मान जाते। इतना ही नहीं, पात्रों का विचार paking एवं storage की दृष्टि से भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि निर्माण की दृष्टि से। अतः देश (स्थान विशेष) व भाजन (पात्रविशेष) का सैद्धान्तिक दृष्टि से बड़ा महत्व होता है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्तों का विचार केवल चिकित्स- की दृष्टि से ही न करके औषध द्रव्यों - एवं कल्पों की दृष्टि से भी करना चाहिए। जो भी तत्व (factors) औषधद्रव्यों व कल्पों के स्वाभाविक गुणों को प्रभावित कर सकें उन्हें मूलभूत सिद्धान्तों की श्रेणी में परिगणित किया जाना चाहिए। और इस दृष्टि से तोय सन्निकर्ष, अग्नि सन्निकर्ष मर्दन या मन्थन, शौच या शुद्धिकरण, काल सन्निकर्ष व प्रकर्ष, देश व भाजन ऐसे factors हैं जो औषधियों के स्वाभाविक गुणों को निर्माण के समय और उसके पश्चात् भी प्रभावित करते रहते हैं अतः इन्हें मूलभूत सिद्धान्तों की श्रेणी में माना जा सकता है।

जरा-व्याधि विनाशाय

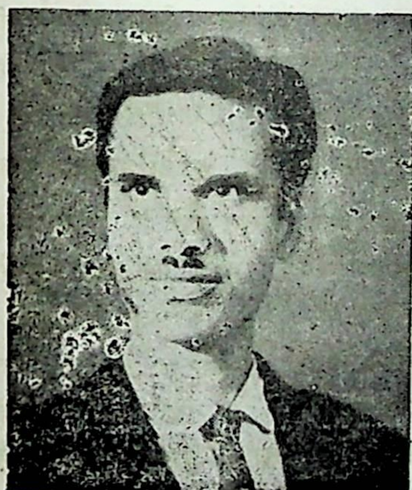


शल्य
शालाक्य
काय चिकित्सा
भूत विद्या
कौमारभृत्य
अगदतंत्र
रसायन
वाजीकरण
अष्टाङ्गः आयुर्वेदः
Sunit

सचित्र आयुर्वेद

आयुर्वेदीय मनोविज्ञान की रूपरेखा

SACHITRA AYURVED



डॉ० राजेन्द्र प्रकाश भटनागर
एम. ए., पी. एच. डी., भिषगाचार्य (स्वर्णपदक प्राप्त)
आयुर्वेदाचार्य, एच. पी. ए. (जाम.) साहित्यरत्न.
प्राध्यापक, राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय, उदयपुर, (राज.)

आयुर्वेद एक व्यावहारिक विज्ञान है। अतः इसमें आत्मा, मन, इन्द्रियां आदि के सम्बन्ध में अन्य भारतीय दर्शनों की अपेक्षा भिन्न विचार मिलते हैं।

मन का महत्व

आयुर्वेद में मन का महत्व अनेक दृष्टियों से प्रदर्शित हुआ है।

(१) जीवन का घटक

जीवित शरीर (पुरुष) में एक महत्वपूर्ण घटक के रूप में मन का अस्तित्व होता है। शरीर, मन और आत्मा के समवायिसंयोग का नाम ही 'पुरुष' 'कर्म पुरुष' या 'चिकित्साधिकृत पुरुष' है। यही आयुर्वेद का मुख्य प्रतिपाद्य है।[१]

इसीलिये 'आयु' के स्वरूप का निर्धारण करते हुए शरीर इन्द्रिय, सत्व (मन) और आत्मा का संयोग कहा गया है। इसको ही 'धारि' (शरीर को सड़ने से बचाने वाला होने के कारण), जीवित' (प्राणों का धारण करने वाला होने से), 'नित्यग' शरीर के क्षणिक होने से नित्य गतिशील), 'अनुबन्ध' (अपरापर (शरीर आदि का संयोग रूप होने से, अथवा जीवित शरीर—अणुओं का नाश के बाद अन्य जीवित शरीर-अणुओं द्वारा उनका स्थान क्रमशः लेते रहने के कारण) पर्याय-नामों से संबोधित किया जाता है।[२]

(२) आरोग्य और रोग का अधिष्ठान

जीवित शरीर के तीन घटक ऊपर बताये गये हैं— शरीर, आत्मा और मन । इनमें से आत्मा निर्विकार (रोग-रहित) होता है ।[३] शेष दोनों-घटक-शरीर (पंच महाभूत-निर्मित) और मन—ये रोगों के आश्रय या अधिष्ठान हैं । इनमें ही सुख अर्थात् आरोग्य की उपलब्धि होती है ।[४]

(३) पुनर्जन्म का हेतु

आत्मा के दो रूप हैं—पर-आत्मा और जीवात्मा । शरीर से विरहित पर-आत्मा सूक्ष्म और श्रेष्ठ है, व्यापक है, नित्य-अनादि और अनन्त है । परन्तु जीवित शरीर में समवायि संयोग से रहने वाली आत्मा प्रतिशरीर भिन्न; सत्व (मन), भूतगुण और इन्द्रियों से सदैव सम्बद्ध और उनके कारण ही चैतन्य का कारण बनने वाली होती है । इसे 'जीवात्मा' या 'भूतात्मा' कहते हैं । स्वयं जीवात्मा सब क्रियाओं का दर्शक की भांति अवलोकन करता है (निर्लिप्त रहते हुए) ।[५]

यद्यपि आत्मा विभु होने से सर्वगत और महान है, परन्तु जीवात्मा के साथ देहनिर्वर्तक कर्म के अनुपात के कारण मन का नित्य सम्बन्ध बना रहता है, उस दशा में वह सब योनियों में रहने वाला आत्मा भी एक योनि या शरीर में निवसित ज्ञात होता है । अर्थात् कर्मफलभोग के अनुबन्ध के कारण जीवात्मा और मन का सदैव सम्बन्ध बना रहता है । मन की समाधि से योगीजन तिरोहित को भी देखते हैं ।[६]

इसी अनुबन्ध (आत्मा के साथ मन का) के कारण ही जीवात्मा एक शरीर को त्यागकर दूसरे शरीर में जाता है । उनके साथ वायु, अग्नि, पृथ्वी और जल--इन चार भूतों के सूक्ष्म रूप भी रहते हैं । इन सबको मिलित रूप में 'सूक्ष्म शरीर', 'अतिवाहिक शरीर', 'लिंग शरीर' कहते हैं । उसे बिना दिव्य दर्शन शक्ति के देखा नहीं जा सकता । इस गमनागमन का कारण 'कर्म' को बताया गया है ।[७]

अन्यत्र भी कहा है कि मन ही 'औपयादुक' (दूसरे शरीर में जानेवाला) होता है । यह जीव अर्थात् आत्मा को स्पर्शवान् शरीर के साथ संयुक्त करता है । शुक्र (पुंबीज) और शोणित (स्त्री बीज) के संयोग-काल [में] ही मन आत्मादि सहित गर्भ शरीर में प्रविष्ट होता है।

पुनर्जन्म और मोक्ष (जन्मान्तर) के अभाव) में [मन] की कारणता का उद्घोष करते हुए चरक ने बहुत स[्पष्ट] शब्दों में लिखा है---

'अतीन्द्रिय (जो इन्द्रियों द्वारा अनुभव नहीं कि[ये] जा सकते, ऐसे), और अतिसूक्ष्मरूप भूतों, कर्म, मन, [बुद्धि] (बुद्धि), अहंकार-विकार, दोष (रज + तम) से [...] आत्मा---'जीवात्मा' पृथक् नहीं रहता । सूक्ष्म-भूतादि [के] साथ यह अनुबन्ध मन के कारण होता है । रज [और] तम रूपी कारणों से मन सब भूतों आदि को संयुक्त र[खता] है और मन से आत्मा । बिना ज्ञान के वहां सब [...] विद्यमान होते हैं । गति (देहान्तर-गमन) और प्रवृ[त्ति] (धर्माधर्म क्रियाओं में प्रवृत्ति) में सदोष (रज-तम [...] युक्त) मन और बलवान् कर्म ही निमित्त कारण क[हा] जाता है ।[९]

गीता में भी कहा है---

"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।"

इस प्रकार पुनर्जन्म में मन ही प्रमुख कारण है [...] उसकी प्रेरणा मन से संयुक्त कर्मफल द्वारा होती है ।

संक्षेप में, मनःसंयुक्त आत्मा 'जीवात्मा' ही पुनर्ज[न्म] प्राप्त करती है, मुक्तसर्वव्यापक आत्मा नहीं ।

(४) शरीर में चेतना का अभिव्यक्ता मन ही है—

शरीर और मन अचेतन होते हैं । उनके साथ चेत[ना]वान् आत्मा का संयोग होने पर ही उनमें चैतन्य प[...] लक्षित होता है । परन्तु स्वयं आत्मा क्रियावान नहीं [...] मन ही चेतना के संयोग के कारण अर्थात आत्माधि[ष्ठित] होने पर क्रिया करता है । आत्मा चेतनावान् होने से [...] क्रिया, उपचार से, आत्मा की क्रिया कहलाती है । आ[त्मा] को कर्ता कहते हैं, परन्तु क्रियावान् होने पर भी अचे[तन] होने से मन को क्रियावान् नहीं कहते ।[१०]

(५) सुख-दुखरूपी वेदनाओं का आश्रय—

'स्पर्श' अर्थात् अनुभवजन्य ज्ञान दो प्रकार का [...] है—स्पर्शनेन्द्रियजन्य और मानस । स्पर्शनेन्द्रिय से स[...] शरीर में व्याप्त त्वक् तो लिया ही जाता है; चक्षु, [...] नासा, कर्ण का भी ग्रहण होता है, क्योंकि ये इन्द्रिय[ाँ]

ष्ट अर्थ का ही ज्ञान करती हैं, अस्पृष्ट का नही । अतः
र्श (सन्निकर्ष) से ही इन्द्रियां अर्थ को ग्रहण करती हैं
। स्पष्ट होता है । चिन्त्य आदि अर्थ के साथ मन का
म स्पर्श होता ही है, क्योंकि मन कुछ का ही चिन्तन
ता है, सब का नहीं, अतः जो मन के साथ स्पर्श करता
उसीका ग्रहण मन द्वारा होता है (वही मन का अर्थ
।

यह दोनों प्रकार का स्पर्श या तज्जन्य ज्ञान सुख और
ख रूपी वेदनाओं का प्रवर्तक है। सुख से इच्छा और
ख से द्वेष रूपी तृष्णा उत्पन्न होती है। पुनः इन
णाओं से सुख और दुःख उत्पन्न होते हैं। यह क्रम
लता रहता है।

इस प्रकार केश, लोम, नखाग्र, अन्नमल, मूत्र और
दादि गुणों को छोड़कर सेन्द्रिय शरीर और मन वेदनाओं
अधिष्ठान है। मन के संयोग से ही अर्थग्रहण की
रणा मिलती है। अतः अन्ततः मन ही सब वेदनाओं
आश्रय प्रमाणित होता है।[११]

(६) 'समाधि' 'योग' और 'मोक्ष' का कारण---

समाधि---आत्मा विभु होने से सर्वगत और महान
--ऐसा ऊपर बताया जा चुका है। मन के अनुबन्ध के
रण जीवात्मा दीवार आदि से छिपी हुई वस्तु को देख
हीं पाता। परन्तु **मन** की 'समाधि' से वह तिरोहित
आवृत, छिपी हुई) वस्तुओं को देखने में समर्थ
ता है।[१२]

मन की शुद्धि से समाधि; समाधि से योग और योग
मोक्ष की प्राप्ति होती है। मन की 'शुद्धि' से अभिप्राय
--मन के 'सत्त्व' गुण की वृद्धि। क्योंकि सत्त्वगुण की
द्धि से ही रज और तम पर विजय प्राप्त की जा
कती है—

'ताभ्यां निराकृताभ्यां तु सत्त्ववृद्धया निवर्तते।'

...(च० शा० १।३६)

योग—ऊपर सुख-दुखरूपी वेदनाओं का उल्लेख किया
या है, वे मन के कारण ही उत्पन्न होती हैं। उन सब
दनाओं का अवर्तन या नाश 'योग' और 'मोक्ष' की
वस्था में होता है। **मोक्ष** में इनकी निःशेष निवृत्ति
समूल नाश) हो जाती है तथा योग ही मोक्ष का प्रवर्तक
कारण होता है।[१३]

शरीर धारण करने की परम्परा (पुनर्जन्म) का सदा के लिए अन्त या उच्छेद हो जाना 'मोक्ष' कहलाता है। पुरुष के चार पुरुषार्थों (कर्तव्यों) में अन्तिम 'मोक्ष' है।

सुख और दुख की उत्पत्ति में मन तो प्रधान कारण है परन्तु आत्मा, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अर्थ (विषय) और कर्म (शुभ या अशुभ) के बिना सुख-दुःख उत्पन्न नहीं होते। उनको यथास्थान उसी प्रकार जानने चाहिए।[१४]

संक्षेप में कहें—आत्मा, इन्द्रिय, मन और अर्थ के संयोग से ही सुख और दुःख उत्पन्न होते हैं। विषय-ग्रहण में मन के प्रवृत्त नहीं होने पर और आत्मा में ही, स्थिर होने पर उन दोनों (सुख और दुःख) का निवारण हो जाता है तथा शरीर धारण करते हुए का ही 'वशीत्व' (आगे बताता जाने वाला आठ प्रकार का योगियों का ऐश्वर्य बल) उत्पन्न होता है। इसे ही योग के ज्ञाता (विद्वान) ऋषियों ने 'योग' कहा है।[१५]

सिद्धों और रससिद्धों की परम्परा में इसी का अन्य नाम 'जीवन्मुक्त' अवस्था है।

'मोक्षणे योजनाद् योगः'—मोक्ष में लगाने के कारण ही इसे 'योग' कहते हैं।

योगियों का आठ प्रकार का ऐश्वर्य बल (ईश्वरीय शक्ति) निम्नानुसार हैं—

१. आवेश—परकाया में प्रवेश।
२. चेतोज्ञान—पर-चित्त (दूसरे के मन) का ज्ञान।
३. अर्थों की इच्छानुसार क्रियाएं।
४. दृष्टि—अतीन्द्रिय दर्शन-शक्ति।
५. श्रोत्र—अतीन्द्रिय श्रवण शक्ति।
६. स्मृति—सब भावों का तत्वस्मरण। अपने पूर्व-जन्मों की घटनाओं का तथा दूसरों की पूर्व घटनाओं का स्मरण।
७. कान्ति—अमानुषी आभा।
८. इच्छानुसार अदृश्य होना।

कुछ विद्वान् 'आवेश' से 'चित का आवेश' ऐसा मानते हैं और दूसरे के चित्त में प्रवेश करना—ऐसा अर्थ ग्रहण करते हैं। तथा 'ज्ञान' शब्द से 'समस्त अतीत और भविष्यत् आदि का ज्ञान' ऐसा अर्थ मानते हैं।

यह सब प्रकार का ऐश्वर्य बल योगी में 'शुद्धसत्त्व' (रज और तम से रहित मन) के समाधान (आत्मा में भलीभांति स्थिर करने) से उत्पन्न होता है।[१६]

मोक्ष—रज और तम का अभाव होने से, तथा बलवान् कर्म (अवश्य भोक्तव्य फल के कर्म) के क्षय से आत्मा (जीवाामा) का सब संयोगों मन, शरीर, बुद्धि, अहंकार आदि से वियोग-विच्छेद हो जाता है, उसे ही 'अपुनर्भव' या 'मोक्ष' कहते हैं। इससे पुनः शरीरादि के साथ आत्मा (जीवात्मा) का सम्बन्ध नहीं होता।'[१७]

अन्यत्र भी कहा है—चतुर्विंशति राशि रूप मेलक यह संयोग जिसे 'संयोग पुरुष' या राशिपुरुष' कहते हैं और ज़ो सुख-दुःख रूप वेदना कृत दैन्य, हर्ष आदि विशेष का यह कर्मफलभोग का आश्रय है ("संयोग पुरुषस्येष्टो विशेषो वेदनाकृत", च० शा० १।८५; तथा 'अत्र कर्म फलं चात्र ज्ञानं चात्र प्रतिष्ठितम्। अत्र मोहः सुखं, दुःखं जीवितं मरणं स्वता।।" च० शा० १।३७)।

रज और तम से संयुक्त रहने पर यह संयोग अनन्तवान् होता है, परन्तु उनके नष्ट होने पर सत्त्वगुण की वृद्धि से यह संयोग निवृत्त—समाप्त हो जाता है।[१८]

ऊपर कहा हुआ 'चतुर्विंशतितत्वात्मक राशिपुरुष मन, दस इन्द्रियां, पांच इन्द्रियार्थ, अष्टविधप्रकृति (अव्यक्त, बुद्धि, अहंकार, पंचभूत) का अदृष्ट नियंत्रित समूह है।[१९]

मोक्ष की प्राप्ति के लिए कुछ उपाय भी बताये गये हैं, इनका व्यावहारिक महत्व है।

१. सज्जनों की भलीभांति सेवा करना या संगति करना।

२. दुष्टजनों का त्याग करना।

३. व्रतचर्या (व्रत-नियमों का पालन)।

४. उपवास (इससे इन्द्रियनिग्रह होता है।)

५. विभिन्न प्रकार के नियमों का पालन। (योगशास्त्र में शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान—ये ५ नियम कहे गये हैं।)

६. धर्मशास्त्रों का धारण अर्थात् अभ्यास करना।

७. विज्ञान (प्रमाणों से प्रमा का ज्ञान करना।)

८. निर्जन (एकान्त) स्थान में रहना।

९. विषयों (अर्थों अथवा कामादि) में रुचि न रख…

१०. मोक्ष के लिए कार्य करना।

११. पराधृति (अतिशय मन का नियमन करना।)

१२. भविष्य में धर्म अथवा अधर्म को उत्पन्न क… वाले कर्मों को न करना।

१३. किये हुए कर्मों का क्षय होना।

१४. संसार से निकल जाने की इच्छा होना।

१५. अहंकार का न होना ('यह मेरा', 'यह करूंगा' आदि बुद्धि छोड़ देना)।

१६. आत्मा और शरीर के संयोग में भय दिख… देना अर्थात् पुनर्जन्म से डरना।

१७. मन और बुद्धि को आत्मा में समाधिस्थ करना

१८. अर्थ के तत्वों का परीक्षण करना (अर्थात् … के प्रति सोच-विचार कर प्रवृत्त होना।)।

ये सब ठीक स्मृति-ज्ञान होने से प्राप्त होते हैं ('तत्वस्मृते-रुपस्थानात् सर्वमेतत् प्रवर्तते; च० शा० … १४३-१४६)।

ज्ञान और कर्म का कारण

यद्यपि आत्मा ही चेतनावान् होने से 'ज्ञ' (ज्ञान कर… वाला) होता है। करणों अर्थात् साधनों से वह ज्ञान प्रा… करता है। इन साधनों में मन, बुद्धि, बुद्धि-इन्द्रियां (पं… ज्ञानेन्द्रियां), कर्मेन्द्रियां (पांच) का अन्तर्भाव होता है… कर्ता (आत्मा) का करणों से संयोग होने पर ही क… वेदना (सुख-दुःख) और बुद्धि उत्पन्न होती है।[२०]

इनमें भी मन की ही प्रधानता स्पष्ट है। इन्द्रि… बिना मन के संयोग के अर्थग्रहण नहीं कर सकती। अ… ग्रहण के बाद उसके गुण या दोष की कल्पना मन क… है और फिर निश्चयात्मिका बुद्धि उत्पन्न होती है। … निश्चयात्मिका बुद्धि के द्वारा व्यक्ति कोई कार्य करने … कहने के लिए प्रवृत्त होता है।[२१]

इस प्रकार मन द्वारा ही ज्ञान और कर्म उ… होता है।

स्मृति का कारण

चरक ने स्मृति उत्पन्न होने के आठ कारणों में … का अनुबन्ध' भी एक हेतु माना है। (च० शा० १।१…

चक्रपाणि ने लिखा है—'सत्त्वानुबन्धादिति मनसः प्रणिधानात्, स्मर्तव्यस्मरणाय प्रणिहितमनाः स्मर्तव्यं स्मरति ।'

न केवल इस जन्म में अपितु पूर्वजन्म के ज्ञान का स्मरण मन द्वारा ही होता है । चरक ने कहा है—आत्मा के साथ स्मरणजन्य ज्ञान मन के अनुबन्ध के द्वारा ही अनुवर्तित होता है । इस अनुवृत्ति को देखकर ही व्यक्ति को 'जातिस्मर' (पूर्व जन्म की स्मृति रखने वाला) कहा जाता है ।

'स्मार्तं हि ज्ञानमात्मनस्तस्यैव मनसोऽनुबन्धादनुवर्तते यस्यानुवृतिं पुरस्कृत्य पुरुषो 'जतिस्मर' इत्युच्यते ।'

(च० शा० २।१३)

इस प्रकार आयुर्वेद में शरीर में मन की सत्ता और उसके मह व को उच्च माना गया है ।

मनोविज्ञान

मन के महत्व पर प्रकाश डालने के बाद अब हम आयुर्वेद में मन के सम्बन्ध में मिलने वाले ज्ञातव्य पर विचार करेंगे ।

व्युत्पत्ति-निरुक्ति

'मन् ज्ञाने बोधने वा' (दिवा०, आत्म०, सकर्मक, अनिट्) धातु से 'सर्वधातुभ्योऽसुन' (उणादि, ४।१८८) द्वारा 'असुन' प्रत्यय करके मनस् या मन शब्द बना है । अर्थात ज्ञान या बोधन क्रिया के लिए प्रयुक्त होने वाली 'मन्' धातु से 'मनस्' या 'मन' शब्द व्युत्पन्न होता है ।

इस व्युत्पत्ति के आधार पर मन की निरुक्ति इस प्रकार की जाती है—'मन्यते ज्ञायते बुद्ध्यतेऽनेनेति मनः' जिसके द्वारा जाना जाता है, ज्ञान प्राप्त किया जाता है, या बोध होता है, उसे **'मन'** कहते हैं ।

अतः मन का शाब्दिक अर्थ होगा 'ज्ञान कराने वाला साधन ।'

परिभाषा और पर्याय

चरक में निम्न तीन स्थलों पर मन की परिभाषा दी गयी है । इनमें मन के स्वरूप, कार्य और गुणों-विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है—

(१) 'सत्त्वमुच्यते मनः, तच्छरीरस्य तन्त्रकमात्म संयोगात् ।' (च० वि० ८।११९)

सत्व को ही मन कहते हैं । वह आत्मा के संयोग से शरीर का तंत्रक अर्थात् धारक और प्रेरक है ।

(२) 'अतीन्द्रियं पुनर्मनः सत्त्वसंज्ञकं 'चेतः' इत्याहुरेके, तदर्थात्मसंपदायत्तचेष्टं चेष्टाप्रत्ययभूतमिन्द्रियाणाम् ।'

—च० सू० ८।४

मन अतीन्द्रिय है । **'अतीन्द्रिय'** शब्द के दो अर्थ हैं—चक्षु आदि बाह्य ज्ञान की कारणभूत इन्द्रियों से परे अतिक्रान्तमिन्द्रियमतीन्द्रियम्, (और चक्षु आदि इन्द्रियों से भी सूक्ष्मतर, दुखबोध होने से ।

मन की चेष्टा, मनोर्थ (सुखादि और चिन्त्यादि) और आत्मा की 'संपत्' (श्रेष्ठता) पर निर्भर करती है अर्थात् इन दोनों की संपत् के अधीन चेष्टा है जिसकी, उसे 'मन' कहते हैं ।

यहां 'अर्थसम्पत्' से सुखादि का सन्निकर्ष और चिन्त्यादि का अभिमुख होना; आत्मसंपत् से आत्मा का प्रयत्नशालित्व होना, ग्रहण किया जाता है ।

मन की चेष्टाएं तीन प्रकार की हैं—

(१) सुखादि का ज्ञान, (२) चिन्त्यादि का चिन्तन और (३) चक्षु आदि इन्द्रियों का प्रेरण ।

यहां मन की परिभाषा में दूसरी बात भी कही गयी है—जो इन्द्रियों की चेष्टा का कारणभूत है, वह मन है, इन्द्रियों की चेष्टा से तात्पर्य उनका अपने विषय रूप आदि के ज्ञान के अर्थ में समझना चाहिए ।

इससे स्पष्ट होता है कि जब सुखादि और चिन्त्यादि विषय उपलब्ध होते हैं, और आत्मा प्रयत्नवान होता है, तब मन अपने विषय में प्रवृत्त होता है, इन्द्रियों में अधिष्ठान करता है । और इन्द्रियां मनोऽधिष्ठित होने पर अपने विषय—ज्ञान में प्रवृत्त होती हैं ।

अस्ति खलु सत्त्वमौपपादुकं यज्जीवं स्पृक्शरीरेणभिसंबध्नाति, यस्मिन्नपगमनपुरस्कृते शीलमस्य व्यावर्तते, भक्तिर्विपर्यस्यते, सर्वेन्द्रियाण्युपतप्यन्ते, बलं हीयते, व्याधय आप्याय्यन्ते, यस्माध्दीन प्राणाञ्जहाति, यदिन्द्रियाणामभिग्राहकं च 'मन' इत्यभिधीयते ।।

(च० शा० ३ । १३) ।

जो जीव का 'स्पृक् शरीर' में सम्बन्ध स्थापित करता है, जिसके निकल जाने पर शील बदल जाता है, भक्ति

(अभिरुचि) नष्ट हो जाती है, सब इन्द्रियों में कष्ट होता है, बलह्रास होता है, व्याधियां बढ़ जाती हैं, जिसके बिना प्राणों का त्याग हो जाता है, जो इन्द्रियों का अभिग्राहक प्रेरक है, उसे 'मन' कहते हैं।'

चरक की इस परिभाषा में मन को महत्ता-विशेषता और गुण-कर्मों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

मन एक शरीर से दूसरे शरीर में गमन करने वाला होता है। वह नित्य आत्मा के साथ रहता है। वह 'स्पृक शरीर, अर्थात आतिवाहिक शरीर के साथ आत्मा को जोड़कर रखता है। इसी से आत्मा भोगायतन शरीर के साथ संयुक्त रखता है।

अथवा

मन ही जीव (जीवात्मा) को स्पर्शवान शरीर के साथ संयुक्त कराता है। मन की गति के कारण ही आत्मा भी एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता हैं 'मनोजवो देहमुपैति देहात्,' च० शा० २।

अन्यत्र भी चरक में कहा गया हैं-सृष्टि के उत्पत्ति-म में सर्वप्रथम मनःसंयुक्त अथवा मन ही कारण या साधन जिसका, ऐसा चेतना-धातु (जीवात्मा) गुणग्रहण अर्थात् गुणवान् भूतों के साथ संयोग करने के लिए प्रवृत्त होता है। प्रथम आकाश से, फिर क्रमशः व्यक्ततर धातुओं-वायु आदि का उपादान ग्रहण करता है। यह सब गुणोपादान-रूप कार्य बहुत अल्प (अणु) काल में संपन्न हो जाता है।[२२]

मन के सम्बन्ध में अन्य ध्यातव्य विषय-

१ मन एक **द्रव्य** हैं। सृष्टि की रचना के आधारभूत द्रव्यों में मन को भी परिगणित किया गया है-

'खादीन्यात्मा मनःकालो दिशश्च द्रव्यसंग्रहः॥'

(च० सू० १।४८)

२ वह एक **इन्द्रिय** होने में सेन्द्रिय द्रव्यों का एक घटक है, मन के साथ आत्मा के संयोग के कारण उनमें चेतना रहती हैं-

'सेन्द्रियं चेतनंद्रव्यं' (च० सू० १।४८)।

३ **अध्यात्मद्रव्यगुणसंग्रह**-आत्मा से संबंधित अपकारक और उपकारक जो द्रव्य और गुण होते हैं, उनका समुच्चय अध्यात्मद्रव्यगुण संग्रह' कहलाता है। मन, मन का अर्थ, बुद्धि (मनोबुद्धि) और आत्मा का इसमें अन्तर्भाव होता है। इनमें बुद्धि गुण है, शेष द्रव्य हैं। यह संग्रह शुभ (धर्म और सुख) की प्रवृत्ति का हेतु और अशुभ (अधर्म और असुख) की निवृत्ति का हेतु होता है, संसार-प्रवृत्ति (मोक्ष) का हेतु भी होता है। "मनो मनोर्थो बुद्धिरात्मा चेत्यध्यात्म द्रव्यगुण संग्रहः शुभाशुभ-प्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुश्च।"

(च० सू० ८।१३)।

४ **उभयात्मक इन्द्रिय**-सांख्यदर्शन में मन को उभयात्मक इन्द्रिय माना गया है अर्थात् मन ज्ञान और कर्म दोनों प्रकार के कार्य सम्पादित करने वाली इन्द्रिय हैं। सुश्रुत ने सांख्य के आधार पर ही मन को उभयात्मक इन्द्रिय कहा है।[२३]

यह ध्यातव्य है कि चरक में मन के सम्बन्ध में ऐसा कोई तथ्य उपलब्ध नहीं होता। अर्थात् चरक में मन को उभयात्मक इन्द्रिय के रूप में कहीं बताया नहीं गया है।

५ मन एक **'विकार'** है सृष्टयुत्पत्तिक्रमपरम्परा में आठ भूत प्रकृतियां और सोलह विकारों का परिगणन किया है। स्थावर-जंगम सृष्टि इन्हीं से उत्पन्न हुई है। इन १६ विकारों में मन का भी समावेश है।[२४]

सुश्रुत ने सांख्योक्त सृष्टि-उत्पत्ति-परम्परा को स्वीकार करते हुए वैकारिक (सात्विक) अहंकार से तैजस (राजस) अहंकार के सहयोग से ११ इन्द्रियां उत्पन्न होना माना है-श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, वाक्, हस्त, उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय), पायु (गुदा), पाद और मन। इनमें से प्रथम पांच 'बुद्धि-इन्द्रियां, (ज्ञानेन्द्रियां) हैं और अन्य पांच 'कर्मेन्द्रियां' हैं, मन उभयात्मक इन्द्रिय है।[२५]

यद्यपि सांख्यमत से मन की उत्पत्ति अहंकार से होती है, तथापि आयुर्वेद में इसे पांच भौतिक-पंचमहाभूतों से उत्पन्न माना गया है—भौतिकानि चेन्द्रियाणि आयुर्वेदे वर्ण्यन्ते तथेन्द्रियार्थाः' (सु० शा० १।१४)।

मन का लक्षण

मन अतीन्द्रिय होने से उसे प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता है। उसके कार्य को देख कर अनुमान द्वारा उसका अस्तित्व प्रमाणित किया जाता है।

ज्ञान का न होना और होना मन के अस्तित्व को सूचित करता है। आत्मा, इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष होने पर भी मन का संयोग नहीं होने पर ज्ञान नहीं होता और उसका संयोग होने से ज्ञान उत्पन्न होता है।

अर्थ का ज्ञान होने में आत्मा, इन्द्रिय, अर्थ और

मन के सन्निकर्ष को हेतु माना गया है। पहले तीनों के सन्निकर्ष के उपस्थित होने पर भी मन के सन्निकर्ष के बिना ज्ञान नहीं होता। इस अन्वय-व्यतिरेक सिद्धि-अनुमान द्वारा मन का अस्तित्व सिद्ध होता है।

इन्द्रियां मन के संयोग से ही अर्थ ग्रहण करती है। जब एक साथ इन्द्रियाँ अर्थों से संयुक्त होती हैं तब किसी एक अर्थ का ज्ञान होता है, अन्य का नहीं। इससे प्रमाणित होता है कि इन्द्रिय के साथ मन का संयोग होना अर्थ-ग्रहण के लिए आवश्यक है।[२६]

मन के गुण

मन अणु (सूक्ष्म और असर्वव्यापक) और एक है। ये ही मन के दो गुण कहे जाते हैं।

यदि मन को आत्मा के समान सर्वेन्द्रियव्यापक मानें अथवा इन्द्रियों के समान अनेक माने तो युगपत् (एक साथ) इन्द्रियार्थों के साथ संबंध होने पर विशु मन के अथवा अनेक मन के इन्द्रियों में एक साथ अधिष्ठित होने के कारण पांचों इन्द्रियों से ज्ञान उत्पन्न होगा। परन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिए युगपत् (एक साथ) ज्ञान नहीं होने से मन अणुरूप और एक होना सिद्ध होता है। जिस इन्द्रिय से मन संयुक्त होता है, उसी से ज्ञान होता है।[२७]

अपने अर्थ (चिन्त्य), इन्द्रियों के अर्थ और संकल्प के व्यभिचरण—एक को त्याग कर दूसरे के ग्रहण करने से तथा रज, तम, सत्वगुण के योग से एक व्यक्ति में मन अनेक प्रतीत होता है। परन्तु उसका अनेक व नहीं है, क्योंकि मन एक होने से एकही काल में अनेक में प्रवृत्त नहीं होना इसलिए सब इन्द्रियों में एक काल में प्रवृत्त नहीं होती। इस बचन से मन का 'एकत्व' प्रमाणित होता है।

सर्वेन्द्रियव्यापकत्व

मन एक होने पर भी स्पर्शनेन्द्रिय की व्यापकता के कारण वह व्यापक होता है। क्योंकि स्पर्शनेन्द्रिय सब इन्द्रियों में व्याप्त है। इसमें मन संयुक्त रहता क्योंकि बिना मन संयोग के विषयग्रहण नहीं हो सकता।[२८]

मन के विषय (अर्थ-मनोग्राह्यभाव)

मन द्वारा ग्रहण किये जाने वाले अर्थ निम्न हैं—

(१) चिन्त्य—कर्तव्य या अकर्तव्य के रूप में मन द्वारा चिंतन करना।

(२) विचार्य—उपपत्ति अनुपपत्ति द्वारा विमर्श करना।

(३) उह्य— जिस की सम्भावना की जाती है-जैसे यह ऐसा होगा आदि

(४) ध्येय— ध्यान या भावना का विषय।

(५) संकल्प—वस्तु का गुणवान या दोषवान् होने का विचार करना।

(६) अन्य विषय जो मन द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, जैसे सुख दुख आदि[२९]

मन के इन विषयों में भी चिन्त्य और संकल्प मुख्य है।[३०]

यहां मन के अर्थों से तात्पर्य है—इन्द्रियनिरपेक्ष मन द्वारा जिनका ग्रहण किया जाता है।

मन के कर्म

मन के निम्ननांकित कार्य हैं--[३१]

(१) इन्द्रियाभिग्रह—इन्द्रियों में अधिष्ठान करना।

(२) स्वयं का निग्रह या नियंत्रण--अनिष्ट विषय में प्रवृत्त मन को स्वयं मन ही नियंत्रित करता है। अथवा एक विषय या गुण में लगे हुए मन को रोककर दूसरे विषय या गुण में लगाना मन का कार्य है। मन पर स्वयं ही नियंत्रण करनेवाला धृति कहलाता है। क्योंकि कहा है—

विषयप्रवणं चित्त धृतिप्रशान्त शक्यते।
नियन्तुमहितादर्थात् धृतिर्हि नियमात्मिका।
च० शा० १। १००

(३) ऊहनिर्विकल्पक(विशेषतारहित) आलोचना ज्ञान अर्थात् इन्द्रियाधिष्ठित मन से इन्द्रिय द्वारा जो ज्ञान (विषय ग्रहण) किया जाता है, वह निर्विकल्पक कहलाता है।

(४) विचार---हेय और उपादेय की दृष्टि से विकल्प करना विचार कहलाता है। हेय होने से त्याज्य और उपादेय होने से ग्राह्य--ऐसा विचार करना मन का कर्म है।

ज्ञान और कर्म की परम्परा

चरक के अनुसार मनोधिष्ठित इन्द्रिय द्वारा अर्थ--विषय का ग्रहण निर्विकल्पक ज्ञान किया जाता है। इसके बाद मन द्वारा गुण और दोष की दृष्टि से अर्थात् यह

गुणवान या उपादेय होने है ग्राह्य है तथा यह दोषवान या हेय होने त्याज्य है, ऐसा संकल्प किया जाता है संकल्प का लोकप्रचलित अर्थ है निश्चय, उससे भिन्न अर्थ यहां अभिप्रेत है। इसके बाद बुद्धि प्रवृत्त होती है बुद्धि द्वारा उस विषय के सम्बन्ध में निश्चयात्मक अध्यवसाय रूप ज्ञान किया जाता है, जिससे व्यक्ति बोलने या करने के लिए उद्यत होता है।[32]

बुद्धि-धृति-स्मृति

मन के सामान्य कर्मो के अतिरिक्त कुछ उच्चस्तरीय कार्यो के करने वाले उसके ही तीन विभाग हैं-बुद्धि, धृति और स्मृति। वस्तुतः ये मन के उच्चस्तरीय तीन क्रियात्मक भाग हैं।

बुद्धि-इसका कार्य अध्यवसाय या निश्चय रूप ज्ञान करना है। इसी के आधार पर व्यक्ति में कहने और करने का प्रयत्न होता है। (च० शा० १।२३)।

बुद्धि का अन्य कार्य समं अर्थात् 'जैसा हुआ' वैसा ही देखना, ज्ञान बुद्धि के भ्रंश से अनित्य में नित्य का हित में अहित का और अहित में हित का विषमरूप से निश्चय होता है।

विषमभिनिवेशो यो नित्यानित्ये हिताहिते।
ज्ञेयः स बुद्धिविभ्रंशः समं बुद्धिर्हि पश्यति॥

(च० शा० १।५५)

धृति-मन का नियांमक विभाग धृति' है। धृतिभ्रंश से अहित अर्थ में प्रवृत्ति मन को नियंन्त्रित करना अशक्य होता हैं-

विषय प्रवणं सत्वं धृतिभ्रंशान्न शक्यते।
नियन्तुमहिदर्थाद् धृतिर्हि नियमात्मिका॥

(च० शा० १।१००)

स्मृति-भूतकालिक अनुभूत विषय का ज्ञान 'स्मृति' कहलाता है। मनके इस विभाग में स्मरणीय (तथ्य और घटनाओं आदि) को स्थित रखा जाता है।

रज और मोह के कारण स्मृतिभ्रंश होने पर तत्व-ज्ञान (सत्यज्ञान-यथार्थज्ञान) में स्मृति नष्ट हो जाती है। तब ठीक से-उचित स्मरण नहीं होता। (च० शा० १०१)

दृष्ट (प्रत्यक्ष), (आगम) और समस्त अनुभूत विषयों का स्मरण किये जाने से इसे 'स्मृति' कहते है।

स्मृति उत्पन्न होने के आठ कारण हैं-[33]

१. निमित्त ग्रहण-निमित्त अर्थात् कारण को देखकर कार्य का स्मरण होता है।

२. रूपग्रहण-आकृति के आधार पर स्मरण करना। जैसे वन में नीलगाय को देखकर-गाय का स्मरण हो आना।

३. सादृश्य-समानता। जैसे पिता के समान पुत्र को देखकर पिता का स्मरण होना।

४. सविपर्यय-अत्यंत विसादृश्य (विपरीतता) को देखकर भी स्मरण होता है।, अत्यन्त कुरूप को देखकर उसके विपरीत सुरूप का स्मरण होता है।

५. सत्वानुबन्ध-मन की एकाग्रता। स्मर्तव्य वस्तु के प्रति मन को एकाग्र करने से स्मरण होता है।

६. अभ्यास-अर्थात् बारंबार अध्ययन की हुई वस्तु को अभ्यास से ही स्मरण किया जाता है।

७. ज्ञानयोग-तत्वज्ञानी को सब अनुभवों का स्मरण होता है।

८, पुनःश्रुत-पूर्व में सुना हुआ विषय यदि विस्मृत हो गया है, तो उसका थोड़ा-सा अश भी पुनःसुनने से सब बात का पुनः स्मरण हो जाता है।

मन का स्थानः

आयुर्वेद में मन के स्थान के विषय में तीन प्रकार के निर्देश प्राप्त होते हैं।

१. मन का स्थान—हृदय
२. मन का स्थान—शिर
३. मन का स्थान—सर्वशरीर

इनके अतिरिक्त मन के गमन मार्गो के रूप में मनोवहस्त्रोतों का भी वर्णन मिलता है। अब क्रमशः इनसे सम्बन्धित प्राप्त संदर्भो का अवलोकन करेंगे।

(१) हृदय—

(अ) 'षडंगमंगदिज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपंचकम्।
आत्मा च सगुणश्चेतः चिन्त्यं च हृदि संश्रितम्'।

हृदय में छः अंगों (दो हाथ, दो पैर, मध्य शरीर और शिरोग्रीवा) का विज्ञान, इन्द्रियाँ पांच अर्थ, आत्मा, त्रिगुण मन और उसका अर्थ—चिन्त्य, ये सब आश्रित रहते हैं।

(आ) हृदय चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत देहिनाम्।'

(सु० शा० ४।३४)

हृदय चेतना (समनस्क आत्मा) का स्थान कहा गया है।

(इ) 'हृदयमिति कृतवीर्यो बुद्धेर्मनसश्च स्थानत्वात्।'

(सु० शा० ३।३२)

कृतवीर्य ऋषि का मत है कि शरीर में हृदय सर्वप्रथम उत्पन्न होता है, क्योंकि वह बुद्धि और मन का स्थान है।

(ई) 'सत्वादि धाम हृदयं स्तनोरःकोष्ठमध्यगम्।'

(अ० हृ० शा०-४)

सत्व आदि का निवासस्थान हृदय है, जो स्तन, उरः, कोष्ठ के मध्य में रहता है।

इस प्रकार आयुर्वेद में सर्वत्र ऋषियों और आचार्यों ने 'हृदय' को ही मन का और उसके साथ नित्य अनुबंधित रहनेवाली आत्मा का स्थान बताया है।

परन्तु, हृदय की स्थिति के विषय में भ्रांत धारणाएं प्रचलित हैं। कुछ विद्वान शिरःकपालान्तर्गत स्थित 'मस्तिष्क' को हृदय मानते हैं। परन्तु वाग्भट के उपर्युक्त वचन से स्पष्ट हो जाता है कि मन का स्थान वस्तुतः मांसपेशी निर्मित वह अंगविशेष है, जो उरःप्रदेश में रहता है।

सुश्रुत ने भी हृदय का स्थान वक्ष में बताया है। (हृदयस्याधो वामतः प्लीहा फुफ्फुसश्च दक्षिणतो यकृत प्लीहा च, सु० शा० ४।३१)। इसे ही नव्य शारीर विज्ञान में 'हार्ट' (Heart) कहते हैं।

(२) शिर

(अ) 'प्राणाः प्राणभृतां यत्र श्रिताःसर्वेन्द्रियाणि च।
यदुत्तमांगमङ्गानां शिरस्तदभिधीयते ॥

(च० सू० १७।१२)

जिसमें प्राण अर्थात् वायुएं ('प्राणः वायवः चक्रः) और समस्त इन्द्रियां आश्रित रहती हैं और जो सब अंगों में उत्तमांग—श्रेष्ठ अंग या ऊर्ध्व अंग है, उसे शिर कहते हैं।

(आ) 'शिरसि इद्रियाणि, इन्द्रियप्राणवहाति च
स्रोतांसि सूर्यमिव गमस्तयः संश्रितानि।'

(च० सि० ९।४)

शिर में 'इन्द्रियाँ' और 'इन्द्रिय-प्राण-वह स्रोत' उसी प्रकार स्थित हैं, जिस प्रकार सूर्य में रश्मियां रहती हैं। यहाँ स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि उक्त प्रसंग में मस्तिष्क की रचना और क्रियाविज्ञान पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इन्द्रियाँ ज्ञान और कर्म की साधन हैं। यहां 'इन्द्रियाँ' कहने से मस्तिष्कगत ज्ञान और चेष्टा के केन्द्रों का Sensory and motor centres, 'इन्द्रियवह स्रोतों' से ज्ञान-संज्ञा लानेवाली नाड़ियों (Sensory nerves), तथा 'प्राणवह स्रोतों' से चेष्टावह नाड़ियों (motor nerves) का बोध होता है। यह इन पारिभाषिक संज्ञाओं का व्यावहारिक स्पष्टीकरण प्रकट है।

शिर और हृदय

भेल ने मन का स्थान 'शिर' और चित्त का स्थान 'हृदय' माना है। उसके अनुसार शिर और तालु के बीच में सब इन्द्रियों से श्रेष्ठ 'मन' रहता है। वह वहां रहता हुआ समीपस्थ इन्द्रियों के रस आदि विषयों का ज्ञान कराता है। उस मन के कारण ही सब इन्द्रियों का बल रहता है।

चित्त हृदय में रहता है और बुद्धियों का कारण बनता है। क्रियाओं का हेतु चित्त ही है।[३४]

सम्पूर्ण शरीर

'तद्वदतीन्द्रियाणां पुनः सत्वादीनां केवलं चेतनावच्छरीरमयनभूतमधिष्ठान भूतं च। (च. वि. ५।७)

—सत्व (मन) आदि अतीन्द्रिय भावों का सम्पूर्ण सजीव शरीर ही अयनभूत (मार्गभूत) और अधिष्ठान (आश्रयरूप) होता है।

उपर्युक्त विवेचन से निष्कर्ष यह निकलता है कि मन का वास्तविक स्थान 'हृदय' है, परन्तु उसकी कार्यस्थली शिर के अन्दर स्थित मस्तिष्क है। इन्द्रियों और इन्द्रियाधिष्ठानों के बीच आवागमन के लिए मन के स्रोत हैं, जिन्हें 'मनोवहस्रोत कहते हैं। ये सम्पूर्ण शरीर में (नख, लोम आदि को छोड़कर) व्याप्त हैं।

मनोवहस्रोत

'मनोवहानि स्रोतांसि यद्यपि पृथङ्नोक्तानि तथापि मनसः केवलं चेतनावत् शरीरमयनभूतम्' इत्यभिधानात् सर्वशरीरस्रोतांसि गृह्यन्ते। विशेषेण तु हृदयाश्रितत्वान्मनसस्तदाश्रिता दश धमन्यो मनोवहा अभिधीयन्ते।

(च. वि. ५।७ पर चक्रपाणि)

चरक ने 'स्रोतोविमान' में यद्यपि पृथक मनोवह स्रोतों का उल्लेख नहीं किया है, तथापि चक्रपाणि ने टीका में सारे शरीर में इन स्रोतों की स्थिति मानी है। विशेष रूप से हृदय में आश्रित होने से उससे सम्बद्ध दस धमनियां मनोवह स्रोत हैं। स्वप्न तथा उन्माद, अपस्मार आदि मानस-रोगों के प्रसंग में इन स्रोतों का वर्णन प्राप्त होता है।

इडा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियां तथा षट्चक्र विज्ञान

योगशास्त्र में तीन प्रकार की नाड़ियों का उल्लेख मिलता है—इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना। इनमें से 'सुषुम्ना' मध्य में होती है। इसके बायीं ओर 'इड़ा' और दाहिनी ओर 'पिंगला' नाड़ी होती है।

'इड़ा वामे स्थिता दक्षिणी पिंगला मता।
तयोर्मध्यगता नाड़ी सुषुम्नां वंशमाश्रिता।'

(विश्वनाथकृत 'षट्चक्र-विवृत्ति')

सुषुम्ना नाड़ी मेरुवंश में स्थित होती है, जो मस्तिष्क से त्रिकप्रदेश तक जाती है। वस्तुत: स्वतन्त्र नाड़ी-मंडल (Autonomic Nervous System) की ही ये रचनाएं हैं। सुषुम्ना को Spinal Nerves कहते हैं। इसके दाहिनी ओर रहने वाली स्वतन्त्र नाड़ी मंडल के कन्दों (Ganglias) की पंक्ति को 'पिंगला' (Right Sympathetic trunk) और बायीं ओर की पंक्ति को 'इडा' (Left Sympathetic trunk) कहते हैं। इस नाड़ी मंडल के सूत्र निकलकर कुछ विशिष्ट स्थानों पर गुच्छ की आकृति (Plexus) बनाते हैं। इनको ही प्राचीन योगिजन 'चक्र' कहते हैं और इनकी संख्या छ: बतायी है। इनके योगोक्त और आधुनिक शारीरविदों के द्वारा प्रयुक्त नाम निम्नानुसार हैं—

क्रमश: नीचे से ऊपर--

१ मूलाधारचक्र—Pelvic Plexus
२ स्वाधिष्ठानचक्र—Hypogastric Plexus
३ मणिपूरचक्र—Solar Plexus
४ अनाहतचक्र—Cardial Plexus
५ विशुद्धिचक्र—Carotid Plexus
६ आज्ञाचक्र—Cavernous Plexus

योगीजन इन्हीं चक्रों में अपनी शक्ति प्रतिष्ठित कर 'कुण्डलिनी' जागृत करने का प्रयास करते हैं।

सबसे ऊपर मस्तिक में 'सहस्रार पद्म, (हजारदलवाला कमल) होता है, जिसमें मन निवास करता है--

''एतत्पद्मान्तराले निवसति च मनः सूक्ष्मरूपं प्रसिद्धम्
(षट्चक्रनिरूपण, ३३)।

इस प्रकार योगशास्त्र में मनोविज्ञान का भिन्न रूप मिलता है।

मन के भेद

मन के तीन गुणों में से 'सत्वगुण प्रकाशक है, 'रजोगुण, प्रवर्तक (चलात्मक) है और तमोगुण नियामक (प्रवृत्ति निरोधक-अवसादक) है।

''सत्वं प्रकाशकं विद्धि रजश्चापि प्रवर्तकम्।
तमो नियामकं प्रोक्तमन्योन्यमिथुनप्रियम्॥

(का० सं० सू० २८)

इन्हीं गुणों के आधार पर मन के तीन प्रकार हैं--शुद्ध (सात्विक), राजस और तामस। कल्याणांश होने से 'शुद्ध (सत्वगुण) दोषरहित, रोषांश होने से राजस को तथा मोहांश होने से तामस को दोषयुक्त माना जाता है। इन तीनों के भी तर-तम योग से, शरीरावस्था (बालयुववृद्धादि अवस्था) और योनिविशेष (मनुष्य, पशु आदि) के आधार पर तथा शरीर व मन का परस्पर अनुविधान होने से अनेक भेद हो जाते हैं। शास्त्र में उनके कतिपय विशेष भेदों का निर्देश किया जाता है-

शुद्ध सत्व के ७ भेद ब्राह्म, आर्ष, ऐन्द्र, याम्य, वारुण, कौबेर, गान्धर्व। राजस सत्त्व के ६ भेद-आसुर, राक्षस, पैशाच, सार्प, प्रैत, शाकुन। तामस सत्व के ३ भेद--पाशव, मात्स्य, वानस्पत्य।

ये मनोभेद तत् तत् ब्रह्म, इन्द्रऋषि, आदि के सत्वों के समान होते हैं। अत: उनका उन नामों से निर्देश किया गया है।

इनके लक्षणों का विस्तार च० शा० अ० ४। ३६-४० पर देखें।

मन अनेक प्रकार के होते हैं। यद्यपि एक ही व्यक्ति में वे सब होते हैं, परन्तु एककाल में नहीं, एक का निर्देश प्रायोवृत्ति के आधार पर किया जाता है।

नानाविधानि खलु सत्वानि, तानि सर्वाण्येकपुरुषे भवन्ति, न च भवन्त्येककालम्, एकं तु प्रायोवृत्याऽऽह।''

(च० शा० ३।१३)।

गर्भ के सत्वज भाव—

भक्ति, शील, शौच, द्वेष, स्मृति, मोह, त्याग, मात्सर्य, शौर्य, भय, क्रोध, तंद्रा, उत्साह तैक्ष्ण्य, मार्दव, गाँभीर्य, अनवस्थितत्व आदि तथा वे सत्वविकार जो बाद में सत्व भेद (शुद्ध राजस, तामस आदि) के रूप में निर्दिष्ट किये गये हैं।

च० शा० ३। १३

मनः परीक्षण

मनोबल की परीक्षा

मन के बल को सामान्यतया आयुर्वेद में 'सत्त्व' शब्द से कहा गया है।

मनोबल भी शारीरिक बल की भांति तीन प्रकार से उत्पन्न या प्राप्त होता है—सहज (माता-पिता, वंश या जाति से प्राप्त, जन्मजात), कालज और युक्तिकृत। सहज बल प्राकृत होता है, कालज बल ऋतु विभाग से उत्पन्न और वयःकृत होता है; युक्तिकृत बल आहार, चेष्टा, योग (रसायन प्रयोग) से उत्पन्न होता है।[३५]

आयुर्वेद में मन को 'सत्त्व' भी कहते हैं। मन आत्मा के संयोग से शरीर और इन्द्रियों का प्रेरक और धारक होता है। बलभेद से सत्त्व के तीन प्रकार हैं—प्रवरसत्व (उत्तम मनोबल), मध्यम सत्व (मध्यम मनोबल) और अवरसत्व (अल्प मनोबल)।

'प्रवरसत्व' वाले व्यक्ति ही 'सत्वसार' वाले कहे जाते हैं। (आयुर्वेद में अष्टविध सार परीक्षा में श्रेष्ठ धातुओं के आधार पर सात और एक प्रबल मन की दृष्टि से—गणना की गयी है)। वे सत्त्वगुण की अधिकता के कारण दुर्बल शरीर होने पर भी निज और आगन्तु कारणों से होने वाली सब महान् पीड़ाओं में अव्यथ-अव्यग्र-अव्याकुल दिखाई देते हैं।

'मध्यसत्त्व' वाले दूसरे को वेदना सहन करते हुए देखकर 'मुझे भी इसी प्रकार पीड़ा सहन करनी चाहिए' ऐसा सोचकर स्वयं (के मन) को संभालते हैं अथवा दूसरों के आदेश आदि से मन को धीरज बंधाते हैं।

'हीन या अवर सत्व' वाले व्यक्ति न अपने मनोबल से और न दूसरे के उपदेश आदि से मन को दृढ़ कर सकते हैं। वे बड़े शरीर वाले होने पर छोटी-छोटी वेदनाओं को सहन करने में असमर्थ दिखाई देते हैं। भय, शोक, क्रोध, मोह, मान तथा भयानक, अप्रिय, घृणित और विकृत प्रसंग उपस्थित होने पर तथा पशु और मनुष्य के रक्त-मांस को देखकर विषाद (खेद), वैवर्ण्य (शरीर का रंग फीका पड़ना), मूर्छा, उन्माद, भ्रम, चक्कर आना, गिर जाना आदि से पीड़ित होते हैं अथवा मृत्यु को प्राप्त होते हैं।[३६]

मन के तीन गुण होते हैं—सत्व, रज और तम। मन का बल सत्वगुण की अधिकता पर निर्भर करता है। सत्वगुण जितना ही अधिक उत्कृष्ट होगा, उतना ही पीड़ादि की सहिष्णुता लक्षणवाला मनोबल प्रकट होगा।[३७]

सत्वगुण की अधिकतायुक्त मन वालें को 'सत्त्वसार' कहा जाता है, ऐसा ऊपर बताया है। स्मृतिवान्, शक्तिवान्, कृतज्ञ, विद्वान्, पवित्र रहनेवाले, बड़े उत्साही, दक्ष (निपुण), धैर्यवान्, युद्ध में पराक्रम के साथ लड़नेवाले, कभी खेद न करने वाले, सुव्यवस्थित गतिवाले, गम्भीर बुद्धि और चेष्टा वाले तथा कल्याण की भावना वाले व्यक्ति "सत्त्वसार" कहलाते हैं।[३८]

सुश्रुत ने उत्तम मनोबल वाले व्यक्ति को 'सत्त्ववान्' कहा है। सत्व (मन), व्यसन (दुःख) और अभ्युदय (सुख का हेतु) दोनों के क्रियास्थानों में अविक्लवकर (अग्लानिकर और अहर्षकर) होता है। अर्थात् सत्व की अधिकता से सुख के हेतु-उत्कर्ष के होने पर हर्ष और दुःख के होने पर ग्लानि नहीं होती (निर्विकारत्व रहता है)। इस प्रकार 'निर्विकारत्व' (धैर्य) और 'निर्भयत्व' सत्वगुण की अधिकता से होते है—

'सत्वं तु व्यसनाभ्युदयक्रियादिस्थानेष्वविक्लवकरम्।'

सु. सू. ३५।३७

मन के तीनों गुणों के अनुसार मनोबल की त्रिविध स्थितियों को सुश्रुत ने भी लिखा है, सत्व की अधिकता से उत्तम मनोबल, राजस की अधिकता से मध्यम मनोबल और तम की अधिकता से मनोदौर्बल्य होता है। 'सत्त्ववान्' (सत्वगुण बहुल) व्यक्ति सब प्रकार की शारीरिक पीड़ा आदि को अपनी बुद्धि से ही मन को दृढ़ कर सहन करता है, राजस (रजोगुणबहुल मन वाला) व्यक्ति दूसरे के द्वारा

ढ़ाढ़स आदि बंधाने से मन को दृढ़ करता है और तामस (तमोगुण बहुल) मन वाला किसी भी पीड़ा को सहन नहीं कर सकता।

'सत्वान् सहते सर्वं संस्तभ्यात्मानमात्मना।
राजसः स्तभ्यमानोऽन्यैः सहते नैव तामसः॥

सु. सू. ३५।३८

'हीन सत्व' या तामस मन वाले व्यक्तियों की मानस-रोगों के प्रति अनुकूलता होती है। अतः उन्हें 'निदान-परिवर्जन' की ओर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए।

सत्व की विशेषता से व्याधितरूप

'व्याधितरूप' से तात्पर्य है, 'व्याधित' अर्थात् रोग-ग्रस्त के समान। दो प्रकार के व्याधितरूप पुरुष होते हैं— गुरुव्याधित और लघुव्याधित। 'सत्वबल' (उत्तम मनोबल) और 'शरीरसम्पत्' के कारण गुरुव्याधित (भयंकर रोग से पीड़ित) भी लघुव्याधित (हल्की व्याधि से पीड़ित) के समान दिखाई देता है। इसके विपरीत सत्व आदि के अधम (अल्प) होने से लघुव्याधित (अल्प कष्ट से ग्रस्त) भी गुरुव्याधि से पीड़ित के समान लगता है। इससे व्याधि-बलाबल के ज्ञान में निश्चय नहीं हो पाता।[३९]

मानस मिथ्यायोग

मानस रोगों के प्रति मानस (मनःप्रवृति) मिथ्यायोग को कारण स्वीकार किया गया है। भय, शोक, क्रोध, लोभ, मोह, मान, ईर्ष्या, मिथ्यादर्शन, आदि को मानस मिथ्यायोग कहते हैं।

'भयशोकक्रोधलोभमोह मानेर्ष्यामिथ्यादर्शनादि-मानसो मिथ्यायोगः। (च. सू. ११।३९)

मनोविकृति की परीक्षा और पहचान

मन अतीन्द्रिय होने से अनुमान द्वारा ज्ञेय द्रव्य है। अतः उसके विकृत होने पर उसकी पहचान और परीक्षा अनुमान के द्वारा ही सम्भव होती है। मन के बल का ज्ञान आतुर की प्रश्न-परीक्षा से होता है। चरक ने निम्न शब्दों में मानसिक विकृत भावों का सुन्दर शब्दों में अनुमानज्ञेय, परन्तु व्यावहारिक और बोधगम्य सम्यक् निदर्शन किया है- मन को विषयों के नियत (यथायथ) ग्रहण से, विज्ञान को यथार्थ प्रवृत्ति अर्थात् निश्चयात्मक ज्ञान से, रज को आसक्ति से, मोह को अज्ञान से, क्रोध को हिंसा (परपीडनार्थक) प्रवृत्ति से, शोक को दीनता (दैन्ययुक्त रोना आदि) से, हर्ष को आमोद-प्रमोद से, प्रीति को सन्तोष (मुख-नयन आदि अंगों की प्रफुल्लता) से, भय को विषाद से, धैर्य को अविषाद अर्थात् विपत्ति में भी मन के विचलित न होने से, वीर्य को उत्साह (दुष्कर कर्म में भी मन की प्रवृत्ति) से, अवस्थान अर्थात् बुद्धि (मति) की स्थिरता को भ्रम-रहितता से, श्रद्धा (इच्छा) को अभिप्राय अर्थात् प्रार्थना से, मेधा को ग्रहणशक्ति अर्थात् ग्रंथ आदि को शीघ्र याद (स्मृति में) करने की क्षमता से, संज्ञा को नाम लेने से, स्मृति को स्मरण (स्मृत-अर्थात् दर्शन और श्रवण आदि द्वारा अनुभूत विषयों के प्रकाशन) से, लज्जा को लज्जित चेष्टा से, शील (स्वभाव) को बराबर अभ्यास करने से, द्वेष को वस्तुओं के निषेध से, उपधि (छल-कपट) को उत्तरकालीन फल से, धृति को मन की अचंचलता से, वश्यता को अनुकूल व्यवहार या आज्ञा-पालन से, वय को काल से, भक्ति (इच्छा) को देश विशेष से, सात्म्य को उपशय से, **रोग निदान (कारण) को वेदना विशेष से**, कल्याण की स्थिति या मांगलिक काल को श्रेयस्कर मार्ग पर चलने से और मन की निर्मलता को काम-क्रोध आदि मानसिक विकारों से रहित होने के द्वारा प्रतीत किया जाता है।

वास्तव में उक्त विवेचन मानस-भावों का नैदानिक परीक्षण (Clinical Investigation) है, जो सुगम और सरल होने से अधिक उपादेय और ग्राह्य भी है। परीक्षा की इसी आधारशिला पर समस्त मानस रोगियों की परीक्षा की जानी चाहिए, जिससे किसी निष्कर्ष को प्रकट किया जा सकता है।[४०]

इस प्रकार आयुर्वेदीय ग्रंथों में मनोविज्ञान के प्रत्येक पक्ष पर विस्तार से प्रकाश पड़ता है।

---

१. सत्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्।
लोकस्तिष्ठति संयोगात्तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्॥
स पुमांश्चेतनं तच्च तच्चाधिकरणं स्मृतम्।
वेदस्यास्य, तदर्थं हि वेदोऽयं संप्रकाशित॥
च० सू० १।४६-४७

२. शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम् ।
नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते ॥
च० सू० १।४२

३. 'निर्विकारः परस्त्वात्मा' (च० सू० १।५६)

४. शरीरं सत्त्वसंज्ञं च व्याधीनामाश्रयो मतः ।
तथा सुखानां X X X X।
च० सू० १।५५

चक्रपाणिटीका—'सत्त्वसंज्ञशब्देन मन उच्यते, किंवा सत्त्वशब्देनैव मनसि लब्धे संज्ञाशब्देन आत्मशरीरसंबद्धं मन उच्यते; शरीराद्यसंबन्धस्य मनस्तो व्याध्यनाश्रयत्वात् । असमासेन च पृथगणिशरीरमनसोर्व्याध्याश्रयत्वं दर्शयति । यतः कुष्ठादयः शारीरा एव, कामादयस्तु मानसा एव, उन्मादादयश्च द्वयाश्रयाः ।'

५. निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्त्वभूतगुणेन्द्रियैः ।
चैतन्ये कारणं नित्यो द्रष्टा पश्यति हि क्रिया ॥
च० सू० १।५६

चक्रपाणि—निर्विकारो निर्विकृतिः तेन नीरोगत्वमात्मनः । पर इति सूक्ष्मः श्रेष्ठो वा तेन सत्त्वशरीरात्ममेलकरूपो य आत्म-शब्देनोच्यचे तं व्यावर्तयति; यदुक्तं—संयोगपुरुष-स्पेष्टो विशेषो वेदनाकृतः (शा० अ० १) इति । XXसत्त्वं मनः, भूतगुणाः शब्दादयः, इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि, एतैः करणभूतैश्चैतन्ये कारणं भवत्यात्मा । चैतन्यं चात्मनि जायते व्यज्यते वा । अतएव च सत्त्वादीनां ज्ञानकारणानां सर्वत्रासंभवात् सर्वगतेऽपि आत्मनि न सर्वत्र प्रदेशे ज्ञानं भवति । XXदृश्यमानरागादिविकारस्तु मनसि, प्राकृतबुद्धौ वा सांख्यदशन-परिग्रहाद्भवतीति भावः । सांख्यमते च च मनःशब्देन बुद्धिरन्तःकरणं च ज्ञायते ।

६. विभुत्वमत एवास्य यस्यात् सर्वगतो महान् ।
मनसश्च समाधानात् पश्यत्मात्मा तिरस्कृतम् ॥
नित्यानुबन्धं मनसा देहकर्मानुपातिना ।
सर्वयोनिगतं विद्याद् एकयोनावपि स्थितम् ॥
च० शा० १।८०-८१

७. भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैति देहान् । कर्मात्मकत्वान्न तु तस्य दृश्यं दिव्यं विना दर्शनमस्ति रूपम् । (च० शा० २।३१)

८. आरति खलु सत्त्वमौपपादुकं; यज्जीवं स्पृक्शरीरेणा-मिसंबधतासि । (च० शा० ३।१३)।

९. अतीन्द्रियैस्तैरतिसूक्ष्मरूपै---
रात्मा कदाचिन्न वियुक्तरुपः ।
न कर्मणा नैव मनोमतिम्यां
न चाप्यहंकार विकारदोषैः
रजस्तमोभ्याँ हि मनोऽनुबद्धं
ज्ञानं विना तत्र हि सर्वदोषाः ।
गतिप्रवृत्योस्तु निमित्तमुक्तं
मनः सदोषं बलवच्च कर्म ॥ (च०शा० २।३७-३८)

१०. अचेतनं क्रियावच्च मनश्चेतयिता परः
युक्तस्य मनसा तस्य निर्दिश्यन्ते विभोः क्रियाः ॥
चेतनावान् यतश्चात्मा ततः कर्ता निरुच्यते ।
अचेतनत्वाच्च मनः क्रियावदपि नोच्यते ।
च० शा० १।७५-७६

११. स्पर्शनेन्द्रियसंस्पर्शः स्पर्शो मानस एव च ।
द्विविधः सुखदुःखानां वेदनानां प्रवर्तकः ॥
इच्छाद्वेषात्मिका तृष्णा सुखदुःखात् प्रवर्तते ।
तृष्णा च सुखदुःखानां कारणं पुनरुच्यते ॥
वेदनानामधिष्ठानं मनो देहश्च सेन्द्रियः ।
केशलोमनखाग्रान्नमलद्रवगुणैर्विना ॥
च० शा० १।१३३, १३४, १३६

१२. विभुत्वमत एवास्य यस्मात् सर्वगतो महान् ।
मनसश्च समाधानात् पश्यत्मात्मा तिरस्कृतम् ॥
च० शा० १।८०

चक्रपाणि—'समाधनं समाधिः । अनेन योगिनः समाधि-बलात् तिरोहितमपि पश्यन्तीति दर्शयति ।'

१३. योगे मोक्षे च सर्वासां वेदनानामवर्तनम् ।
मोक्षे निवृत्तिर्निःशेषा योगो मोक्षप्रवर्तकः ॥
च० शा० १।१३७

चक्र—'मोक्ष आत्यन्तिकशरीराद्युच्छेदः । X X योगे निवृत्ता वेदना पुनर्भवतिति सूचयति । मोक्षप्रवर्तक इति मोक्षकारणम् ।'

१४. नात्मेन्द्रियं मनो बुद्धिं गोचरं कर्म वा बिना ।
सुखदुःखं, यथा यच्च बोद्धव्यं तत्तथोच्यते ॥
च० शा० १।१३२

१५. आत्मेन्द्रियमनोर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्तते ।
सुखदु:खमनारम्भात् आत्मस्थ मनसि स्थिरे ।।
निवर्तते तदुमयं वशित्वं चोपजायते ।
सशरीरस्य योगज्ञास्तं योगमृषयोविदुः ।
च० शा० १

१६. आवेशश्चेतसो ज्ञानमर्थानां छन्दतः क्रिया ।
दृष्टिः श्रोत्रं स्मृतिः कान्तिरिष्टतश्चाप्यदर्शनम् ।।
इत्यष्टविधमाख्यातं योगिनां बलमैश्वरम् ।
शुद्धसत्त्वसमाधानात् तत् सर्वमुपजायते ।
च० शा० १४०-१४१

चक्र—ऐश्वरमिति योगप्रभावादुपपन्नैश्वर्यकृतम् । शुद्धसत्त्वसमाधानादिति नीरजस्तमकस्य मनस आत्मनि सम्यगाधानात् ।

१७. मोक्षो रजोस्तमोऽभावात् बलवत्कर्मसंक्षयात् ।
वियोगः सर्वसंयोगैरपुनर्भव उच्यते ।।
च० शा० १।१४२

चक्र—'सर्वसंयोगैरिति सर्वैरात्मसम्बन्धिभिः शरीर-बुद्धयङ्कारादिभिः ।'

१८. रजस्तमोभ्यां युक्तस्य संयोगोऽयमनन्तवान् ।
ताभ्यां निराकृताभ्यां तु सत्त्ववृद्धया निवर्तते ।
च० शा० १।३६

१९. पुनश्च धातुभेदेन चतुर्विंशतिकः स्मृतः ।
मनो दशेन्द्रियाण्यर्थाः प्रकृतिधाष्टश्चातुकी ।।
च० शा० १।१७

२०. च० शा० १।५४, ५६

२१. च० शा० १।२२-२३; च० सू० ८।४

२२. च० शा० ४।८

२३. सु० शा० १।४

२४. च० शा० १।६४

२५. सु० शा० १।४

२६. लक्षणं मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव च ।
सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां सन्निकर्षे न वर्तते ।।
वैवृत्यान्मनसो ज्ञानं सान्निध्यात् तच्च वर्तते ।।
च० शा० १।१८१

२७. अणुत्वमथ चैकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ ।
च० शा० १।९

स्वार्थेन्द्रिमार्थसंकल्पव्यभिचरणाच्चानेकमेकस्मिन् पुरुषे सत्त्वं, रजस्तमःसत्त्वगुणयोगाच्च; न चानेकत्वं, न ह्येकं ह्येककालमनेकेषु प्रवर्तते, तस्मान्नैक काला सर्वेन्द्रियप्रवृत्तिः । च०.सू० ८।५

२८. च० सू० ११।३८

२९. च० शा० १।२०

३०. च० सू० ८।१६, च० शा० १।२२

३१. च० शा० १।१००

३२. च० शा० १।२२-२३

३३. च० शा० १।१४८-१४९

३४. शिरस्ताल्वन्तर्गतं सर्वेन्द्रियपरं मनः ।
तत्रस्थं तद्धि विषयानिन्द्रियाणां रसादिकान् ।।
समीपस्थान् विजानाति मीन् भावांश्च नियच्छति ।
तन्मनःप्रभवं चापि सर्वेन्द्रियमयं बलम् ।।
कारणं सर्वबुद्धीनां चित्तं हृदि संश्रितम् ।
क्रियाणां चेतरासां च चित्तं सर्वदा कारणम् ।।
भे० सं०, चि०, अ० ८

३५. च० सू० ११।३६

३६. च० वि० ८।११९

३७. 'तथाहि सत्वं मनोबलं गुणविशेषो रजस्तमसो-र्विपक्षः । सत्वे सति पीडादिसहिष्णुत्वलक्षणं मनो-बलं भवति ।' (डल्हण, सु. सू. ३५।३७-३८ पर) 'क्रमागतसत्वपरीक्षायां सत्वं सत्वगुणो मनोगतः तदुत्कर्षान्मनो बलवद्भवति ।
चक्रपाणि, सु० सू० ३५।३७-३८)

३८. च० वि० ८।११०, सु० सू० ३५।१६

३९. च० वि० ७।३

४०. विषय के विस्तृत अवलोकन हेतु देखें-डा० राजेन्द्र प्रकाश भटनागर कृत—'अभिनव मानसरोगविज्ञान', सूर्य-प्रकाशन, जगदीश चौक, उदयपुर ।

—

इन्द्रिय विवेचन

डा० एस० एन० मिश्र,*
बी. ए. एम.एस., डी. ए. वाइ. एम., पी.एच-डी. (शोधछात्र)

डा० एल० वी० गुरु,**
एम.ए., एम.ए., ए.एम.एस., पी.एच-डी., एफ.आर ए.एस.

निरुक्ति एवं परिभाषा—

इन्द्रिय शब्द की व्युत्पत्ति पाणिनि के अनुसार निम्न प्रकार बतायी गयी है—

इन्द्रियमिन्द्रलिंगभिन्द्रदृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्र दत्तमिति वा
-(पा० अष्टा० ५। २। ९३)

शब्द कल्प द्रुम के अनुसार इन्द्रिय शब्द का अर्थ निम्न प्रकार है—

'इन्द्रस्यात्मनो लिंगमनुमापकम्। इन्द्रेणात्मनादृष्ट मम चक्षुर्मम् श्रोत्रममित्यादि क्रमेण ज्ञातम्। इन्द्रेण ईश्वरेण सृष्टम्। इन्द्रेण जुष्ट वा, इत्याद्यर्थेषु इन्द्रशब्दात् निपातनात् घच,(ज्ञानकर्मसाधनम्) इति।' —शब्द कल्पद्रुम

माठर वृत्ति के अनुसार—

इन्-इति विषयाणाम् नाम, तान् इनः विषयान् प्रतिद्रवन्तीति इन्द्रियाणि। (माठर का० २९)

तर्क के संग्रह अनुसार—

'शरीर संयुक्तम् ज्ञानकरणम् अतिन्द्रियम् इन्द्रियम्।'
इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ का संयोग उसमें अतिव्याप्ति न हो इसलिए शरीर संयुक्तम् कहा है। काल, आकाशादि की अतिव्याप्ति को दूर करने के लिये 'ज्ञान करणम्' कहा है। न्याय सिद्धान्त मुक्तावली के अनुसार—

* डिमांस्ट्रेटर—मौलिक सिद्धान्त विभाग, चिकित्सा विज्ञान संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
** प्रोफेसर— वाराणसी, (उ० प्र०)

शब्देतराद्भूत विशेषगुणानाश्रयत्वे सति ज्ञान करण मनः संयोगाश्रयत्वम् इन्द्रियत्वम् । (मु० प० १ सू० ५८)

शब्द को छोड़कर जो उद्भूत विशेष (चार) गुण है, इन गुणों का आश्रय न हो और ज्ञान के प्रति करण'मन' का आश्रय हो वह इन्द्रिय है।

वात्स्यायन के अनुसार-

'भोग साधनानि इन्द्रियाणि।'

अर्थात् उस आत्मा के भोग (सुख तथा दुःख के अनुभव) के साधनों को इन्द्रिय कहते हैं।

इन्द्रियों की संख्या

सामान्यतः विषयों के ग्रहण करने के साधनभूत द्वार का नाम इन्द्रिय है। मन को लेकर इन्द्रियों की संख्या ग्यारह होती है। जिसका विवरण निम्न प्रकार है—

तत्र चक्षुः श्रोत्रं घ्राणां रसनं स्पर्शनमिति पंचेन्द्रियाणि ॥

च० सू० ८।८

हस्तौ पादौ गुदोपस्थं वागिन्द्रियमथापि च।
कर्मेन्द्रियाणि पंचैव पादो गमन कर्माणि वा ॥

च० शा० १।२५

अतीन्द्रियं पुनर्मनः सत्वसंज्ञकं चेत इत्याहुरेके।

च० सू० ८।४

उभयात्मक मनः। —सॉ० द० २।२६, सु० शा० १।३

अर्थात् चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसन ओर स्पर्शन से पांच ज्ञानेन्द्रियां होती हैं।

दो हाथ, दो पैर, गुदा, उपस्थ और वागीन्द्रिय ये पाच कर्मेंद्रियां कही जाती है।

और ग्यारहवीं इन्द्रिय जो उभयात्मक, सत्वसंज्ञक एवं अतीन्द्रिय मन है, इसें कुछ लोग 'चेतः' भी कहते है।

अन्यत्र आचार्य 'चरक' ने मन को छठी इन्द्रिय कहा है…

तत्र मधुरां रसः शरीरसात्म्याद्रसरुधिरमांसमेदोस्थिमज्जौजः शुक्राभिवर्धन आयुष्यः षडिन्द्रिय प्रसादनो।

च० सू० २६।४३

अर्थात् मधुर रस वाला द्रव्य शरीर के लिए सात्म्य होने के कारण रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र को बढ़ाने वाला होता है। आयु के लिए हितकर तथा छः इन्द्रियों को प्रसन्न रखता है। यहां पर छः इन्द्रियों से अभिप्रायः मन और पांचों ज्ञानेन्द्रियों से है।

इन्द्रियों का अप्रत्यक्षत्व—महर्षि चरक ने कहा है कि ये इन्द्रियां जो प्रत्यक्ष ज्ञान का साधन है वह स्वयं ही अप्रत्यक्ष होती है। इन इन्द्रियों के भौतिक स्थान प्रत्यक्ष है, इसी कारण से व्यवहार में इन्द्रियों को प्रत्यक्ष जाना जाता है जबकि वास्तविक स्थिति इसके विपरीत है।

'यैरेव तावदिन्द्रियैः प्रत्यक्षमुपलभ्यते, तान्येव सन्ति चाप्रत्यक्षाणि'। —च० सू० ११।७।

इन्द्रियों के अभौतिक होने में प्रमाण—सांख्य दर्शन के अनुसार वैकारिक अहंकार से समस्त इन्द्रियों की उत्पत्ति हुई है। तामस अहंकार से पाँच तन्मात्राएं और इन तन्मात्राओं से पंचमहाभूतों की उत्पत्ति होती है। अतएव इन्द्रियों को सांख्याचार्य भौतिक नहीं मानते। सांख्य दर्शन में स्पष्ट कहा गया है कि इन्द्रियां अभौतिक हैं।

"आहंकारित्व श्रुतंन भौतिकानि।" (सा० द०२।२०)

अर्थात्- श्रुतिप्रमाण से अहंकार के कार्य होना सिद्ध होने से इन्द्रियां भौतिक नहीं हैं

आचार्यसुश्रुत ने भी इन्द्रियों की उत्पत्ति वैकारिक (सात्विक एवं राजस्) अहंकार तथा तैजस अहंकार की सहायता से ही वर्णन किया है।

"तत्र वैकारिकादहंकारात्तैजससहायात्तल्लक्षणान्येवैकादशेन्द्रियाण्ययुत्पद्यन्ते"। —सु० शा० १।३

अर्थात्-राजस अहंकार की सहायता द्वारा सात्विक अहंकार से ग्यारह इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं।

इन्द्रियों केभौतिक होने में प्रमाणः-न्याय दर्शन के अनुसार इन्द्रियों की उत्पत्ति भूतो से होती है।

"घ्राणरसनचक्षुस्त्वक् श्रोत्राणि भूतेभ्यः"। (न्याय द० १,१, १२)

अर्थात्-जीवात्मा के सांसारिक सुख तथा दुःख के अनुभव करने के साधन घ्राण, रसन, चक्षु, श्रोत, नाम के पांच ज्ञानेन्द्रियां कहलाते हैं, जो क्रम से पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश नामक पाँच महाभूत द्रव्यों से उत्पन्न है।

इस उपर्युक्त सूत्र की व्याख्या भाष्यकार ने इस प्रकार की है —

"जिघ्रत्यनेंन घ्राणं गृह्णातीति। रसयत्यनेनेति रसनं रसं गृह्णतीति। चष्टेऽनेनेति चक्षु रूपं पश्यतीति। त्वक्स्था

नामिन्द्रियं त्वक् । तदुपचारः स्थानादीति । ऋणोत्यनेनेति श्रोत्रं शब्दं गृह्णातीति । एवं समाख्यानिर्वचन सामर्थ्याद्बोध्यं स्व विषय ग्रहण लक्षणानीन्द्रियाणीति । भूतेभ्य इति ।

नानाप्रकृतिमेषां सतां विषय नियमः, नैकप्रकृतीनाम् । सति च विषयनियमे स्वविषय ग्रहण लक्षणत्वं भवतीति ॥

(वात्स्यायन भाष्य १२)

अर्थात् जिससे सूंघा जाता है उसे घ्राण कहते हैं इससे आत्मा गंध गुण को ग्रहण करती है । जिससे चखता है वह जिह्वा स्थान में वर्तमान रसनेन्द्रिय कहलाता है इससे आत्मा रस गुण को ग्रहण करता है । जिससे देखता है उसे चक्षु इन्द्रिय कहते हैं क्योंकि इससे आँख की पुतलियों में वर्तमान चक्षु नामक इन्द्रिय रक्त, श्वेतादि सात प्रकार के रूपों को देखता है । जिससे स्पर्श करता है उसे त्वचा में व्याप्त होने के कारण 'त्वक्' इन्द्रिय कहलाता है इससे स्पर्श का ग्रहण होता है । जिससे सुना जाता है उसे 'श्रोत्रं' इन्द्रिय कहते हैं । क्योंकि इसके द्वारा आत्मा शब्द गुण को ग्रहण करता है । इस प्रकार इन समाख्याओं के निर्वचन के सामर्थ्य से अपने-अपने विषय को ग्रहण करना सामान्य इन्द्रियों का लक्षण है, ऐसा सिद्ध होता है । सूत्र में 'भूतेभ्यः' अर्थात् पाँच पृथ्वी आदि महाभूत पदार्थों से, इस पद से, यहां सिद्ध होता है कि पृथ्वी आदि भिन्न-भिन्न प्रकृति (करण) वाले होने के कारण ही इनमें अपने-अपने गंधादि विषयों के ग्रहण का नियम हो सकता है । एक कारण वाले होने वाले से न होगा और अपने-अपने विषयों का नियम होने से ही अपने-अपने विषय का ग्रहण करना ऐसा उक्त संपूर्ण इन्द्रियों का सामान्य लक्षण है ऐसा सिद्ध होता है ।

पुनः न्याय दर्शन में इन्द्रियों के कारणभूत द्रव्यों को अधिक स्पष्ट किया गया है—

'पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशमिति भूतानि ।

—(न्याय द० १, १, १३)

अर्थात्, पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश नामक न्याय तथा वैशेषिक मत में, पाँच महाभूत नाम के द्रव्य पदार्थ हैं, जो क्रम से पूर्वोक्त घ्राणादि पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के कारण हैं ।

न्याय दर्शन में अन्यत्र सांख्य के इस मत का ('कि इन्द्रियाँ भौतिक नहीं हैं') खण्डन इस प्रकार किया गया है—

"सांख्यवादी इंद्रिय भौतिक नहीं है" ऐसा कहता है तो प्रश्न उठता है किन कारणों से ?

'अभौतिकानीत्याह । कस्मात् ?'

उत्तर—'महदणुग्रहणात्' (न्या० द० ३, १, ३३)

अर्थात् महत् तथा अणु परिमाण वाले द्रव्यों का प्रत्यक्ष होने के कारण ।

भाष्यकार ने इसकी व्याख्या निम्न प्रकार की है—

'महदिति महत्तरं महत्तमं चोपलभ्यते यथा न्यग्रोधपर्वतादि ।

अण्विति अणुतरमणुतमं च गृह्यते यथा न्यग्रोधधानादि ।

चदुभयमुपलभ्यमानं चक्षुषो भौतिकत्वं बाधते : भौतिकं हि यावत्तावदेव व्याप्नोति ।

अभौतिकं तु विभुत्वात्सर्वव्यापकमिति ॥

अर्थात्—'महत' इस शब्द से महान उससे भी महान (महत्तर) तथा उससे भी महापरिमाण (महत्तम) वाले पदार्थों का जैसे वट वृक्ष, पर्वतादि का चक्षु से प्रत्यक्ष होता है । इस सूत्र के 'अणु' इस शब्द से अणुतर तथा उससे भी छोटा (अणुतम) जैसे वट बीज, धानादि का भी चक्षु इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है । यह दोनों प्रकार का प्रत्यक्ष होना चक्षु इन्द्रिय के भौतिक होने में बाधक है (क्योंकि भौतिक वस्तु की मर्यादा बंधी होती है) । क्योंकि कोई भी भौतिक पदार्थ जितने परिमाण का होता है वह उतने ही परिमाण को व्याप्त करता है और अभौतिक पदार्थ व्यापक होने के कारण सम्पूर्ण पदार्थ को व्याप्त करता है ।

खण्डन—इस बात का खण्डन न्याय के इस सूत्र द्वारा किया गया है—

'रश्म्यर्थसन्निकर्षविशेषात्तद्ग्रहणम् ॥

(न्याय, द० ३, १, ३४)

अर्थात— बड़े से बड़े तथा छोटे से छोटे पदार्थ का चक्षु इन्द्रिय के 'रश्मि' (किरण) से भौतिक पक्ष में भी प्रत्यक्ष हो सकता है, जिस प्रकार दूर रहने वाले भी बड़े तथा छोटे पदार्थों की दीपक की किरणों के पदार्थ के

पास जाने से दीपक द्वारा प्रत्यक्ष होता है। उपर्युक्त किरण तथा पदार्थों का सम्बन्ध होता है। यह परदा आदि आवरण अनुमान से सिद्ध होते हैं क्योंकि पदार्थ तथा चक्षु या दीपक के बीच में परदा पड़ता है तो पदार्थ का प्रत्यक्ष नहीं होता। इस प्रकार भौतिक पक्ष में भी बड़े और छोटे पदार्थ का प्रत्यक्ष हो सकता है।

आयुर्वेद में इन्द्रियों को स्पष्ट रूप से भौतिक कहा गया है।—आचार्य सुश्रुत ने स्पष्ट कहा है कि आयुर्वेद शास्त्र में इन्द्रियां भौतिक ही वर्णन की जाती है तथा उनके अर्थ (विषय) का भी भौतिक वर्णन किया जाता है यथा—

भौतिकानि चेन्द्रियाण्यायुर्वेदे वर्ण्यन्ते, तथेन्द्रियार्थाः।
(सु०शा० १।१४)

इसी प्रकरण में आगे चलकर 'सुश्रुत' ने इन्द्रियों की भूत विशेष द्वारा उत्पत्ति के विषय में और स्पष्ट किया है।

आन्तरिक्षास्तु—शब्दः शब्देन्द्रियं सर्वच्छिद्रसमूहां विविक्तता च; वायव्यास्तु—स्पर्शा स्पर्शेन्द्रियं सर्वचेष्टा-समूहः सर्वशरीर स्पन्दनम् लघुता च, तैजसास्तुरुपं रुपेन्द्रियं वर्णः सन्तापो भ्राजिष्णुता पक्तिरमर्षस्तैक्ष्ण्यं शौर्यं च, आप्यास्तु—रसो रसनेन्द्रियं सर्वद्रव समूहां गुरुता शैत्यं स्नेहो रेतश्च,
पार्थिवास्तु—गन्धो गन्धेन्द्रियं सर्वमूर्तसमूहो गुरुता चेति।'
सु०शा०१।२०।।

अर्थात् आकाश भूत से—शब्द, श्रोत्र शरीरगत अवकाश और विविक्तता, वायुभूत से-स्पर्श, स्पर्शेन्द्रिय (त्वचा), सम्पूर्णचेष्टाएं, सर्वशरीरगत स्पन्दन, और हल्कापन, तेज महाभूत से—रूप चक्षु, वर्ण, उष्णता, शरीरगत तेज, पचनकार्य, क्रोध, तीक्ष्णता और शौर्य, जल महाभूत से—रस, जिह्वा, सम्पूर्ण द्रव भाग, भारीपन, शीतता, स्निग्धता और वीर्य, और पृथ्वी महाभूत से-गन्ध, घ्राणेन्द्रिय, सर्व-ठोस भाग और गुरुता ये क्रमशः महाभूतों से बनते हैं।

इन्द्रियां अपने-अपने विषय को ही क्यों ग्रहण करती है इसका कारण आचार्य सुश्रुत ने निम्न प्रकार से बताया है—

इन्द्रियेणेन्द्रियार्थं तु स्वं स्वं गृह्णाति मानवः।
नियतं तुल्ययो नित्वान्नान्येनान्यमिति स्थितिः।।
(सु०शा०१।१३)

अर्थात् मनुष्य इन्द्रिय के द्वारा तुल्ययोनि होने के कारण उसके विषय का एतातः ग्रहण करता है। अन्य इन्द्रिय से अन्य विषय का ग्रहण नहीं करता, यही सिद्धान्त है।

(ख) आचार्य 'चरक' ने इन्द्रियों के द्रव्यों का स्पष्ट उल्लेख निम्न सूत्र में किया है—

पंचेन्द्रिय द्रव्याणि-खं वायुर्ज्योतिरापो भूरिति।
(च०सू०८।९)

ख (आकाश), वायु, ज्योति (तेज), अप् (जल) और भू (पृथ्वी)—ये पांच क्रमशः श्रोत्र, स्पर्शन, चक्षु, रसन और घ्राण इन्द्रिय के द्रव्य हैं।

इसी प्रकरण में इन्द्रिय विशेष में महाभूत विशेष की प्रधानता दर्शाते हुए कहा है कि—

'तत्रानुमानगम्यानां पंचमहाभूतविकार समुदायात्म-कानमपि सतामिन्द्रियाणां तेजश्चक्षुषि, खं श्रोत्रे, घ्राणे क्षितिः, आपो रसने, स्पर्शनेऽनिलो विशेषेणोपपद्यते, तत्र यदात्मकमिन्द्रियं विशेषात्ततदात्मवमेवार्थमनुगृह्णाति तत्स्वभावाद्विभुत्वाच्च।' (च० सू० ८।१४)

अर्थात्—अनुमान के द्वारा ज्ञात करने योग्य सम्पूर्ण इन्द्रियार्थ यद्यपि पंचमहाभूतों के परिणाम के ही समुदाय रूप है फिर भी विशेष रूप से चक्षु में तेज, श्रोत्र में आकाश, घ्राण में पृथ्वी, रसन में जल और स्पर्शन में वायु भूत रहता है। इस प्रकार एक-एक महाभूत एक-एक इन्द्रिय में प्रधान होता है। अतः इन्द्रिय जिस-जिस महाभूत से बनी रहती है उसी-उसी महाभूत के अर्थ की ओर दौड़ती है अर्थात् उन-उन महाभूतों के विषय को ग्रहण करती है। क्योंकि उन-उन इन्द्रियों का यह स्वभाव होता है और विमुख के कारण भी इन्द्रियां अपने विषय को ग्रहण करती है।

सांख्य मत से पांचों इन्द्रियां वैकारिक अहंकार से उत्पन्न हुई हैं। अर्थात् सभी इन्द्रियां एक स्वरूप की होनी चाहिये। यदि यह सत्य हो तो एक इन्द्रिय से पांचों इन्द्रियार्थों का ग्रहण होना चाहिये अथवा पांचों से पांचों अर्थों का ग्रहण नियम विहीन होना चाहिये या किसी एक

...न्द्रिय के न होने पर उसका कार्य अन्य इन्द्रियों से होना ...हिये। परन्तु इन्द्रियां इस प्रकार अर्थ का ग्रहण नहीं ...रतीं, उनमें अर्थ ग्रहण का नियम होता है। अतः अनु-...नतः यह कहा जा सकता है कि इन्द्रियां एक कारणो-...न्न नहीं है। अतएव जैसे पांच अर्थों के लिये पांच ...न्द्रियां अलग-अलग होती है वैसे ही पांच इन्द्रियों के लिये ...च उपादान कारण होना चाहिये, और इन्द्रियों के जो ...लग-अलग विषय हैं वह अलग-अलग महाभूतों के गुण ...। अतः जिस इन्द्रिय को जिस महाभूत से उत्पत्ति होती ... वह उसके ही गुणों (अर्थों) को ग्रहण करती है।

इस पांच भौतिक जगत में सभी वस्तुएं पंचमहाभूत ...ही उत्पन्न होती हैं। साँख्याचार्यों के मत से इन्द्रियां ...हंकारिक होती हैं। परन्तु आयुर्वेद सिद्धान्त से इन्द्रियां भौतिक होती हैं। साँख्य दर्शन में बतायी गयी आहंकारिक इन्द्रियों की चिकित्सा नहीं की जा सकती, क्योंकि वे बिना रूप की होती हैं।

आयुर्वेद चिकित्सा का शास्त्र है और उसे इन्द्रियों की चिकित्सा करनी होगी, अतः चिकित्सा को दृष्टि में रखते हुए उसे इन्द्रिय वर्णन अभिष्ट है। इसीलिए आयुर्वेद में इन्द्रियों को भौतिक माना गया है। चिकित्सा रूप वाली वस्तु की ही सम्भव है, और उसे शरीर के साथ इन्द्रियों की भी चिकित्सा करनी है, इसीलिए इन्द्रियों को भौतिक मानना आवश्यक है। वस्तुतः भौतिक इन्द्रियों के वर्णन का तात्पर्य इन्द्रिय अधिष्ठान से है।

से आयुर्वेद का सादृश्य एवं पार्थक्य

ऊषा कुशवाहा*
एवं
डा० ज्योतिर्मित्र**

योग के अतिरिक्त सांख्य ही एकमात्र ऐसा दर्शन है जिसका उल्लेख नामनिर्देश सहित चरकसंहिता में पांच स्थानों पर आया है (१)। सुश्रुत में अन्य दर्शनों के अनुल्लेख के समान सांख्य का नाम भी दृष्टिगत नहीं होता। भेल और काश्यप संहिता में भी सांख्य शब्द का अभिधान नहीं है किन्तु स्वल्प ही सामग्री यत्र-तत्र विकीर्ण है।

सांख्य साहित्य का परिचय

सांख्य प्रवचन सूत्र यद्यपि कपिल के नाम से उद्धृत है परन्तु आलोचकों का विचार है कि यह ईसा की चौदहवीं शती में बना है क्योंकि सर्वदर्शनसंग्रह (१४वीं शताब्दी) में सांख्य के निरूपण में सांख्यकारिका की कारिकाएं उद्धृत हैं, न कि सांख्य प्रवचन के सूत्र। तत्वसमास को भी कुछ लोग कपिलकृत मानते हैं परन्तु यह भी पश्चात् की ही रचना है। इस प्रकार सांख्य सम्प्रदाय का सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ ईश्वरकृष्ण रचित सांख्यकारिका है जिसका समय ईसा की तृतीय शताब्दि है। बौद्धभिक्षु परमार्थ ने षष्ठ शतक में इसका चीनी भाषा में अनुवाद किया था।

सांख्य सम्प्रदाय

E.H. Johnston ने अपनी पुस्तक Early Samkhya में कहा है कि सांख्य के १८ सम्प्रदाय थे। सांख्यकारिका २५ तत्ववादी सम्प्रदाय है और अन्य सम्प्रदायों का वर्णन यत्र-तत्र उद्धृत है। जिसमें से चरक में १

* शोधछात्रा, दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।
** रीडर, मौलिक सिद्धान्त विभाग, चिकित्सा विज्ञान संस्थान, का०हि०वि०वि०।

तत्ववादी, ६ तत्ववादी और २४ तत्ववादी तीन सम्प्रदाय हैं। काश्यपसंहिता में २४ तत्व एवं सुश्रुतसंहिता में सांख्य-कारिका के समान २५ तत्व स्वीकार किये गये हैं।

सांख्य से आयुर्वेद का सादृश्य एवं पार्थक्य

चरक, सुश्रुत, भेल एवं काश्यप संहिता के सांख्य प्रस्थानगत सामग्री एवं अन्य सांख्य प्रस्थानों के सिद्धान्त के अध्ययन एवं पर्यवेक्षण से परस्पर पार्थक्य परिचायक विषयों का ज्ञान किया जा सकता है—

१—तत्व संख्या-विषयक भेद:

ईश्वरकृष्ण ([२]) आदि ([३]) सांख्याचार्य २५ तत्व मानते हैं परन्तु काश्यप एवं चरकसंहिता में चतुर्विंशति-तत्ववादी सांख्यों का मत महाभारत (शा०३२३-७२) तथा बुद्धचरित (१२।२०,२३) के समान मिलता है। यह मत ईश्वरकृष्ण से भी प्राचीन है। इस मत में अव्यक्त प्रकृति से पृथक् मूलतत्व न मानकर पुरुष ही को अव्यक्त प्रकृति या प्रधान माना गया है। यह सगुण पुरुष ही सत्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों के योग से सृष्टि का कर्त्ता है। इसी से महान आदि तत्वों का प्रादुर्भाव हुआ है।

रोग और चिकित्सा का अधिकरण न तो केवल चेतन है और न केवल शरीर, किन्तु "संयोगपुरुषस्येष्टो विशेषो वेदनाकृत:" (च०शा० १।८५) के अनुसार संयोग पुरुष ही उसमें अधिकृत है। उस संयोग पुरुष में पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश और आत्मा—इन छः धातुओं का संयोग बतलाया गया है (४)।

फिर सांख्यदर्शन के अनुसार उसी पुरुष को २४ तत्वों की एक राशि बतलाया गया है---

पुनश्च धातुभेदेन चतुर्विंशतिक: स्मृत:।
मनो दशेन्द्रियाण्यर्था: प्रकृतिश्चाष्टधातुकी॥
च०शा० १।१७

महाभारत से यह पता लगता है कि सांख्य का एक प्रस्थान चतुर्विंशतितत्ववादी भी था---

पश्यैस्तचैव——पश्यति॥ शान्ति० ३२३।७२
चतुर्विंशति——धिष्ठति॥ शान्ति० ३२८।८

महाभारत से यह भी ज्ञात होता है कि पंचशिखाचार्य ने राजर्षि जनक की सभा में अव्यक्त को पुरुष ही की एक अवस्था बतलाया था। (५)।

भेलसंहिता में तो अव्यक्त पद से स्पष्टतया ब्रह्म ही का ग्रहण किया गया है और यह ब्रह्म ही सांख्य का पुरुष है। चरक के आभ्यन्तरनिहित त्रिविध सांख्य सम्प्रदाय में से एक षडधात्वात्मक पुरुष भी है और भेल ने केवल इसी एक सम्प्रदाय का ही निर्देश किया है (६)।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि चरक आदि का सांख्य चतुर्विंशतितत्ववादी है, उसमें मूल प्रकृति नाम के किसी पृथक् तत्व को नहीं स्वीकार किया गया है तथा अव्यक्त पद से पुरुष या ब्रह्म ही का ग्रहण हुआ है। परन्तु सुश्रुत संहिता सांख्य के समान २५ तत्व स्वीकार करती है।

२—तत्वों के वर्गीकरण में क्रमभेद:

चरक, सुश्रुत एवं काश्यप संहिता में तत्वों का वर्गीकरण भी सांख्य के ग्रन्थों से भिन्न ही है। सांख्यकारिका (३) में समस्त तत्वों को चार वर्गों में विभक्त किया गया है—

१. मूल प्रकृति	—अविकृति	१
२. प्रकृति-विकृति	—महान, अहंकार, पंचतन्मात्राएं	७
३. विकृति	—५ज्ञा०, ५क०, मन, पंचमहाभूत	१६
४. न प्रकृति न विकृति	—उदासीन पुरुष	१

किन्तु चरक संहिता में प्रकृति और विकार ये दो ही वर्ग किए गये हैं। प्रकृति वर्ग में आठ तत्व हैं और विकार वर्ग में १६ तत्व—इस प्रकार कुल २४ तत्व निम्नतया हैं—[७]

१. प्रकृति वर्ग —पंचमहाभूत, बुद्धि, अव्यक्त, अहंकार।
२. विकृति वर्ग—पंच बुद्धिन्द्रियां, पंच कर्मेन्द्रियां, मन पांच अर्थ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध)

सांख्यकारिका के समान सुश्रुत भी यद्यपि २५ तत्व स्वीकार करता है परन्तु यहां चरक एवं काश्यप के समान अष्ट प्रकृति एवं सोलह विकार ये दो ही वर्ग स्वीकृत हैं—[८]

प्रकृति—अव्यक्त, महान्, अहंकार, पंचतन्मात्रा।
विकृति—५ ज्ञाने०, ५ कर्मे०, मन, पंचमहाभूत।

काश्यप संहिता (ताडपत्र ७९) में भी अष्ट प्रकृति और १६ विकार ये दो वर्ग किये गए हैं—[९]

प्रकृति—अव्यक्त, महान्, अहंकार, पंचभूत।
विकृति—पंचबुद्धिन्द्रियां, पंच कर्मेन्द्रियां, पांच इन्द्रियों के अर्थ, अतीन्द्रिय मन।

यद्यपि भेल में भी चरक या सुश्रुतवत् प्रकृति का विभाग निर्दिष्ट होना चाहिए था किन्तु एकमात्र एक ही भेद अव्यक्त महान् और पंचमहाभूत के साथ परा प्रकृति के रूप में निर्दिष्ट है[१०]

काश्यप एवं चरक संहिता में अष्टप्रकृति को भूत-प्रकृति कहा गया है। चरक संहिता के वर्गीकरण क्रम में एक आश्चर्य यह भी है कि बुद्धितत्व का पर्यायवाची सांख्यदर्शन में प्रसिद्ध महत् शब्द का कहीं भी एक बार प्रयोग नहीं हुआ है। पंचतन्मात्र-शब्द का भी मूलपाठ में कहीं भी उल्लेख दृष्टिगत नहीं होता।

सांख्यकारिका के समान सुश्रुत संहिता में महान् एवं पंचतन्मात्रा दोनों ही शब्द प्रयुक्त हैं। काश्यप संहिता में यद्यपि महान् शब्द प्रयुक्त है परन्तु पंचतन्मात्रा शब्द कहीं भी उल्लिखित नहीं है।

३—आत्मपरिगणनवाद:

शरीर, इन्द्रिय, आत्मा एवं सत्व (मन) के समुदाय को पुरुष कहते हैं[११], ईश्वरकृष्ण ने १८वीं कारिका (जन्ममरण करणानां—...)के द्वारा अनेक हेतुओं से पुरुष बहुत्व की सिद्धि की है किन्तु चरक में ऐसा कोई भी वर्णन नहीं मिलता।

चरकसंहिता में एकात्मवाद स्वीकृत है निम्नांकित श्लोक में तो इस बात की और भी पुष्टि हो जाती है

रजस्तमोभ्यां युक्तस्य संयोगोऽयमनन्तवान।
ताभ्यां निराकृताभ्यां तु सत्ववृद्धया निवर्तते।।
—च० शा० १।२६

अर्थात् जब तक आत्मतत्व के साथ रजस् और तमस् का सम्पर्क रहता है तब तक उसको विभिन्न योनियों में असंख्य व्यक्तियों के रूप में जन्ममरण के चक्र में पड़ा रहना होता है किंतु जब विशुद्ध सत्वगुण की वृद्धि होने से रजस् और तमस् पर विजय पा लिया जाता है जब ज्ञान से इस संयोग की निवृत्ति होकर मुक्ति हो जाती है। यहां अनन्तवान पद से संयोग में ही आनन्त्य बतलाया गया है और उसी के कारण पुरुष (आत्मा) में बहुत्व की भ्रान्ति होती है, स्वयं उसमें अनेकता नहीं है।

सांख्यकारिका के समान सुश्रुत में भी पुरुष को अनेक माना गया है परन्तु यहां आत्मा की सांख्यमत से भिन्नता है। सांख्य में सर्वगत आत्मा नित्य है परन्तु आयुर्वेद में आत्मा असर्वगत होते हुए भी नित्य है। ([१२])।

काश्यप संहिता में पुरुष को आत्मा, क्षेत्रज्ञ, शाश्वत और अचिन्त्य माना गया है परन्तु यहां आत्मा की एकता या अनेकता का वर्णन नहीं है। यही स्थिति भेल के साथ भी है।

४—आत्मा में सगुणत्व की स्वीकृति:

साधारणतया सांख्य में आत्मा को निर्गुण, निर्लेप, निष्क्रिय और अकर्ता माना जाता है निष्क्रिय तो चरक (शा० १।५) भी मानता है परन्तु चरक के सांख्य का आत्मा निर्गुण, निर्लेप, निष्क्रिय और अकर्ता सभी स्थितियों में नहीं है। यहां त्रिगुणात्मक जड़ प्रकृति स्वीकार न होने से सगुण पुरुष ही प्रकृति है। सगुण होते ही पुरुष चतुर्विंशतिक राशि अथवा संयोग पुरुष कहलाने लगता है और तब उसे संलेप, सक्रिय और कर्ता भी कह सकते हैं तथा सुखदःखादि-युक्त भी। यह आत्मा कर्ता, भोक्ता, कारण आदि सब कुछ है यही मत याज्ञवल्क्य स्मृति का भी है ([१३])।

काश्यप एवं चरकसंहिता में अव्यक्त पुरुष को विभिन्न लक्षणों से युक्त माना गया है और ये लक्षण हैं प्राणवायु और अपानवायु का चलना, निमेष उन्मेष, जीवन, मन की गतियां इन्द्रियान्तर संचार, मन का इन्द्रियों को कार्य करने की प्रेरणा देना, स्वप्न में देशान्तर गमन, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्न, चेतना, धृति, बुद्धि, स्मरणशक्ति, अहंकार का होना आदि है([१४])। सुश्रुत संहिता में भी आत्मा (कर्म पुरुष) को सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, प्राणवायु का धारण करना, अपानवायु को छोड़ना, उन्मेष, निमेष बुद्धि, मन, संकल्प, विचारणा, स्मरण करना, विज्ञान, अध्यवसाय और विषयोपलब्धि गुणों से युक्त माना है([१५])।

सांख्यकारिका (११,१९) एवं सुश्रुतसंहिता में समान-रूप से पुरुष को चैतन्ययुक्त, त्रिगुणरहित, अप्रसवधर्मी एवं मध्यस्थ कहा गया है([११])।

५—सृष्टि प्रक्रियाः

सांख्यकारिका एवं सुश्रुतसंहिता के सृष्टि वर्णन में समानता है। अव्यक्त या प्रकृति से सर्वप्रथम महत्तत्व की उत्पत्ति होती है। महत्तत्व से अहंकार की उत्पत्ति होती है। महत्तत्व एवं अहंकार दोनों ही त्रिगुणात्मक हैं। अहंकार वैकारिक (सात्विक), तैजस (राजस), और भूतादि (तामस) भेद से तीन प्रकार का है। वैकारिक अहंकार से तैजस अहंकार की सहायता से ग्यारह इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं जो कि सात्विक स्वरूप होती हैं। इन्द्रियां इस प्रकार हैं- श्रोत्र, त्वक, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, वाणी, हस्त, पाद, पायु, उपस्थ और मन। इनमें से पहली पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं दूसरी पांच कर्मेन्द्रियां हैं। मन ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों हैं इसलिए इसे उभयात्मक कहा गया है। भूतादि (तामस) अहंकार से तैजस अहंकार की सहायता से पांच तन्मात्राएं उत्पन्न होती हैं। ये क्रमशः शब्द-तन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रुपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा एवं गन्धतन्मात्रा है। इन तन्मात्राओं के विशेष गुणशब्द, स्पर्श, रूप और गन्ध है। इनसे आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी उत्पन्न होती है।[१७]

चरक का सृष्टिक्रम सांख्यकारिका से विलक्षण है। सृष्टि दो प्रकार की है (१) षड्धातुक (२) चतुर्विंशतिक षड्धातुक (पंचमहाभूत और आत्मा) यह एक प्रकार का सांख्यप्रस्थान है।[१८]

चक्रपाणि के कथनानुसार वैशेषिक दर्शन से अनुमोदित यह पुरुष चिकित्साशास्त्र का विषय है।[१९] इसी को सुश्रुत ने पंचमहाभूत-शरीरि समवाय पुरुष कहा है।[२०] वस्तुतः पंचमहाभूत और आत्मा के ग्रहण से षड्धातुक यह सृष्टि-क्रम वैशेषिक प्रास्थानीय कहा जाना ठीक नहीं, क्योंकि चरक से भी प्राचीन यह एक प्रकार का सांख्य का प्रस्थान था जैसा कि हिरण्याक्ष नामक विद्वान ने सूत्रस्थान के यज्जः पुरुषीय अध्याय में विचारगोष्ठी में कहा है।[२१]

इस षड्धातुक सृष्टि का स्वरूप चरक इस प्रकार प्रतिपादित करता है। परमआत्मा की इच्छा जब विश्व-रूपसृष्टि को उत्पन्न करने को होती है तब वह सर्वप्रथम आकाश को और उसके अनन्तर क्रमशः वायु, तेज, जल, और पृथ्वी को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार मनुष्य, पशु, पक्षी आदि नानाविध प्राणियों के रूप में प्रकट होने की इच्छा से वह इसी क्रम से आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी को ग्रहण कर देह धारण कर लेता है। वही पिण्ड का स्रष्टा है और वही ब्रह्माण्ड का। आकाश में एक गुण शब्द, वायु में दो गुण शब्द, स्पर्श, तेज में शब्द, स्पर्श और रूप तीन गुण, जल में शब्द, स्पर्श, रूप और रस चार गुण और पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पांच गुण हैं। इस प्रकार भूतों में एक-एक गुण क्रमशः उत्तरोत्तर बढ़ता है। इसी गुण विकास - क्रम के लक्ष्य से यहां आकाश आदि क्रम रखा गया है।[२२]

यहां यह ध्यान देने योग्य बात है कि चतुर्विंशतिक राशिक्रम योगियों के लिए उपयोगी है और षड्धातुक क्रम वैद्यों के लिए।[२३]

६—पुरुष कारणतावादः

चरक संहिता में प्रकृति और पुरूष का नाम अव्यक्त है वही चरक और काश्यप का पुरूष है और उसी से सारी सृष्टि होती है। सांख्यकारिका ५६ में प्रकृति को ही कारण माना गया है। सांख्य के आचार्यों ने प्रकृति से ही बन्धन और मोक्ष की सिद्धि की है किन्तु चरक संहिता में पुरुषः कारणं कस्मात्? (किस प्रकार पुरुष कारण है—च० शा० १।३) इस प्रश्न से प्राप्त मास्तमः सत्यमनृतम्—इत्यादि कारणों तथा अन्य सभी प्राणियों से समर्थित होने के कारण पुरुष कारणतावाद ही स्वीकार किया गया है[२४] वस्तुतः चरक संहिता के द्वारा प्रतिपादित पुरुष और सांख्यकारिका के निरुपित पुरुष में मौलिक भेद है। सांख्यकारिका १९ में पुरुष का स्वरूप इस प्रकार वर्णित है—

तस्माच्च विपर्यासात्सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च॥

परन्तु चरक संहिता का पुरुष २ प्रकार का है केवल चेतनाधातु एवं राशिसंज्ञक। इसमें केवल चेतनाधातु नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव वाला है किन्तु चरक संहिता में कथित यह चेतनाधातु वाला पुरुष चिकित्सा का अधिकरण नहीं है। वह कारण और कार्य भाव से परे है और राशि पुरुष मोह, इच्छा, द्वेष एवं कर्म से उत्पन्न हुआ है। रजस् और तमस् से युक्त चक्रवत घूमता रहता है। वह अव्यक्त से व्यक्त को और पुनः व्यक्त से अव्यक्त को

प्राप्त होता है। ऐसे ही पुरुष की कारण चरक में स्वीकार की गई है।

किन्तु सांख्यकारिका (३१) में—न केनचित् कार्यते करणम् इत्यादि से प्राकृत महद् आदि के प्रेरक के बिना ही सर्ग की प्रवृत्ति में जिस प्रकार की स्वच्छन्दता दिखलाई गई है उसी प्रकार से चरक संहिता (च० शा० १।७७) में भी यथास्वेनात्मनाऽऽत्मान सर्व: सर्वासुयोनिषु। प्राणैस्तन्त्रयते प्राणी नह्यन्योऽस्त्यतस्यतन्त्रक: इत्यादि वचनों से पुरूष के कर्तृत्व में भी स्वच्छन्दता बतलाई गई है।

७. इन्द्रियों का भौतिकत्व:

ईश्वरकृष्ण कृत सांख्यकारिका में इन्द्रियां आहंकारिक मानी गई हैं। अहंकार से दो प्रकार की तत्वसृष्टि होती है—एक तो सात्विक अहंकार से ११ इन्द्रियों की उत्पत्ति एवं दूसरी तामस् अहंकार से पंचतन्मात्राओं की।[०] परन्तु चरक संहिता के सांख्यनिरूपण में इन्द्रियों को भौतिक (पंचमहाभूतों से उत्पन्न) कहा गया है। सूत्रस्थान में इन्द्रियोपक्रमणीय नामक आठवें अध्याय में पंचपंचक वर्णन प्रसंग में पंचेन्द्रिय द्रव्य प्रतिज्ञा कर ख (आकाश), वायु, ज्योति (अग्नि) जल, पृथिवी इस प्रकार उसकी विवेचना कर अनुमानगम्य पंचमहाभूत के विकार के समुदाय से युक्त विद्यमान इन्द्रियों का तेज चक्षु में, आकाश श्रोत्र में, पृथिवी घ्राण में, जल जिह्वा में, वायु स्पर्शेन्द्रिय में विशेष रूप से जाना जाता है। वहां पर जो-जो इन्द्रिय जिस-जिस महाभूत की अधिकता से बनी है वह इन्द्रिय उस-उस महाभूत के विषय को ग्रहण करती है, क्योंकि इन्द्रियों का ऐसा स्वभाव विभु होने के कारण हैं।[२५]

सांख्यकारिका में इन्द्रियों को आहंकारिक माना गया है परन्तु सांख्यकारिका की टीका सुवर्णसप्ततिशास्त्र में इन्द्रियों को कहीं आहंकारिक (२०,२२,२४-२६) और कहीं भौतिक (८,१०,१५,१६) स्वीकार करते हुए उनकी उत्पत्ति पंचतन्मात्राओं से बताई गई है।[२६] सांख्यकारिका की एक अन्य टीका युक्तिदीपिका में सांख्याचार्य पंचाधिकरण इन्द्रियों को भौतिक मानते है[२७]। सुश्रुत ने आयुर्वेद शास्त्र के प्रतितन्त्रानुसार इन्द्रियों को सांख्यवत् आहंकारिक न मानकर भौतिक मानने की विशेष चर्चा की है। यद्यपि यहां भी इन्द्रियों की उत्पत्ति साक्षात् अहंकार से प्रदर्शित है पर पारमार्थिक रूप से उसे भौतिक कहना इसलिए स्वीकार किया है कि एक-एक इन्द्रियां एक-एक विशिष्ट महाभूत के विषय को ग्रहण करती है[२८]।

८--ऐश्वर्य-सम्बन्धी विभेद:

अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व यह आठ प्रकार के ऐश्वर्य सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। सुश्रुत में अंशुमत् सोम के रासायनिक प्रयोग में टीकाकार डल्हण ने आठ प्रकार के उपर्युक्त ऐश्वर्यों की व्याख्या की है परन्तु यहां गरिमा के स्थान पर कामावसायिता का उल्लेख है[२९]।

जयमंगलाटीका एवं गौडपादभाष्य में गरिमा के स्थान पर यत्नकामावसायित्व का उल्लेख है[३०] सुवर्णसप्ततिशास्त्र में यथाकामावसायित्व ऐश्वर्य मान्य है[३१]। यद्यपि सर्वत्र अष्ट ऐश्वयों का ही उल्लेख है परन्तु सांख्यकारिका की टीका माठरवृत्ति में ९ ऐश्वर्य वर्णित हैं[३२]

९. सूक्ष्म शरीर का स्वरूप:

आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी ये पंचमहाभूत शरीर की उत्पत्ति के कारण हैं[३३]। सांख्यकारिका में १८ तत्वों के समुदाय को सूक्ष्म शरीर की संज्ञा दी गई है। यह १८ तत्व बुद्धि, अहंकार, मन, दशइन्द्रियां और पंचतन्मात्राएं हैं पर चरकसंहिता में भूत चतुष्टय वाला ही लिंग शरीर स्वीकार किया गया है।

भूतानि चत्वारि तु कर्मजानि
यान्यात्मलोलानि विशन्ति गर्भम्।
स बीजधर्मा ह्यपरापराणि
देहान्तराण्यात्मनि याति-याति।। च० शा० २।३५,

आत्मा स्वयं निर्विकार, अजन्मा, अमर और सुखदुःखरागद्वेषादि रहित है (च० शा० ४।३३) परन्तु सूक्ष्म शरीर में रहता हुआ वही धर्म-अधर्म का कर्त्ता, सुख-दुःख रूप फलों का भोक्ता, रागद्वेष, काम-क्रोध, जन्ममरण आदि से आविष्ट होता है (च० शा० २।३७)। इस सूक्ष्म शरीर का निर्माण आकाश के अतिरिक्त शेष चार भूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायु) के अतिसूक्ष्मरूपों से होता है। सूक्ष्म शरीर के निर्माण में आकाश की गणना इसलिए नहीं की गई कि अवकाश (आकाश) प्रदान के अतिरिक्त सूक्ष्म

शरीर में उसकी विशेष क्रिया नहीं होती। ये चारों महाभूत सर्वदा प्रत्येक आत्मा से सम्बद्ध रहते हैं। सूक्ष्म में (इन्द्रियातीत भूतों के अतिरिक्त सूक्ष्म शरीर में मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और सत्व, रजस्, तमस् ये तीन गुण भी सर्वदा विद्यमान रहते हैं (च० शा० २।३१)।

सत्वगुण के उत्कर्ष के कारण होने वाली मन की सात प्रकृतियां (च० शा० ४।३७,सु० शा० ४।८१-८७), रजोगुण के आधिक्य से होने वाली छः प्रकृतियां (च० शा० ४।३८, सु० शा० ४।८९-९३) तथा तमोगुण के प्राबल्य से होने वाली तीन चित प्रवृतियां (च० शा० ४।३९, सु० शा० ४।९५-९७) भी इस सूक्ष्म शरीर से ही रहती है। इस सूक्ष्म शरीर को लिंग शरीर या आतिवाहिक शरीर कहते हैं। आत्मा के साथ नित्य (सृष्टि से प्रलय-पर्यन्त स्पर्श (संबंध) होने से इस शरीर को स्पृक् शरीर भी नाम दिया गया है (च० शा० ३। १६)पर चक्रपाणि।

सांख्यकारिका की टीका सुवर्णसप्ततिशास्त्र में बुद्धि आहंकार तथा पंचतन्मात्रा इन सात तत्वों को ही सूक्ष्म शरीर का घटक स्वीकार किया गया है।[३४] आचार्य गौडपाद इन सात तत्वों में मन को जोड़कर आठ तत्व मानते हैं।[३५]

१०—मोक्ष हेतु ज्ञानः

मोक्ष के हेतुभूत ज्ञान के स्वरूप में भी कुछ अंश तक (सर्वत्र नहीं) सांख्यशास्त्र के अन्य ग्रंथों से चरक संहिता का सांख्य भिन्न है। सांख्यकारिका (६४) में ज्ञान का निरूपण इस प्रकार है:-

एवं तत्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद् विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ।।

यहां पर कहे गये (विवेकज्ञान) के हो जाने पर संसार से पृथकताबुद्धि हो जाती है। किन्तु चरकसंहिता में तोः-

लोके विततमात्मानं लोकं चात्मनि पश्यतः।
परावरदृशः शान्तिज्ञानमूला न नश्यति ।।

च० शा ५। २०

इस प्रकार चरक का भी मोक्षमूलक ज्ञान एकात्मवादी अथवा अद्वैतवाद का समर्थन करता है।

११—काल का पदार्थस्वीकार

सांख्यकारिका में कहीं भी काल का महत्वपूर्ण वर्णन नहीं मिलता किन्तु अधिकतर काल को स्वीकार किया ही नहीं गया है।

ब्रह्मसूत्र के शांकरभाष्य की रचनानुपपत्यधिकरण में (२,२,१)प्रथम सूत्र के अन्त में (सांख्य कालस्यालंगीकारात्) सांख्य द्वारा काल के स्वीकार न किये जाने का उल्लेख है। वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्वकौमुदी में कहा है कि (सांख्यतत्वकौमुदी—३३) वैशेषिकों को जो काल मान्य है वह एक अखण्ड होने के कारण भूत, भविष्यत् इत्यादि व्यावहारिक भेदों का निर्वाह करने में असमर्थ हैं। इसलिए यह काल जिन उपाधियों से भविष्यत् आदि व्यवहारों को प्राप्त होता है, उन उपाधियों को ही इन व्यवहारों का कारण मान लिया जाय तो काल के रूप में व्यर्थ ही एक पृथक् तत्व क्यों माना जाय ? इस कारण सांख्य में काल को चतुर्विंशति तत्वों से भिन्न नहीं माना जाता।

चरक काल की महत्ता का प्रतिपादन करता है[३६]। सुश्रुत ने तो काल को प्रकृति का पर्याय कहकर यह सिद्ध किया है कि आयुर्वेद के पृथुदर्शी व्यक्ति प्रकृति को काल भी मानते हैं[३७]।

भेल ने सुश्रुत के समान प्रकृति के सात पर्याय न मान कर केवल स्वभाव एवं काल ये दो ही पर्याय माने हैं जिनसे भूतों का उद्भव और उनमें प्रलय होता है[३८]।

---

(१) क- सांख्यः——पुनर्वसुम्। च०सू० १३।३
ख- शशिः——प्रकीर्त्तितः। च०सू० २५।१५
ग- यथाऽऽदित्यः—प्रकाशकमिति। च०वि०८।३४
घ- संख्यातधर्मैः——चायनम्। च०शा० १।१५१
ङ- सर्वभाव स्वभावज्ञो— -यया। च०शा० ५।१७

(२) क- सांख्यकारिका—३

(३) क- पंचविंशतितत्वज्ञानं सांख्यम्। कृत्यकल्पतरु-मोक्षकाण्ड, पृ० १६५।
ख- पंचविंश च चतुर्विंशं च पश्यति। म०श० ३१८।७२
ग- अपरे पंचविंशतिम्—। (तदेव)
एतावत्वं हि संख्यानामृषयो यद् विवक्षया।
श्रीमद्भागवत ११,२२,२,३

(४) पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं ब्रह्म चाव्यक्तमिति,

एत एव च षड्धातवः समुदिताः पुरुष इति शब्दं लभन्ते । च०शा० ५।४

(५) पंचज्ञः पंचकृत् पंचगुणः पंचशिखः स्मृतः ।
पुरुषावस्थमव्यक्तं परमार्थं न्यवेद्यत् ।।
म०शा० १२०।१२

(६) षड्धातुरेवायं पुरुषो भवति । धातवः पुनः पंचभूतानि ब्रह्म च यदव्यक्तम् ।
भेल०शा० ५।९ ।

७. खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहंकारस्तथाऽष्टमः ।
भूतप्रकृतिरुदिद्ष्टा विकाराश्चैव षोडश ।।
—च० शा० १।६३

८. अव्यक्तं महानहंकारः पंचतन्मात्राणि चेत्यष्टौ प्रकृतयः शेषाः षोडश विकाराः ।। —सु० शा० १।५ ।

९. अव्यक्तान्न महान्, महतोऽहंकारः अहंकारात्, खादीनि, ता अष्टौ भूतप्रकृतयः । ·····षोडश विकाराः···।
काश्यप० शा० ताडपत्र ७९ ।

१०. अव्यक्तं च महाश्चैव महाभूतानि पंच च ।
पराः प्रकृतयः सप्त··· ।। भेल० वि० ४।१० ।

११. शरीरेन्द्रियात्मसत्वसमुदयं पुरुषमाचक्षते ।
काश्यप० शा० ताडपत्र ७९ ।

(१२) न चायुर्वेदशास्त्रेषूपदिश्यन्ते सर्वगताः क्षेत्रज्ञा नित्याश्च ।
असर्वगतेषु च क्षेत्रज्ञेषु नित्यपुरुषख्यापकान् हेतूनुदाहरन्ति ।। सुश्रुत० शा० १.२०.

(१३) या० स्मृति ३।४।६९ ।

(१४) क—चरक० शा० १।७०-७३ ।
ख—अस्य लिंगानि चेतनाहंकारप्राणापानोन्मेष सुखदुःखेच्छाद्वेषस्मृति-धृतिबुद्धयः — — —।
काश्यप० शा० ताडपत्र ७९ ।

(१५) तस्य सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नः प्राणापानावुन्मेषनिमेषौ बुद्धिर्मनः संकल्पो विचारणा स्मृतिर्विज्ञानमध्यवसायो विषयोपलब्धिश्च गुणाः सुश्रुत शा० १.२२ ।

(१६) — — —पुरुषाश्चेतनावन्तोऽगुणा अबीजधर्माणां प्रसवधर्माणां मध्यस्थधर्माणश्चेति ।।
सुश्रुत शा० १।१३ ।

१७ क-सांख्यकारिका-२२
ख-सुश्रुत० शा० १।४-७ ।

१८. चरक० सूत्र० २५ । १५ ।

१९. च० शा० १ । १६ पर चक्रपाणि ।

२०. सुश्रुत० सूत्र० १ । २२ ।

२१. च० सूत्र० २५ । ५ ।

२२. च० शा० ४ । ८ ।

२३. आयुर्वेद में चिकित्सकों एवं योगियों के उपयोग के लिए निर्देश है:-
निर्दिष्टानि दशैतानि शारीराणि महर्षिणा ।
विज्ञानार्थं शरीरस्य भिषजां योगिनामपि ।।
सु० सू० ३ । १७ ।

२४. च० शा० १।३९-४५ ।

२५. च० सू० ८।१४ ।

२६. क- प्रधानान्महानुत्पद्यते । महत अहंकारः । अहंकारात्पंचतन्मात्राणि । पंचतन्मात्रेभ्यः षोडश विकारा उत्पद्यन्ते । सुवर्ण० ८ ।
ख- —महानेकः, एकोऽहंकारः, पंचतन्मात्राणि, एकादशेन्द्रियाणि, पंचमहाभूतानि ।
सुवर्ण० १५

२७. भौतिकानीन्द्रियाणीति पंचाधिकरणमतम् ।
युक्ति० २२ ।

२८. क- तत्र वैकारिकादहंकारात्तैजससहायात्तल्लक्षणान्येवैकादशेन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते ।।
सुश्रुत०शा० १.५
ख- यतोऽभिहितं तत्सम्भवद्रव्यसमूहो भूतादिरुक्तः
भौतिकानि चेन्द्रियाण्यायुर्वेद वर्ण्यन्ते तथेन्द्रियार्थाः ।। सुश्रुत०शा०१, ८

२९. तावुपयुज्याष्ठगुणमैश्वर्यम्--
सु०चि० २९।१३

३० क- ऐश्वर्यमष्टगुणम्--अणिमा - महिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यम् ईशित्वं वशित्वं यत्रकामावसायित्वं । जय०२३
ख- अणिमा महिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं यत्र कामावसायित्वं चेति ।
गौड० २३

३१. ऐश्वर्यमष्टविधम् अणिमा लघिमा महिमा प्राप्तिः
ईशत्वं प्राकाम्यं वशित्वं यथाकामावसायित्वं---
सुवर्ण० २३

३२. अणिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्तिः
प्राकाम्य मीशित्वं वशित्वं यत्रकामावसा-
यित्वमिति.।। माढ़० २३

३३. एवं वायस्तेज आपः पृथिवीति
पंचमहाभूतानि शरीरहेतुरुच्यते ।।
का० सं० ताडपत्र ७९ ।

३४. बुद्धेरहंककारोऽजायत। अहंकारात्पंचतन्मात्रा जायन्त। एतानि सप्त सूक्ष्मशरीरम् (सुवर्ण० ४०)

३५. महदादि-बुद्धिरहंकारोमन इति। पंचतन्मात्राणि -सूक्ष्माः) गौडपाद० (४०)

३६. चरक० वि० ८।१२५

३७. स्वभावमीश्वरं कालं यदृच्छां नियतिं तथा।
परिणामं च मन्यन्ते प्रकृतिं पृथुदर्शिनः।।
सुश्रुत० शा० १।१५

३८. "—स्वभावः काल एव च।
भेल० वि० ४,१०।

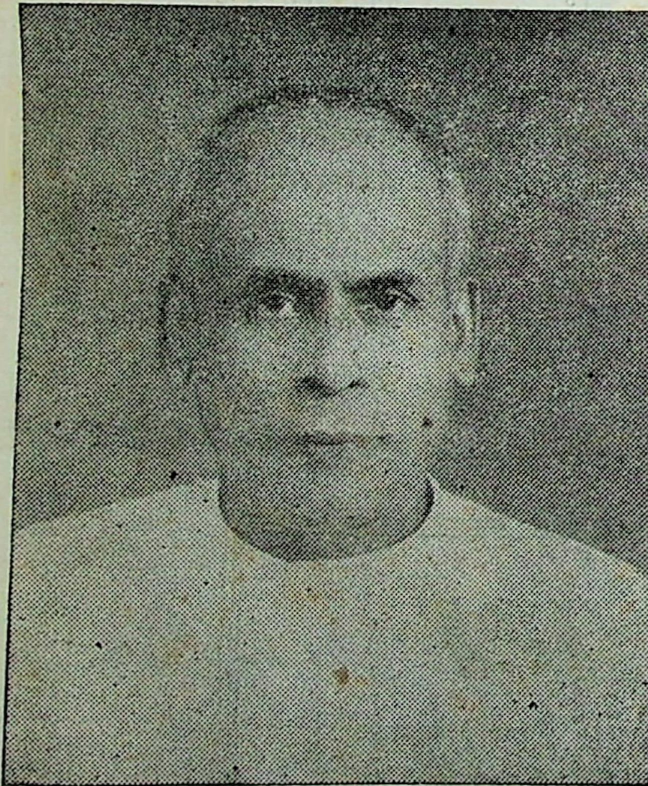
संदर्भ ग्रन्थावली

काश्यप संहिता
गौडपादभाष्य
चरक संहिता
जयमंगलाटीका
भेल संहिता
माठरवृत्ति
महाभारत
याज्ञवल्क्य स्मृति
युक्तिदीपिका
सांख्यकारिका
सुश्रुतसंहिता
सुवर्णसप्ततिशास्त्र

संकेत-सूची

काश्यप० शा०	काश्यपसंहिताशारीरस्थान्।
गौड०	गौडपादभाष्य
च० सू०	चरकसंहितासूत्रस्थान
च० वि०	चरकसंहिताविमानस्थान
च० शा०	चरकसंहिता शारीरस्थान
जय०	जयमंगलाटीका
भेल० शा०	भेल संहिता शारीरस्थान्
म० शा०	महाभारत शान्तिपर्व
माठर०	माठरवृत्ति
या० स्मृति०	याज्ञवल्क्यस्मृति
युक्ति०	युक्तिदीपिका
सु० सू०	सुश्रुतसंहिता सूत्रस्थान
सु० चि०	सुश्रुतसंहिता चिकित्सास्थान
सुवर्ण०	सुवर्णसप्ततिशास्त्र

हृदयं चेतनास्थानम्



समस्तलंकायुर्वेदवैद्यसम्मेलनस्य मानदमहामन्त्रिणा सिद्धायुर्वेदवैद्यविद्यालयस्य महाचार्येण संस्कृतमहाकविना लब्धस्वर्णपदकेन प्राणाचार्य-आयुर्वेदाचार्य-वैद्य शिरोमणि पंडित-उपाधिधारिणा **आर्यदास कुमार सिंह** शास्त्रिणा समुल्लिखितम्

चिकित्सकस्य व्यापारस्तावत् प्रधानतया सचेतन शरीरं लक्ष्यीकृत्यसमारभ्यते। अत एव तेन शरीराधीने समग्रवस्तुसम्भारे तत्क्रियाकारित्वे च नियमेनकृतमतिना भवितव्यम्। तत्तच्छरीरभागे रोगैराक्रान्ते रोगज्ञानोपलाभाय समुचितप्रतीकार-निर्धारणार्थञ्च येन सञ्जायते महत् साहाय्यकम्। आहुश्च प्राञ्चः-'ज्ञाते हि शरीरतत्त्वे शरीरोपकारकेषु भावेषु ज्ञानमुत्पद्यते। इति (चरक० शारीर० ६ अ०)। भवन्ति चाऽत्र—

'शरीरं सर्वदा सर्वं सर्वथा वेद यो भिषक्।
आयुर्वेदं स कार्त्स्न्येन वेद लोकसुखप्रदम्।
(च० शा० ६ अ०)

'शारीरे चैव शास्त्रे च दृष्टार्थः स्याद् विशारदः।
दृष्टश्रुताभ्यां सन्देहमेवापोह्याऽऽचरेत् क्रियाः।
प्रत्यक्षतो हि यद् दृष्टं शास्त्रदृष्टञ्च यद् भवेत्
समासतस्तदुभयं भूयो ज्ञानविवर्धनम्॥ (सु० शा० ५ अ०)

यथा शारीरिका रोगास्तथा मानसिका रोगा समुद्भवन्ति। चेतनास्थान सख्यातं हृदयमपि शरीराधीनम्। अतः भिषक् चेतना (मनो) विषयकज्ञानी चेतनास्थान (मनोभूमि) विषयकज्ञानी च भवितुमर्हति।

अत्र शीर्षपाठस्त्वनयोश्चेतनास्थान विषये एव मे वितरत्यवकाशम्।

तस्मात् तद्विषये यथाशेमुषि यत्किञ्चिदुपस्थापयितुमत्र सयत्नो भवामि।

सचेतस्के सर्वस्मिन्नेवाहुसुर्भूति वर्त्तते मनः। सहितसहायः सततं चिन्तयते। मनुष्योऽपि सचेतनगणे गण्यते। वस्तुतः सर्वेषु सत्त्वेषु मनुष्य एवाऽग्रगण्यः। तद्धेतुः पुनरुत्कृष्टस्य मनसः समुपलाभ एव। परन्तु स तु 'चेतनास्थान निजदेहे कुत्र वर्त्तते' इत्यत्र सर्पपित संशयस्तिष्ठति। शिरोगुहा, उरोगुहा, उदरगुहा, कृत्स्नं शरीरञ्चेति वस्तुन्येकैकस्मिन् मनो निवसतीति प्रकाशयितुं तेन दर्शितानि प्रमाणानि साहित्यगतानि वर्त्तन्ते।

ममैष प्रयत्नः पुनः पाठकानां विद्वद्भिषग्धारेयाणां साह्यमुपजीव्य यथोक्ताया मतविषमताया निराकरणायैवा। अत्र तु आयुर्वेदसाहित्ये, वैदिकसाहित्ये, बौद्धसाहित्ये, आधुनिक (पाश्चात्य) विद्यावेदिनां मते च समायातानि एतद्विषयसंश्रितानि मम नयनगोचरतामुपगतानि प्रमाणानि यथायथं प्रस्तौमि।

वयमायुर्वेदपाक्षिकाः। अतस्तदत्रोचितं यत् प्रथममायुर्वेदे समायातानां मनोभूमिविषयकाणां विचाराणां विषये मनोनयनयोः प्रेरणम्।

आयुर्वेदस्य मूलावधौ कायचिकित्सामाम्प्रदायिकेषु समुद्भूतस्त्वाद्य आयुर्वेदग्रन्थः आत्रेयानुशासनासुललिता अग्निवेशसंहिता सम्पद्यते। तत्र अग्निवेशः कथयति-

प्राणाः प्राणभृतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च।
यदुत्तमांगमंगानां शिरस्तदभिधीयते ॥
(च० सू० १०।१२ अ०)

इत्यस्मात् 'प्राणास्तथा सर्वाणि इन्द्रियाणि च शिरसि प्रतिष्ठिताः। अतः (शीर्ष-अन्तराधि-बाहु-सक्थि-संख्यातस्य) षडङ्गस्य प्राधान्यं शीर्षायत्तम्' इति। अत्र सर्वेन्द्रियपदेन मनसोऽपि ग्रहणाद् 'मनः (चित्तेन्द्रियं) शीर्षे प्रतिष्ठितम्' इति। अत एव 'मनोभूमिसंख्यातं चेतनास्थानं तत्रैव प्रतिष्ठितम्' इति च स्वीकर्तुं न बाधा। न तत्र पृथग्दर्शितं मन इन्द्रियं वक्षसि प्रतिष्ठितमिति।

युगलतया स्थितास्तु नयनश्रवणादयो मनसो बाह्येन्द्रियाऽधिष्ठानत्वेन गृह्यन्ते। तस्मान् नेत्रप्रभृतिभिर्बाहिरद्वारमार्गैरभ्यन्तरं प्रविशताम् आलम्बनानां (विषयाणां) ग्राहकेण प्रमुखेन्द्रियेण समन्विता खलु प्रधानेन्द्रियभूमिः (मनोभूमिः) अवश्यमेव यथोल्कबाहिरद्वाराणां मूलभागत्वेन सम्भाव्यमानयोरभ्यन्तरेन्द्रियाऽधिष्ठान (Sensory Areas) पंक्त्योर्मध्ये स्थातुमर्हति। एतत् तावद् एवमेव संघटितं दृश्यते। वस्तुतस्तु अग्रिममस्तुन्तुंगपिण्डस्य मध्यभागस्थे (ब्रह्म) हृदय (3rd Ventricle) संज्ञके स्थाने विजृम्भते मन इन्द्रियम्। मनुष्ये मनुष्यसंज्ञाप्राप्तिहेतुभूतस्य मनसः इद शिरोगर्भस्थत्वात् तद्धरस्य शीर्षस्थ शरीरे उत्तमांगत्वेनाऽऽदानं नाम सर्वथैव युक्तियुक्तम्।

'हृदयं चेतनाऽधिष्ठानमेकम्' (च० शा० अ०) इति अग्निवेशोक्तिरपि सर्वत्र मनसिकरणीया। एवमेव चरके उन्मादनिदाने समातः 'बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्य' इति पाठश्चाऽत्र किञ्चित् साह्यं सञ्जनयति। चित्तम् उरसि वसतीति मतंमुक्त्वा बुद्धिरुरसि वसतीति मतं कदाचिदपि नोदियाय। अतोऽत्र हृदयशब्दः शिरःस्थां मनोभूमिमुद्दिश्य प्रयुक्त इति वक्तुं शक्यम्।

भेलमुनिरपि कथयति मनसः शीर्षस्थत्वम् यथा-

शिरस्ताल्वन्तरगतं सर्वेन्द्रियपरं मनः।
तत्रस्थं तद्धि विषया-निन्द्रियार्णा रसादिकान् ॥
समीपस्थान् विजानाति त्रीन् भावांश्च नियच्छति।
तन्मनःप्रभवञ्चाऽपि सर्वेन्द्रियमयं बलम् ॥
(भेल० चिकि० अ० ८)

नाऽत्र विस्मर्तव्यं भेलमुनेरात्रेयसहुपाठित्वम्।

आयुर्वेदे शल्यचिकित्सापाक्षिकाणाम् आद्यो ग्रन्थः खलु सुश्रुतसंहितेति प्रसिद्धः। तद्गर्भगतं धन्वन्तरेरनुशासनम्। तत्र शारीरे सुश्रुतं निमंत्रयमाणो धनवतरिः—

'हृदयं चेतनास्थान—मुक्तं सुश्रुत! देहिनाम्।'

इत्युवाच। अनेन पूर्वोक्तश्चरकपाठः समुद्दिष्ट इति का शंका। तत्र हृद्वर्णनाप्रसङ्गेऽपि प्रतीयते तद्हृदस्य शिरोगतभावः, किं वा हृदययोः विस्तरसंमिश्रणम्।

शीर्षस्थहृदय विषयकं किञ्चद् विवरणं प्रत्यक्षशारीरस्य तृतीयभागे षष्ठाध्याये ब्रह्मगुहाप्रसङ्गे समागच्छति। तद्यथा—

'ब्रह्मगुहा ब्रह्मयोनिर्वा नाम आज्ञाकन्दयोरन्तराले मध्यरोगायां दृश्या गुहा तनुत्रिकोणपरिणाकारा सूचितपूर्वा। सा च गुहायाः पुरस्तादूर्ध्वं त्रिपथगुहाभ्यां सम्बन्धवती 'गुहान्तरालिक' विवरद्वारेणा पश्चिमतश्च प्राणगुहया 'ब्रह्मद्वार सुरङ्गा' मार्गेण। तदेव क्वचिद् 'ब्रह्महृदय' मिति 'हृदय' मिति वा व्यवहरन्ति प्राञ्चः। अभ्यन्तरं तु ब्रह्मगुहायाः सुमसृणं ब्रह्मवारिपूर्णश्च। तन्मध्यस्थञ्चा-

काशं 'ब्रह्मविन्दु' प्रदेशं वा परमशिवस्थानमामनन्ति योगिनः । ब्रह्मवारि तु तदन्तस्थं त्रिपथगुहान्तरीय ब्रह्मवारिणा 'गुहान्तरालिक' च्छिद्राभ्यां, प्राणगुहान्तस्थ ब्रह्मवारिणा च ब्रह्मद्वारसुरङ्गामार्गेण समन्वेति । सुषुम्नाकाण्डान्तरीय ब्रह्ममार्गस्थं वार्यपि तदनुबन्धि । अत एवास्य 'मस्तिष्कसुषुमुन्नतरीयजलम्' इति संज्ञा । तच्च यदा रोगवशात् परिमाणतः प्रवृद्धं पूर्वादिदूष्टं वा ज्वरमोहादिप्रदं भवति । तदांशेन निर्हरन्ति कटिकशेरुकाऽन्तरालमाविध्य पृष्ठतः सूचीयन्त्रेण शल्यतान्त्रिकाः । इति ।

योगिनोऽपि वदन्ति—मस्तिष्कमध्यभागगतस्य आज्ञाचक्रस्य (आज्ञापद्मस्य) अभ्यन्तरे मनस्तिष्ठतीति । यथा—'एतत्पद्मान्तराले निवसति च मनः सूक्ष्मरूपं प्रसिद्धम् ।' इति । (षट्चक्रनिरूपणम्) । यजुर्वेदश्चाऽनुमनुते मतमेतत् । यथा—'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः' इति (तैत्तिरीय उपनिषद् ६ अनुवा०) ।'

पुराणलोके खल्वायुर्वेदं विना नाऽभूहितरो वैद्यक्रमः । अतः संसारे पुराणसाहित्यगतानि सर्वाण्येव वैद्यमतानि आयुर्वेदाऽधीनान्येव । तथाप्येतद्भावप्रतिपादनार्थं यथा निदर्शनोद्धरणे साहाय्यं जायते तथा मूलग्रन्थसन्ततेरारक्षा नाऽभूदिति दुनोमि । शरीरविद्या तावद् व्यवच्छेदविधौ क्रियात्मकतां संश्रयति सत्येव सुष्ठुविराजते । परन्तु अतीतं कतिपयास्ववस्थासु विधिरेषोऽपि क्रियाविरहितामुपागतः ततो वैद्योऽपि शारीरबाहिरमात्रज्ञः संवृत्तः । अनेन शरीरविद्यायां दूषणतामुपगतायां सत्यां विभिन्न शारीरोपकरणपरिचयाय प्रज्ञप्तानि रसायनो, सिरा, धमनी, जालक, नाडी, स्नायु, स्रोतस, ग्रन्थि प्रभृतीन्यभिधानान्यपि विविधार्थप्रकाशकतामुपगतवन्ति । एष्ववधिषु शीर्षस्थं गुप्तं हृदयं विस्मृततामगमदिति किमत्र विस्मयपदं नाम । तेष्ववधिषु हृदयपदेन उरोगृहागतो रक्ताशय (कन्तुकम्) एव गृहीतः । अपि च, तत्वमेतत् तदात्वे आयुर्वेदाश्रयमुपगतेषु समस्तेषु धर्मशास्त्रेषु अद्याऽपि प्रतिबिंबितं वर्त्तते । भक्तिवादिनः खलु धर्मग्रन्थावलम्बिनो दोषममुं पश्यन्ति निर्दोषतया ।

यन्मनोधातोर्मनोविज्ञानधातोश्च निश्रयलक्षणेन सम्पन्नं तद् हृदयवस्तु इति बौद्धसाहित्यम् (विशुद्धिमार्गे स्कन्धनिर्देशः, अभिधर्मार्थ संग्रहे ३ परि०) एतद्हृदयपरिचायकाः पुनराचार्याः कथयन्ति---

'चिन्तेन्तस्स उरखेदा तत्रट्ठन्ति विजानियं ।''

(अभिधम्मावतारटीका)

'हृत्खेदाच्चाऽऽर्त्त चिन्तायां तत्रस्थमिति गम्यते ।''

(विशुद्धिमार्गस्य सिंहलमहाटीका)

इति । ''हृदयं चेतनास्थानम्'' इत्यनेन सहबौद्धमतं न घट्टयते । तथाऽपि चिन्तयतः उरःखेदजनकत्वकथया मनसः उरोगुहावर्त्तित्वोद्देशात् अत्र सत्यं परिश्रमादेवं भवेत् । परन्तु ''उरोखेदा'' (उरःखेदात्) इत्यत्र ''उरो'' पदं तावद् अशुद्धाऽऽयुर्वेद मतमवलम्ब्य विकृतस्य ''सिरोखेदा'' (शिरःखेदात्) इत्यस्य विरोधि संस्करणं चेत् तर्ह्यत्र प्रश्नो लीलया विसर्जितः स्यात् ।

तथाऽपि भूयोऽपि यस्य कस्य वाऽत्र संशीतिर्भवेत् ? स साम्प्रतंक्षणं चक्षुषी निमील्य सावधानः समानः---''निजपरिसरस्थस्य सिद्धस्थानास्याकारं प्रति प्रेरितमतिर्भूत्वा चक्षुषी उन्मीलयेत् । अपिनामाऽत्र शिरोगुहोरुगुहयोः का खेदवती जाता । यद्यत्र कार्यं शिरोगुहा साह्यमदात् ? तदा तथा समुत्पादित साहायकस्य शीर्षस्य वितरतु धन्यवादम् ।

कथमपि आयुर्वेदस्य पाठदूषणानन्तरं धर्मशास्त्रयोरभ्यन्तरे निलीनोऽयं महादोषस्तदा एव लोकसाहित्य संश्रयमुपजगामेति वक्तुं शक्यमेव । श्री लंकायां षड्भाषापरमेश्वरस्य त्रिपिटकवागीश्वराचार्यस्य सर्वतन्त्र स्वतन्त्रस्य श्रीराहुल संघराजप्रवरस्य काव्यशेखरमहाकाव्येऽपि समायाति स्थलं तादृशम् । यथा---

''अदवत् मन् पिहिटि
लययकुलु दुल् पमणलेय सिटि''

(१४।१०)

इति । **''मनोनिवासभूतं हृदयं तावत् कूटाञ्जलि (अर्घपात्र) मात्ररुधिराश्रयं हृत्पिण्डम्'' इत्यस्याऽभिप्रायः ।**

धनबन्धुविनाशाद्यैस्तैस्तैर्भावैरुरोगुहायास्तथा क्वचित् कृत्स्नदेहस्य चाऽप्राणिकता समुत्पद्यते । तस्मिन्नवदत्तमानसाः केचन विद्वांसः मनसः सकलशरीरव्यापित्वं स्वीकृतवन्तः । रुधिरत्यागे अवयवच्छेदनादौ च न जायते कापि विकृतिर्मनसः । अतोऽत्रैव भिद्यते मतमेतत् । मनसो हृच्चरतायां तथा सर्वशरीरचरतायाञ्च विचारसंघटना-

विषम चेतनादिभिः केषाञ्चिद् हृदयादपि पूर्वमेव उदरप्रदाहः क्वचित् तेन सार्धं मलमूत्रनिर्गमश्च संभाव्यते । वातवेगवाहिनां नाडीतन्तूनां उदरप्रसारे तथा तेषांमार्गेण संवहद्भिश्चेतनावेगैरुत्पद्यमानानां क्रियाणां विषये च विचार-बुद्धौप्रहितायाम् अवश्यमेव कथयितुमर्हति--मनसोऽवस्थानं न शिरःकुहरे नैव हृत्कुहरे वा--इति । नाडीतन्तूनां हृदय-स्थसम्बन्धादपि विस्मयोत्पादकं तत्वम् उदरे वर्त्तते, यत् सुष्ठु व्यज्यते सौरमण्डलनाडीचक्र (Sola Plexus) विस्तरं प्रति नयने प्रेरिते । श्रूयते च बुद्धकालीनस्तु सत्यकसंज्ञकः कश्चिद् द्विजन्मा निजविज्ञानस्य महामहिम्ना उदरदरणे विहित सन्देहो यथा उदरारक्षा जायते तथा शक्तिसम्पन्नां श्रोणीपट्टिकाम बध्नात्---इति ।

नाविदितमेतद् भिषजां यद् होरायन्त्रक्रिया मध्य-कजयद् वक्षसि हृद्यत्र प्रचलति । यदि तादृशे हृदये मन-स्तिष्ठति कथं सम्पद्यते निद्रा । योगी कथं निर्वर्तयति चित्तैकाग्रयम् ।

मानसिकेषु रोगेषु चिकित्सा प्राचुर्येण रोगिणां शिरस्येव युज्यते । न तु वक्षसि हृदयगर्भे । तैलमात्रालेपो वा नैव वाक्षसि क्रियते निष्फलत्वात् । उरोगुहागतं संश्रित्य भयानकाः केचन रोगाः प्रजायन्ते । न तेभ्यो काऽपि हानिर्मनसः ।

शरीरे मुख्यतया सम्भाव्यमानानि त्रीण्येव यन्त्राणि-मस्तुलुङ्गं, फुफ्फुसं, हृदयञ्चेति । मस्तुलुङ्गेन प्रधानतया संचेतनत्वं, फुफ्फुसेन श्वासक्रिया तथा मांसमय हृदयेन रक्त-संवहनञ्च सम्पाद्यते । रक्तालाभेऽवयवानाम शेषाणामेव क्रियाविरतिःस्यात्; रक्तमाश्रित्य जीवस्याऽवस्थानात् ।

गत दिवसेषु खल्वेकस्य हृदयं रोगाक्रान्तमपनीयाऽन्यस्य दुःखितं हृदयं शल्यकर्मविधिनाऽघटयदिति सत्यतमा वदान्या घोषणा जगति समुदजृम्भता समुपलब्धाऽभिनवहृदया व्यक्तिः शल्यकर्मादनन्तरं निजभार्याऽपत्यादिभिः सार्धं यथापूर्वं कथासंलापे युयुजे इति चाऽपि सुप्रतीतम् । सा द्वित्रिदिवसात् परं काल-धर्ममकरोदित्यन्यत् कारणम् । यदि मनो वक्षसि वर्त्तते ? तर्हि नवहृदये अन्यस्य मनोऽवर्त्ततेति कथनीयम् । परन्तु रोगिणि स्वमन एवाऽभवत् । अनेनाऽपि उरोगुहागतेम हृदये मनसोऽनवस्थितिर्न प्रतिभाति किम् ?

मस्तुलुङ्ग विरहिताः केचन हृदयधर प्राणिनो जगति दृग्विषयतामायान्ति । तेषु प्राणवद्भावं विना सचेतनभावः कुतः ? अपसृते मस्तिष्केऽपि नराणां जीवनमङ्गी कुर्वन्ति शारीरविदः । तस्मिन्नपि सचेतनत्वस्यं नैवाऽस्त्यवकाशः । केचिद्वदन्ति—प्राणचेतनयोरतिघनिष्ठ सम्बन्धयोरन्यतमस्याऽ-प्राप्तावशिष्टोऽप्राप्तस्याऽपि प्रतिनिधितया क्रियां सम्पाद्य-तीति । विमर्शनीयमेतत् विद्वद्वरेयैः अङ्गुली । हस्तात् क्षणात् पृथक्कृता सुतरांनृत्यत्यैव प्राणसम्बन्धात् । तस्यां नास्त्येव चेतना । नर्तनंत्वापद्विमोचनार्थम् । अङ्गुलीदाहादिषु सुषुम्णाकाण्डस्य प्रेरणमपि प्राणसम्बन्धादेवेति केचित् ।

पाश्चात्यवैद्यविशारदा अपि मनसो शीर्षगुहावस्थानं स्वीकुर्वन्ति । मनोविद्याज्ञाः, भौतिकक विद्याज्ञाश्चैतन्मत-धारिण एव ।

शीर्षस्थेनैव मनसा चिन्तयन् यः स्वमनो वक्षसीति कथयति स तु स्वशीर्षमवजानन्नेव । अपि च वक्षसि मनसोऽवस्थानं यः स्वीकरोति ? स तु समीपायतावेव मूर्खाणां गणं नूनं निपतिष्यति । उच्चस्य मनसो धार-णान् मनुष्यसंज्ञां बिभ्राणस्य मर्त्यस्य स्वीयं मनः कुत्र वर्त्तते इत्यत्र प्रण्खलनं नैव युज्यते ।

'हृदयं चेतनास्थानम्' इति स्वच्छसत्यवचनम् । अत्र हृदयपदं ब्रह्महृदयवाचकम् । ब्रह्महृदयन्तु शिरोमध्ये विराजते ।

सचित्र आयुर्वेद

वैदिक साहित्य में पाचन तन्त्र*

SACHITRA AYURVED

सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव, एम० ए०
डी० ए० वी० ई० कालेज गोरखपुर,
उ० प्र०, भारत

पाचन तन्त्र में प्रथम स्थान मुख गह्वर का है। वैदिक साहित्य में मुख गह्वर के अनेक भागों का उल्लेख प्राप्त होता है। यथा ओष्ठ[1] (Lips), दन्त[2] (Teeth), तालु[3] (palate), काकुद[4] (Uvula), नासाछिद्र[5] (Nasals), जिह्वा[6] (Tongue), हनु[7] (Jaw), एवं मधुकशा[8] (Certain sweetening organ within mouth).

ऋग्वेद में दाँतों के कार्यों में चवर्ण (चबाने) का उल्लेख किया गया है[9]। वाजसनेय-संहिता में दाँतों के दो भाग 'मूल' और 'दन्त' बताये गये हैं तथा अथर्ववेद में दाँतों को मरुद्गण के समरूप कहा गया है[10]।

वाजसनेय-संहिता में जिह्वा के क्रमशः अग्र और पश्च दो भागों का उल्लेख है[11]। यास्क के अनुसार जिह्वा द्वारा प्राणी अन्न का अपने अन्दर हवन करते हैं[12]। जिह्वा द्वारा भोजन को मुख में घुमाया जाता है, यह विवरण भी यहीं प्राप्त होता है।

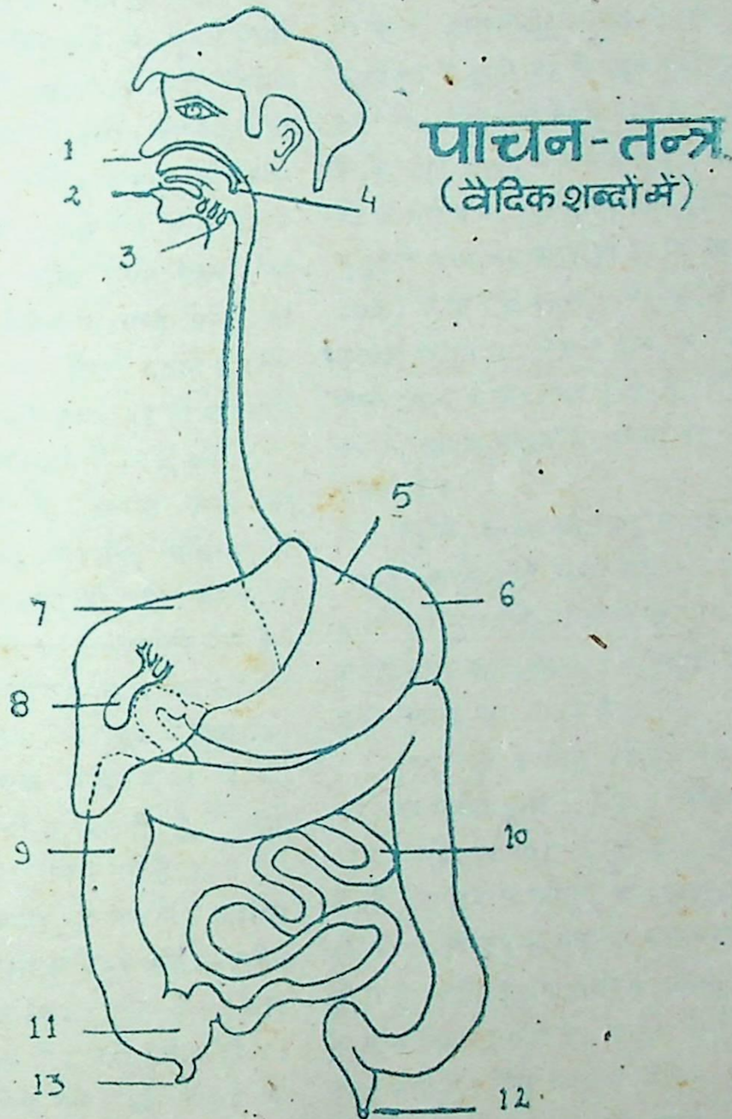
अथर्ववेद में प्रयुक्त ककुद शब्द का तात्पर्य कौआ या युवुला (Uvula) से है। इसे निरुक्तकार ने काकुद शब्द द्वारा व्यक्त किया है[13]। उपनिषद् में ककुद को इंगित करते हुये कहा गया है कि यह गले में स्त्री के स्तन-चूचक की भाँति लटकता रहता है[14]। मधुकशा नामक अंग विशेष का उल्लेख वैदिक साहित्य में एकाधिक स्थलों पर हुआ है। सम्भवतः ये लार ग्रन्थियाँ हैं। मुख गुहा में ऐसे अंग होने के संकेत अथर्ववेद (१०.२ 7) से भी मिलते हैं।

---

*पचति शब्द का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। यास्क के अनुसार इसका तात्पर्य भोजन के पक्व होने से है—

अद्धीदिन्द्र प्रस्थितेमा हवींषि चनो दधिष्व पचतोत सोमम्।
प्रयस्वन्तः प्रति हर्यामसि त्वा सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः।।
ऋ० वे० 10.116 8.

यूपव्रस्का उत ये यूपवाहाश्चषालं अश्वयूपाय तक्षति।
ये चार्वते पचनं सम्भरन्त्युतो तेषामभिगूर्तिर्न इन्वन्तु ।।
ऋ० वे० 1.162.6.



पाचन-तन्त्र
(वैदिक शब्दों में)

1 नासिका (NOSTRILS)
2 मुख (MOUTH)
3 मधुकशा (SALIVARY GLANDS)
4 काकुद (UVULA)
5 जठर, उदर (STOMACH)
6 प्लीहा (SPLEEN)
7 यकृत (LIVER)
8 पित्तम् (GALL)
9 वनिष्ठु (LARGE-INTESTINE)
10 आन्त्र (SMALL INTESTINE)
11 प्लाशि (CECUM)
12 गुद (RECTUM)
13 उण्डुक (APPENDIX)

यहाँ इसे जल-धारक के रूप में इंगित किया गया है।[15]

तालु के दो भाग बताये गये हैं[16] (क) तालु (ख) अन्तर-तालु। यास्क ने तालु की उत्पत्ति 'तृ' धातु से बतायी है। उनके अनुसार मुखगह्वर का यह सबसे अधिक विस्तृत भाग है।[17]

अथर्ववेद में दूसरे स्थल पर मुख-गह्वर का संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित विवरण प्रश्नवाचक शैली में मिलता है। यहाँ कहा गया है कि—अनेक दिशाओं में घूमने वाली जिह्वा को हनुओं के बीच किसने प्रतिष्ठित किया, किसने मुख गह्वर को वाणी का गुण प्रदान किया। वह देवता जो जल को धारण किए है; कौन है ?[18] मुख गुहा में जल-धारक के रूप में लार ग्रन्थियाँ ही होती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि, मुख-गुहा की लार ग्रन्थियों की संख्या का स्थूल ज्ञान भी यास्क को था। यास्क ने सप्त-सिन्धु को प्रतीक मानकर मुख-गुहा में सप्त स्रोत बताये हैं।[19] मुख गह्वर के गति करने में निचले जबड़े का ही योगदान होता है, इसका स्पष्ट उल्लेख यास्क ने किया है।[20]

ऋग्वेद में निगलने के अर्थ में 'ग्रसिष्ठ' शब्द का प्रयोग हुआ है। ग्रसिका शब्द की व्युत्पत्ति 'ग्रसिष्ठ' से ही हुई प्रतीत होती है।[21] आमाशय को इंगित करने के लिए जठर[22] तथा उदर[23] शब्दों का उल्लेख मिलता है।

अथर्ववेद की एक ऋचा में भोजन नली का संक्षिप्त विवरण तीन शीर्षकों उदर, आन्त्र और गुद में विभाजित करके दिया गया है।[24] किन्तु एक अन्य ऋचा में जो ऋग्वेद[25] और अथर्ववेद[26] दोनों में मिलती है, क्रमशः आन्त्र, गुद और वनिष्ठ के उल्लेख किये गये हैं।

ह्विट ने उदर को बेली (Belly) के रूप में अनूदित करते हैं।[27] संस्कृत-अंग्रेजी कोशों में उदर को एबडामेन (Abdomen) के रूप में निर्दिष्ट किया गया है। उदर को बेली के रूप में अनूदित करना ठीक नहीं प्रतीत होता। निरुक्तकार ने उदर की व्याख्या ऐसे थैले या धारक के रूप में की है जिसमें खाया गया भोजन एकत्र होता है।[28] जठर शब्द वास्तव में पाचन क्रिया या जठर - अग्नि का बोधक है। उदर शब्द का तात्पर्य सामान्य थैले अथवा धारक से है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक ऋषियों ने उदर शब्द का प्रयोग आमाशय के धारक गुण, तथा जठर शब्द का प्रयोग आमाशय के पाचन गुण को इंगित करने के लिए किया है।[29] यास्क ने ऋग्वेद (3.47.1) की व्याख्या करते हुये उदर के लिए 'जठरमुदर' शब्द का प्रयोग किया है। इसकी व्याख्या के लिए 'जग्घमस्मिन्ध्रियते धीयते वा' वाक्य का प्रयोग करते हैं। दूसरे स्थल पर ऋग्वेद के ही दूसरी ऋचा (8.48.1) की व्याख्या करते हुए 'ऋदूदरः' शब्द का प्रयोग करते हैं। ऋदूदर से यास्क का तात्पर्य मृदु भोजन से भरे हुये उदर से है।[30] अथर्ववेद के दूसरे मंत्र में पहले गुदा-पुनः आन्त्र तत्पश्चात् उदर को उल्लिखित किया गया है, इससे प्रतीत होता है कि उदर आन्त्र से सलग्न है।[31] आन्त्र का वह भाग जो आमाशय से जुड़ा होता है, पक्वाशय कहलाता है।[32] सुश्रुत ने पक्वाशय शब्द का प्रयोग डिओडिनम (Duodenum) के लिये किया है। वैदिक साहित्य में पक्व के उल्लेख पकने या परिपक्व होने के लिये किया गया है। पक्वाशय में भोजन पक्व होता है। इसे पक्वाशय की संज्ञा देने का कारण भोजन का पचना या पक्व होना ही हो सकता है।

ह्विटने आन्त्र को 'इन्ट्रेल' (Entrail) के रूप में अनूदित करते हैं[33] किन्तु यह अनुवाद भ्रामक प्रतीत होता है। सुश्रुत ने आन्त्र के दो भाग बताये हैं[34]—क्षुद्र आन्त्र तथा वृहद् आन्त्र। वैदिक साहित्य में प्रयुक्त अन्त्र शब्द क्षुद्रान्त्र का द्योतक है।

वृहद् अन्त्र के लिये वैदिक साहित्य में वनिष्ठु[35] शब्द का प्रयोग हुआ है किन्तु वैदिक इण्डेक्स में इसे 'रेक्टम' (Rectum) शब्द द्वारा अनूदित किया गया है।[36] वास्तव में वनिष्ठु को वृहदान्त्र के कालन (Colon) के रूप में अनूदित करना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है क्योंकि वैदिक मंत्रों में वनिष्ठु को प्रमुख कोष्ठांगों के साथ गिनाया गया है। कालन निचले अन्तांङ्ग का एक वृहद् भाग है। ऐसी दशा में वैदिक ऋषियों का ध्यान इस अंग की ओर जाना स्वाभाविक प्रतीत होता है। गुद[37] शब्द को वास्तव में रेक्टम या बोवेल (Bowel) के रूप में अनुवाद करना अधिक उचित प्रतीत होता है। इसे सुश्रुत ने 'मलधरा' की संज्ञा दी है। सुश्रुत वास्तव में बृहदान्त्र के दो भाग पुरीषधरा (Sigmoid) तथा उण्डूक (Cecum) बताते हैं।[38] पुरीष[39] शब्द विसर्जनीय मल का बोधक है। ऊवध्य शब्द अर्ध पक्व भोजन (Chyme)

का द्योतक है।[40]

चरक ने गुद शब्द के दो भेद बताये हैं—अधर गुद तथा उत्तर गुद। वैदिक साहित्य में गुद शब्द का प्रयोग आन्त्र के निम्नतम भाग के लिए किया गया है।[41] जिसे आधुनिक शरीर-विज्ञान शब्दावली में रेक्टम या बोवेल की संज्ञा दी जाती है।

प्लाशि का उल्लेख अनेक स्थलों पर वैदिक साहित्य में एक अन्त:अंग के रूप में मिलता है[42]। वैदिक इण्डेक्स में प्लाशि की व्याख्या शिश्न के रूप में की गई है[43]। किंतु वैदिक साहित्य में आये सन्दर्भों में 'प्लाशि' शिश्न के लिए प्रयुक्त नहीं प्रतीत होता है[44]। अथर्ववेद के एक सूक्त में गो शरीर के विभिन्न वाह्य तथा अत:अंगों के वर्णन में प्लाशि की गणना की गयी है,[45] किंतु गो शरीर में शिश्न का अभाव होने से प्लाशि को इस रूप में स्वीकार करना तर्कसंगत नहीं होगा।[46] विभिन्न संदर्भों में प्लाशि शब्द के साथ वर्णित अंगों की विवेचना करने पर यह निचले अत: भाग में स्थित कोई अंग प्रतीत होता है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के मन्त्रों से प्लाशि की स्थिति वनिष्ठु तथा कुक्षि के सन्निकट विदित होती है। ऐसी दशा में मोनियर-विलियम्स कृत संस्कृत-अंग्रेजी कोश में प्रतिपादित अर्थ कि प्लाशि भोजन नली का कोई भाग विशेष है, उचित प्रतीत होता है। वास्तव में इस तथ्य की पुष्टि सायण की व्याख्या से भी होती है। सायण ने प्लाशि की व्याख्या करते हुये इस अंग को 'बहु छिद्राणि मल पात्रात्' कहा है। सायण की व्याख्या के संदर्भ में हमारा ध्यान सीकम (Cecum) की ओर जाता है जहाँ क्षुद्रान्त्र, बृहदान्त्र में खुलती है और उण्डूक का छिद्र मिलता है। ब्रहदान्त्र क्षुद्रान्त्र तथा उण्डुक (Appendix) छिद्रों के खुलने का स्थान ही सीकम प्रतीत होता है।

पाचक अंगों से सम्बन्धित प्रमुख ग्रन्थियों में यकृत[47] और पित्त[48] के नामोल्लेख साहित्य में अनेक स्थलों पर मिलते हैं। यकृत की व्याख्या वैदिक इण्डेक्स में लीवर (Liver) के रूप में की गयी है।[49] यकृत के धातु संबन्धी लक्षण (Tissue-character) का परिज्ञान निरुक्तकार तैटीकि नामक आचार्य के वचनों का उल्लेख करते हुए यकृत को वसीय पदार्थों से युक्त श्याम वर्ण तथा सरलता से काटा जा[ने] वाला अंग बताते हैं।[50] बृहदारण्यक-उपनिषद् में यकृ[त] की रचना पर्वताकार बतायी गई है।[51] संहिताओं में आ[ये] विवरणों से प्रकट होता है कि यकृत की स्थिति क्लोम, हृदय एवं पित्त के सन्निकट पार्श्व में है।[52]

संहिताओ में पित्त शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर हुआ है[53]। सायण ने पित्त शब्द की व्याख्या शरीर के मेटावालिक या अपचय-उपचय उष्मा के लिए किया है।[54] वाजसनेय संहिता में पित्त का उल्लेख एक अन्त:अंग के रूप में किया गया है[55]। उक्त प्रकरण में यकृत, क्लोम, हृदय और मतस्ना के सन्निकट का अंग प्रतीत होता है। वैदिक इण्डेक्स में पित्त की व्याख्या गाल ब्लैडर (Gall-bladder) के रूप में की गई है,[56] जो चरक तथा सुश्रुत के वर्णन के अनुरूप है।[57] पाचन से सम्बन्धित अंगों के प्रसंग में हलीक्ष शब्द पर भी विचार करना आवश्यक है। हलीक्ष[58] शब्द का उल्लेख संहिताओं में अनेक बार हुआ है। संहिताओं के विवरण से हलीक्ष शरीर के ऊपरी भाग में स्थित अंत: अंग प्रतीत होता है। हलीक्ष की व्याख्या मतभेदपूर्ण है। परवर्ती युग के आयुर्वेदि[क] ग्रन्थों में हलीक्ष शब्द का उल्लेख नहीं मिलता। संस्कृ[त] कोशों में भी इसे सन्दिग्ध अंग बताया गया है।

वेबर द्वारा हलीक्ष की व्याख्या गाल ब्लैडर के रूप में की गयी है।[59] किन्तु हलीक्ष को गाल ब्लैडर के रूप में स्वीकार करना ठीक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि गाल ब्लैडर के लिये पित्त शब्द वैदिक साहित्य में सामान्य रूप से मिलता है, जिसे वैदिक इण्डेक्स के लेखकद्वय ने स्वयं स्वीकार किया है[60]। सम्भव है हलीक्ष शब्द का प्रयोग अग्नाशय या पैनक्रियाज (Pancreas) के लिये हुआ है क्योंकि यह भी ऊपरी अन्त:अंग का एक प्रमुख अंग है जिसके लिये वैदिक साहित्य में किसी अन्य शब्द का उल्लेख नहीं मिलता। यह उल्लेखनीय है कि अग्नाशय या पैन[]क्रियाज ग्रन्थि भी पित्ताशय के सन्निकट होती है और पित्ताशय के सहयोग से ही पाचन क्रिया को सम्पादि[त] करती है।

1-- ऋ. वे. 2.39.6

2- ऋ. वे. 10.68.6; अ. वे. 3.27.2; 11.2.3;8 3; 19.60.1; 61 1

3-- निरुक्त (5.4) पृ. 248; अ. वे. 9.7.5

4-- वही. तु तैत्ति. उप. 1.61

5-- ऋ. वे. 19.16.3.1; अ. वे. 11.2 3, 8.31; 10.2.6

6-- ऋ. वे. 10.163.1; एत. ब्रा. 7.1.1; अ. वे. 11.2.3, 8.31

7-- अ. वे. 10.2.7; तु. एत. ब्र. 7.1.1

8- अ. वे. 10.7.19; तु. निरुक्त (5.4) पृ. 248 ऐसा प्रतीत होता है, यहाँ मुख गुहा के लार ग्रन्थियों को सप्त-सिन्धु का प्रतीक माना गया है। तु...यवा न बर्हिभ्रुवि केसराणि कर्कन्धु जज्ञे मधु सारंध मुखात ।। वाज. सं. 19.91

9- ऋ. वे. 10.68.6

10- शादं ददि्भरवकां दन्तमूलैर्मृदं वस्यैस्तेगन्द ष्ट्राभ्यां... वाज. सं. 25.1 विद्युज्जिह्वा मरुतो दन्ता रेवती-ग्रीवाः कृत्तिका स्कन्धा धमो वहः ।। अ. वे. 9.7.6

11- वाज. सं. 25.1

12- निरुक्त (5.4) पृ. 248

13- वही।

14- अन्तरेण तालुके, य एष स्तन इवावलम्बते-तैत्ति. उप. 1.6.1

15- हन्वोर्हि जिह्वामदधात् पुरुचोमधा महीमधि शिश्चाय बाचम्।
स आ बरीवर्ति भुवनेष्वन्तरपो बसानः क उतच्चिकेत।।
अ. वे. 10.2.7

16- तैत्ति. उप. 1.6.1; वाज. सं. 25.1

17- निरुक्त पृ. 5.4

18- अ. वे. 10.2.7

19. निरुक्त पृ० 248।

20. निरुक्त, दे० 'हनुर्हन्तेः' (6.4) पृ० 280।

21. ऋ० वे० 1.163.7; तु० निरुक्त, (6.2) पृ० 271।

22. ऋ० वे० 3.47.1; तु० निरुक्त (4.7) पृ० 170।

23. ऋ० वे० 8.48.1; अ० वे० 9.7,16।

24. अ० वे० 9.7.16।

25. ऋ०वे० 10.163.3।

26. अ० वे० 2.33.4—20-96-20।

27. Whitne-Atharva Veda (Trans)9.7.16; 2.33.4

28. निरुक्त (4.1) पृ० 170।

29. मोनियर विलियम—संस्कृत-अंग्रेजी कोश में जठर को पचानेवाले अग्नि के रूप में निर्दिष्ट करते हैं।

30. निरुक्त (6.14) पृ० 261; (4.9) पृ० 170।

31. अ० वे० 9.7.16

32. सुश्रुत शा० 25.8।

33. Whitne-Atharva Veda (Trans)2-33.4।

34. सुश्रुत शा० 5.7; चरक शा० 7.12।

35. ऋ० वे० 10.163.3; अ० वे० 2.33.4; 9.7.12; 10-9-70; 20-131-12।

36. मैक० एवं कीथ, वैदिक इण्डेक्स।

37. ऋ० वे० 10-163-3; अ० वे० 9-8-17, 7-16; 2-33-4; 20-96-2 तु० चरक शा० 7.12; निरुक्त (14-7) पृ० 60।

38. सुश्रुत शा० 4-17।

39. बृ० उप० 1-1-1।

40. वही।

41. c. f. Whitney (Trans) 2-33-4।

42. ऋ० वे० 10-163-3; अ० वे० 9-7-12; 10-9-17; 2-33-4—20-96-20; वाज० सं० 19-87; 25-8।

43—दे० मैक० एवं कीथ वैदिक इण्डेक्स, शरीर पृ० 361

44—तु० ऋ० वे० 10.163.3; अ० वे० 2.33.4-20.96.-20;9.7.12; 10.9.17 वाज0 सं0 19.87; 25.8.

45—अ0वे0 9.7.12.

46—'गौ' शब्द के अर्थ गाय और साँड़ दोनों होते हैं। उद्धृत सूक्त में गौ स्त्री वाचक है क्योंकि इसमें स्तन उपस्थित बताये गये हैं।
दे0अ0वे09.7.

47—ऋ0 वे0 10.163.3; अ0 वे0 2.33.3; 20.96.19 वाज0सं0 39.8; 19.85.

48—वाज० सं० 19.85.

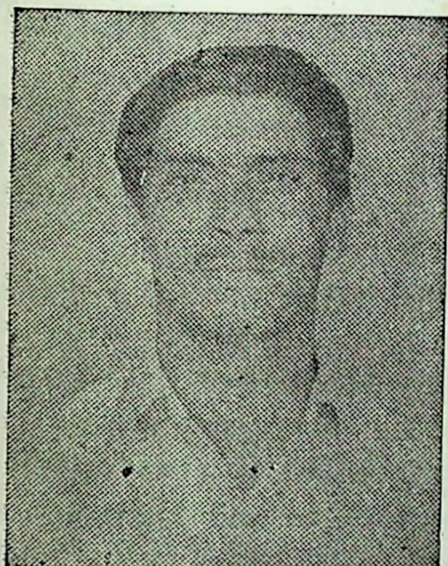
49—मैक०एवं कीथ-वैदिक इण्डेक्स 'शरीर'

50— निरुक्त (4.1) पृ० 164.

51— वृ० उप० 1.1.1.
52— वाज० सं० 19.85.
53— वाज० सं० 19.85.
54— दे० सायण व्याख्या अ० वे० 1.12.3, 15 1; 6.83 एवं 87.
55— वाज० सं० 19.85.
56— मैक० एवं कीथ, वैदिक इण्डेक्स, दे० "शरीर' पृ० 361.
57— दे० चरक शा० 7.16; सुश्रुत शा० 4.18.
58— अ० वे० 2.33.3, 20.96.19; वाज० सं० 24.31; मैत्र० सं० 3.14.12.
59- Indische Studien, 13, 206.
60- वाज. सं० 19.85 तु. मैक. एवं कीथ, वैदिक इण्डेक्स 'शरीर' पृ० 361- महीधरा वाज० सं० (24 31) की व्याख्या करते हुये हलीक्ष को एक विशेष प्रकार का व्याघ्र बताते हैं। सायण तैत्ति० सं० 5.5,12; 1.7.23,1 की व्याख्या करते हुये हलीक्ष को चातक पक्षी या तृण सिंह के रूप में निर्दिष्ट करते हैं। मैक० एवं कीथ हलीक्ष शब्द को इन्टेस्टाइन का कोई भाग विशेष होने का उल्लेख करते हैं तथा सायण द्वारा तृण-सिंह के रूप में की गई व्याख्या को समझने में असमर्थ पाते हैं। वेउर हलीक्ष को पित्ताशय के रूप में उल्लेख करते हैं।
c. f. Zimmer, Altindisches Leben, 79.

सचित्र आयुर्वेद

द्रव्यों में रस-गुण-वीर्य एवं प्रभाव का सिद्धान्त



वैद्य मायाराम उनियाल शास्त्री

रिसर्च आफिसर इन्चार्ज

क्षेत्रीय आयुर्वेद अनुसंधान-केन्द्र, ग्वालियर रोड, झाँसी (उ० प्र०)

द्रव्यों के रस-गुण-वीर्य एवं विपाक के सिद्धान्त को जानने हेतु द्रव्यों का पाञ्चभौतिकत्व एवं उन द्रव्यों का शरीर पर किस प्रकार से प्रभाव होता है आदि मौलिक तथ्यों को समझना जरुरी है। द्रव्यों के पाञ्चभौतिकत्व के निर्धारण में महर्षि चरक का कहना है कि संसार के सभी द्रव्य पाञ्चभौतिक हैं। यथा-'सर्व द्रव्यंपाञ्चभौतिकमस्मिन्नर्थे' ''चरक'' अर्थात् सभी द्रव्य पाञ्चभौतिक होने पर भी जिस महाभूत की प्रधानता होती है या उस महाभूत की अभिव्यक्ति होती है उसे क्रमशः पार्थिव, आप्य, तैजस, वायव्य, एवं आकाशीय द्रव्य कहते हैं। द्रव्यों में पञ्चमहाभूतों का समावेश होने पर विशिष्ट महाभूत की अभिव्यक्ति व्यपदेशस्तु भूयसा'' इस न्याय से होती है। यही कारण है कि संसार के सभी द्रव्य पाञ्चभौतिक होने पर एवं पाञ्चभौतिक मानव देह में शारीरिक तत्वों का जो ह्रास या वैषम्य होता है उसे औषध द्रव्यों के स्वरस, कल्क, कषाय, चूर्ण आदि कल्पनाओं द्वारा ठीक किया जाता है। यही कारण है कि महाभूतों से अतिरिक्त चिकित्साशास्त्र में अन्य किसी द्रव्य का विचार नहीं किया जाता है। सामान्य से वृद्धि तथा विशेष से ह्रास इस नियम के अनुसार शरीर में जिस महाभूत की कमी होती है उस महाभूत विशिष्ट द्रव्य का प्रयोग करते हैं। और जब महाभूत की वृद्धि होती

है तब उसके विपरीत गुण विशिष्ट महाभूत वाले द्रव्य का प्रयोग करते हैं यही चिकित्सासूत्र है यथा—

सर्वदा सर्वभावानां सामान्य वृद्धिकारणम् ।

ह्रासहेतुर्विशेषश्च......च० सू० अ. १ ।।

पाञ्चभौतिक द्रव्यों में मधुर, अम्ल, लवण आदि रसों के ज्ञान के लिये आहार द्रव्य एवं औषध द्रव्य भेद से द्रव्यों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। आहार द्रव्य रस प्रधान होते हैं तथा शरीर की पुष्टी तथा पोषण का कार्य करते हैं। औषध-द्रव्य बीर्य प्रधान होते हैं तथा ये द्रव्य व्याधि का शमन करते हैं। यद्यपि रस, गुण, वीर्य विपाक सिद्धान्त सामान्यतः सभी द्रव्यों पर लागू होता है तथापि इनका विशेष सम्बन्ध वीर्य प्रधान औषध द्रव्यों से है। सामान्यनियमानुसार द्रव्य अपना कार्य रसों के प्रभाव से, गुणों के प्रभाव से, वीर्य के प्रभाव से एवं विपाक के प्रभाव से करते है। द्रव्यों का शरीर पर जिस विशिष्ट-स्थान पर प्रभाव होता है उसे स्थानिक प्रभाव कहते हैं। स्थानिक प्रभाव शरीर के बारह त्वचा पर एवं शरीर के अन्दर आमाशयादिकला पर या अन्य मुख्य स्थानों पर होता है किंतु उसका प्रभाव सारे शरीर पर या विशिष्ट स्थान पर नहीं होता है। यथातिक्त एवं अम्ल रस मुख में रखने पर आमाशय रस को बढ़ाते हैं। इसका कारण वातवह नाड़ियाँ हैं। इसी प्रकार स्थानीय प्रभाव में राजिका (राई) Brassica Cerenva पिप्पली Piper longum, शुण्ठी Zingiber Officinale, पुष्करमूल Inula raccmosa, शिग्रु Moringa Obeifera आदि कतिपय द्रव्य हैं जोकि रस के प्रभाव से अपना कार्य करते हैं। इसीकारण शास्त्र-कारों ने कहा है कि "रसोनिपाते द्रव्याणम्" अर्थात राई में अवस्थित कटु रस ही उनके प्रभाव का कारण है।

द्रव्यों का संस्थानिक प्रभाव औषधियों के रक्त में मिलने के पश्चात् होता है। यथा गोक्षुर Tribulus Terrestris का मुख मार्ग द्वारा मूत्रल हेतु प्रयोग करने पर गोक्षुर का प्रभाव आन्त्रपर न होकर वृक्कों एवं प्रजनन संस्थान पर होता है जोकि औषधि का संस्थानिक प्रभाव कहलाता है। इसी प्रकार रेचक, वृष्य आदि द्रव्य हैं। यही कारण है कि महर्षि आत्रेय ने स्पष्ट रूप से कहा है कि यह प्रभाव औषधियों का देहाग्नियों द्वारा पाक होते समय या होने पर पाक के पश्चात् देह से निकलने के समय होता है। यथा चन्दन पाक के पश्चात् मूत्रमार्ग से निकलता है तो मूत्र के संक्रमण का नाश कर देता है। यथा-

किञ्चिद्रसेन कुरुते, कर्मवीर्येण चापरम्।

द्रव्यं गुणेन पाकेन, प्रभावेण च किञ्चनः ।।

वस्तुतः द्रव्य का जो भी प्रभाव शरीर पर होता है वह द्रव्य का ही है, द्रव्य में प्रभाव उसके गुणों के कारण है। द्रव्य की कतृत्वशक्ति जब देह धातुओं के सम्पर्क में आती है तो देह धातुओं में विशेष प्रकार की क्रिया होती है और उसका फल शरीर में देखने को आता है। शरीर में जो भी क्रिया या उसका फल होता है वह तो तद् द्रव्यांश पर ही है क्योंकि गुरू आदि गुण द्रव्यों में ही रहते हैं एवं द्रव्यों के अन्दर रहनेवाले महाभूतों के सारभाग ही द्रव्यों की शक्ति है। वही शक्ति द्रव्य के प्रभाव का कारण है जिसे चिन्त्य और अचिन्त्य शक्ति कहते हैं। अतः द्रव्य अपने गुणों एवं क्रियाशीलतत्व (Active Principles) द्वारा शरीर पर प्रभाव करता है तथा उन द्रव्यों के जो परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं वह कर्म कहा जाता है। यथा त्रिवृत रेचक है उसकी उष्णता, तीक्ष्णता आदि गुणों के कारण रेचन कर्म होता है जो कि यह क्रिया रस, वीर्य एवं विपाक के द्वारा होती है।

अतः संक्षेप में यह हम कह सकते हैं कि रस, गुण, वीर्य, विपाक और प्रभाव द्रव्य में रहनेवाले एक प्रकार के गुण ही हैं। इन्हीं के अनुसार द्रव्य का कर्म निर्धारित होता है। यथा

द्रव्ये रसो गुणो बीर्यः वीपाक शक्तिरेव च।

पदार्थः पञ्चतिष्ठन्ति स्वं स्वं कुर्वन्ति कर्म च ।।

अर्थात् जिसमें गुण एवं कर्म आश्रित हो तथा जो अपने कार्य के प्रति सयवायिकारण हों उसे द्रव्य कहते हैं। यथा हरीतकी रूक्ष, लघु, आदि गुणों तथा दीपन अनुलोमन रसायन आदि कर्मों का आश्रय है और शरीर परमाणुओं का समवायिकारण है। इसलिये हरीतकी द्रव्य है जिनमें पञ्चमहाभूत आदि कारण तत्वों का समावेश होता है। रसो के विषय में शास्त्रकारों ने बतलाया है कि रस द्रव्य में अवस्थित होते हैं।

ये रस संख्या में ६ होते हैं।

१--मधुर (मीठा) Sweet यथा-गुड़, चीनी आदि।

२--अम्ल (खट्टा) Acid or sour इमली, नींबू आदि।

३--लवण (नमकीन) Salt यथा सेन्धानमक आदि।

४--कटु (कड़वा) Bitter यथा मरिच, पीपर आदि।

५--तिक्त (तीता) Astringent यथा हरीतकी बबूल आदि।

आधुनिक वैज्ञानिक केवल चार रस मानते हैं। कटु एवं कषाय रस के विषय में उन लोगों का स्पष्ट मत नहीं हैं। मधुर, अम्ल आदि रसों में जिन महाभूतों की अधिकता पायी जाती है उसका वर्णन इस प्रकार से है यथा-

रस	महाभूत
१-मधुर	पृथ्वी, जल महाभूत
२-अम्ल	पृथ्वी-अग्नि।
३-लवण	जल-अग्नि।
४-कटु	वायु-अग्नि।
५-तिक्त	वायु-आकाश।
६-कषाय	वायु-पृथ्वी।

इस प्रकार द्रव्य एवं रस दोनों पाञ्चभौतिक होने के कारण द्रव्यों में अनेक रस होते हैं किन्तु भूतों के संघटन तथा उत्कर्षापकर्ष के अनुसार कोई रस प्रधान एवं कोई अप्रधान होते हैं। इसी आधार पर आचार्यों ने रस एवं अनुरस का निर्देश किया है। द्रव्यों के आद्र एवं शुष्क अवस्था में जो व्यक्त हो वह रस एवं जो अव्यक्त हो वह अनुरस कहलाता है। यथा पिपली का व्यक्त रस कटु एवं अव्यक्त रस मधुर होता है। इस के सेवन करने पर शरीर के सजातीय दोष-धातु की बृद्धि एवं विजातीय दोष-धातु ह्रास से तज्जातीय महाभूतों का अनुमान से ज्ञान होता है। यथा-मधुर से आप्य एवं जलीय कफ की दृष्टि तथा आग्नेय पित्त का ह्रास देखकर मधुर रस के पार्थिवाप्य भौतिक संगठन का अनुमान होता है। रसोनिपातेद्रव्याणम्।

चरक के इस वाक्य के अनुसार यह स्पष्ट है कि द्रव्य के जिह्वापर स्पर्श होते ही मधुरादि रसों का ज्ञान होता है तथापि दूसरे अर्थों में यह कह सकते हैं कि द्रव्य का देह धातुओं के साथ स्पर्श होते ही मधुरादि रसों का ज्ञान होता है। या दूसरे अर्थ में यह कह सकते हैं कि द्रव्य का देहधातुओं के साथ स्पर्श होते ही रस की देह पर होने वाली क्रिया का बोध होता है। अर्थात् रस द्वारा देह पर होने वाले प्रभाव प्रत्यक्ष हो जाते हैं और उससे रस का भी ज्ञान होता है क्योंकि रस न केवल जिह्वा मात्र पर ही कार्य करते हैं अपितु अन्तस्यश्लैष्मिक कला पर भी उनका प्रभाव होता है। जोकि द्रव्यों के पाक क्रिया के द्वारा जाना जा सकता है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि स्थूल या सूक्ष्म किसी भी रूप में द्रव्य का देह धातुओं के साथ सम्पर्क होते ही प्रभाव होता है। उसे द्रव्यगतरस का ही प्रभाव कहा जा सकता है।

उदाहरण के रूप में जब हम मरिच जैसी कटु रस वाली वस्तु का उपयोग करते हैं तो तत्काल जिह्वा में चिमचिमापन, एवं उष्णता आदि का अनुभव होता है। इसी प्रकार अम्ल रस खाते ही दन्तहर्ष, लालास्राव, शरीर में स्वेद, मुख की शुद्धि मुख एवं काष्ठ का विदाह, रुचि, नेत्र एवं भौंहों में संकोच आदि क्रियायें होती हैं। सँक्षेप में रसों के गुणकर्म एवं दोष-प्रभाव-तालिका निम्न प्रकार से है।

रसों का गुण-कर्म एवं दोष प्रभाव

रस	गुण	कर्म	दोष-प्रभाव
१ मधुर	स्निग्ध, शीत, गुरु	बृंहण, जीवन, आयुष्य बल्य, सृष्ठ विण्मूत्र,	कफकर वात-पित्तहर
२ अम्ल	स्निग्ध, उष्ण, गुरु	रोचन, दीपन, पाचन अनुलोमन, अवृष्य	कफ-पित्तकर वातहर
३ लवण	स्निग्ध, उष्ण, गुरु	क्लेदन, दीपन, पाचन छेदन, भेदन, शुक्रघ्न	कफ-पित्तकर वातहर
४ कटु	रुक्ष, उष्ण, लघु	मुखशोधन, दीपन, पाचन लेखन, कृमिघ्न, ग्राही	वात-पित्तकर कफहर
५ तिक्त	रुक्ष, शीत, लघु	दीपन, पाचन, रोचन, कृमिघ्न, विषघ्न	वातकर कफ-पित्तहर
६ कषाय	रूक्ष, शीत, लघु	स्तम्भन, शोषण, रोपण, अवृष्य, संधानीय	वातकर कफ-पित्तहर।

गुणः

सार्थाःगुर्वादयो बुद्धि प्रयत्नान्ताः परादयः
गुणाः प्रोक्ताः॥ चरकः

जैसा कि पूर्व प्रसंग में स्पष्ट: किया गया है कि सभी द्रव्य पाञ्चभौतिक है एवं इन्हीं द्रव्यों के आश्रित गुणकर्म पाये जाते हैं। गुण-कर्म वाले आहारौषध द्रव्यों के मात्रावत् उपयोग से शरीर की समावस्था में रखा जा सकता है एवं शरीर में क्षीण एवं वृद्धि वाले दोष, धातु को साम्यावस्था में लाया जा सकता है। द्रव्यगुण विज्ञान में आहार द्रव्यों के २० गुणों का उल्लेख है। यथा-गुरू-लघु, शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष, मंद-तीक्ष्ण स्थिर-सर, मृदु-कठिन, विशद-पिच्छिल, श्लक्ष्ण-खर, सूक्ष्म-स्थूल, सान्द्र-द्रव, आदि गुण हैं जिन्हें शारीरिक गुण भी कहते हैं। औषध द्रव्यों में इन गुणों के अतिरिक्त व्यवायी, विकाशी आदि अनेक गुण पाये जाते हैं। एवं इन्हीं औषध द्रव्यों में उपलब्ध विशिष्ट गुणों को वीर्य कहते हैं। उपरो २० गुणों में पार्थिव, आप्य, तैजस, वायवीय ए आकाशीय महाभूतों की विशेषता पाई जाती है, अर्थात् पृथ्वी महाभूत द्रव्य गुरू, खर, कठिन, मंद, स्थिर, विशद सान्द्र, स्थूल, कुछ कषाय, परंतु मुख्य रूप से मधुर-रस वाले एवं गंध गुण प्रधान होते हैं। पार्थिव द्रव्यों के उपयोग करने पर शरीर में उपचय, संघात, गौरव, स्थिरता एवं बल की वृद्धि होती है। गुण रसों को दबा-कर अपना कार्य प्रदर्शित करते हैं यथा-जल स्वाभाविक मधुरता के कारण कफ कारक है किंतु गरम जल कफघ्न है। इसका कारण यह है कि गरम जल का उष्ण गुण मधुर रस दबाकर कफघ्न कर्म करता है। पटोल तिक्त होने पर भी वातहर है इसका गुण प्रधान है।

रसानुग्रह में मधु अपने अनेक गुणों के कारण बृंहण होने से कषाय द्रव्यों में श्रेष्ठ माना गया है। द्रव्यों का विपाक भी श्रेष्ठ माना गया है तथा विपाक भी द्रव्यों पर आश्रित होता है। स्निग्ध पिच्छिल गुरु द्रव्यों का गुरु विपाक तथा लघु, तीक्ष्ण, विशद द्रव्यों का लघु विपाक होता है। इस प्रकार से गुणों की प्रधानता सांख्याबाहुल्य, कर्मबाहुल्य आदि कारणों से माना जाता है। संक्षेप रूप से द्रव्यों की गुण-कर्म दोषप्रभाव की तालिका इस प्रकार से है।

गुर्वादिगुण का गुण-कर्म

संख्या	गुण	पर्याय	भौ० स्वरूप	भौतिक संगठन	दोषप्रभाव	मुख्यकर्म	उदाहरण
१	गुरु	Heaviness	भारीपन	पृथ्वी + जल	कफकर, वातहर	बृंहण	माष, मूशली
२	लघु	Lightness	हल्कापन	वायु + नभ, + अग्नि	वातकर, कफघ्न	लंघन	मुद्ग, लाजा
३	शीत	Cold	ठण्डक	जल	वातश्लेष्मकर, पित्तघ्न	स्तम्भन	चन्दन आदि
४	उष्ण	Heat	गर्मी	अग्नि	वातश्लेष्महर पित्तकर	स्वेदन	चित्रक
५	स्निग्ध	Soothingness	चिकनाहट	जल	वातहर, कफकर	क्लेदन	घृत आदि
६	रुक्ष	Dryness	रुखापन	पृथ्वी + वायु + अग्नि	वातकर कफहर	शोषण	यव आदि
७	मन्द	Dullness	सुस्ती	पृथ्वी + जल	कफकर-पित्तहर	शमन	अमृता आदि
८	तीक्ष्ण	Sharpness	तेजी	अग्नि	कफहर, पित्तकर	शोधन	जयपाल आदि
९	स्थिर	Immoblity	गतिहीनता	पृथ्वी	कफकर	धारण	जाती फल
१०	सर	Mobility	गतिशीलता	जल	कफहर	प्रेरण	आरग्वध आदि
११	मृदु	Softness	मुलायम	जल-आकाश	कफकर	श्लथन	एरण्ड तैल
१२	कठिन	Hardness	कड़ापन	पृथ्वी	वातकर	दृढीकरण	प्रबाल आदि
१३	विशद	Clarity	स्वच्छता	पृथ्वी + वायु + तेज	वातकर	क्षालन	प्रवाल आदि
१४	पिच्छिल	Sliminess	लुवाब	जल	कफकर	लेपन	इसबगोल आदि
१५	श्लक्ष्ण		चिकनापन	अग्नि	पित्तकर	रोपण	दुग्धपाषण आदि
१६	खर	Roughness	रुखापान	वायु	वातकर	लेखन	करञ्ज फल
१७	सूक्ष्म	Minuteness	छोटापन	अग्नि + वायु + आकाश	वातकर	विवरण	मद्य आदि
१८	स्थूल	Bulkiness	मोटापन	पृथ्वी	कफकर	संवरण	पिष्ठक, दधि आदि
१९	सान्द्र	Solidity	गाढापन	पृथ्वी	कफकर	प्रसादन	मलाई, मखन आदि
२०	द्रव	Fluidity	पतलापन	जल	कफकर	विलोडन	जल दुग्ध द

वीर्य [Active Principle]

जिस शक्ति के द्वारा द्रव्य अपने कर्मों का सम्पादन करते हैं उसे वीर्य (Potency या Active principle) कहते हैं। यथा 'येनकुर्वन्तितद्वीर्यम्' 'चरकः' अर्थात् द्रव्य में अवस्थित शीत-उष्ण आदि गुणों का नाम वीर्य है। तथा—किराततिक्त Swertia chirata तिक्तरस होने के कारण पित्त को शान्त करता है क्योंकि पित्तोत्पादक अग्नि एवं जलमहाभूत के विरोधी वायु आकाशमहाभूत से उत्पन्न तिक्तरस पित्त का विरोधी होने से तिक्त रस पित्त को शान्त करता है। साथ ही साथ पित्त द्रवता उष्णतादि गुणों के विपरीत तिक्त रस शीत वीर्य रुक्षादि गुणों से युक्त होता है।साथ ही साथ चिरायता मृदुरेचक भी है। तथा पित्तशमनार्थ रेचन सर्वोत्तम औषध है। अतः चिरायता अपने रस-वीर्य एवं रसगुणों के कारण पित्तशामक है। यह आयुर्वेद की युक्तिसंगत चिकित्सा (रेशनलथेराप्युटिक्स) कहलाती है। दूसरी शक्ति आयुर्वेद में अचिन्त्य-शक्ति कहलाती है जिसे प्रभाव (स्पेशल सिलेक्टिव एक्शन) कहते हैं।

आयुर्वेद में बलवान् उत्कृष्ट शक्ति-सम्पन्न गुणों का नाम वीर्य है। अर्थात् यह साधारण एवं निर्बल गुणों को दबाकर स्वशक्ति से अपना प्रभाव दिखाते हैं। यथा "एतानि खलुवीर्याणि स्व गुणबलोप्कर्षात् रसमभिभूयात्मकर्मकुर्वन्ति" सु० सू० अ० ४।। इस परिभाषा के आधार पर उपयोगी २० गुणों में मृदु-तीक्ष्ण, गुरु-लघु, स्निग्ध-रुक्ष, उष्ण-शीतल इन आठ बलवान् गुणों को वीर्य कहा है। द्विविध वीर्य में शीत एवं उष्ण ये दो वीर्य माने जाते हैं। इस उक्ति के आधार पर समस्त द्रव्य या तो आग्नेय गुण (उष्ण) प्रधान होते हैं या सोम गुण (शीत) प्रधान होते हैं। लेखक के विचार से दोनों ही पक्ष तर्कसंगत है एवं एक-दूसरे के पूरक हैं। अष्टविधवीर्य द्रव्य के विशिष्ट गुणों के कारण होने वाले कर्मों को दृष्टि में रखकर कहे गये हैं। द्विविध वीर्य द्रव्य प्रभाव के शरीर पर होनेवाले अन्तिम कर्मों को लक्ष्य कर कहे गये हैं। यथा कुछ ऐसे द्रव्य होते हैं जोकि शरीर की क्रियाओं को आगे बढ़ा देते हैं तथा कुछ ऐसे द्रव्य होते हैं जो कि शरीर की क्रियाओं को घटा देते हैं। कस्तूरी उष्ण है एवं उसके सेवन से हृदय की गति शक्तिशाली हो जाती है। वृ० पञ्चमूल कषाय एवं तिक्तानुरस होने पर भी उष्ण वीर्य के कारण वातशामक है।। कपित्थ अम्ल एवं रुक्ष होने पर भी कफ शामक है। आमलकी अम्लरस एवं शीतवीर्य होने से पित्तशामक है। वीर्य का ज्ञान प्रत्यक्ष एवं अनुमान दोनों से होता है। कुछ द्रव्यों का वीर्य जिह्वा या त्वचा के साथ सम्पर्क होते ही प्रत्यक्ष रूप से प्रतीत होता है। कुछ का शरीर मे उसकी उपस्थिति उत्पन्न कर्मों द्वारा अनुमान से होता है।

विपाक

षड्रस अन्न का औदर्य अग्नि द्वारा पाक होने पर जो रस उत्पन्न होता है एवं उनसे जो गुण उत्पन्न होते हैं वह विपाक हैं। यथा—

जाठरेणाग्निनायोगाद्यदुदेति रसान्तरम्।
रसानां परिमाणन्ते विपाक इति स्मृत।

द्रव्यों का शरीर में अवस्थापाक एवं निष्ठापाक भेद से दो तरह का पाक होता है। आहार द्रव्यों का प्रथम पाक अवस्थापाक और पुनः निष्ठापाक। किन्तु औषध द्रव्यों में यह नियम प्रचलित नहीं है। अनेक औषध द्रव्यों का औषधपाक होता ही नहीं; यथा विष द्रव्यों का। निष्ठापाक सभी द्रव्यों के लिये आवश्यक है। निष्ठापाक को नव्यचिकित्सा में केमिकल चेन्जेज या मेटाबोलिक चेन्जेज कहते हैं। विपाक भेदों के विषय में भी शास्त्रकारों में दो मत है। त्रिविधविपाक एवं द्विविधविपाक।

त्रिविधविपाक—अम्लविपाक, २ कटु विपाक, ३ मधुरविपाक।

द्विविधविपाक—मधुरविपाक, २ कटुविपाक।

ये विपाक प्रायः द्रव्यों की रचना पर निर्भर करते हैं। द्रव्योत्पादक महाभूतों का अनुपात भिन्न-भिन्न होने पर एक ही रसवाले द्रव्यों का अनुपान भिन्न-भिन्न हो सकता है। प्रायः मधुर, अम्ल, लवण का विपाक मधुर एवं कटु, तिक्त, कषाय का विपाक कटु होता है। यथा—

द्रव्येषु पच्यमानेषु ये स्वम्बु पृथ्वीगुणाः।
निवर्त्तन्तेऽधिकास्तत्र पाकः कटुक उच्यते।। सुश्रुत।

कुछ आधुनिक विद्वान—आचार्य चरक के त्रिविध

विपाकों की तुलना प्रोटीनों के पाचन के अन्तिम परिणाम स्वरूप उनका अम्लविपाक, कार्बोज या स्टार्च वाले पदार्थों का मधुर विपाक तथा वसा एवं स्निग्धपदार्थों का कटु विपाक की तुलना करते हैं। वास्तव में मेरे विचार से यह कल्पनामात्र है। क्योकि इस पर आयुर्वेदीय सिद्धांत सही नहीं बैठते हैं। आचार्य नागार्जुन ने विपाक का लक्षण परिणाम बताया है। अर्थात् द्रव्य प्रभाव के परिणाम से विपाक का परिणाम होता है। द्रव्य का परिणाम शरीर पर दो प्रकार का हो सकता है। एक तो शरीर की वृद्धि और उसमें शक्ति उत्पन्न करना। दूसरा शरीरस्थ वस्तुओं को शरीर से बाहर निकाल कर उसे कृश करना है। इसी हेतु चरक का वाक्य है कि—

विपाक कर्मनेष्ठया ॥ चरक ॥

प्रभाव (Specific property)

द्रव्य की स्वभावगत शक्ति को प्रभाव कहते हैं। स्वभावगत शक्ति को शास्त्रकारों ने अचिन्त्य कहा है। द्रव्य में रस, वीर्य, विपाक की समानता होने पर भी जब कर्म में विशेषता देखते हैं तब वहां प्रभाव का अनुमान किया जाता है। यथा चित्रक एवं दन्ती रस, वीर्य एवं विपाक में समान होने पर भी प्रभाव के कारण दन्ती रेचक है चित्रक नहीं। तिल एवं मदनफल तिक्त, कषाय, मधुर होने पर प्रभाव के कारण मदनफल वामक है। दुग्ध एवं घृत समान रस एवं वीर्य होने पर भी घृत दीपन का कार्य करता है दूध नहीं। यथा—

रस वीर्य विपाकानां सामान्यं यत्रलक्ष्यते ।
विशेषः कर्मणांचैव, प्रभावस्तस्य स स्मृतः ॥ चरक ।

इसी प्रभाव को हमारे आचार्यों ने विचित्रप्रत्ययारब्ध Metamerine कहा है। मणियों के धारण एवं यन्त्रों से जो प्रभाव होता है वह भी अचिन्त्यशक्ति जन्य माना जाता है। अतः द्रव्यगत पदार्थों में प्रभाव सर्वोपरि है क्योंकि अन्य पदार्थ द्रव्य के आश्रित हैं। नागार्जुन ने प्रभाव की प्रधानता की युक्तियाँ निम्न प्रकार से दी हैं।

(१) **अचिन्त्यता**—अचिन्त्य होने से प्रभाव प्रधान होता है। यथा मणि, मन्त्र आदि।

दैवप्रतिघात—औषधियों के प्रभाव से भूतबाधा ग्रहबाधा आदि विकारों को शान्त करना। यथा—गुग्गुलु जटामांसी, राल आदि द्रव्यों द्वारा धूपन करना।

विषप्रतिघात—विषों को नष्ट करने हेतु मन्त्र, तन्त्र आदि क्रियाओं को करना या औषधि धारण कराना।

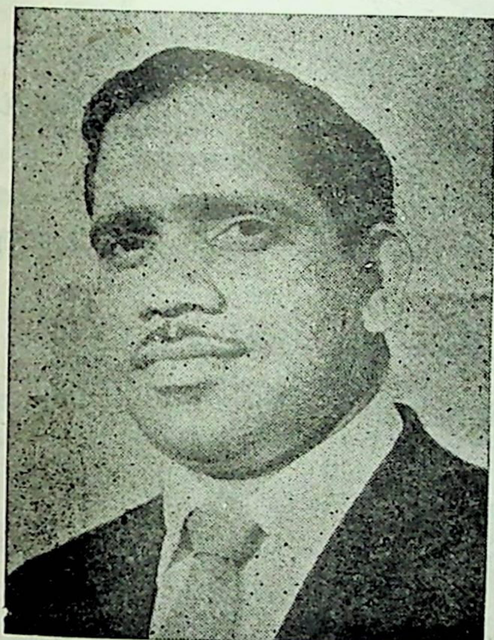
कर्मवैशिष्ट्य—द्रव्यों के रस, गुण, वीर्य समान होने पर भी दन्ती द्वारा विरेचन होना एवं चित्रक से नहीं—का द्रव्य का कर्म वैशिष्ट्य कहा जाता है।

अद्भुतकर्म—वशीकरण, मणीमंत्रौषध धारण करना यथा पन्ना, मूंगा, रुद्राक्ष आदि।

संक्षेप रूप से द्रव्यों में रस, गुण, वीर्य विपाक, प्रभाव के क्या सामान्य सिद्धान्त हैं उसकी जानकारी इस लेख में दी जा रही है। मुझे आशा है कि विद्वान पाठक इन मौलिक विचारों का अवलोकन कर इस दिशा में उचित परामर्श देंगे। आज आयुर्वेद में शोध कार्य मौलिक सिद्धान्तों के आधार पर करना आवश्यक है। केवल आधुनिक तरीकों की पूंछ पकड़ कर यदि शोधकार्य करेंगे तो उनका क्या भविष्य होगा, कुछ कहा नहीं जा सकता। ऐसा न हो कि हम स्वयं स्थानभ्रष्ट हो जायें। अतः आयुर्वेद का उत्थान उसके मौलिक सिद्धांतों पर ही आधारित है; ऐसा मेरा विश्वास है।

जैन साहित्य में आयुर्वेद

(यशस्तिलक में आयुर्वेदीय मौलिक सिद्धान्त सम्बन्धी सामग्री)



आचार्य राजकुमार जैन

यशस्तिलक चम्पू जैन साहित्य का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है जो गद्य और पद्यमय संयुक्त शैली में संस्कृत भाषा में रचित है। इसकी रचना सोमदेव सूरि ने की है और इसमें महाराज यशोधर के जीवन चरित्र को आधार बनाया गया है। यह ग्रंथ जैन साहित्य का ही नहीं अपितु संस्कृत साहित्य की एक अमूल्य निधि है। सम्पपूर्ण ग्रंथ में दो हजार तीन सौ ग्यारह पद्य तथा शेष गद्य हैं। सोमदेव ने गद्य और पद्य दोनों मिलाकर आठहजार श्लोक प्रमाण बतलाया है। 'यशस्तिलक चम्पू' की पुष्पिका में यह उल्लिखित है कि चैत्र शुक्ला १३, शक संवत्८८१ (१०१६ वि० मे०-९५९ ई०) में श्री कृष्णराज देव पांड्य के सामन्त एवं चालुक्य वंशीय अरिकेशरी के प्रथम पुत्र वद्दिगराज की राजधानी गंगधारा में सोमदेव ने इस ग्रंथ की रचना पूर्ण की थी। राष्ट्रकूट के अमोघवर्ष के तृतीय पुत्र कृष्णराजदेव (जिनका दूसरा नाम अकाल वर्षभी था) का राज्यकाल ८६७ से ८९४ शक सम्वत् तक रहा। इस दृष्टि से सोमदेव का स्थिति-काल और उनकी कृति यशस्तिलक चम्पू का रचना काल सुस्पष्ट है।

सोमदेव एक समन्वयवादी विचारधारा के उदारचेता विद्वान थे। यही कारण है कि जैमिनि, कपिल, चार्वाक, कणाद, आदि के शास्त्रों पर भी उनका समान भाव से

आदर था। उनके इस उदार दृष्टिकोण का आभास उनके ग्रंथों का अध्ययन करने से सहज ही हो जाता है। उन्हें व्याकरण, कला, छंद, अलंकार आदि शास्त्रों और विषयों पर पाण्डित्यपूर्ण अधिकार था। यही कारण है कि ये विषय उनकी कृतियों में पर्याप्त रूप से मुखरित हुए हैं। इसके साथ ही यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि आयुर्वेद शास्त्र और उसके मौलिक सिद्धान्तों का पर्याप्त ज्ञान उन्हें था। उन्होंने यशस्तिलक चम्पू में पर्याप्त रूप से इन विषयों की विवेचना की है तथा साधिकार उनका प्रतिपादन किया है जो आयुर्वेद की दृष्टि से निश्चय ही महत्वपूर्ण है।

आयुर्वेद के अनुसार उचित मात्रा और परिमाण में सेवन किया गया आहार अमृत तुल्य होता है, जबकि अधिक मात्रा में सेवित पदार्थ भी विषतुल्य हो जाते है। सोमदेव ने जल का सेवन इसी प्रकार अमृत और विष की भाँति बतलाया है। अर्थात् उचित समय पर उचित मात्रा में पिया गया जल अमृत है और अनुचित समय में अव्यवस्थित रूप से पिया गया जल विष की भाँति होता है। अतः खान-पान में समय, मात्रा आदि का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है। वे लिखते हैं—

अमृतं विषमिति चेतत् सलिलं निगदन्ति विदिततत्वार्थाः।
युक्त्या सेवितममृतं विषमेतदयुक्तितः पीतम्॥

यशस्तिलक ३/३१८

आयुर्वेद शास्त्र में प्रतिपादित है कि वात-पित्त-कफ तीन दोष मानव शरीर के लिए अति महत्वपूर्ण है और इनसे मनुष्य की प्रकृति का निर्माण होता है। शरीर में ऋतुओं के अनुसार इन दोषों का संचय, प्रकोप और प्रशमन स्वतः ही होता रहता है। यशस्तिलक में उनका सुन्दर विवेचन किया गया है जो निम्न प्रकार है—

शिशिसुरभिघर्मिष्वतपाम्भः शरत्सु क्षितिपजलशरद्धेमन्तकालेषु चेते।
कफ वनहुताशाः संचयं च प्रकोपं प्रशममिह भजन्ते जन्मभाजांक्रमेण॥

यश०पृष्ठ ५१४, श्लोक ३४८

उपर्युक्त श्लोक का सारांश निम्न प्रकार से समझा जा सकता है—

दोष	संचय	प्रकोप	प्रशमन
कफ	शिशिर	वसन्त	ग्रीष्म
वात	ग्रीष्म	वर्षा	शरद
पित्त	वर्षा	शरद	हेमन्त

वातादि दोषों के उपर्युक्त प्रकार से संचय, प्रकोप, प्रशमन को ध्यान में रखते हुए लोगों को अपने खान-पान की व्यवस्था करना चाहिये और उस पर पूरा ध्यान देना चाहिये। अतः किस ऋतु में किस प्रकार का आहार उचित है, इसका निर्देश भी यशस्तिलक में सुन्दर ढंग से किया गया है जो निम्न प्रकार है (देखिये पृष्ठ-५१४, श्लोक ३४९)—

ऋतु	**खाद्य-पेय रस**
शरद्	स्वादु (मधुर), तिक्त, कषाय रस प्रधान आहार
वर्षा	मधुर, अम्ल, लवण रस प्रधान आहार
वसन्त	तीक्ष्ण, तिक्त, कषाय रस प्रधान आहार
ग्रीष्म	प्रशम रस वाला आहार

इसी प्रकार ऋतु के अनुसार खाद्य-पेय सामग्री का निर्देश भी सोमदेव ने बड़े अच्छे ढंग से किया है (देखिये पृष्ठ ५१४, श्लोक ३५० से ३५४)

ऋतु	**खाद्य पेय सामग्री**
शिशिर	ताजा भोजन, क्षीरः उड़द; इक्षु, दधि, धृत और तेल के बने पदार्थ पुरन्ध्री।
बसन्त	जौ और गेहूं का बना प्रायः रुक्ष भोजन।
ग्रीष्म	सुगन्धित चावलों का भात, घी डली हुई मूंग की दाल, विष (कमलनाल) किसलय (मधुर पल्लव), कन्द, सत्तू, पानक (ठंडाई), आम नारियल का पानी तथा चीनी मिश्रित दूध या पानी।
वर्षा	पुराने चावल, जौ तथा गेहूं के बने पदार्थ।
शरद	धृत, मूंग, शालि, लप्सी, दूध से निर्मित पदार्थ (खीर आदि); परवल, दाख (अंगूर), आंवला, ठंडी छाया, मधुर रस वाले पदार्थ, कन्द, कोंपल, रात्रि में चंद्रकिरणों आदि।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् सोमदेव ने ऋतुओं के अनुसार रसों का सेवन कम-ज्यादा मात्रा में करने का निर्देश किया है। उनके अनुसार वैसे छहों रसों का व्यवहार सर्वदा सुखकर होता है (पृ० ५०९ श्लोक ३२८-२९)

भोजन के विषय में और भी अनेक प्रकार की ज्ञातव्य बातों का उल्लेख यशस्तिलक में किया गया है जिनका अति संक्षेपतः यहाँ उल्लेख किया जा रहा है। मूल ग्रंथमें पृ० ५१० पर श्लोक ३३० से ३४४ तक विशद रूप से इसका विवेचन किया है।

आहार, निद्रा और मलोत्सर्ग के समय शंकित तथा बाधायुक्त मन होने पर अनेक प्रकार के बड़े-बड़े रोग हो जाते हैं। (पृ० ५१० श्लोक ३३४)

भोजन करते समय उच्छिष्टभोजी, दुष्ट प्रकृति, रोगी, भूखा तथा निन्दनीय व्यक्ति पास में नहीं होना चाहिये। (पृ० ५१०, श्लोक ३३५)

विवर्ण, अपक्व, सड़ा-गला, विगन्ध, विरस, अतिजीर्ण, अहितकर तथा अशुद्ध अन्न नहीं खाना चाहिए (पृ० ५१०, श्लोक ३३६)

हितकारी, परिमित, पक्व, नेत्र, नासा तथा रसना इन्द्रिय को प्रिय लगने वाला, सुपरीक्षित भोजन, न जल्दी-जल्दी और न धीरे-धीरे अर्थात् मध्यम गति से करना चाहिये। (पृ० ५१० श्लोक ३३७)

विषयुक्त भोजन को देखकर कौआ और कोयल विकृत शब्द करने लगते हैं, नकुल और मयूर आनन्दित होते हैं, क्रौंच पक्षी अलसाने लगता है, ताम्रचूड़, (मुर्गा) रोने लगता है, तोता वमन करने लगता है, बन्दर मलत्याग कर देता है, चकोर के नेत्र लाल हो जाते हैं, हंस की चाल डगमगाने लगती है और भोजन पर मक्खियाँ नहीं बैठती। जिस प्रकार नमक डालने से अग्नि चटचटाती है उसी प्रकार विषयुक्त अन्न के सम्पर्क से भी अग्नि चटचटाने लगती है।

(पृ० ५१०, श्लोक ३३८-४०)

पुनः गर्म किया हुआ भोजन, अंकुर निकला हुआ अन्न तथा दस दिन तक कांसे के बर्तन में रखा गया घी नहीं खाना चाहिये।

दही व छाछ के साथ केला, दूध के साथ नमक, कांजी के साथ कचौड़ी या जलेबी, गुड़, पीपल, मधु तथा मिर्च के साथ काकमाची (मकोय), मूली के साथ उड़द की दाल, दही की तरह गाढ़ा सत्तू तथा रात्रि में कोई तिल विकार (तिल से बने पदार्थ) नहीं खाना चाहिये।

(पृ० ५१०; श्लोक ३४१-४४)

घृत एवं जल को छोड़कर रात्रि में बने हुए सभी पदार्थ, केश या कीटयुक्त पदार्थ, तथा फिर से गरम किया हुआ भोजन नहीं करना चाहिये।

अल्पशयन, लघ्वशन, समशन और अध्यशन नहीं करना चाहिये। प्रत्युत बल और जीवन प्रदान करने वाला उचित भोजन करना चाहिये।

अत्यशन	—	भूख से अधिक खाना
लघ्वशन	—	भूख से कम खाना
समशन	—	पथ्य और अपथ्य दोनों खाना
अध्यशन	—	खाए हुए भोजन पर पुनः भोजन करना।

इन चारों का ही त्याग करना अभीष्ट रहता है।

(पृ० ५१३, श्लोक ३४५)

रात्रिशयन या निद्रा

सोमदेव ने सुखपूर्वक पर्याप्त निद्रा को स्वास्थ्य के लिए अत्यावश्यक एवं उपयोगी बतलाया है। उनके अनुसार सुख की नींद सोकर जागने पर मन और इन्द्रियाँ प्रसन्न हो जाती हैं, पेट हल्का हो जाता है और पाचन क्रिया ठीक रहती है। यथा—

अधिगत सुखनिद्रः सुप्रसन्नेन्द्रियात्मा सुलघुजठरवृत्ति-र्भुक्तपक्तिं दधानः। पृष्ठ ५०७

इसी भांति जिस प्रकार खुली स्थाली (पाक पात्र) में अन्न ठीक से नहीं पकता उसी प्रकार पर्याप्त नींद लिये बिना और व्यायामहीन मनुष्य के भोजन का सम्यक् परिपाक नहीं होता। यथा—

स्थाल्यां तथा नावरणाननायामपद्धतितायां च न साधुपाकः।
अनाप्तनिद्रस्य तथा नरेन्द्र व्यायामहीनस्य च नान्नपाकः॥
पृष्ठ ५०७

वेगावरोध का परिणाम—शौच तथा मूत्रविसर्जन की बाधा होने पर उसकी निवृत्ति शीघ्र कर लेना चाहिये। मल और मूत्र का वेग रोकने से भगन्दर व्याधि उत्पन्न हो जाती है। यथा

भगन्दरों स्यन्दविबन्धकाले। पृष्ठ ५०९

अभ्यंग और उद्‌वर्तन

प्राचीन काल में शरीर को तेल मालिश करने के लिए अभ्यंग शब्द का व्यवहार किया जाता था । आयुर्वेद में भी अभ्यंग शब्द ही प्रयुक्त किया गया है । सोमदेव के अनुसार अभ्यंग श्रम और वायु को दूर करता है, बल को बढ़ाता है तथा शरीर को दृढ़ करता है । यथा

अभ्यंगः श्रमवातहः बलकरः कायस्थ दार्ढ्यावतः ।
(पृष्ठ ५०८

उद्‌वर्तन या उबटन शरीर में कान्ति बढ़ाता है, मेद, कफ व आलस्य को दूर करता है—

स्यादुद्‌वर्तनमंगकान्तिकरणं भेदः कफलस्यजित् ।(पृष्ठ ६०८

स्नान—सोमदेव ने स्नान की उपयोगिता प्रतिपादित करते हुए उससे होने वाले लाभ और उसके गुणों का समीचीन वर्णन किया है, जो आयुर्वेद में प्रतिपादित सिद्धान्तों से पूर्ण मेल खाता है ।

यथा- आयुष्यं हृदयप्रसादि वपुषः कण्ड्क्लमच्छेदि च ।
स्नानं देव यथतुसेवितमिदं शीतेरशीतेजले ।। पृ० ५०८

अर्थात् ऋतु के अनुसार ठंडे या गरम जल से किया गया स्नान आयु को बढ़ाता हैं, हृदय को प्रसन्न करता है तथा शरीर की खुजली और थकावट को दूर करता है ।

श्रमधर्मादिहानामाकुलेन्द्रियचेतसाम् ।
तब देव द्विषां सन्तु स्नानपानादनक्रियाः ।। पृष्ठ ५०८

अभिप्राय यह है कि जो शारीरिक श्रम और धूप से पीड़ित हो तथा जिनकी इन्द्रियां और मन व्याकुल हों उन्हें स्नान, खान, पान, नहीं करना चाहिये । क्योंकि ऐसा करने पर अनेक उपद्रव हो सकते हैं, जो निम्न प्रकार हैं—

दग्मान्द्यभागात्तपितोऽम्बुसेवी श्रान्तः कृताशोवमन-
ज्वरार्हः ।
भगन्दरीस्यन्द विबन्धकाले गुल्मी जिहत्सुविहिताशनश्च ।।
पृष्ठ ५०९

अर्थात् धूप में से आकर तत्काल पानी पीने वाला, दृष्टिमांद्य से पीड़ित होता है, परिश्रम के कारण थका हुआ व्यक्ति यदि तत्काल भोजन करता है तो वमन और ज्वर के योग्य होता है । मल-मूत्र के वेग को रोकने वाला भगन्दर और गुप्त रोग से पीड़ित होता है ।

विधि पूर्वक स्नान और तत्पश्चात् करणीय कार्यों की सुन्दर विवेचना सोभदेव द्वारा यशस्तिलक में की गई है । देखिये—

स्नानं विधाय विधवत्कृतदेवकार्यः संतर्पितातिथिजनः सुमनाः सुवेषः ।
आप्तेर्वृत्तौ रहसि भोजनकृत्तथा स्यात् सायं यथा भवति मुक्तिकरोऽभिलाषः ।। पृष्ठ ५०९

अर्थात् स्नान करने के पश्चात् विधिपूर्वक देवपूजा आदि कार्य करके स्वच्छ वस्त्र धारण करे और प्रसन्न मन से अतिथि सत्कार करके आप्त (विश्वस्त) व्यक्तियों के साथ उतना भोजन करें, जिससे सांयकाल फिर से भूख लग जाय ।

अजीर्ण—सोमदेव ने यशस्तिलक चम्पू में अजीर्ण चार प्रकार का बतलाया है । यथा—

१. जौ इत्यादि हल्के पदार्थों के खाने से उत्पन्न ।
२. गेहूं आदि पदार्थों के खाने से उत्पन्न ।
३. दाल आदि दो दल वाले पदार्थों के सेवन से उत्पन्न ।
४. घृत आदि स्निग्ध पदार्थों के सेवन से उत्पन्न ।

इस चार प्रकार के अजीर्ण को दूर करने के लिए चार उपायों का प्रतिपादन भी यशस्तिलक में किया गया है, जो निम्न प्रकार है—

१. जौ आदि से उत्पन्न अजीर्ण को दूर करने के लिए ठंडा पानी पीना चाहिये ।
२. गेहूं आदि से उत्पन्न अजीर्ण को दूर करने के लिए कथित (गरम) जल पीना चाहिये ।
३. दाल आदि द्विदल पदार्थों के सेवन से उत्पन्न अजीर्ण को दूर करने के लिए अवन्तिसोम (कांजी) पीना चाहिये ।
४. घृत आदि के सेवन से उत्पन्न अजीर्ण के लिए कालसेय (तक्र) पीना चाहिये । इसी को सोमदेव ने निम्न प्रकार से निबद्ध किया है—

यवसमिथविदाहिष्वम्बुशीतं निषेध्यं,
क्वथितमिदमुपास्यं दुजरेऽग्ने च पिष्टं ।
भवति विदलकालेऽवन्तिसोमस्य पानं
घृतविकृतिषु पेयं कालसेयं सदैव ।।
पृ० ५११

इस प्रकार आयुर्वेद के अनेक सैद्धांतिक विषयों का विवेचन एवं प्रतिपादन जैन साहित्य के प्रमुख ग्रंथ यशस्तिलक चम्पू में प्राप्त होता है, जिससे अनेक तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है ।

पद्मपुराण में निहित मौलिक सिद्धान्त

कुमारी विभा देवी
(एम. ए., बी. एड., शोध छात्रा), एसोसिएट लेक्चरर
महिला महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।

भारतीय संस्कृति के अनेक स्रोतों में पुराण वाङ्मय का एक महत्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि सभी पुराण सर्ग; प्रतिसर्ग, मनु, मन्वन्तर एवं वंशानुचरित भेद से पंच-लक्षणात्मक या श्रीमत्भागवत् के अनुसार दस लक्षणात्मक हैं तो भी उनमें उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त अनेक प्रकार की सामग्री समय-समय पर पुराण संकलनकर्त्ताओं द्वारा संग्रहीत होती रही।

प्रस्तुत पद्मपुराण सृष्टि, भूमि, स्वर्ग, पाताल एवं उत्तर भेद से पांच खण्डों में विभक्त है। इसके औदिच्य एवं दाक्षिणात्य दो पाठ मिलते हैं। सम्प्रति उपलब्ध दाक्षिणात्य पाठ आनन्दाश्रम एवं वेंकटेश्वर प्रेस के द्वारा प्रकाशित हुआ, पर इन दोनों ने छः खण्डों का निर्देश किया---आदि, भूमि, ब्रह्म, पाताल, सृष्टि और उत्तर।

जिस काल में पद्मपुराण के भिन्न-भिन्न अंशों का प्रणयन हुआ, उस-उस काल में आयुर्वेद के कतिपय प्रसिद्ध आचार्य भी हुए। दोनों का तुलनात्मक कालानुसार अध्ययन करने पर दोनों की उत्तमर्णता एवं अधमर्णता का परिचय प्राप्त हो सकता है--

पद्मपुराण	आदि खण्ड	भूमि खण्ड	ब्रह्म खण्ड	पाताल खण्ड	सृष्टि खण्ड	उत्तर खण्ड
	१०वीं शती	९वीं शती	१४वीं शती	६ से १४वीं शती	६ से १४वीं शती	९ से १५ शती
आयुर्वेद	तीसटाचार्य	वृन्दमाधव		माधवकर	चक्रपाणिदत्त	वंगसेन
	१०वीं शती	९वीं शती		७वीं शती	११वीं शती	१२वीं शती

प्रस्तुत पुराण का प्रणयन ६०० ईस्वी से १५०० ईस्वी के बीच हुआ।

प्रस्तुत पद्मपुराण में आयुर्वेद के अनेक अगों की चर्चा हुई है जिनमें से यहां मौलिक सिद्धान्त से सम्बद्ध सामग्री का निर्देश कराया जा रहा है। सृष्टि-निरूपण एवं गर्भावक्रान्ति के प्रसंग में पद्मपुराण ने आयुर्वेदीय संहिताओं से भिन्न ही कुछ वैशिष्ट्य प्रदर्शित किया है जो कि आधुनिक गर्भावक्रान्ति विज्ञान के साथ कहीं अधिक संगत बैठता है।

सृष्टि विज्ञान

सृष्टि विवेचन पुराणों का आद्य कर्तव्य रहा है। यही कारण है कि इसकी गणना पंचलक्षणों के अन्तर्गत की गयी हैं। सृष्टि के आदि में महाविष्णु ने जब समस्त संसार के निर्माण की इच्छा की तो वे स्वतः तीन स्वरूपवाले हो गये। उनका यह स्वरुप स्रष्टा, पाता एवं संहर्ता के रूप में व्यक्त हुआ। इस सृष्टि के निर्माण के लिए उन्होंने ब्रह्मा का निर्माण किया और इस ब्रह्मा की उत्पत्ति दक्षिण अंग से हुई, इस प्रकार इनका सृजन कर सृष्टि के पालन के लिए उन्होंने अपने वाम अंग से केशव रूप विष्णु का निर्माण किया। इसी प्रकार सृष्टि के संहार के लिए अव्यय रुद्र का सृजन किया और उनकी उत्पत्ति मध्यांग से हुई। इस प्रकार यह पुरुष सत्व, रज एवं तम इन तीनों गुणों से युक्त होने के कारण त्रिगुणात्मक है। कुछ लोग ब्रह्मा को, कुछ लोग विष्णु को और कुछ लोग शंकर को भी त्रिगुणात्मक मानते हैं। वस्तुतः एक ही विष्णु तीन रूप में होकर सृष्टि का निर्माण, पालन और संहार करता है। अतः विद्वानों को इन तीनों में कोई विभेद नहीं करना चाहिए। परमात्मा विष्णु की यही आद्या प्रकृति है जो कि विश्व के समस्त भूतों का मूल कारण है। इसी को विद्या-अविद्या भी कहा गया है। यही आद्या प्रकृति भाव-अभाव स्वरूप, जगत् का कारण और सनातन है। इसी को तीन मूर्तियां ब्राह्मी, लक्ष्मी और अम्बिका हैं। जिस प्रकृति को सृष्टि, स्थिति और विनाश को नियुक्त कर आद्य पुरुष उन्हीं में अन्तर्हित हो जाता है। जिसकी आज्ञा से ब्रह्मा ने महाभूतों की रचना की है। वे पंच महाभूत हैं—पृथ्वी, आकाश, वायु, जल और अग्नि। भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्य आदि की सृष्टि इनसे हुई है। ब्रह्मा ने अतल की सृष्टि की। अतल के नीचे वितल, वितल के नीचे सुतल, सुतल के नीचे तलातल, तलातल के नीचे महातल, महातल के नीचे अर्थात् सबके अन्त में रसातल और उसके नीचे पाताल की सृष्टि की। इस प्रकार सातों लोकों की स्थिति क्रमशः एक-एक के नीचे बतायी गयी है। देवताओं के निवास के लिए रत्न से युक्त चोटी वाले महापर्वतों का निर्माण पृथ्वी के बीच में किया गया और ये महागिरि स्वर्ण की आभा वाले हैं। इसी प्रकार विष्णु ने मन्दर, चरम, त्रिकूट, उदयाचल प्रभृति अनेक पर्वतों का निर्माण किया। इसी लोकालोक के बीच में सप्तसागर और सप्तद्वीप है, उनमें से जम्बुद्वीप और प्लक्षद्वीप श्रेष्ट माने गये हैं, जम्बुद्वीप से दुगुना लक्षद्वीप और लक्षद्वीप से दुगुना शाल्मलिद्वीप बताया गया है। ये सातों द्वीप सातों सागर ले वेष्टित हैं। सागर लवण-इक्षु-सुरा-सर्पि-दधि-दुग्ध एवं जल इस प्रकार संख्या में सात हैं। ये भी समुद्र परस्पर एक-दूसरे से क्रमशः दुगुने हैं। इतने दुगुने हैं कि लोकालोक पर्वत से भी दुगुने। प्रत्येक द्वीप में ब्रह्मा ने वृक्ष, गुल्म, लतादि का निर्माण किया है। इतना ही नहीं, उसने तिर्यग्योनिगत अनेक प्राणियों की भी सृष्टि की है। इसके अतिरिक्त सुर, मनुष्य, नाग, विद्याधर प्रभृति का भी निर्माण इनके द्वारा हुआ है।[1]

सृष्टि विज्ञान का प्रस्तुत वर्णन पद्मपुराण के 'उत्तर-खण्ड' के 'क्रियायोगसागर' में निहित है। इसके अन्य प्रकरण में क्रिया योग के द्वारा परमवैष्णव व्यक्ति के वैशिष्ट्य का चित्रण किया गया है।

पञ्चमहाभूत से सृष्टि निर्माण—

शौनक एवं सूत के संवाद के माध्यम से इस स्थल में आदि सर्ग का निरूपण किया गया है और इसी के द्वारा ही सनातन रूप परम आत्म-स्वरूप भगवान का ज्ञान होता है। सृष्टि के प्रलय के अनन्तर कुछ भी नहीं था, यदि था तो केवल एक मात्र ब्रह्म ही जो कि सर्व समर्थ ज्योति के रूप में उपस्थित था, मुमुक्षुओं ने इस ब्रह्म को नित्य, निरंजन, शान्त, निर्मल, आनन्दसागर एवं स्वच्छ पद से अभिहित किया है। यह ज्ञान स्वरूपात्मक होने के कारण सर्वज्ञ है। यही कारण है कि इसे अनन्त, अज, अव्यय, अविनाशी, सदास्वच्छ, अच्युत, व्यापक एवं महत् कहा गया है। (प० पु०, ३।२।१-४)।

जब सृष्टि-निर्माण का अवसर प्राप्त होता है तो वही ज्ञानस्वरूपात्मक ब्रह्म अपने में लीन विकार का निर्माण करने का उपक्रम आरम्भ कर देता है। उस ब्रह्म से प्रधान उद्भूत हुआ, और उससे महान् एवं सात्विक, राजस एवं तामस भेद से महान का तीन भाग कर दिया गया। जिस प्रकार बीज त्वचा से आवृत होता है, उसी प्रकार प्रधान से यह सब आवृत है और इसी त्रिविध महत्तत्व से ही वैकारिक तैजस एवं भूतादि त्रिविध अहंकार उत्पन्न हुए हैं। यह पुनः भूतादि की विकृति को करता हुआ सर्वप्रथम शब्दतन्मात्रा को उत्पन्न करता है। शब्दतन्मात्रा से शब्द लक्षणात्मक आकाश का सृजन होता है, भूतादि शब्दतन्मात्रा तथा आकाश को समावृत करता है। शब्दतन्मात्रा तथा आकाश स्पर्शतन्मात्रा का सृजन करते हैं। वायु बलवान् है और स्पर्श ही उसका प्रधान गुण होता है। आकाश शब्दतन्मात्रा को समावृत करता है। पुनः विकार को प्राप्त हुआ वायु रूप तन्मात्रा का सृजन किया करता है। उस वायु से ज्योति की उत्पत्ति होती है जिसका गुण रूप ही होता है। स्पर्श तन्मात्रा और वायु रूपतन्मात्रा को समावृत किया करता है। पुनः ज्योति विकृत होता हुआ रसतन्मात्रा का सृजन करता है। इसके अनन्तर जल की समुत्पत्ति होती है जिसका गुण केवल रस होता है। रस मात्रा जल और रूप को आवृत किए हुए है। विकार को प्राप्त हुआ जल गन्धतन्मात्रा का सृजन करता है और उस गन्धतन्मात्रा से इस पृथ्वी की उत्पत्ति हुई है। वह सब भूतों के गुणों वाली होती है। उसका गुण गन्ध बताया गया है। उसमें जो तन्मात्राएं होती है वे उसी से समावृत हुआ करती है। ये तन्मात्राएं अविशेष हैं और विशेष दूसरे क्रम से होते हैं। यह भूत तन्त्राओं का सर्ग तामस अहंकार से उत्पन्न बताया गया है[२]।

इन्द्रियां तैजस हैं और इनके वैकारिक दश अधिष्ठातृ-देवता होते हैं। दश इन्द्रियों के अतिरिक्त एक मन की भी इसमें गणना की गयी है। दश इन्द्रियों में पांच ज्ञानेन्द्रियां-श्रवण, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और नासिका और पांच कर्मेन्द्रियाँ वायु, उपस्थ, हस्त, पाद और वाक् हैं। शब्द आदि के ज्ञान की सिद्धि के लिए ही ये बुद्धि से युक्त पञ्च ज्ञानेन्द्रियां होती हैं। पञ्चकर्मेन्द्रियों का क्रमशः कर्म है-मल त्याग, आनन्द, वस्तुओं का आदान-प्रदान, गमन एवं उक्ति (प० पु०, ३।२।१८।२२)।

आकाश-वायु-तेज-जल और पृथ्वी ये शब्दादि उत्तरोत्तर गुणों से संयुक्त हुआ करते हैं। जब ये पृथक-स्वरुप वाले होते हैं तो संहति के बिना अनेक प्रकार के वीर्यवाले हुआ करते हैं। पूर्णतया ये समुन्नत होकर भी प्रजा का सृजन करने में समर्थ नहीं होते हैं। सभी परस्पर मिलकर एक दूसरे से संयुक्त होकर आश्रय ग्रहण करते हुए भी पुरुष के अधिष्ठाता होने तथा प्रधान के अनुग्रह को प्राप्त कर महत् आदि विशेष पर्यन्त वे सब अण्ड की उत्पत्ति किया करते हैं। वह अण्ड जो आरम्भ में उत्पन्न हुआ है सदा जल के बुद्बुदे के समान विशेष वृद्ध होता है। भूतों से ही यह अण्ड वृद्ध होता है और उदक में उसका आश्रय रहता है। ब्रह्म के स्वरुप वाले भगवान् विष्णु का वह अत्युत्तम प्राकृत स्थान है। वहां पर अव्यक्त स्वरुप वाला यह विष्णु विश्व का स्वामी-प्रभु ब्रह्म रूप में समास्थित होकर स्वयं ही उसमें व्यवस्थित होते हैं। उनसे स्वेदज, अण्डज, जरायुज एवं महीधर हुए और उसी महत् स्वरूप वाले से गर्भोदक एवं समुद्र उत्पन्न हुए। पर्वत-द्वीप और समुद्र सहित वह ज्योति लोकों का

संग्रह है. और उसी अण्ड में ही देव-असुर एवं मानव सभी हुए, अनादि निधन भगवान् विष्णु की नाभि से जो कमल उत्पन्न हुआ वही केशव की इच्छा से स्वर्णपिण्ड हो गया। भगवान् विष्णु स्वतः रजोगुणधारी हैं और वही ब्रह्म रूप में स्थित हो जगत् के लिए प्रविष्ट होते हैं[3]।

शरीरदोष वर्णन

पद्मपुराण ने ययाति एवं मातलि के संवाद के माध्यम से शरीरदोष का वर्णन किया है। ययाति का मातलि के प्रति यह प्रश्न था कि यह काय धर्मरक्षक होने के कारण आत्मा के साथ स्वर्गलोक को क्यों नहीं जाता ? ययाति के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए मातलि के कहा कि पञ्चभूतों की संगति कथमपि सम्भाव्य नहीं है। आत्मा के साथ यह पञ्चभूत कभी नहीं रह पाते। अतः इनका संघात कायरूपी शरीर में है। वृद्धावस्था में पीड़ित होने के कारण सभी अपने-अपने स्थान पर चले जाते हैं। जिस प्रकार रस विशिष्ट पृथ्वी विचरित है और उस अवस्था में यदि उसे रस द्वारा और भी क्लिन्न किया जाय तो उसमें और भी मृदुता आ जाती है उसी प्रकार यह पृथ्वी पीपिलिका और मूषिकों द्वारा भेदी जाती है, इतना ही नहीं वल्मीक द्वारा उसमें छिद्र भी हो जाते हैं, ठीक उसी प्रकार से इस काय में गंडमाला, विर्चाचिका आदि रोग हो जाते हैं और विविध प्रकार के कियाओं द्वारा यह शरीर भेद्य किया जाता है। इस शरीर में गुल्म हो जाते हैं जो कि सद्यः पीड़ा देने वाले होते हैं। इस प्रकार के दोषों से यह काय संयुक्त है।[४]

शरीरोत्पत्तिपूर्व शरीरवर्णन

शरीरोत्पत्ति के पूर्व शरीर स्वरूप का वर्णन करते हुए पद्मपुराणकार कहता है कि जो नारकी पुरुष होते हैं उनका केवल अधर्म से ही क्षणमात्र में भूतों से यह शरीर समुन्नत हो जाता है, ठीक उसी भांति देवों का केवल धर्म से औपचारिक शरीर तुरन्त उत्पन्न हो जाता है। यह शरीर भूतों के सार से परम दिव्य होता है। महान् आत्मा वाले पुरुषों का व्यति मिश्रित कर्म से यह शरीर चार परिणामों से जाना जाता है। प्रथम उद्भिज्ज—जो स्थाविर का होता है। ये तृण—गुल्मादि के रूप में भूमिका का उत्भेदन करके उत्पन्न होते हैं। द्वितीय स्वेदज—जो कृमि कीटादि शरीरधारी होते हैं, इनकी स्वेद से उत्पत्ति होती है। तृतीय अण्डज—जो सर्प, नक्र एवं सभी पक्षी होते हैं, इनकी अण्ड से उत्पत्ति होती है और चतुर्थ जरायुज—जिनमें मनुष्य एवं सभी चतुष्पद हुआ करते हैं। इनका शरीर एक जेर से लिपटा रहता है अतः जरायुज कहते हैं।

(प० पु०, २। ६६। १-७)

यह भूमिजल से सिक्तहोकर सूर्य की उष्णतासे पाचित हुआ करती है। पुनः वायु के द्वारा धम्यमान होकर ही यह क्षेत्रता को प्राप्त करती है। जब भूमि में क्षेत्रता की शक्ति आ जाती है तो उसमें बीजों का वपन किया जाता है। पुनः जल से उसका सिञ्चन किया जाता है। तभी बोये हुए बीज मृदुता को प्राप्त होकर मूलभाव को प्राप्त हो जाती है। तत्पश्चात् जड़ें निकला करती है और उनसे पौधों की उत्पत्ति होती है, उस मूल से जो बोये हुए बीज के मृदु होने पर उसमें से निकला करता है, वह जब भूमिमें अपनी स्थिरता प्राप्त कर लेता है तो उस से फिर अंकुर निकलता है और उससे छोटे-छोटे लाल पत्ते निकलते हैं, उन पत्तों से नाल की उत्पत्ति होती है पुनः उससे काण्ड उत्पन्न होता है और उस काण्ड से प्रभव एवं प्रभव से क्षीर होता है। तण्डुल से औषधियां परिपक्व होती हैं, यवादि से शालि तक श्रेष्ठ सत्रह बतलायी गयीहैं। फल को सार से आढ्य शेष औषधियाँ क्षुद्र बतायी है। ये सब कार्य हुए एवं मर्दन की हुई मुनियों के द्वारा प्रथम संस्कार की गयी है। अन्नों का सस्कार शूर्प-उलूखन, पात्र, स्थाली उदक और वह्नि द्वारा किया जाता है।

(प० पु०, २। ६६। ८-१३)।

छः प्रकार की ये औषधियां अपनी-अपनी भिन्नता से परिणाम को प्राप्त होती है। आपस में एक दूसरे के संयोग से विभिन्न स्वाद को प्राप्त किया करती हैं।

(प० पु० २। ६६। १४)।

पद्मपुराण ने खाद्य के ६ भेद माने हैं—[५]

भक्ष्य—जो चबाकर खाने वाले पदार्थ है।
भोज्य—सामान्य तथा खाये जाने वाले पदार्थ।
पेय—पीये जाने वाले पदार्थ।
लेह्य—चाट कर खाने वाले पदार्थ।
चोष्य—चूस कर खाने वाले पदार्थ तथा
खाद्य—राँधकर खाये जाने वाले पदार्थ।

'भाव प्रकाश (१६ वीं शताब्दी) ने भी सभी ६ प्रकार के खाद्यों का परिचय दिया है।[६]

पद्मपुराण ने इन्हीं ६ को खाद्य का अंग माना है और मधुरादि गुण अर्थात् मधुर, लवण, कषाय, कटु, तिक्त एवं अम्ल बताये हैं।

(प० पु०, २। ६६। १५।)

इस अन्न को पिण्ड के द्वारा देहधारी खाते हैं और वह अन्तः स्थूलाशय में क्रम से समस्त प्राणों को स्थापित किया करता है। वायु के द्वारा आनीत आहार दो भागों में विभक्त कर दिया जाता है। यह अन्न मध्य में प्रवेश करके जो पक्व होता है, उसे पृथक् गुण वाला कर देता है। जल के नीचे प्राण स्वयं स्थित होकर धीरे-धीरे अग्नि का धमन किया करता है। वायु के द्वारा यह उस जठराग्नि द्वारा धमन किया जाता है तो उस जल से अत्यन्त उष्ण कर दिया जाता है। वह अन्न उसकी उष्णता के योग से पुनः सभी ओर से पचता हैं। उस परिपक्व अन्न के भी दो भाग होते हैं। प्रथम 'रस' और द्वितीय किट्ट। किट्ट में कुछ भी सार नहीं रहता है। यह किट्ट बारह प्रकार के मलों के स्वरूप में होकर शरीर से बाहर निकला करता है और भिन्न हो जाता है। बारह मलों के निस्सरण द्वार—कर्ण, अक्षि, जिह्वा, दन्त, ओष्ठ, प्रजनेन्द्रिय, गुद, स्वेद, विष्ठा एवं मूत्र मार्ग हैं।[७]

प० पु० के अनुसार हृदयरूपी पद्म में चारों ओर से सभी नाड़ियां प्रतिबद्ध हैं। यह प्राणवायु उन सम्पूर्ण नाड़ियों के मुख में उस रस को स्थापित किया करता है। समस्त नाड़ियाँ उस रस से प्राण के द्वारा पुनः पूरित की जाती है। फिर ये सब नाड़ियाँ सभी ओर से सम्पूर्ण देह को संतृप्त किया करती है। इसके पश्चात् नाड़ियों के मध्य में स्थित रस शारीरिक उष्मा से पकाया जाता है और पकता हुआ वह फिर दो प्रकार का पाक प्राप्त किया करता है। इससे ही त्वचा-मांस-अस्थि - मज्जा - मेदस और रुधिर की उत्पत्ति होती है। रक्त से लोम और मांस, मांस से केश एवं स्नायु, स्नायु से मज्जा और अस्थियाँ, अस्थियों से वसा तथा मज्जा और मज्जा से शुक्र की उत्पत्ति होती है जो प्रसवात्मक होता है।[८]

पद्मपुराण का यह कथन आयुर्वेदिक दृष्टिकोण से सर्वथा अशास्त्रीय प्रतीत होता है क्योंकि सभी आयुर्वेदिक ग्रन्थों में रस धातु का मल कफ; रक्त का पित्त; मांस का खमल; मेदस् का स्वेद; अस्थि का केश, लोम, नख एवं अश्रु तथा मज्जा का त्वक् एवं अक्षि विट् कहा गया है तथा रस का उपधातु स्तन्य; रक्त का कण्डरा और सिरा; मांस का वसा तथा त्वचा एवं मेदस् का स्नायु कहा गया है।[९]

पद्मपुराण ने इन्हें बारह अन्न का प्रमाण माना है इसका मुख्य परिणाम शुक्र है क्योंकि शुक्र से ही देह की समुत्पत्ति हुआ करती है। (प० पु०, २।६६।२७)।

गर्भावक्रान्ति

स्त्री का जब ऋतुकाल उपस्थित होता है उस समय में जब शुक्र उसकी योनि में संस्थित होता है तब वह वायु द्वारा संस्थित होता हुआ उसके रक्त के साथ एकता को प्राप्त हो जाता है। पुरुष के वीर्य का जिस समय विसर्ग होता है तो संयुक्त जीव होता है। वह जीवात्मा अपने ही कर्मों से नियन्त्रित होता है और स्त्री की योनि में प्रवेश करता हैं। स्त्री के रक्त के साथ जो शुक्र मिलता है वह एक दिन में कलल स्वरूप हो जाता है जब पांच दिन हो जाते हैं तो वही कलल बुद्बुद हो जाता है। एक मास में मांस जैसा होकर पुनः उसके पंचांग—ग्रीवा, सिर, स्कन्ध, पृष्ठ, वंश एवं उदर बन जाते हैं। दो मांस में हाथ-पैर, दोनों पार्श्व, कटि, गात्र एवं पर्व क्रम में उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार उसके आकार की रचना होती है। तीन मांस में सैकड़ों अंकुर एवं सन्धियाँ उत्पन्न हो जातीं हैं। चार महीने समाप्त होने पर क्रमानुसार उस गर्भ में स्थित शरीर की अंगुली आदि उत्पन्न होती हैं। पांच मास में मुख, नासिका एवं दोनों कर्ण दाँतों की पंक्ति तथा नख उत्पन्न हो जाते हैं। ६ मास में दोनों कर्ण में छिद्र, गुद, उपस्थ, मेद्र तथा शिश्न तथा सात मास का जब गर्भ हो जाता है तो उसके सम्पूर्ण सन्धियाँ हो जाती हैं और वह गर्भस्थ प्राणी के शिर-केश तथा अङ्ग-प्रत्यङ्ग सभी से पूर्णतया समन्वित हो जाता है। अष्टम मांस में सभी अवयव विभक्त होकर स्पष्ट दिखाई पड़ने लगते हैं। यह पञ्चात्मक समायुक्त होकर पूर्ण परिपक्व होकर स्थित रहता है (प० पु०, २/६६/२८—३७)।

विभिन्न आयुर्वेदीय संहिताओं के प्रकाश में

मास	चरक[10]	सुश्रुत[11]	वाग्भट[12]	वि० ध० पु०[13]
प्रथम	श्वेतभूत और अव्यक्त विग्रह	कलल	कलल	कलल
द्वितीय	घन, पिण्ड, पेशी अर्बुद	शीत उष्मा एवं वायु के द्वारा घनीभूत पिण्ड या पेशी या अर्बुद ।	घन, पिण्ड, पेशी या अर्बुद	घन
तृतीय	समस्त इन्द्रियां तथा समस्त अंगों के अवयव एक साथ उत्पन्न हो जाते हैं ।	पाँच अवयव प्रकट हो जाते हैं ।	पाँच अवयव प्रकट हो जाते हैं ।	शरीर के अवयव प्रकट हो जाते हैं ।
चतुर्थ	गर्भ स्थिरता को प्राप्त करता है ।	सम्पूर्ण अंग-प्रत्यंग विभाग स्पष्ट हो जाता है तथा चेतना की अभिव्यक्ति हो जाती है ।	अंगों एवं प्रत्यंगों का विभाग स्पष्ट हो जाता है ।	—
पंचम	मांस एवं रक्त की अभिवृद्धि, शोणित का उपचय तथा गर्भिणी कृश हो जाती है ।	मन प्रवुद्ध हो जाता है ।	चेतना की अभिव्यक्ति	त्वचा प्रकट
षष्टम	बल और वर्ण का उपचय. ।	बुद्धि प्रकट हो जाती है ।	स्नायु, सिरा, रोम, बल, वर्ण, नख एवं त्वचा प्रकट हो जाते हैं।	रोएं
सप्तम	सम्पूर्ण भावों की वृद्धि एवं गर्भिणी-कृश हो जाती है ।	सम्पूर्ण अंग-प्रत्यंग का विभाग अति स्पष्ट हो जाता है ।	शरीर सब भावों से पुष्ट हो जाता है । सर्वांग में परिपूर्णता आ जाती है ।	
अष्ठम	ओज की अस्थिरता ।	ओज की अस्थिरता ।	ओज की अस्थिरता ।	आठवें या नौ मास में उद्भ होता है ।

भ्रूण का मासानुमासिक विकास

याज्ञवलक्य[१४]	गर्भोपनिषद[१५]	अग्नि पुराण[१६]	पद्मपुराण[१७]
द्रव के रूप में	एक रात्रि में ठहरा हुआ शुक्र शोणित कलल, सात रात्रि का बुद्बुद् आधे मास में पिण्ड तथा एक मास में कठोर हो जाता है ।	कलल	शुक्र-शोणित एक दिन में कलल, पांच दिन में बुद्बुद् एवं एक मास में मांस जैसा होकर उसके ग्रीवा, शिर, स्कन्ध पृष्ठवंश एवं उदर पंचांग बन जाते हैं ।
अर्बुद	गर्भ का शिर बन जाता है ।	धन	हाथ-पैर, दोनों पार्श्व कटि, गात्र एवं पर्व क्रम में उत्पन्न हो जाते हैं।
अगों एवं इन्द्रियों से युक्त होता है ।	तृतीय मास के पश्चात् पाद के लिए अंकुर निकल आते हैं ।	अवयव प्रकट हो जाते हैं ।	सैकड़ों अंकुर और सन्धियां उत्पन्न हो जाती हैं ।
अंगों में स्थिरता	अंगुली और जठर, कटि (श्रोणि) प्रदेश बन जाते हैं ।	अस्थि प्रकट हो जाती हैं।	अंगुली आदि उत्पन्न हो जाती हैं ।
रुधिर उत्पत्ति	पृष्ठ वंश हो जाता है ।	मांस, त्वचा प्रकट हो जाते हैं।	मुख, नासिका, कर्ण, दन्त-पंक्ति एवं नख उत्पन्न हो जाते हैं ।
बल, रंग, नख एवं रोम ।	मुख, नासिका, नेत्र एवं श्रोत विकसित हो जाते हैं ।	रोम निकल आते हैं ।	कर्णों में छिद्र, गुदा, उपस्थ, मेढ्र, शिश्न उत्पन्न हो जाते हैं ।
+	भ्रूण जीवन से युक्त हो जाता है ।	वेदना का अनुभव होने लगता है ।	शरीर में सम्पूर्ण सन्धियां हो जाती हैं, गर्भस्थ के शिर-केश तथा अंग प्रत्यंग सभी पूर्णतया समन्वित हो जाता है ।
ओज की अस्थिरता	सम्पूर्ण लक्षण	अष्टम एवं नवम मास में बड़ा उद्वेग होता है ।	सभी अवयव विभक्त हो स्पष्ट दिखलायी देने लगते हैं और वह पञ्चात्मक समायुक्त होकर पूर्ण परिपक्व हो जाता है, स्थित रहता है ।

प० पु० का यह गर्भावक्रान्ति-सम्बन्धी विचार अन्य पुराणों[१८] एवं स्मृतियों[१९] से भिन्न ही वैशिष्ट्य रखता है।

भ्रूण विकास पर आधुनिक मत :—[२०]

मास **विकास**

प्रथम : शिर एवं पुच्छ स्तर बन जाते हैं। मस्तिष्क एवं नेत्रों के बुद्बुद् सरलता से पहचाने जा सकते हैं। श्रोत्र-बुद्बुद् प्रकट हो जाते हैं तथा आकृति पहचान में नहीं आती।

द्वितीय : ऊपरी ओष्ठ बन जाता है तथा नासा आगे को निकल आती है। तालु का अच्छी तरह विकास नहीं होता। वर्त्म विद्यमान रहती है। बाह्य जनन-अंग बन जाते हैं। हस्त एवं पाद की अंगुलियां स्पष्ट हो जाती है। (Crownrump) मुकुट परिधि की लम्बाई ३० मि० मी० हो जाती है।

तृतीय : शिर बढ़ता है। ग्रीवा लम्बी हो जाती है और शरीर के अंगों का सम्यक् विकास हो जाता है। नख की उत्पत्ति आरम्भ हो जाती है और मुकुट परिधि की ल० १० से०मी० हो जाती है।

चतुर्थ : शरीर पर रोम राजी का प्रादुर्भाव तथा सक्थि-सहित समस्त शरीर की लं० २२ से० मी० हो जाती है।

पंचम : भ्रूण में सर्वप्रथम गति दिखायी पड़ती है। शिर पर केशों का उद्गम आरम्भ हो जाता है। उल्व (Vernixcaseosa) एकत्र होना आरम्भ हो जाते हैं। इस प्रकार शरीर की ल० ३० से० मी० हो जाती है।

षष्टम् : उल्वक पर्याप्त मात्रा में संचित हो जाते हैं। त्वचा के सूक्ष्म अंकुरों का विकास तथा उसके अन्तः स्तर से नख के प्ररोहों की धारा पृथक हो जाती है, शरीर की समस्त लम्बाई ३० से० मी० एव भार एक किलोग्राम हो जाता है।

सप्तम : कनीनक कला अवशुष्क, नेत्र के वर्त्म खुले हुए, अण्ड भाग का अवतरण, त्वचा लाल एवं झुरीदार हो जाती है। शरीर की समस्त लं० ४० से० मी० एवं भार १.५ किलोग्राम हो जाता है।

अष्टम : त्वचा पूर्णतया उल्व एवं रोम से आवृत होने के पश्चात् उससे अलग होनी आरम्भ हो जाती है। भ्रूण का स्वस्थ शरीर में एक लोथड़े (Plump) के रूप में प्रकट हो जाता है तथा इसकी लं० ४५ से० मी० एवं भार २ से २.१/२ किलोग्राम हो जाता है।

नवम : (Trunk) अन्तराधि से लोभ अधिकतर विलीन हो जाते हैं तथा नाभि शरीर के मध्य स्थित हो जाती है तथा अण्डकोषों में आ जाते हैं। सम्पूर्ण शरीर की लं० ५० से० मी० तथा भार ३.५ से ३.१/२ किलोग्राम तक हो जाता है।

गर्भस्थ प्राणी की माता जो भी आहार करती है, उसी की शक्ति से वह जीवित रहा करता है। माता जो भी ६ प्रकार के रस ग्रहण करती है, उसे प्राप्त होता रहता है। यह उसे नाभि के नालसूत्र से बद्ध रहता है' इस प्रकार वह दिनों दिन वृद्धि प्राप्त करता है।

(व० फ०, २।६६।३८)

इसके उपरान्त जीवात्मा स्मृति को प्राप्त करता है और सम्पूर्ण शरीर में सुख-दुःख एवं पुराकृत निद्रा-स्वप्न को जान जाता है। उसे उस समय में यह सभी ज्ञान होता है कि मैं अमुक शरीर में अमुक था और इस तरह से मेरी मौत हो गयी थी फिर मैंने जन्म ग्रहण किया और पुनः मैं मर गया। इस प्रकार मैंने सहस्र योनियां देखी है, बराबर जन्म लेता और मरता हूं। उस गर्भ की दशा में उसका यह सब स्पष्ट ज्ञान एवं स्मृति होती है। वह सोचता है कि पुनः जैसे ही मेरा जन्म होगा वैसे संस्कार होने पर अपना श्रेयपूर्वक कार्य करूंगा जिससे फिर इस गर्भ में आना न पड़े और मेरा छुटकारा हो जावे (प०पु०, २।६६।३९-४१)।

जिस समय में यह प्राणी गर्भ में स्थित रहता है, उस समय तो वह यही चिन्तन किया करता है कि ज्यों मैं गर्भ से बाहर निकलूंगा वैसे ही मैं परम ज्ञान का अध्ययन करूंगा, जिस ज्ञान के जान लेने पर फिर मेरा इस संसार के आवागमन से छुटकारा हो जावे। अवश्य ही गर्भ में स्थित जीवात्मा गर्भ दुःख से महान् पीड़ा युक्त होता है। यह जीव कर्मों के वशीभूत रहता है किन्तु फिर भी इसे सांसारिक बन्धन से मुक्ति पाने का उपाय अवश्य सोचना

चाहिए। जिस प्रकार से किसी पर्वत के नीचे दबा हुआ व्यक्ति बहुत ही दुःख का अनुभव करता हुआ वहां पड़ा रहता है उसी प्रकार जरायुज से वेष्ठित यह देही दुखित होकर के वही स्थित रहता है। जैसे कोई विशाल सागर में गिर जाने पर अत्यन्त बेचैन होकर दुःख भोगता है उसी प्रकार यह देही गर्भोदक के द्वारा सिक्तांग हो व्याकुल होकर वही पड़ा रहता है। लोहे के पात्र में पड़ा हुआ जैसे कोई प्राणी अग्नि के द्वारा पकाया जावे तो उसे जिस प्रकार की वेदना होती है उसी प्रकार गर्भकुम्भ में पड़ा हुआ प्राणी माता की जठराग्नि से पकता हुआ कष्ट पाता है। इस प्रकार गर्भ का निवास सबसे अधिक दुःखदायी निवास होता है। इस प्रकार का दुःख अन्यत्र नहीं होता। यह गर्भवास का कष्ट एवं पीड़ा सभी को अपने-अपने गर्भ के अनुसार होता है (प० पु. २।६६।४२-४९)।

गर्भावास में जो पीड़ा होती है वह तो है ही उससे करोड़ों गुना पीड़ा उस समय होती है वह योनि-यन्त्र से बाहर निकलता है (प० पु०, २।६६।५०)। गर्भ की स्थिति में रहते हुए उसका मुख तो नीचे की ओर होता है और वह मोह के जाल में अच्छी तरह बंधा हुआ रहता है (प० पु०, २।८।१)।

प्राणों से भी अधिक बलवान् वायु के द्वारा गर्भ सञ्चालित किया जाता है। उस समय स्त्री का योनिद्वार विकसित होकर २४ अंगुल चौड़ा हो जाता है किन्तु यह गर्भस्थ बालक २५ अंगुल के प्रमाण वाला होता है, निकलने के योनिद्वार से भी एक अंगुल अधिक चौड़ा। अतः उस समय में उसके निष्क्रमण करने में अत्यधिक पीड़ा होती है और यही कारण है कि तन्त्री के द्वारा खिंचे गये तार की भांति उसके सभी अङ्गों पर भिचाव की महान् पीड़ा होती है और वह सम्पीड़ित होकर मूर्छा से बेहोश हो जाता है। गर्भ के घोर निवास-स्थल से वह किसी प्रकार से महान् कष्टों का अनुभव करते हुए ज्ञान तथा ध्यान से संयुक्त होकर भूमि के ऊपर गिरता है और प्राजापत्य दिव्य वायु के द्वारा वह पृथक किया जाता है। (प०पु०, २:८।१३।१५)।

यौनि से जब वह प्राणी यन्त्र पीडन से गिराया जाता है तब वह अस्थियों वाला गोल आकार में स्थित स्नायु-बन्धन से वेष्ठित रहता है। रक्त, मांस एवं वसा से लिपटा एवं मल-मूत्र द्रव्य का पात्र रहता है। केश, लोम, एवं नखों से आच्छन्न तथा रोगों का उत्तम घर जैसा रहता है। वह जरा एवं शोक से समाविष्ट तथा काम एवं क्रोध से अच्छी तरह आक्रान्त एवं राग-द्वेष के वश में रहता है। श्वासों से उपमर्दित तथा भोगों के भोगने की चिन्ता उसे हर समय रहती है। उसका प्रत्येक अंग जरायु से ढंका रहता है। विष्ठा एवं मूत्र से उसके सभी अङ्ग सिक्त होते हैं और वह षट्कौशिक[21]से समुद्भव वाला होता है (प० पु०, २।६६।५१-५८।

अस्थि

पद्मपुराण के अनुसार अस्थि के पञ्जर का संघात ही इस काय में यत्र होता है (२।६६।५९)। वास्तव में शरीर का मूलाधार अस्थि है जिस प्रकार वृक्ष अपने तनों पर खड़े हैं उसी प्रकार शरीर की सभी धातुएं इसी में संलग्न हैं और इसी में मांस-पेशियों, स्नायु आदि निबद्ध हैं[22]। इसके अतिरिक्त उन्होंने शरीर धारण करने के अतिरिक्त मज्जा की पुष्टि करना भी इसका एक कर्म बताया है[23]। जहां तक अस्थि की संख्या का प्रश्न है वहां पद्म पुराण ३६० मानते हैं (२।६६।६०)। चरक, कश्यप, याज्ञवल्क्य[24] एवं अष्टांग संग्रह[25]सभी वेदवादी भी ३६० अस्थियां मानते हैं पर सुश्रुत ने ३०० अस्थियां मानी हैं। आधुनिक शरीरविद् इनकी संख्या २०६ बतलाते हैं।

पेशी--

प० पु० में पेशी की संख्या ५०० बताई गई है (२।६६।६०) याज्ञवल्क्य[25]ने ५०० पेशियों का परिसंख्यान किया है। इसके अतिरिक्त सुश्रुत शा०।५३९) और अष्टांग संग्रह (शा०,५।९०) ने स्त्रियों में २० पेशियां और अधिक मानी है जिसका अनुसरण पद्मपुराण ने किया।

रोम एवं नाड़ियाँ—

प० पु० कार (२।६६।६०) ने रोम एवं नाड़ियों की संख्या साढ़े तीन करोड़ बतायी है।

इस प्रकार प० पु० कार ने इनकी गणना कर यह बतलाने का प्रयास किया है कि ३६० अस्थियों, साढ़े तीन करोड़ रोम एवं नाड़ियों तथा ५०० पेशियों से प्राणी का

देह समन्वित होता है । उनसे प्रकृत स्वेद वाला और अशुचि यह शरीर अन्दर से रहता है । इस शरीर में बत्तीस दन्त एवं बीस नख होते हैं (प० पु०२।६६-६१-६२)।

शरीरस्थ घटकों का अञ्जलि प्रमाणः

शरीरस्थ विभिन्न-धातु उपधातु एवं मलों के परिमाण का निर्देश चरक (शा०,७।१६) ने सर्वप्रथम किया है। सुश्रुत इस विषय में सर्वथा मौन है पर वृद्धवाग्भट्ट (अष्टांग संग्रह। शा०।५।९८) ने इसका निर्देश किया है। अग्निपुराण (३७०।३६-४३) ने विष्णुधर्मोत्तरपुराण (११।११५।९२-९४) से अक्षरशः पद्यबद्ध रूप में सन्दर्भ को उतार कर अष्टांग संग्रह के आधार पर वर्णन किया है। प० पु० ने इस अञ्जलि प्रमाण में उपर्युक्त दोनों आयुर्वेदीय संहिताओं के वर्णन से कुछ संक्षिप्तता आ गयी है। प्रथम यह कि चरक और वाग्भट ने उदक की दश अञ्जलि का निर्देश किया है जो कि प० पु० में सर्वथा अनुल्लिखित है। चरक ने दुग्ध की अञ्जलि का निर्देश बिलकुल नहीं किया है। वाग्भट ने उनकी मात्रा दो अञ्जलि बतायी है पर प० पु० ने उसको समाविष्ट नहीं किया यद्यपि चरक द्वारा अनुल्लिखित आर्त्तव की चार अञ्जलि का उल्लेख वाग्भट ने किया है किंतु प० पु० मौन है। प० पु० के अञ्जलि प्रमाण-वर्णन में एक वैशिष्ट्य यह है कि इस शरीर में दस पल [27] शोणित, अर्द्ध आढक[28] श्लेष्मा, एक सहस्र पल मांस, एक कुडव[29] शुक्र, पन्द्रह पल कलल, एक पल वातार्बुद, तीन पल महारक्त, बारह पल मज्जारक्त तथा विष्ठा एवं मूत्र प्रमाण के अनुसार रहता है। इस प्रकार यह देहधारी घर होता है जिसमें नित्य आत्मा का निवास होता है।[30]

शरीरस्थ कतिपय घटकों का अञ्जलि-प्रमाण

घटक	चरक	वाग्भट	वि. ध. पु.	अग्निपुराण	पद्मपुराण
स्वेदोदक	१० अञ्जलि	१० अञ्जलि	X	X	X
रस	९ "	X	X	X	X
शोणित	८ "	X	X	X	१० पल
पुरीष	७ "	X	X	X	X
श्लेष्मा	६ "	X	X	X	१/२ आढक
पित्त	५ "	X	X	X	१ कुडव
मूत्र	४ "	X	X	X	X
वसा	३ "	X	X	X	३० पल
मेदस्	२ "	X	X	X	१० पल
मज्जा	१ "	X	X	X	X
मस्तिष्क	१/२ "	X	X	X	X
शुक्र	१/२ "	X	X	X	१/२ कुडव
श्लेष्मिकओजस	१/२ "	X	X	X	X
मांस	X	X	X	X	एक सहस्र पल
दुग्ध	X	२ अञ्जलि	X	X	X
आर्त्तव	X	४"	X	X	X
कलल	X	X	X	X	१५ पल
वातार्बुद	X	X	X	X	१"
महारक्त	X	X	X	X	३"
मज्जारक्त	X	X	X	X	१२"

गर्भस्थ देही अशुचिता:—

विशुद्ध आत्मा का यह शरीर अशुद्ध होता है तथा कर्मों के बन्धनों मे ही इसका निर्माण हुआ करता है। शुक्र एवं शोणित के संयोग मे ही देहोत्पत्ति होती है। यह नित्य ही विष्ठा और मूत्र से संयुक्त रहता है, अत: अत्यन्त अशुचि कहा गया है। जिस प्रकार कोई घट भीतर विष्ठा से परिपूर्ण होता है तथा बाहर से शुचि दिखायी देता है, उसी प्रकार यह शरीर होता है। चाहे शौच के द्वारा इसे शुद्ध भी किया जाय तो यह अपवित्र ही रहता है। जिस शरीर में अत्यन्त पवित्र पंचगव्य[31] और हवियां प्राप्त होती हैं वे शीघ्र ही वहां पहुंचकर अशुचि ही रहता है। परम अन्न भी अशुचिता को प्राप्त कर लेते हैं। कफ-मूत्र-मलादि से अपवित्र यह देह अशुद्ध ही रहता है। इस देह का कोई भी भाग पवित्र नहीं है। दिन या रात्रि में मिट्टी और जल से हाथ शुद्ध किया जाता है तो भी वह अशुचि ही रहता है। यदि इसका उत्तम धूप एवं सुगन्धित पदार्थों के द्वारा संस्कार भी किया जाय तो भी कुत्ते के पूंछ की भांति टेढा ही रहेगा। अपनी दुर्गन्ध को सूंघता हुआ अपनी नासिका को पीड़ा देता हुआ भी वह इस लोक से विरक्त नहीं होता। शरीर से आसक्त रहता है। इस मोह की सबसे बड़ी महिमा ही यह है कि सम्पूर्ण जगत इसके कारण व्यामोहित होता है।[32] यह अशुचि आत्मा वाला मानव कितने ही तीर्थों का भ्रमण उनमें (गंगा) स्नान एवं तपश्चर्या करे, शुद्ध नहीं हो सकता। तीर्थों के जल से मूत्र प्रक्षालन से भी शुद्धि को नहीं प्राप्त कर सकता क्योंकि उसका अन्तर्भाव दूषित होता है। वह चाहे अग्नि भी अन्दर क्यों न जलावे या स्वयं अग्नि में प्रवेश कर जाये तो भी शुद्धि को नहीं प्राप्त कर सकता। इस देह के निर्देहन करने में स्वर्ग एवं अपवर्ग भी प्रमुखता नहीं रखते। समस्त कार्यों के भाव की शुद्धि ही सब से प्रधान शौच होता है।

(प० पु०, २। ६६। ८०-८६)।

त्रिदोष विज्ञान:—

वात, पित्त एवं कफ के वैषम्य को व्याधि कहा गया है 'वातपित्त कफादीनां वैषम्यं व्याधिरुच्यते।' वातादि का समूह ही देह कहलाता है। इस प्रकार से शरीर व्याधि-मय ही है। वायु आदि से अभिन्न व्याधि देखने में नहीं आती, नाना विध रोगों से देही अन्य प्रकार के दुःख को प्राप्त करता है। इनमें से प्राय: सभी आत्म-वेद्य है।

(प० पु०, २। ६६। ११९-१२१)।

व्याधि वर्गीकरण:—

इस शरीर में मृत्यु १०१ प्रकार की हैं जिसमें से एक काल से संयुक्त और शेष १०० आगन्तुक मानी गयी हैं। (प० पु०, २। ६६। १२२) आगन्तुक व्याधियों का उल्लेख सुश्रुत भी करता है। (सुश्रुत, सूत्र०। १४। ६-७) आगन्तुक व्याधियां भैषज्य के द्वारा शान्त होती हैं किंतु काल मृत्यु जप, होम, दानादि से भी नहीं शान्त होती है। यदि अपमृत्यु न होवे तो कोई भी किसी प्रकार से परेशान नहीं हो सकता। यह पुरूष अपमृत्यु से ही भयभीत है। सर्प इत्यादि सभी प्राणियों को विविध प्रकार की व्याधियां होती हैं। विष और अभिचार प्राणियों के मृत्यु के द्वार बताये गये हैं। धन्वन्तरि स्वयं सभी रोगों से पीड़ित हुए हैं अत: कालज व्याधियों को कोई नहीं शान्त कर सकता। इतना ही नहीं, कालव्याधि को न औषध, दान, माता-बन्धु ही बचा सकता है किन्तु रसायन, तप, जप और सिद्ध-महात्माओं के द्वारा बताये गये मार्ग से कालमृत्यु को जीता जा सकता है।[33]

स्वाभाविक व्याधि:—

सुश्रुत ने क्षुधा का उल्लेख स्वाभाविक व्याधि के सन्दर्भ में किया है।[34] प० पु० ने क्षुधा को समस्त व्याधियों में श्रेष्ठ माना है। क्षुधा एक ऐसी व्याधि है जो तीव्र होने पर समस्त बल का क्षणमात्र में ही विनाश कर देती है। जिस प्रकार अन्य व्याधियों के द्वारा मनुष्य की मृत्यु हो जाती है उसी प्रकार क्षुधा के द्वारा भी। इसके होने पर क्षण के आधे काल में ही प्राण कण्ठगत हो जाते हैं। ऐसे क्षुत् व्याधि से आक्रान्त व्यक्ति के लिए अन्न ही परम औषध है। यदि कोई यह कहे कि निद्रा इसकी चिकित्सा है तो यह कहना उचित नहीं होगा क्योंकि उसमें तो तम गुण की अधिकता होती है और आक्रान्त व्यक्ति को निद्रा नहीं आती। यदि कथंचित् सो कर जाग भी जाय तो उसे सुख नहीं मिलता (प० पु०, २।६६।१४४-१४९)। तोमर और सायक आयुधों से बाधित किए जाने पर जो वेदना उत्पन्न होती हैं उसको

भी क्षुधा से होने वाली वेदना ने जीत लिया। श्वास-कुष्ठ-क्षय-अष्ठोली-ज्वर-अपस्मार और शूल रोगों से जो वेदना होती है, वह भी क्षुधा-वेदना से अधिक नहीं होती। क्षुधा के कारण ऐसी विकलता उत्पन्न हो जाती है कि सुवर्ण के निर्मित केयूर-मुकुट-कुण्डलादि भी अरुचिकर प्रतीत होते हैं (प० पु०, १।१९।१७८-१८०)।

जिस प्रकार से सूर्य की किरणें भूमि में रहनेवाले जल का विकर्षण किया करती है, ठीक उसी भांति जठर में स्थित अग्नि के द्वारा शरीर में समुन्नत नाड़ियों का शोषण क्षुधा की दशा में हुआ करता है। जो क्षुधा से समुत्पीड़ित व्यक्ति होता है वह उस समय कुछ भी श्रवण नहीं किया करता, न वह सूंघता और न कुछ देखा करता है। वह मूढ़ होकर शोषित, दग्ध एवं क्षीण बना रहता है। उसे पूर्व-पश्चिम-उत्तर एवं दक्षिण का ज्ञान नहीं रहता। क्षुधा के कारण व्यक्ति गूंगापन' बहिरापन, जड़ता, पंगुता, भैरवता एवं मर्यादा से रहित हो जाता है। माता, पिता, भाई, बहन, पुत्र, पुत्री, भार्या एवं स्वजनों को त्याग देता तथा अपने पितरों, गुरुओं, देवगणों आदि को भी भली-भांति समार्चित नहीं करता, यदि ऋषिगण घर पर आ जाय तो भी उनका समुचित आदर नहीं करता है (प० पु०, १।१९।२८१-२८८)।

अश्विनी की चिकित्सा चातुरी

अश्विनी की चिकित्सा चातुरी के सन्दर्भ में जो विचार चरक[३५] ने प्रस्तुत किया है वह अक्षरशः प० पु० में दिखायी पड़ता है। अश्विनी कुमारों ने यज्ञ के छिन्न शिर को जोड़ा, उसे शिरोरोग हो गया था, मार्तण्डभानु को कुष्ठ रोग, गरुण को जलोदर एवं पूषा को दंतक्षय की विकलता। इन सभी को अश्विनी कुमारों ने अपनी चिकित्सा-चातुरी द्वारा ठीक किया। इन्द्र के हाथ की क्षीणता, सोम का क्षयरोग, दक्षप्रजापति का ज्वर आदि भी ठीक किया (प० पु०, २।६६।२१२-२१५)।

सर्ववस्तु की दुःखमयता

यह संसार ही दुःखमय है जिसमें सभी प्राणी को कष्ट सहना पड़ता है। जिस समय प्राणी गर्भावास करता है तभी से उसको दुःख भोगना पड़ता है (प० पु०, २।६६।१९९)। इन्द्रियों की वृत्ति अव्यक्त होने के कारण बाल्यकाल में महान् दुःख होता है (प० पु०, २।६६। १०४)। अबोध बालक हृदय से चाहता हुआ भी कुछ नहीं कर सकता है। अति चंचल वायु द्वारा दांतों के निकलने के समय उसे महान् पीड़ा होती है। अनेक प्रकार के बालरोग एवं बालग्रहों से वह ग्रसित रहता एवं भूख-प्यास से पीड़ित किसी स्थल पर स्थित रहता है। मोह के कारण आरम्भ में विट्-मूत्र का भक्षण किया करता है। जब कुमारावस्था में कर्णवेध किया जाता है तो उससे भी उसे पीड़ा होती है। माता-पिता की ताड़नायें उसे सताती हैं। बहुत-से रोगों की उत्पत्ति हो जाने पर दुःख ही दुःख होता है (प० पु०, २।६६।१०५-१०९)।

यौवनावस्था में कामवासना की अग्नि धधकती रहती है अतः रात्रि में निद्रा नहीं आती। दिन में धनार्जन की चिन्ता रहती है। स्त्री-प्रसंग में रात-दिन मन लगाये रहने वाले पुरुष के शरीर से शुक्र की बिन्दुओं का पात होता रहता है, उससे वह आनन्दानुभव करता किन्तु वास्तव में मृत्युकर ही होता है। (प० पु०: २।६६।११०-१११)। जब शरीर वृद्धता को प्राप्त करता है तो बलहीनता और शिथिलता के कारण उनकी दशा विचित्र हो जाती है। अहर्निश दुःखों का चिन्तन किया करता एवं ज्ञान-शून्य हो जाता है। विकलता के कारण अङ्गों में पीड़ा और दिन-प्रतिदिन उसकी दशा बिगड़ती ही जाती है।[३६] जरा से शरीर-इन्द्रियां असक्त हो जाती हैं, बहुत-सी व्याधियां घेर लेती हैं। अतः दुख ही दुख होता है। मृत्यु के समय भी उसे बड़ा कष्ट होता है (प० पु०, २।६६।२०१)।

जब सब प्रकार के दुःखों से निवृत्ति हो जाती है तो वह स्वस्थात्मा होता एवं सुख का अनुभव करता है (प० पु०, २।६६।२२३)।

प० पु० में उपर्युक्त सामग्री के अतिरिक्त धात्री, तुलसी, गंगा-स्नान एवं एकादशी व्रत माहात्म्य भी प्रकाशित है। 'सृष्टिखण्ड', 'स्वर्ग खण्ड' एवं 'उत्तर खण्ड' परिशिष्ट 'क्रियायोगसार खण्ड' से स्वस्थ-वृत्त का विशेष परिचय प्राप्त होता है। निबन्ध-विस्तार होने के भय से 'स्वस्थवृत्त' का सविस्तर वर्णन यहां प्रस्तुत नहीं किया गया।

इस प्रकार हम देखते है कि पद्मपुराण एक वैष्ण

महापुराण है जो सातवें से चतुर्दश या पंचदश शताब्दी तक के महान् अन्तराल में सम्पन्न विभिन्न सांस्कृतिक व्यवहारों का परिचय देता है और साथ ही साथ आयुर्वेद के विविध अंगों के विकास को भी एक झलक प्रस्तुत करता है। प्रस्तुत अध्ययन से आयुर्वेद वाङ्मय के उन्नत स्वस्थ को समझने का एक माध्यम मिलता है। जिससे आयुर्वेद की सतत गतिमता का अक्षुण्ण परिचय अनुसन्धान कार्य करने वालों के लिए उपलब्ध होता है।

कृतज्ञताभिव्यक्ति

मैं उक्त शोध-पत्र लिखने के लिए प्राप्त साहाय्य, निर्देशन एवं उत्साह प्रदर्शनार्थ अपने प्रधान शोध निर्देशक डा० ज्योतिर्मित्र, रीडर, मौलिक सिद्धान्त विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालत की परम अनुगृहीत हूँ। साथ ही साथ अपने शोध सह-निर्देशक प्रो. लल्लन जी गोपाल, प्राचीन भारतीय, इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की परम ऋणी हूं, जिनसे इस प्रकार के क्रिया-कलाप के सम्पादन में सर्वविध उत्साह, साहाय्य एवं आशीर्वाद मिला है।

संकेत-सूची

चरक०—चरक संहिता
चि०—चिकित्सा स्थान
प० पु०—पद्म पुराण
प्राय०—प्रायश्चित प्रकरण
वि० ध० पु०—विष्णु धर्मोत्तर पुराण
शा०—शारीर स्थान
सुश्रुत—सुश्रुत सहिता
सूत्र—सूत्र स्थान

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

१. अग्निपुराण, हरिनारायण आप्टे, आनन्दाश्रम, पूना, १९००।
२. अष्टांग संग्रह, अत्रिदेवगुप्त, निर्णयसागर, बम्बई, १९५१।
३. गरुण पुराण, रामशंकर भट्टाचार्य, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६४।
४. चरक संहिता, जयदेव विद्यालंकार, मोतीलाल वाराणसीदास, बनारस, १९५४।
५. भावप्रकाश (पूर्वार्द्ध) ब्रह्मशंकर शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९६९।
६. पद्म पुराण, बी० एन० माण्डलिक, आनन्दाश्रम, पूना, १८९४।
७. मनुस्मृति, कुल्लुकभट्ट, बम्बई, १९१३।
८. याज्ञवल्क्य स्मृति, विज्ञानेश्वर, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९६७।
१०. विष्णुधर्मोत्तर पुराण, वेंकेटश्वर प्रेस, बम्बई, १९१२।
११. सांख्यकारिका, रामकुमार शर्मा, वाराणसी, २०१९ सम्वत्।
१२. सुश्रुत संहिता, अम्बिकादत्त शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९५४।
13. Grey—Anotomy, 1949.
14. Hazra, R. C.—Studies in puranic records on Hindu rites and customs, university of Dacca, 1940. reprint Motilal Varanasi Das, Delhi, 1975.

---

१. प० पु०, ७।२।१-२२
२ प० पु०, ३।२।५-१७।
३. प० पु०, ३।२।२२-३२।
४. पु०, २।६५।६-७।
५. प० पु०, २।९६।१५—भक्ष्यं भोज्यं पेयं लेह्यं चोष्यं खाद्यं च भूपते।
६. भाव प्रकाश, पूर्वार्द्ध ।५।१४४—
आहारं षड्विधं चूष्यं पेयं लेह्यं तथैव च।
भोज्य भक्ष्यं तथा चर्व्यं गुरु विद्याद्यथोत्तरम्
७. प० पु०, २।६६।१९-२१।
८. प० पु० २।६६।२२-२६।
९. चरक०। चि०।१५।१.७।
१०. चरक०/शा०/४/९—१०, २०—२५।
११. सुश्रुत०/शा०/३/१४ और १९।
१२. वाग्भट/शा०/२/१३—२८।

१३. वि०ध०पु०/११४/६—८ ।
१४. याज्ञवल्क्य/१/६१, ६६, ६८, ६९ ।
१५. गर्भोपनिषद प्रा० करमबेलकर की 'अथर्ववेद एवं आयुर्वेद' पुस्तक से उद्धृत ।
१६. अग्नि पुराण/३६९/१९, २०, २४ ।
१७. पद्मपुराण/२/६६/३०—३७ ।
१८. अग्निपुराण, २६९/१९-२७ ।
१८. गरुणपुराण, पूर्व खंड, २१७/७-९ ।
१९. मनुस्मृति, ३।४७
१९. याज्ञवल्क्यस्मृति, ११७६
20. Gray, Anatomy, 1949, PP. 208-211.
२१. सांख्यकारिका टीका । ३९ का—'मातृपितृजा: षाट्कौशिका । अर्थात् 'मातृत' इति । लोम लोहित मांसानि=ये तीन माता के शरीर के अंश हैं और स्नाऽवस्थिमज्जान:=ये तीन पिता के शरीर के अंश है । इस प्रकार रोम, लोहित, मांस, स्नायु अस्थि एवं सज्जा ये ही षट्कोष हैं ।
(२२) सुश्रुत०।शा०।५।२३-२५) ।
(२३) सुश्रुत।सूत्र।१५।५) ।
(२४) प्राय०,।४।८४-९० ।
(२५) शा०,।१५।६८-७१ ।
(२६) प्राय०।३।१०३ ।
(२७) वामन आप्टे, संस्कृत हिंदी कोश ।
(२८) **पल**—कर्ष का तौल, तरल पदार्थों के मापने का मान ।
(२९) **कुडव**—एक चौथाई पुस्थ के बराबर या बारह मुट्ठी (अञ्जलि) अनाज की तौल, **आढक**-अनाज की माप, चौथाई द्रोण ।
(३०) प० पुं०, २।५६।६३-६६) ।
(३१) गौ से प्राप्त होनेवाले पांच पदार्थ—क्षीर, दधि, आज्य, गोमय, गोमूत्रादि ।
(३२) प० पु०, २ । ६६ । ६७-७१ ।
(३३) प० पु०, २ । ६६ । १२३-१२८ ।
(३४) सुश्रुत० । सूत्र । १ । ३३ ।
३५. चरक० चि० १।४ पाद।४०-४७ ।
३६- प० पु० २।८।२८-२९ ।

गरुड़ पुराणोक्त मौलिक सिद्धान्त की सामग्री

डा० जयन्ती भट्टाचार्य
एम.ए., पी.एच.डी., एम.एं. एम.एस.
रिसर्च फेलो, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-५

अष्टादश महापुराणों में गरुड़ पुराण का महत्वपूर्ण स्थान है। गरुड़पुराण में आयुर्वेद की विभिन्न सामग्री प्राप्त होती है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में मौलिक सिद्धांत की सामग्री की चर्चा की जायेगी।

१—वायु प्रकोप के कारण

कषाय, कटु, तिक्त, अम्ल, रुक्ष वस्तुओं को अत्यधिक परिमाण में आहार करने, चिन्ता, अत्यधिक मैथुन, व्यायाम, भय, शोक, रात्रि जागरण, अत्यधिक उच्चं शब्द बोलने एवं अतिरिक्त भार वहन करने से, वर्षाऋतु में दिन समाप्त होने पर मनुष्य को शरीरस्थ वायु प्रकुपित हो जाती है।[२]

२—पित्त प्रकोप के कारण

उष्ण, अम्ल, एवं लवणयुक्त भोजन, क्षार, कटु द्रव्य के आहार एवं अजीर्णता के कारण तथा तीक्ष्ण धूप, अग्नि, सन्ताप होने से मद्य का सेवनं करने से अथवा क्रोध के कारण भोजन पचने के समय शरद् ऋतु में अथवा ग्रीष्म ऋतु के मध्याह्न समय में अथवा अर्द्ध रात्रि के समय शरीरस्थ पित्त प्रकुपित हो जाते हैं।[३]

३—कफ प्रकोप के कारण

मीठा, अम्ल, लवण, स्निग्ध, गुरु इत्यादि पदार्थ के

अति मात्रा में सेवन करने तथा नया चावल, पिच्छिल मांस आदि के आहार करने पर, व्यायाम आदि से तथा दिन में शयन करने से अत्यधिक आराम - प्रियता से प्रातः काल के समय एवं वसन्त ऋतु में आहार करने के पश्चात् ही कफ प्रकुपित होता है।[४]

वायु प्रकोप के लक्षण

शरीर की रुक्षता, अंगों - प्रत्यंगों का संकोच, तोद (सूई के चुभने के समान पीड़ा) सुप्तता, रोमहर्ष, स्तम्भन, शोषण, श्यामत्व, शरीर के विभिन्न अंगों की शिथिलता, बल एवं शारीरिक शक्ति की वृद्धि—ये लक्षण वात-प्रकोप में मिलते हैं और इन्ही लक्षणों से युक्त को वातरोग पीड़ित कहा जाता है।[५]

पित्त प्रकोप के लक्षण

दाह, उष्मा, संवेद, कोप, लालिमा, परिश्रम, पाक तथा शरीर से कटु, अम्ल, एवं शव की गन्ध आने लगती है और स्वेद, तृष्णा, मूर्च्छा तथा शरीर का वर्णहरित एवं हल्दी की आभा या कामला के समान हो जाता हैं।[६]

कफ प्रकोप के लक्षण

शरीर स्निग्ध हो जाता है तथा मुख से मधुर स्वाद की प्रचुर काल से प्रतीति का, शरीर आद्र वस्त्र से आवृतत्व एवं स्तिमित भाव, शोथ, शीतलता, निद्रा, कण्डू, गुरुता इत्यादि कफ प्रकोप के लक्षण बतलाए गए हैं।[७]

उक्त दोषों में से यदि दो दोष प्रकुपित होते हैं तो उसे व्याधि द्विदोषज कहा जाता है एवं त्रिदोष के सभी लक्षण जिसमें पाये जायं उसे सन्निपातिक रोग माना जाता है।[८]

मनुष्य का शरीर दोष, धातु तथा मल का आधार माना गया है। इसमें से यदि धातु आदि समान रूप से देह में रहें तो आरोग्य से युक्त अर्थात् स्वस्थ समझना चाहिए। यदि इसमें से किसी भी पदार्थ की क्षय अथवा वृद्धि हो जाय तो व्याधि हो गई है—ऐसा समझना चाहिए।[९]

धातु—

वसा, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा तथा शुक्र को धातु कहा गया है।[१०]

दोष—

दूषित वायु, पित्त एवं कफ को दोष कहा जाता है एवं मल-मूत्र आदि को मल कहा जाता है।[११]

वायु शीतल, सूक्ष्म, स्वरनाशक, स्थिर एवं बल होता है।[१२]

पित्त, अम्ल, कटु, उष्ण तथा रोगोत्पत्ति-कारक होते है।[१३]

कफ मधुर, लवण, स्निग्ध, गुरु तथा पिच्छिल होता है।[१४]

दोषों के स्थान

वायु गुदा एवं बस्ति को आश्रय करके रहता है। पित्त पक्वाशय में तथा कफ आमाशय कण्ठ एवं सन्धियों में अवस्थान करता है।[१५]

कटु, तिक्त एवं कषाय वायु, कटु, अम्ल तथा लवण पित्त एवं मधुर, उष्ण, लवण कफ को प्रकुपित करते हैं।[१6]

इस प्रकार उचित मात्रा में द्रव्यों के सेवन करने से रोगी स्वस्थ होता है।[१७]

रसों के गुण

मधुर स्वाद से युक्त द्रव्य चक्षुष्य रस एवं धातु-वर्द्धक है। अम्ल स्वादवाले द्रव्य मन एवं हृदय को रुचिकर, दीपन और पाचन माने गये हैं तथा तिक्त द्रव्य दीपन, ज्वर, तृष्णा नाशक, शोधक, शोषक, पित्तल एवं लेखन करने वाले होते है। कषाय स्तम्भकारक माना गया है, कषाय रसग्राही तथा शोषक होते हैं।[१८]

रस, वीर्य एवं विपाक का उत्तम आश्रय द्रव्य होता है। रस एवं पाक के मध्य में रहने वाला स्थायी द्रव्य सभी द्रव्यों में आश्रय करके रहता है।[१९] शीत, उष्ण लक्षण वाले को वीर्य अथवा शक्ति कहा गया है। रस का दो प्रकार का पाक होता है—एक मधुर एवं दूसरा कटु।[२०]

चिकित्सा के चार अंग माने गये—चिकित्सक भेषज, रोगी एवं परिचारक। इनमें से किसी के अभाव से चिकित्सा असम्भव होती है।[२१]

चिकित्सक को चाहिए कि देश, काल, अग्नि, वयस सात्म्य प्रकृति, औषध, देह, सत्व, बलव्याधि आदि को समझकर ही चिकित्सा आरम्भ करें।[२२]

जो संसृष्ट लक्षण से युक्त होता है वह साधारण देश कहा जाता है । १६ वर्ष तक बालक, सत्रह वर्ष के बाद युवक एवं इससे अधिक आयु के लोग वृद्ध कहे जाते हैं ।[२३]

कफ प्रायः बाल्यकाल में, पित्त युवाकाल में एवं वायु वृद्धावस्था में अधिकता से रहती है ।[२४]

क्षार, अग्नि एवं शस्त्र का प्रयोग क्षीणावस्था में किया जाता है, कृश व्यक्ति का बृंहण एवं स्थूल व्यक्ति का कर्षण एवं मध्यमा व्यक्ति का रक्षण करना चाहिए ।[२५]

स्थिरता, व्यायाम, सन्ताप के द्वारा बल का ज्ञान करना चाहिए । महासाहसिक वह है जो कि विकार-रहित तथा उत्साह से युक्त हो ।[२७]

गर्भिणी यदि श्लेष्म युक्त पदार्थ भक्षण करें तो श्लैष्मिक प्रकृति के बालक उत्पन्न होते हैं ।[२८]

वातादि प्रकृतिः---

कृश, रुक्ष, अल्प केश - युक्त, चंचल तथा स्वप्न में बोलता हुआ व्यक्ति वात प्रकृति का होता है ऐसा माना गया है ।[२९]

जिस व्यक्ति का केश अल्प वयः में ही पक जाता है एव गौरववर्ण सुन्दर क्रोधी तथा स्वप्न में अग्नि आदि को देखता है वह पित्त प्रकृति का व्यक्ति माना गया है ।[३०]

जिस व्यक्ति का चित्त स्थिर होता है एवं स्वर सूक्ष्म हों तथा प्रसन्न स्निग्ध हों और स्वप्न में जल एवं शिला आदि को देखता हो वह व्यक्ति श्लेष्म प्रकृति का होता है ।[३१]

जिन व्यक्तियों में मिश्रित लक्षण दिखलाई पड़े तो वह व्यक्ति द्विदोषज अथवा त्रिदोषज होते हैं ।[३२]

अग्निः—

मनुष्य में अग्नि चार प्रकार की मानी गयी है:--मन्द, तीक्ष्ण, विषम एवं सम । सम ही अच्छा माना गया है। कफ, पित्त तथा वायु की अधिकता से क्रमशः उदर में वायु की उत्पत्ति होती है । सम की कोई औषधि नहीं है, विषम वात जन्य होता है तथा तीक्ष्ण दोष होने पर पित्त दोष दूर करना चाहिए एवं मन्द के लिये श्लेष्म का विशोधन करणीय है ।[३३]

सभी रोग का जनक अजीर्ण होता है । अजीर्ण चार प्रकार का माना गया है:---

आम, अम्ल, रस एवं विष्टब्ध ।[३४]

अजीर्ण की चिकित्साः—

आमज विसूचिका को दूर करने के लिये वचा एवं लवण को जल से मिश्रित करके देना चाहिए ।[३५] अम्ल प्रकार का अजीर्ण रोग होने से शुक्र का अभाव होता है तथा भ्रम एवं मूर्छा भी होती है । इसके प्रतिकार के लिये शीतल जल पान तथा वायु सेवन श्रेयस्कर है ।[१३]

रस जन्य अजीर्ण रोग होने से रोगी के सम्पूर्ण शरीर में वेदना होती है तथा सिर में जड़ता और भोजन में अरुचि होती है । इस प्रकार के रोगी को किसी प्रकार का पेय अथवा भोजन की वस्तु देना नहीं चाहिए तथा दिन में विश्राम अथवा शयन करना चाहिए ।[३७]

विष्टब्ध विसूचिका रोग में रोगी को शूल एवं गुल्म हो जाता है तथा उसके मल-मूत्र अवरुद्ध हो जाते हैं । इस प्रकार के रोगी को लवण मिश्रित जल देना चाहिए ।[३८]

आम, अम्ल, विष्टब्ध प्रकार के अजीर्ण रोग क्रमशः कफ, पित्त तथा वायु से दूषित होने पर होते हैं ।[३९]

अजीर्ण रोग होने पर उदर में हिंगु, त्र्यूषण तथा सैन्धव का लेप लगाना चाहिए एवं दिन में शयन करने से सभी प्रकार के अजीर्ण रोग का विनाश होता है ।[४०]

रोग को शान्त करने के लिए सभी प्रकार के भोजन को त्याग करना चाहिए एवं उष्ण जल के साथ मधु का सेवन करने से पाचन होता है । पथ्य में करीर, मत्स्य एवं दधि लेना चाहिए। दुग्ध अहितकर होता है ।[४१]

पंचमूल, बिल्व, शोण, गम्भारी, पाटला तथा गणिकारिका दीपन कारक तथा कफ एवं वातनाशक मानी गई है ।[४२]

पंचमूल, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहतीद्वय तथा गोक्षुर कनीय वृष्य एवं वायु पित्तशामक होता है ।[४३]

उपर्युक्त दोनों पंचमूल के औषध जिसे कहा जाता है वह सन्निपात ज्वर, कास, श्वास, तन्द्रा एवं पार्श्वशूल को नाश करता है ।[४४]

दशमूल का तेल तथा घृत भी सन्निपात को दूर करता है ।[४५]

दशमूल का क्वाथ चतुर्गुण जल के साथ सिद्ध करके जब इसका चतुर्थ भाग अवशेष रह जाय तो उसके समान

मात्रा में घृत तथा दुग्ध के साथ दूसरे कल्क का पाक करें पाक अधिक होने पर प्रलेप दें। मृदुपाक होने पर नस्य के रूप में प्रयोग करें।[४६]

जो रोगी आरोग्य लाभ करता है उसका शरीर स्थूल होता है एवं स्वाभाविक होता है।[४७]

जिस रोगी की शारीरिक शक्ति स्वाभाविक नहीं होती उसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए।[४८]

जो रोगी चिकित्सक, मित्र, गुरु एवं प्रिय व्यक्ति से द्वेष करता है उसकी मृत्यु अवश्य मानी गयी है तथा जिसकी इन्द्रियां विषय में लिप्त हैं उसकी मृत्यु भी निकटवर्ती होती है।[४९]

जिसका गुल्फ, जानु, ललाट, हनु, गण्ड भ्रष्ट तथा स्थानच्युत हो जाता है एवं जिसकी चक्षु तथा नासा विकृत हो जाती है तथा जिह्वा एवं ओष्ठ कृष्णवर्ग का हो जाता है एवं अपने स्थान से च्युत हो जाय तो उस रोगी को त्याग देना चाहिए अर्थात् ऐसे रोगी की मृत्यु अवश्य हो जाती है।[५०]

इस प्रकार आयुर्वेदोक्त मौलिक सिद्धांत की सामग्री की संक्षिप्त आलोचना की गयी। गरुड़ पुराण ने अधिकांश स्थान पर अपना मौलिक विचार ही कहे हैं। यथास्थान वंगसेन नामक आयुर्वेद ग्रन्थ की चर्चा की गयी है। जिसका प्रभाव गरूड़पुराण पर पड़ा है।

---

१. गरुड़ पुराण १।१६८।१
२. गरुड़ पुराण १।१६८।२-३
३. गरुड़ पुराण १।१६८।४-५
४. गरुड़ पुराण १।१६८।६-७
५ गरुड़ पुराण १।१६८-८-९
६. गरुड़ पुराण १।१६८।१०
७. गरुड़ पुराण १।१६८।११-१२
८. गरुड़ पुराण १।१६८।१२-१३
९. गरुड़ पुराण १।१६८।१३-१४
१० गरुड़ पुराण १।१६८।१४
११. गरुड़ पुराण १।१६८।१५
१२. गरुड़ पुराण १।१६८।१५
१३. गरुड़ पुराण १।१६८।१६
१४. गरुड़ पुराण १।१६८।१६
१५. गरुड़ पुराण १।१६८।१७
१६. गरुड़ पुराण १।१६८।१८
१७. गरुड़ पुराण १।१६८।१९
१८. गरुड़ पुराण १।१६८।२०-२१
वंगसेन द्रव्यगुणा० १-२
१९. गरुड़ पुराण १।१६८।२२
वंगसेन द्रव्यगुणा० ४
२०. गरुड़ पुराण १।१६८।२३
२१. गरुड़ पुराण १।१६८।२४
२२. गरुड़ पुराण १।१६८।२५
२३. गरुड़ पुराण १।१६८।२६
२४. गरुड़ पुराण १।१६८।२७
२५. गरुड़ पुराण १।१६८।२७-२८
२६. गरुड़ पुराण १।१६८।२९
२७. गरुड़ पुराण १।१६८।३०
२८. गरुड़ पुराण १।१६८।३१
२९. गरुड़ पुराण १।१६८।३२, वंगसेन निदान०।६७
३०. गरुड़ पुराण १।१६८।३३, " " ६८
३१. गरुड़ पुराण १।१६८।३४, ,, ,, ६९
३२. गरुड़ पुराण १।१६८।३५
३३. गरुड़ पुराण १।१६८।३६-३७
३४. गरुड़ पुराण १।१६८।३८
३५. गरुड़ पुराण १।१६८।३९
३६; गरुड़ पुराण १।१६८।४०
३७. गरुड़ पुराण १।१६८।४१
३८. गरुड़ पुराण १।१६८।४२
३९. गरुड़ पुराण १।१६८।४३
४०. गरुड़ पुराण १।१६८।४३-४४
४१. गरुड़ पुराण १।१६८।४४-४५
४२. गरुड़ पुराण १।१६८।४६
४३. गरुड़ १।१६८।४८
४४. गरुड़ पुराण १।१६८।४८
४५. गरुड़ पुराण १।१६८।४९
४६. गरुड़ पुराण १।१६८।४९-५०
४७. गरुड़ पुराण १।१६८।५१
४८. गरुड़ पुराण १।१६८।५१
४९. गरुड़ पुराण १।१६८।५२
५०. गरुड़ पुराण १।१६८।५३-५४

"महाभारत" में आयुर्वेदीय मौलिक सिद्धान्त सम्बन्धी विवरण

डा० आर० के० भारिल्ल
आरोग्य सेवा सदन, 2989/1, गली नं० 11,
रणजीत नगर, नई दिल्ली-8

'महाभारत' भारतीय साहित्य महोदधि का एक महत्वपूर्ण ग्रंथरत्न है। यह भारतीय संस्कृति का एक ऐसा प्रतिनिधि ग्रंथ है जिसमें आध्यात्मिक, राजनीतिक, साहित्यिक, सामाजिक, धार्मिक और ऐतिहासिक सभी विषयों के बीज बिखरे पड़े हैं। यही कारण है कि कृष्ण द्वैपायन ने गौरव के साथ महाभारत की महत्ता को निम्न शब्दों में व्यक्त किया है---इस ग्रंथ में जो कुछ है वही अन्यत्र भी है, । जो कुछ इसमें नहीं है वह अन्यत्र भी नहीं है।'

महाभारत के विषय में डा० वासुदेव शरण अग्रवाल के निम्न विचार महत्वपूर्ण हैं—'महाभारत इस देश की राष्ट्रीय ज्ञान संहिता है। सदा उत्थानशील कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास ने विशाला बदरी के एकान्त आश्रम में बैठ कर भारतीय ज्ञान-समुद्र का अपनी विशाल बुद्धि से मन्थन किया, जिससे महाभारत - रुपी चन्द्रमा का जन्म हुआ। जिस प्रकार समुद्र और हिमालय रत्नों की खान है उसी प्रकार यह महाभारत है।'

महाभारत की उत्कृष्टता, श्रेष्ठता, उच्चता और महत्ता के एक अन्य प्रसंग के अनुसार जैसे दही में नवनीत, मनुष्यों में ब्राह्मण, वैदिक साहित्य में आरण्यक, औषधियों में अमृत, जलाशयों में समुद्र और चतुष्पादों में गौ श्रेष्ठ है, उसी प्रकार समस्त इतिहासों में यह महाभारत श्रेष्ठ है।

अपनी असामान्य विशेषताओं और अपने गुण बाहुल्य के कारण महाभारत ग्रंथ को 'पंचम वेद' के रूप में भी स्मरण किया जाता है। महाभारत का महत्व केवल कौरव-पाण्व के युद्ध तक सीमित नहीं रहा, अपितु वह भारतीय जन-जीवन का एक ऐसा महत्वपूर्ण विश्वकोश बन गया जिसमें अनायास ही दर्शन, धर्म, इतिहास, पुराण, स्मृति और काव्य प्रभृति विषयों का भी समावेश हो गया। ऐसी स्थिति में यह कैसे सम्भव था कि महाभारत आयुर्वेद से अछूता रहता। महाभारत में ऐसे अनेक उद्धरण देखने को मिलते हैं जो आयुर्वेद से सम्बन्धित हैं। उनमें से कतिपय उद्धरण यहां प्रस्तुत है---

चिकित्सक के रूप में देवभिषक् अश्विनी कुमारों का उल्लेख महाभारत में आया है जो निम्न प्रकार है।

(1) तमुपाध्याय: प्रत्युवाच-अश्विनौ स्तुहि। तौ देवभिषजौ त्वां चक्षुष्मन्त कर्त्ताराविति। स एवमुक्तपुपाध्यायेनोपमन्युरश्विनौ स्तोतुमुपचक्रमें वाग्भि: ऋग्भि: 11" आदिपर्व 3।56।

(2) महाभारत के सभा पर्व में नारद युधिष्ठिर को प्रश्न के रूप में शिक्षा देते हुए कहते हैं---

'हे युधिष्ठिर। क्या तुम शरीर के रोगों की चिकित्सा औषध सेवन और पथ्य से करते हो। मानसिक रोगों को वृद्धों के सेवन और सत्संग से दूर करते हो। क्या तुम्हारे वैद्य चिकित्सा के आठों अंगों में निपुण है। तुम्हारे शरीर के सम्बन्ध में क्या मित्र लोग अनुरक्त हैं? वे तुम्हारे स्वास्थ्य का ध्यान रखते हैं"—सभापर्व 15।90,91

(3) आयुर्वेद में स्थावर और जंगम विष के अनेक भेद तथा उसकी चिकित्सा-सम्बन्धी उल्लेख मिलता है। महाभारत में एक उपाख्यान के अन्तर्गत विश्राम द्वारा मूर्छित एवं उपचार द्वारा स्वस्थ होने-सम्बन्धी उल्लेख मिलता है। जैसे---

"पापी दुर्योधन ने भीम के आने की वस्तुओं में विष मिला दिया ताकि भीम मर जाय। विष के वेग से मूर्च्छित और विश्चेष्ट हुए भीम को दुर्योधन ने स्वंय लतापाशों से बांध कर स्थल से जल में ढकेल दिया। वहां पर साँपों के काटने से कालकूट विष नष्ट हो गया, क्योंकि स्थावर विष को जंगम विष नष्ट करता है। विष के उतरने पर भीम जाग उठा और उसने अपने-अपने समस्त बंधनों को तोड़ कर सांपों को मारना प्रारम्भ किया।"

(आदिपर्व 120।53-59)

(4) एक अन्य उपाख्यान में मन्त्र द्वारा विष के प्रभाव को कम करने का उल्लेख भी महाभारत में आया है। तक्षक सर्प द्वारा दंशित वृक्ष को महर्षि कश्यप द्वारा मंत्रों के प्रभाव से पुनर्जीवित करने का उल्लेख निम्न प्रकार है—

"सातवां दिन आने पर ब्रह्मर्षि कश्यप राजा परीक्षित के पास जाने लगे। मार्ग में तक्षक ने कश्यप को देखा और पूछा हे ब्राह्मण्! कहाँ इतनी तेजी से जा रहे हो? कश्यप ने उत्तर दिया, कुरुओं के राजा परीक्षित के पास जा रहा हूं। आज उसे तक्षक सांप काटेगा और मैं उसे जीवित करुंगा। तक्षक ने कहा कि मैं ही तक्षक हूं---मेरे काटे हुए को तुम जीवित नहीं कर सकते। मैं इस वृक्ष को काटता हूं। तुम इसे जीवित कर दोगे, यह कह कर तक्षक ने वृक्ष को काटा। कश्यप ने उस वृक्ष की सारी राख एकत्रित कर पुन: उसे जीवित कर दिया। आदिपर्व 50।3-

(5) परीक्षित ने सांप से बचने के लिए जो साधन एकत्र किए थे उनमें मन्त्र सिद्ध ब्राह्मण, औषधियां और वैद्य भी थे। यथा--

रक्षां च विदधेतत्र भिषजश्चौषधानि च।
ब्राह्मणान् मन्त्र सिद्धांश्च सर्वतो वैन्ययोजयत्॥

(आदिपर्व 42।30)

अर्थात् वहां पर सभी प्रकार की रक्षा के उपाय किए गए। वहां पर वैद्य औषधियाँ और मन्त्रसिद्ध ब्रह्मणों को नियोजित किया गया।

(6) महाभारत में राजयक्ष्मा व्याधि से विचित्रवीर्य का पीड़ित होना और अन्त में इस घातक रोग से उसके मृत्यु को प्राप्त होने का उल्लेख महत्वपूर्ण है। आयुर्वेद के अनुसार यक्ष्मा एक घातक रोग है और शुक्रनाश या धातु क्षय होने से यह रोग प्राणान्त हो जाता है। सत्यवती पुत्र विचित्रवीर्य भी अधिक स्त्री-सेवन के कारण यक्ष्मा रोग से आक्रान्त हुए थे। भिषमों से चिकित्सा कराने पर भी यह रोग नष्ट नहीं हुआ और अन्त में उनकी मृत्यु का कारण बना। यथा—

ताभ्यां सह समाः सप्त विहरन् पृथिवीपतिः ।
विचित्रवीर्यस्तरुणो यक्ष्मणा समगृह्यत ।
सुहृदां यतमानानामाप्तैः सह चिकित्सकैः :
जगामास्तमिवादित्यः कौरव्यो यमसादनम् ।।

—महाभारत – 1/102/80-71

(7) प्राचीन काल में रण क्षेत्र में राजा के साथ अन्य कर्मचारियों के अतिरिक्त समस्त उपकरणों से सम्पन्न वैद्य भी होता था जो राजा तथा अन्य सैनिकों के घायल हो जाने पर उनका समुचित उपचार किया करता था। कई बार विजित राज्य के शत्रु सैनिक वहां के यवस, आसन, भूमि, जल, वायु आदि को विषाक्त कर देते थे। अतः उनकी परीक्षा और उनके सेवन से होने वाली व्याधियों के प्रतिकार के लिए सैन्य के साथ वैद्य अवश्य होता था। महाराज युधिष्ठिर ने भी अपनी सेवा में सैंकड़ों शिल्पी तथा शस्त्र-विशारद बैद्य वेतन देकर नियुक्त किये थे। वे सम्पूर्ण उपकरणों से युक्त थे।—उद्योगपर्व 52/12

(8) भीष्म जब शरशय्या पर गिर पड़े उस समय उनकी चिकित्सा के लिए दुर्योधन शल्य निकालने में निपुण सब साधनों से युक्त वैद्यों को लेकर पहुंचा। ये सब वैद्य कुशल और सुशिक्षित थे। इनको देख कर भीष्म ने दुर्योधन से कहा--'इनको अब धन देकर वापिस कर दो। इस अवस्था में पहुंच जाने पर अब वैद्यों की क्या जरुरत; यह सुन कर दुर्योधन ने धन देकर वैद्यों को वापिस कर दिया। (भीष्म० 20/55-59)

(9) महाभारत काल में भी रामायण काल की भांति संजीवनी विद्या का परिचय वैद्यों को था। यद्यपि सामान्य वैद्य वर्ग में इसका प्रचार नहीं था। किन्तु कतिपय विशिष्ट वैद्य इस विद्या से अवश्य ही परिचित थे। देव लोक में तो पर्याप्त रूप से यह विद्या प्रचलित थी। संजीवनी विद्या से सम्बन्धित एक कथा का उल्लेख महाभारत के आदि पर्व अ० 70 में मिलता है जो ययाति के चरित्र वर्णन में सरस रूप से बृहस्पति पुत्र कच और शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी से सम्बन्धित है। कथा निम्न प्रकार है—

एक बार ऐश्वर्य के लिए देवता और असुरों में युद्ध हुआ। देवासुर संग्राम में विजय पाने की इच्छा से देवताओं ने वृहस्पति को अपना पुरोहित बनाया और असुरों ने शुक्राचार्य को। दोनों पुरोहितों में अनबन थी और दोनों ही पुरोहित अपने पक्ष की विजय के लिए प्रयत्नशील थे। युद्ध के समय देवता जिन दानवों को युद्ध में मारते थे उसको अपनी संजीवनी विद्या के बल से पुनः जीवित कर देते थे। वृहस्पति के पास संजीवनी विद्या नहीं थी। इसी से देवताओं ने वृहस्पति के पुत्र कच को शत्रु शुक्राचार्य के पास संजीवनी विद्या सीखने के लिए जाने हेतु कहा।

कच ने देवताओं की यह बात स्वीकार कर ली और शुक्राचार्य के पास जाकर ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके पांच वर्ष वहां रह कर संजीवनी विद्या सीखी। जब दानवों को इस भेद का पता चला तो उन्होंने उसे मार दिया। किन्तु अपनी पुत्री देवयानी के कहने से शुक्राचार्य ने पुनः उसे जीवित कर दिया। इसी प्रकार दो बार यह घटना घटी। अन्त में शुक्राचार्य कच की शक्ति से अत्यधिक प्रसन्न हुए और उसे संजीवनी विद्या का वरदान दिया।

कच सम्पूर्ण संजीवनी विद्या सीखकर जब गुरुघर से लौटने लगा तब देवयानी ने कच से विवाह का प्रस्ताव किया। किन्तु कच ने गुरु कन्या होने से पूजनीय मान कर उसके प्रस्ताव को स्वीकार करने में अपनी असमर्थता प्रकट की। इससे रूष्ट होकर देवयानी ने कहा कि तुम्हारी यह विद्या फलवती नहीं होगी। इस पर कच ने शान्त भाव से कहा—तुम्हारा यह वचन काम के कारण है। धर्म से नहीं।" इसलिए मैं जिसको यह विद्या सिखा दूंगा उसको फलवती होगी।

फलिष्यति न ते विद्या यत् त्वं मामात्थ तत् तथा।
अध्यापयिष्यामि तु यं तस्य विद्या फलिष्यति।"

महाभारत 1। 77। 20

उपर्युक्त उल्लेख से यह सुविदित है कि संजीवनी विद्या के द्वारा मृत व्यक्ति को जीवित किया जा सकता था। किन्तु इसका स्वरूप क्या था? यह अज्ञात है।

(10) मानव शरीर में शारीरिक और मानसिक दो प्रकार के रोग होने का उल्लेख।

—शान्ति पर्व अ० 16। 8-9

(11) शीत-उष्ण और वायु ये तीन शारीरिक रोगों के कारण तथा सत्व-रज-तम ये तीन मन के गुण बतलाये गए हैं।

—शान्तिपर्व अ० 16। 11। 13

(12) अन्य ग्रंथों की भाति महाभारत में भी भगवान धन्वन्तरि के अवतरण-सम्बन्धी प्रसंग का उल्लेख मिलता है । भगवान धन्वन्तरि को आयुर्वेद के आदि देव के रूप में स्मरण किया जाता है । महाभारत में भगवान धन्वन्तरि के अवतरण का उल्लेख निम्न प्रकार से किया गया है—

धन्वन्तरिस्सतो देवों वपुष्मानुदति ठत ।
श्वेतं कमण्डलुं विभदमृतं निष्ठति ॥
—आदि पर्व अ० 16

आदि पर्व के अध्याय 18 में भी समुद्र मंथन से आदि देव धन्वन्तरि के अवतरण-सम्बन्धी प्रसंग वर्णित है ।

(13) इसी प्रकार आयुर्वेद के अन्य अनेक आचार्यों का प्रसंगवश नामोल्लेख महाभारत में अनेक स्थानों पर देखने को मिलता है । जैसे अश्विनी कुमारों का देव वैद्य के रुप में वर्णन (वन० अ० 23) कृष्णात्रेय का चिकित्सा के रूप में वर्णन (वन० 71 । 21) अश्व चिकित्सा के रूप में शालिहोत्र का वर्णन (अनु० 71 । 21) विश्वामित्र के पुत्र सुश्रुत का शल्य चिकित्सक के रूप में उल्लेख (आ० 4 । 55) सर्पदंष्ट के विशिष्ट चिकित्सक कश्यप का वर्णन इत्यादि ।

(14) महाभारत में अनेक स्थलों पर आयुर्वेद के कतिपय महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है । जैसे-- आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्त पंच महाभूत का उल्लेख (शान्ति० अ० 284) शरीर में इन पंच महाभूतों के गुण-कर्म का उल्लेख (शान्ति० अ० 252) । सात्विक राजसिक तथा तामसिक प्रवृत्तियों का वर्णन (शान्ति० अ० 314) । वात-पित्त-कफ के गुण-कर्म तथा पांच प्रकार की वायु का वर्णन (शान्ति० अ० 185) ज़ठरानल का वर्णन (शान्ति० अ० 185) इत्यादि ।

(15) आयुर्वेद के अन्यान्य विषय भी महाभारत में प्रकीर्ण रूप से वर्णित मिलते हैं । जैसे आयु का क्षय-वृद्धि करने वाले शुभाशुभभावों का वर्णन (वन० अ० 1०4). संजीवनी विद्या का वर्णन (शान्ति. अ० 153) था आदि 76।8 संजीवनीमणि का वर्णन (अश्व. अ. 80/42-52). जीव के गर्भ में प्रवेश करने का वर्णन (अश्व. अ. 1।8). अश्विनी कुमारों द्वारा महर्षि च्यवन को पुनर्यौवन प्रदान करने की उल्लेख (अनु, अ. 123). गंगा में स्नान करने से अष्टावक्र के अंगों के सीधे हो जाने का उल्लेख (अनु. अ. 134)

(16) महाभारत में प्रसंगानुसार विभिन्न रोगों का उल्लेख मिलता हैं । जैसे—ज्वर की संज्ञाओं का उल्लेख (शान्ति 283/37 से 551). यक्ष्मा रोग का उल्लेख (शल्य. 35/61-62). स्कन्धग्रह तथा स्कन्धापस्मार का उल्लेख (वन. अ. 230)

(17) विभिन्न रोगों के प्रतिकार एवं चिकित्सा-विषयक अनेक उद्धरण प्रकीर्ण रुपेण महाभारत में विद्यमान हैं । यथा चन्द्र के रोहिणी पर विशेष आसक्त होने के कारण उसके शरीर में राजयक्ष्मा की उत्पत्ति और देव भिषक् अश्विनी कुमारों द्वारा उसकी चिकित्सा का वर्णन (शल्य. 35/45-86). पितरों तथा देवों के अजीर्ण और ग्रहणी रोग से पीड़ित होने तथा उसके प्रतिकार व चिकित्सा का उल्लेख (अनु. अ. 92/91). अश्विनो कुमारों द्वारा मान्धाता के पेट का पाटन कर बाहर निकालने का वर्णन (द्रोण. अ. 62 ।).

(18) विविध विष, विष का प्रभाव और उसके प्रतिकार व चिकित्सा-सम्बन्धी प्रकरण भी महाभारत में मिलते हैं । जैसे—कालकूट विष का उल्लेख (आदि. अ. 18). हरिताल एवं हिंगुल के गुण-कर्मो का वर्णन (अनु.अ. 158). स्थावर विष को जंगम विष द्वारा नष्ट किए जाने संबंधी सिद्धान्त का उल्लेख (127/53-59). विष से मूर्च्छित और उसके प्रतिकार का वर्णन (आदि. 126/53-59). विष पर मंत्रों का प्रभाव [आदि. 50/34], इत्यादि ।

उपर्युक्त कतिपय उद्धरणों से स्पष्ट है कि महाभारत में अनेक स्थलों पर आयुर्वेदीय विषयों का उल्लेख आया है ।

सचित्र आयुर्वेद

पाणिनीय व्याकरण में आयुर्वेद सम्बन्धी उद्धरण

SACHITRA AYURVED

वैद्यराज पं० सुन्दरलाल जैन, वैद्यरत्न

विश्व के समस्त व्याकरणों में पाणिनीय व्याकरण सर्व प्राचीन है। आज जबकि विज्ञान, साहित्य-व्याकरण, शास्त्र, भाषा विज्ञान आदि के क्षेत्र में पर्याप्त विकास, नवीनतम उपलब्धियों और उत्कृष्ट ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है, यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है कि पाणिनीकृत व्याकरण के मुकाबले मे अभी तक एक भी ग्रंथ प्रकाश में नहीं आया है। संस्कृत भाषा के लिए पाणिनी का व्याकरण जिस कोटि का है, उस कोटि का एक भी व्याकरण ग्रंथ विश्व की किसी भी भाषा के लिए उपलब्ध नहीं है। अत: नि:सन्देह पाणिनीय व्याकरण न केवल ऐतिहासिक दृष्टि से अपितु अन्य दृष्टि सें भी एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है।

पाणिनी के विषय में पर्याप्त जानकारी या सामग्री उपलब्ध न होने से उन सम्बन्धी अनेक बातें इतिहास के गर्भ में विलीन हैं। यही कारण है कि उनका समय असन्दिग्ध नहीं है और इतिहासवेत्ता तथा अन्य विद्वान उनके काल-निर्णय के विषय में एकमत नहीं हैं। कतिपय पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार पाणिनी का समय ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी है, जब कि अन्य विद्वान 700 ई० पूर्व से 500 ई० पूर्व तक मानते हैं। उनके अनुसार पाणिनी महात्मा बुद्ध के पूर्ववर्ती हैं। कुछ भी हो, पाणिनी के काल की सीमा 400 ई० पूर्व से 700 ई० पूर्व तक निर्विवाद है। वे इस कालावधि में ही रहे हैं।

महाभाष्य में प्राप्त उल्लेख के अनुसार पाणिनी को "दाक्षिपुत्र" कहा गया है। उनके एक नाम "शलातुरीय"

का उल्लेख भी मिलता है। इन दोनों नामों में से प्रथम नाम उनकी माता "दाक्षि" और द्वितीय नाम उनके स्थान "शलातुर" का संकेत करता है। यह भी उल्लेख मिलता है कि पाणिनी का अध्ययन तक्षशिला में हुआ था। उन्होंने पाटलिपुत्र में भी उपाध्याय वर्ग से विद्याध्ययन किया था। किन्तु मन्द बुद्धि होने के कारण वे वहाँ से छोड़ कर अन्यत्र चले गए थे। कुछ काल पश्चात् वे पुनः पाटलिपुत्र आए थे और वहाँ अपने पुराने सहाध्यायी वररुचि को शास्त्रार्थ में परास्त किया था। कवि प्रवर राजशेखर ने अपने ग्रंथ "काव्य मीमांसा" में इस बात का उल्लेख किया है कि पाटलिपुत्र में पाणिनी की परीक्षा ली गई और उसमें सफल होने पर उनकी ख्याति चारों ओर फैल गई।

पाणिनीय व्याकरण के विभिन्न सूत्रों में आयुर्वेद सम्बन्धी विविध विषयों का प्रसंगानुसार जो उल्लेख मिलता है वह ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यहां पर अष्टाध्यायी के आयुर्वेद सम्बन्धी कतिपय महत्वपूर्ण सूत्रों का उल्लेख किया जा रहा हैं—

1. पाणिनीकृत शिक्षा तथा अष्टाध्यायी में आयुर्वेद के आचार्यों का उल्लेख (5/1/11, 4/105)

2. त्रिदोष का उल्लेख (5/1/39, 5/2/39,,5/2/97)। इसके अतिरिक्त पाणिनी सूत्र—'तस्य निमित्त संयोगोत्पातो। 5/1/39 पर कात्यायन ने वात-पित-कफ का उल्लेख किया है।

3. औषधि और औषध में भेद (औषधेरजातौ-5/4/37) इसका तात्पर्य यह है कि वनस्पति और जड़ी-बूटी के लिए 'औषधि' और तैयार दवाई के लिए 'औषध' शब्द का प्रयोग किया जाता था।

4. रोग के लिए (गद' (6/3/70) और 'उपताप' (7/3/11) पर्याय का प्रयोग। छूत की बीमारी के लिए 'स्पर्श रोग' (3/3/16) संज्ञा का प्रयोग।

5. 'सिध्मादिभ्यश्च' (5/2/97) से सिध्मल, 'अर्श आदिभ्यो च' (5/4/49) रोग के नाम के साथ तस् प्रत्यय जोड़ कर कृ धातु से शब्द बनाए जाते थे। जैसे प्रवाहिकातः कुरू। कासतः कुरू, छर्दिकातः कुरू इनका अर्थ यह होता था कि प्रवाहिका की चिकित्सा करो। कास की चिकित्सा करो। छर्दि की चिकित्सा करो।

8. दूसरे या चौथे दिन आने वाले ज्वर के लिए क्रमशः द्वितीयक और चतुर्थक शब्द का प्रयोग किया जाता था। काल प्रयोजनाद् रोगे (5/2/81)।

9. सर्दी देकर चढ़नेवाले ज्वर को "शीतक" और गर्मी से आने वाले ज्वर को "उष्मक" कहा जाता था। विषपुष्प से उत्पन्न ज्वर "विषपुष्पक" कहलाता था।

10. पाणिनीय व्याकरण में रोगवाची शब्द बनाने में विशेष पद्धति अपनाई गई हैं। धातु में "ण्वुक्" प्रत्यय जोड़ कर रोगवाची एक ही ढंग से बनाए जाते थे। जैसे—प्रच्छर्दिका, प्रवाहिका, विचर्चिका आदि।

11. रोग के आधार पर भी उस समय रोगी का सम्बोधन किया जाता था जिसके आधार पर कुष्ठी, किलासी, यक्ष्मी, उन्मादी, वातकी, गुल्मी, अतिसारकी। वातातिसाराभ्यां (5/2/129)। आदि कहा जाता था।

12. पाणिनी के कतिपय सूत्रों में आयुर्वेद के अनेक आचार्यों का नामोल्लेख मिलता है। जैसे—"गर्गादिभ्यो-यत्र" (4/1/105) के गर्गादिगण में जतुकर्ण. पराशर, अग्निवेश आदि आचार्यों का नामोल्लेख मिलता है।

इस प्रकार पाणिनी काल जो लगभग ईसा से 500 वर्ष पूर्व निश्चित किया गया है; में आयुर्वेद के विभिन्न विषयों से सम्बन्धित ज्ञान का पता चलता है।

वाल्मीकि रामायण में आयुर्वेदीय मौलिक सिद्धान्त सम्बन्धी सामग्री

सुशीला देवी जैन
2989/1, गली नं० 11, रणजीत नगर,
नई दिल्ली-110008

महर्षि वाल्मीकिकृत रामायण भारतीय साहित्य जगत् का प्रथम महाकाव्य है, जो विश्व साहित्य के प्राचीनतम महाकाव्यों की तुलना में भाषा, भाव, छन्द, रचना-विधान और रस-व्यंजना सभी दृष्टियों से एक उत्कृष्ट कृति मानी जाती है। रामायण अपने मूल रूप में संस्कृत का आदि महाकाव्य है जो कतिपय परवर्ती महाकाव्यों-काव्यों का प्रेरणास्रोत रहा है। रामायण भारतीय संस्कृति और साहित्य की एक ऐसी अमूल्य निधि है जिसने चिरकाल से विविध रूप से भारतीय जन जीवन को आप्यायित किया है। रामायण भारतीय परिवारों की धर्मपोथी, भारतीय आचार-विचार और संस्कार सम्बन्धों का बहुमूल्य आदर्श ग्रंथ, भारतवासियों की चिरन्तन भक्ति भावना, ज्ञान भावना और धार्मिक भावना का प्रतिनिधि ग्रंथ है।

रामायण का मुख्य प्रतिपाद्य विषय राम का चरित्र है। भगवान राम के चरित्र के माध्यम से महाकवि वाल्मीकि ने धार्मिक संस्कार, तत्कालीन संस्कृति, बंधुत्व भाव, आदि अनेक विषयों की उद्भावना की है। सम्पूर्ण महाकाव्य में अनेक स्थलों पर प्रसंगवश ऐसे विषयों का भी प्रतिपादन हुआ है जो आयुर्वेदीय मौलिक सिद्धांत तथा आयुर्वेदीय अन्य पक्षों से सम्बन्धित हैं। ऐसे ही कतिपय उद्धारण यहां प्रस्तुत हैं।

मेष वृषण-इन्द्र—के नामों में एक नाम 'मेषवृषण' भी है। एक बार गौतम ऋषि के शाप से इन्द्र के वृषण निकम्मे हो गए थे। उसके लिए अश्विनीकुमारों ने मेष के वृषण लगाए थे। इसीलिए उसका नाम 'मेष वृषण' हुआ। (वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड (49।8,10,12)

मूढ़गर्भ में शल्यकर्ण—सीता जी ने अपने दुःखों का वर्णन करते हुए पवनसुत हनुमान जी के द्वारा राम को जो सन्देश भिजवाया उसमें उक्त विषय उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। जैसे-"यदि राम शीघ्र नहीं आयेंगे तो अनार्य राक्षस रावण मेरे अंगों को अवश्य तेज शस्त्रों से बहुत जल्दी उसी प्रकार काट देगा जिस प्रकार शल्य चिकित्सक गर्भस्थ शिशु के अंगों को काटकर बाहर कर देता है।"

—(वाल्मीकि रामायण, सुन्दरकाण्ड 28।6-9)

तैलद्रोणी—भारतीय परम्परा के अनुसार अनेक वस्तुओं को सुरक्षित रखने का उपाय तैल और मधु है। घरों में अचार, लकड़ी आदि तैल में ही सुरक्षित रखे जाते हैं। राजा दशरथ के शव को भी भरत के आने तक तैल में ही सुरक्षित रखा गया था। (वा॰रा॰अयो॰ 14-16)

वृक्षवनस्पति—रामायण में अनेक वृक्षों व वनस्पतियों का उल्लेख विभिन्न स्थलों पर विभिन्न प्रसंगों में किया गया है। जैसे-कुटज, अर्जुन, कदम्ब, सर्जनीम, सप्तच्छद, अशोक,असन, सप्तपर्ण, कोविदार, बन्धुजीव आदि। ये सभी वृक्ष और वनस्पतियां औषधि रूप में आयुर्वेद में प्रयुक्त की जाती हैं।

आसद तथा अन्य द्रव्य—रामायण में रावण की पानभूमि का उल्लेख है। इसमें पानभूमि का वर्णन, अनेक प्रकार के आसवों का उल्लेख, मद्य, मांस और विविध प्रकार के चूर्ण आदि का वर्णन बहुत अच्छे ढंग से किया गया है जो पूर्णतः आयुर्वेद-शास्त्र-सम्मत है। रावण की पान-भूमि अग्नि बिना भी जलती हुई दिखती थी। इसका अनेक प्रकार से संस्कार किया गया था। नाना विधिपूर्वक उचित प्रकार से बनाए गए अनेक मांस वहां पर विद्यमान थे। नाना प्रकार की निर्मल-प्रसन्न सुरा, शर्करासव, माध्वीक, पुष्पासव, फलासव वहां पर थे। नाना प्रकार के सुगन्धित चूर्ण वहां रखे हुए थे। बहुत-सी मालाएं वहां थी। स्वर्ण और स्फटिक के पात्र वहाँ पर थे। जाम्बूनद के पात्र ओले-बर्फ के अन्दर रखे थे। चांदी, मिट्टी तथा स्वर्ण के पात्रों में सुरा रखी थी। कहीं पर आधे खाली पात्र पड़े थे, कहीं पर बिलकुल खाली पात्र पड़े थे और कहीं पर बिना पिये भरे पात्र पड़े थे। कहीं पर नाना प्रकार के भक्ष्य थे और कहीं पर अनेक प्रकार के पेय थे।

औषधि पर्वत—रामायण के युद्ध काण्ड में औषधि पर्वतानयन अध्याय है, जिसमें हनुमान औषधि पर्वत को लंका में लाये थे। औषधि पर्वत की पहचान बतलाते हुए हिमालय के पास कांचन पर्वत (स्वर्ण पर्वत) और कैलाश के शिखर का वर्णन किया गया है। इनके बीच में समस्त औषधियों से युक्त पर्वत हैं। इन पर्वतों पर जो औषधियां हैं वे मृतसंजीवनी, विशल्यकरणी, सावर्ण्यकरणी तथा संधानकरणी हैं—

मृतसंजीवनीं चैव विशल्यकरणी मपि :
सावर्ण्यकरणी चैव सन्धानकरणी तथा ।।
ताः सर्वाहनुमन् गृह्य क्षिप्रमागन्तुमर्हसि

—वाल्मीकि रामायण, युद्ध काण्ड 74।33

अर्थात् हे हनुमान ! मृतसंजीवनी, विशल्यकारणी, सावर्ण्यकरणी और सन्धानकरणी इन सभी औषधियों को लेकर शीघ्र आओ।

इन सभी औषधियों को लेकर हनुमान शीघ्र आ गए थे। इन औषधियों के आ जाने से सभी मृत बानर शल्य-रहित, पीड़ा-रहित और स्वस्थ हो गए थे। इन औषधियों की गंध सूंघते ही सब मृत बानर ऐसे उठे मानों नींद से उठे हों।

तावप्यभौ मानुषराजपुत्रो तंगंधनघ्राय महौषधीनम्।
बभूवस्तत्र तदा विशल्यावुत्तस्थुरन्ये च हरिप्रवीराः ।।

—वा॰ रा॰ युद्ध॰ 74।73

अर्थात् उन औषधियों की गंध को सूंघकर वे दोनों मानुष राजपुत्र उस समय शल्यरहित उठ गए और अन्य बानर वीर उठ खड़े हुए।

मृत और जीवित परीक्षा—शक्ति लगने पर जब लक्षण मूर्च्छित हो गए तब राम ने उन्हें मृत समझा। उस समय सुषेण वैद्य ने उनके जीवित होने के निम्न लक्षण बतलाए--

न ह्यस्य विकृतं वक्त्रं न च श्यामत्वमागतम् ।
सुप्तायं च प्रसन्नं च मुरमस्य निरीक्ष्यताम् ।।
पद्मपत्र :लौ हस्तौ सप्रसन्ने च लोचने ।
नेदृशं दृश्यते रुपं गतासूनां विशाम्पते ।।

—वा॰ रा॰ यु॰ 101/25-26

अर्थात् इसका मुख नहीं बदला, न काला पड़ा, न कान्ति-रहित हुआ, वह अच्छी प्रभायुक्त है; प्रसन्न हैं, हथेलियां लाल कमल के समान हैं और आंखें निर्मल हैं। मृत व्यक्तियों का ऐसा रूप नहीं होता। हे राम! आपका भाई दीर्घायु है, लम्बी आयुवालों का ही ऐसा मुख होता है।

लक्षण को पुनर्जीवित करने के लिए औषधिपर्वत से दक्षिण किनारे की औषधि को लाने का निर्देश हनुमान को दिया गया था। हनुमान वहां जाकर निर्दिष्ट औषधि को न पहचान सके। अतः हनुमान पर्वत के एक भाग को ही ले आए। सुषेण वैद्य ने औषधि को उखाड़ कर बानरों को दिया। वानरों ने इसे कूटा और इसका नस्य सुषेण ने लक्ष्मण को दिया। उसे सूंघ कर लक्ष्मण पीड़ा-रहित होकर उठ खड़े हुए। (वा० रामा० युद्ध 6/102)

वैद्य शब्द का प्रयोग--रामायण में ही चिकित्सक के लिए 'वैद्य' शब्द का प्रयोग सम्भवतः सर्वप्रथम किया गया है। इससे पूर्व सम्पूर्ण वैदिक साहित्य अथवा वेदों में चिकित्सक के लिए 'भिषक्' शब्द का प्रयोग हुआ है। वैद्य शब्द का प्रयोग नहीं। रामायण में निम्न रूप में वैद्य शब्द का प्रयोग दृष्टव्य है--

प्रधानं साधकं वैद्यं धर्मशीलं च राक्षसः।
ज्ञातयो ह्यमन्यन्ते शूरं परिभवन्ति च॥

--वा० रामा० युद्ध० 16/4

इस प्रकार रामायण में विभिन्न स्थलों पर प्रसंगवश आयुर्वेद-सम्बन्धी उदाहरण मिलते हैं जिससे आयुर्वेद शास्त्र की व्यापकता, एवं उपयोगिता का सहज ही आभास मिलता है।

संजीवनी औषधि का उल्लेख

राम-रावण युद्ध में इन्द्रजित के अस्त्र से तथा रावण की शक्ति से जब बानर सेना और लक्षण हताहत और मूर्च्छित हुए तब रामसेना के महाशल्य चिकित्सक सुषेण वैद्य के कहने पर दो बार इन औषधियों का उपयोग किया गया और दोनों बार बानर सेना तथा लक्षण पुनर्जीवित हो गए। युद्ध की इन दोनों घटनाओं के विवरण में महर्षि वाल्मीकि ने इन औषधियों का परिचय दिया है। नइ औषधियों के लिए '**औषधीनां पराभूमिर्हिमवान् शैल सत्तमः।**' के ऋषभ और कैलाश शिखरों के बीच का स्थान बतलाया है। तथा '**भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च**' इस प्रकार की वे दीप्तिमान होती हैं। इसके अतिरिक्त यह भी कहा है--

तयोःशिखरयोर्मध्ये प्रदीप्तमतुलप्रभम्।
सर्वौषधियुतं वीर द्रक्ष्यस्यौषधिपर्वतम्॥
तस्य वानर शार्दूल चतस्रो मूर्ध्निसम्भवाः।
द्रक्ष्येस्योषधयो दीप्ता दीपयन्तोर्दिशो दश॥
मृतसंजीवनीं चैव विशल्य करणीं तथा।
सवर्णकरणीं चैव संधानीं च महौषधीम्॥
संजीवनार्थं वीरस्य लक्ष्मणस्य त्वमानय।

(रामायण)

इन औषधियों का अववारण (प्रयोग) नासामार्ग द्वारा किया जाता था यह भी प्रतिपादित है।

ततः संक्षोदयित्वा तामोषधि वानरोत्तमः।
लक्ष्मणस्य ददौ नस्तः सुषेणः सुमहाद्युतिः॥
सशल्यः समोघ्राय लक्ष्मणः परवीरहा।
विशल्यो विरुजः शीघ्रमुदतिष्ठन् महीतलात्॥

पुनश्च

आमोदमाघ्राय महौषधीनां सौमित्रिरुन्मीलित पद्मनेत्रः।

वाल रामायण

फिर दिन भर परिश्रम करके थका हुआ मनुष्य रात्रि में गाढ़ी नींद लेकर प्रातःकाल जैसे प्रसन्न चित्त और पूर्ण स्वस्थ होकर उठता है वैसे इन औषधियों के प्रभाव से हताहत यथा मूर्छित मनुष्य प्रसन्नचित्त और स्वस्थ होकर प्रवोधित होते हैं—ऐसा भी इन औषधियों की कार्य करने की पद्धति का विवरण मिलता है—

गन्धेन तासां प्रवरौषधीनां सुप्ता निशान्तेष्विव संप्रबुद्धः।

(रामायण)

केवल रोग चिकित्सा के लिए ही नहीं रोग प्रतिबन्धन के लिए भी इन औषधियों का उपयोग किया जाता था। रामचन्द्र जी जब वनवास जाने लगे तब माता कौशल्या ने विशल्यकरणी औषधि अभिमन्त्रित करके रामचन्द्र जी के हाथ में बांध दी थी जिससे उनके ऊपर हताहत और मूर्च्छित होने की आपत्ति न आ सके—'**औषधी च सुसिद्धार्थां विशल्यकरणीं शुभाम्। चकाररक्षां कौशल्या मन्त्रैरभिजजाप च॥**' **(रामायण)**

इस प्रकार रामायण में अनेक उद्धरण आयुर्वेद के सम्बन्ध में उपलब्ध होते हैं। वैज्ञानिक विधिपूर्वक इन उद्धरणों का शोध विषय के रूप में अध्ययन किया जाना अपेक्षित हैं।

सचित्र आयुर्वेद
SACHITRA AYURVED

आयुर्वेद में वानस्पतिक औषधियों का समावेश

श्री निरंजनचन्द्र शाह
केन्द्रीय भारतीय औषधि पौधा संगठन
सीतापुर रोड, लखनऊ

आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्त विश्व में अद्वितीय हैं। यह केवल दवा-दारु का शास्त्र नहीं। यह वह प्रणाली है जो ऐसे सिद्धान्तों पर आधारित है जो सृष्टि-निर्माण के साथ-साथ वैज्ञानिक एकता रखते हैं तथा प्रकृति के अनु-कूल हैं। विश्व की किसी भी चिकित्सा पद्धति की तुलना आयुर्वेद से नहीं की जा सकती क्योंकि आयुर्वेद का मूल सिद्धान्त "प्राणी मात्र को जीवन देना" रहा है। और जीवनदान केवल मानव जाति के लिंए नहीं, अपितु इस धरातल के पशु एवं वनस्पति के लिए भी इस शास्त्र ने जीवनदान देने की परियोजना रही है।

अथर्ववेद में चिकित्सा

भारत में अथर्ववेद से पूर्व चिकित्सा का क्या स्वरूप था यह तो प्रत्यक्ष रूप से नहीं कहा जा सकता परन्तु इतना अवश्य है कि अथर्ववेद के काल में तथा उसके पश्चात ही वेदकालीन चिकित्सा को एक नई धारा प्राप्त हुई, जैसा कि विदित है कि अथर्व वेद प्रमुख रूप से अथर्वा ऋषि के ज्ञान का संकलन है, और इसी वेद में भेषज सम्बन्धी वर्णन अन्य समस्त वेदों से अधिक है।

अथर्व वेद के काल में मुख्यतः चार प्रकार की चिकित्सा पद्धतियां थी जिन्हें कि आथर्वणी चिकित्सा कहा जाता था और इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत अथर्वा, दध्यं गाथर्वा आदि ऋषि आते हैं। इस पद्धति द्वारा जल का प्रोक्षण करके चिकित्सा की जाती थी तथा इस वर्ग के

चिकित्सक 'योग विद्या' में निपुण थे, हृदय व मस्तिष्क का निकटतम सम्बन्ध बतलाने का अनुसंधानात्मक कार्य भी सर्वप्रथम इसी सम्प्रदाय ने किया। शारीराग्नि तथा शरीर की विद्युत का पता भी सर्वप्रथम इसी सम्प्रदाय ने लगाया। इस सम्प्रदाय के लोग मणियों द्वारा भी चिकित्सा किया करते थे जो अपने प्रभाव से रोगों का निवारण करने में समर्थ होती थी। इस मणियों का उल्लेख अथर्व वेद में यदा-कदा मिलता है इनमें मुख्य हैं जांगम मणि, दर्भ इत्यादि।

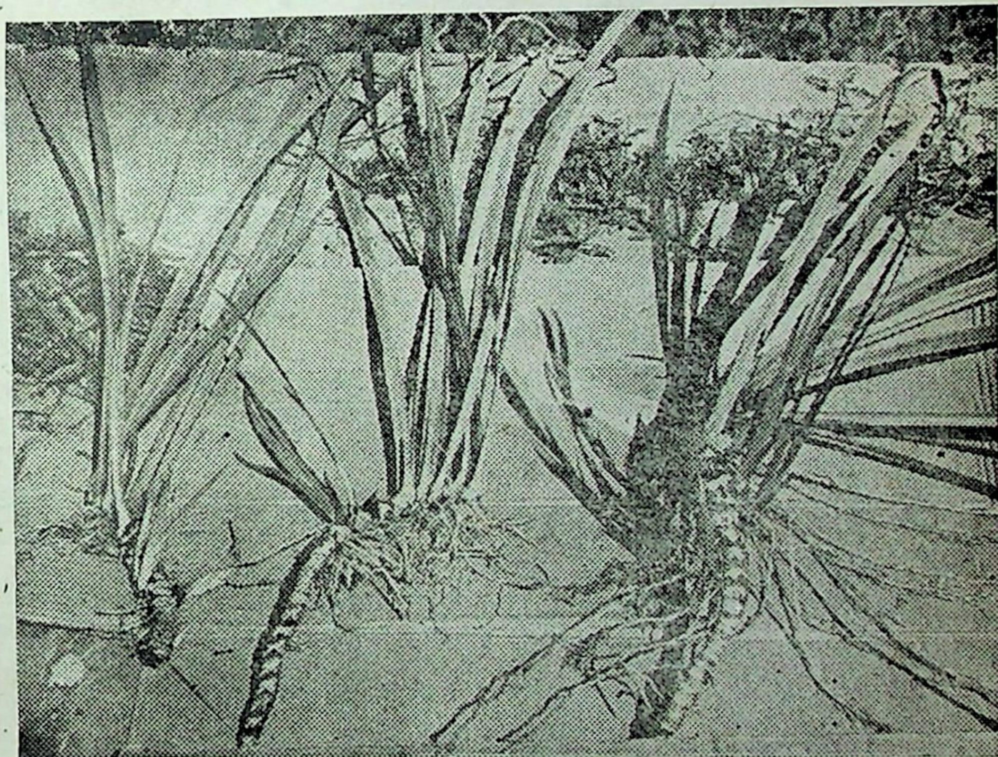
दूसरा सम्प्रदाय अंगिरस कहलाता था। इस वर्ग के चिकित्सक शरीर ग्रंथियों (Glands) से निःसृत रसों का विशिष्ट ज्ञान रखते थे। इस संप्रदाय की चिकित्सा का उल्लेख केवल अथर्ववेद में ही नहीं, अपितु ब्राह्मण एवं उपनिषद् काल में भी प्राप्त होता है।

तीसरी चिकित्सा पद्धति दैवी नाम से जानी जाती थी जो प्राकृतिक चिकित्सा (Nature cure) के ही समान थी। इस चिकित्सा के अन्तर्गत जल, वायु, अग्नि, सूर्य आदि द्वारा की हुई चिकित्साओं का समावेश रहता था।

चौथी प्रकार की चिकित्सा जनसाधारण में प्रचलित थी। इस वर्ग के चिकित्सक खनिज एवं वानस्पतिक औषधियों को कूट-पीस कर स्वरस एवं चूर्ण आदि का निर्माण करके चिकित्सार्थ प्रयोग में लाते थे, और आज-कल केवल इसी चिकित्सा का स्वरूप मुख्यतः देखने को मिलता है।

प्रश्न यह उठता है कि किस प्रकार वानस्पतिक औषधियों का समावेश इस चिकित्सा-पद्धति में हुआ, यह तो सर्वविदित ही है कि ऋषि-मुनि लोग ही इस काल में इस शास्त्र के ज्ञाता थे। ऋषि मुख्यतः दो प्रकार के होते थे—(१) शालीन (२) यायावर। शालीन ऋषि लोग एक स्थान पर स्थिर रहते थे तथा चिंतन-मनन किया करते थे। यायावर ऋषि देश के एक भाग से दूसरे भाग में भ्रमण कर ज्ञान अर्जित किया करते थे, जिनमें मुख्यतः औषध ज्ञान भी रहता था और फिर वे इनका संकलन किया करते थे।

अथर्ववेद से पूर्व के वेदों में वानस्पतिक औषधियों की संख्या बहुत ही कम थी, और ऋग्वेद के पूर्व भाग की तो रचना आर्य्य लोग अपने मूल स्थान ही से करके लाये थे और इसी कारण इसमें वानस्पतिक औषधियों की संख्या बहुत ही कम है और बहुत-सी औषधियों की पह-



बच—जिसका चरक संहिता से पूर्व का कोई नाम ज्ञात नहीं। यह औषध भी जटामांसी, गुगुल, कुष्ठ आदि की तरह भारत से लगभग ३००० ई० पू० से आज तक निर्यात होती चली आ रही है।

चान करना तो और भी कठिन है।

अथर्ववेद की रचना के समय तथा इसके पश्चात् आर्य लोग भारत की धरती पर पूर्ण तरह से बस गये थे तथा वे अपने पूर्व देवी-देवता—वरुण, इन्द्र, अग्नि, वायु तथा सोम इत्यादि को भूलते जा रहे थे।

ऋग्वेद से पूर्व:

मेरे विचार से आर्यों के आगमन के पूर्व भी भारत में जो मूल जाति सिंध की घाटी पर व्याप्त थी उनकी भी एक चिकित्सा पद्धति थी और वे भी यहां पर उपलब्ध औषधियों का उपयोग किया करते थे। इसका सबसे प्रमुख प्रमाण यह है कि यहां के लोग नाना प्रकार की औषधियां तथा सुगंधित पदार्थों का निर्यात मिश्र, असीरिया, बेबीलोनिया आदि देशों को समुद्री मार्ग तथा थल मार्ग द्वारा किया करते थे और इनमें मुख्य थीं—बच, जटामांसी कुष्ठ, कुलंजन, हींग, गुगुल, चंदन, अगरू इत्यादि। ये वे वनस्पतियां थीं जिनकी उपज उस समय स्थित भारत में हुआ करती थी। इतना ही नहीं, जो औषधियाँ चीन तथा पूर्वी द्वीप-समूह में होती थी जैसे—दाल चीनी, तथा मसाले इत्यादि वे भी पहले भारत में आती थी और फिर उनका निर्यात होता था। मेसोपोटामियां से प्राप्त 'असीरियन हरबल' में अनेक भारतीय औषधियों के नाम मिलते हैं जो आर्यों के यहाँ आने से पूर्व निर्यात की जाती थी।

आर्यों के भारत आने के पश्चात्:

आर्यों ने भारत आने के पश्चात् यहाँ की मूल जाति का नामो-निशान मिटा दिया और उनके सारे कार-बार जैसे कृषि, व्यापार इत्यादि अपने हाथों में ले लिये। उनकी चिकित्सा पद्धति को अपनाया तथा उनके द्वारा प्रयोग की जाने वाली जड़ी-बूटियों को भी साथ में अपनाया। इतना ही नहीं, उन्होंने 'असीरिया' जिसका कि महाभारत तथा पुराण इत्यादि में 'असुर लोक' नाम से वर्णन है, वहाँ से भी चिकित्सा के विज्ञान को सीखा, चीन तथा पूर्वी द्वीप समूह इत्यादि से भी उन्होंने औषध का ज्ञान अर्जित किया और अपने औषध ज्ञान को बढ़ाया,

चरक (लगभग २००-३०० वर्ष ई. पू.) के समय तक वनस्पतिक औषधियों की संख्या लगभग ४००-४५० हो गई तथा सुश्रुत (२००-३०० ई०) के समय में यह संख्या लगभग ५७३ हो गई। चरक ने बिखरे हुए ज्ञान को एक स्थान पर संकलित करके 'चरक संहिता' का निर्माण किया जो आज आयुर्वेद के मूल ग्रंथ के रूप में माना जाता है,



जटामांसी अथर्ववेद में जिसेनलद कहा गया है और जो आर्यों के भारत में आने के संपूर्व भारत से आज तक निर्यात होती चली आ रही है।

पौराणिक काल

अथर्ववेद से चरक काल तक के मध्य में चिकित्सा के स्वरूप तथा उपयोग में आने वाली वानस्पतिक औषधियों के बारे में कुछ

भी सामग्री प्राप्त नहीं होती है, भारत के इतिहास में यह काल बहुत ही महत्वपूर्ण है इसे पौराणिक तथा उपनिषद काल भी कहा जाता है।

महाभारत, रामायण, पुराणों तथा ब्राह्मणों में अनेक भौगोलिक स्थान एवं वहाँ पर उगने वाली औषधियों का यदा-कदा वर्णन मिलता है यद्यपि इन ग्रंथों में अर्थवाद अधिक है, और इन ग्रंथों से आवश्यक सामग्री निकालने में कुछ सावधानी की आवश्यकता है। विशेषत: पुराणों से जिनमें भौगोलिक स्थानों की चर्चा अधिक है।

यहां पर मैं श्री रत्नाकर शास्त्री द्वारा लिखित ग्रंथ 'भारत के प्राणाचार्य' का उल्लेख करना उचित समझूंगा जिन्होंने अपनी विद्वत्ता एवं परिश्रम से इस पुस्तक में स्वर्ग तथा नरक का भौगोलिक एवं साहसिक वर्णन किया है। और उन्होंने सिद्ध कर दिया है कि हिमालय प्रदेश ही आर्यों का स्वर्ग था तथा हिमालय से नीचे का प्रदेश नरक था।

इन पुराणों से हमें भौगोलिक सामग्री मिल सकती है। प्रश्न है केवल परिश्रम, लगन तथा उपयुक्त पुस्तकालय का। इस समय मुझे वयोवृद्ध रिचर्ड गार्डन वासन का ध्यान आया, जिन्होंने 'अयानिता यस्कारिया' कवक को ऋग्वेद का सोम सिद्ध करने के लिये लगभग सम्पूर्ण विश्व के पुस्तकालयों का भ्रमण किया। और ऋग्वेद की ऋचाओं को एक नई दृष्टि से देखा।

वाग्भट्ट (५०० ई०) के समय तक

इन औषधियों की संख्या लगभग ७००-८०० तक पहुंच गई थी।

गुप्तकाल के पश्चात् :

गुप्तकाल के पश्चात् तो भारत बाहर के आक्रमणकारियों का गढ़ बना रहा। ईसा की ७वीं शताब्दी के बाद तुर्कों, शकों, अरबों और ईरानियों के आक्रमण यहां पर होते रहे जिनसे यहां की ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं का विनाश हुआ जिनमें आयुर्वेद की चिकित्सा-पद्धति भी सम्मिलित है।

मुगल साम्राज्य स्थापित हो जाने के पश्चात आयुर्वेद में कई यूनानी वानस्पतिक औषधियों का समावेश हुआ। अंग्रेजों के भारत आने पर आयुर्वेद में कई और औषधियाँ जुड़ गई। और इस समय सारे देश में प्रचलित औषधियों की संख्या, जो प्रयोग में आती है; वह लगभग १००० है। इतनी औषधियों का स्वरूप, गुण तथा कर्म का ज्ञान रखना सचमुच में एक चुनौती है।

भारत में पाई जाने वाली वानस्पतिक औषधियों का अन्यत्र प्रयोग:

ये जो औषधियाँ आयुर्वेद में प्रयोग की जाती है या जिनका उसमें वर्णन है क्या इनका प्रयोग केवल भारत ही में होता है? इसका उत्तर है नहीं। क्योंकि ये औषधियाँ अगर विश्व के किसी अन्य भाग में पाई जाती है तो वहाँ की मूल अथवा आदिम जाति इसका प्रयोग करती हैं। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं :

अफ्रीका में—एम्बेलिया (Embelia) को एक जाति का प्रयोग विडंग के समान किया जाता है।

चीन में—Dendrobium nobile (डेन्ड्रोबियम नोबाइल) का प्रयोग-रसायन एवं बाजीकरण के लिये किया जाता है जो हमारे यहां जीवन्ती के नाम से जानी जाती है। इसी प्रकार बच, चिरायता, तेजबल, यष्टि-मधु, विष, अपामार्ग (Acorus calamus, Swertia Japonica, Zanthoxylmy Bipesitum, Glzcyrhyza glabra, Aconitlum fourieri, Achyranthes bientata) इत्यादि का प्रयोग भी औषध में किया जाता है।

मेक्सिको में—एक मानव जाति त्रिपाटी इंडियन Chiantee Indian) कहलाती है। यहाँ के चिकित्सक साबू (Sabu , कहे जाते हैं। ये हमारे वैदिक भिषकों के सदृश्य ही चिकित्सा इत्यादि करते है। किसी औषध को खोदने से पूर्व व ईश्वर से प्रार्थना करते है और फिर पूर्ण सम्मान के साथ औषध को खोदते हैं। उनका कथन है कि अगर ऐसा नहीं किया जायेगा तो औषध लाभ के स्थान पर हानि पहुँचायेगी—और ये लोग Cissempelos parrira (सीसमपीलोस पेराइरा) पाठा का प्रयोग सांप के काटने पर करते हैं।

पनाम में—क्यूना इंडियन (Cuna Indian) Mucuna pruriens (कौंच) का प्रयोग बाजीकरण में करते हैं।

जापान के उत्तरी भाग में एक जाति Anu (आनू) रहती है जो Aconus calamus बच का प्रयोग कृमियों

के लिये Angelica rejracta (चोरक की जाति का प्रयोग भोजन इत्यादि में तथा Prunus padus (पर्या) का प्रयोग मणि के रूप में करते हैं।

सत्रौअन द्वीप में—अपामार्ग जिसे कि ला-आउ-लटा आला कहते हैं, Vetex trijolia (निगुंडी), Clerodendron inerme (भारंगी की जाति) Centella asiatica (ब्राह्मी), Tephrosia piscatoria (शर पुंख की जाति) Cassia occidentalcs (कासमर्द) Phyllanthus niruri (भूमी आवला), curcuma longa (हल्दी) Jatropha curces (मुगली एरंड) का प्रयोग किया जाता है।

यह तो हमने विश्व के स्थलों को बहुत ही सरसरी दृष्टि से देखा जहाँ पर उन औषधियों का प्रयोग होता है जो हमारी चिकित्सा प्रणाली में भी प्रयोग किये जाते हैं परन्तु ऐसे कई स्थल हैं जहां का साहित्य अध्ययन करने पर हम अपने यहाँ प्रयोग होने वाली औषधियों को ढूंढ सकेंगे तथा उनका गूढ़ अध्ययन कर सकेंगे।

उदाहरण के लिए मैंने Acorus calamus वच का अध्ययन किया और देखा कि विश्व के जिस भाग में यह होता है वहां पर इसका प्रयोग चिकित्सा में किया जाता है। वही नहीं भारत से इसका निर्यात लगभग ३००० वर्ष से होता चला आ रहा है। और आयुर्वेद चिकित्सा में इसके कई प्रयोग हैं। चरक से पूर्व इस औषधि का कोई वर्णन प्राप्त नहीं होता। परन्तु यह कैसे हो सकता है कि जो औषधि चरक से पूर्व विदेशों को निर्यात की जा रही थी उसका कोई नाम न हो? मैंने अपने शोध में यह पाया कि आयुर्वेद में जितने प्रयोग इस औषधि के किये जाते है वैसे प्रयोग विश्व में जैसे चीन, जापान, उत्तरी अमरीका, मेक्सिको इत्यादि में जहां पर पाया जाता है नहीं किये जाते हैं। अथर्ववेद में इस औषधि का नाम छुपा हुआ है परन्तु यह औषधि उस समय किस नाम से जानी जाती थी?

यह उदाहरण तो रहा एक ऐसी औषधि का जो विश्व के अन्य भागों में भी पाई जाती है।

अब लीजिये एक ऐसी औषधि जो भारत के अलावा विश्व के केवल एक या दो अन्य स्थानों पर पाई जाती हैं, जैसे जटामांसी या केवल भारत ही में पाई जाती है—जैसे कुष्ठ। जटामांसी एवं कुष्ठ वच की भांति आदि काल से भारत से निर्यात होती चली आ रही है। अथर्ववेद में इन औषधियों को क्रमश: नलद एवं कुष्ठ कहा गया है।

आदिकाल में भारत में जड़ी-बूटी खोदने का कार्य पहाड़ में रहने वाली किरात बालायें किया करती थी।

कैरातिका कुमारिका सका खनति भेषजनम।
हिरण्ययी मिटभ्रभि गिरीणामुप सानुष॥
अथर्ववेद १० । ४ । १४

किरातन मंगोल जाति के लोग थे, जो आर्यों के आने से पूर्व भारत के उत्तरी पहाड़ी भाग में रहा करते थे। और अब भी नेपाल, आसाम, भूटान इत्यादि में इन्हीं के वंशज स्थापित है।

सारांश में यह कहना उचित होगा कि प्रत्येक औषधि का आयुर्वेद में समावेश होने से पूर्व एक अपना इतिहास एवं भौगोलिक स्थान था जो आज भी अज्ञात है और जो प्रत्येक आयुर्वेदिक, वानस्पतिक, मानव जाति-सम्बन्धी शास्त्र के शोध को चुनौती देता है।

आयुर्वेद एवं योग

डा० सतीशचन्द्र शुक्ल*
बी० एस० सी०; बी० ए० एम० एम० एस० (ल० वि०)

वर्तमान समय में 'आयुर्वेद' तथा 'योग' दोनों पर ही अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर विशद रूप से ध्यान केंद्रित हो रहा है, जो यह सिद्ध करता है कि दोनों ही भारतीय संस्कृति की जनोपयोगी तथा अमूल्य देन हैं। प्रस्तुत विषय में संयोग से दो सामयिक तथा महत्वपूर्ण प्रसंगों पर एक ही साथ विचार किया जा रहा है।

भारतीय दर्शन मूल रूप से दो वर्गों में विभाजित है, आस्तिक दर्शन तथा नास्तिक दर्शन। आयुर्वेद वास्तव में 'जीवन का विज्ञान' है। वेद के दृष्टि-विन्दु से 'जीवन दर्शन' की व्याख्या करने वाले दर्शन आस्तिक कहे जाते हैं यथा न्याय दर्शन, वैशेषिक दर्शन, सांख्य दर्शन, मीमांसा दर्शन आदि तथा इसी में 'योग दर्शन' का भी समावेश हैं। आयुर्वेद में मूल सिद्धांतों के साथ 'दर्शन' के विभिन्न सिद्धांतों का समावेश किया गया है। दार्शनिक चिन्तन सभ्य मनुष्य का स्वभाव है परन्तु सभ्यता के इतिहास में दार्शनिक चिन्तन का विकास केवल कुछ ही देशों में हो सका। इन देशों में प्राचीन यूनान तथा भारतवर्ष का स्थान प्रमुख है। भारतीय दर्शन में नितान्त सूक्ष्म और विविध चिन्तन किया गया है जिसका 'आयुर्वेद एवं योग-दर्शन' की पृष्ठिभूमि में विशेष महत्व और विशिष्ट स्थान हैं।

* प्रभारी चिकित्साधिकारी
फिरोज गांधी स्मारक चिकित्सालय
गहली. कानपुर

'चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं।' चित्त त्रिगुणात्मक (सत्व, रज तथा तम) है, क्योंकि उसके कारण प्रकृति त्रिगुणात्मक है। चित्त के विषमाकार परिणाम को 'वृत्ति' कहते हैं। चित्त एक महासमुद्र है जिसमें 'वृत्ति' रूपी तरंगे उठती तथा लीन होती रहती हैं।

चित्त की पाँच वृत्तियाँ हैं —

१. प्रमाण—प्रत्यक्ष प्रमाण
अनुमान ,,
आगम ,,
२. विपयर्य
३. विकल्प
४. निद्रा
५. स्मृति

(वृत्ति निरोध का अर्थ वृत्तियों का अभाव अर्थात् नाश करना नहीं है क्योंकि योग तथा आयुर्वेद दोनों ही 'सत्कार्यवाद' को मानते हैं तथा सत्कार्यवाद के अनुसार किसी भी सत् पदार्थ का नाश नहीं होता है)

योग के अनुसार तेरह करण हैं—बुद्धि, अहंकार तथा ग्यारह इन्द्रियां। बुद्धि की निश्चयामिका वृत्ति, अहंकार की अभिमानात्मिका वृत्ति, मन की संकल्प—विकल्पात्मिका वृत्ति तथा इन्द्रियों की आलोचनात्मिका वृत्ति कही गई है।

योग दर्शन में वर्णित वृत्तियों का आयुर्वेद में भी विशिष्ट ढंग से विवेचन किया गया है। चरक 'सूत्र स्थान' के त्रिस्रैषणीय अध्याय में कहा है—

द्विविधमेव खलु सर्वं सच्चासच्च
तस्य चतुर्विधा परीक्षा आप्तोदेशः,
प्रत्यक्षम्, अनुमानं, युक्ति श्चेति ॥

अर्थात इस पांच भौतिक जगत में सभी वस्तुएं दो भागों में विभक्त हैं

१—सत् २—असत्

इन दोनों की परीक्षाएं चार प्रकार से की जाती हैं

१—आप्तोपदेश (Authortative Testimony)
2—प्रत्यक्ष (Direct observation)
३—अनुमान (Inference)
४—युक्ति (Reason or Experiment)

प्रत्यक्ष अनुमान को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि

आत्मेन्द्रिमयनोऽर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्तते।
व्यक्ता तदात्वे या बुद्धिः प्रत्यक्षं सा निरुच्यते ॥

अर्थात आत्मा, इन्द्रिय, मन तथा अर्थ के सन्निकर्ष (संयोग) होने पर उस समय जो बुद्धि (ज्ञान) व्यक्त (स्पष्ट) होती है उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है।

चरक संहिता के शारीर स्थान के 'पुरुषविचय' नामक अध्याय में मोक्ष प्रकरण के सम्बन्ध में स्पष्ट विवेचना करते हुए कहा है कि रज और तम से रहित होकर ही मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है तथा इसके लिये उपायों को बताते हुए कहा गया है कि आचार्य की आज्ञानुसार कार्य करे, धर्मशास्त्र मे बताये गये कर्म एवं मार्गों का अनुगमन करे। योगासन करे। सुख-दुःख-उत्पादक विषयों से उदासीन, अहकार, राग, द्वेष, क्रोध, भय, मोह आदि का त्याग आदि-।

वृत्ति निरोध के उपाय योग दर्शन के अनुसार कई प्रकार से बताये गये हैं। प्रत्येक प्राणी की अर्जित शक्तियां भिन्न-भिन्न हैं, प्रत्येक का अपना-अपना व्यक्तित्व है, जीने का मापदण्ड एवं साधना-क्षेत्र पृथक-पृथक होता है। योगशास्त्र में साधकों की तीन श्रेणियां हैं-उत्तम, मध्यम एवं अधम। उत्तम साधक वह है जिसे अपने पूर्वजन्म में ही योग की सर्वोत्कृष्टता का बोध हो चुका है तथा मोक्ष-प्राप्ति की तीव्र इच्छा से जिसकी आधी योग साधना पूर्व जन्म मे ही पूर्ण हो चुकी है। वर्तमान जीवन में योग साधनारत वानप्रस्थियों को मध्यम साधक कहा जाता है। जिनका चित्त अभी पूर्ण रूप से मलिन है एवं अपरिष्कृत है, योगमार्ग के पथिक बन सकें, उनके लिए महर्षि पतञ्जलि ने 'अष्टाङ्ग' की योग, साधना बतायी है।

योग के लिए अभ्यास तथा वैराग्य दोनों की आवश्यकता पड़ती है। वैराग्यपूर्वक ही अभ्यास किया जाता है और अभ्यास के स्तर एवं गति के अनुसार वैराग्य होता है। 'राग' का विरोधी 'विराग' है और विराग का भाव 'वैराग्य' है।

मध्यम कोटि के वृत्ति निरोध का उपाय "क्रिया योग" से प्रारम्भ होता है। प्रथम कोटि तक पहुँचने के लिए चित्त की गंभीरता प्राप्त करने हेतु 'क्रिया योग' से प्रारम्भ करना चाहिएं। ये तीन क्रियायें हैं:—

१—तप, २—स्वाध्याय, ३—ईश्वर प्रणिधान

क्रिया योग के दो प्रयोजन हैं:—

(१) चित्त को समाधि की ओर उन्मुक्त करना

(२) उदार अवस्था के क्लेशों की शक्ति को क्षीण करना।

तृतीय श्रेणी अथवा अधम साधक को अपनी चित्त वृत्तियों का कैसे निरोध करना चाहिए? सामान्यतः संसार के अधिकांश मनुष्यों की यही समस्या है। इसके लिए अष्टाङ्ग योग बताये गये हैं:—

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि।

१—यम:—जो अवांछनीय कार्यों से निवृत्त कराये 'यम' कहलाते हैं। निवृत्तिमूलक 'यम' पाँच हैं:—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह।

अहिंसा-व्रत साधक को अत्यन्त निन्दित कर्म "हिंसा" से निवृत्त कराता है। प्राणिमात्र के प्रति किसी भी समय, किसी भी प्रकार की (कायिक, वाचिक, मानसिक) हिंसात्मक व्यवहार न करना 'अहिंसा' है।

२. नियम :—जो शुभ कर्मों में प्रेरित कराते हैं वे 'नियम' हैं। प्रवृत्तिमूलक नियम पाँच हैं। शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, तथा ईश्वर-प्रणिधान।

३. आसन :—'आस्यते अनेन इति आसनम्' अर्थात् जिस अवस्था में शरीर अपेक्षित समय तक सुख से रह सके इसे 'आसन' कहते हैं। आसनों की संख्या निश्चित नहीं हैं जितने प्रकार की जीव जातियां हैं उतने प्रकार के आसन हैं।

कुछ प्रमुख आसनों के नाम इस प्रकार हैं—पद्मासन, सिद्धासन, वीरासन, सिंहासन, दण्डासन, स्वस्तिकासन, गोमुखासन, गरुड़ासन, कमलासन, कुक्कुटासन, मयूरासन, चक्रासन इत्यादि।

४. प्राणायाम :—श्वास-प्रश्वास (Respiration) को अत्यन्त स्वाभाविक गति से नियन्त्रित करने को 'प्राणायाम' कहते हैं। महर्षि पतञ्जलि ने प्राणायाम के चार भेद किये हैं।

५. प्रत्याहार :—'इन्द्रियाणि विषमैभ्यः प्रत्याह्लियन्ते विमुखीक्रियन्तेऽनेनेति प्रत्याहारः अर्थात् इन्द्रियों को अपने विषयों से हटाकर उन्हें अन्तर्मुखी बनाना 'प्रत्याहार' है।

६. धारणा :—किसी देश-विशेष में चित्त के स्थिरीकरण को 'धारणा' कहते हैं। धारणा के नाभिचक्र, हृदय-कमल, कण्ठ, मुख आदि आन्तरिक देश हैं।

७ ध्यान :—धारणा के देश-विशेष में जब ध्येय वस्तु का ज्ञान एकाकार रूप से होने लगता है तब उसे 'ध्यान' कहते हैं।

८. समाधि :—जब ध्यान ध्येय मात्र का प्रकाशक तथा अपने ध्यानाकार रूप से रहित के जैसा हो जाता है तब उसे 'समाधि' कहते हैं।

योग के उपरोक्त सिद्धान्तों के सदृश आयुर्वेद में भी सिद्धान्तों का समावेश किया गया है; यथा चरक सूत्र स्थान के इन्द्रियोपक्रमणीय अध्याय में सद्वृत्त वर्णन में यम तथा नियमों का वर्णन किया गया है।

वृत्ति निरोध का उपदेश जिस चरम फल को प्राप्त करने के लिए किया गया है, उसका स्वरूप जानने से पूर्व 'संसार' और संसार के कारण को जान लेना आवश्यक है। हमारे आपके नेत्रों में आने वाला अर्थात् दिखाई देने वाला प्रत्येक जड़ पदार्थ संसार के अन्तर्गत है। जड़ पदार्थों का मूल कारण 'प्रकृति है। प्रकृति से महत्, महत् से अहंकार, अहंकार से ग्यारह इन्द्रियां एवं पंच तन्मात्रा तथा पंचतन्मात्रा से पंचमहाभूत उत्पन्न होता है। बुद्धि (महत्) आदि से पुरुष का भोगायतन सूक्ष्म शरीर तथा सूक्ष्म शरीर का अधिष्ठानभूत स्थूल शरीर, दोनों निर्मित है। योग की प्रतिबिंबाख्य पद्धति से इन जड़ पदार्थों के साथ चेतन पुरुष का होने वाला अभेद सम्बन्ध संसार है। संसार अनादि तथा अनन्त है। संसार का कारण 'अविधा है। योग में 'अविधा' को विद्या का अभाव रूप नहीं माना गया है। यह ज्ञान विरोधी भाव रूप है।

आयुर्वेद में लगभग उपरोक्त सम्मत मत का वर्णन किया गया है।

योग का 'कर्मवाद' पुनर्जन्मवाद की भित्ति पर स्थिति है। आयुर्वेद में भी महर्षि चरक ने चतुर्विध प्रमाण द्वारा पुनर्जन्म के सिद्धान्त को माना है।

योग शास्त्र में ईश्वर तत्त्व को अवतारणा जगत् के मूल कारण के रूप में नहीं हुई है, अपितु योग साधनों के सन्दर्भ में ईश्वर का महत्त्वपूर्ण स्थान प्रतिपादित हुआ है।

योग साधना के अभ्यासी की कृतकृत्यता 'कैवल्य' प्राप्ति करने में है। जीवन की सफलता एवं परिपूर्णता इसी में है। प्रत्येक व्यक्ति प्रतिकूल वेदनीय दुःख से छुटकारा चाहता है। 'कैवल्य' ही ऐसी अवस्था है जिसमें निश्चित रूप से तथा पूरी तरह से दुःख का नाश करने की सामर्थ्य है। मोक्ष, मुक्ति आदि इसके पर्याय हैं। योग के अनुसार पुरुषार्थशून्य गुणों का प्रतिप्रसव (अपने कारण में-लय) तथा पुरुष का स्वरूपावस्थान मोक्ष है। तात्पर्य यह है कि पुरुष के स्वरूप में अवस्थित हो जाने पर उससे सम्बन्धित बुद्धि (प्रकृति) भी मुक्त हो जाती है और पुरुष भी।

प्रस्तुत लेख में आयुर्वेद एवं योग दर्शन के मूल सिद्धान्तों का सामंजस्य प्रकट करने का प्रयास किया है। उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि योग दर्शन के सिद्धान्त आयुर्वेद में अधिकांश रूप से मिलते हैं। अन्तर यही है कि आयुर्वेद का क्षेत्र व्यापक तथा विविध है जब कि योग दर्शन ने जीवन के एक परन्तु कठिन पक्ष पर ही व्यापक प्रकाश डाला है। आयुर्वेद एवं योग दोनों एक-दूसरे के सन्निकट तथा सामान्य जन के लिए व्यवहार्य तथा प्रासंगिक हैं।

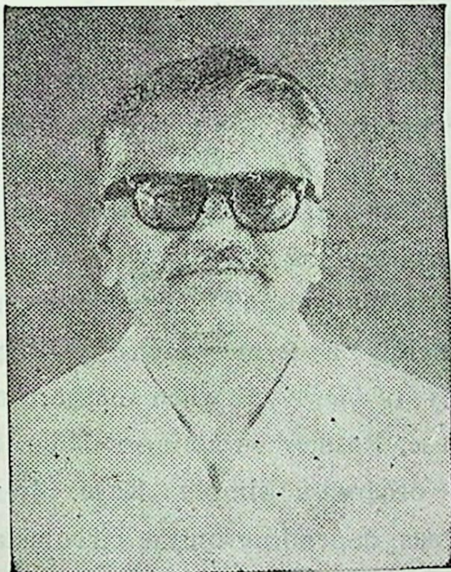






SACHITRA AYURVED

The Concept of Virya



V. K. Joshi* asd P. V. Sharma**
Deptt. of Dravyaguna, I. M. S., B. H. U.
Varanasi

Virya is the power or Potency by whieh drug acts :—

'येन कुर्वन्ति तद् वीर्यम्' च० २६
'वीर्यं तु क्रियते येन या क्रिया' च० २६

The action of drug on dosha, dhatu and mala of the body is dependent on it its potency because it is seen that after the potency is lost the drug loses its action. Hence, the drugs are to be used before the date of the expiry of this potency, which is known as expiry date. The pharmaceutical preparations like kashaya, Vati, Avaleha etc. also lose their action after a certain period. Besides this, various parts of plants like root, leaf, stem, seed and latex also vary in action and that is why some particular part is used for having the desired action, such as bark of Rohitaka, Latex of Snuhi, fruit of Amalaki, heart wood of Vijayasar, root of pushkarmul and so on.

If the potency of the drug is destroyed

---

* Postgraduate scholar
** Professor and Head

by means of physical or chemical agents, it is seen that though the identity of the drug may remain the same, the action is not there. On observing these facts, it is found that the action is casually related to Virya, whenever there is Virya in drug, action is there and in absence of Virya, action is also absent. So according to law of agreement in presence and absence (Anvaya-vyatireka) casual relation between Virya and karma is established.

The ancient sages were able to prove this causal relation between Virya and Karma as is evident from the following statement of Caraka.

'नावीर्यं कुरुते किञ्चितसर्वाः वीर्यकृताः क्रियाः' च०२६

Which means-no drug acts without virya and all actions are due to virya.

Nature of Virya

There is controversy among scholars about the nature of virya as to whether it is Dravya, guna or karma.

In ancient classics, it is said as Shakti (energy) modern chemists say it is the active principle of the drug, which is responsible for its action. Sushruta and Nagarjuna have mentioned Virya in terms of action as Urdhwabhagika, Adhobhagika etc. while other authors take it in terms of Guna as Shita, Ushna etc. Shivadas Sen, a later commentator in mediaeval age has made a statement which shows his leaning towards accepting active fraction of the drug as Virya.

In fact, virya is shakti which is a property residing in dravya and performing all the karmas (action). In Dravya this Shakti is concentrated in a particular fraction which is called as active fraction or principle. Shivadas Sen has expressed his views on the same line. It is also proved by modern experiments, if we remove the active principle of dravya, it becomes almost powerless or Nirvirya and consequently inactive. So active principle plays an important role but that should be taken as Dravya being location of virya and not as virya itself.

Charaka takes virya in a general sense and does not want to restrict the concept technically because the drug has various properties which are all acting in some way or the other, Hence it would not be proper to limit the potency in a certain property and debar all others of the same. For instance, a drug may be acting on account of Rasa or Vipaka and not of Guna and in this case Rasa or Vipaka which is active is entitled to be called as Virya and not the other Gunas whcih are not acting.

A corollary of this view is that Virya can't be taken as an independant category but is merely a term which qualifies the properties of Dravya when they are active. In this case, Rasa when acting will be termed as Virya otherwise simply Rasa. In other words, Rasa, depending on the circumstances, may be of two types-Virya Rasa or Avirya Rasa. The same position will be of Guna and Vipaka also. The second corollaay is that accepting the above position regarding variability of Virya, it would not be justified to restrict the number of Virya. That is why, Charaka has expressed his unwillingness towards the views of eight or two Virya by the word 'kecit'.

But if this view is analysed critically it would be apparent that properties like Rasa and Vipaka are nothing but creation of Dravya and Guna. Dravya, Guna and karma are the basic entities on which the pharmacodynamics stands. Between Dravya and karma is Guna—so Gnna is a link between Dravya and its Karma. In fact, Karma is nothing but commutation and permutation of Gunas. Even Dravya is known by its Gunas. For instance, Tridosha is hardly perceived as Dravya but is known and treated on the basis of its Gunas. Hence, Gunas, better known as Gurvadi Gunas, which are located in Doshas, Dhatus, and Malas of the living body are basically important from this point of view. The principle of Ayurvedic pharmacodynamics is that these Gunas are common in Drugs as well as living bodies and that is whay the former effect the latter either positively or negatively. Thus Dravyas act both as etiological factors and therapeutic agents.

In this way, Gurvadi Gunas become responsible factors for drug action and hence are entitled to be termed as Virya. These Gurvadi gunas have been studied and are observed as physico-pharmacological properties. They are themselves physical qualities in nature but at the same time are capable of producing similar properties in the body. The other observation was that out of the twenty Gunas not all are pharmacologically effective but there are only eight which can attain this status because of their powerfulness as stated by the Vagbhata.

'गुर्वाद्या वीर्यमुच्चन्ते शक्तिमन्तोऽन्यथा गुणाः

(अ०सं०सू० १७)

These eight Gunas or Viryas are Guru—Laghu, Sita Uushna, Snigdha-Ruksha, Manda-Tikchna. Sushruta has added to more Vishad and Pichchila in the list and has thus described as ten Karmanya Gunas which are in other term Viryas. In some texts, there is Mridu-Tikshna in place of Manda-Tikshna but actually Mridu is the partner of Kathina in the pair and not of Tikshna which is linked with Manda. Hence Manda is properly placed with Tikshna.

Caraka has mentioned in the context of six Upakramas, only six Karmas. This position is some what anomalous because when virya is causally related to Karma, there cannot be Karma without virya or vice-versa, thus when we accept eight viryas, there must be eight Karmas. In the alternative if we accept six Karmas, then there is no reason of accepting eight viryas because the two among them would be quite actionless and superfluous. So either we should accept six viryas keeping in view the six karmas or we should propose two more karmas for the two remaining Viryas. In this way the following hypothesis regarding eight viryas along with their karmas may be proposed:—

Virya	Karma
1. Guru	Brmnana
2. Laghu	Langhana
3. Shita	Stambhana
4. Ushna	Svedana
5. Snigdha	Snehana
6. Ruksha	Rukshna
7. Manda	Mandana
8. Tikshna	Tejana

Here Mandana and Tejana are in respect of Agni. Usually people use Sita—Ushna properties in relation to Agni but Mandana and Tejana would be more appopriate for this. For instance, Eranda is Ushna and Swedana while Chitraka is Tikshna and Tejana.

Perhaps Caraka has not given due importance to these two viryas : i.e. Manda and Tikshna because they are of general nature and are not so much in practical use.

Actually these six karmas may be classified into two groups, according to their degree of potency-Mriduta and Tikshnata.

1. Mridu-Brmhana, Stambhana, Snehana
2. Tikshna-Langhana, Svedana, Rukshana

In practice Mridu karma is also known as Brmhana and Tikshna karma as langhana. The concept of six viryas is found at several places for instance;—

In practice Mridu Karma is also Known as Brmhana and tikshna karma as langhana. The concept of six veryas is found at several places for instance.

1. In relation to number of rasa's during discussion Rajarshi Varyovid said that these are six in number. Here he has mentioned these very six viryas i.e.

Guru-Laghu, Sita-Ushna and Snigdha-Ruksha.

2. In the context of Gunas of rasas, there is mention of only six gunas and rasas are placed according to these gunas. These gunas are the same six viryas.

1. Guru -Madhura, lavana, Kashaya.
2. Laghu -Amla, Tikta, katu.
3. Shita -Madhura, Tikta, Kashaya
4. Snigdha -Madhura, Amla, Lavana.
5. Ushna -Amla, lavana, Katu.
6. Riksha -Katu, Tikta, Kashaya.

Vagbhata has further clarified this concept and has mentioned explicitly the six gunas as six viryas.

तत्र कट्वम्ललवणा वीर्येण यथोत्तरमुष्णाः
तिक्तकषायमधुराः शीताः
तिक्तकटुकषाया रुक्षा बद्धविण्मूत्रमारुताः
लवणकषायमधुरा गुरेवः
तद्वदम्लकटुतिक्ता लधवः

Thus, it is clear that astavidha virya is reduced to sadvidhavirya in the context of therapeutic application.

These eight or six viryas have further been concentrated into two-Sita and Ushna-for practical proposes.

This concept of Dual virya is based on the principle of Agni and Soma, the Universe is though Panchbhantika, Agni and some are the potent ones among the Pancha Mahabhutas.

In human body, Sukra is sanmya and Artava is agneya and its conjunction is the cause of creation, so Purusha is also "Agni-Somiya". Kala (time) is also divided into two Aadan and visarga, according to the potency of Surya (Agneya) and Chandra (Sanmya) respectively.

In "Tridosha" pitta is Agneya and kapha is samya while vata is yogavahi because when it comes in contact of cold it becomes Shita and when in contact of heat it becomes Ushna. Thus the eight viryas can be categorised into two groups: Shita and Ushna.

Shita	Ushna
Shita	Ushna
Guru	Laghu
Snigdha	Ruksha
Manda	Tikshna

Even the twenty Gurvadi gunas may be divided into two groups. Ten in each according to this concept :

Shita (Samya)	Ushna (Agneya)
1. Shita	2. Ushna
3. Guru	4. Laghu
5. Snigdha	6. Ruksha
7. Manda	8. Tikshna
9. Pichila	10. Vishada
11. Slakshna	12. Khara
13. Sandra	14. Dravya
15. Mridu	16. Kathina
17. Sthira	18. Sara
19. Sthula	20. Sukshma

Vagbhata while emmurating these Gunas has not been able to maintain the order correctly as he has put Sukshma and vishada alongwith Guru and others of Sawmya group whereas there should have been sthula and pichchila in their place. Thus the half verse' गुणाः ससूक्ष्मविशदाः विशतिः सविपर्ययाः '(अ०हृ०सू०।) should be modified as' गुणाः सपिच्छिलस्थूलाः विंशतिः सविपर्ययाः ।

Charaka says that action is initiated by drugs or its properties or both (द्रव्यप्रभावात् गुणप्रभावात् द्रव्यगुणप्रभावाच्चयत् कुर्वन्ति तत् कर्म- च० २६ ।

When drugs act by its specific chemical compostion on some particular site or tissues it is called Dravyaprabhava or in shortened form 'Prabhava' on the other hand, in Gunaprabhava, there is no specificity of composition nor in site of action but the action is of general nature. This is known as Virya. (As Prabhava is concerned with the natural composition of drug, the logic can't proceed beyond that and that is why it is called as Achintya while the actions due to virya can be explained on the basis of Gunas). Thus the difference between Prabhava and Virya is that Prabhava is specific and dependent on specific composition whille Virya is general and dependant on Gunas. It is to be noted that the medieval commentators emphasised on the character of Chintya and Achintya, but in fact, Prabhava and Virya can be differentiated on the basis of their Vishista and Samanya Karmas respectively. (रसादिसाम्ये यत् कर्म विशिष्टं तत् प्रभावजम् च० सू० 9). Accordingly, the statement of Shivadas Sen that वीर्यं शक्तिः साच द्विविधा चिन्त्याचिन्त्यक्रियाहेतुत्वेन, may be modified as' सामान्यविशिष्ट कर्महेतुत्वेन शक्तिः द्विविधा-सामान्य कर्महेतुः शक्तिः वीर्यं, विशिष्टकर्महेतुः शक्ति प्रभावः ।

In this age of advanced Phytochemistry the aspect of 'चिन्त्य-अचिन्त्य' has practically lost its significance and as such should not be adhered to.

Sushruta has not made such distinction & has included even the specific actions under virya. Probably he takes both types of Shaktis whether specific or general by Virya itself.

In relation to pharmacodynics, Charka has used the following six terms :—

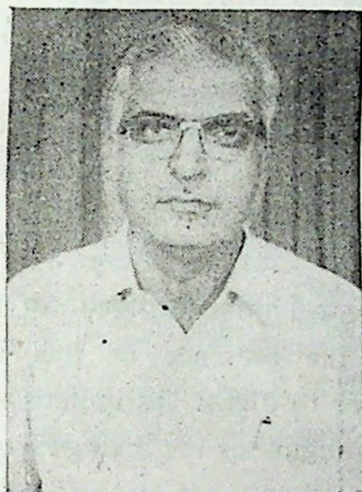
1. Karma (Action)
9. Virya (Potency)
3. Adhikarana (Site of action)
4. Kala (Duration of action)
5. Upaya (Mode of action)
6. Phala (Result)

It is surprising to note that Pharmacodynamics was studied in such details and so miuntely by ancient Ayurvedic Seholars which is almost similar to the modern study.

Conclusion

Virya is the potency of the drug responsible for its action. The ancient Ayurvedic scholars studied the concept from various angles and discussed the details. They also observed the specific action of Drugs and termed it as Prabhava.

Relationship Between Dosas, Dhatus & Malas



Kaviraj Purushottamdev Multani*

According to Charaka, the conjunction of the Soul, mind and body constitutes what we call the living body. Of these three, the soul or self is eternal, imperishable and invitiable. The mind and the body can both be vitiated. By body here we mean the body together with the senses. The mind is beyond the purview of the senses; it is also called the internal sense. That the body is Pancabhutika is accepted by all. But according to Ayurveda, the five senses are also Pancabhutika.

Ayurveda has all along has to deal with the body. So we must thoroughly know the body in and out. For the purpose of Ayurveda, the body is described as a conscious being made up of the five Maha Bhutas in proper proportions. But Ayurveda did not stop at merely saying that the body is Pancabhutika. It had to go deeper into the question.

As per Ayurvedic texts (S. S. I. 15 : A. H. I. 11) the body consists of Dosas, Dhatus and Malas and they must be present in the

* Deputy Director (Ayurveda) Retd. Govt. of Andhra Pradesh BAL—VIHAR, Barkatpura, Hyderabad—27.

body in proper proportions, (समयोगवाही) This is the fundamental idea of Ayurveda regarding the human body.

Rasa, blood, flesh, fat, bones, marrow, and semen, these are the seven 'Dhatus', Sweat, urin and feeces are the three principal 'Malas'. That the body consists of these substances is easy to understand, because these can be seen by the naked eye. But over and above these, Ayurveda has broueht in the three Dhatus—Vayu, Pitta, and Kapha. It is the enunciation of these three substances that is the special characteristic of Adurveda. Susruta has gone further and said that it is the Vata, Pitta and Slesman that make it possible for the body to exist.

It will be interesting to see how the Tridhatus come to have such an important bearing on the every existence of the body.

The body consists of Dosa, Dhatu and Mala. The Dosas are three, Dhatus seven and Malas three in number, as we have already mentionod. These 13 substances are comprehensively termed the body-Dhatus, because each of them sustains the body in health. The 13 Deha-Dhatus are being carried through their respective (स्रोत:) or channels. These may seem absurd at the first glance in the case of such Dhatus as the flesh and bones, but we must remember that every one of the Dhatus is (वहनशील) or capable of flow atleast in its originating or minute state. Otherwise how can we say that the hardest Dhatu, the bones—is being formed everyday or nourished by the preceding Dhatu medas or that next succeeding Dhatu Majja is being formed from or nourished by the Asthi Dhatu—unless this latter Dhatu, atleast in its finest or (सूक्ष्म or अणु) condition can be conceived to flow from the medas channel or to the Majja Srothah. (Charaka Samhitha) (स्रोतोविमान).

The Tridhatus have a special peculiarity. They pervade the whole body, so all the Srotas serve as channels for Vata, Pitta and Kapha. These three Dhatus can travel through and are present in every sortah. So the three Dhatus or Dosas are always in touch with the seven Dhatus and the three Malas. These 13 Dhatus of the living body are not only capable of flow, but are also themselves living organic bodies.

All the 13 living Deha dhatus have power of assimilation, of digesting another body and taking up the products of digestion. This is the special property of living matter. Pitta has the highest proportions of Agni, but every other Dhatu has also a proportion of Agni.

दोषधातुमलादीतांमुष्मेत्याग्गेवशासनम् (A.M.I.II)

It is the presence of this active Agni (the power to digest, assimilate and excrete) which distinguishes the living from the non-living.

Let us now see what is the mutual relation between the Dosas, Dhatus and Malas. In a nutshell, the position may be stated as follows: That the Dosas are in-coming matter, the 7 Dhatus are stationary and limited within their own channels, whereas the malas are out-going matter. The 3 Dosas have the peculiarity of not only being able to go in and out of every Srotah, but have the additional specific power of coming out of the Srotahs, when required, into the body—cavi-

ties like the alimentary canal and after finishing their particular work, of going back into the Srotahs. It is this property of the Dosas to be able to come out and go back into the Srotahs that we must attribute their constant influenee on the seven Dhatus and their peculiar position in the body of being the most powerful agents for good or for evil.

For the proper maintenance and nourishment of the body, the 7 Dhatus must have food. It is the Tridhatus that nourish them. The Malas are the deberis or wast-products of the 7 Dhatus. In health, the Tridhaus—vayu, pitta and kapha—are the nourishers, the seven Dhatus the nourished. In disease, the same Vayu, Pitta and kapha become the Dosas or vitiators, the seven Dhatus the vitiated; because it is evident that when the food is vitiated, the consumer of that food would also be vitiated.

The seven Dhatus must be fed by the Tridhatu which in their turn take up their own nutriments from ordinary food—materials. This process takes place in the alimentary canal where the coming out (उदीरण) of the Tridhatus from inside the rotahs primarily takes place. Whenever any food reaches the stomach or the intestines, Kapha, Pitta and Vata come out of the srotahs, mix with the food, digest it and take up its nutritional portion (रसदोष-सन्निपात). Thus fattened, they go back into the body and one by one supply nourishment to the seven Dhatus. It is, as if, for the benefit of the seven Dhatus mainly, that the three Dosas are themselves nourished first.

Food consists of six Rasas, or strictly speaking, of materials possessing six different Rasas in different proportions. The object of the digestive process is to transform the six Rasas of food to simpler assimilable products Of the Rasas, the sweet, sour and salt are similar in properties to those of Kapha, pungent sour-salt similar to Pitta and pungent—bitter-astringent are similar in properties to Vayu. Chemical combination takes place in different parts of the alimentary canal between to groups of matter; the six Rasa—materials of food on one hand & the three highly active body-matter-the Vayu, Pitta and Kapha—on the other. As a result of this combination, we have three Vipaks-the sweet. Vipaka in the stomach, sour-Vipaka in the duodenum and a bitter or Katu-Vipaka in the intestines—and the augmentation respectively of the kapha, Pitta and Vata Dhatus of the body through the interVention of these Vipakas. The final production of digestion has been termed the food-Rasa (आहार रस) which is really a conglomeration of the newly-augmented Kapha-Pitta-Vata produced out of the combination of the permanent three Dhatus of the body with the six Rasas of food. In other words the food Rasa consists of the fattened Tridhatus. These Tridhatus ultimately nourish the seven Dhatus one by one, their finest parts nourishing the finest Dhatu Sukra (Spermatozoa in the case of males, ova in the case of females). So, as an embryo is formed by the union of a spermatozoon with an ovum, we may assert with Susruta that in the Vayu,

Pitta and Kapha which are instrumental in the production of the human body.

We shall now see how the Kapha, Pitta and Vata of the body are augmented in the alimentary canal. The food, after being chewed, comes from the mouth-cavity first to the stomach. The stomach is the principal seat of Kapha. When food reaches there, the Kapha comes out of its own place in the body, i. e. is secreted into the lumen of the stomach and mixes with the food. But this combination produce the Sweet-Vipaka and out of this first Vipaka-process is evolved, augmented or replenished Kapha-Dhatu which then goes back i. e. is absorbed to join the Rasa-Dhatu and ultimately nourishes the six other Dhatus of the body. This first Vipaka starts from the mouth as is evident from the change of consistency, colour and taste of the food and the process continues into the stomach until the six Rasas are primarily digested (अन्नस्य भुक्तमात्रस्य)

We shall elaborate this point, the Kapha of the body that is secreted into the stomach, sets upon the food, splits it up, takes up the sweet-part i. e. the sugars (starch converted to sugar whether in the mouth or in the stomach) of the food and is thus itself fed or augmented. These points will be further clarified by an example. A quantity of curd when added to milk turns the latter into curd. The first curd the (परिणामजन्य) or causative curd-marges into the other the (परिणामजन्य) curd—and thus augments itself in the same way, when the secreted Kapha of the body is poured into the stomach and combines with the food there, it converts, by its own peculiar property, a portion of the food (the Kapha-part) into Kapha-substance so a quantity of Kapha becomes larger quantity by being augmented by the Kapha-producing portion of food and in this newly formed enlarged Kapha, of course, we cannot separately distinguish the secreted body-Kapha which was instrumental in picking up the Kapha-part of food. This process of picking-up a particular portion of food in a particular place of the body has been termed by Chakrapani Dutta as the (अवस्थापाक regional or environmental digestion of food (C. S. UI 15). It is the digestion of food in a particular (अवस्था) or environment. The characteristic of regional dsgestion is that if the food contains in abundance the Kapha-producing Rasas sweet, sour and salt, more specially the sweet—thus during the first stage of digestion in the stomach, Kapha will be produced in profuse quantity in the form of the sweet-Vipaka, the stomach being the special seat of Kapha. On the other hand, if the food contains mainly the the pungent, bitter and astringent Rasas, i. e. Rasas similar to those of Vayu, but opposite in properties to those of Kapha, then also a sweet-Vipaka will take place in the stomach but only a very small quantity of Kapha will be produced and the produetion of Vayu will be inhibited due to want of congenial surroundings. Vayu, in this case, will be produced in abundance in the intestines, which is the most congenial locality for the production of Vayu, being its special seat.

The chief thing to remember here is that Kapha, Pitta and Vata have the power of

producing respectively the three Vipakas-sweet, sour and bitter (मधुरादीनां कफादिकर्तृत्म् चक्रपाणि e.s. vi 15) The stomach being the special seat of Kapha, it is here that the sweet vipaka is produced out of the three Rasas of food similar to Kapha in properties, viz. sweet, sour and salt. Similarly Amla Vipaka is produced at the special seat of Pitta out of the three Rasas—sour-salt-bitter, and Katu-Vipaka is produced at the special seat of Vayu out of the three Rasas-bitter—pungent-astringent. If it is contended, so says Chakrapani, that it has already been enunciated that the Vipaka of the bitter-pungent-astringent Rasas is, as a rule, bitter, so as the food contains all the six Rasas, there should be bitter—Vipaka also in the stomach, we should say that it is quite true that these three Rasas do produce the bitter—Vipaka. The regional digestion, however, does not hinder the normal function of any one Rasa. Its only characteristic is to produce a special Vipaka at the particular locality most convenient for the production of Vipaka. In the stomach, the materials that go to produce the two Vipakas other than the sweet one being practically unaffected, they are left to be acted upon in their forward progress in the alimentary canal. So the materials for the (अम्ल) and (कटु) Vipakas wait for the proper time (काल e.g. पित्तकाल) and (वातकाल) and place (अवस्था) most suitable for their digestion, Chakrapani asserts that it is the Kapha-producing part of food (श्लेष्मजनकोऽ which under the influence of that particular environment (स्थान महिम्ना) brings about the sugary condition of the food and specially augments sleshma.

तदाहारस्य मधुरतामापद्य श्लेष्माण विशेषेण जनयति

So the first process of digestion is performed through the agency of Kapha which breaks up the food and washes it in as it were. By this process of washing in the stomach, some washings (the major portion of Kapha in the food, i. e. the sugars) are got out and taken into the body Kapha i. e. begins to be absorbed.

The second process of digestion is by Pitta, the "heat material". Here Pitta is separated from the body, mixes with the food-materials that remained practically unaffected (अपक्व) in the stomach and so we get "Amla-Vipaka" (i.e. the fatty acids are taken out) and thus augmentation of Pitta, just as in the case of Kapha.

In the third and last stage, there is secretion of Vayu (in the form of a highly valatile liquid), which acts upon whatever is left unaffected and thus we get Katu-Vapaka, (i, e. the peptones are taken out), and augmentation of Vayu which is gradually absorbed together with the watery portion of the now fully digested food. All these absorptions of the Tridhatus as also of water take place under the action of the different body-Vayus (दोषसंशोषण) absorption of the three Dosas—has been mentioned by Charaka as one of the functions of Vayu.

Thus all the useful parts of food are taken out of food after full digestion and whatever is left over is the Mala or dross part. Some small proportions of Vata-Pitta-

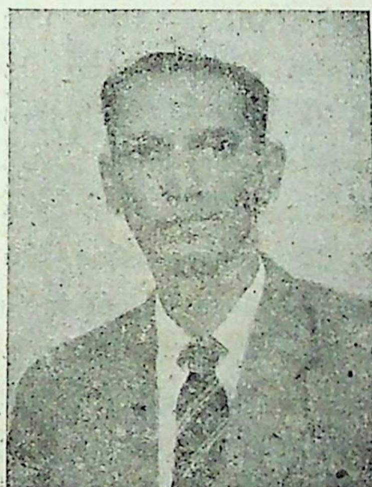
Kapha are thrown out with the Mala; it is to facilitate the Mala to go out of the body.

To sum up, the three Dhatus are nutriments in the long run the seven Dhatus are the different kinds of cells of the body to be nourished by the three Dhatus and the three Malas are the debris. All these 13 Deha-Dhatus, as I have already mentioned, exist in the body in two different states, (सूक्ष्म) and (स्थूल). The three kinds of body-matter-the Vayu, Pitta and Kapha—also exist in the b>dy in two different conditions (व्यापक) and (अव्यापक) When they are in the (व्यापक) state, they are very fine and invisible, i.e. nutrimented. But when they are in the (अव्यापक) state, they are in the (संघात) state or accumulated condition and can be visualised as secre.ions. In the alimentary canal, where fresh Kapha—Pitta—Vata are being formed, they are in the (संघात) accumulated form. After this, when they, are absorbed and so spread further and further tnto the body, they become finer and finer and ultimately invisible in the form of nu.riments of cells. In other words, gross and comparatively simples food-materials are transformed to more complex but very fine and highly o.'ved compound bodies—the Tridhatus-by a sersies of digestive process in different parts of the body under different conditions by the interver tion of the Tridhatus themselves.

The Tridhatus feed the seven Dhatus in the long run. If we take up the analogy of the body as described by modern science, we see that the boby is made up of different varieties of cells. The cells are embedded in a fluid called plasma. It is this plasma from which the cells derive their nutriments. So, for the cells to be in a wealthy condition, this nutriment, i. e. the plasma outside, must be in a healthy condition. If this plasma is unhealthy, the cells are bound to be unhealthy also. So, after all, we should take particular case of this plasma rather than of the tissue cells. And according to Ayurvedic description, we see that the nutriments in the above plasma are what we call the Tridhatus. So special attention has been directed to these. When these are healthy the cells, i. e. the Dhatus are also healthy. When these are vitiated, we get disease.

When the seven Dhatus eat up the three Dhatus, bye-products are left out and we get out of this process certain amount of energy. That is, matter (Tridhatu) is transformed with energy and the body works. The Tridhatus work through the energy of the seven Dhatus which go to constitute the different parts of the body and the debris going out of the body from the Malas. Thus the 13 Deha-Dhatus are intimately connected with each other and are the standing components of the body as a whole. And we see that this description by Ayurveda of the body as consisting of the 13 Deha-Dhatus is the most rational and scientific way of viewing the living body and worthy of serious attention on the part of modern scientists.

Doshas & Their Applicability



Dr. M. Mahadeva Sastry,
Bangalore-4

Introduction

Ayurveda is propounded on the basis of Panchamahabhutas. The analytical way of observing the creation of the universe convinced the great seers of the past that it consisted of five primordial elements namely, prithwi, ap, agni, vayu and akasa. These elements are not to be confused for the terms as used in the modern chemistry. It is safe to use the original terms for these primordial subtle elements rather than translating them into English as earth, water, fire, wind and ether or sky. These words indicate the five compounded forms in their gross state in predominance. That is, earth consists of all the five bhutas with prithwi in prominece. Similarly are the different substances formed with one or more bhutas prominently in varied proportions. Since subtle bhutas give rise to the gross bhutas they are also spoken of in their revere order.

Ayurveda is theistic in its approach. It has its own basic principles concurring with the sankhya and other philosophies in certain respects, in addition to a few atheistic arguments. The concept of casual, transient and karma theories are also acceptable to it. It recognises the three mahagunas and only twenty bhautic gunas unlike the nyaya-vaiseshikas enumerating twenrtyfour gunas. Manas (mind) and the five sense organs are also panchabhautic according to Ayurveda since they respond to the panchautic food and environment. Vata, pitta and kapha (sleshma) are the corporal doshas, whereas rajas and thamas the two mano doshas. The living body is a combination of tha five bhutas and Atma. Life is extinct with the dissociation of Atma. With this much brie description we shall now discuss the preponderance of doshas and their applicability to man in health and disease.

Genesis of Doshas

Acharya Susruta says that the body is supported by doshas, dhatus and malas. Doshas are the working or the physiological factors. Doshas are considered as the nimitta-karana or efficient cause over the seven dhatus and malas which are the upadana karana. Dhatus constitute the structures and malas waste products, produced during the interaction between the doshas and dhatus. Doshas are the compounded derivatives of the bhutas which are formed during the digestion of food and its metabolism. They are pervasive all over the body. Principally, vata is situated in the pelvic, pitta in the abdominal and kapha in the thoracic cavities. Vata is produced as an essential products out of the debris in the colon. As a waste product it escapes as a gaseous substance which should not be mistaken for the essence vata. The essence is absorbed into the body which serves as a nutrient to the tissues to act. The vegetative and the central nervous systems, hormoncs, the mind etc., are all supported by this vata.

Pitta is the kitta or the biorproduct of rakta during its parinama. In this process a homologue to its next dhatu, mamsa is produced. A portion of this kitta is again used in the body. It is the base for agni in its different forms. Susruta declared that there is no separate agni other than pitta. The entire metabolic process of the food materials is due to agni in the gastrointestinal tract and the tissues. While vayu has no shape or size pitta and kapha have and these two are commensurable. The latter two are liquids of different densities Pitta produces heat and lustre during its action. On the other hand kapha produces a cooling effect. It is the kitta separated from the rasa during its Paka. It protects the tissues on account of its unctuousness, viscosity and sliminess. Pitta is katabolic but kapha is anabolic. The former is ushna in veerya and the latter seetha. Vayu is neither ushna nor seetha but it inhibits to ushna and increases with seetha veerya dravyas.

Though the three doshas differ in their properties they balance with one another in the normal state of the body and promote a

healthy growth. But an imbalance is always imminent due to the food, water, season, environmental condition etc. In this condition of imbalance the doshas vitiate the structural supporters, the dhatus. The susceptibility of doshas to food etc., varies from man to man. In order to distinguish them from the seven dhatus the susceptible factors are termed doshas.

Each dosha is of five types according to the regions in which they function. The dosaic traits can be identified with their general characteristics. (e.g.; among the granulocytes, neutrophils, esinophils and basophils present the traits of vata, pitta, and kapha respectively in the granulocytes, lymphocytes have the kapha trait and monocytes that of vata.) The regional vayu modulates the local functions of the other two doshas. All the five subdoshas are regulated by the chief among them. Prana controls the udana, samana, vyana and apana. Similarly, pachaka has its influence on other pittas viz., ranjaka, sadhaka, alochaka and bhrajaka. Avalambaka supports kledaka, bodhaka, tarpaka and sleshaka kaphas.

Health is defined as a normal condition of all the doshas, agni, dhatus and malas both in composition and function, clarity of mind with its organs atma in co-ordination. This is both comprehensive and self-explanatory. Any disturbance among these causes disease. In the ideal condition as stated by Susruta, perhaps no one is healthy. Even old age creeps over the most healthy person according to the sankhya theory, and what of a worried person of the present day.

Pathways of diseases

Doshas begin their function on food in the koshtha or the gastrointestinal tract. An increase of dosha above the normal limit due to any one of the causes upsets the agni giving rise to its malfunction. This is the starting point for the disease. Subnormal agni produces ama meaning the ill formed chyle. The effect of ama is amaya or disease. Abnormal agni causes sukta paka giving effect to hyperacidity, waterbrash and so on. If the doshas are not attended to in time they spread over from the gastrointestinal tract towards the Shakhas or the peripheries and obstruct the fine pores known as srotomukha of the cell wall. The obstruction creeps on to the neighbouring cells thus gradually raising the disease process. The vitiated doshas may affect certain important vital points known as marmas (organs containing them) and sandhis or joints. Thus there are three pathways for the manifestation of disease, viz., koshta marga, shakhamarga and sandhimarma marga or madhyama marga. The prognosis of disease is difficult and even bad as they spread towards the second and third margas respectively.

Application of Doshas

Charaka's aphorism that 'Like causes increase the effect and the unlike reduce it' is universal. Each dosha produces its own symptoms and in the converse, the symptoms indicate the dosha or doshas mixed.

In the present day we come across new types of diseases not mentioned in the classics of Ayurved. Some of the diseases explained

in them have become either rare or extinct. How to face such a situation ? Charaka asks us not to feel shy about it but trace the dosha and treat it since there can be no disease without a vitaited dosha Applying this principle it is possible to tackle such problems.

Bacterial and viral diseases have perplexed the medical world to such an extent that they have become ever growing problems. No single cause can produce a disease. It is the outcome of the interaction between doshas and dooshyas. Bacteria or virus augment the imbalance of doshas. They constitute the shakarikarana for the disease. But as long as the dhatus are intact and strong enough to offer resistance to the parasite the doshas are not upset. Bacteria become a single cause and therefore ineffective. Vagbhata's assertion that 'Doshasamyamarogata' stands to reason. Removal of the cause of the disease comprises of antibacterial measures also in addition to food etc.

Modern technology has developed many techniques and gadgets as aids to the diagnosis of the disease. We can take the advantage of such materials to identify even the minuteness of the prevailing doshas. For example, the clinical thermometer can be used to interpret the intensity of pitta or the variations of vata and kapha in the different types of fever.

A high fever indicates the virulence of pitta. The marking of the second week's temperature in typhoid fever runs almost parallel to the normal unless the sympto is checeked. The variation in temperatu indicates the preponderence of vata and low temperature above normal that of kaph Hypertension is another example. The sphy gmomanometer shows the blood pressur Pressure is the force applied on a unit area A high pressure is due to the virulence o vyana. A low pressure is its inhibition. Th instrument indicates the intensity of thi vayu angd the coutrol on it by the prana Ana means vayu. The names suggest th directions in which they act. Annon-coordina tion between any two vayus known as any onyaavarana causes obstruction to the flow of rasa-rakta. Avarana by any dhatu or mala may also take place. The symptoms indicate the vatas or the dooshyas involved. The principle in treating it is to remove the avarana over the avruta vayu If the avaraka is apana anulomana is indicated by vasti, uttara vasti and mootralas. Udana is controled by nsingemetics; samana by palliatives; vyana by all these three mentioned here and prana by all measures which can save the patient.

A world about agni may be mentione here. Agni is not to be interpreted as fir since it would be meaningless in the contex The biochemical action of the gastro-inte tinal secretion and complex produces th effect of fire in the process of digestion an is spoken of the pachakagni karma. This necessary for the successive process metabolism. Samana holds the key positio under the control of prana. In the third an

fourth chapters of Prasnopanishat it is clearly mentioned that vayu itself behaves like agni in the body.[1-2] This explains more or less the action of the nervous system and the hormones.

Conclusion

Shodhana therapy eradicates the vitiated doshas and so the disease is completely cured. Shamana is the palliative measure which can just subside the mild doshas. Now-a-days mostly shamana treatment is in use and so the recurrence of the disease, if not in its original form appears in a different shape since the doshas are not completely removed. (c. f. A. H. su. IV 27 and XIII-19). A few recipes of indigenous drugs do not constitute Shudhaayurveda nor an addition of modern drugs an Integrated medicine. Ayurveda is perfectly systematic.

१. पायूपस्थेऽपानः चक्षुश्रोत्रेमुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वय प्रतिष्ठते मध्ये समानः । एषह्येतत् हुतमन्नंसमं नयति तस्मात्सप्तार्चिषो भवन्ति ।

प्रश्नोपनिषत्-३

२. प्राणाग्नयएवैतस्मिन् पुरे जाग्रति । गार्हपत्यो हवा एषोऽपानः । व्यानोऽन्वाहार्य पचनो यद्गार्हपत्यात्प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः ।

प्रश्न ४-३

सुप्तवत्सु श्रोत्रादिषुकरणेष्वेतस्मिन्पुरे नवद्वारेदेहे प्राणाग्नयः प्राणाएव पञ्चवायवोऽग्नय इवाग्नयो जाग्रति । अग्नि सामान्यं हि आह—यस्मादागर्हपत्यादग्ने रग्निहोत्रकाले इतरोऽग्निरावहनीयः प्रणीयते । प्रणयनात्प्रणीयतेऽस्माऽदिति प्रणयनो गार्हपत्योऽग्निः । तथा सुप्तस्यापानवृत्तेः प्रणीयते इव प्राणो मुखनासिकाभ्यां सञ्चरत्यत आयहनीयः प्राणः । व्यानस्तु हृदयाद्दक्षिणसुषिरद्वारेण निर्गमाद्दक्षिणदिक्सम्वधादन्वार्यपचनोदक्षिणाग्निः ॥

(शाङ्करभाष्यम्)

Theories of Panca-Mahabhuta & Tridosa as Depicted in Tripitakas*



Dr. Jyotir Mitra
B. I M. S, M. A. (Doub.), Ph D. (Ay.)
Ph. D. (Phil.), F. R. A. S. (London.)
Reader in Basic Principles, I. M. S.,
Banaras Hindu University.

The theory of *Panca-mahabhuta* is an undisputed and unanimously accepted doctrine of Indian Philosophies, propounded after prolong and critical observation of the characteristics and behaviour of the gross bhutas, the properties of other physical objects and the corelation of the senses with the matter of the environment. It also stands for a classification of the substances on the basis of their generic property. It forms an axis round which the Ayurvedic concepts of *Tridosa, embryonic development, body constitution and composition, restricted response of the sense organs, composition & action of the drugs, seasonal variations and and their effect* and *five-fold classification of matter etc.* revolve. Alike the other Indian philosophies, the Buddhist

* Paper was read in the XXIXth Session of All India Oriental Conference held at Poona on June 1 to 3, 1978.

works also mention this theory in order to elucidate the process of creation and grossly formation of the body.

It is based on the hypothesis that there are only five sense organs so far developed in man and each sense organ has been designed in such a way that it embodies one particular *bhuta* in excess of other. That is why, it responds to only one particular type of stimulus like *sabda* (sound), *sparsa* (touch), *rupa* (form or colour), *rasa* (taste) or *gandha* (smell). Hence, there should be only five respective source matter to impart these distinetstimuli and these very matter types are known as *bhuta*. In this way, all matter in this phenomenal universe can be classified in no more or no less than five kinds because, there are only five senses developed with which the external world man's environment can be contacted.

Bhuta and Dhutu

Bhuta and *dhatu*, both the terms appear in *Ayurvedic* and *Buddhist* literature. Though they are different but in some context, they carry equal meaning. Generally the term *bhuta*[1] signfies *Akasa* (ether), *Wayu* (air), *Tejas* (fire), *Ap* (water) and *Prthvi* (earth) while the *dhatu* comprises seven basic tissues of the body, i. e,, *rasa* (chyle), *rakta* (blood), *mamsa* (flesh), *medas* (adipose), *asthi* (bone), *majjan* (marrow) and *sukra* (semen).[2] *Caraka* puts the term *dhatu* in place of *bhuta*. while he defines the *purusa* with its three kinds responsible for diseases and treatment. He dose not hesitate to include even consciousness (cetana) in the group of *dhatu* along with the aforesaid five *bhutas*.[3] Th. Stcherbatsky, the well known Russian Buddhist philosopher, eveidently opines that the term *'dhatu'* has been borrowed in Buddhist literature from the Medical Science[4] and coincidently we are sure that our *Caraka* or *Agnivesa Samhita* had been likely the original source from which the very word was borrowed. A *bhuta* has been defined as a substance bearing one of the five perceptible qualities by their respective senses. Being eternal, i. e. having no origin and no destruction, it comes into component factor of a substance and is thus called *'bhuta'*[5]. *Cakrapani*, annotating special meaning of *dhatu*, says that it is called *dhatu* because it bears the *purusa (purusadharanad dhatavah)*[6].

Our Buddhist works have freely and deliberately used both the terms *bhuta*[7] and *dhatu*[8]. There is a minute difference between them. Playing a great role in the creation of the physical universe, as a material cause, the *bhutas* are called *Maha bhutas*. On the other hand, it is also suggested that the term *'bhuta'* should be used only for their subtle form and the term *'mahabhuta'* or their mixed or gross form.[9] *Buddhaghosa* explains vividly the term *bhuta* with its various synonyms. Elucidating the same, he says that they are elements (dhatu) because of bearing (*dharana*) their own characteristics, because of grasping (*adana*) suffering and because of sorting out (*adhana*) suffering and because none of them is exempt from the characteristic of being elcments. They are states (*dhamma*) owing to bearing

(*dharana*) for the length of the moment appropriate to them. They are impermanent in the sense of liability to destruction, they are painful in the sense of causing terror, they are not self in the sense of having no core (of permanence and so on). Thus, there is unity of all since all are materially great primaries, elements, states, impermanent and so no. 10.

Buddhaghosa also explains the nomenclature of *Mahabhuta*. He states that all the *dhatus* are instances of materially *(rupani)* because they do not exceed the characteristic of being molested (ruppana). They are great primaries (*mahabhutas*) by reason of 'great manifestation' and so on. By reason of great manifestation and so on means that these elements are called great primaries for the following reasons, viz. (a) manifestation of greatness (b) likeness of great creatures, (c) great maintenance, (d) great alteration and, (e) because they are great and because they are entities.

Further, he very minutely observes the cause of naming in *Mahabhuta* and points out that because these *dhatus* are great having the entities; because they need great effort to discern them and entities (*bhuta*) (become because they are existent, thus they are great primaries (*mahabhuta*) and, therefore, they are *mahabhuta* because they are great (*maha*) and possess entities (*bhuta*)[12]

Bhuta or dhatu and its enumeration

Generally, the *bhutas* or *dhatus* are mentioned four in numbers,[13] i.e. *pathavi, apo, tejo* and *vayo*. The *Majjhima*[14] *Nikaya* and *Milliudapanho*[15] and *okasa* (sk. *Akasa*) to above.

Kinds of dhatu

The four *dhatus have been detailed in fortytwo aspects, the apodhatu in 12, tejo dhatu* in 4 and the *vayo dhatu* in 6, and it may be explained followingly: [16]

1. Pathavi dhatu (earth :

Hair, body hair, nails, teeth, skin, muscles, tendon and ligament, bone, bone-marrow, kidney, heart, liver, pancreas or diaphragm (*Kilomaka*), spleen, lungs, intestines, mesentery, abdomen, faces and brain matter.

2. Apodhatu (Water] :

Bile, phlegm, pus, blood, sweat, fat, tears, spittle, snot, synovia, urine and grease.

Tejodhatu [fire] :

Where by one is warmed, where by one ages, where one burns up and where by eaten, drunk, chewed and tested becomes completely digested.

4. Vayodhatu [air]:

It motivates the material in six directions (east, west, north, south, upward and down-ward).

Responsibility of the bhutas in formation of body :

Susruta, showing the importance of five *bhutas;* states that in foetal state, the *vayu* divides it into limbs and other organs, the *tejas* or heat gives rise to the metabolism of the tissues; the *apas* or water keeps it in a liquid state; the PRITHVI gives the shape and the AKASA contributes its growth and development.[17] BUDDHAGHOSA, almost putting the same view, says that APO-

DHATU or water is the mode of cohesion, being founded on PATHAVI or earth, maintained by TEJODHATU or fire and distended by vayo or air; makes body appropriately.[18]

Characteristics of the bhutas

According to Buddhaghosa, the earth element (PATHAVI DHATU) has the characteristic (LAKKHANA) of hardness (KAKKHALATTA) and its function (RASA) is to act as foundation (SAMPATICCHANNAPACCUPATTHANA). It is manifested as receiving (PAGGHARANA); its function is to intensify (BRUHANA). It is manifested as holding together (SANGAHA). The fire element has the characteristic of heat (UNHATTA) and its function is to mature (PARIPACANA). It is manifested as a continued supply of softness (ADDAVANUPPADANA). The air element has the characteristic of distending (VITTAMBHANA) and its function is to cause motion (SAMUDIRANA). It is manifested as conveying.[19]

He, further, puts an exposition of the above characteristics found in the bhutas. He states that hard (KAKKHALAM=KARKASHA) is rigid (THADDHAM); harsh KHARIGATAM=KHARA) is rough. The first is a word for the characteristic (PATHAMAM LAKKHANAVACANAM), while the second is a word for the mode (DUTIYAM AKARAVACANAM), for the PATHAVI - DHATU is characterised as hard (PARUSAKARA hoti)[20]

It flows (APPOTI), flows on (PAPPOTI), to such and such a place as state of streaming, thus it is water (VISSANDANABHAYENA TAM TAM THANAM APPOTI PAPPOTI). The watery (APOGATA) is what is gone (GATA), among such various kinds of water (apo) as the KAMMA originated, and so on. What is that ? It is what has the water DHATU'S characteristic of cohesion (APODHATUYA ABANDHANALAKKHANAM) [21]

Fire (TEJO) is definable as heating (TEJANAVASENA TEJO). Whereby means of which TEJO DHATU, when excited, this body is warmed, becomes heated by the state of one day fever (EKAHIKAJARADIBHAVENA) and so on, Ages : whereby this body grows old, reaches the decline of the faculties, loss of strength, wrinkles, grayness, and so on. Burns up : whereby when excited, it causes this body to turn, and the person cries out I am burning; and longs for Ghrita a hundred times washed and for GOSISA sandlwood ointment, and for the breeze of a fan. And whereby what is eaten, drunk, chewed and tested gets completely digested, whereby the boiledrice, etc., that is eaten, or the beverage etc., that is drunk, or the hard food consisting of flour biscuits (PITTHAKHAJJAKADI) etc., that is chewed, the mango fruit, honey, molasses, etc., that is tasted. gets completely cooked, its juice, etc., extracted, is the meaning.[22]

Identification of Dhatus

In this body what is stiffenedness or harshness is the PATHVI DHATU, what is cohesion or fluidity is the APO DHATU,, what is maturing (ripening) or heat is the TEJO DHATU, what is distension or movement is the VAYO DHATU.[23]

Def nitions of the Dhatus

It is earth because it is spread out (PATTHATATTA PATHAVI), it flows or it glides or it satisfies, thus it is water (APPOTIAPIYATI APPAYATI), it heats (TEJATI)—thus it is TEJO or fire., it blows (VAYATI) —thus it is VAYO or air.[24]

The Medical School also describes the prominent signs or charactsristics of every BHUTAS. According to CARAKA[25] and BHAVAMISRA[26] some specific qualities are attributed to them, e.g hardness (KHARATVA) and heaviness (GURUTVA) for prthvi; natural liquidity (SAMSIDDHIKA DRAVATVA), stickness (SNIGDHATVA) and coldness (SITATVA) for AP; hotness (USNATVA) and radincy (TIKSNATVA) for TEJAS; mobility (CALATVA) and dryness (RUKSATVA) for VAYU and lastly non-resistance (APRATIGHATA) and lightness (laghutva) for akasa.

Now, we shall deal the MAHABHUTAS one by one with their details.

Akasa dhatu

The description of this DHATU is very meagre in Buddhist literature. Sometimes it has not been enumerated along with the other four BHUTAS. It is formless and pervasive and the four BHUTAS possess it even.

It may be internal and external both. Whatever is AKASA, spacious, is internal, referrable to an individual and derived therefrom. such as the auditory and nasal orifices, the door of the mouth and that by which one swallows what is munched, drunk, eaten and tasted and where this remains, and it passes out of (the body) lower down, or whatever other thing is space, spacious, is internal, referrable to an individual and derived therefrom, is called AKASA DHATU. Whatever is an internal and whatever is external, but these are the AKASA DHATU. By means if perfect intuitive wisdom it should be seen of this as it really is. Having seen thus as it really is by means if perfect intuitive wisdom, one should disregard the Akasa dhatu and cleanse his thought of the same.[27]

Ten and five qualities of Akasa

The MILINDAPANHO puts forth the ten and five qualities of the AKASA MAHABHUTA in two contexts. The work, presenting the characteristics, states that AKASA is neither born nor grows old (JIYATI). It is an incompressible (DUPPASAHO) and cannot be carried off by the thieves. It rests on nothing (ANISSITO) and in the sphere in which birds fly. It is the unobstructed (NIRAVARANA) and infinite (ananta).[28] It further, sums up the above in to five. That is to say that space (OKASO) is everywhere impossible to grasp (SABBASO AGAHYO) It is the familiar resort of risis, ascetics, gods and flocks of birds. Space inspires terror (SANTASANIYO) and is infinite, boundless, immeasurable (ANANTO APPAMANO APARIMEYYO). Lastly, space does not hang on to anything, does not cling to anything, does not rest on anything and is not stopped by anything. [29]

Vayu dhatu

The VAYU DHATU may be internal and external both. Whatever is motion, wind, is internal, referrable to an individual and derived therefrom, such as winds going

upwards (UDDHANGAMA), downwards (ADHOGAMA), winds in the abdomen (kucchisaya), in the belly (KOTTHASAYA), winds that shoot across the several limbs (angam anganusarino), inbreathing (assaso) and out-breathing (PASSASO), or whatever other thing is motion, wind is internal [30]

If external VAYU DHATU is provoked, it motivates village, etc. and checks all the functions.[31] CARAKA has vividly shown the causes and happening of external (LOKA) VATA.[32] the VISUDDHIMAGGA quotes the above context from MAJJHIMANIKAYA while it discusses the internal VAYU DHATU.[33]

BUDDHAGHOSA giving its etymological meaning explains it at length Air (WAYO) is definable as blowing (VAYANA-VASENA VAYO). The airy (VAYO GATA) is what is gone (GATA) in the way already described, among the kinds of air. What is that? It is what has the characteristic of distention (VITTHAMBHANA vistambhana). Upgoing winds (forces) mounting upwards that cause the occurence of vomiting, belching, and so on; downgoing winds (forces) descending downwards that expel excrement and urine. Winds in the belly, winds outside the bowels, winds inside the bowels. Winds that course through all limbs, winds that produce flexing, extending, etc. and distributed over the limbs and the whole body by means of the network of veins. In breath: wind in the nostrils entering in. Out-breath: winds in the nostrils issuing out, and here the first five are of fourfold origination. In breath and out breath are consciousness originated.[34]

Five qualities of Vayu

The MILINDAPANHO mentions the five qualities of the VAYU DHATU. Wind (VAYO) pervades the spaces in the woods and groeves in flowering time. It sets all the trees that grow upon the earth in agitation and bends them down. It blows through the sky and carries perfume along and lastly it has no abode or home to dwell in (NIRALAYO ANIKETAVASI)[35].

Tejodhatu

The tejodhatu or heat element may be internal and external both. Whatever is heat, warmth, is internal, referrable to an individual and derived therefrom, such as by whatever one is vitalised (SANTAPPATI), by whatever one is consumed (JIRIYATI) by whatever one is burnt up (OARIDAYHATI) & by whatever one has munched, drunk, eaten and tasted that is properly transformed (ASITA-PITA - KHAYITA - SAYITAM SAMMA PARINAMAM GACCHATI) indigestion, or whatever otherthing is heat, warmth, is internal and is called the internal heat element (TEJO DHATU). Whatever is internal and whatever is external, just these are the Apodhatu. By means of perfect intuitive wisdom it should be seen of this as it really is, having seen it, one should disregard the Tejo dhatu and cleanse his thought of the same.[36] Buddhaghosa has quoted the same view from the MAJJHI-MANIKAYA.[37]

Five qualities of tejodhatu

The MILINDAPANHO mentions the five qualities of TEJODHATU. It states that fire

or TEJODHATU burns grass, sticks, branches and leaves. It has neither pity nor mercy. It destroys the cold. Fire seeks no favour of any men and bears no ill-will to any man and makes heat for all and lastly it dispels and makes the light appear.[38]

Ap dhatu

The AP (APO) DHATU or water may internal and external both. Whatever is water fluid, is internal, referrable to an individual and derived therefrom, that is to say : bile, phlegm, pus, blood, sweat, fat, tears, vasa, saliva, mucous (singh inika), synovia (lasika) and urine or whatever other thing is liquid, fluid is internal and it is internal and it is called internal APO DHATU. Whatever is an internal liquid element and whatever is an external apo dhatu, just these are the APODHATU. By means of perfect intuitive wisdom it should be seen of this as it really is and should disregard the same and cleanse his thought of Apodhatu.[39]

If external Apodhatu is provoked, it flows out the villages, NIGAMA, city, JANAPADA and province. Water of ocean goes inside and outside.[40] Buddhaghosa[41] has quoted the same view from MAJJHIMANIKAYA.

Five qualities of Ap dhatu

The MILINDAPANHO mentions five qualities of water or AP DHATU. It states that water is firmly fixed in pools, wells etc.), shakes not and in its ordinary state is not disturbed and is pure by nature (SABHAVA-PARISUDDHO). It is always of a refreshing nature (SITALA-SABHAVASANTHITA) and makes the dirty clean (ASUCI SUCIM KAROTI). Water is desired of all men (BAHUJANAPATTHITO) and it works no harm to any body (NA KASSACI AHITAM UPADAHATI).[42]

Prthvi dhatu

The PRTHVI (PATHVI) DHATU is of two kinds alike the other DHATUS, i. e. internal (AJJATTIKA) and external (BAHIRA). Whatever is hard (KAKKHALA) and solid (KHARIGATA) is internal, referrable to an individual and derived therefrom, that is to say: the hair of the head, the hair of the body, nails, teeth, skin, flesh, sinews, bone, bonemarrow, kidney, heart, liver, kloma (pleura) spleen (PIHAKAM), lungs (PAPPHASA), intestine, mesentry (antagunam), stomach, excrement, or whatever other thing is hard, solid, is internal and this is called internal DHATU of extension. Having seen it thus as it really is by means of perfect intuitive wisdom, one should disregard the DHATU of extension and cleanse his thought of the PATHAVI DHATU. BUDDHAGHOSA has quoted the same view from MAJJHIMANIKNYA.

Five qualities of Prthvi—

The MILINDAPANHO, alike the other BHUTAS, mentions the five qualities of PRTHVI (PATHAVI) DHATU. The PATHVI DHATU possesses various types of smell. It has no adornement, no garlands but is suffused with the odour of itself. The pathavi dhatu is solid without holes or interstices thick, dense and spreads itself out on every side (NIRANTARA ACCHIDDA ASUSIRA EAHALA GHANA VITTINNA). The PATHAVI is never weary, though is bears up the

villages, towns, cities and countries, the trees, hills, rivers, ponds and lakes, the wild creatures and birds including the multitudes of men and women. Lastly, the earth is free alike from ill-will (ANUNAYPPATI GHAVIPPAMUTTA.

Ayurvedic view of pancabhutikatva of body components—

CARAKA and SUSRUTA, both the Ayurvedic authorities, have shown the particular predominence of bhutas in the body components. Whatever is predominently gross (STHULA), firm or static (STHIRA), solid (MURTIMAT), heavy (GURU), rough (KHARA), and hard (KATHINA) the body, viz., nails, part of bones, teesth, flesh, skin. faeces, hair of the head, face and body, tendons as well as odour and the sense of smell, belongs to prthvi bhuta. Whatever is predominently liquid (drava), diffusive (SARA), sluggish (MANDA), viscous (SNIGDHA), soft (MRIDU) and pasty (PICCHILA), viz., body nutrient fluid (RASA), blood, fat, kapha or phlegm, pitta or bile, urine, sweat, etc., belongs to Ap dhatu. Whatever in the body is of the nature of PITTA, heat and radiating lusture (BHA) as well as colour & complexion is referable to TEJAS DHATU. Whatever in the body is of the nature of inhalation and exhalation, opening and closing the eyes, contraction and extension, movement, impelling and holding, etc., as well as touch and the sense of touch are referable to VAYU. Whatever in the body is of the nature of porosity (VIVIKTA), utterance and the channels that are gross

and minute, as well as sound and the sense of hearing, are referrable to AKASA DHATU.[46] CAKRAPANI and DALHANA in their respective commentaries, have analysed the DHATUS (RASA, RAKTA, etc.) UPADHATUS (milk, menses, etc.) and MALAS (waste products) on the basis of PANCABHUTA. They make some interesting observation in the composition of the ovem i. e. Blood RARTA according to compendia belongs to Ap dhatu but these commentators add tejas to it, medas is formed by the predominence of prthvi and ap; and bone (ASTHI) has also its origin from VAYU also including PRTHVI and the same is with urine where TEJAS DHATU is also involved in with the APODHATU. Menses and milk belong to tejas and ap dhatu respectively,[47]

There is quite resemblance of the subject between Ayurvedic and Buddhist works.

Tridosa Theory:

The Buddhist works are unequivocally familiar with the TRIDOSA THEORY which is a fundamental of Ayurved. The natural properties of VATA, PITTA and SLESMAN ore not seen in any works of the Tripitaka literature but their pathological states are invariably dealt with. Death is considered due to provocation of VATA, PITTA and SLESMAN (senha).[48] According to the lord Buddha these DOSAS are responsible for suffering and happiness both in abnormal and normal states. He has also recognised the union of three DOSAS (SANNIPATIKANI) responsible for that.[49]

Causes responsible to provoke the Vata, Pitta and Kapha

When Vata is provoked, it is so in one or other of ten ways by cold, or by heat, or by hunger or by thirst, or by over-eating, or by standing too long, or by over-exertion, or by walking too fast, or by medical treat ment, or as the result of Karma.[50]

The PITTA is provoked it is so in one or other of three ways—by cold, or by heat, or by improper food (VISAMABHOJA-NENA).[51]

When the KAPHA (semham) is provoked it is so by cold, or by heat or by improper food (ANNAPANENA).[52]

Review of the dosas from medical Point of view

These DOSAS keep the body healthy in equilibrium stage but when disequilibrium appears, it tends to rise the diseases. CARAKA[53] has indicated three stages of the DOSAS as SANCAYA (accumulation), PRAKOPA (provocation) and PRASAMANA(allayment). While SUSRUTA[54] describes six and they are SANCAYA, PRAKOPA (provocation), PRASARA (spread), STHANASAMSRAYA (location), VYAKTI (manifestation) and BHEDA (appearance). And these stages are responsible for producing the diseases. So far as provocation of the dosas are concerned, they are vividly discussed in Susruta Samhita (1.21.19.23).

REFERENCES :

1. C.S.IV.I.27.
2. C.S.I.28 4;A.H.I.I.13.
3. Khadayas cetana sastha dhatavah p rusas smrtah. Cetanadhaturapyek smrtah purusasanjjakah. Punasca dh tubhedena prakritiscastadhatuki.

   C.S.IV.I.16,

   Saddhatujastu puruso rogas saddh tujastatha. Rasis saddhatujo hye samkhyair adaih prakirtitah.

   C.S.I.25.I

4. It may be noted that the number component elements (tatvas) of t rudimentary body in Samkhya likewise eighteen. That the term "dh tu" has been borrowed from Medic Sciences, where it means the elemen of the body' can hardly be doubted

   —Central Conception of Buddhis P.9,n

5. a) Bahyaikaikendriyavisesagunavatva behir indriyagrahyavusesaguna tvam va bhutatvam. (Report c Pancamahabhuta Seminar, p,13)

   b) Bityatva sati gunavat samavay karanatvam bhutatvam. (Ibid.p.60).

6. On C,S.IV.I.I.15.
7. S.III.I.I.;M.XXVIII.2.2.;MP.VIII.I. 21-24,
8. D.I.215;II.294; III.228;S.I.15;II.I sq.;224;IV.175;195; A.II.165;III.2 M.III.115;140;X.10;Vbh.14,72.
9. Gaur,D.S and Gupta, L.P.: in I.J S., Vol.V, No. I,p.58.
10. VM.XI.104.
11. Sabba pi hi dhatuyo ruppanalak

hanam anatitatta rupani, mahanta-patuphavadihi ti, eta hi dhatuyo, mahantapatubhavato, mahabhutasa-mannato, mahapariharato, mahavi-karato, mahatta bhutatta ca ti imehi karanehi mahabhutani ti vuccanti.
VM,XI.96.

12. Mahatta bhutatta ca ti, etani hi mahan tani, mahata Vayamena pari-ggahetabata, bhutani vijjamanatta ti mahatta bhutattaca mahabhutani. Evam sabba pi eta dhatuyo mahanta-patubhavadihi karanehi mahabhutani. VM.XI.103.
13. Refer to F.N.no.10.
14. Majjhimanikaya, in two places, mentions okaso (akasa) along with Vijnana, M.111.115,140,XXVIII.2.2.
15. MP. VIII.I.21-24,26.
16. VM.XI.38.
17. ...tam cetanavasthitam vayurvibha-jati, teja enam pacati, apah kledayanti, prthvi samhanti, akasam vivardha-yati. S.S.111.5.3.
18. V.M.XI.89-92.
19. VM.XI.93.
20. VM XI,33,35,36.
21. VM.XI.33,35,36.
22. VM.XI.33,35,36.
23. VM.XI.41.
24. VM.XI.87.
25. Khara—drava—calo—snatvam bhu—jala—nila—tejasam. Akasaseyapra-tighato drstam lingam yathakramam C.S.IV.I.29.
26. Laghurgurus tatha snigdho ruksasti-ksna iti kramat. Nabho—bhu—vari—vatanam vanherete gunas smrtah. Bhavaprakasa cited in I.J.H.S.Vol V,p.58.
27 M.11.62.
28. M.P.IX.8,71.
29. MP.VII.3.26 30.
30. M.11.62;XXVIII.2.II.
31. M.XXVIII 2 12,
32. C.S I.12. The chapter Vatakalakaliya presents the phenomenon at length.
33 VM 31.
34. VM XI.37.
35. MP.VII.3.16-20 cf. The same view is also expressed in the Mahabharata (X.184 10-12).
36. M.11.62;XXVIII.2.9.
37, VM.XI.31.
38 MP VII.3.II-15.
39. M.II.62;XXVIII.2 7,
40. M.XXVIII.2.8.
41. VM.XI.31.
42. MP.VIII.3.6.10.
43. M.11.62;XXVIII.2.3.
44. VM.XI.31.
45. MP.VII,III.I,5.
46. C.S.IV.7,16 cf. S.S.III.I.18.
47. The Bhanumati Commentary on W. S.I.15.8 and Dalhana's nibandhasa-ngraha commentary (on S.S.I.15.10) quotes the verses related to it.
48. VM.VIII.26.
49. S. XXXVI.II.3.21.
50. MP.IV.62.
51. Ibid;J.II.191.
52. Ibid.
53. C.S.I.17.114.
54. S.S.I.21..18-39.

Doctrines basic to Ayurveda

Dr. K. R. Srikanta Murthy, L.A.M.S., H.P.A., F.R.A.S., Principal, Taranath College Bellary (Karnaka)

Like all other ancient Indian Sciences, Ayurveda too is founded on the doctrines of the Shad-darshanas or the six systems of natural philosophy. Darshanas purport to explain the nature of the universe and have enunciated in their own typical style what we now call the basic sciences Physics, Chemistry and Biology. These doctrines being of basic nature were quickly taken up by the propounders of medicine and many other secular sciences to formulate their own concepts. Hence we find in Ayurveda two kinds of doctrines, viz the Basic doctrines and Applied doctrines. The basic doctrines are actually the concepts of the Darshanas adopted as such or with slight modifications. Applied doctrines are those which are specific and peculiar to the particular science but based upon Darshanic concepts only. The two are sometimes so intermixed that it is hard to recognise them separately.

An attempt is made herein to identify

and give a glimpse of some very important Basic doctrines found in Ayurveda. Needless to say that full justice cannot be done in this short article.

I Basic doctrines

As stated earlier these are enunciated first by the propounders of Darshanas and described eloborately in their treatises but also found in an epitomised form in Ayurvedic texts. The following are only a few important ones :—

1. Sapta-padartha Siddanta.
2. Paramanu Vada.
3. Agni-paka-parinama Siddhanta.
4. Panchamahabhoota Siddhanta.
5. Prakriti purusha Siddhanta.
6. Satkarya Vada.
7. Loka purusha samya Siddhanta.
8. Purushartha chatustaya Siddanta.

1. **Saptapadartha Siddhanta**—(Doctrine of categories)

This doctrine belongs to Vaisheshika Philosophy. According to this theory all the things in the universe can be broadly grouped under seven categories (padarthas) each with one or more subdivisions. The seven padarthas are (a) Dravya (Substance) (b) Guna (Quality) (c) Karma (Action) (d) Samanya (Similarity) (e) Vishesha (Particularity, dissimilarity) (f) Samavaya (relationship, inherence (g) Abhava (negation, non-existence).

a) **Dravya** : is defined as that in which guna (quality) and Karma (actions) exist and is the inherent cause for the Karya (effect).

Dravya is the substrate or the mass in which qualities and actions reside; its equivalent word in modern parlance being 'substance'. Dravyas are nine in number viz Pruthvi (earth), Ap (water), Tejas (heat and light), Vayu (—air, gas), Akasha (sky, space), Kala (time), Dik (space), Atma (soul, spirit) and Manas (mind, intellegence). Dravya in its minutest form is Paramanu (atom or sub-atomic particles) which is considered to be its unit.

b. **Gunas**—are defined as those which help in identifying the Dravya and its karma (action). In other words these are the qualities or properties of a substance. Gunas have no independent existence and can only exist in the Dravya. Gunas are many in number and are understandable by the five sense faculties and the mind. Shabda (sound), Sparsha (touch), Roopa (form, shape. colour), Rasa (taste) & Gandha (smell) are the five chief qualities each with many subdivisions.

c. **Karma**—(action-motion, activity) is the effect arising from either the Dravya or its gunas. It exists in two forms udbhoota (patent, manifest) and anudbhoota (latent, unmanifest). Karma is of five kinds 1. Utkshepana (upward movement) 2. Apakshepana (downward movement) 3. Akunchana (contraction) 4. Prasarana (expansion) and 5. Gamana (curviloniar, and all other kinds of motion).

Samanya—Similarity or common feature present in more than one substance, which helps to identify and group them together. It has somesubdivisins also.

Vishesha—is the opposite of Samanya; it is the dissimilar or particular feature of a substance which helps to differentiate and separate it from a group. While Samanya consolidates, vishesha dissociates; samanya make for increase of the likes, vishesha decreases them.

Samavaya—is the relationship between one substance and the other. It is usually inherent in them and help in holding them together in some way.

Abhava—is non existence, absence or negation, and becomes known in a negative way.

This Saptapadartha theory is adopted by Ayurveda as the first basic doctrine and is found through out the entire fabric of this science. Charaka Samhita enunciates it in its first chapter itself. Every aspect of Ayurveda is based up on this concept.

2. **Paramanu Vada**—(doctrine of atoms) is another doctrine of Vaisheshika philosophy. This postulates that the entire universe is made up of minute particles called paramanus (atoms-and subatomic particles in modern parlance). This startling discovery was made by sage Kanada (5th cent. B. C.) who in a moment—of ecstacy exclaimed 'Peelavaha, Peelavha.'—the univeres is--atoms and atoms only. He has further described their nature and kinds as he understood. This atomic theory was accepted by all the ancient sciences, including Ayurveda. The Dhatus (basic tissues) of the human body are described as conglomeration of inumerable paramanus. So also is the case with articles of food—and drugs which are all composed of minute particles.

3. **Agni-paka-- parinama Siddhanta**-- (doctrine of physical and chemical transformation). This theory also belongs to the Vaisheshika system. Agni or fire is said to be present in different—forms and when two different types come together paka or transformation takes place. This process has two phases, the first is parinamana—physlical transformation and the second paravruthi-chemical transformation.

This process of Paka is going on continiously in the universe, in everything that exists, starting from the paramanu upto living beings. Digestion of food, change of colour and texture of tissues, process of aging and many more activities are ascribed to this paka activity.

4. **Panchabhoota Siddanta**— (doctrine of elements)

This doctrine was propounded by the Sankhya Darshana. It explains that all things in the universe can ultimately be classified under five specific Bhootas-elements; the Pruthivi (soil), Ap (water), Tejas (heat and light), Vayu (air, gas), Akasha (sky-space). These elements in turn consist of paramanus with specific qualities (molecules, atoms and subatomic particles) peculiar to each Bhoota. The paramanus of all the five Bhootas combine together in varying proportions and give rise to the formation of panchikruta Dravya—substance formed out of combination of all the five, elemental particles. In this combination the particles which are in greater

proportion confer their specific qualities to the substance while the qualities of particles which are less in number though present in it are not predominatly expressed. Depending upon the preponderance qualities, substances are named as belonging to the category parthiva, Apya, Tajasa, Vayaveeya and Nabhasa though strictly speaking each one is panchabhoutik. (five element combination). All the things in the universe are panchabhoutika. This theory has the widest application in Ayurveda. The constituents of the human body, the food it takes the diseases it suffers from, the drgus needed to cure the diseases are all described as panchabhoutika. On this theory is based the rasa, guna, veerya, veepaka, siddhanta—the pharmacological doctrine of Ayurveda.

5. **Prakriti-Purusha Siddhanta :** (doctrine of dualism)

This is another Sankhya doctrine which states that there are two ultimate entities to the evolution of this universe viz: the prakriti (nature) representing the physical or meterial entity and purusha (spirit) representing the spriritual entity. Prakriti described as feminine, dross (inactive) unconcious (devoid of mental activity) but capable of reproducing itself. Purusha on the other hand is described as masculine, active, concious but incapable of reproduction. These two entities combine together and from their union are produced all the things of the universe (evolution) but this association of prakriti and purusha is not permanant and breaks sooner or later. This separation is described as death destruction or dissolution of things. Association and dissociation are going on incessantly in the world. Ayurveda adopting this theory explains that the physical body is prakriti the inactive-gross matter, made active by the presence in it of Atma (soul) representing the purusha. The body is constantly undergoing regeneration and degeneration at its tissue level and uttimately dies when the purusha leaves the body This is a biological theory to explain life and its activities.

6 **Satkaryavada** (doctrine of existent cause).

This is yet another doctrine of the Sankhya philosophy adopted by Ayurveda. This theory posits that for any karya (effect) there should be a karana-cause and that such a karana should be Sat (existant). In other words for all actions there is necessarily a cause and without cause there is no effect. The eause must be existant ie,, present in some form. Based on this theory is the opinion of Ayurveda that all the activities of the body, the diseases it gets, actions of drugs and so an are all a series of cause and effect.

7. **Lokapurusha Samya Siddanta** (doctrine of macrocosm and microcosm.)

This is a doctrine enunciated by the Vedanta Philosophy. According to this postulate there is great similiarity between the outside world and tha human being. All the things of the universe are present in the human body in one form or the other. The mountains, rivers, vegetation, oceans, wind, sun, moon, gods and spirits are all inside

the body residing in organs or places similar to their nature and quality. In other words Man is a microcosm—an epitome of the Universe. All the laws of the outside universe are also applicable to the body and its activities. A good knowledge of the physical world helps to understand the many unknown biological activities. This idea has been of great value to biological scicence like Ayurveda and hence we find a full chapter (Shareera-Sthana fifth chapter) being devoted to this subject in the Charaka-Samhita.

8 **Purushartha Chatustaya Siddhanta** (doctrine of the four aims of life.)

This postulate also belongs to the Vedanta philosophy. It purports to explain that life is not an aimless cycle of births and deaths. Life has a definite purpose and that is Mokaha, escape from the cycle of births and death. Moksha or liberation from birth and death is not possible all of a sudden but can be achieved by practicing a desciplined way of life. It has to be followed up with three other pursuits viz; Dharma (righ-tiousness in all activities), Artha (aquisition and distribution of wealth for the good of others) and Kama (desires and aspirations, not for self but for the use of all). A person who practices these, scrupulously is sure to attain Moksha.

Details of rules for each of the four pursuits have been described in the texts of Vedanta. Ayurveda has adopted this doctrine to formulate its own philosophy. A code of medical ethics has been built up based on this purushartha theory. Dharma, Artha, Kama and Moksha have been given new meanings as applicable to the physician, his personal and professional conduct, professional ethics which upholds the nobility of medical science have all been brought into the scope of this theory. Charaka Samhita has a detailed description of it in the last chapter of Suthrastana.

The above eight important doctrines originally belonging to one or the other Darshanas form the strong foundation on which Ayurveda is built. Hence these and many other doctrine of the Darshanas are to be called as Basic doctrines of Ayurveda. Based upon these there are quite a number of applied doctrines which are peculiar or special to Ayurveda. Some of the most important applied doctrines special to Ayurveda can be listed as under :

1. Doshadhatu Mala Siddhanta with emphasis on Tridoshas : (doctrine of the structure and functions of the body with special emphasis on humores).

2. Dravya-Rasa - Guna-Veerya—Vixpaka Siddhanta—(doctrines concerning the properties and actions of articles of food and medicines (drugs).

3. Ama-Sama Siddhanta—(doctrine of defective digestion and metabolism)

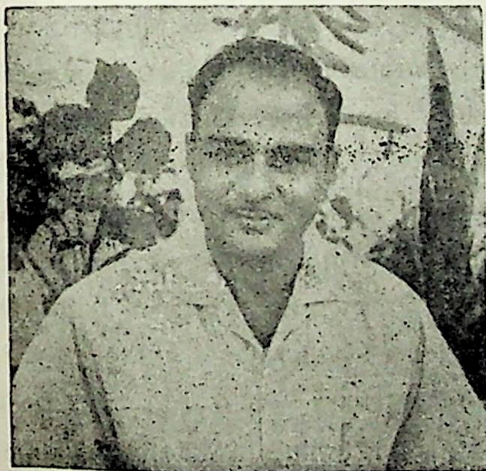
4. Kriyakala Siddhanta—(doctrine of evolution of diseases.)

5. Srotodushti Siddhanta—(doctrines concerning Histopathology.)

6. Shodhana and Shamana Chikitsa Siddhanta—(doctrine of therapeutics.)

In addition to the above there are many more minor doctrines. All these have the basic doctrines of the Darshanas as their under current and hence become applied doctrines. Attempt will be made to describe these applied doctrines in a separate article at a later date.

Ambit of Ayurvedic Principles



Satish "Karunpunj"

In my more ambitious movements, I have sometimes indulged in the following fantasy—

'If Ayurveda is the fifth **'veda'** Designed to help suffering humanity; if it is a gift of God for preservation of health and prevention from disease; if it is an eternal knowledge to have a healthy and long life so that one can achieve the four fundamental aims of life, i.e., **Dharma** (Duties), **Artha** (Material gains), **Kama** (worldly enjoyment) and **Moksha** (Liberation of soul), then it may be possible to re-assess fundamentals of Ayurveda and their approaches towards those factors which are bound to affect the health of **Vyakti** (person). In other words, my thoughts hover over the theme of analysis of fundamentals of Ayurveda and their scope in the fields of sociology, political science, economics, religion, ethics, philosophy, psychology, diplomacy and what not; besides their application in controlling of

increase of population, finding remedies for cancer, environmental pollution, mal-nutrition and other fatal diseases.'

'Simultaneously, I doubt about my own appraisal. Whether Ayurvedic principles are outdated with the passage of time and these have lost their potentiality and latent power. Whether Ayurvedists are responsible for not taking care to apply their own principles in solving problems of the present world or the time has come to apply these for their own cure, thereby the cure of Ayurveda. This leads me to another problem of knowing the fact whether there is built—in system of correcting, monitoring, self-preserving and self-generating like human beings for whom it has been brought into existence as a fifth Veda, i. e. Ayurveda.'

Now, it is not possible to give details of each subject mentioned above which can be covered by Ayurvedic principles. But, it will be a convincing case before the scientists and thinkers if I narrate my own thoughts in the form of loud thinking. I share with other Ayurvedists or thinkers that my conceptions are not correct and far from true interpretation of Ayurvedic principles. But, I have the liberty of going away from the accepted interpretations as I am supposed to touch the periphery and not the core of Ayurvedic principles. The longitudinal or transversal flight from the centres of basic principles to outer periphery is such a vast sphere that I have to touch the few points only in this attempt.

The beauty of ancient thoughts lie in their terminologies. Their equivalents are not available in other languages. For example, the term **'Vyakti'** is conceived by our ancient thinkers is quite distinct from the term 'individual' given by the present sociologists. **'Vyakti'** as such is an epitome of the universe. It is micro representation of cosmic world. It denotes manifestations of oneself in relationship with the external world; whereas, the term 'individual' demarcates separateness from the external world. It represents selfinterest and so it is in clash with the universe. Besides, **Vyakti** as conceived by ancient thinkers is a part of the whole. It has all the characteristics of the whole. After coming out of the whole, the part also becomes whole and the whole remains whole without losing anything. Whereas, in the modern conception, the individual is not complete in every sense as the whole is. **'Vyakti'** represents the constructive attitude of the life whereas 'individual' represents conflicts & struggle of modern world. Similarly, there are many other conceptions terms which are being equated wrongly and not properly understood. For example, **'Darshana'** is not philosophy; the **'loka'** is not people; 'Dharma' is not religion. Indian terminologies are quite distinct from their so-called modern equivalents. Similarly, it is wrong to translate Ayurveda as medical science of ancient time or folk-medicine or traditional medicine. On the other hand, Ayurveda is connected with all those aspects of **Ayu** which are having good or bad effects on the longevity as well as health of a person. Hence, it is quite apparent/natural that

Ayurvedic principles cover all aspects of life.

During Vedic period, there was a spiritual or yogic milieu. (Milieu means the total environment fashioned by physical surroundings kinship, patterns, technological approaches, aesthetic concepts, civilisation, socio-economic set-up. etc.) The Vedic Age or spiritual milieu gave rise to Ayurvedic milieu which was quite similar to its earlier age. But it was meant for the common masses. The pattern or technological approach was such that it was beneficial to all. It was conducive to noble souls or saints for persuading their 'dharmas' for liberation of souls. For the common person, Ayurvedic milieu provides healthy surrounding so that he can enjoy **kama** (worldly pleasure) with the help of **artha** (material gains). So, it was a unique design worked out by ancient rishis which was equally required by devas (Gods) as well as rakshas (Demons). In other words, Ayurvedic milieu came into existence as a compromise between spiritualism and materialism. The desire and ambition of common man were not sacrificed at the altar of a idealism of mahapurushas.

HEALTHY SOCIETY

The general definition of health given by Ayurveda is that there should be an equilibrium of all the constituents such as **doshas, agnis, dhatus** and **malas**. The organs, mind and soul should be happy. This definition of health provides us the equilibrium or balance of every material which constitutes the totality. It can be applied to 'vyakti' and 'loka'. In Charak Samhita (First Chapter of Sutrasthanam, the stability of loka is given in the form of tripod. The existence of loka is by the combination of sattva (mind), **Atma** (soul), **sharira** (body). Hence, it is quite obvious that the definition of **svasthya** also applies to **loka**. Ayurveda does not differentiate the **vyakti** from the **loka**. To understand the **loka** one can say that the loka is that which is perceivable, i. e., the world or universe which can be seen and whichever is perceivable constitutes the milieu. For a healthy milieu, there should be equilibrium of dynamic nature.

It may be conceived that three **doshas**, i. e., **vato, pitta,** and **kapha** are executive, legislative and judicial functionaries respectively of the perceivable existence. **Agnis** represent these forces which are responsible in the change and formation of different articles of the perceivable existence. There are seven **dhatus** in the body. Similarly, whatever supports is termed as **dhatu.** The **rasa dhatu** may be considered as all those consumable articles which the perceivable existence takes in and changes into other dhatus or supporting materials. **Rakta dhatu** may be considered as **maya** or financial entity which supports **loka** and thereby all activities are generated. **Mansa dhatu** is the body stuff. It constitutes the dimension of the loka which is quite essential for channelisation of different forces. The **ashthi dhatu** supports **loka**. Similarly, other dhatus can be conceived.

The mind organs and soul of the LOKA can be explained in details. To cap it all, it can be stated that the Ayurvedic conceptions

of health can equally apply to our internal as well as to the external world or LOKA. There is complete co-relation because of the fact whatsoever is in the body is there outside; so the conception of SVASTHYA as described in Ayurveda leads to a theory of balance between spiritual and material worlds, equitable distribution of all supporting dhatus or money to each according to need and ability. There is no mechanical equilibrium or equality. There should be happiness generated from equality. The soul of the society, i,e., CHITI should be happy. But, the psychological approach of the society should lead to happiness. In other words, the balance between the material and the spiritual worlds should be there. And this can be achieved through equitable distribution of wealth or maintaining the equality of all constituents of the LOKA.

To be more fair to the Ayurvedic principles, one can say that it indeed covers SAMYAVADA. It is clearly stated in the first chapter of Charak Samhita that the after stating the causes the action should be to establish DHATUS-SAMYA, i e., equitable distribution of wealth or commodity which supports the societies or LOKA One can very well say that this has been stated before Karl Marx expounded "Communism." Where-as the Karl Marx has forgotten about the soul, the Ayurveda tried to rationalise two domains with its rare wisdom reflected in the form of Ayurvedic principles

There are many ways to think of Ayurvedic influence or relationship with other branches of science, art, philosophy and industrial technologies. For value or utility one has to accept a common paradigm. And Ayurvedic provides excellent paradigm. Human race can choose it. It is better than other claimants i e. neoclassicism, Institutionalism and Marxism. It is rare combination of what is as well as what ought to be achieved to become one with "is". "Is" is SATYAM SATYAM is SHIVAM i.e. KALYANKARI or good for a long & healthy life. SHIVAM is SUNDARAM i. e. Beauty or aesthic good. Ayurvedic principles based upon SATYAM for KALYANKARI life leading to aesthic truth. Truth is wholesome and beautiful. It is a best paradigm without contradiction.

Regarding relation-ship between one thing and another object, Ayurvedic provides excellent model of Samayoga i.e. balanced union based on the principle of SAMATA (equality). It does not prescribe AYOGA (non-union), ATIYOGA (Excessive union), HEENAYOGA (faulty union) and MITHYA-YOGA (false union). It strikes for SAMYA-VYASTHA of VYAKTI as well as of LOKA. This advocacy can be used as a best policy for establishing friendly relationship in the field of diplomacy and communal harmony respectively.

Ayurvedic principles are eternal. Therefore, these give rise to many thoughts and ideas. The time may come when it will be realised that the theories and practices of Ayurveda are not limited to the medical science, it is the total science, philosophy, technology of leading a long and healthy life.

Concept of Vipaaka

Dr. P. Vasanth, M. D. (Ay)
Senior Lecturer, Post Graduate Centre,
Govt. Ayurveda College,
Trivandrum-695 001 (Kerala)

As in the enunciation of the general principles of Tridosha Pathology, so also in the conceptions of Pharmacological principles, our ancient acharyas have formulated certain general theories and classifications which involve the characteristic universal application of the Pancha bhautika theory. The five elementary principles in different combinations affect the human constitution in different ways. As it is impossible to calculate the strength of the particular principles in the several dravyas, so our acharyas have divided them into five main divisions viz; Parthiva, Aapya, Tejasa, Vayuvya & Akashiya, according to predominance of the particular Bhuta. To each of these again are attributed (1) The physical and chemico-physical properties, viz; Rasa and Guna, and (2) The physicological properties viz; Veerya, Vipaka and Prabhava known from the reaction of living matter to the drug contents.

All the dravyas (substances) and in spe-

cial, ahara dravyas (nutritional substances or articles of food) which exhibit six kinds of rasas (tastes) viz; Madhura (sweet), amla (sour), Lavana (Saltish), Katu (Pungent), Kashaya (Astringent) and Tikta (Bitter) are stated to yield, towards the end of Jathragnipaka, the rasa's shown in table, when the formation of ahara or anna rasa is said to be completed. So it is clear that our ancient acharyas have the lack of unanimity about the Vipaka of rasas.

What is Vipaka ?

जाठरेणाग्निना योगाद्यदुदेति रसान्तरम् ।
रसानां परिणामन्ते स विपाक इति स्मृत: ।।
अ०हृ०सू० १

'The transformation of Rasa, after food is digested completely in the gastro-intestinal tract by means of digestive juices, is called Vipaka.'

In Ayurved the Process of digestion is described as taking place in two ways. One of these ways bears reference to the stages of digestion which takes part in the successive parts of the alimentary canal. The other is with reference to the end result following the completion of digestion.

The first is exactly similar to the way in which the processes of digestion in the different tracts are interpreted in Modern Physiology. It is indicative of the influence of the local juices, such as the Saliva, the gastric juice and succus entericus, on the food whatever its 'Ras Ghatakas' may be. It is called 'Avastha paaka'. The second is called 'Nista Paaka' which is a vishista paak and indicates the combined effect of all the digestive juices on the food ingested. Because, the end result is the outcome of absorption and elimination and depends upon factors related both to the chemical nature of the food and to the predominant strength of the digestive juices at work. It can be inferred from the total effect on the constitution produced by the digestive processes There is no doubt that there can be some exceptions to such conclusions as conditions vary in different individuals according to their digestive power. Therefore, our acharyas have adopted a general way in mentioning the number of the Vipaakas. They are three, viz; Katu, Amla and Madhura.

The classification of Vipaakas into the three Nishtapakas is superfluous. In fact it is not so. For nishtha paaka is dependent on the result of the three regional avastha paakas. Chakradatha has made it clear (C.Sut. 26) as 'there can be no contradiction in saying that the end result, Nishtha Paaka, which is produced when the transformation of food into Rasa and Mala is complete is the same as the Avastha-paakas. Because, though the stages and the timings of the two Vipaakas are different, the one being at the end and

the other during the intervals of digestive processes. The end result (Nishtha paaka), whether it be accelaration or retardiations (reduction) of the Pharmacological action the drugs used, is exactly in proportions of the pharmacological effects of the intermediary regional Avastha Paakas.

According to Charaka and his followers, including Vagbhata, substances that possess six different tastes viz; Madhura, Amla, Lavana, Katu, Tikta and Kashaya yield towards the end of Jatharagin paaka, three tastes (substances that exhibit three tastes) viz; Madhura (Sweet), Amla (Sour) and Katu (Pungent). According to Sushruta, Vipakas are only two viz; Madhura and Katu (Su. Sut 40: 10) तत्राहुरन्ये प्रतिरसं पाकंइति— (Su. Sut 40:9) Some of the authorities quoted by Sushruta, there are as many as Vipaakas as there are rasas..

Parashara is been to have advanced the view that Tikta and Kashaya rasas undergo Madhura Paaka. In the opinion of Ayurved Sutra, the substances that possess Katu rasa may undergo Lavana Vipaaka, Tikta rasa may undergo Madhura Vipaaka and Kashaya rasa may undergo Amla Vipaaka.

According to Charaka (C. Sut. 26:61·64) the three rasas, Madhura, Amla and Lavana, on account of their unctuous and moistering properties, one regarded as useful in facilitating the expulsion of flatus. and excretion of Urine and faeces. The coarse and irritating properties of Katu, Tikta and Kashaya rasas, on the contrary, cause discomfort at the time when the excreta and semen are discharged. So the action of the three Vipakas are as follows :—

Katu Vipaaka : Hinders the prodction of semen, causes flatulence, constipation and dysuria, on account of its irritating properties.

Madhura Vipaaka : Helps the discharge of urine and faeces, induce secretion of Kapha and creates reproductive power.

Amla Vipaaka : Causes biliousness, helps the excretory function and destroys reproductive power.

Of these three Vipaakas, Madhura Vipaaka is said to be Guru paaka and it is Vata Pittagna. Amla and Katu Vipaakas are Laghu paaka and Sleshmagna (Su. Su. 21). So according to Charaka, medicines like articles of food, undergo modifications in the mouth, stomach and intestines, which is in proportions of their potency and the power of absorption in the different areas. (C.Sut. 26).

TABLE* Showing Vipaka of Rasas

Rasa	Vipaka of rasas					
	Charaka 1	Sushruta and the views of others quoted by him 2	Ashtanga Samgraha 3	Ashtanga hridaya 4	Parasara quoted by Samgraha-5	Ayurveda Sutra of Yogananda nath 6
Madhura (Sweet)	Madhura	Madhura	Madhura	Madhura	Madhura	—
Amla (sour)	Amla	Amla	Amla	Amla	Amla	—
Lavana (saltish)	Madhura	Lavana	Madhura	Madhura	Madhura	—
Katu (acrid or pungent)	Katu	Katu	Katu	Katu	Katu	Lavana
Tikta (bitter)	Katu	Tikta	Katu	Katu	Madhura	Madhura
Kashaya (astringent)	Katu	Kashaya	Katu	Katu	Madhura	Amla

* Table is taken from Digestion & Metabolism in Ayurved by C. Dwaraknath.

1. (Charaka : Sutra 26 : 58)
2. (Sushruta : Sutra 40 : 9)
3. (Ashtanga Samgraha : Sutra 17)
4. (Ash. Hri : Sutra 9 : 21)
5. (Parashara quoted by Ashtanga Samgraha : Sutra 17)
6. (Ayurved Sutra : Parashara 1 : 44-46)

Jeevanuvada (Bacteriology) in Ancient Indian Literature.

Dr. Ganjam Purushothamacharyulu, M.D.(Ayur.)
Incharge of Kaya Chikitsa Unit,
Govt. Ayurvedic Hospital, Vijayawada-2

Ancient indians were aware of the existence of microorganisms or bacteria as well as causation of diseases by them since vedic period.

There are many references pertaining to bacteria in ancient literature such as Rigveda, Atharvana Veda, Satapadha-Brahmana, Taittareeya Aranyaka, Chandyogyopanishad, Vishnupurana, Vayupurana, Bhagawat purana, Mahabharata, Raghuvamsa, Kamasutra etc. Among therse Atharvana Veda which has laid foundations for Ayurveda contains much information.

The following narration from ancient literature indicates the familiarity of Jeevanuvada (Bacteriology) at that time.

Vedic Literature

The words 'Krimi' (which nourished by raw flash)[1] 'Rakshasa' (which drinks blood)[2] 'Yatudhana' (which causes pain)[3] 'Pisacha' (Eats raw flesh)[4] 'Apsara' (Swims in water)[5]

'Gandharva' (Makes noise)[6] etc,, have been used to denote micro-organisms in Atharvana. Nearly hundred types of organisms have been described. Some are said to be Adrista (Macroscopic) and the others are Adrista (Microscopic)[7]. They flourish in mountains, forests, plants animals and water[8]. They fly through atmosphere and sky and reach the earth.[9] They enter into food, water, milk etc., and invade the body through the food, such the blood, ruin the flesh, restricts the growth and causes diseases.[10]

They may be internal or external.[11] They may be located in Eyes, Nose, Teeth, Head, Intestines or Ribs.[12] They may have Vesa (mainseat of infection) and Parivesa (secondery seat of infection) in the body.[13] Some of them may be having three heads, four eyes and is of various shapes.[14]

The organisms should be destroyed to mitigate the ill effects caused by them. Mantra, Bali, Homa, Manidharana and Jambhavi were used to destroy these microorganisms. Sunrays, Fire, Suggulu, Peelu, Dhataki, Jatamamsi, Aswatha, Vata, Ajashringi, etc., also destroy them.[15] Sages like Atri, Agastya, Kanva, Jamadagni, have recommended four methods to destroy them which might have been refraining, disentangling, removing and fumigating.[16]

There are also some organisms which are useful to human beings such as 'Pinga' and 'Paidava'.[17] Pinga preserves the baby at birth and chases the amorous ghandarvas away.[18]

Post Vedic Literature (Epics, puranas and Classics etc,.]

Vedavyasa observed that krimis are everywhere and no-body can avoid them in his Mahabharata.[19] Communicability of Mahamari (Plague) from one Person to another through rats has been indicated in Kalika Purana in which people have been advised to quit their houses where rats dying or fall dead.[20]

Bhutas, Crahas, Rakshasas, Gandharvas, and Pisachas were described in Kadambari (328-492), Harsha Charitra (75) Abhijnanashakuntala (3.24) Brihatsamhita (53.33) Mahaveera Charitra (228) and Shankarabhashya on Brihadaranya Kopanishad (3.31)[21] Udara Krimis were narrated in Arthasastra of Kautilya (4,78.3.17)[22]

Bala Grahas such as putana and revathi were mentioned in Brihatsamhita (3/3) Shreemadbhagavata (6.6 14) Vishnupurana (5 5.7.23) Markandeyapurna (43-9) and Vayupurana (9/89). These diseases were thought to be very difficult to cure at that time. The symptoms of Balagrahas and their treatment have been mentioned in Vishnudharma 1-231,32)[23]. Kalidasa has observed that the Grahas enter the body as the immage enters the mirror in his Raghuvamsa (16.6)[24] Sri Shankaracharya has observed that they destroy the smriti in his commentary on Chandogyopanishat.[25] Vatsayana has observed that persons suffering from Rajayakshma were used to be isolated from the society.[26] The method of vaccination for prevention of Masurika (Small Pox) was also described in Sakteya Grandha of Dhanvantari[37] some

centuries back, before the Edward Jenner, who has been honoured for the invention of vaccination.

Ayurvedic Literature

Ayurved the science of life based on principles rooted into the vedas was gradually evolved from vedic material. It had developed so vast that it had been divided into 8 branches by Sushruta in 5th cent B. C. Bhuta Vidya is also one among them which resembles bacteriology.

There are vast number of references in Ayurvedic Literature pertaining to Jeevanuvada or Bacteriology. Only a few of them can be pointed out in the limited scope of the present paper.

Vagbhata has observed that all the diseases are communicable (Samcharnaseela) [28] Sushruta and Vagbhata had recognised a number of diseases as sankramika or infectious.[29] They have also indicated the association of microorganisms with some such diseases.

The diseases which are considered as communicable by Sushruta, Vagbhata, and Bhavamisra[30] are Kushta (leprosy and some skin diseases), Jwara (fevers), Sosha (tuberculosis), Netrabhishyanda (Opthalmias and some Eye diseases), Upadamsa (Syphilis), Bhutommeda. (Neurological Upsets), Gana, Romantika, Masurika, (Small Pox). Granthi (Tumours), Visarpa (Erysepalas), Apasmara and Seetalika.[30b]

Gayadasa the commentator on Sushruta Samhita has illustrated the communicability of diseases with example of spread of Masurika.[31]

Sri Kanthadatta in his Madhukosa commentary has observed that the Oupasargika Rogas are caused due to papa and Bhutopa Sarga.[32] The term Bhutopasarga indicates the invasion of bacteria. The mooles of spread of infection have also been described by Sushrula and Vagbhota [33] as follows :—

a) Prosanga—Seual .contact or intimate and frequent relationship.
b) Gatrasamsharsa—Boolily contacts.
c) Nihswasa—Breathing or Air
d) Sahabhoyana—Eating together or from the same plate.
e) Sahasayya—Uing the same led.
f) Sahasana—Sharing the same seat.
g) Vastramolyanulepana—wearing the same Clothes same garlments and using the same soap.

The aetiological factors of various diseases have been broadly classified in two choreka as 1) Nija and 2) Agantuka.[34] Invasion of bacteria or Bhutopasarga has been included in Agantuka Karanas.[35] Chakrapani Datta explained the term Bhutas as Toxic Germs and Pisachas.[36] The cause of Agantuka Karanas is pragnaparadha.[37] Sushruta included the deseases pertaining to germs (Upasargaja) in daivabala pravritta category and in the sub categories of 'Pisachadi Kruta' and Samsargaja.[38] Chakrapani in his Bhanumathi commentary explained the term samsargaja as the diseases which has been acquired by contact of a patient who is already suffering from such disease.[39]

Vruddha Vagbhata has included the dis-

eases caused by bacteria in Prabhava Jata category under Pisachavesadayasheha.[40]

Chraka has observed in Vimanasthana that there are two types of Krimis 1) Sahaja- The existence of which is essential for the maintenance and development of the body. The same view has been discovered by modern scientists after the apse of so many centuries of Charaka. 2) Vaikarika—Pathogenic means which cause diseases He has described 20 types of disease causing krimis which were classified into 4 categories. 1) Bahyamalja (Minute organisms) which cause Kandu Kotha etc., 2) Kaphaja 3) Raktaja (invisible organisms) cause kusta etc., 4) Purushaja (intestinal parasites) [41]

The description of vikruta desa (in janapadodhwanneya chapter).[42] Visham Jwara,[43] Masurika,[44] Sleepada,[45] Upadamsa,[46] Kustu,[47] Krimia Hridroga,[48] Siroroga,[49] Kriminasa[50] etc., indicates the assocication of microorganisms with them.

In the light of the above facts it is evident that the authors of Ayurvedic Samhitas were aware of the existence of both microscopic and macroscopic organisms, causation of diseases through them, source and ways of spreading since thousands of years.

Modern Medicine

The spreading of diseases from person to person through some small invisible particles had been observed for the first time by Fracustorius of Verona (1546 A. D)according to modern medicine. Athanasius Kircher was attempted for the first time to study bacteria by direct microscope in 1659. Antony Ven Leeuwen Hock noticed bacteria in 1687 after the introduction of microscope by Galelio. The fundamental observation of bacteriology has started with him. However the definite association of bacteris with diseases was not recognised till 19th century. Ferdined Cohn introduced modern classification of bacteria. He established the foundations of bacteriology on a firm footing in 1872. Louis Pasteur, the father of modern microbiology was the first among modern scientists to make a complete study of the manner in which microorganisms multiply and produce disease.

Robert Kock, the father of modern bacteriology worked out the complete life history and spore formation of bacillus of Anthrax in 1876. He has published his methods of staining films of bacteria in 1877. He has published a great memoir on the cause of infectious diseases describing those kinds of bacteria which produce suppuration in the wounds. He has also published his methods of obtaining pure cultures of different organisms. Kock's methods founded the science of bacteriology and with little change they were still in use. From 1874 to 1898 the causative bacteria of various diseases have been discovered by a number of scientists, such as Leprosy by Hansen, Gonorrhoe by Neisser, C. Diptheriae by Klebs, Dysentry by Shiga etc ,.

The microorganisms have been classified into 4 groups 1) Moulds 2) Yeast 3) Bacteria 4) Rickettsiae. A number of diseases are supposed to be caused by these microorganisms according to modern system of medicine.

Though the ancient saints in general and the authors of Ayurvedic texts in particular were aware of the causation of diseases by microorganisms since time immemorial they have had not linked up the microorganisms with a large number of diseases as was done by modern scientists. It seems they have given only secondary importance to microorganisms to the tridosha theory. Boyd the well known pathologist also observed as "the same infection may produce very different effects in different persons. These variations depend on two great factors, the virulence of the mocroorganisms and the resistence of the patient" in his pathology. The suceptability of infection depends on so many factors and which can be correlated with the decreased Vyadhikshamatva Shakti as observed by Charaka.[51]

Charaka has dealt the Vyadhi Kshamatwa Shakti (Natural resistanee) in detail. Chakrapani classifed it into two aspects. Vyadhi Bala Nirodhitwa and Vydhiutpada Nibandhakatwa The regements prescribed in dinacharya, Rutucharya, for Ahara, Nidra, brahmacharya; Swasthavritha, Sad Vritta, Rasayana etc., are supposed to increase the Yuktikruta Vyadhikshamatva Shakti (Bala). In general Vyadhi Kshamatvashakti cannot be impaired if the dosha dhatu equilibrium is maintained properly. Hence according to Ayurveda the Kshetra (Human body along with mind and senses) is more important then the beejas means microorganisms. If the kshetra (Host) is kept unsuitable for the mulitplication of microbes (beejas), the defence mechaanism of the body gains strength and the microorganisms cannot cause the diseases. So it can be concluded that the maintainance of Dosha Dhatu equilibrium is more important than the avoidence of pathogenic organisms according to the basic concepts of Ayurveda.

Acknowledgement

I acknowledge my thanks to Dr. P. Anantha Swamy, Superintendent Govt, Ayurvedic Hospital, Vijayawada who has encouraged me to prepare this paper.

१- क्रव्ये मेद्यति ।। निरुक्त ६/१२

२- असृग्याजानि हवै रक्षांसि ।। कौशिक सूत्र १०/४

३- यातु वेदनां दधतीति यातुधाना: वेदनोत्पादका: कृमिघ्न:

४- पिशितं मांसमश्नातीति पिशाच:—शब्दकल्पद्रुम

५- अप्सु सरन्तीत्यप्सरस: । शतपथ १०-५-२-२०

६-गां वाणीं धारयतीति गान्धर्व:

७- दृष्टमदृष्ट मतृदम्—अथर्ववेद २-३१-२

८- ये क्रिमय: पर्वतेषु, वनेषोषधिष, पशवप्सन्त:

Ibid 5

९- योऽन्तरिक्षेण पतति दिवि यश्चाति सर्पति । भूमिं यो मन्यते वारयं—Ibid 4-20-9

१०- Ibid 5-29-5to7, 10; 2-25 3; यजुर्वेद 16-62

११- ये अस्माकं तन्वमा विविशु: Ibid 2-3-5

१२- यो अक्षयो परिसर्पति यो वासे परिसर्पति ।' दतां यो मध्यं गच्छति तंक्रमि Ibid 5-23-3

अन्वान्त्र्यं शीर्षण्य मथो पार्ष्टेयं क्रिमीन्

—Ibid 2-31.4

१३- Ibid 6-23-12

१४- विश्वरूपं चतुरक्षं क्रिमि सारङ्ग मर्जुनम्

—Ibid 2-3-22

त्रिशीर्षाणं त्रिककुदं—Ibid 2-23-9

१५- उद्यन्वदित्य: क्रमीन् हन्तु निम्रोचन हन्तु रश्मिथिभ:

Ibid 2-32-I

Ibid 1-28-1;4-37-1to4

१६- Ibid 5-23-10; Atharvana Ved and Ayurvedic By shri V. B. Korombelker

१७,१८- पिङ्ग रक्षजायमानं मां पुमांसि स्त्रियं कन् Ibid 8-6-25;9-9-10

१९- उदके बहवः प्राणाः पृथिव्याञ्च फलेषुच -सूक्ष्म-योनीनि भूतानि—महाभारत, शान्तिपर्व

२०- पतन्ति मूषका यत्र वृत्यन्ति विरमान्ति च
तत् गृहं तत्क्षणं त्यक्त्वा सकुतुम्बे वनं विशेत्
तत्र शांति प्रकुर्वीत महामार्या प्रशान्तये
—कालिका पुराण

२१- ग्रहैरिव गृह्यते, भतैरिवाभि भयन्ते, मन्त्रैरिवावेश्यन्ते वाबुनेव विडम्ब्यन्ते, पिशाचैरिव ग्रह्यन्ते

२१ to २६- Indian medicine in the classical age By Dr. P. V. Sharma

२७- धेनुस्तन्य मसूरीं वा नराणाञ्च मसूरिका
शस्त्रेणोत्कृत्य बाहुमूली विधारयेत्
तत्पूयं रक्त मिलितं स्फोय्वकरं भवेत्
—धन्वन्तरि कृत शाक्तेय ग्रन्थ

२८- गदानां प्रायः स्पर्शादिभिः सञ्चरण शीलत्वम्
स्पर्शकादार शय्यादि सेवनात्प्रायशो गदाः
सर्वे सञ्चारिणो नेत्रा त्वग्विकारो विशेषतः—
—अष्टांग सग्रह-निदान 14/42

२९- प्रसङ्गाद् मात्रसंस्पर्शा न्निःश्वासात्सहभोजनात्
सहशाय्यांसनाच्चापि वस्त्रामान्यानुलेपनात्
कुष्ठं ज्वरञ्ज शोषश्च नेत्राथिष्यन्द एव च
औपसर्गिक रोगाश्च संक्रामन्ति नरान्तरम् ।
सुश्रुत निदान 5/35

II)see 28

३०- कण्डू कुष्ठोपदंशाश्च भूतोन्माद गण ज्वराः
औसर्तगिकरोगा... —भावप्रकाश कुंष्ठरोगाधिकार

३०- b.I)मसूरिकाश्च रोमान्त्ये ग्रन्थि वीसर्प एव च
उपदंशास्य कण्डवाद्या औपसर्गिक संज्ञकाः
II) त्वगक्षिरोगापस्मार राजयक्ष्म मसूरिकाः

३१- औपसर्गिक रोगाः सामान्य धर्म प्रवृतः मसूर्यादयः
न्यायचन्द्रिका of गयदास on सुश्रुत ति 14/41

३२- औपसर्गिकाः पापरोगादयो भूतोपसर्गजाश्च
श्रीकण्ठदत्त-मधुकोश on माधवनिदान—49

३३- see 29

३४- द्वे रोगानीके निमित्त भेदेन धातवैषम्य निमित्तञ्चागन्तुञ्च
चरक सूत्र-20

३५- I) मुखानिखल्वागन्तोर्नख...मन्त्राशनि भूतोपसर्गादि
Ibid

II) आगन्तु भूत विष...समुत्थः ॥ Ibid 11

३६- I) भूताः स विष क्रिमि पिशाचाः II) भूतोपघातः पिशाचाद्युपघातः चक्रपाणि on चरक सू. 17/77

३७- चरक शारीर-2

३८- दैवबल प्रवृत्तये...उपसर्गजाश्च ॥ तेऽपि द्विविधा विद्युदशनिकृता पिशाचादिकृताश्च, पुनश्च द्विविधा संसर्गजा आकस्भिकाश्च ॥—सुश्रुत सूत्र-24

३९- संसर्गजा औपसर्गिक रोगि संसर्गजाताः ॥ चकपाणि-भानुमती टीका on the above.

४०- प्रभावजा...पिशाचावेशादयश्च ॥ अष्टांगसंग्रह
सूत्र-22

४१- I) 'अन्यत्र सहदेश्यः' चरक विमान 7/9
II) अन्यत्र सहजेम्यः इत्येनन शरीर सहजास्त्ववैकारिकाः क्रिमयोः विंशते प्याधिका भवन्तीति दर्शयति ॥
चक्रपाणि on the above.

४२ चरक विमान 5/7-3

४३ केचित् भूताभिषङ्गोंत्थोबुवते विषमज्वरम्
सुश्रुत उत्तर—39/68

४४- क्रूरग्रहेक्षणश्चापि—भावप्रकाश

४५- सु. वि. 12;

४६- माधवनिदान 47 chapter

४७- चरक वि. 5; चिकित्स-7

४८- चरक सू 17: चि. 26

४९- चरक सूत्र. 17;

५०- सुश्रुत उत्तर 24

५१- न च सर्वशरीराणि व्याधिक्षमत्वे समर्थानि भवन्ति
चरक सूत्र 28/7



सचित्र आयुर्वेद

विषय-सूची

वार्षिक मूल्य १० रु०] [एक प्रति १ रुपया

आयुर्वेद चक्रवर्त्ती, प्राणाचार्य पं० दुर्गा प्र० शर्मा

विदेश यात्रा का दूसरा दौर



श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के संयुक्त प्रबन्ध-निदेशक, आयुर्वेद चक्रवर्त्ती, प्राणाचार्य पं० दुर्गा प्र० शर्मा ने पुनः अपनी विदेश यात्रा के सिलसिले में गत ५ अक्टूबर, ७८ को भारत से प्रस्थान किया। श्रीयुत् शर्मा जी अपनी विदेश यात्रा के इस दूसरे दौर में पश्चिम जर्मनी, डेनमार्क, स्वीटजरलेण्ड, इटली प्रभृति देशों का भ्रमण करेंगे। आगामी १० नवम्बर, ७८ तक उनके स्वदेश लौटने की आशा की जाती है। जगदीश्वर उनकी यात्रा को मंगलमय करें। —संपादक

सचित्र आयुर्वेद के ग्राहक कृपया ध्यान दें।

चन्दा-समाप्ति सूचना

'सचित्र आयुर्वेद' के ग्राहकों से हमारा विनम्र निवेदन यह है कि सचित्र आयुर्वेद का ५वां अंक आपके हाथों में है। ६ठा अंक दिसम्बर, ७८ का अंक होगा। दिसम्बर, ७८ का अंक दिसम्बर के प्रथम सप्ताह में आपके पास भेज देंगे। यह अंक मिलने पर आपका वार्षिक चन्दा समाप्त हो जायेगा। ऐसे ग्राहकों, जिनकी ग्राहकता जनवरी ७८ से दिसम्बर ७८ तक के लिए थी, से हमारा विनम्र निवेदन यह है कि वे अपना वार्षिक शुल्क दिसम्बर ७८ का अंक मिलने के बाद अवश्य भेज दें। इस प्रकार जिनका वार्षिक चन्दा हमें प्राप्त हो जायेगा, उन्हें हम अलग से कोई सूचना-कार्ड या वी० पी० नहीं भेजेंगे। स्मरणीय है कि मनिआर्डर से भेजने पर ग्राहकों को केवल १०) ही देने पड़ेंगे, जबकि वी० पी० से मगाने पर उन्हें १०) की जगह १६) रु० देने पड़ जायेंगे। इस आर्थिक अपव्यय से बचने का एक मात्र तरीका मनीआर्डर द्वारा वार्षिक चन्दा शीघ्र भेज देना है। आशा है, ग्राहक महानुभाव अविलम्ब वार्षिक चन्दा भेज देंगे। अगर किसी ग्राहक महानुभाव को अग्रिम वर्ष जनवरी, ७९ से दिसम्बर, ७९ तक के लिए ग्राहक नहीं बनना हो तो वैसी सूचना भी वे तत्काल ही कार्यालय को भेजने की कृपा करेंगे।

भवदीय
व्यवस्थापक
सचित्र आयुर्वेद
बैद्यनाथ भवन रोड,
पटना-८००००१



गत अगस्त ७८ में मास्को में आयोजित भारत राष्ट्रीय प्रदर्शनी में बैद्यनाथ प्रतिष्ठान के संयुक्त प्रबन्ध-निदेशक, आयुर्वेद-चक्रवर्त्ती पं० दुर्गा प्र० शर्मा विभाजन-पूर्व भारत के मानचित्र में आयुर्वेद के प्राचीन प्रवर्त्तकों के जन्म-स्थानों का निर्देश करते हुए।

Registered with the Registrar of Newspapers for India Under R. N. 2277/75
आयुर्वेद-जगत् में सर्वजन-समादृत और सर्वाधिक बिक्री होने वाला आयुर्वेद-विज्ञान का प्रमुख मासिक पत्र

आयुर्वेद-विज्ञान का प्रमुख मासिक पत्र

सचित्र आयुर्वेद

आयुःकामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम् । आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः ॥

वर्ष–३१	पटना, नवम्बर, १९७८	अंक–५

सद्वृत्त पालन की वैज्ञानिकता

किसी एक-दो या तीनों की विकृति से सारे शारीरिक रोगों की उत्पत्ति होती है। इन दोषों पर मानस दोषों का नियंत्रण होता है रजो गुण की वृद्धि से वात वृद्धि, तमोगुण की वृद्धि से कफ की वृद्धि और सत्वगुण युक्त रजोगुण की वृद्धि से पित्त की वृद्धि होती है। इस प्रकार शरीर दोषों के प्रभावित होने से नाना प्रकार के निज विकारों की उत्पत्ति सम्भावित हो जाती है। किसी व्याधि विशेष की उत्पत्ति अन्य कारणों के सहयोग की अपेक्षा रखती है। इस स्तर पर शरीर प्रकृति, कुलज प्रवृत्ति, धातु दौर्बल्य, श्रोतस् विकृति, सार, संहनन आदि अनेक हेतु कार्य करते हैं जिससे रोग विशेष की उत्पत्ति होती है। आगन्तुक रोग, मनोविकार या शारीरिक दोष की अपेक्षा नहीं रखते परन्तु उनकी उत्पत्ति के बाद शारीरिक दोष तथा मानसिक दोष स्वतः विकृत हो जाते हैं। इस प्रकार सभी रोगों में मानस दोषों की विकृति अवश्यम्भावी है।

इन शारीरिक एवं मानसिक दोषों को नियन्त्रित करने के लिये सद्वृत्त का निर्देश महर्षि चरक ने किया है। सद्वृत्त का भाव मन एवं शरीर दोनो पर पड़ता है। काम, क्रोध, भय, ईर्ष्या, मोह, हर्ष, लोभ, शोक, चिन्ता आदि मनोविकार की उत्पत्ति में रज और तम सहायक हैं और वे पुनः वात-पित्त-कफ को दूषित करते हैं। सद्वृत्त के पालन से सत्व गुण की स्थिति बनी रहती है मन की रज व तम में प्रवृत्त नहीं हो पाती। इस प्रकार सद्वृत्त पालन करते रहने से शरीर को रोगों से दूर रक्खा जा सकता है और रोगों की उत्पत्ति होने पर उनके शमन में सहायता भी मिलती है अतः सद्वृत्त के पालन से रोगों के मूल में प्रहार हो जाता है और इनको बिना किसी व्यय के निर्मूल ठीक किया जा सकता है।



चिन्तन के क्षणों में

शरीर साध्य नहीं, मात्र साधन

(संकलित)

जगत की उत्पत्ति के साथ ही साथ दुःख या रोगों की उत्पत्ति भी अवश्यम्भावी है, और तभी से मनुष्य ने उसके निराकरण का उपाय भी सोचना प्रारम्भ कर दिया होगा, और यह कार्य सृष्टि-पर्यन्त चलता रहेगा, इसीलिये आयुर्विज्ञान को शाश्वत कहा गया है।

विश्व के अनेकानेक भागों में रहने वाले लोगों ने भिन्न-भिन्न चिकित्सा-प्रणालियों का प्रारम्भ किया है परन्तु इन सब में प्राचीनतम आयुर्वेद को ही माना गया है। आयुर्वेद एक चिकित्सा-प्रणाली मात्र नहीं रह गया अपितु इसका विकास एक चिकित्सा-शास्त्र के रूप में हो गया, इसकी मान्यता सभी वैज्ञानिकों से प्राप्त है।

आज के वैज्ञानिक युग में आधुनिक चिकित्सा-शास्त्र ने जो गरिमा और वैभव प्राप्त किया है वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके विकास की दिशा विश्लेषणात्मक है। इस पद्धति से विश्लेषण करते हुए शरीर की प्रत्येक कोशिका में होने वाली घटनाओं का अन्वेषण कर लिया गया है। और इस आधार पर अनेकानेक विशिष्ट शाखाओं का जन्म हो गया है। इसपर नियन्त्रण करने वालों को विशेषज्ञों के रूप में पहचाना जाता है; ये लोग एक-एक अवयव को लेकर कार्य करते हैं। इस प्रणाली से जहाँ हमें यह लाभ हुआ कि अवयवों का सूक्ष्म से सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त हुआ है वहीं हमें एक बड़ी हानि भी हुई कि सम्पूर्ण शरीर को एक समझने का हमारा दृष्टिकोण ही लुप्तप्राय हो चला है। इससे हमारी गुत्थियाँ सुलझने के बदले उलझती ही गयीं और हम "अंधगज" न्याय की तरह आंशिक सत्य को ही सम्पूर्ण मानने का दुराग्रह करने लगे। परन्तु अब विश्व के वैज्ञानिक अपनी भूल की अनुभूति करने लगे हैं और पुनः वे सम्पूर्ण शरीर को एक मानकर सोचने के लिये बाध्य हो रहे हैं।

आयुर्वेद ने शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा के संयोग को ही जीवन कहा है। वास्तव में शरीर साध्य नहीं अपितु साधन मात्र है। जीवात्मा के भोग के लिये शरीर एक आवरण है। जीवन को अधिक से अधिक सुखमय बनाने के लिये शरीर का क्रमशः विकास हुआ। एककोशीय जीवाणु से प्रारम्भ होकर मनुष्य के शरीर की संरचना हो गई। परन्तु इस जटिल शरीर के प्रादुर्भाव हो जाने के बाद भी मन का इसके ऊपर नियंत्रण कुछ कम नहीं हुआ। शरीर की प्रत्येक कोशिका का नियंत्रण सीधे या व्याज रूप से मन अवश्य करता है। अतः मन के द्वारा शारीरिक परिवर्तन करना अधिक स्वाभाविक है। शरीर मात्र की चिकित्सा पर आधारित रहना सैद्धान्तिक या व्यावहारिक दृष्टि से भी समुचित नहीं है।

वाह्य जगत एवं शरीर जगत के अन्दर साम्यता लाने के लियें इन्द्रियों का विकास हुआ है। इसीलिये इन्हें प्रहरी की भी संज्ञा दी जाती है। बाहर के वातावरण का ज्ञान, मन व बुद्धि की सहायता से, इनके द्वारा प्राप्त किया जाता है और आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये शरीर में आवश्यक परिवर्तनों की प्रेरणा मन द्वारा उत्पन्न की जाती है। इस प्रकार दैनिक जीवन चलता रहता है। इसके विपरीत कई बाहरी परिस्थितियाँ ऐसी आ जाती हैं और चलती रहती हैं जो मन के माध्यम से एक विशिष्ट प्रकार की प्रेरणा उत्पन्न करती रहती हैं; जिससे शारीरिक परिवर्तन अपने

[शेष पृष्ठ ४६८ पर]

सम्पादकीय

प्रभावकर स्वास्थ्य सेवा-योजना

ऐसा कहना सर्वथा अनुचित होगा कि पिछले ३०-३१ वर्षों में जहाँ तक साधारणजन की स्वास्थ्य-रक्षा का प्रश्न है, उसमें कुछ भी सुधार नहीं हुआ। सच पूछा जाए तो गत २-३ दशकों में जहाँ औसत भारतीय की जीवनावधि (Life Expectancy) निश्चित रूप से बढ़ी है, वहाँ शीतला जैसी भयंकर संक्रामक व्याधि से भी हमें कमोवेश मुक्ति मिल चुकी है —हालांकि शीतला के प्रकोप से मानव को मुक्त करने-हित हो रहे जागतिक प्रयास को ही इसका श्रेय मिलना चाहिए। और भी अनेक जनपदोध्वंसक व्याधियों (जैसे हैजा, प्लेग आदि) से निश्चित तौर पर हमें छुटकारा मिला है—यह उपलब्धि कथमपि थोड़ नहीं कही जा सकती।

किन्तु तस्वीर का दूसरा पहलू भी है, जो उत्साहवर्द्धक तो हर्गिज नहीं कहा जा सकता। प्रजनन-क्रिया सम्पादन के दौरान भारी संख्या में इस देश में स्त्रियां मरती हैं; बच्चों की मृत्यु-संख्या भी दिल को दहलानेवाली है—खासकर लड़कियों की मृत्यु-संख्या। भारत में दूषित जल पीने से, तथा अन्य कारणों से उदर (गैस्ट्रिक) तथा त्वक् रोगों का ग्रामीण क्षेत्रों में खूब प्रसार है, जहाँ पर शुद्ध जल का अभाव है, उस जल को पीना तो बड़ी बात है, स्नानार्थ भी व्यवहार करना खतरे से खाली नहीं है। और तो और, मलेरिया ने पुनः सिर उठाना शुरू कर दिया है और उत्तरोत्तर द्रुत गति से प्रसार पाता जा रहा है।

सन् १९७० ई० से लेकर अब तक एक के बाद दूसरा जो भी प्रशासन बना अथवा अस्तित्व में आया, सभी ने व्यावहारिक स्तर पर एक ग्रामीण स्वास्थ्य-योजना को लागू करने की अनिवार्यता को स्वीकार किया। फलस्वरूप योजना बनी, संशोधित हुई और काफी शोर-शराबे के साथ लागू भी की गयी। चीन के पैदल डाक्टरों (Bare-foot Doctors) की तरह चिकित्सकों की विराट सेना खड़ी करने का वहम भी काफी अर्से तक पाला जाता रहा। बहुत-सी उच्च योजनाओं-परिकल्पनाओं के लिए भारी-भरकम अनुदान की राशि भी स्वीकृत होती रही—देशी चिकित्सा-प्रणालियों (आयुर्वेद-यूनानी, सिद्ध, होम्योपैथी) के अध्ययन-अनुसंधान के निमित्त। किन्तु इस देश की अनेकानेक स्वास्थ्य समस्याओं के निदान अथवा परिवर्जन में कोई संतोषजनक अथवा आश्चर्यजनक परिवर्त्तन या सुधार न आ सका—'वही ढाक के तीन पात' वाली कहावत चरितार्थ हुई। आज भी गाँवों, नगरों, उपनगरों में गन्दी बस्तियों में रहनेवालों के लिए शुद्ध पेय जल तक की व्यवस्था शक्य न हो सकी—न मच्छड़ों से ही त्राण मिल सका। देशी चिकित्सा-पद्धति को राष्ट्रीय स्वास्थ्य-रक्षा के हित में उपयोगी बनाने तथा उसको पूर्णतया सक्षम बनाने की दिशा में स्वीकृत धनराशियाँ विशाल प्रशासनिक ढाँचे पर ही अधिकतर व्यय हुईं, अनुसंधान-हित में कम व्यय हुईं। फलतः उक्त पद्धति राष्ट्रीय स्वास्थ्य-संरक्षण की दृष्टि से उपयोग या व्यवहार में—समर्थ चिकित्सा-पद्धति के रूप में आ नहीं सकी।

इण्डियन मेडिकल एसोसिएशन की यह शिकायत रही है कि ग्रामीण स्वास्थ्य रक्षा के लिए एक प्रभावकारी योजना बनाने में योजना आयोग ने एसोसिएशन से सलाह नहीं ली—उसे पृथक रखा गया। सचाई जो भी हो, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि ग्रामीण स्वास्थ्य-संरक्षण की दिशा में एक प्रभावकर स्वास्थ्य योजना अब तक कार्यान्वित न हो सकी—कुछ अत्युत्साही स्वास्थ्य-मंत्रियों की रुचि अथवा अरुचि के बीच योजना चक्कर खाती रही—और यह हश्र होना ही था।

ऐसी स्थिति में क्या हम आशा करें कि ग्रामीण स्वास्थ्य-संरक्षण की दिशा में खूब सोच-समझ कर, बिना किसी पूर्वाग्रह का शिकार हुए एक प्रभावोत्पादक स्वास्थ्य योजना को लागू करने में सरकार कटिबद्ध होगी—जिसकी अपेक्षा है।

—

भारतीय चिकित्सा परिषद, उत्तर प्रदेश विज्ञप्ति

सर्व साधारण को सूचित किया जाता है कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग द्वारा संचालित वैद्य विशारद/आयुर्वेद रत्न / चतुर्थ वर्षीय आयुर्वेदरत्न परीक्षायें रजिस्ट्रेशन हेतु मान्य नहीं हैं। इन पाठ्यक्रमों में जो भी व्यक्ति अपना प्रवेश लेगा उसका रजिस्ट्रेशन उत्तर-प्रदेश में नहीं होगा। अतः वह चिकित्सा व्यवसाय का अधिकारी नहीं होगा।

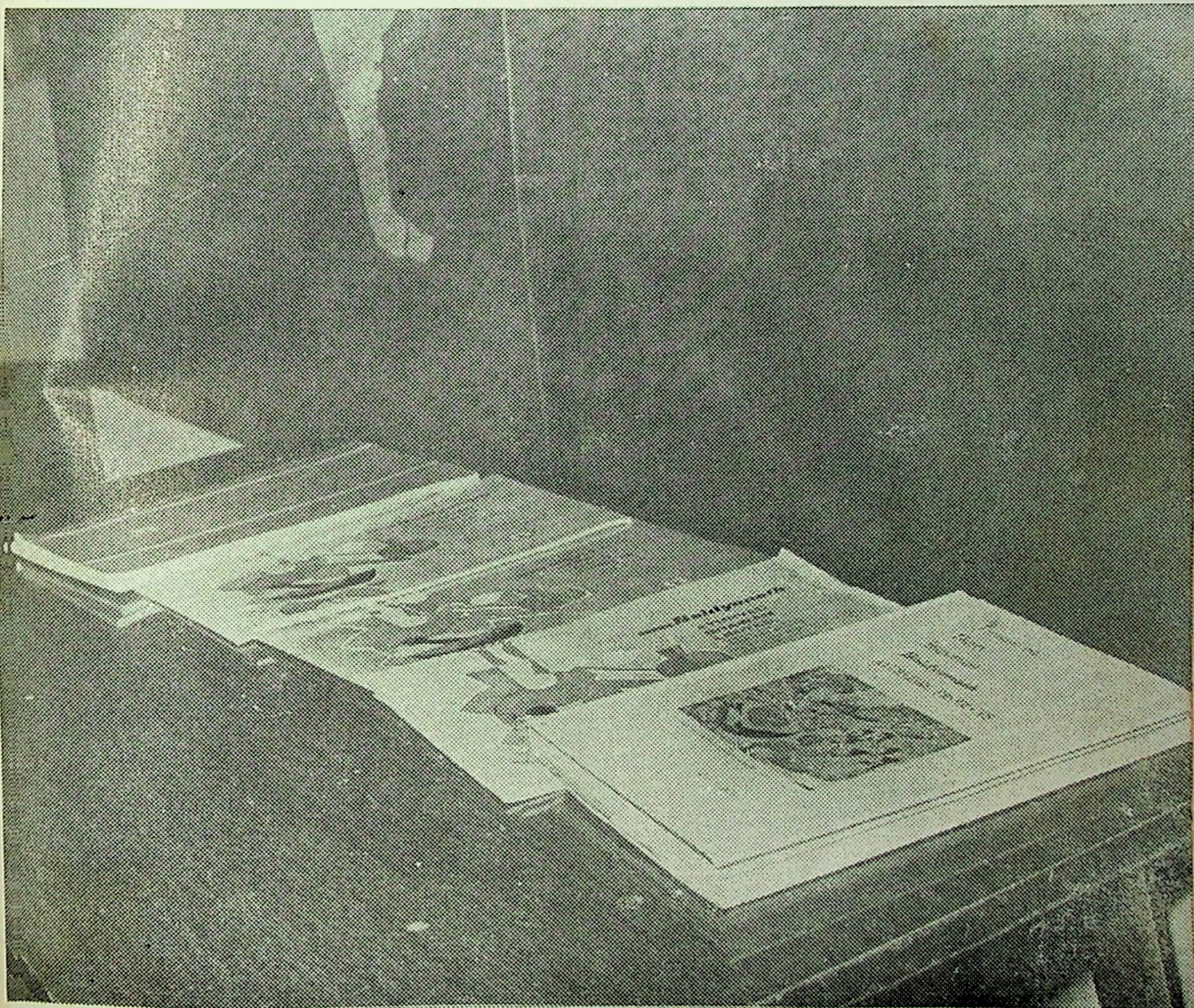
मदन मोहन त्रिपाठी
रजिस्ट्रार

[पृष्ठ ४६६ का शेषांश]

को सक्षम नहीं पाता है तो तरह-तरह के रोगों की उत्पत्ति हो जाती है, जैसे हृदय रोग, रक्तचाप वृद्धि, प्रमेह-उदर रोग इत्यादि। इस प्रकार की व्याधियों को "ऐन्द्रियक" व्याधि के नाम से चरक ने संज्ञा दी है, क्योंकि इन्द्रियों के माध्यम से ही ये रोग उत्पन्न होते हैं। आजकल की भाषा में इन्हें Stress disorders की संज्ञा दी जाती है।

वाह्य इन्द्रियों के अतिरिक्त मन स्वयं भी एक इन्द्रिय है जिसके अन्दर ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय दोनों के गुण संयुक्त हैं। अतः सुख-दुःख के वशीभूत होकर मन स्वयं ही ऐसे चिन्तन में पड़ जाता है कि उसके स्वयं में विभिन्न प्रकार की गुत्थियाँ पड़ जाती हैं और इनके द्वारा प्रेरणायें उत्पन्न होती रहती हैं जो शरीर में विभिन्न प्रकार के परिवर्तन उत्पन्न करती रहती हैं। इस प्रकार मन के ही माध्यम से भी वही रोग उत्पन्न हो जाते हैं जो वाह्य इन्द्रियों के प्रभावित होने से होते हैं। परन्तु इसमें विवेक की कमी ही कारण है, वाह्य जगत् एवं वाह्य वस्तुओं का सीधा सम्बन्ध नहीं है। अतः इन्हें "प्रज्ञापराधज" रोग कहने का महर्षि चरक का निर्देश है। इस प्रकार परिणाम में ऐन्द्रियक व्याधि और प्रज्ञापराधज व्याधियाँ एक ही जैसी हैं, परन्तु निदान में भिन्न हैं।

मन को त्रिगुणात्मक माना गया है। सत्व, रज एवं तम इनमें सत्व को गुण एवं रज व तम को दोष की संज्ञा दी गई है। सामान्यावस्था में सत्व की ही प्रधानता रहती है और रहनी चाहिए। परन्तु वाह्य कारणों से उत्तेजित होकर या आभ्यन्तर चिन्तन से प्रभावित होकर रजोगुण या तमोगुण का प्राधान्य हो जाता है। रजोगुण एवं तमोगुण आपस में विरोधी हैं। रजोगुण की प्रधानता से उत्तेजना अधिक हो जाती है। इसके विपरीत तमोगुण की प्रधानता से शिथिलता (Depression) आ जाती है। इन दोषों का शारीरिक दोषों से सीधा सम्बन्ध है।



मास्को में आयोजित भारत राष्ट्रीय-प्रदर्शनी में बैद्यनाथ प्रतिष्ठान द्वारा प्रकाशित अंग्रेजी पुस्तकों की प्रदर्शनी।



मास्को की भारत राष्ट्रीय प्रदर्शनी में उतारा गया एक चित्र। चित्र में बैद्यनाथ प्रतिष्ठान के संयुक्त प्रबन्ध-निदेशक श्री दुर्गा प्र० शर्मा के उभय पार्श्वों में क्रमशः मास्को स्थित दुभाषिया, बेसिक केमिकल्स के प्रतिनिधि, प्रसिद्ध उद्योगपति बाबू भाई पटेल हैं।

निदान-चिकित्सा हस्तामलक
(छात्रोपयोगी निदान-चिकित्सा)

श्वास और हिक्का

वैद्य रणजितराय देसाई

श्वास के आरम्भक दोष और सामान्य संप्राप्ति—

कफ वातात्मकावेतौ पित्तस्थानसमुद्भवौ ।
हृदयस्य रसादीनां धातूनां चोपशोषणौ ।।

—च०चि० १७।८

पित्तस्थानसमुद्भवा वित्यनेन पित्तस्योर्ध्वस्थानसंबन्ध एव, न तु वातकफवत आरम्भकत्वमिति दर्शयति। पित्तस्थानशब्देनामाशयोऽभिप्रेतः ।। —चक्रपाणि

पित्तस्थानेष्वामाशय इति आमाशयोर्ध्वभागः, श्लेष्मस्थानेष्वामाशय इति आमाशयोर्ध्वभागः ।।

—च०सू० २०।८ पर चक्रपाणि

यदा स्रोतांसि संरुध्य मारुतः कफपूर्वकः ।
विष्वग्व्रजति संरुद्धस्तदा श्वासान् करोति सः ।।

—च०चि० १७।४५, भावप्रकाश

स्रोतांसीति प्रकृतत्वात् प्राणोदकवाहीनि स्रोतांसि। कफपूर्वक इति कफप्रधानः । विष्वग् व्रजति सर्वतो गच्छति ।। —चक्रपाणि

× × प्राणोदकान्नवाहीनि स्रोतांसि—**मधुकोष**

स्रोतांसीति हिक्कानिर्दिष्ट प्राणोदान वहानि ('प्राणान्नोदवहानिइवित पाठान्तरम्) ।—**आतङ्कदर्पण**

विष्वग् व्रजति सर्वतो विमार्गान् याति । संरुद्धः कफेन रुद्धमार्गः ।। —**भावमिश्र**

विहाय प्रकृतिं वायुः प्राणोऽथ कफसंयुतः ।
श्वासयत्यूर्ध्वगो भूत्वा तं श्वासं परिचक्षते ।।

—सु०उ० ५१।४, माधव निदान, योगरत्नाकर

प्रकृतिं विहाय विगुणो भूत्वा, ऊर्ध्वगो भूत्वा । XX प्राणो वायुः, कफ संयुत इत्युक्तेऽपि तत्रान्येऽपि दोषाः समुच्चीयन्ते । यदुक्तं तन्त्रान्तरे—

क्षुद्रको वातिकाः श्लेष्मभूयिष्ठस्तमकः स्मृतः ।
छिन्नः पित्तप्रधानः स्यादन्यौ मारुतकोपजौ ।।

—**डल्हन**

कफोपरुद्धगमनः पवनो विष्वगास्थितः ।
प्राणोदकान्नवाहीनि दुष्टः स्रोतांसि दूषयत् ।।
उरः स्थः कुरुते श्वासमामाशय समुद्भवम् ।।

—अ०हृ०नि० ४।३-४

—उपरुद्धं स्थगितं गमनौ मार्गो यस्य सः । विष्वगास्थितः समन्ताछेह व्याप्य स्थितः । × × आमाशय समुद्भवम् आमाशयात् समुद्भवो जन्म यस्य तम् । शास्त्रकारश्चैवविधां संप्राप्तिं दर्शयन् यदौषधं वातजित् पाचनं तदत्र शस्तमिति द्योतयति । एवं सर्वरोगाणामपि संप्राप्त्यनुरूपमौषधं रोगोपशान्त्यै इति वेद्यम् । पवनो विष्वगास्थित इत्यनेनैव उरःस्थत्वे लब्धे उरःस्थग्रहणं प्रकर्षार्थम् । अतिशयेनोरःस्थितः श्वासं करोतीत्यर्थः ।।—**अरुणदत्त**

× × विष्वक् सर्वतः, स्वमायुगं हित्वाऽपि—**हेमाद्रि**

मारुतः प्राणवाहीनि स्रोतांस्याविश्य कुप्यति ।
उरःस्थः कफमुद्धूय हिक्काश्वासान् करोति सः ।।
घोरान् प्राणोपरोधाय प्राणिनां पञ्च पञ्च च ।।

—च०चि० १७।१७-१८

× × प्राणोपरोधायेति प्रायः प्राणहरणायेत्यर्थः ।।

—**चक्रपाणि**

श्वास-रोग के सामान्य परिचय के अनन्तर अब इसका शास्त्रोक्त विवरण देते हैं। इस रोग की (तथा हिक्का की) उत्पत्ति में मूल दोष कफ और वात हैं। पित्त के स्थान आमाशय से श्वास रोग की अथच हिक्का की उत्पत्ति होती है। दोषों में नैसर्गिक स्थानों के निरूपण में

आचार्यों ने कफ और पित्त दोनों का स्थान आमाशय कहा है। मुख से मलद्वार-पर्यन्त महास्रोत की आम-पक्वाशय यह संज्ञा है। इसका फलितार्थ यह है कि-पक्वाशय का स्थान तो निश्चित रूप से स्थूलान्त्र बताया है, सो महास्रोत का मुख से क्षुद्रान्त्रों के अन्त-पर्यन्त शेष विभाग आमाशय-पदवाच्य है। इनमें प्रसिद्ध आमाशय (स्टमक) कफ का स्थान है। शेष क्षुद्रान्त्र, (स्माल इण्टेस्टाइन) पित्तधरा कला अथवा ग्रहणी नाम से अभिहित स्रोत में आया महास्रोत भी आमाशय ही है। यह पित्त का स्थान है। वर्णन के सौकर्य के लिए 'ऊर्ध्वगुद' और 'अधरगुद' शब्दों की अनुकृति में कफस्थान रूप आमाशय को 'ऊर्ध्वामाशय' एवं पित्तस्थानभूत आमाशय को 'अधरामाशय' कह सकते हैं।

पित्त के स्थान आमाशय से श्वास और हिक्का की उत्पत्ति का गर्भित अर्थ बताते हुए टीकाकार कहते हैं कि इस संप्राप्ति से यह अभिप्रेत है कि—इन रोगों में औषध आदि ऐसे पसन्द करने चाहिए जो वातजयी हों और पाचन हों। (पित्त के स्थान में विकृति होने के परिणामस्वरूप पचनक्रिया सुस्थित नहीं होती। परिणामस्वरूप, अन्नपान का अन्नरस के रूप में परिणमन अल्प मात्रा में होता है, कि ट्टांश की ही पुष्टि या निर्मिति सविशेष होती है, और इस किट्ट से ही वायु की भी पुष्टि, वृद्धि या प्रकोप होता है। अतः, पाचन द्रव्यों का सेवन करना इन रोगों में संप्राप्ति अंगपूर्वक और हितावह होता है। पित्त के स्थान की विकृतिवश जठराग्नि भी मन्द होने से तदाश्रित जिसका बल है वह रसाग्नि भी हीन बल होने के कारण रसधात्वग्नि द्वारा भी अन्नरस का पचन यथावत् न होने से उसके मल कफ का पोषण या प्रकोप होता है। पाचन द्रव्यों के योग से जठराग्नि की बल-वृद्धि होने से रसधात्वग्नि भी प्रदीप्त हो कर कफ के प्रकोप की संप्राप्ति का भंग होने से कफ-समावस्था में आता है। पाचन द्रव्य साक्षात् भी रसाग्नि की दीप्ति करते ही हैं। टीकाकार इसी प्रसंग में आगे कहते हैं कि, इसी परिपाटी से रोगमात्र के उपचार-क्रम में औषध-प्रभृति ऐसे ही पसन्द करने चाहिए जो उस रोग की संप्राप्ति का भङ्ग करते हुए रोगोपशान्ति करें।

संप्राप्ति-भङ्ग-पूर्वक श्वास और हिक्का की इस मूलगामी चिकित्सा को दृष्टि में रखते हुए ही चरक तथा वाग्भट ने अपने-अपने तन्त्रों में इन रोगों की चिकित्सा के उपसंहार में कहा है—

यत्किंचित् कफवातघ्नमुष्णं वातानुलोमनम्।
भेषजं पानमन्नं वा तद्धितं श्वासहिक्किने॥
—च०चि० १७।१४७

यत्किंचित् कफवातघ्नमुष्णं वातानुलोमनम्।
तत्सेव्यं प्रायशो यच्च सुतरां मारुतापहम्॥
—अ०हृ०चि० ४।५७

जो भी औषध, अन्न पान अथवा अन्य देश (मरुदेश), काल (ऋतु, वर्षा आदि) अथवा विहार (दिवास्वप्न का वर्जन आदि) कफ तथा वात को शान्त करनेवाले, उष्ण एवं वायु का अनुलोमन करनेवाले हों उनका अधिकतः सेवन करना चाहिए। इनमें भी जो आहारादि विशेषतः वायु को समावस्था में लानेवाले हों उनका सविशेष व्यवहार करना चाहिए। **कार्यं श्रेयोऽनिलापहम्।**

अरुणदत्त कहते हैं कि, कफ- वातघ्न आहारौषध द्रव्य आदि यों तो निसर्गतः उष्ण होते ही हैं, तथापि 'उष्ण' विशेषण पुनः दिया है। उसमें संहिताकार का अभिप्राय यह है कि, जो अन्नपानादि अतिशय उष्ण हों उन्हीं का सेवन इन रोगों से पड़ित स्त्री-पुरुषों को करना चाहिए, अल्प उष्ण का नहीं। इसी प्रकार, कफवातघ्न द्रव्यादि वातानुलोमन होते ही हैं, तथापि पुनः पृथक् 'वातानुलोमन' यह विशेषण देने में प्रयोजन यह है कि, वातानुलोमन द्रव्य ऐसे पसन्द करने चाहिए जो वायु से प्रधानतया विपरीत स्निग्धगुणयुक्त हों।

इस सूत्र के विषय में तंत्रकारोक्त अधिक ऊहापोह आगे के अधिकार में किया जाएगा।

श्वास में उष्ण द्रव्यों के सेवन के हितकारित्व के विषय में एक व्यवहारोपयुक्त सूचना किए देता हूँ। श्वास रोग पीड़ित स्त्री-पुरुष यदि शीत वात जल (एअर कंडिशण्ड घर, कार्यालय आदि, कूलर का पानी) आदि का परित्याग कर केवल सुखोष्ण जल का सेवन किया करें तो औषधसेवन के बिना भी बहुत शान्ति अनुभव करते हैं।

अब श्वास (और हिक्का) की संप्राप्ति आगे देखें।—

यद्यपि श्वास-रोग की उत्पत्ति में कफ और वात ये

दोष कारण-भूत कहे हैं, तथापि उनमें प्राधान्य कफ का हुआ करता है। स्थिति यह होते हुए भी अन्य श्वासों के उत्पादक अन्य दोषों को भी उपचार-क्रम में सविशेष लक्ष्य में रखना ही चाहिए। यथा, डल्हन ने अपनी टीका में तन्त्रान्तर-वचन उद्धृत करते हुए कहा है कि: श्वास के पाँच भेदों के अन्तर्गत क्षुद्र श्वास वात-प्रधान होता है। तमक श्वास कफ-प्रधान, छिन्न श्वास पित्त-प्रधान एवं ऊर्ध्व श्वास और महाश्वास कफ और वात दोनों के प्राधान्य से उत्पन्न होने वाले होते हैं। योगरत्नाकरकार ने भी श्वास के तत्तत् भेद में तत्तत् दोष के प्राधान्य के सूचक इसी आशय के अन्य वचन दिए हैं। उनमें विशेष यह है कि, वहाँ छिन्न श्वास को कफवाताधिक तथा पित्त के संसर्ग से उत्पन्न कहा है।

इस प्रकरण में ऊपर श्वास-रोग को पित्त-स्थान-समुद्भूत कह कर उसके संप्राप्ति भग-पूर्वक क्रिया-क्रम को लक्ष्य में रखते हुए उष्ण और पाचन आहारौषध द्रव्यों के सेवन की जो सूचना की है, उसका प्रयोजन प्रकुपित कफ और वायु को समावस्था में लाना तो है ही, साथ ही मन्दीभूत पित्त अथवा अग्नि को प्रदीप्त करना भी है।

श्वास रोग में सामान्यतया कफ का प्राधान्य होने का आशय यह हो सकता है कि, इस रोग से पीड़ित स्त्री-पुरुषों में अधिक संख्या ऐसे आतुरों की होती है, जिनमें कफ का आधिक्य हुआ करता है। अतएव, जैसा कि आगे देखेंगे, श्वास की चिकित्सा में वमन आदि द्वारा कफ की शुद्धि का स्थान विशेष है। साथ ही, वायु को समावस्था में लाने के उपायों का सूचन भी किया ही गया है। श्वास-रोग में कफ की विशेष उल्वणता (प्रधानता) होने का यह भी अभिप्राय हो सकता है कि, श्वास-रोग पीड़ित प्रत्येक व्यक्ति में रोगोत्पत्ति में कफ और वात दोनों हेतु होते हैं, तथापि अधिक कारणता कफ की होती है। दोनों ही अर्थ शास्त्र-शुद्ध हैं, और दोनों का युगपत् ग्रहण किया जाना ही उपयुक्त भी है।

ऊपर श्वास-रोग की संप्राप्ति के सूचक जो वचन उद्धृत किए हैं, उनमें किसी वचन में कफ किस प्रकार इस रोग का उत्पादन करता है इस वस्तु का प्रतिपादन किया है, तो अन्य वचन में प्रकुपित वायु से श्वास-रोग की उत्पत्ति की प्राप्ति विशद की गई है। यह वस्तु ध्यान में रहे तो इन वचनों में प्रतीत होते विरोध की व्याख्या हो सकती है।

(अपने प्रकोपक कारणों के योग से प्रकुपित हुआ) प्राण वायु जब प्रधानतया प्रकुपित कफ के साथ रोगोत्पत्त्यर्थ संयुक्त होता है तो, इस कफ द्वारा उसके मार्गों का अतिशय अवरोध (आवरण) होने से वह सुतरां प्रकोप को प्राप्त होता है। कफ-सहित संयुक्त यह वायु अपनी प्रकृति अर्थात् मुख्यतया प्राणवह स्रोतों में स्वस्थ रूप में लयबद्ध ऊर्ध्वाधः संचरण का त्याग कर विगुण (ऊर्ध्वग) होता हुआ सर्वांग में, विशेषतः उरःस्थल में, एवं उनमें स्थित प्राणवह, अन्नवह तथा उदानवह स्रोतों में स्थान-संश्रय कर उन्हें दूषित करता हुआ—उनके प्राकृत कर्मों में विक्षेप उत्पन्न करता हुआ—पञ्चविध श्वास के वेगों को उत्पन्न करता है।

वायु का प्रकोप सविशेष हो तो संप्राप्ति यह होती है कि कफ समावस्था में हो अथवा क्षीण हो तो भी उसे (अपने आशयापकर्ष के स्वभाव के अधीन) अपने स्थान चलित कर–उत्क्लिष्ट कर—पूर्वनिर्दिष्टरीत्या श्वास और हिक्का के वेगों को उत्पन्न करता है।

श्वास की संप्राप्ति के इस प्रकरण में किसी भी आचार्य ने श्वास रोग के वेग-काल में श्वसन-क्रिया में क्या विकृति होती है, यह सर्वजन विदित होने से दर्शाया नहीं है। चरक जी ने प्राणवह स्रोतों की दुष्टि के जो लक्षण कहे हैं, वे श्वास रोग के वेग-काल में होनेवाले विकृति-लक्षणों का ही निर्देश करते हैं। कारण, श्वास की सामान्य संप्राप्ति में मुख्यतया प्राणवह स्रोतों की दुष्टि होती बतायी है। ततः, अन्यत्र निरूपित इन स्रोतों की दुष्टि के लक्षण प्रकारान्तर से श्वास-रोग के वेग के चिह्नों का ही निरूपण करते हैं। इन लक्षणों पर पुनः दृष्टिपात कर लें। उच्छ्वास (वायु का अन्तःप्रवेश) यदि अति सृष्ट (वेग से प्रविष्ट, वेरी रेपिड) अथवा अति बद्ध (मन्द, वेरी स्लो), अन्य शब्दों में क्रमशः गहरा (डीप) अथवा उत्तान (छिछला, शैलो) हो, कुपित (क्षोभ-युक्त, एजिटेटेड) हो, अल्प-अल्प (विक्षेप-युक्त, इण्टेरप्टेड) हो अथवा पुनः-पुनः हो, साथ ही श्वसन-कर्म में अनैसर्गिक शब्द और शूल हों तो पुरुष के प्राणवाही स्रोत प्रदुष्ट हुए हैं, इस अनुमान पर आना चाहिए।

श्वास और हिक्का में मुख्य दुष्टि प्राणवाही स्रोतों

की होती है। तथापि, साथही अन्नवह, उदकवह तथा उदानवह स्रोत भी इन रोगों में दुष्ट होते हैं। इन रोगों के लक्षणों के निर्देश में स्वयँ स्पष्ट होगा कि इनमें किस स्रोत की दुष्टि से कौन लक्षण उपस्थित होता है।

कफ और वात से श्वास की संप्राप्ति का भाष्य—ऊपर दिए विवरण से स्पष्ट है कि : श्वास (तथा हिक्का) की उत्पत्ति में कफ एवं वात दोनों निदान-भूत हैं। यह संभव्य है कि, आरम्भ से ही दोनों दोष लगभग समान रूप से प्रकुपित हों और श्वास की संप्राप्ति में तुल्य वचनीय (जवाबदेह) हों। साथ ही, यह भी सम्भव है कि इनमें किसी एक दोष का प्रकोप विशेष हो। तथापि, अन्त में तो दोनों ही दोषों का कोप श्वास की उत्पत्ति में भाग लेता है। यह किस प्रकार होता है, इसे प्रकरण की विशदता के अनुरोध से पुन: दुहरा लें। कफ का प्रकोप विशेष हो तो वह प्राणवाही स्रोतों में गमनागमन करते वायु को अवरुद्ध (आवृत) कर कुपित करता है, जबकि वायु का प्रकोप सविशेष हो तो वह सम (कदाचित् क्षीण) अवस्था में भी स्थित कफ को आशयापकृष्ट करके अपने स्थान से च्युत करता है—इस प्रकरण में कफोत्पादक ग्रन्थियों एवं उनमें कफ के निर्माणार्थ आनेवाले रसधातु से बलात् कफ को बाहर खिंच लाता है, और उसकी अभिवृद्धि करता है।

संक्षेप में, कफ तथा वात किस रूप में प्राणवह स्रोतों की दुष्टि साधते हैं, इस पर भी दृष्टिपात कर लें। कफ विलीन अथवा लीन किसी भी स्थिति में हो सकता है। प्रत्येक अवस्था में भी उसका स्तब्ध (स्थिर) अथवा चल किसी भी स्वरूप में होना संभाव्य है। कफ विलीन और स्तब्ध हो तो वह नासिका से आरम्भ कर फुफ्फुस पर्यन्त व्याप्त प्राणवह स्रोत में कहीं भी बाहर च्युत होकर भी अपनी पिच्छिलता के कारण नली में ही संसक्त या चिपट कर रहा हुआ होता है। इसी अवस्था में वह चल हो तो स्वल्पमात्र कास के वेग से विच्युत होकर बाहर आ जाता है। स्रोत में स्थित हो तो उसके मध्य में होकर श्वास क्रिया में गमनागमन करते वायु के कारण ध्वनि-विशेष श्रवण-गोचर होता है। रोगी को तो वह सुन पड़ता ही है, निकटवर्ती अन्य जन भी कभी उसे सुन सकते हैं। परीक्षक तो उसे श्रवण-यंत्र द्वारा सुव्यक्त सुन ही सकते हैं।

कफ लीन हो तो उसमें स्थिति यह होती है कि प्रकोपक कारणों के योग से कफ की घटक प्रभूत सामग्री लेकर आया रस धातु प्राणवह स्रोतों की कला में ही संचित रहकर उसे शोथयुक्त (कंजेश्चेड) बनाकर स्रोत के विवर को (तदन्तर्गत अवकाश को) न्यून कर देता है। परिणामतया, वायु को स्वस्थतया गमनागमन के लिए यथेष्ट विस्तार सुलभ नहीं होता। यही लीन कफ द्वारा वायु के अवरुद्ध होने का स्वरूप है।

इस लीनावस्था में कफ चल हो तो लक्षणों में किंचित लाघव आता है। वही स्तब्ध हो—बाहर प्रचलनोन्मुख न हो—तो लक्षणों का आधिक्य होता है। स्नेहन-स्वेदन द्वारा लीन कफ को विलीन एव चल करना अभिप्रेत होता है। यह विषय आगे देखेंगे ही।

कफ को (अन्य दोषों और धातुओं—उपधातुओं को भी) आयुर्वेद—तंत्र में यत्रतत्र सर्वदेहाश्रित तथा सर्वस्रोतश्चर कहा है। इस विषय में सिद्धान्त का प्रतिपादन उपयोगी सिद्ध हो सकता है। आचार्य सुश्रुत ने (सु० नि० १०।१८-२३ में) में स्तन्य और शुक्र को 'सर्वदेहाश्रित' तथा तत्-तत् कारण के योग से सर्वांग से (कृत्स्नदेहात्) विच्युत हो कर स्व-स्वमार्ग से बाहर प्रवृत्त होता कहा है। इस प्रकरण के मूल और उसकी डल्हन और गयदास की व्याख्याओं का सार यह है कि: स्तन्य एवं शुक्र जिस रस धातु से उत्पन्न होते हैं, वही वास्तव में तो सर्वदेहाश्रित होती है और वही सर्वशरीर से आकृष्ट होकर अपने-अपने आशयों के छिद्र से बाहर विनिर्गत होती है। इस प्रतिपादन से यही स्थिति कफ के सर्वांगगत होने तथा स्वयं अथवा स्नेहन-स्वेदनादि उपायों द्वारा अपने बहिर्मुख स्रोत द्वारा बाहर निकलने में भी समझनी चाहिए।

इस प्रकरण में सुश्रुत ने कहा है कि: शुक्र स्वरूप में सर्वशरीरस्थ होता नहीं। अतएव शवच्छेद करने पर शुक्र कहीं भी संचित हुआ उपलब्ध नहीं होता। कफ को अपने आशय में लाने का विधान तन्त्रकारों ने अनेक स्थलों पर किया है। आधुनिक चिकित्सक कभी-कभी कहा करते हैं कि, हमने सहस्रों शव और जीवित शरीर चीर कर देखे हैं, परन्तु कहीं भी कफ इस प्रकार संचित पाया नहीं। उनके मत से वमनादि द्वारा कफ की प्रवृत्ति में सत्य स्थिति यह हुआ करती है कि, कफ के निर्हरणार्थ प्रयुक्त द्रव्य कफ-ग्रन्थियों को (म्यूकस ग्लैंड्स) क्षुभित कर (इरिटेट कर)

उनके द्वारा हठात् कफ की अधिक परिमाण में प्रवृत्ति कराते हैं। इस विषय में आयुर्वेद के मन्तव्य का स्वरूप ऊपर दिए निरूपण से स्पष्ट होगा। कफ अपने घटक रस धातु के रूप में सर्वांगगत होता है और वह स्नेहन-स्वेदन और वमन कर्मों द्वारा क्षुभित होकर प्रथम अपने आशयों में आता है और अनन्तर बाहर निकाल दिया जाता है। वमन-विरेचन द्रव्यों की क्रिया का जो स्वरूप संहिताकारों ने बताया है, उसमें कफादि दोषों के हठात् स्थान-च्युत किये जाने का ही निर्देश है। यह आधुनिकों द्वारा कफोत्पादक ग्रन्थियों के क्षोभण (इरिटेशन) के प्रति ही संकेत करता है।

कफ द्वारा श्वास रोग में प्राणवह स्रोतों की दुष्टि का स्वरूप समझकर अब वायु द्वारा इनकी दुष्टि का स्वरूप देख लें। जैसा कि सुविदित है, शरीर के अन्तर्मुख या बहिर्मुख उभयविध स्रोतों में उनके बाह्य द्रव्यों की गन्तव्य स्थल की दिशा में गति आयुर्वेद के शब्दों में स्रोतों के संवरण-असंवरण (बन्द होना और खुलना) एवं आधुनिक चिकित्सा-शास्त्र की परिभाषा में लय-बद्ध आकुञ्चन-प्रसारण (रिद्मिक पेरिस्टाल्टिक मूव्हमेंट) के अधीन हुआ करती है। प्रकुपित वायु स्रोतों को आकुञ्चित कर इन प्राकृत क्रियाओं को विघ्नित करता है। अतएव, आधुनिक चिकित्सक इस स्तम्भ (स्तब्धता, स्पैज्म) के निवारणार्थ श्वास रोग में एड्रिनलीन, इफेड्रीन, बेलोडोना, (उसी के सजातीय एवं तुल्यगुणकर्मा धतूर का धूमपान, कनकासव आदि रूपों में आयुर्वेद में), लोबीलिया आदि के विभिन्न एण्टिस्पैज्मोडिक (स्तंभहर, संकोच-विकास प्रतिबन्धक) कल्पों का व्यवहार करते हैं। कफ के निर्हरणार्थ इपिकाकुआना इत्यादि कफहर (एक्सपेक्टोरेंट) द्रव्यों का उपयोग करते हैं। आयुर्वेदीय चिकित्सा में श्वास के वेग के शमनार्थ सफलतया प्रयुक्त होने वाले द्रव्यों में सबकी परीक्षा करके जाना नहीं गया है कि, उनमें कौन द्रव्य स्तम्भहर है और हो तो कितनी मात्रा में? कफहरण के लिए अर्कक्षीर, टकण, यष्टी आदि का प्रयोग और उपयोगिता सुविज्ञात है। अन्त में, स्नेहन-स्वेदन कर्मों द्वारा कफ को उत्क्लेशित कर वमन द्वारा निर्हरण तो प्रसिद्ध ही है।[1]

श्वास और हिक्का की संप्राप्ति के हेतुभूत कफ और वात के विषय में अपेक्षित इतना विवेचन कर अब संहिताकारों द्वारा निरूपित इन दोषों की वृद्धि के कारणों को जान लें।

श्वास और हिक्का के आरम्भक दोषों के प्रकोप के हेतु—सभी संहिताकारों ने दोषधातुमल विज्ञान (आयुर्वेदीय क्रिया शारीर) के प्रकरणों में दोषों का विवेचन करते हुए उनके प्रकोपक तथा रोग मात्र के आरम्भक सामान्य कारणों का उल्लेख करते हुए भी, प्रायः प्रत्येक रोग के अधिकार में तत्-तत् रोग के उत्पादक दोषों के प्रकोप के उस रोग की दृष्टि से विशिष्ट एवं अविस्मरणीय कारण भी दुहराए हैं। इस नीति का अनुसरण करते हुए उनके द्वारा प्रदत्त श्वास रोगोत्पादक कफ और वायु के प्रकोप के कारण नीचे देते हैं। अन्य आचार्यों ने दोनों दोषों के प्रकोपक हेतु साथ ही दिये हैं, परन्तु चरक ने पृथक्-पृथक् दिये हैं। चरक-वचनों का ही मुख्य आधार यहां लिया है। वात-प्रकोप तथा कफ-प्रकोप के चरकोक्त मन्तव्य की टीका में चक्रपाणि का स्पष्ट वचन है—**अत्र च रजसेव्यादिना। प्रायो वात प्रकोपकगणो विच्छिद्योच्चमेहः 'प्रवर्तेते दाविमौ' इत्यन्तेन तथा, निष्पावेत्यादिना कफ कारणतया हिक्का श्वासयोः कफ प्रकोपकहेतुगणोऽभिहितः** (च.चि. १७। १०-१३ तथा १४-१६ पर)। इसी टीका में आगे चक्रपाणि जी ने लिखा है—**तदनेन वातजनक-कफजनक हेतु वर्गद्वयविच्छेदपाठेन वातकफयोरत्र स्वहेतु कुपितत्वेन स्वातन्त्र्ये दर्शयति, नातु बन्धरूपत्वम्**: तात्पर्य, यहाँ श्वास और हिक्का के

---

१. **श्वास की रसरत्न-समुच्चयकारोक्त संप्राप्ति**: ऊपर श्वास और हिक्का की संप्राप्ति-सूचक विविध तंत्रकारों के वचन तथा उनका अर्थ हमने दिया है। अपनी स्वीकृत परिपाटी के अनुसार रसरत्न-समुच्चयकार ने श्वास रोग की जो संक्षिप्त संप्राप्ति दी है, उसमें इन सर्व वचनों का सार सामविष्ट कर दिया है। उसे उद्धृत करना रोचक होगा।

श्लेष्मोपरुद्धगमनः पवनोऽतिदुष्टः
संदूषयन्तनु जलान्न वहाश्च नाडीः।
आमाशयोद्भवमितं विदधात्युरःस्थः
श्वासं च वक्रगमनो हि शरीरभाजाम्॥

टीकाकारों ने 'वक्रगमन' का अर्थ 'प्रतिलोमगामी' अर्थात् 'ऊर्ध्वगामी' यह दिया है।

उत्पादक कफ और वायु के प्रकोपक कारणों का जो पृथक्-पृथक् निर्देश तन्त्रकर्त्ता ने किया है; उससे यह अभिप्रेत है कि, श्वास और हिक्का की उत्पत्ति में ये दोनों दोष अपने-अपने प्रकोपक कारणों के योग से पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र रूप से प्रकुपित होकर रोग के उस-उस लक्षण की उत्पत्ति कर रहे होते हैं। कोई भी एक दोष अन्य दोष का अनुबन्धरूप अर्थात् अप्रधान नहीं होता। यह व्याख्या श्वास और हिक्का की उत्पत्ति में इन दोनों दोषों के स्थान (भाग) को समझने में अतीव उपयोगी सिद्ध होती है। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि इन रोगों से पीड़ित रोगी चिकित्सार्थ उपस्थित होने पर प्रथम यह निर्णय करना प्राप्त होता है कि, प्रस्तुत आतुर में किस दोष का प्रकोप कितनी मात्रा में है ? निर्णय पर आकर तदनुरूप आहारौषध आदि की योजना का मार्ग निर्धारित करना सुगम हो जाता है। अब दोनों दोषों के प्रकोपक कारण पृथक्-पृथक् देखें।

वातज श्वास, हिक्का तथा कास के हेतु-रूप निदान—संक्षेप में वात-प्रधान श्वास, कास और हिक्का पूर्व हुए अन्य रोगों के परिणामस्वरूप एवं वायु के प्रकोपक अन्य कारणों के योग से होता है। ऐसे रोगों में कुपित हुए वायु द्वारा ऊर्ध्वगत अवयवों में प्रापित आम दोष, अतिसार, आमातिसार, छर्दि (उल्टी), विसूचिका, अलसक, ज्वर, पाण्डुरोग, प्रतिश्याय, उरःक्षत, क्षय, आनाह, (कब्ज), रक्तपित्त और उदावर्त्त की गणना हुई है। (निश्चित ही, ये रोग धातुओं, उपधातुओं और मलों का क्षय करके वायु का प्रकोप करते हुए श्वासादि की उत्पत्ति करते हैं। इस विषय का विवरण पहले किया जा चुका है। उससे फलित है कि—इन रोगों से उत्पन्न श्वास रोग क्षुद्र श्वास रोग ही होता है)। वायु के प्रकोपक रोग-भिन्न हेतुओं की गणना करते हुए तन्त्रकारों ने इन कारणों का उल्लेख किया है—मुख और नासापुटों में प्रविष्ट रज (धूल तथा अन्य पत्थर का कोयला आदि के कण) एवं धूम (धुआँ तथा आजकल उद्योगों में सविशेष देखे जाने वाले रासायनिक द्रव्यों के वाष्प); वायु, अति शीतजल (पान, स्नान आदि में प्रयुक्त); अतिशीतल पेय, अतिशीतल (निसर्गतः अथवा पंखे, वातानुकूलन आदि के कारण ठंडे) स्थान पर बैठना, निवास आदि; आतप तथा अग्नि (इनके अतियोग से पित्त की वृद्धि होने से धातुओं का दहनपूर्वक क्षय होकर वायु प्रकुपित होता है); हृदय, गुद, नाभि आदि मर्मों पर आघात, किसी भी कारणवश हुआ दौर्बल्य, अति व्यायाम (व्यायाम तथा श्रम), अतिभारवहन, द्वन्द्व, (युद्ध), अति अध्वा (चलना), वमनादि शुद्धि-कर्मों का अतियोग; इन क्रियाओं के कारण एवं चणक आदि रूक्ष भोजनों के अतियोग-वश हुआ रौक्ष्य (वात प्रकोपक), अतिअपतर्पण (अनशन आदि), विषमाशन (प्रकृति आदि के विरुद्ध भोजन), अध्यशन (पूर्वकृत भोजन का जरन होने के पूर्व अकाल-भोजन या एक ही रस का सविशेष सेवन), समशन (हित और अहित् उभयविध भोजनों का संयुक्त सेवन), अति-स्त्री-संग और वेगावरोध। इन कारणों के अतिरिक्त दोषों के प्रकोप के कारणों के सामान्य-प्रकरण में कहे वात्-प्रकोप के अन्य कारणों से भी वात् प्रकुपित होकर कास, श्वास और हिक्का को उत्पन्न करता है।

कफज श्वासादि के हेतु-भूत निदान—निष्पाव (सेम), माष, पिण्याक (तिल आदि स्नेह-योनि द्रव्यों का तेल निकालने के लेने के अनन्तर शेष पिण्ड—खली), तिल-तैल, मत्स्य, फाणित (अर्धपक्व अर्थात् गुड-रूप में पूर्णतया परिणत न किया गया, अतएव कुछ गाढ, परन्तु बहुद्रव इक्षुरस); जलचरों तथा आनूपों का मांस, दही, आम (उष्ण न किया गया) दूध, पिष्ट, शालूक (कमल का कन्द)—इन तथा अन्य अभिष्यन्दी (स्रवणशील कफ की वृद्धि करने वाले) आहार-द्रव्यों और उपचारों का अतियोग, गुरु भोजन; विष्टम्भी (उदर-वात के प्रकोपक) तथा विदाही (निसर्गतः अथवा पचनानन्तर दाह-जनक) द्रव्यों का सेवन, यहाँ अनुक्त अन्य श्लेष्म-प्रकोपक आहार, विहार, औषध, देश और काल का सेवन; कण्ठ और उर पर प्रतिघात (प्रहार, पीडन), अन्य विविध विबन्ध एवं दोषों का अति-पीडित होना (उनके मार्ग का अवरोध)। इन कारणों के अतिरिक्त दोषों के प्रकोपक कारणों के निर्देश के सामान्य प्रकरण में निर्दिष्ट कफ-प्रकोपक अन्य कारणों के योग से भी कफ प्रकुपित होकर कास, श्वास और हिक्का के वेगों का उत्पादक होता है।

श्वासों के पूर्वरूप

वृद्धि को प्राप्त दोषों का प्रत्युपाय न करने पर स्थान-संश्रय—नामक चतुर्थी अवस्था उपस्थित होती है। इसमें जिन चिह्नों का आविर्भाव होता है, उन्हें पूर्वरूप कहते हैं। इन्हें देखकर उचित उपचार करने से रोगोत्पत्ति होती नहीं, अथवा होती भी है तो उसका बल मृदु और लक्षणों की

संख्या भी अल्प होती है अतएव वृद्धि की अवस्थाओं के निरूपण में इसे चतुर्थ क्रियाकाल कहा गया है। इसी कारण पूर्वाचार्यों ने प्रत्येक रोग के पूर्वरूपों का निर्देश उस-उस रोग के प्रकरण में किया है। श्वास के पूर्वरूप ये हैं: प्राणवायु की विलोमता (विपरीत-गमन; पर्याकुलत्व —चक्रपाणि, अर्थात् श्वास की क्रिया में प्राणवह स्रोतों की दुष्टि में कहे लक्षणों का प्रारम्भ, अतएव), अतिशय अरति—उठने, बैठने आदि किसी भी स्थिति में चैन न पड़ना, हृदय पर (छाती में) पीड़ा। उभय पार्श्वों में शूल, आनाह (आम अथवा पक्व मल का सग— अप्रवृत्ति), आध्मान, मुख की नीरसता (फीकापन), अन्न-द्वेष, दोनों शङ्खों—कनपटियों—में तोद और भेद।

श्वासों के सामान्य लक्षण

जैसा कि पहले लिख आए हैं, श्वास रोग के सामान्य लक्षण तन्त्रकारों ने दिए नहीं हैं। पृथग्जन (सामान्य जन) भी इससे परिचित होने से इस रोग का लक्षणों द्वारा परिचय कराने की आवश्यकता तन्त्रकारों को प्रतीत न हुई होगी। ततः, प्राणवह स्रोतों की दुष्टि इस रोग में प्रधान होने से प्रकरणान्तर में उसके जो लक्षण दिए गए हैं, वही श्वास के भी समझे जा सकते हैं। तथापि, माधवनिदान की मधुकोष टीका में उसके कर्त्ता ने तन्त्रान्तर वचन उद्धृत कर इस रोग का सामान्य लक्षण दिया है। वे कहते हैं—

पञ्चसु श्वासत्वं वेगवदूर्ध्ववातत्वम्। यदुक्तमन्यै:
श्वासस्तु भस्त्रिकाध्मान समवातोर्ध्वगामिता॥
—मा० नि० १२।१५ पर

तात्पर्य, श्वास के वक्ष्यमाण पांचों प्रकारों में 'श्वासत्व' से अभिप्रेत है—वेग-सहित (झटके से, द्रुत गति से तथा वेगों के रूप में) वायु की ऊर्ध्वाभिमुख गति। तन्त्रान्तर में कहा भी है—धौंकनी से जिस प्रकार न्यूनाधिक दबाव के अनुसार वायु का सशब्द एवं न्यूनाधिक धमन (गमनागमन) होता है, तद्वत् वायु की ऊर्ध्वगामिता का नाम 'श्वास' है।

पृथक्-पृथक् श्वासों के लक्षण

क्षुद्र श्वास[१]—इस प्रकरण के आरंभ में दिए प्रारम्भिक परिचय द्वारा श्वास के इस भेद के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी कराई जा चुकी है। इदानीं शास्त्र के आधार पर इसके हेतु तथा लक्षण देखें।—

किंचिदारभमाणस्य यस्य श्वासः प्रवर्तते।
निषण्णस्यैति शांतिं च स क्षुद्र इति संज्ञितः॥
—सु० ७.५१।७

श्वास के इस प्रकार में निमित्त तथा लक्षण क्षुद्र (स्वल्प) होते हैं, अतः इसे क्षुद्र या क्षुद्रक श्वास कहा गया है। (जैसा कि आगे देखेंगे, यह औषध के बिना स्वयं शान्त भी हो जाता है, अतः भी इसे क्षुद्र कहना न्याय्य है)। संक्षेप में इसका लक्षण यह है कि, पुरुष किसी प्रकार की चेष्टा आरम्भ करे और उसे श्वास का वेग हो आए एवं (न्यूनाधिक काल) बैठ कर विश्राम लेने से जिसकी निवृत्ति (शान्ति) हो जाए, उसे क्षुद्रश्वास कहा जाता है।

(वेगोदय तथा वेगोपरम के उल्लिखित कारणों की दृष्टि से विचार करते हुए इसका साम्य चेष्टापूर्वक होने वाले श्रम—तथा तम—के वेगों के साथ सुगमता से किया जा सकता है। उभय व्याधियों में चेष्टा से यह अभिप्रेत होता है कि, रोगी लेटा हो और उठ बैठे, बैठा हो तो खड़ा हो जाए, खड़ा हो तो चलने लगे और चलता हो तो दौड़ना आरम्भ करे तो इन रोगों के वेग का आविर्भाव होता है। कभी-कभी तो वायु का प्रकोप सविशेष हो ऐसी स्थिति में आतुर पार्श्व-परिवर्तन करे—करवट बदले—तो भी श्रम-तम, एवं श्वास के वेगों का प्रादुर्भाव होता है। कितने श्रम से इनके वेगों का उदय होगा, यह वायु का प्रकोप कितने प्रमाण में है इस वस्तु पर अवलम्बित होता है। एवं वेगात्मक श्रम या चेष्टा के स्वरूप से वायु का प्रकोप कितनी मात्रा में है, इसका अवधारण भी हो जाता है।

(यह श्रम बहुधा रक्तक्षय तथा व्यानबल की क्षीणता—रस-रक्त के दबाव की अल्पतावश हुआ करता है। कभी कोष्ठ में मल और वायु के संचय के परिणामरूप में भी होता है। इस स्थिति में रस-रक्त का दबाव न्यून अथवा अधिक नहीं, परन्तु सम ही पाया जाता है। रोग-परीक्षा द्वारा दोनों में कौन कारण विद्यमान रोगी में है, इस बात का निर्धारण करना प्राप्त होता है। संप्राप्ति और रोग-विनिश्चय के सम्बन्ध में यही स्थिति क्षुद्रश्वास में भी हुआ करती है)।

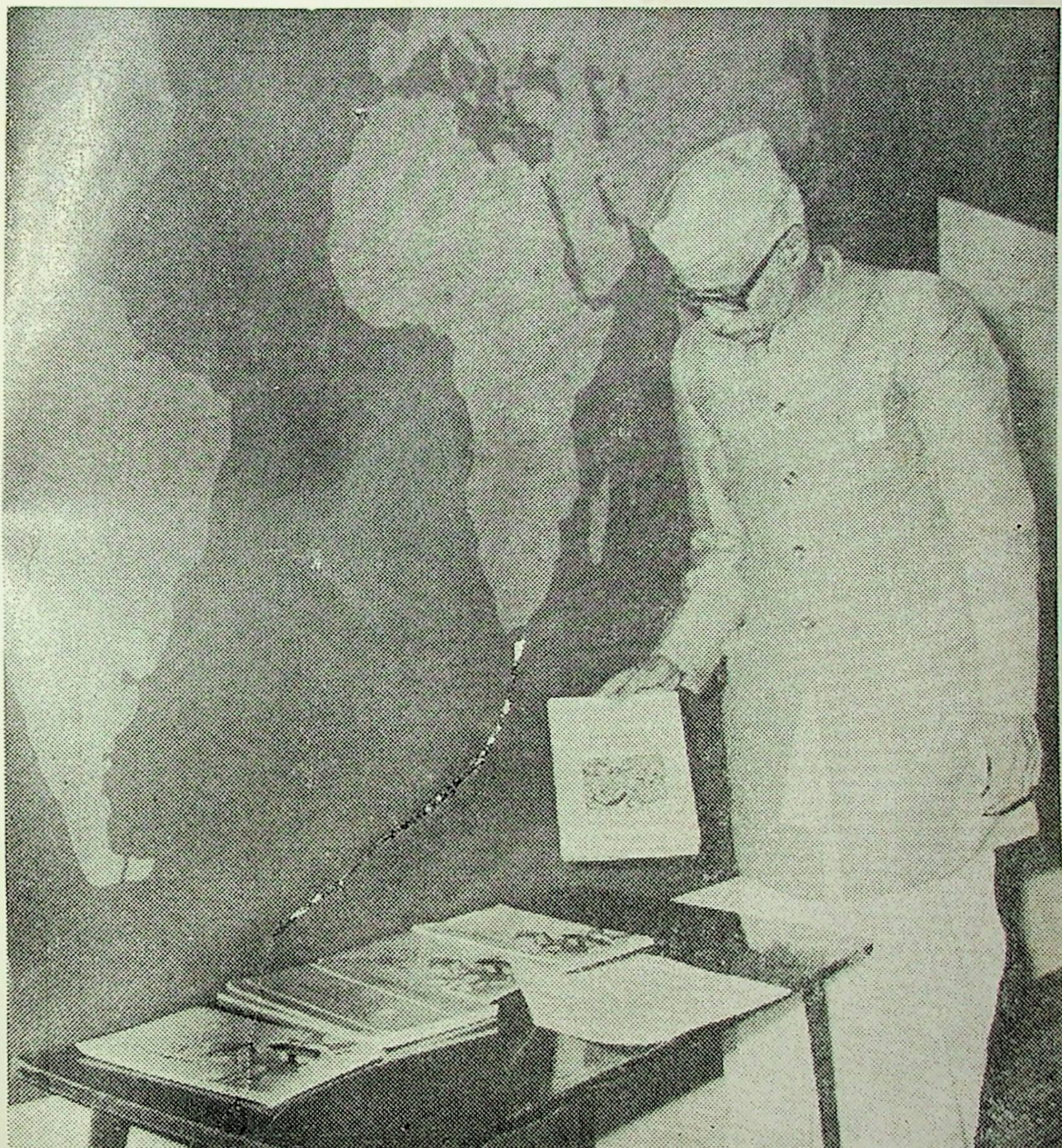
१. च. चि. १७।६५-६७; सु. उ. ५१।७; अ. हृ. नि. ४।१५; माधवनिदान १२।३७; भ. प्र. म. ख. चि. ८।२४-२६; योगरत्नाकर।

क्षुद्र श्वास के हेतु आदि का निरूपण करते संहिताकार आगे कहते हैं—अति भोजन, रूक्ष अन्नपान तथा आयास (व्यायामादि के रूप में श्रम) इन (एवं अन्य एतद्विध हेतुओं से) कोष्ठ में—आमपक्वाशय में—वायु प्रकोप को प्राप्त अथ च ऊर्ध्वगामी हो, श्वास के इस प्रकार के वेगों को जन्म देता है। यह अन्य श्वास भेदों के सदृश अधिक कष्टप्रद तथा शरीरावयवों को त्रास देने वाला नहीं होता। अवयवों की नैसर्गिक क्रियाओं में कोई बाधा भी पहुंचती नहीं। अन्नपान की स्वाभाविक गति (पचनादि) मे कोई विक्षेप (विघ्न) भी उपस्थित नहीं करता। इंद्रियों में किसी प्रकार की व्यथा किंवा वेदना भी उत्पन्न करता नहीं। अन्य श्वासों के समान इसका उपचार भी कष्टप्रद होता नहीं—उनके सदृश यह कष्टसाध्य नहीं होता। कारण, यह स्वयं, नाम औषध-सेवन के बिना ही, कुछ ही काल व्यतीत हो जाने पर विश्राम मात्र से शान्ति को प्राप्त हो जाता है।

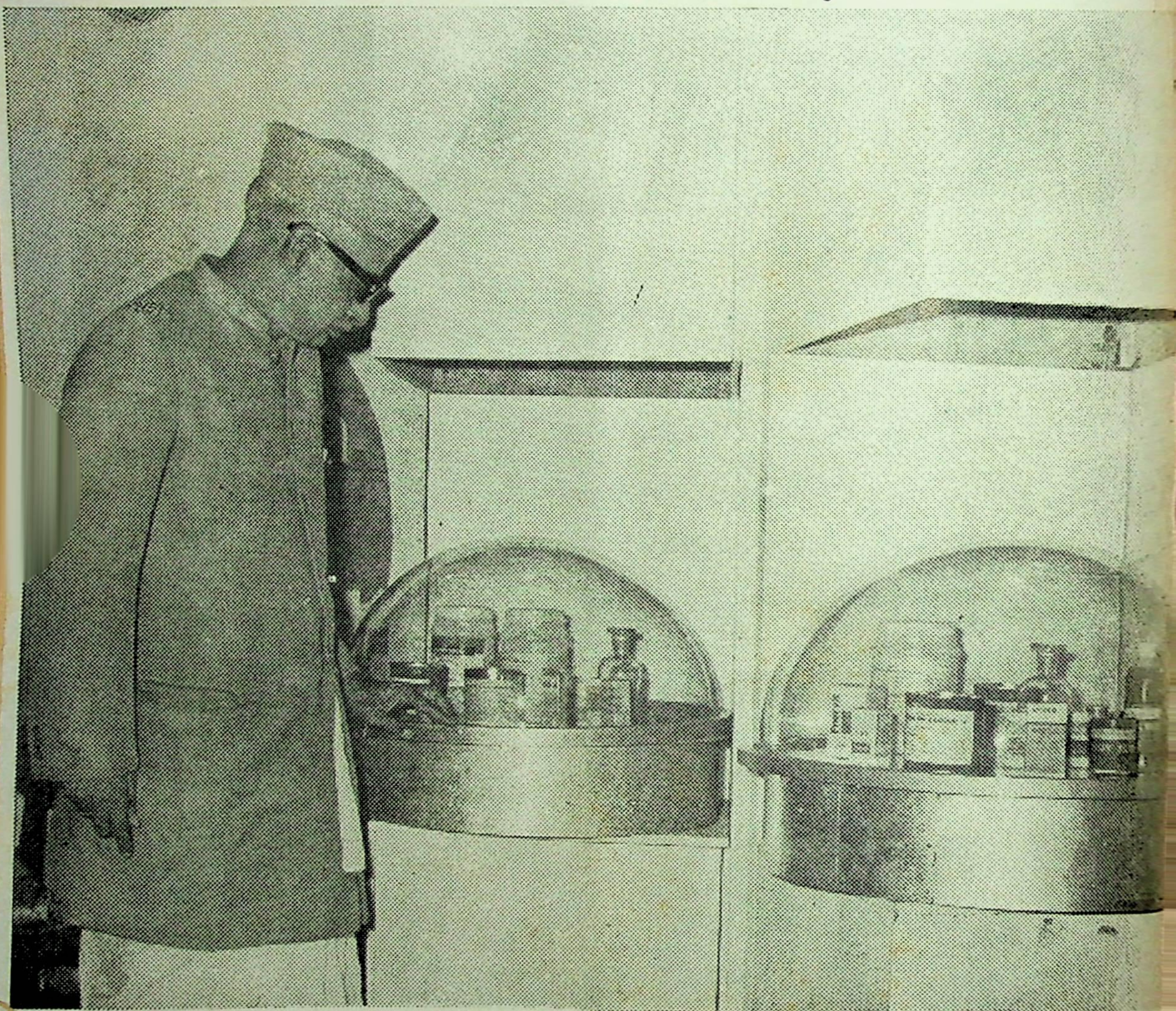
यह क्षुद्रश्वास साध्य (श्वास के समस्त भेदों में साध्यतम) होता है, यदि रोगी बलवान् हो। इसमें प्राधान्य वायु का हुआ करता है। शेष सर्व श्वास-भेदों में लक्षण अव्यक्त हों तथा असंपूर्ण हों तो वे साध्य (कष्टसाध्य) होते हैं। तमकश्वास एवं शेष श्वास दुर्बल को हुए हों तथा शास्त्रोक्त सर्वलक्षण व्यक्त दृश्यमान—हों तो, वे असाध्य होते हैं।

तमकश्वास तथा उसके भेद—प्रतमक और संतमक— श्वास का यही भेद दमा या एस्थमा (ब्रॉंकिअल एस्थमा) नाम से विशेष प्रसिद्ध है। इसमें वायु की गति प्रतिलोम हो जाती है। (तात्पर्य, अधोवायु की अधो द्वार से यथावत् प्रवृत्ति नहीं होती और उसका संचय, प्रकोप और प्रसर हो कर प्राणवह आदि स्रोतों में स्थान-संश्रय होता है। श्वसन-कर्म में भी प्राणवायु का गमनागमन प्राकृत स्वरूप में न होकर अव्यवस्थित हो जाता है। प्रकुपित वायु इन स्रोतों को स्तब्ध—आकुंचित, स्पैस्टिक—करता हुआ स्वयं ऊर्ध्वद्वार से निर्गत नहीं होता। साथ ही, निज हेतुओं द्वारा प्रकुपित होकर इन स्रोतों में स्थानसंश्रित, किंवा प्रकुपित वायु द्वारा पूर्वोक्तरीत्या आश्रयापकृष्ट एवं वर्धित कफ इन स्रोतों में आश्रय लेता हुआ प्राणवायु के यथावत् गमनागमन में अवरोध उपस्थित करता हुआ उसका संचय एवं संचयपूर्वक वृद्धि, प्रकोप एवं इन स्रोतों में स्थान-संश्रय करता है। डह्लन तथा मधुकोषकार कहते हैं कि : श्वासों की सामान्य संप्राप्ति के प्रकरण में यद्यपि इन रोगों में श्लेष्मा के प्रकोप का कण्ठरव से निर्देश किया है, तथापि यहाँ उसका पुनः स्मरण इस रोग में इस दोष के विशेष प्रकुपित होने की सूचना के प्रयोजन से किया गया है। आगे तमक श्वास के कफाधिक होने का स्पष्ट उल्लेख किया जायगा पहले व्याख्या-सहित उल्लेख कर भी आए हैं। वायु ऊर्ध्वगामी हो शिर (शिरोगत—ऊर्ध्वजत्रुगत—अवयवों एवं ग्रीवा) को सब ओर से अपनी लपेट में लेता तथा पार्श्व द्वय को भी पीड़ित करता है। संप्राप्तिक्रम से ये वायु और कफ पीनस (प्रतिश्याय) कास, प्राणवायु के मार्गविरोधक कफ के हो कर गमनागमन करते। वायु के कारण कण्ठ में घुर्घुर शब्द (श्रावणी नलिका में श्रूयमाण राल्स; कर्णेन्द्रिय से सुन पड़ने वाला—स्ट्राइडर), मोह (मूर्च्छा) स्टूपर अन्नवह तथा उदकवह स्रोतों की दुष्टि के कारण) अरुचि, अन्नद्वेष, तृषा, (छर्दि यहां थूत्कार या थूक निकलना एवं स्वेद का आधिक्य (उत्पन्न करते हुए तीव्र वेग वाले तथा च प्राण को उपतप्त और सुतरां पीडित करनेवाले श्वास रोग को उत्पन्न करता है। इस अन्तिम लक्षण में आए प्राण के अर्थ टीकाकारों ने प्राणवायु अर्थात् श्वसन कर्म में ऊर्ध्वगमनशील बहिर्निःसरणशील—वायु यथा पञ्चविध वायुओं में एक अथवा शरीर की सजीवता को दर्शाने वाले अर्थात् जिनके निकल जाने से पुरुष मृग को प्राप्त होता है वे प्राण (असु) किंवा बल, अथवा प्राणों का अधिष्ठान-रूप हृदय अथवा श्वसन के अवयव—ये सब किए हैं। श्वास की वेगावस्था में एवं वेगों के अन्तरों में भी इन सभी प्राणों का पीडित और उपतप्त होना प्रत्यक्ष सिद्ध है।

वेगकाल में रोगी अत्यन्त दुःखी होता है—कफ द्वारा वायु की गति रुद्ध होने से असह्य और अतिशयत्रास—घबराहट—अनुभव करता है, एवं उस काल जानो वह अन्धकार में प्रविष्ट हो रहा हो एतद्विध प्रतीति उसे होती है। कफ की मुक्ति न होने तक वह इस दुःखिता में रहता है। निष्ठीवन अर्थात् घन श्लेष्मा की प्रवृत्ति अनन्तर वह क्षणमात्र सुख (चैन) अनुभव करता है



मास्को की भारत राष्ट्रीय प्रदर्शनी में प्राणाचार्य पं० दुर्गा प्र० शर्मा, स्वरचित बहुप्रशंसित अंग्रेजी ग्रंथ 'ट्रीटायज ऑन थर्टी इम्पोरटेन्ट वैद्यनाथ प्रोडक्ट्स' हाथ में लिए हुए हैं।



मास्को की राष्ट्रीय प्रदर्शनी में वैद्यनाथ स्टाल का निरीक्षण करते हुए—आयुर्वेद-चक्रवर्त्ती पं० दुर्गा प्र० शर्मा।

परन्तु, कफ के इस मोक्ष के लिए कास के प्रबल वेगों से आक्रान्त होता है। कास और श्वास के इन वेग-कालों में उसकी आंखें ऊपर चढ़ जाती हैं तथा बाहर निकल-सी आती हैं। उसका श्वास अवरुद्ध हो जाता है तथा वह निश्चेष्ट हो जाता है। उसके ललाट पर स्वेद (स्वेद-बिंदु) निकल आते हैं, तृषा विशेष लगती है (वस्तुतः वेग कुछ शान्त हो और आतुर पानी के एक-दो घूंट पी सके तो उससे वायु का अधोगमन होकर रुग्ण क्षणिक सुख प्राप्त करता भी है)। मुख अति शुष्क हो जाता है। उसे अतीव पीडा होती है। कास के उत्तरोत्तर अविराम वेगों के परिणामस्वरूप वह पुनः-पुनः प्र-मोह (मूर्च्छा के से वेग स्टयूपर) को प्राप्त होता है। बार-बार (प्रायः मुख खुला रखकर) श्वास लेता है (वायु की आकांक्षा, एअर-हंगर)। वह पुनः-पुनः कम्प-पीडित होता है—उसका समस्त गात्र हाथी आदि पर सवार हो इस प्रकार संचालित होता है। कास और श्वास के वेग अत्यन्त घोषवान (शब्दयुक्त) होते हैं।

विशेष सूचक चिह्न तमक श्वास के इन वेगों में यह हुआ करता है कि रोगी सो या लेट नहीं सकता। ऐसा करने से वह श्वास में कृच्छ्र (कठिनाई) अधिक अनुभव करता है। इस अवस्था में वायु उसके पार्श्वों को जकड़ लेता है। बैठने से उसे कुछ सुख (श्वास लेने में शांति, राहत, चैन) का अनुभव होता है। अतएव, वेग काल में वह बैठा रहना ही पसन्द करता है। (रोगी को इस काल देखें तो ऊँचे तकिए पर ललाट, मुख तथा कोहनी टिका कर बैठा हुआ उपलब्ध होता है)। वह बलहीन (असहाय) होता है। प्राण वायु की गति ऊर्ध्वाभिमुख होने से वह इस वायु के कर्मों में एक अन्नपात् (और श्वसन-कर्म में निःश्वास) का उनके अधोगमन द्वारा आहरण—ग्रहण—करने में असमर्थ होता है तथा अन्नपान के प्रति द्वेष - अप्रीति - रखता है। बातचीत करना भी उसके लिए स्वभावतः अशक्य होता है। उसके कण्ठ में कण्डू (संचित कफ के कारण खाज, खरखराहट) होती है। आरम्भक दोनों दोषों वायु और कफ के शीत होने के कारण वह उष्ण अन्न; पान और वायु को पसन्द करता है। (यह सत्य है कि, अतिशय घबराहट और वायु की उत्कट आकांक्षा से अभिभूत हो वह सभी द्वार और वातायन खुलवा देना तथा बिजली का पंखा चालू हो तो उसे पूर्ण वेग—फुल स्पीड—पर रखवाना पसन्द करता है, भले ही यह वायु शीत हो।)

तमक श्वास के वेगों की उत्पत्ति में (देश और) काल का बहुत महत्व है। महत्व इस कारण कि, पूर्वानुभव के आधार पर इन कालों का आविर्भाव होने के पूर्व ही आतुर तथा चिकित्सक सावधान होकर, पथ्यापथ्य एवं उचित औषध और विहार की योजना कर सकते हैं। इससे सम्भव है कि, वेग उत्पन्न ही न हो और कथंचित् हो ही जाए तो, उसका बल उतना न हो। इस विषय में सर्वानुभवसिद्ध सत्य का निरूपण करते तन्त्रकार कहते हैं—मेघ अर्थात् गगन किसी भी ऋतु में मेघाच्छन्न हो, दुर्दिन हो-इस स्थिति में अथवा किसी भी ऋतु में वर्षा हो रही हो तब, (पान, स्नान, पात्रों, वस्त्रों और रसोई घर आदि की स्वच्छता में उपयोग में लिया गया) जल, शीत अर्थात् हेमन्त-शिशिर रूप शीतकाल एवं शीत गुणयुक्त आहार, विहार, औषध आदि, पूर्व दिशा से आया वायु तथा गुड (गन्ने का रस, आइसक्रीम, कदली फल, दही, श्रीखण्ड प्रभृति मधुर-अम्ल-लवण रस तथा गुरु, अभिष्यन्दी आदि गुणों वाले अतएव) श्लेष्म-प्रकोपक द्रव्यों के सेवन से वृद्धि को प्राप्त होता है। इसके विपरीत सात्म्य आहार, कफहर (एक्स्पेक्टोरेंट) औषध किंवा वमन के योग से कफ-हीनता-अल्पता-को प्राप्त हो जाए, तो वेग शान्त अथवा अल्पबल हो जाता है, यह ऊपर कह आए हैं। (यहां यद्यपि कफ-वात के अभिवर्धक होने से तमक श्वास की उत्पत्ति और वृद्धि करनेवाले आनूप देश का कण्ठरवतः उल्लेख नहीं हुआ है, तथापि, वर्षा, मेघ, शीत वात आदि के निर्देश से उसका भी निर्देश हो ही गया समझना चाहिए। अपि च, इस रोग के निदान में आदिबल प्रवृत्ति अर्थात् आनुवंशिकता—हेरेडिटी— की भी गणना उचित है। बहुधा, आतुर के मातृकुल अथवा पितृकुल में एक-दो पीढ़ी पूर्व कोई इस रोग से आक्रान्त स्त्री-पुरुष उपलब्ध होते हैं)। अष्टांग हृदय के टीकाकार हेमाद्रि कहते हैं कि, श्लेष्म-प्रकोपक आहारादि से तमक श्वास की वृद्धि होती है। इस कथन से मेघ, जल, शीत और पूर्व दिशा के वायु का भी ग्रहण इनके कफ-प्रकोपक होने से हो ही जाता है, तथापि इसका जो पृथक पुनर्निर्देश किया, उसमें प्रयोजन यह है कि श्लेष्म प्रकोपक अन्य वस्तुओं की तुलना में ये [illegible] अतिशय वृद्धि करनेवाले तथा

तमकश्वास के लिए अधिक वचनीय (रिस्पोन्सिबल) हुआ करते हैं।

इसी तमक श्वास के दो भेद हैं—प्रतमक और संतमक। तमक श्वास में ही पित्त का अनुबन्ध होने से ज्वरादि लक्षण भी दृष्टिगोचर हों तो उसे प्रतमक यह विशिष्ट संज्ञा दी जाती है। एवं इस प्रतमक में ही कुछ विशेष होने से उसे संतमक कहा जाता है। तमक श्वास ज्वर और मूर्च्छा-सहित हो अथवा डल्हन के पूर्ववर्ती सुश्रुत टीकाकार जेज्जट के मत से ज्वर-जनित मूर्च्छा'-युक्त हों [1] तो इसे प्रतमक श्वास कहा जाता है। यह (दोनों प्रकार के) पूर्व-वर्णित उदावर्त रोग, रज (धूलि), आमाजीर्ण प्रभृति अजीर्ण, क्लिन्न (विदग्ध, असम्यक् पक्व अन्नपान), कायनिरोध (तेरह प्रकार का वेगावरोध) अथवा क्लिन्नकाय अर्थात् वृद्ध पुरुष तथा निरोध (वेग-धारण) अथवा क्लिन्न (विदग्ध) तथा कायनिरोध अर्थात् अनभ्यस्त योगियों द्वारा कुम्भक प्राणायाम आदि के रूप में प्राण वायु का अवरोध [2] इन हेतुओं से उत्पन्न होता है। शीतल आहार-विहार तथा औषध से इसकी वृद्धि होती है। यहां मधुकोष द्वारा की गई यह विशदता ध्यान में रखने योग्य है कि, यों तमक श्वास का ही भेद-विशेष होने से इस तमक श्वास में भी प्राधान्य कफ और वायु इन शीत दोषों का ही होता है, अतएव शीतल वस्तुओं से इसकी वृद्धि की ही संभावना होती है। तथापि, पित्त का अनुबन्ध होने से, शीत वस्तुओं के सेवन से इसका शमन न्याय्य ही है। तम से अर्थात् अन्धकार से अथवा तम नामक मानस दोष-विशेष से इस श्वास की अभिवृद्धि होती है।

इसी प्रतमक के वेग काल में रोगी को ऐसा भास हो कि वह अन्धकार में डूबा जा रहा है, तो इसे संतमक यह विशिष्ट संज्ञा दी जाती है। (प्रतीत होता है, उल्लिखित दोनों अर्थों में किसी भी अर्थ में तम का सम्बन्ध होने से तमक श्वास के इस भेद-द्वय को प्रतमक-संतमक कहा है। स्वयं 'तमक श्वास' शब्द में आया तमक शब्द 'ग्लानि' अर्थ की 'तमु' धातु से व्युत्पन्न हुआ होने से इस रोग के वेगकाल में आतुर को निरंतिशय ग्लानि अर्थात् हर्षाभाव और त्रास होता है, इस कारण इस रोग को तमक श्वास नाम दिया गया है, इसका सूचक है। सुश्रुत ने 'विशेषाद् दिंते ताम्येच्छ्वासः स तमकः स्मृतः); इस वचन में 'तमु' धातु का उपयोग करते हुए, इस धारणा की पुष्टि की है।

श्वासो यकृति—दोषों के प्रकोप के अतिरिक्त कई रोगों के अङ्ग रूप में भी श्वास रोग होता है। श्वासों के कारणों के प्रकरण में तथा क्षुद्र श्वास के कारणों के प्रसंग में इनमें कतिपय रोगों का नामोल्लेख किया जा चुका है। विशेष होने से इनमें एक रोग का पृथक् निर्देश करते हैं। यह रोग है—यकृतिविद्रधि (हिपेटिक एब्सेस)। आधुनिकों ने इसका प्रमुख कारण 'अमीबिक डिसेण्ट्री' नामक प्रवाहिका के प्रकार-विशेष के आरम्भक अणुजीव (एंटामीबा हिस्टोलिका) को कहा है। यकृत् में हुई विद्रधि स्पर्श-क्षम (टेण्डर) होने से श्वास क्रिया में नीचे उतरे हुए श्वास पटल (महाप्राचीरा पेशी) [1] द्वारा पीडन उसके लिए सह्य नहीं होता। परिणामतया, श्वसन-कर्म पूर्ण स्वरूप को प्राप्त न होने, से प्राणवायु पूर्णतया बाहर न निकल सकने से उसकी संचयपूर्वक वृद्धि और प्रकोप होने से श्वास रोग के वेग होते हैं। आयुर्वेद में यकृद्विद्रधि का हेतुरूप निदान मधुमेह तथा तत्तत् कारणों से दोषों एवं

---

१. माधव-निदान में 'ज्वर मूर्छापरीतस्य' पाठ देकर जेज्जट का उक्त मत दिया है। परन्तु सुश्रुत की निर्णय-सागरी प्रति तथा डल्हन-टीका में तो 'मूर्च्छा ज्वर परीतस्या, यह पाठ है। माधवोक्त वचन सुश्रुत की किसी अन्य अपकी उपलब्ध प्रति और उसकी जेज्जट-टीका से लिया गया प्रतीत होता है।

२. माधव-निदान तथा भावप्रकाश में आए 'क्लिन्न-कायनिरोधजः' शब्द के ये अर्थ मधुकोषकार तथा अपने ग्रन्थ के स्वयं टीकाकार भावमिश्र ने दिए हैं।

१. कोई महाराष्ट्रिय लेखक 'डायाफ्राम' के लिए 'श्वास पटल' संज्ञा का व्यवहार करते हैं। इसमें संज्ञा शब्दोपयुक्त स्वारस्य तो है ही, इस पेशी की श्वास-रूप क्रिया एवं इसके उदरावयवों के ऊपर विद्यमान होने से उदर के पटल (छप्पर) के सदृश आकार का भी बोध होता है। 'पटलं छदिः' इस वचन में (अमरकोष, द्वितीय कांड, पुरवर्ग, श्लोक १४) पटल और छदिष् ये दो छप्पर या छत के पर्याय कहे हैं। कोई लेखक इसके लिए 'उदरपटल' शब्द की योजना भी करते हैं। महाप्राचीरा शब्द कविराज गणनाथ सेन जी का बनाया हुआ है।

रक्त का प्रकोप बताया है। हिक्का का एक कारण इस श्वास पटल में शोथ का संक्रमण कहा गया है। व्यवहार में देखा गया है कि, यकृत् की विद्रधि से हिक्का भी होती है। कभी-कभी इस पेशी में छिद्र भी हो जाता है। संक्रमण यकृत् से श्वास पटल में और वहाँ से पार्श्वधरा कला (प्लुरा) में जा कर इस आवरण में भी शोथ (प्लुराइटिस या प्लुरिसी) उत्पन्न करता है। इसे इस संप्राप्ति को लक्ष्य में रखकर 'डायाफ्रामेटिक प्लुरिसी' या 'काण्टेक्ट प्लुरिसी' भी कहते हैं। सामान्यतया यह शोथ अन्य कारणों से होता है। इनमें प्रमुख कारण यक्ष्मोत्पादक जीवाणुओं का संक्रमण (टी० वी०) है। प्लीहा की विद्रधि से इसी प्रकार उच्छवास का अवरोध होता प्राचीनों ने कहा है।

पित्त का अनुबन्ध स्मरणीय—श्वास की संप्राप्ति में श्वास रोग का पित्तस्थान-समुद्भव होने से पित्त के साथ इस रोग का गाढ सम्बन्ध दर्शाया गया है। कुछ ही पूर्व तमक श्वास में कभी पित्त का अनुबन्ध होने से ज्वर और मूर्छा होने का भी उल्लेख कर आए हैं। श्वास रोग में पित्त का यह सम्बन्ध व्यवसाय की दृष्टि से स्मरणीय सत्य हुआ करता है। इस स्थिति में किसी भी रूप में उष्ण उपचार, पित्त का प्रकोप जितनी मात्रा में हो उसे दृष्टि में रखते हुए एवं कफ और वात के बल को ध्यान में रखते हुए कितनी मात्रा में व्यवहार में लाना उचित है, इस प्रयोजन से लक्ष्य में रखना योग्य हुआ करता है। बहुधा स्वेदन जो, जैसा कि आगे देखेंगे, श्वास रोग का प्रमुख उपचार है, कभी पित्त के बल को ध्यान में रखते हुए वर्जनीय ठहरता है। देखते हैं, ऐसे आतुर 'एंटिफ्लोजिस्टीन' आदि निर्दोष प्रतीत होते लेप स्वल्प स्थूलता में प्रयुक्त किए जाएँ तो भी उन्हें सहन नहीं कर पाता और तज्जनित त्रासवश गर्जन-तर्जन कर बैठता है। स्थिति इसमें यह होती है कि, जैसा कि स्वेद के प्रकरणों में कहा गया है, लेप गुण-वीर्यतः शीत हो तो भी वह शरीर ऊष्मा को त्वक्-मार्ग से बाहर न निकलने देकर अन्दर ही रखता हुआ स्वेदन-कर्म करता है। यह उष्णता और संप्राप्ति-वश शरीर में पूर्व-विद्यमान पित्त-कृत उष्णता संयुक्त हो अत्यन्त त्रास और व्याकुलता उत्पन्न करते हैं। औषधों में भी कफ-वात को लक्ष्य में रख कर उष्ण आहार, औषधादि का नियमित सेवन करना प्राप्त होता है।

एलर्जी-नव्यमतानुसार श्वास (क्षुद्र तथा तमक) का प्रमुख कारण एलर्जी कहा जाता है। एलर्जन वाह्य अथवा निज (शरीर मे उत्पन्न) कोई भी हो सकता है। एलर्जी के विषय में विस्तृत विवरण निदान-चिकित्सा हस्तामलक के हाल ही में प्रकाशित द्वितीय खंड के परिशिष्ट में दिया है। जिज्ञासुओं को इसकी जानकारी वहीं से प्राप्त करनी चाहिए। उसमें आए भल्लातक—सम्बन्धी एक प्रयोग के प्रति विशेषतः ध्यान आकृष्ट किया जाता है।

वैद्यों में भल्लातक के अनिष्ट लक्षण पुरुष की भल्लातक के प्रति प्रकृति-सिद्ध असात्म्यता के कारण उत्पन्न होते माने जाते हैं। परन्तु इन प्रयोगों के कर्त्ता डॉक्टर साह ने उनकी उत्पत्ति एलर्जी-वश निर्धारित कर एलर्जी में विहित उपचार किया और वह यशस्वी भी हुआ। इस दृष्टांत से एलर्जी का आयुर्वेद-मत से विचार करने का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। श्वास रोग के आयुर्वेदोक्त हेतुओं में एक रज (धूलि, पराग-कण आदि) हैं। एलर्जन के वर्ग में आधुनिक विद्वान् इस रज को प्रथम स्मरण करते हैं।

इयोसिनोफीलिया—रक्त-गत श्वेत कणों में इयोसिनोफिल एक है। इसकी सामान्यतया संख्या नहिवत् होती है। इसकी वृद्धि से श्वास के वेग हो आते हैं। तरूण अथवा जीर्ण प्रतिश्याय, कास और श्वास में पाश्चात्य चिकित्सा-शास्त्र के अनुसार इनकी वृद्धि की परीक्षा करना आवश्यक माना जाता है। यह सत्य है कि, कभी इनकी ३-४ प्रतिशत वृद्धि से भी श्वासादिक रोग हो आते हैं तो कभी २५-८० प्रतिशत से भी विशेष लक्षण आविर्भूत नहीं होते। बहुधा इनकी वृद्धि के साथ उदर-कृमि भी किसी-न-किसी रूप में पाए जाते हैं।

ट्रॉपिकल इयोसिनोफीलिया में श्वास के साथ ज्वर भी होता है। इसका साम्य तमक श्वास के पित्तानुबन्धी भेद—प्रतमक और संतमक—के साथ देखा जा सकता है। इस इयोसिनोफिल एवं अन्य श्वेत कणों (क्षन्त्र कणों) को कफ-वर्ग में स्थान देना उपयुक्त प्रतीत होता है। आयुर्वेद में भोजनोत्तर कफ की वृद्धि होने का उल्लेख है। आधुनिकों ने भी श्वेत कण भोजन के अनन्तर स्वभावतः वृद्धि को प्राप्त होते हैं, ऐसा विधान किया है। इस संकेत में प्रयोजन यह है कि, श्वास-रोग में नव्य मत से 'इयोसिनोफीलिया' का निदान करा कर आए आतुर में समीर-

पन्नग आदि उत्कृष्ट कफ प्रत्यनीक श्वासहर कल्पों का प्रयोग हितावह होने से करनी चाहिए। व्यवसाय में प्रायः ऐसे रोगी उपलब्ध होते हैं, जिन्हें इयोसिनोफीलिया की सिद्ध औषध पूर्ण मात्रा में देने पर भी लाभ नहीं होता। एलर्जी में भी इयोसिनोफील बढ़े होते हैं। अतः, केला, चावल आदि कफ-वर्धक (एलर्जन) का परिवर्जन भी वैद्यों को कराना चाहिए। वास्तव में तो वे कराते ही हैं। सो इस निदान-परिवर्जन की नव्य मत से व्याख्या का ही यह उद्यम है। हृद्रोगज श्वास के लिए 'कार्डिअक एस्थमा।' यह द्योतक संज्ञा आधुनिकों ने दी है।

तमक श्वास की साध्यासाध्यता—तमक श्वास याप्य होता है। रोगी हितकर आहार, विहार, औषध आदि का सेवन और अहितकर आहारादि के परिवर्जन के नियम का दृढ़ता से पालन करे तो उसका वेग दबा रहता है। प्रायः क्षुद्र अपथ्य से इसका वेग हो आता है। रोगी वेगोत्पादक ऋतु में, सम्भव हो तो, जांगल देश में जाकर रहे, तो उसका (रोग का) बल अल्प रहता है। रोगी बलवान् हो और रोग नवीन हो तो यह साध्य होना सम्भव होता है। यहाँ 'साध्य' शब्द से उसके भेद 'कृच्छसाध्य' का ही ग्रहण किया जाता है न कि 'सुखसाध्य' का। रुग्ण दुर्बल हो, अथवा वह प्रतमक से पीड़ित हो तो रोग साध्य नहीं होता।

तमक श्वास की साध्यता के प्रसंग में ऊपर उसका एक विशेषण 'नवोत्थित' (नवीन) दिया है। इस विषय में यह वस्तु समझ लेनी चाहिए कि, स्वयं प्रस्तुत रोगी को यह रोग भले कुछ काल पूर्व हुआ हो, परन्तु सम्भव है, आदिबल प्रवृत्त हो। ऐसी स्थिति में उसे नवीन कहना दुष्कर होगा। कारण, रोग के लक्षण भले नवीन हों, तथापि उसका मूल तो जीर्ण ही होता है। आदिबल प्रवृत्ति (आनुवंशिकता) की परीक्षा के लिए मातृ-कुल और पितृ-कुल के सभी पूर्वजों के सम्बन्ध में पृच्छा करनी चाहिए। तथाहि, उसके पिता, पितामह, माता, मातामह, चाचा, बुआ, मामा तथा इन सबके सन्तानों में किसी को यह रोग था या नहीं, हह पूछना चाहिए।　　　　(सावशेष)



कुष्ठ में पंचकर्म चिकित्सा

वैद्य हरिदास श्रीधर कस्तुरे

कुष्ठ और अन्य क्षुद्र रोगों की चिकित्सा में पंचकर्म चिकित्सा बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखती है। यहां पंचकर्म को शोधन चिकित्सा के अर्थ में इंगित करना अधिक उचित होगा। शास्त्रकारों ने शमन चिकित्सा से शोधन चिकित्सा को हमेशा अधिक प्राधान्य दिया है—क्योंकि शोधन द्वारा दोष-निर्हरण करने पर रोग जड़मूल से नष्ट होने के कारण उनमें पुनरुदभव नहीं होता। वैसे भी कुष्ठ एक चिरकाल रहने वाला, दुश्चिकित्स्य व्याधि है—अतएव शोधन-पूर्वक शमन चिकित्सा करना इसमें लाभप्रद होता है।

रक्त प्रदोषज विकारों में शोधन का महत्त्व

कुष्ठ रक्त प्रदोषज व्याधि है। चरक ने सूत्र स्थान के चौबीसवें अध्याय 'विधि शोणितीय' नामक में रक्तजन्य रोगों का वर्णन किया है—जिसमें विसर्प, रक्तपित्त, विद्रधि, वातरक्त, वैवर्ण्य, स्वेद (अधिकता), कंडु, अरुः [अरुपक अथवा अरुषिका], कोठ, पिडका, कुष्ठ, चर्मदल इ० रोगों को रक्ताश्रित बताया है।[1] इनका निर्देश करते समय खास तौर पर कहा गया है कि जो रोग शीत-उष्ण, स्निग्ध, रुक्ष प्रकार से सम्यक् चिकित्सा करने पर भी प्रशमित नहीं होते उन्हें रक्तज समझना चाहिए—अर्थात् वहां केवल दोष-हर चिकित्सा नहीं अपितु रक्तहर अथवा रक्तपित्त हर चिकित्सा करनी चाहिये।[2] इन सभी विकारों में रक्तपित्त अधिकार में निर्दिष्ट चिकित्सा, विरेचन, उपवास और रक्तमोक्षण करने का निर्देश किया गया है।[3] चरक ने विमान स्थान के पांचवें अध्याय में स्रोतों का वर्णन किया है। जहां रक्तवह स्रोतों के मूल यकृत और प्लीहा को बताया है और रक्तवह स्रोतों की दुष्टि से उत्पन्न विकारों में पुनश्च उपर्युक्त सभी रोगों का वर्णन किया है। अर्थात् कुष्ठ में रक्तवह स्रोतों की दुष्टि होती है, रक्त धातु की दुष्टि होती है और रक्त तथा पित्त का आश्रयाश्रयी भाव होने से पित्त की भी दुष्टि महत्वपूर्ण होती है। यहां भी चिकित्सा निर्देश करते हुए विधिशोणितीय अध्यायोक्त चिकित्सा करनी चाहिए ऐसा कहा है।

रक्तज रोगों में रक्तपित्त हर चिकित्सा निर्दिष्ट है। रक्तपित्त व्याधि में ऊर्ध्व, अधो या तिर्यक् मार्गों से रक्त प्रवृत्ति होती है। चिकित्सा सिद्धांतों में कहा गया है कि जो रक्तपित्ती – दुर्बल न हो, भोजन कर सकता हो—उसका उत्क्लिष्ट दोष जो स्वयं बाहर प्रवृत्त हो रहा है उसे प्रथम स्तम्भन नहीं करना चाहिये। बहने देना चाहिये। यदि शुरूआत में ही रक्तस्तंभन किया जाये तो उनमें गलग्रह, पूतिनस्य, मूर्च्छा, अरुचि, ज्वर, गुल्म, प्लीहा वृद्धि, किलास, (श्वित्र, मूत्रकृच्छ्र, कुष्ठ, अर्श, विसर्प, वर्णनाश, भगन्दर, बुद्धि उपरोध, इंद्रिय (ज्ञान+कर्म) उपरोध आदि उपद्रव उत्पन्न होते हैं।[4] अतएव प्रवृद्ध रक्तपित्त की बलवान रोगियों में उपेक्षा करनी चाहिये। बल्कि ऐसे रोगियों में संशोधन योग्यों में संशोधन-वमन और विरेचन करना चाहिये।[5]

इस तरह रक्त स्तंभन यदि कुष्ठ में हेतुरूप कार्य करता है तो यह स्पष्टतया सिद्ध है कि निदान परिवर्जन रूप रक्तमोक्षण और शोधन चिकित्सा इसकी चिकित्सा में अनन्य साधारण महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

कुष्ठ में चिकित्सा योग्यता

कहा गया है कि जो कुष्ठ असाध्य होते हैं वें असाध्यता का अतिवर्तन नहीं करते अर्थात् अचिकित्स्य कुष्ठ—कदापि चिकित्सा साध्य अवस्था में नहीं आते। किन्तु जो साध्य होते हैं वे कुष्ठ जरूर भूल के कारण साध्यता का अतिवर्तन करते हैं—अर्थात् असाध्य हो जाते हैं[6]। कुष्ठ में चिकित्सा काल तथा चिकित्सा विधि का बहुत महत्व है। यदि कुष्ठ नवीन हो तो अल्प प्रयत्नों से अच्छा होता है। जैसे नया लगाया हुआ क्षुप अल्प प्रयत्नों से काटा जा सकता है—वही बड़ा होकर विशाल होने पर काटने के लिये बहुत श्रम करना होता है वैसे ही रोगों में तरुण रोग (नए) स्रावपूर्वक साध्य होते हैं और वृद्ध रोग (पुराने, बढ़े हुए)

कृच्छ्रसाध्य होते हैं या असाध्य हो जाते हैं[७]। यह काल का महत्व है। अपराध या भूल को भी समझना चाहिये—पंचकर्मों में उपचार यह एक कुष्ठ का हेतु कहा गया है। अतएव कहां, कैसे, किस अवस्था में पंचकर्मोक्त उपचार करना चाहिये यह समझना अत्यावश्यक है। अति स्नेहमान (स्नेहातियोग), वमन-विरेचन का आयोग तथा रक्त स्तम्भन से सभी कुष्ठोत्पादक हेतु प्रकार से काम करते हैं। अतः इनके उपचार में सावधानी बरतनी चाहिये।[8]

दोषानुसार सभी कुष्ठ त्रिदोषण कहे गये हैं। फिर भी काकणक नामक त्रिदोषज कुष्ठ असाध्य हैं और अन्य छः कुष्ठों को साध्य कहा है। अर्थात् इनमें दोषों के तरतम भावों से साध्यासाध्यता निश्चित होती हैं। जिनमें भूल के कारण दोषों का अत्यधिक अकिणसंदन होता है—स्रोतो मुख दोषों के द्वारा संपूर्ण भर जाते हैं। [आपूर्णमाणानि] वे कुष्ठ असाध्य हो जाते हैं।[९]

साध्यकुष्ठ—एक दोषज, नवोत्थ और वात कफज कुष्ठ साध्य होते हैं। कफ पित्तज, वात पित्तज कुष्ठ कृच्छ्र-साध्य होते हैं। काकणक असाध्य होता है। अर्थात् नामतः निम्नोक्त कुष्ठ साध्य हैं—

एकदोषोत्थ—साध्यः—	वातज—१. कपाल	(चरक)	(महाकुष्ठ)
	२. परिसर्प	(सुश्रुत)	
	३. अरुण	(,,)	
	पित्तज—१. औदुम्बर	(च, सु)	(महाकुष्ठ)
	२. कच्छु	(सु)	
	३. वीसर्प	(सु)	
	कफज—१. मंडल	(च)	(महाकुष्ठ)
	२. विर्चचिका	(च)	
	३. अरुष्क	(सु)	
	४. रकसा	(सु)	
वात कफ प्रधान साध्य कुष्ठ—	१. सिध्म	(च)	महाकुष्ठ
	२. एक कुष्ठ	(,,)	
	३. चर्म कुष्ठ	(,,)	
	४. किटिभ	(,,)	
	५. विपादिका	(,,)	
	६. अलसक	(च)	
वातपित्त प्रधान कृच्छ्रसाध्य	१. अस्यजिह्व	(च)	महाकुष्ठ
पित्तकफ प्रधान कृच्छ्र साध्यः—	१. पुंडरीक	(च)	
	२. दद्रु	(च)	
	३. पामा	(")	
	४. शतारू	(")	
	५. बिस्फोठ	(")	
	६. चर्मदल	(")	

साध्य कुष्ठों में असाध्यतादर्शक लक्षण :—[१०]

यदि उपर्युक्त कुष्ठों में निम्नोक्त लक्षण मिलते हों त उन्हें असाध्य समझना चाहिए—(१) त्वक् कोथ, (२) मां कोथ, (३) रक्त तथा लसीका कोथ, (४) अत्यधिक क्ले युक्तता, (५) अत्यधिक स्वेद प्रवृत्ति (६) कृमि उत्पत्ति (७) वातादि दोषों के अरुण श्यावतादि लक्षणों का अत्य-धिक प्रकर्ष (८) उपद्रवयुक्तता जैसे—स्रावाधिकता, अंग-भेद, गात्रों का सदुकर डालना, तृष्णा, ज्वर, दाह, अति-सार-दौर्बल्य, अरुचि और अग्निमांद्य से युक्त होना। ये सब असाध्यता को दर्शाते हैं।

सुश्रुत ने मेदधातु की दुष्टि युक्त कुष्ठ को साध्य कहा है। मेदोगत अवस्था मे यदि आत्मगुण युक्त और संविधानवान आतुर हो तो चिकित्सा करनी चाहिये। आत्मगुण का अर्थ डलहन ने पवित्र, शौच रखने वाला, अमगल कार्यों में इच्छा न रखने वाला, अथवा पथ्यापथ्य में बरा-बर पालन करने वाला ऐसा किया है और सविधानवान का अर्थ सभी उपकरणों से युक्त ऐसा कहा है।[११] पंचम-धातु में प्राप्त अर्थात् अस्थिगत कुष्ठ होने पर (तथा तदुत्तर धातु मज्जा युक्त गत) उसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए ऐसा सुश्रुत का मंतव्य है।

कुष्ठ में दोषानुसार पंचकर्म-शोधन :—

चरक, वाग्भटाचार्य तो काय चिकित्सा प्रधान चिकि-त्सक रहे। उन्होंने दोषानुसार कुष्ठ में भिन्न-भिन्न कर्मों का निर्देश किया हो तो वह विस्मयजनक नहीं हैं, किन्तु शल्यतंग प्रधान सुश्रुताचार्य ने भी एक-एक मुद्दा के साथ कर्मों का निर्देश कर इसके महत्व को स्पष्ट किया है। देखें।[१२]

(१) १. कुष्ठ के पूर्वरूप उत्पन्न हो तभी संशोधन करना चाहिए।

२. त्वग्गत कुष्ठ हो तब—शोधनसेवन।

३. रक्तगत कुष्ठ में—संशोधन, सेवन, कषायपान, रक्तमोक्षण।

४. मांसगत कुष्ठ में—शोधन, लेपन, कषायमान, रक्तमोक्षण, आसवारिष्टपान, मंथसेवन, अवलेह सेवन।

५. मेदोगत कुष्ठ—याप्य-चिकित्सा उपर्युक्त।

६. अस्थिगत तथा उत्तरधातुगत—अनुपक्रम्य।

७. संशोधन—रक्तमोक्षण के बाद भल्लातक-शिलाजतु माक्षिक, गुगुलु, तुवरक, खदिर, अयस्कृतिआदि का सेवन।

(२) वात प्रधान कुष्ठ में :—

स्नेहपान करे—मेषशृंगी, गोक्षुर, गुडूची, दशमूल सिद्ध तैल या घृत से। पान+अभ्यंग।

पित्त कुष्ठ में—धव, अश्वकर्ण, पलाश, निंब, पर्पट, महुवा, लोध्र, समंगा, सिद्ध घृत।

कफज कुष्ठ में—प्रियाल, आरग्वध, निंब, सप्तपर्ण, चित्रक, मरिच, वचा, कुष्ठ सिद्ध तैल या घृत पान+अभ्यंग करे।

(३) कुष्ठ में—हर पन्द्रह दिन में वमन देना चाहिये, हर एक मास में एक बार स्रंसन-विरेचन देना चाहिए और हर छः मास में एक बार रक्त-मोक्षण करना चाहिये तथा हर तीन-तीन दिन को नस्य देना चाहिये।[१३]

चरक संहिता में कुष्ठ चिकित्सा के लिये निम्नोक्त सिद्धांत वर्णित हैं—[१४]

(१) (१) वात प्रधान कुष्ठ में सर्पि-घृत पान करना चाहिये। तथा विरेचन-निरूह और अनुवासन देना चाहिए।

(२) पित्त प्रधान कुष्ठ में—विरेचन और रक्तमोक्षण।

(३) कफ प्रधान कुष्ठ में—वमन करना चाहिये।

(४) वमन और विरेचन के लिये कल्पस्थान में प्रयुक्त योगों का कुष्ठ में उपयोग करें।

(५) कुष्ठ में—पित्त प्रधान हो तब वात और कफ नाशक चिकित्सा करें और कफ-पित्त और रक्त-निर्हरण करना चाहिए। तिक्त घृतों का उपयोग करे। और वाह्याभ्यंतर अन्य पित्त शामक चिकित्सा करें।

(२)[१५] १. कुष्ठ में रोग प्रसारण प्रमाण अल्प हो—स्थानिक दुष्टि हो तब प्रचलन विधि से रक्त-मोक्षण करें और स्थान प्रसार अधिक हो, सार्वदैहिक हो तब सिराव्यध करे।

२. दोष प्राबल्य अधिक हो 'बहुदोषी' कुष्ठी को शोधन करना चाहिये।

३. उत्क्लिष्ट दोष यदि ऊर्ध्व भाग में गति करता हो तो वमन कराये। वमन के कुटज-मदनफल-पटोल-निम्ब यष्टिमधु इ० का उपयोग करे।

४. दोषों की गति ऊर्ध्वभाग में न हो तब विरेचन करायें। जयफल, त्रिवृत, त्रिफला से विरेचनार्थ श्रेष्ठ औषधि हैं।

५. स्थिर, कठिन, उत्सेध युक्त मंडल हो तब—नाडि स्वेद प्रस्तर स्वेद से स्विन्न करे, जब दोष मृदु हो जाए तब कूर्चा से घर्षण कर स्थानिक अवरुद्ध रक्त-दोष का निर्हरण करे। अथवा आनूप (मत्स्य इत्यादि)—जलज-प्राणियों के मांस से बने हुए पोट्टली से सुखोष्ण स्वेदन करा कर तीक्ष्ण शस्त्र से लेखन करना चाहिये।

६. रक्तमोक्षण के लिये शृंग, जलौका, अलबु इनका उपयोग करें।

७. अल्प कुष्ठ में प्रच्छन पूर्वक जलौका लगाएं।

८. श्वित्र कुष्ठ में—मलपू (काकोदुंवरिका) इससे स्रंसन कराए और स्निग्ध आतुर को यथाशक्ति सूर्य किरणों के ताप में स्वेदन कराएं। विरेचन के बाद तीन दिन तक पेया पर रखे।

इन सामान्य सिद्धांतों के आधार पर कुष्ठ में पंच-कर्मोपचार के विषय में निम्नोक्त प्रकार से विचार किया जा सकता है।

कुष्ठ में पंचकर्म—विशेष विचार :

कुष्ठी में स्नेहपान, अभ्यंग, नाडि या प्रस्तर स्वेद, पोट्टली स्वेद, वमन, विरेचन, रक्तमोक्षण और नस्य का तत्तदवस्था में उल्लेख किया गया है। बस्ति चिकित्सा का आग्रह न रख कर सभी का उल्लेख है। चरक ने अनास्थाय अर्थात् जिनको आस्थापन बस्ति नहीं देनी चाहिये उनमें मधुमेह और कुष्ठ का उल्लेख किया है।[१६] तथापि निषेध को एकांततः निषेध नहीं मानना चाहिये। अपितु वैद्य स्वयं कल्पना कर बुद्धिपूर्वक योजना करें और जो जो अवस्था उत्पन्न होगी उसमें दोष-दूष्यों के आधार पर क्या करना

चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये यह निश्चित करे। उदा०—(चरकोक्त उदा०)—छर्दि-हृद्रोग-गुल्म में वमन निषिद्ध है, कुष्ठ में बस्ति निषिद्ध है तथापि तत्तदवस्था में बस्ति ये कर्म उपचार में कहे गये हैं।[१७]

वातोल्वण कुष्ठ में दार्वी-कंटकारिका मुस्तक, पटोल, निम्ब, मदनफल, आरग्वध इत्यादि के क्वाथ से सिद्ध निरूह वस्ति देने का निर्देश है। इस तरह विरेचन और निरूह के बाद मदनफल, निंब, कुटज-पटोल सिद्ध तैल से अनुवासनार्ह आतुरों में अनुवासन देना चाहिए।[१८] इस तरह बस्ति चिकित्सा का निर्देश किया ही है। इनका क्रम तथा व्यवस्था के बारे में विचार करेंगे।

स्नेह-स्वेद :—यह तो पहले निर्दिष्ट कर चुके हैं कि स्नेह विभ्रम से कुष्ठ रोग और अन्य त्वग्दोष उत्पन्न होते हैं। कुष्ठ त्रिदोषज होते हुये भी कफ प्रधान और आप्यद्रव्य प्रधान दुष्टि इसमें होती है। अतः स्नेह का प्रयोग सावधानी से करना चाहिये। चरक-सुश्रुत-वाग्भट तीनों आचार्यों द्वारा तिक्त घृत, महातिक्त घृत, खदिर घृत, तिक्त षट्रस घृत इ० घृतों का निर्देश किया है। तैलों के योग भी उद्धृत हैं। तथापि तैल पान से घृतपान कुष्ठ में श्रेयस्कर है। तिक्त सिद्ध घृत होने के कारण वह कफ वर्धन नहीं होता। और वात तथा पित्त के लिये भी अनुकूल होता है। स्नेहन-शमन विधि से दो-दो तोल २ बार दे सकते हैं। तथापि मंदुरू, विचर्चिका, दद्रु, श्वित्र के रोगियों में शोधनपूर्व स्नेह देने के लिये विधान क्रम से ७ दिन तक स्नेह दिया गया और अनेक आतुरों की चिकित्सा की गई है। इस क्रम में २ तोला से प्रारम्भ कर प्रतिदिन अग्नि और स्नेह लक्षण सापेक्ष्य मात्रा बढ़ाते हुए सातवें दिन तक लगभग १६ से २४ तोला तक घृत दिया गया है। कुछ सोरासि के आतुरों में २४ औंस तक घृत दिया गया और कोई उपद्रव नहीं मिले।

तथापि शोधन पूर्व स्नेह के विषय में नवीन मत श्री सिंग और सिंग ने प्रस्थापित करते हुए कहा है कि दो से तीन तोला स्नेह तीन बार तीन दिन तक देने पर सम्यक् स्निग्ध लक्षणों की प्राप्ति होती है।[१९] तथापि ये सभी आतुर आमवात के थे। अतः रोगबल, आतुर अग्निबल का विचार करना चाहिये।

स्नेह के बाद हमने श्योनाक पत्र, निंबपत्र तथा दशमूल क्वाथ सिद्ध बाष्प स्वेद और नाड़ि स्वेद का प्रयोग किया है। स्वेदन एक दिन करना चाहिये। और ९वें दिन आतुर को वमन देना चाहिये। वमन के लिये मदनफल ६ माशा, वचा ३ माशा, सैंधव १ माशा इस वमनयोग का रोगी बलानुसार ½ से १ तो० मात्रा में प्रयोग यष्टीमधु फांट के विधिपूर्वक किया गया। वमन के बाद ३ दिन से ७ दिन तक संसर्जन क्रम करे। और प्रकृताहार पर लाये हुए आतुर को पुनः स्नेहपान पूर्वक विरेचन देना चाहिये।

विरेचन के लिए आरग्वध हरीतकी क्वाथ २॥ तोला में एरंडतैल २ तो० मिला कर दिया गया। इससे ८-१० बार मल प्रवृत्ति होती हैं। अधिक वेगों की अवश्यकता में इच्छा भेदी या नाराच रस की २ र०/४ र० प्रमाण की मात्रा में देनी चाहिये। विरेचन के बाद वातोल्वण में आस्थापन बस्ति देकर अनुवासन देना चाहिये। और बाद में नस्य का प्रयोग करना चाहिए। कुष्ठ में नस्य के अनेक योग बताए गए हैं। फिर भी कटफल चूर्ण, विडग चूर्ण, मरिच चूर्ण, सैंधव+करंजफल इ० का नस्य, अथवा अणुतैल, षड्बिंदु तैल का नस्य प्रयोग करे। धूम नस्य का भी प्रयोग हितावह करना चाहिये।

कुष्ठ भेदानुसार पंचकर्म

एक दोषोत्थ कुष्ठ साध्य होता है। एक दोषोत्थ कुष्ठ में निम्न प्रकार से पंचकर्म का विचार करना चाहिए।

(१) वातप्रधान—१. कषाय कुष्ठ (च)
२. अरुण कुष्ठ (सु)
३. परिसर्प (सु.)

अरुण और कषाय वातवृद्धतम प्रकार के कुष्ठ हैं। अतः इसमें प्रभूत स्नेहपान पंचतिक्त घृत गुगुलु से करे। फिर निंबपत्र, श्योनाक पत्र से स्वेदन करे। फिर स्रंसन विरेचन देकर आस्थापन अनुवासन करे। फिर नस्य और अन्त में रक्तमोक्षण। लेकिन परिसर्प में कुछ पित्त का अंश होता है अतः अरुण स्नेहन कराकर विरेचन, बस्ति और रक्तमोक्षण कराना चाहिए।

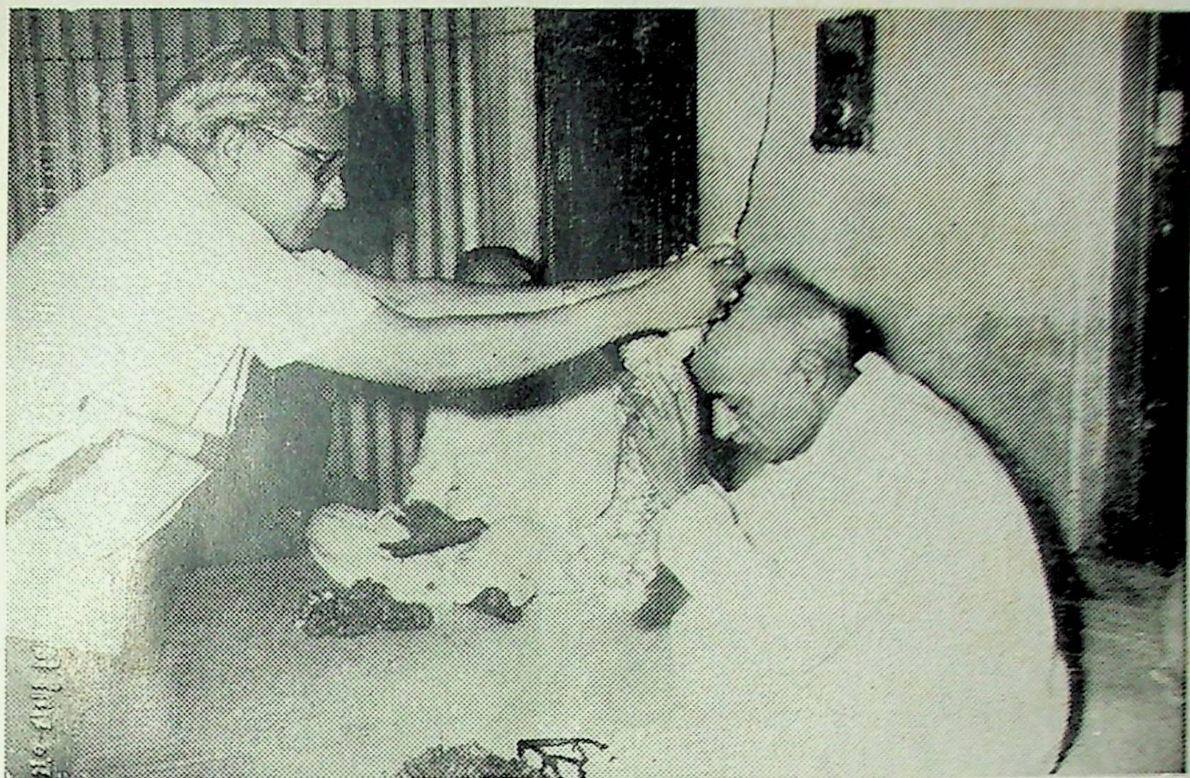
(२) एक दोषोत्थ पित्त प्रधान कुष्ठ :

१. औदुंबर :—पित्त+++

२. कच्छु :—पित्त+++, वात++, कफ+

३. वीसर्प :—पित्त+++, वात++, कफ+

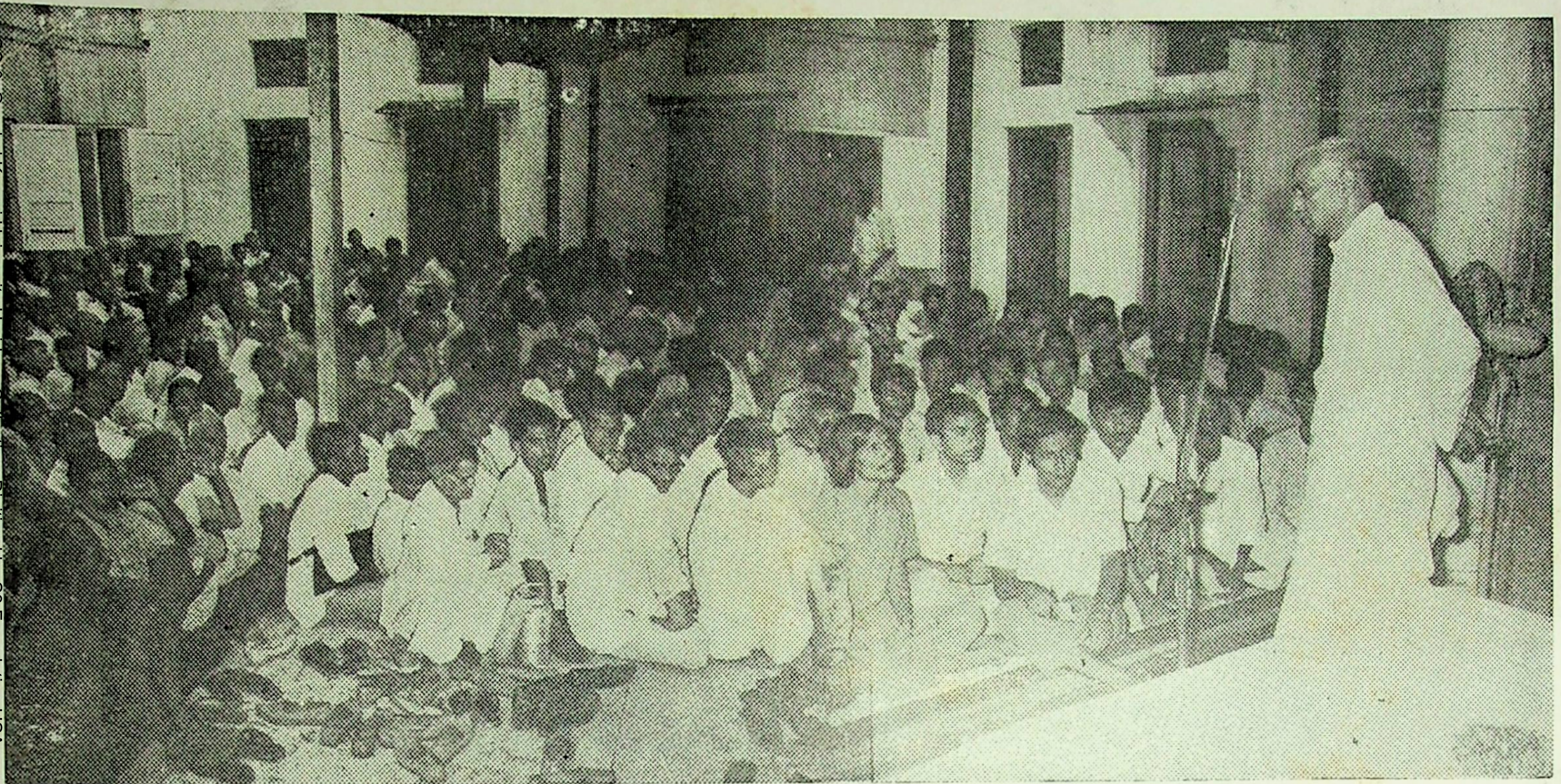
औदुंबर में ईषत् घृतपान, विरेचन, रक्तमोक्षण, स्नेहपान न करे तो भी चल सकता है। दूषण मात्रा में मधुर तिक्त घृत दे करे।



विदेश यात्रा की वापसी पर बैद्यनाथ के पटना-केन्द्र में बैद्यनाथ कर्मियों की ओर से आयोजित सभा में उत्पादन-नियंत्रक श्री आर० के० गुप्त, प्राणाचार्य पं० दुर्गा प्र० शर्मा को माल्यदान करते हुए।



प्राणाचार्य पं० दुर्गा प्र० शर्मा की स्वदेश-वापसी पर बैद्यनाथ के पटना निर्माण-केन्द्र में आयोजित स्वागत-समारोह के अध्यक्ष महामहोपाध्याय आचार्य पं० रामरक्ष पाठक को माल्यदान करते हुए—प्रतिष्ठान-व्यवस्थापक, श्री माहेश्वर मिश्र।



वैद्यनाथ प्रतिष्ठान के पटना-केन्द्र में आयोजित स्वागत-समारोह में आयुर्वेद-चक्रवर्त्ती, पं० दुर्गा प्र० शर्मा विदेश-यात्रा के अनुभवों पर प्रकाश डालते हुए।

(३) एक दोषोत्थ कफ प्रधान :—

१. मंडल—कफ + + + पित्त + वात +

२. विचर्चिका—कफ + + + वात + + पित्त +

३. अरुष्क—कफ + + + वात + + पित्त +

४. रकसा—कफ + + + वात + + पित्त +

इन कुष्ठों में स्नेहपान अत्यल्प कराए अथवा न कराए। शमन मात्रा में पंचतिक्त घृत गुगुलु या भल्लातक घृत दे सकते हैं। कफ दोषों की गति ऊर्ध्व भाग में होगी तो वमन, अधोभाग में होगी तो विरेचन दे। विरेचनार्थ आरग्वध हरीतकी क्वाथ, एरंडतैल और ईच्छाभेदी का प्रयोग करे। फिर नस्य दे। इन कुष्ठों में नस्य बारंबार देना चाहिए।

(४) वात-कफ प्रधान कुष्ठ :—

१. सिध्म—कफ + + + वात + + पित्त +
२. एककुष्ठ—कफ + + + वात + + पित्त +
३. चर्म—कफ + + + वात + + पित्त +
४. किटिभ—कफ + + + वात + + पित्त +
} एकप्रकार (१)

५. विपादिका—वात + + + पित्त + + कफ + (२) भिन्न

६. अलसक—कफ + + + पित्त + + वात + + (३) "

प्रथम ४ में—अल्पघृत पान करे। शमन विधि से, फिर तीक्ष्ण विरेचन, रक्तमोक्षण और बारंबार नस्य का प्रयोग करे। विपादिका में सर्पिष्पान, विरेचन, बासी, नस्य और रक्तमोक्षण करे।

(५) कृच्छ्रसाध्य द्विदोषज

वात पित्त प्रधान :— अष्यजिह्व :—

पित्त + + + वात + + और कफ + प्रकार का कुष्ठ है। पित्त सस्नेह है अतः अल्पस्नेहन, विरेचन, बस्ति, रक्त-मोक्षण करे। नस्य भी कफशोधनार्थ करे।

४

(६) कफ पित्त-प्रधान :—

१. पुंडरीक—कफ	वात + +	पित्त
२. दद्रु—पित्त	वात	कफ
३. पामा—कफ	पित्त	वात
४. शतारु—पित्त	वात	कफ
५. चर्मदल—पित्त	वात	कफ
६. विस्फोट—पित्त	वात	कफ

४, ५, ६ में दोषोल्वणता सामान्य है। इनमें अल्प-स्नेह, विरेचन, रक्तमोक्षण, नस्य, मधुरतिक्त, द्रव्योपयोग करे।

पुंडरीक में—स्नेहन न भी करे तो चल सकता है। लेकिन वात + + है अतः अल्प स्नेहन कर सकते हैं। विरेचन, बस्ति, रक्तमोक्षण और नस्य करे।

दद्रु में—अल्पस्नेहन, विरेचन, बस्ति, रक्तमोक्षण, और नस्य करना चाहिए।

पामा में कफ = = = है अतः स्नेहन न करे। स्वेदन, विरेचन, बस्ति, नस्य और रक्तमोक्षण करे।

काकणक त्रिदोषज होने से असाध्य है। प्रत्याखेद समझ कर सभी कर्म करा सकते हैं।

इस तरह प्रत्येक कुष्ठ में दोषोल्वणता के अनुसार कर्तव्य कर्मों का विचार किया जाना चाहिये।

x

[कुष्ठ में दोषों की उल्वणता लक्षनानुसार समझनी चाहिये। इस पर लेखक का स्वतन्त्र लेख है। यहाँ वाचकों की सुविधा के लिए निष्कर्षरूप दोषोल्वणता तालिका में प्रतिबद्ध की है।]

कुष्ठ में दोषोल्वणता दर्शक तालिका

(क्र० सं०)	कुष्ठ नाम	ग्रन्थोक्तदोषोलवण	लक्षणाधर पर दोषोल्वणता		
		च—वा. ता.			
(क)			वात	पित्त	कफ
१.	कपाल	वात	+	+	+
२.	औदुम्बर	पित्त	+	+	+
३.	मंडल	कफ	+	+	+
४.	पुंडरीक	कफ-पित्त	+	+	+
५.	सिध्म	वात-कफ	+	+	+
६.	ऋष्याजिह्व	वात-पित्त	+	+	+
७.	काकणक	त्रिदोषज	+	+	+
८.	एक कुष्ठ	वात-कफ	+	+	+
९.	चर्म कुष्ठ	वात-कफ	+	+	+
१०.	किटिभ	वात-कफ	+	+	+
११.	विपादिका	वात-कफ	+	+	+
१२.	अलसक	वात-कफ	+	+	+
१३.	दद्रु	पित्त-कफ	+	+	+
१४.	चर्मदल	पित्त-कफ	+	+	+
१५.	पामा	पित्त-कफ	+	+	+
१६.	विस्फोट	पित्त-कफ	+	+	+
१७.	विचर्चिका	कफ	+	+	+
१८.	शतारु	पित्त-कफ	+	+	+
१९.	अरुष्क	कफ (सु०)	+	+	+
२०.	परिसर्प	वात (सु०)	+	+	+
२१.	विसर्प	पित्त (सु०)	+	+	+

१. च० सू० २४-११ से १६

२. च० सू० २४-१७ तथा चक्रपाणि टीका

३. वुर्णच्णेणित रोगेषु रक्तपित्त हरींक्रियाम् ।
विरेकमुपवासंच स्रावणं शोणितस्य च ।।
च० सू० २४-१७

४. अक्षीण बसमांसस्य.....प्रवृद्धं सिद्धिमियुला ।
च० चि० ४-२५ से २७

५. बहुदोषंबरुवतो......च० चि० ४-४८ से ६१

६, च० नि० ५

७. यथा ह्यतपेन यत्नेन चिद्यते तरुणस्तरुः ।
स एवातिप्रवृद्धस्तु चिद्यते दलि प्रयत्नतः ।।
एवमेव विकासेऽपि तरुणः साध्यते सुखं ।
विवृद्धः साध्यते कृच्छ्रादसाध्यो वाऽपि जायते ।।
च० नि० ५

८. " कुष्ठानि कंडूः पांडुत्वं जायंते स्नेहविभ्रमात् ।
चः सू० १६-७५, ७६
दुच्छर्दिते स्फइटिक कोठकंडू "च० मि० १-१५ तथा सु० चि० ३६-७, अ०हृ० सू०१७-२३, २४ देखें।

९. च० नि० ५

१०. च० नि० ५

११. सु० नि० ७ सटीक

१२. सु० चि० ७-३,४,५,६,७,८

१३. पक्षाद्पक्षाद्च्चर्दनान्यभ्युपेयान्मासान्मासान्
स्रंसनं चापि देयं । स्राव्यं रक्तं वत्सरे हि
व्दिरलपं नस्यं दद्यात् त्रिराजात् त्रिराजात् ।
सु० चि० ८-२५,२६

१४. वातोत्तरेषु सर्पिवर्मनं श्लेम्लोत्तरेषु कुष्ठषु ।
पित्तोत्तरेषु मोक्षो रक्तस्य विरेचनं चाग्रे ।
च० चि० ७-३८

१५. च० चि० ७-४३ से ५०

१६. च० सि० अ० २-१४

१७. न चैकांतेन निर्दिष्टेऽप्यर्थेऽभिनिविशेद्बुधः ।—
अवस्थां प्राप्य निर्दिष्टं कुष्ठिनां बस्तिकर्म च ।
च० सि० २-२५, २६

१८. दार्वी बृहती सेव्यैः पटोल पिचुमर्द मदन कृतमालैः ।
सस्नैहरास्थाप्यः कुष्ठी सर्कसिग यव मुस्तैः ।
वातोदलवणं विरिक्तं निरूढमनुवासनार्हमालस्य ।
फलमद्दुन निंब कुटजैः सपटोलैः साधयेत्स्नेहम् ॥
च० चि० ७-४६,४७

१९. श्री सिंग और सिंग—सेन्ट्रल कौन्सिल का जर्नल जून १९७८

प्राण शक्ति का मूल स्रोत

श्री शिव सागर शुक्ल
रीडर, मौलिक सिद्धांत एवं संहिता,
राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय, लखनऊ

वैदिक दर्शनों तथा आयुर्वेद में भी जो अथर्ववेद का उपदेश है समस्त सचराचर जगत की सृष्टि को पांच भौतिक स्वीकार करता है। मानव देह का निर्माण, स्थिति व्याध्युत्पत्ति एवं उनका परिहार पांच भौतिक पदार्थों (पृथ्वी; जल, तेज, वायु, आकाश) के द्वारा होना निरूपित किया है। इस जगत के मूलोत्पादक कारण में त्रिगुण शक्तियां पंच महाभूतों एवं त्रिदोषों का अनिवार्य रूप से सम्बन्ध बताया गया है। अतः आयुर्वेद तथा इतर वैदिक दर्शनों में मानव के स्वास्थ्य-रक्षण एवं रोगापनयन की जो विधियां दर्शायी गयी हैं, उन सभी का सम्बन्ध त्रिगुण (सत्व, रज, तम) पंचमहाभूत एवं त्रिदोष (वात, पित्त, कफ) से निश्चित रूप से हो जाता है।

यह निर्विवाद एवं वैज्ञानिक तथ्य है कि पृथ्वी सूर्य का अंश है जो कि पूर्ववर्ती काल में सूर्य से पृथक होकर इस स्वरूप को प्राप्त हुई हैं। इस परिगमन प्रक्रिया के सम्पादन में कई रासायनिक (Chemical) एवं भौतिक (Physical) परिवर्तन हुए होंगे। इस परिगमन प्रक्रिया के फलस्वरूप इस पृथ्वी पर मुक्त (Released) एवं बद्ध (Bonded) स्वरूप में प्राण वायु (Oxygen) की उपलब्धि एक महत्वपूर्ण घटना है। इस प्राणवायु के ग्रहण एवं इतर वायु के विसर्ग की क्रिया को कर सकने वाले को सेंद्रिय (चेतन) और अन्य ने निरिन्द्रिय (अचेतन) वर्ग में रखा गया है[1]। वायुमंडल में विद्यमान प्राणवायु और शरीरस्थ प्राण अथवा आधिभौतिक प्राण एवं आध्यात्मिक प्राण एक ही हैं अथवा भिन्न। इन विभिन्न प्रकार के प्राण विशेषणों में क्या एक्य भाव और क्या-क्या विभिन्नतायें हैं यह वैदिक काल से ही मानव की जिज्ञासा का विषय रहा है। क्या आध्यात्मिक प्राण से आधिभौतिक प्राण प्रभावित होता है और क्या आधिभौतिक प्राण से आध्यात्मिक प्राण नियंत्रित होता है। इनके चिन्तन, मनन, निदिध्यासन एवं अन्वेषण प्रयास हेतु प्रमाण समस्त भारतीय वाङ्मय में वैदिक काल से अध्यावधि विकीर्ण रूप से प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। योग का प्राणायाम शब्द आयुर्वेद में प्रयुक्त प्राणवह स्रोतसं के प्राकृत-वैकृत कार्य तथा तंत्र-शास्त्र का स्वर विज्ञान इसी चिन्तन एवं अन्वेषण के परिणाम हैं। स्वर विज्ञान के अध्ययन में नासिका से लेकर उदरगुहा तक संचारी वाह्यभ्यंतर वायु की गतियों का अध्ययन किया गया है। शब्दों के उच्चारण कर विशेष सूक्ष्म विधियां (उदात्त, अनुदात्त, स्वरित) शब्दों के संस्थान विशेष का पारस्परिक सम्बन्ध तथा शक्तिमत (भावराशिरूप) मन्त्र जिन्हें आम्नाय भी कहा गया है, व्यक्त स्वर के उदाहरण हैं। स्वर विज्ञान में कुछ अव्यक्त स्वरों का भी वर्णन है, जिनमें नासिक के दोनों रंध्रों (Nasal orifices) का दक्षिण ओ वाम स्वर से अभिहित किया गया है। वायु की प्रश्वास निश्वास विधि को नियंत्रित करके शरीर में ऐच्छिक एवं अपेक्षित परिवर्तन किया जा सकता है। ऐसा योगशास्त्र एवं तंत्रकारों का अभिमत है।

इन-प्राण सम्बन्धी रहस्योद्घाटन हेतु कुछ वर्षों से विशेषकर भूमण्डलवासी मानव के अन्तरिक्ष अनुसंधान (Research in Space Science) के कार्य की प्रगति के साथ ही उत्कृष्ट एवं प्रबुद्ध वैज्ञानिकों द्वारा योग एवं तंत्र शास्त्र की उन प्राचीनतम विद्याओं के प्रति जिज्ञासा के भाव जागृत हो चुके हैं जिनके द्वारा मनुष्य अन्तरिक्ष की अनुभूत परिस्थितियों में भी किस प्रकार अपने को स्वस्थ रखते हुये अपने दैनन्दिन के कार्य में अग्रसर हो सकता है। स्वदेशीय ही नहीं अपितु अन्तर्देशीय वैज्ञानिकों में भी इस जिज्ञासा के भाव रूपी बीज अंकुरित होकर विकसित हो रहे हैं। अतः योग एवं तंत्रशास्त्रों की प्राचीनतम विलुप्त-सी वैज्ञानिक मान्यताओं के पुनः

१—सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनं। (चरक संहिता)

अध्ययन एवं उनके वैज्ञानिक प्रयोग, मनन, अनुशीलन एवं परीक्षण के प्रति अधिकाधिक रुचि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रदर्शित की जाने लगी है।

विश्व के उपलब्ध लिखित वैज्ञानिक साहित्यों में वेद—विशेषकर ऋग्वेद सर्वाधिक प्राचीन कृति स्वीकार की जाती है। विश्व की विविध पुरातन संस्कृतियों में वैदिक संस्कृति अभी तक जीवित एवं मानव कल्याणकारी है, ऐसी जनसाधारण में मान्यता प्रचलित है। इस मौलिक विशेषता का हेतु भारतीय संस्कृति में वर्णित कुछ ऐसे सुनिश्चित, सुदृढ़ शाश्वत सामाजिक, आर्थिक एव सांस्कृतिक-वैज्ञानिक सिद्धान्त हैं, जो आज भी मानव समाज के लिए दीपस्तम्भ के सदृश पथ-प्रदर्शक बने हुये हैं। इस संदर्भ में वैदिक कालीन विवाह - परम्परा एवं एक पत्नीव्रत जिनके प्रमुख पहलू स्वीकार किये गये हैं तथा इन प्राचीन महर्षियों के तत्वनिर्णय की योगनिष्ठ आध्यात्मिक प्रणाली और आध्यात्मिक धारा की अनुगामिनी एवं आश्रयी आयुर्वेद चिकित्सा-पद्धति विश्व के मनीषियों से अभी भी समादृत है। वैदिक साहित्य को पृष्ठभूमि स्वीकार कर उससे उपजीव्य विभिन्न पुराण, स्मृति, दर्शन और चिकित्सा-शास्त्रों में मानव के अस्तित्व (Existence) एवं उसके व्यवहार (Behaviour) की अन्तर्निगूढ़ पहेली को भिन्न-भिन्न प्रकार से समझाने का प्रयास किया गया है। चाहे आप क्रमिक विकासवाद का सिद्धांत स्वीकार करें जैसा कि आधुनिक विज्ञान स्वीकार करता है अथवा ह्रासवाद का सिद्धांत स्वीकार करें जैसी कल्पना सतयुग, द्वापर, त्रेता, कलियुग आदि शब्दों द्वारा की जाती है, या इस विश्व को जैसा कहा गया है कि :

"ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥—

—के सिद्धांत पर सर्वदा ही एकरस मान लिया जाय। परन्तु इन सभी मान्यताओं को स्वीकार करने पर ही जीवन-मृत्यु की मध्यवर्ती घटनाओं की व्याख्या के लिए आत्मा (चेतन तत्व) शरीर, इन्द्रिय, मन, वायु, अग्नि, जल पृथ्वी आदि शब्द प्रत्येक व्याख्या में उपस्थित हो जाते हैं। इस जीवन और मृत्यु के मध्य की शृङ्खला को वैदिक साहित्य में "प्राण" शब्द के द्वारा अभिव्यक्त किया गया है और इस अभिव्यक्त को अब तक उन सभी भाषाओं में जो कि संस्कृत से निकली हुई हैं जैसा-का-तैसा मान लिया गया है। प्राणी का अर्थ जीवन व्यापारयुक्त शरीर से है और प्राण निकलने का अर्थ जीवन व्यापार की समाप्ति समझा जाता है। इस दृष्टिकोण से आयु—(एति गच्छतीति आयुः—अर्थात् आयु का तात्पर्य एक प्रकार की अनवरत गति से है और प्राण प्रवर्त्तन अनइतिसर्व प्राणिशरीर व्याधचेष्टत इति प्राणः अर्थात् प्राण एक प्रकार की प्रवृष्ट गति है जो सम्पूर्ण शरीरधारियों के अन्दर व्याप्त होकर चेष्टा करता है)— पर्यायवाची मान लिये गये हैं। आयुर्वेद जो कि व्यावहारिक चिकित्सा विज्ञान एवं भारतीय दर्शन का समागम स्थल है ने व्यावहारिकता को ध्यान में रखकर प्राण के गुह्यार्थ को किस प्रकार समझा है और उसकी दृष्टि में यह शरीर किस प्रकार रोगग्रस्त होता है तथा स्वस्थ रहने पर किस प्रकार मनुष्य महाप्राण वाला या दीर्घायुष्य होता है, यह भी प्राण से सम्बन्धित एक आयुर्वेदीय विवेचन का अंग है।[१] यदि हम गंभीरता से विचार करें तो जीवित शरीर के संदर्भ में प्राण एक जैविकीय शक्ति (Biological Energy) मान लिया गया है। यह तथ्य निस्संदेह सत्य होते हुए भी प्राण का एकपक्षीय अध्ययन प्रस्तुत करता है। वास्तव में 'प्राण' स्वयं में विश्व का एक मूल अन्तर्निगूढ़, प्रेरणादायिनी, अतिबलवती शक्तिपुंज है, जो न केवल जीव जगत अपितु समस्त भौतिक आध्यात्मिक ब्रह्मांड को भी गतिशील एवं नियंत्रित कर रहा है। इस दृष्टि से प्राण-सम्बन्धी अध्ययन, अध्यापन एव अनुसंधान का क्षेत्र न केवल भौतिक शक्ति (Physical Energy) अपितु विश्व की प्रत्येक प्रकार की ऊर्जा (Energy) को अपने अध्ययन की परिधि में ले लेता है। इस प्रकार ऊर्जा एवं प्राण पर्यायवाची शब्द हैं। जड शक्ति चेतन में परिणत होती है अथवा चेतन शक्ति जड़ में परिणत होती है अथवा एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। यह सुविदित वैज्ञानिक तथ्य है कि स्थिर ऊर्जा (Potential Energy) गतिजऊर्जा (Kinetic Energy) में परिवर्तित होती है तथा इसी प्रकार गतिज स्थिर ऊर्जा में परिवर्तित होती है। वास्तव में मूल प्राण (शक्ति) एक ही है, विभिन्न रूप उसके अवस्थान्तरित परिणाम हैं। इसी आधार पर यह श्रुति वाक्य है :—"एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति" —अथर्ववेद

१—सर्वा हि चेष्टा वातेन स प्राणः प्राणिनाम् स्मृतः।
तेनैव रोगा जायन्ते तेन चैवोपरुध्यते ॥
(चरक सू त्र १७/११८)

चिकित्सा में आयुर्वेद के मौलिक सिद्धांतों का उपयोग

श्री अनन्तराम शर्मा

गगनचुम्बी भवन की आधारभित्ति जिस प्रकार वास्तुकला का एक अनिवार्य अथवा महत्वपूर्ण अंश होता है ठीक उसी प्रकार आयुर्वेद के विशाल आकार की इमारत भी अपने मौलिक सिद्धांतों के आधार पर टिकी हुई है। संसार की प्रचलित चिकित्सा-पद्धतियों में सम्भवतः किसी में भी इस प्रकार के सिद्धांत नहीं हैं। इसी हेतु वे अस्तित्व के लिए आये दिन अपनी दिशाएं बदलती रहती हैं। यूनानी के आधार तो आयुर्वेद के प्रतिरूप है।

आयुर्वेद के मौलिक सिद्धांत भारतीय-आर्यसंस्कृति के भी आधारभूत सिद्धांत हैं। आपाततः दृश्य मत वैपरीत्य एक-दूसरे का पूरक है, सूक्ष्म दृष्टया देखने पर एक रूप ही है। इन सिद्धांतों के बिना आर्य जनमानस की कल्पना भी नहीं की जा सकती है, आर्य आर्य नहीं, भारतीयता अभारतीयता में बदल जाती है और इस प्रकार आप्त-मनीषियों का तपःपूत प्रयास अनायास ही समाप्त हो जाता है। इसी हेतु वक्ष्यमाण मौलिक सिद्धांतों का कण-कण में व्याप्त होना, उनका मानव देह की रगरग में रमा होना-इस प्रकार के उद्घोषों को आयुर्वेद वाङ्मय में जन्म दे पाया है कि:-

"यस्य देशस्य यो जन्तुस्तज्जं तस्यौषधंस्मृतम्।"

हम चिकित्सा किसकी करते हैं? इस प्रकार का प्रश्न पूछना सहज है और सही-२ उत्तर की अपेक्षा करना स्वाभाविक है। परन्तु इस तरह के प्रश्नों का उत्तर, उनकी विशद गहन समीक्षा केवल आयुर्वेद में ही है क्योंकि ऐसे प्रश्नोत्तरों से आयुर्वेद की मौलिकता निखर आती है। अगर हम कहें कि हम रोग का इलाज करते हैं तो रोग तो कुष्ठ से मृत रोगी के शरीर में उपस्थित होता है किंतु शव की कोई चिकित्सा नहीं करता है। आत्मा की चिकित्सा का प्रश्न ही नहीं उठता है क्योंकि वह तो 'निर्विकारः परमात्मा' के अनुसार विकाररहित है। इस प्रकार कहना पड़ता है कि:— "सत्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्" चि० और 'तच्चाधिकरणं स्मृतम्ञ्च' तथा 'अत्र कर्मफलं चात्र' च० एवं 'अस्मिन् शास्त्रे पञ्चमहाभूत शरीरि समवायः पुरुष इत्युच्यते, तस्मिन् क्रिया सोऽधिष्ठानम्।' सु०

व्यावहारिक दृष्टि से यह उपरोक्त शास्त्रीय उत्तर महत्वपूर्ण है। इससे भिन्न और इससे बढ़कर अन्य कोई दूसरा उत्तर बनता ही नहीं है। अतः चिकित्सा से आत्मा, मन और शरीर का अनिवार्य सम्बन्ध स्पष्ट है। आत्मा के ज्ञान के बिना, मन को बिना जाने तथा शरीर की पचभौतिकता के प्रतिपादन से पृथक् चिकित्सा-जगत् की चर्चा असम्भव हो जाती है। अतः स्वीकार करें या न करें, आयुर्वेदीय मौलिक सिद्धांतों का ज्ञान सभी चिकित्सा-पद्धतियों के लिए अनिवार्य अथवा व्यवहार्य है।

'भिषक् समूहो निःसंशय कराणाम्।' च० के अनुसार एक मरणासन्न रोगी की चिकित्सा के लिए एकत्रित ख्यातनामा चिकित्सकों में से एक ने कहा 'रोगी की आत्मा तड़प रही है' सम्भवतः उसका अभिप्राय रोग की यातना से प्रताड़ित रोगी के प्रति अपनी करूणार्द्रता प्रकट करना था। तभी एकत्रित सामान्य जनों में से एक चिकित्सक की दयालुता से प्रभावित होकर बोला कि 'इनके भी तो आत्मा है।' इससे स्पष्ट है कि आत्मा हम सभी के जीवन में कितना महत्व रखती है। आयुर्वेद एवं आयुर्वेदेतर भारतीय वाङ्मय इस विषय के गम्भीर चिन्तनों से परिपूर्ण है। किंतु आत्मा का आयुर्वेद में वर्णन उतना ही है जितना कि चिकित्सा के लिए आवश्यक है।

आत्मा के तीन स्वरूपों—परम आत्मा, सूक्ष्म शरीरयुक्त (अतिवाहिक) आत्मा और स्थूल चेतन शरीर का कर्म पुरुष—में से आयुर्वेद में अंतिम चिकित्सोपयोगी आत्मा मन और पंचमहाभूतों का समुदाय जो यह स्थूल शरीर है

वही पुरुष या आत्मा स्वीकार किया गया है। इसी हेतु, सुश्रुत ने 'पृथग्दर्शी' नाम दिया है। इसी को कर्म पुरुष शशि पुरुष, संयोग पुरुष, समुदाय पुरुष, षट् धातुक पुरुष या चतुर्विंशतिक पुरुष कहा है। उपनिषद्कारों द्वारा वर्णित 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' भी यही है।

ईश्वरवादिता के प्रश्न पर मौन (यथास्वेनात्मनाऽत्मानं सर्वः सर्वासु योनिषु। प्राणैस्तन्त्रयते प्राणी न ह्यन्योऽस्त्यस्य तन्त्रकः) च० शा० १-७७ यतोऽन्यः पुरुषोऽस्य प्रेरको नास्ति ईश्वराभावात्—चक्रपाणिः। परलोक का पर्याप्त वर्णन तथा पुनर्जन्म में पूर्ण आस्था (नास्तिक बुद्धिं जह्यात् च, नास्ति पुनर्भवः, नास्ति कर्म फलम्, नास्त्यात्मेति नास्तिना प्रचरतीति नास्तिकः-च० पा० च० सू० ११-६) आयुर्वेद-वेत्ताओं के लिए पूर्णतः ज्ञातव्य है।

चक्रपाणि के अनुसार शरीर 'कर्त्तव्य चिकित्साधिकरण' है। अतः हेत्वादि का ज्ञान अथवा 'प्रतीतरस दोषमान' बिना शरीर ज्ञान के संभव नहीं है और न ही चिकित्सा-कर्म किया जा सकता है (यतोऽप्रतिपन्नेऽशेष विशेषतः शरीरे न शरीर विज्ञाधीनाधीना चिकित्सा साध्वी भवति —च० पा०)। 'कतिधा पुरुषीय' में पुरुषाश्रित त्रयोविंशति प्रश्नों द्वारा चिकित्सा की दृष्टि से आत्मा और शरीर के निकटतम सान्निध्य का प्रतिपादन प्रस्तुत प्रसंग में पठनीय है। चिकित्सा में इस ज्ञान की उपयोगिता बताते हुए चक्रपाणि लिखते हैं—'पूर्वाध्याये शरीरस्यादिसर्गे आध्यात्मिको नैष्ठिक मोक्षरूप-चिकित्सोपयुक्ता उक्तः। च० शा० २-१'।

इस प्रकार आत्मज्ञान के बिना आयुर्वेदीय चिकित्सा विचिकित्सामात्र ही समझनी चाहिए।

यह वक्ष्यमाण प्रसंग चरककालीन मानने पर दो हजार वर्ष पुराना 'अग्निवेशकृते तन्त्रे' को आधार मानने पर लगभग पांच हजार वर्ष पुराना और 'अनुत्पाद्यैव प्रजाः' इस सौश्रुत सूत्रांश के अनुसार अनादि है जबकि आयु को बढ़ानेवाले वेद (आयुर्वेद) का ज्ञान महर्षि भरद्वाज से प्राप्त कर महान् ऋषियों ने ज्ञानचक्षुओं (१) सामान्य (२) विशेष (३) गुण (४) द्रव्य (५) कर्म और (६) समवाय को समझा तथा परम शान्ति प्राप्त की (लेभिरे परमं शर्म—च० सू० १-२९)।

यद्यपि 'सत्वमात्मा शरीरं च' ही चिकित्सा का आधार है और इन तीनों से सम्बन्धित विवेचनात्मक विषय ही आयुर्वेद का आधार है किन्तु चरक सूत्र-स्थान के प्रथम अध्याय में 'आरोग्यं मूलमुत्तमम्' की चर्चा कर 'त्रिसूत्र' या 'त्रिस्कन्ध' का उल्लेख किया है। तब कहीं जाकर 'सामान्य च विशेषं च' आदि का उल्लेख हुआ है। सम्भवतः इसका हेतु यह रहा है कि उस समय चर्चा का विषय 'विघ्नभूता यदारोगाः' था क्योंकि इन्हीं से प्रताड़ित होकर महर्षिजनों को एकत्रित होने के लिए बाध्य होना पड़ा था। इस दृष्टि से चिकित्सा के आधार-भूत प्रतिपाद्य विषयों में आत्मा के उपरान्त 'मन' का विशिष्ट स्थान है।

पाश्चात्य वैद्यक की पचास वर्ष पुरानी पुस्तकों में मन लिए कोई स्थान नहीं था जबकि आयुर्वेद प्रारम्भ से ही 'प्रसन्नात्मेन्द्रिय मना' मानता आया है। श्रुतिघोष भी इस सम्बन्ध में स्पष्ट है, जैसे—'तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु' अथवा 'आत्मा मनसा, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन ततः ज्ञानोत्पत्तिः भवति' आदि शतशः उदाहरण वैदिक वाङ्मय में है।

निर्विकार एवं केवल द्रष्टा मात्र आत्मा चैतन्य होने से अचेतन मन को क्रियारत रखता है। ज्ञान, कर्म, फल, योग आदि सभी कुछ का कर्ता मन है अथवा शास्त्र-सम्मत अर्थ में 'सुखाद्युपलब्धि साधनमिन्द्रियं मनः' कहलाता है। आत्मा, इन्द्रियां, इन्द्रियार्थ सभी उपस्थित हैं परन्तु ज्ञान नहीं होता है। क्योंकि आत्मा के साथ इनका सम्बन्ध स्थापित करनेवाला मन वहां नहीं है। इसी तरह के उदाहरणों से मन के 'अणु' और 'एकत्व' गुण समझ में आते हैं।

रज और तम मन के दोष हैं। सत्वगुण की अधिकता से युक्त मन को जातिस्मरता में समर्थ बताया है।

इस प्रकार अर्श के हेतुओं में पूर्वकृतं च कर्म च० आदि का समझना आसान हो जाता है, इन्द्रियनिग्रह, स्वनिग्रह और अह, विचार आदि कर्म करनेवाले मन का ज्ञान चिकित्सा में साफल्य के लिए नितान्त आवश्यक अथवा उपयोगी है। रज और तम से वशीभूत मन अर्थात् अपने सन्निकृष्ट दोषों रज और तम से दूषित होकर मन काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, मान, मद, शोक, उद्वेग,

हर्ष, भय, विषाद, असूया, दैन्य, मात्सर्य, दम्भ आदि से ग्रस्त हो जाता है। शरीर और मन का परस्पर सम्बन्ध बड़ा व्यापक है। यही कारण है कि शारीरिक व्याधियों में मन और मानसिक व्याधियों में शरीर अछूते नहीं रह सकते हैं। उन्माद, अपस्मार जहां विशुद्ध मानसिक व्याधियों में शरीर भी पीड़ित होता है (मनोवहानि स्रोतांसि जनयन्त्युन्मादम्—च०, रजस्तमोभ्यामुपहृत् चेतसाम्। चि०) वहां शारीरिक व्याधियों में मन का भी उद्विग्न होना स्वाभाविक है। (देहेन्द्रिय मनस्तापी सर्व रोगाग्रजो बली तथा ग्लानि च शस्यते तस्य मग्न विश्लेष-वृद्धि सा। सु०)।

इस प्रकार आयुर्वेद के महान प्रासाद के आधारभूत स्तम्भों में आत्मा और मन के साथ-साथ सत्व, रज और तम का समावेश भी अनिवार्यतः आवश्यक है जिनके ज्ञान के बिना चिकित्सा संभव नहीं है। आयुर्वेदिक दृष्टि से इन्द्रियों का ज्ञान भी अपना विशेष महत्व रखता है। 'असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग' से अथवा 'कालार्थ कर्मणां योगः' ही सर्वत्र इन्द्रिय-सम्बन्धी ज्ञान चिकित्सार्थ उपयोगी है। इन्द्रिय (चक्षुरादि), इन्द्रिय द्रव्य (अग्नि, आकाशादि) इन्द्रियाधिष्ठान (नेत्र-कर्णादि), इन्द्रियार्थ (रूप, शब्दादि) इन्द्रिय बुद्धि (इत्येतत् पंचपंचकः) च० सू० ८।११) इन सभी की जानकारी चिकित्सक के लिए अत्यावश्यक है। इस प्रस्तुत प्रसंग में यह स्मरणीय है कि जिसे साधारणजन भाषा में नाक, कान, आंख आदि नामों से पुकारा जाता है वे वास्तविक इन्द्रियां नहीं हैं। वस्तुतः ये तो आयुर्वेदिक परिभाषा में इन्द्रियाधिष्ठान है। वास्तविक इन्द्रियां तो अनुमानगम्य एवं सूक्ष्म हैं।

आयुर्वेदीय चिकित्सा हेतु आत्मा, मन, शरीर (त्रयमेतास्त्रिदण्डवत्-च) इन्द्रियाँ आदि के ज्ञान के साथ-साथ सामान्य, विशेष, गुण, द्रव्य और कर्म को भली प्रकार अवगत करना भी सफलता-प्राप्ति के लिए आवश्यक हैं जिन्हें आयुर्वेद प्रसार से पूर्व ही महर्षियों ने ज्ञान चक्षुओं से देखा था (महर्षं स्तेददृशुर्यभावत् ज्ञान चक्षुषा। सामान्यं च विशेषं च गुणान् द्रव्याणि कर्म च। समवायं च।(च० सू० १।२८)।

उपरोक्त सिद्धान्तों का उपयोग चिकित्सा में प्रतिपल देखने में आता है। क्षीण मांसवाले व्यक्ति को मांस देना 'मांस मांसकरं परम्' के अनुसार समानगुण-धर्मवाला होने के कारण 'सामान्यमेकत्वकरम्' अथवा सामान्यं वृद्धिकारणम् का एक सुलभ उदाहरण है। यह एकत्व भाषा में गुरुत्व के रूप में होने के कारण समानता के आधार पर मांस के समकक्ष हो जाता है और इसी हेतु मांस शरीर को पुष्ट करता है। दूसरी ओर 'विशेषस्तु पृथक्त्व कृत्' के अनुसार जहां दो में समानता नहीं होती है वहां सबल निर्बल को कष्ट देता है। इस प्रकार आयुर्वेद की सम्पूर्ण चिकित्सा का आधार सामने आ जाता है। बढ़े हुए वातादि दोषों के गुणों से विपरीत गुणधर्म वाले द्रव्य दोषों के प्रकोप को नष्ट करनेवाली औषध के प्रमुख घटक होते हैं (विपरीत गुणैर्द्रव्यैर्मारुतः संप्रशाम्यति—च०) इस प्रसग में 'ह्रासहेतु विशेष्यस्तु' के चारकीय उदाहरण चिरस्मरणीय हैं: विरुद्ध गुण सन्निपाते हि भूयसाल्पमवजीयते, तस्मात् तैलं वातं जयति, सर्पिः खल्ववमेव पित्तं जयति, माधुर्यात् शैत्यात् मन्दत्वाच्च, पित्तं ह्यमधुर मुष्णं तीक्ष्ण च, मधु च श्लेष्माणं जयति, रौक्ष्यात् तैक्ष्ण्यात् कषायत्वाच्च, श्लेष्मा हि स्निग्धो मन्दो गुरुश्च।

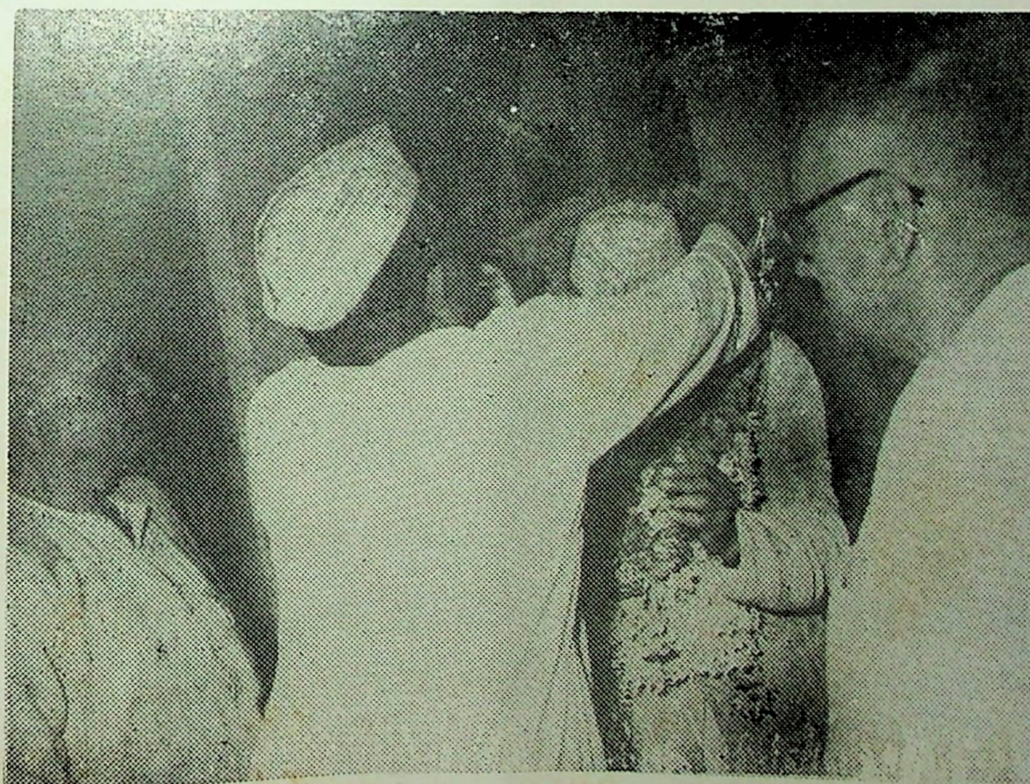
च० वि० ।१।१७

चिकित्सा में गुणगरिमा गहन है। वह चाहे चिकित्सा में प्रयुक्त द्रव्यों से सम्बन्धित हो अथवा दोष, धातु एवं मलों के गुणों से, इनके ज्ञान के बिना रोग-निवारण कार्य किया ही नहीं जा सकता है। मानव के स्वास्थ्य का प्रश्न हो अथवा अस्वास्थ्य का, दैनंदिन प्रयुज्यमान आहार का प्रश्न हो अथवा दिन, मास, संवत्सर या ऋतुकाल का प्रश्न हो चिकित्सा जगत् में गुण गौरव-गाथा की अपनी विशिष्ट प्रतिष्ठा है। शब्द, स्पर्शादि पांच वैशेषिक गुण, लघु, गुरु एवं पर-अपरादि बत्तीस सामान्य गुण और बुद्धि, स्मृति आदि छः आत्म गुणों का चिकित्सा में उपयोग विस्तारमय से यहां देना सम्भव नहीं है किन्तु इतना स्पष्ट है कि आयुर्वेदीय चिकित्सा के आधार-स्तम्भों में इनका अपना एक विशिष्ट स्थान है। द्रव्य, कर्म और समवाय का भी स्थानाभाव से यहां उल्लेख नहीं किया जा रहा है जिनकी उपयोगिता को लेकर सुधिजनों ने विशाल शास्त्र-रचना कर डाली है। उनके सम्बन्ध में कुछ पृष्ठों में वर्णन कर देना अनुपयुक्त ही-सा है।

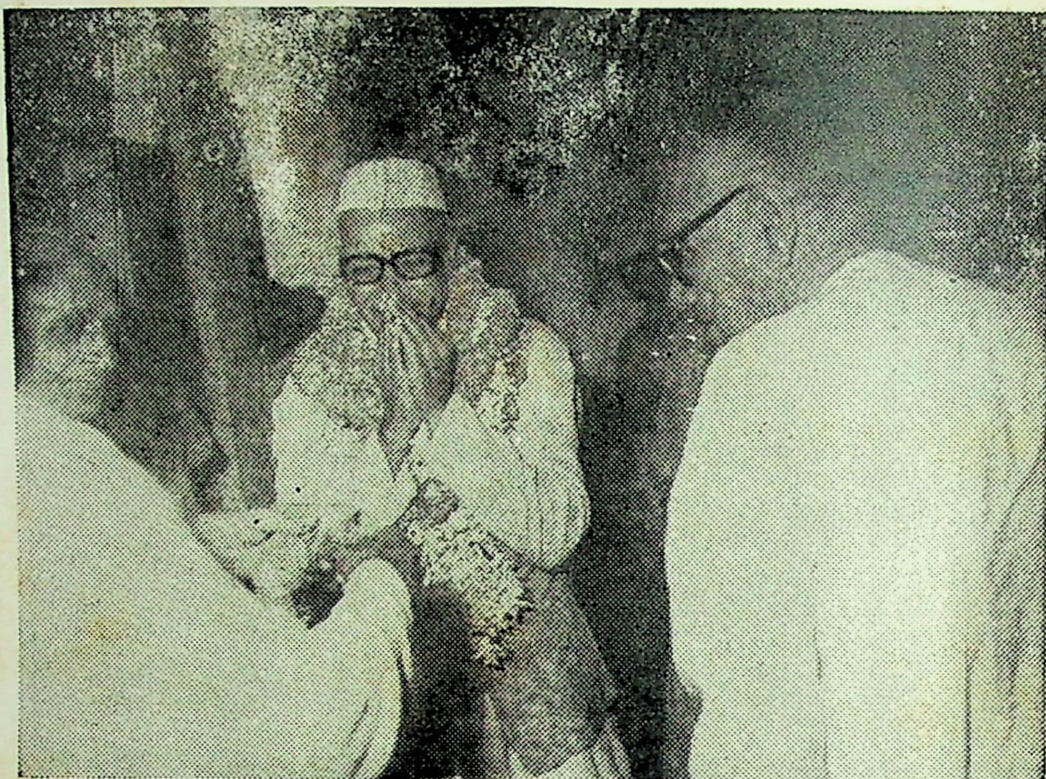
काल का कलाकालीय उल्लेख सम्भवतः आयुर्वेद के



आयुर्वेद-शिरोमणि, पं० दुर्गा प्रसाद शर्मा को उनकी दूसरी विदेश-यात्रा के अवसर पर माल्यदान करते हुए--वैद्यनाथ प्रतिष्ठान के कंट्रोलर ऑफ एकाउन्ट, श्री विद्यानाथ झा।



प्राणाचार्य पं० दुर्गा प्र० शर्मा को माल्यदान करते हुए—वैद्यनाथ प्रतिष्ठान के व्यवस्थापक, श्री माहेश्वर मिश्र



अपनी दूसरी विदेश-यात्रा के अवसर पर अभिवादन करते हुए—वैद्यरत्न पं० दुर्गा प्र० शर्मा।



बैद्यनाथ के पटना केन्द्र के प्रमुख अधिकारियों के साथ लिया गया एक समूह चित्र। प्राणाचार्य पं० दुर्गा प्र० शर्मा मध्य में पुष्पमालाओं से सुसज्जित दिखायी दे रहे हैं।

अतिरिक्त अन्य किसी चिकित्सा-पद्धति में नहीं है । संवत्सरात्मक और आतुरावस्थात्मक द्विविध काल जिसे चरक ने क्रमशः "नित्यग" और "आवस्थिक" नाम दिये हैं, तथा जिसकी डल्हण ने पांच-छः निरुक्तियां दी हैं, चिकित्सा-क्षेत्र में महत्वपूर्ण भाग अदा करता है । अयन भेद, ऋतु भेद, शीतोष्ण वर्षा भेद, मास भेद, पक्ष भेद अथवा ग्रह-रादि भेद का प्रश्न हो या बाल्य, यौवन एवं बार्धक्य का, चिकित्सा के लिए सभी को सभी प्रकार के समय को जानना आवश्यक है । दोषों का संचय, प्रकोप, प्रशमन काल के बिना सम्भव नहीं है ।

विभिन्न दिशाओं से आने वाली वायु के गुणों को ध्यान में रखते हुए "दिग्-ज्ञान" भी चिकित्सोपयोगी है । आधुनिकों का Eversion, Inversion दिशा पर कही तो है । Aduction तथा Alductive भी इसी श्रेणी की परिभाषाएं कही जा सकती हैं ।

आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्तों का चिकित्सा में उपयोग के इस प्रस्तुत प्रसंग में प्रधान रूप से स्तम्भभूत पंचमहाभूत एवं त्रिदोष की चर्चा के बिना यह अपूर्ण है ।

'सर्वं द्रव्यं पाञ्चभौतिक मस्मिन्नर्थे च' से स्पष्ट है कि सृष्टि मात्र पर पांच महाभूतों का कितना व्यापक प्रभाव है । स्वयं वात, पित्त और कफ भी इनसे पृथक् नहीं है । मानव शरीर का तो पचमहाभूतात्मक होना प्रसिद्ध है ही । इस सबका चिकित्सा में विशेष लाभ यह है कि 'क्षीणा बर्धयितव्याः, वृद्धाह्लासयितव्याः, समाः पालयितव्याः' च० के सिद्धान्त का पालन करते हुए आयुर्वेदिक चिकित्सक चिकित्सा-काल में शरीर में जिस महाभूत की कमी होती है उस गुणवाले द्रव्यों के सेवन से उसे पूरा करता है, बढ़े हुए के विपरीत गुण वाले द्रव्य के सेवन द्वारा उसे कम करता है और उचित मात्रा में देकर समता को बनाए रखता है ।

आयुर्वेदिक चिकित्सा में त्रिदोष सिद्धान्त की विशिष्ट महिमा है । यह अब तक के वर्णन से स्पष्ट है कि सत्व, रज, तम, पृथ्वी, जल, वायु, आकाश और वात, पित्त, कफ एक-दूसरे से इतने घुले-मिले हैं कि एक की दूसरे के बिना कल्पना भी नहीं की जा सकी । उपरोक्त वर्णन से सभी द्रव्यों की पाँचभौतिकता स्पष्ट है और 'सर्व भूतानां कारणम्, अकारणम्, सत्वरजस्तमो लक्षणम्, अष्टरूपम्, अखिलस्य जगतः संभवहेतुः अव्यक्तं नाम' सु० इससे सृष्टि मात्र की त्रिगुणात्मकता निःसन्देह है तथा 'वायु पित्तं कफश्चोक्तः शारीरोदोष संग्रह—च० एवं "विकृता अविकृता देहं ध्नंति ते वर्तयन्ति च" वा० । इससे और इसी तरह के अन्य अनेकों वर्णनों से विकृत-अविकृत वातादि की एकछत्रता ज्ञात होती है ।

इस प्रकार चिकित्सोपयोगी आयुर्वेद के मौलिक सिद्धांतों में आत्मा, मन, पञ्चमहाभूत, तन्मात्राएं और सत्व-रज-तम तथा वात-पित्त-कफ का अपना विशिष्ट स्थान है । उनके ज्ञान के बिना आयुर्वेद चिकित्सा सम्भव नहीं है । इनमें भी वात-पित्त-कफ के त्रिदोष सिद्धान्त का संक्षिप्त स्वरूप नितान्त वैज्ञानिक अतः सर्वग्राह्य है ।

वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयोदोषाः समासतः ।
विकृताऽविकृतादेहं ध्नन्ति ते वर्तयन्ति च ॥

वाग्भट :

आधुनिक तत्वों के वर्गीकरण के परिप्रेक्ष्य में पांचभौतिक-अवधारणा

डा० वेदप्रकाश शर्मा,
एम. ए., ए. एम. बी. एस., पी-एच. डी.
प्राध्यापक—राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान,
जयपुर

'सर्वं द्रव्यं पांच भौतिकमस्मिन्नर्थे' *i. e. world is Panch mahabhootatmak as accepted by Charkacharya. Modern scientists have accepted more than one hundred elements. The writer in this comparative study has shown that the theory of elements of modern scientists stands on the Ayurvedic theory of Panch Mahabhootas. This article is based on the ph. D. Thesis of the writer*—**Editor**

सृष्टि के आद्य तत्व के स्वरूप के बारे में वैदिक-दार्शनिक एवं वैज्ञानिक मान्यताओं में पर्याप्त विभेद हैं। अभिनव विज्ञान भी तत्व ज्ञान (तत्व के अन्तिम सत्य) के अनुसन्धान में निरन्तर प्रवृत्त है। भारतीय तथा पाश्चात्य दार्शनिक मान्यताओं के आधार पर किसी न किसी रूप में पृथ्वी आदि पंच-तत्वों को सृष्टि का मूल तत्व माना गया है। पंच महाभूतों का क्षेत्र परम व्यापक है। परमाणु से लेकर पर्वत पर्यन्त सभी द्रव्यों की उत्पत्ति पंच महाभूतों से होती है। भूत जगत की सभी चराचर वस्तुओं में व्याप्त होने से इनकी महाभूत संज्ञा है।—'महान्ति भूतानि महाभूतानि।'

१७वीं शताब्दी के मध्य में मूलतत्व के अन्वेषण के लिए वैज्ञानिक वृत्तियाँ जागृत हुईं जिनके परिणामतः दार्शनिक पक्ष गौण होता गया और रसायन तथा भौतिक विज्ञान की मान्यताओं को बल मिला।

वैज्ञानिक भौतिकवादी जगत में भी दार्शनिक मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में पंचमहाभूत-सिद्धांत के अनुरूप आधुनिक तत्वों (ELEMENTS) के वर्गीकरण का पर्यालोचन नितान्त अपेक्षित है। भारतीय पांच भौतिक-सिद्धान्त सूक्ष्म और व्यापक है जिसके ज्ञान एवं विशद विश्लेषण से अनेक वैज्ञानिक मान्यताओं को नई दिशा प्राप्त होने के साथ पाश्चात्य विज्ञान की अधूरी एवं कालांतर में परिवर्तनशील संज्ञायें भी इस अवधारणा से स्थिर हो सकती हैं। इससे अतीत के ज्ञान का वर्तमान में विकास एवं परीक्षण तथा दर्शन और विज्ञान का युगानुकूल व्यवहारोपयोगी प्रशस्त स्वरूप भी सम्भव है।

आधुनिक तत्वों के वर्गीकरण के परिवर्तनीय आधार

आधुनिक तत्वों का अत्यल्प समय में सुगम रूप से अध्ययन सम्भव रहने के उद्देश्य से इन्हें व्यवस्थित प्रकार से रखना आवश्यक समझा गया और तदर्थ वैज्ञानिकों का प्रयास निरन्तर हो रहा है। तथापि अद्यावधि वर्गीकरण का प्रशस्त आधारभूत सिद्धान्त ही निर्णीत नहीं हो सका है।

समान गुण और समान कार्य वाले तत्व एक ही वर्ग में रखते हुए तत्वों का वर्गीकरण उनके घनत्व-चमक-संचालकता आदि गुणों के आधार पर अनेक प्रकार से किया जाता रहा। महान रसायन-शास्त्री Robert Boyle (1627-91) ने सर्वप्रथम दार्शनिकों के चेतना-चेतन के द्वैत वर्गीकरण को न मानकर अनात्म रासायनिक तत्व (Chemical Element) का प्रतिपादन किया। प्रारम्भ में इन्हें 92 मौलिक तत्वों के रूप में व्यक्त करना आरम्भ किया, तत्पश्चात यह संख्या बढ़ते-बढ़ते शताधिक होकर 112 तत्वों तक पहुंच गयी है।

19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में मूलतत्वों के परमाणुओं के भार के बारे में वैज्ञानिकों में मतैक्य नहीं था, परन्तु सन 1860 ई० तक अनेक मूलतत्वों के परमाणु भार (Atomic Weight) निश्चित हो गये थे। इसी अनुक्रम से रासायनिक विभिन्न मूलतत्वों के पारस्परिक सम्बन्धों

का पता लगाकर उनका वर्गीकरण करने में लगे।

Prout (1815) ने परमाणुभार के आधार पर तत्वों के गुण माने परन्तु कुछ तत्वों के परमाणुभार पूर्णाङ्क के स्थान पर दशमलव (भिन्न) अंकों में भी आने के कारण प्राउट का यह प्रयास अमान्य सिद्ध हुआ। Dobereiner (1829) ने अपने 'त्रिक नियम' (Law of Triads) के आधार पर समान गुण वाले तत्वों को तीन-तीन के समूह में रखा और तीनों के बीच के तत्व का परमाणुभार अन्य दोनों के परमाणुभार का लगभग मध्यमान माना। तत्वों की बढ़ती हुई संख्या से यह नियम स्थिर नहीं रह सका। इंगलैंड के New Land (1863) ने परमाणुभार की गुरुता के रूप में तत्वों को परमाणुभार के अनुसार इस प्रकार क्रमबद्ध किया जिससे हर आठवां तत्व प्रथम तत्व से गुणों में समान हो और इसे अष्टक-नियम (Law of Octave) संज्ञा दी। यह नियम केवल 14 तत्वों के लिए तो लागू हो सका परन्तु Ca के पश्चात के तत्वों के लिए सार्थक सिद्ध नहीं हुआ। इससे कालांतर में परिज्ञात होने वाले तत्वों को वर्गीकृत किया जाना भी सम्भव नहीं था। 'रसायन के आधुनिक सिद्धान्त' पुस्तक के लेखक प्राध्यापक Lother Meyer (1830-1895) ने इस क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति की और 'वक्रनियम' (Law of Curve) प्रस्थापित किया। उक्त सभी प्रयास अधूरे तथा असफल सिद्ध होते गये।

वर्तमान में वर्गीकरण के अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से Mendeleef (1869) का आवर्त-संविभाग (Periodic Law) परिष्कृत और उपयोगी माना जाता है जिसमें से New Land के अष्टक नियम की उपेक्षा करके तत्वों को उनके भौतिक तथा रासायानिक गुणों के आधार पर परमाणुभार के वृद्धिक्रमानुसार 9 कौटुम्बिक वर्गों में विभक्त करते हुए तत्वों का स्थान निर्धारित किया गया है। यह आवर्त-संविभाग व्यावहारिक होते हुए भी दोषयुक्त पाया गया। आश्चर्य है कि आद्यतत्व Hydrogen की स्थिति भी इसमें स्पष्ट नहीं है। मैंडलीफ के आवर्त-संविभाग का अध्ययन करके Julliot Thomson ने यह मत निर्धारित किया कि इस संविभाग में एक ऐसे नये समूह का निर्माण करना आवश्यक होगा जिसमें 4,20,40,84,132 तथा 1222 परमाणुभार वाले तत्व भी हों। मैंडलीफ के संविभाग में इन तत्वों के लिए कोई स्थान नहीं था।

20वीं शताब्दी में आवर्त-सारणी में हुई गवेषणा से परमाणुभार का कोई महत्व नहीं रहा और मूल तत्वों के गुण उनके परमाणु क्रमांक (Atomic Number) पर माने जाने लगे। इस परम्परा में Moseley ने वर्गीकरण का आधार भी परमाणुभार को न मान कर परमाणु क्रमांक को ही माना। आगे चलकर प्रत्येक तत्व की स्थिति उसके इलेक्ट्रानीय विन्यास (Electronic Configuration) अर्थात् इलेक्ट्रान की क्रमिक रचना के आधार पर निश्चित की गई जिसमें तत्वों को परमाणुभार के 'वृद्धिक्रम' में न रख कर 'परमाणु' क्रमांक के वृद्धिक्रम में रखा गया। तत्वों के वर्गीकरण के अनुक्रम में Bohr (1913) ने दीर्घरूप (Long form or Extended form) प्रस्थापित किया। Bohr का यह सिद्धान्त Hydrogen तथा इसके समान अन्य परमाणुओं के लिए ही सही परिणाम देता है, इतर परमाणुओं में नहीं। अतः Bohr के उक्त अनुमान में कुछ परिवर्तन करते हुए Somerfeld ने सभी तत्वों को S P B और Inertgases (निष्क्रिय गैस)—इन 5 खंडों में वर्गीकृत किया।

पञ्चभौतिक अवधारणा

उक्त श्रृंखला से स्पष्ट प्रतीत होता है कि आधुनिक युग में अनेक वैज्ञानिकों के सतत प्रयास के पश्चात भी तत्वों के वर्गीकरण का कोई प्रशस्त स्वरूप सामने नहीं आ पाया। इस अस्थिर तथा परिवर्तनशील निर्णयों की स्थिति में विज्ञान को आर्ष सिद्धान्तों की कसौटी पर कसते हुए सत्य की प्रस्थापना किया जाना नितान्त अपेक्षित है। पंचमहाभूतविषयकआर्ष-ज्ञान-विज्ञान की पराकाष्ठा है और मेरी विनम्र मान्यता के अनुसार आधुनिक मूल तत्वों का प्रशस्त वर्गीकरण 'व्यपदेशस्तु भूयसा' सिद्धान्त से पार्थिव-आप्य आदि पांचभौतिक रूप से किया जा सकता है। भूतों की अंशांश कल्पना या भूतोत्कर्षापकर्ष के आधार पर इन तत्वों का अन्तर्भाव प्राच्य महाभूतों में हो जाता है। 'भूतोत्कर्षापकर्ष विशेष से इनमें वैषम्य है—('भूतोत्कर्षापकर्ष विशेषाद् द्रव्य वैषम्यम्'—रसवैशैषिक सूत्र 9/98)' पंचमहाभूतों के सम्मिश्रण या उपकार से कार्यद्रव्य असंख्य हैं। इन कार्य-द्रव्यों की उत्पत्ति में पृथ्वी-अधिष्ठानभूत-आश्रयभूत; अप्-योनी रूप (पार्थिव अणुओं को मिलाने वाला); अग्नि-परिपाकक्रिया द्वारा काठिन्य एवं रूप उत्पन्न

करने वाला; वायु-पार्थिव अणुओं में क्रिया उत्पन्न करने वाला और आकाश अणुओं के अन्तराल में अवकाशदान करने वाला है।

पांचभौतिक वर्गीकरण

सृष्टि के समस्त द्रव्यों का अस्तित्व ठोस-द्रव और गैस के स्वरूप में है तथा पंचतत्वों के दृष्टिकोण से इनका मूलतत्व क्रमशः पृथ्वी, अप् और वायु है। समस्त विश्व पंचमहाभूतों का विस्तार होने से महाभूतों के अनुरूप पंचमहाभूतों के गुण और लक्षण पाये जाते हैं। पृथ्वी आदि भूत 'द्रव्य' हैं तथा गुण और कर्म का आश्रय होने से प्रत्येक भूत में गुण का होना स्वतः सिद्ध है। प्रत्येक गुण प्रत्येक भूत में नहीं रहता अन्यथा पृथ्वी आदि का विभेद सर्वथा असम्भव था। कारण में विद्यमान गुण कार्य में अवश्यमेव हैं—'कारणभावात् कार्यभावः' (वैशेषिक दर्शन 4/1/3) परिणामतः आधुनिक तत्व कार्य द्रव्य हैं, कारण द्रव्य नहीं।

पंचमहाभूतों के शब्दादि नैसर्गिक **गुण-स्पर्शनेन्द्रिय** ग्राह्य खरत्वादि भौतिक गुण[1] (Tactile or Specific Physical Qualities) वैशेषिक दर्शनोक्त चतुर्विंशति तथा चरक संहिता में प्रतिपादित प्रजातीय गुण - धर्म के आधार पर तत्वों का पांचभौतिक वर्गीकरण नितान्त व्यावहारिक एवं सर्वथा निर्दुष्ट सिद्ध हो सकता है। उदाहरणार्थ d Block के सभी (3) तत्व गुरु अधिक घनत्व एवं कठोर होने से **पार्थिव** सीजियम (55), जेलियम (31) **द्रव** होने से **आप्य**। अप्रिय गन्धयुक्त ब्रोमीन (35) तथा गुरुत्वाधिक्य युक्त मरकरी (80) **पार्थिव एवं आप्य**।

वर्ग I B के सभी धातु तथा 15 फास्फोरस (Phos= प्रकाश और ज्वलनशील होने से) एवं बेरियम (4) **आग्नेय** हैं। हीलीय (2), निऑन (10), आर्गन (18), क्रिपटान (36), जिनान (54), रेडान (86) ये निष्क्रिय गैसें (Inert Gases) गन्ध, रस और रूप रहित होने से[1] तथा VII A में हाइड्रोजन (1), फ्लोरिन (9), क्लोरीन (17), एस्टेनीन (85), लिथियम (3), फ्लेडियम (87, अत्यन्त क्रियाशील होने से) **वायवीय** हैं।

वैशेषिक गुण के आधार पर गन्ध भूयिष्ठ तत्व पार्थिव और स्नेह भूयिष्ठ आप्य में समाविष्ट किए जा सकते हैं।

वैदिक विवेचन से भी 'हाइड्रोजन' आग्नेय और आप्य प्रतीत होते हैं। 'अग्नीथो मात्मकं जगत्' की मान्यता से हाइड्रोजन के अग्नि + सोम गुण युक्त होने के कारण ही हाइड्रोजन को 'आद्यतत्व' मानते हुए अन्य सभी तत्वों की इससे निष्पत्ति मानी जाती है। हाइड्रोजन की Hydro= पानी और Gen = जन्म देने वाला—इस व्युत्पत्ति से[2] अग्नि के पश्चात् अप् की उत्पत्ति होना विज्ञानसम्मत भी है। Oxygen आग्नेय है और पवमाग्नि (Oxygen) का अन्त (Hydrogen) में प्रविष्ट होना श्रुति में वर्णित है।

समन्वय बुद्धि की दृष्टि से समासेन कर सकते हैं कि आधुनिक तत्वों में से—

स्थूलत्वविहीन, विश्वव्यापी **अवकाश-युक्त**-नाभस वाष्प विद्या रूप—वायवीय ज्वलनशील और ऊर्ध्वगामी स्वभाव आग्नेय।

द्रव रूप—आप्य घन रूप—पार्थिव के अन्तर्गत वर्गीकृत किये जा सकते हैं।

शब्दादि तन्मात्र 5 की संख्या में सीमित हैं; इनका अतिक्रमण कदापि सम्भव नहीं है। इस नियत सख्या वाले 5 तन्मात्र संज्ञयक 'अविशेष' से 'विशेष या पांचो महाभूत' क्रमशः अभिव्यक्त हुए हैं। ज्ञान के द्वार या इन्द्रियाँ 5 होने से 5 प्रकार की प्रतीति या बाह्य विषयों का ज्ञान सम्भव है। विश्व में इन 5 के अतिरिक्त अन्य किसी छठे तन्मात्र या इन्द्रियार्थ के स्वरूप का अनुमान ही नहीं होता। इसी पृष्ठभूमि में शताधिक आधुनिक मूल तत्वों का पाँच भौतिक वर्गीकरण एक परिष्कृत परिकल्पना मेरी मान्यता से है।

आणविक-अनुसन्धान के बाद मूलतत्वों की मान्यता की विचार-शृंखला में नितान्त परिवर्तन होता जा रहा है और सम्भव है यह विचारधारा शतातिक मूलतत्वों के स्थान पर भारतीय तत्वों के अनुरूप मूलभूत किन्हीं प्रमुख 5 सूक्ष्मकणों पर ही प्रतिष्ठित हो जाए और तदनुसार तत्वों का पाँचभौतिक वर्गीकरण सर्वसम्मत बन सके।

इदं विश्वं जगत् सर्वजय्यं चापि सर्वशः।
महाभूतात्मकं ब्रह्म नात। परतरं भवेत्॥
—महाभारत, वन २१०।१९

---

1. खरद्रवचलोष्णत्वं भूजलानिलतेजसाम्।
आकाशस्याऽप्रतीघातो दृष्टं लिङ्ग यथाक्रमम्॥
चरक शा० 1/29

ग्रन्ध रस रूप रहित स्पर्शवान वायु :—
वैशेषिक 2/1/4



पाषाणभेद परिज्ञान

डा० योगीन्द्रनाथ शर्मा,
बी. ए. एम. एस. (वाराणसेय सं० विश्वविद्यालय)
चिकित्साधिकारी
राजकीय आयुर्वेदिक चिकित्सालय गनाई गंगोली,
पिथौरागढ़ (उ० प्र०)

उद्देश्य :— आयुर्वेद के विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित वनौषधियों में असंदिग्ध वनस्पतियों के प्रयोग करने में आज जो समस्याएँ सामने आ रही हैं वे सर्वविदित हैं। यह समस्या वहां कठिनतम तथा दुष्परिणामकारी बन जाती है, जबकि नित्य व्यवहार में उपयोग होनेवाली औषधियां भी सही रूप में नहीं मिल पाती हैं, पाषाण भेद भी एक ऐसी ही विवादग्रस्त वनौषधि है। अतः प्रस्तुत लेख में इस औषधि से सम्बन्धित प्रमुख समस्याएं जिनमें द्रव्य की शास्त्रोक्त उपयोगिता सम्मिलित है, का चित्रण किया जाना उपयोगी समझा गया।

पाषाणभेद का प्राचीन ज्ञान

आयुर्वेदीय प्राचीन साहित्य, विशेषतः द्रव्यगुण विज्ञान एवं रसशास्त्र भैषज्य-कल्पना-सम्बन्धी उपलब्ध ग्रन्थों के सामान्य सर्वेक्षण से पाषाण भेद के प्राचीनतम महत्व की ऐतिहासिक-साहित्यिक प्रमाणों द्वारा भली प्रकार पुष्टि हो जाती है। संक्षेप में वैदिक साहित्य (चतुर्वेद एवं उनके व्याख्याता ब्राह्मण ग्रन्थ) में पाषाणभेद का (औषधि रूप में) उल्लेख नहीं है। रामायण एवं महाभारत में भी इस प्रकार के द्रव्य का उल्लेख (उपलब्ध शोधकार्यों के आधार पर) प्राप्त नहीं हुआ। आयुर्वेद की स्वतन्त्र परम्परा के प्रतीक संहिता काल में पाषाणभेद का औषधि प्रयोग सर्वप्रथम चरक संहिता में किया गया है। इसी भांति सुश्रुत सहिता एवं अष्टांग-हृदय में इसी परम्परा का अनुसरण हुआ है।

नाम	चरक संहिता	सुश्रुत संहिता	अष्टांग हृदय
(1) अश्ममित	चि० 26-46,66,	सि० 8-13 चि० 7-9 उ० 59-17	शा० 1-14
(2) अश्मभेद	चि० 26-64,66,	सि० 3-65 चि० 38-67 उ० 58-47	सू० 15-24 चि० 8.146
(3) अश्मभेदक	सू० 23-15, सि० 9-8	चि० 29-73, सू० 38-12,39-7	चि० 14-19
(4) पाषाणभेद	सू० 4-15 35,	चि० 26-60 चि० 7-5	चि० 11-18
(5) पाषाणभेदक		सू० 42-11	—

संग्रहकाल में यह उल्लेखनीय है कि इस औषधि के प्रयोग में सामायिक आवश्यकता तथा ग्रन्थों के विषय-क्षेत्र के अनुसार पर्याप्त वृद्धि हुई, जिसके फलस्वरूप भैषज (ज्य) कल्पना एवं चिकित्सा-सम्बन्धी ग्रन्थों में पाषाण भेद को स्वतन्त्र अथवा औषधि योगों में अनेक स्थलों में इसका प्रयोग बताया गया है एवं अन्य औषधियों की भांति गुण-कर्म एवं अन्य पक्षों का वर्णन द्रव्यगुण विज्ञान की दृष्टि से पाषाणभेद को प्राचीन निघण्टुओं में समावेश किया गया है।

पाषाणभेद की उपयोगिता

उपरोक्त ऐतिहासिक समीक्षा पाषाणभेद की आयुर्वेदिक उपयोगिता एवं महत्व को प्रतिपादित करने में पर्याप्त सहायक है। औषधि उपयोगिता के आधारभूत घटक-रस-गुण आदि की दृष्टि से प्रमुख शास्त्रीय ग्रन्थों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि चरक एवं सुश्रुत संहिता में इसे कषाय रसयुक्त कहा गया है एवं इसके गुण, वीर्य तथा विपाक का स्पष्ट निर्देश नहीं हैं जबकि अष्टांग हृदय में इन तीनों कार्मुक घटकों का अभाव है। परन्तु इन संहिताओं में (अष्टांग हृदय को छोड़कर) इस औषधि को वातघ्न लिखा है। निघण्टुओं में भाव-प्रकाश निघंटु एवं कैयदेव निघण्टु ने इसे कषाय तिक्त प्रधान द्रव्य कहा है जबकि राज निघण्टु ने मधुर तिक्त रसयुक्त वर्णन किया है। इसके साथ ही मदनपाल निघण्टु में पाषाणभेद को केवल तिक्त रस बताया है। गुणों की दृष्टि से केवल भाव प्रकाश ही उल्लेखनीय है जिसमें इसके लघुतीक्ष्ण गुण का निर्देश है। विपाक का प्राचीन निघण्टुओं में स्पष्ट उल्लेख नहीं हैं (अभिनव द्रव्य-गुण के ग्रन्थों के अनुसार यह कटु विपाकी है)। धन्वन्तरि निघण्टु के अनुसार यह त्रिदोषनाशक तथा भावमिश्र के मत से यह वातरक्त-शामक है। चरकोक्त दोष प्रभाव-वातघ्न-का सोढल निघण्टु द्वारा अनुकरण किया गया है।

पाषाणभेद का कर्म चरक, सुश्रुत एवं वाग्भट्ट ने इसे मूत्र और अश्मरीघ्न निर्देश किया है। निघण्टुओं में बस्ति शोधन एवं मलभेदन कर्म भी बताये गये हैं। संहिताकारों द्वारा निर्दिष्ट कर्मों को निघण्टुओं में वर्णित पाषाण-भेद के रोगनाशकत्व में पर्याप्त स्थान मिला है और इसे मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी, बस्तिरोग, प्रमेह, बस्तिपीड़ा जैसे रोगों में उपयोगी बताया गया है। अन्य रोगों, यथा शूल, प्लीहा, अर्श, गुल्म, दाह, अतिसार, योनिरोग एवं व्रण आदि में भी इसका प्रयोग निर्दिष्ट है।

पाषाणभेद का चिकित्सा में विभिन्न रोगों के उपचार हेतु अधिकाधिक प्रयोग किया गया है। इसके एकौषधि प्रयोग तथा संयुक्तयोग दोनों ही प्रकार के प्रयोग शास्त्र में निर्दिष्ट हैं। संहिता ग्रन्थों तथा व्यावहारिक चिकित्सा की दृष्टि से प्रमुख ग्रन्थों के सर्वेक्षण से कई औषधियोग प्राप्त हुए हैं जिनको एक तालिका में प्रदर्शित किया गया है। इस प्रकार अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र, बस्तिरोग तथा अन्य मूत्रवहस्रोतस से सम्बन्धित रोगों की चिकित्सा में पाषाणभेद के महत्व एव उसके औषधि-निर्माण में निरन्तर प्रयोग की पुष्टि हो जाती है।

तालिका : संयुक्त योग (कल्पनायें)

	योग	मुख्य रोग निर्देश	संदर्भ
1.	अश्मरी रोग पथ्य द्रव्य	अश्मरी	भै० र० चि० 36-70
2.	एलादिक्वाथ	अश्मरी मधुमेह मूत्रकृच्छ्र	भै० र० चि० 36-10
3.	एलादि चूर्ण (यो० र०)	मूत्रकृच्छ्र	भै० र० चि० 34-33
4.	एलादि क्वाथ	मधुमेह, अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र	चक्र० 34-13
5.	एलादि चूर्ण	मूत्र कृच्छ्र	चक्र० 32-24
6.	एलादि क्वाथ	अश्मरी, शर्करा, मूत्रकृच्छ्र	शारंगधर मध्यम 2-10
7.	कुशाद्य घृत	पित्तज अश्मरी	चक्र० चि० 34-14 भै० र० चि ०प्र० 36-56-61
8.	गोधावती प्रयोग	मूत्रकृच्छ्र	भै० र० चि० प्र० 35-10

योग		मुख्य रोग निर्देश	सन्दर्भ
9.	दशमूलाद्य घृत	वातज अश्मरी	अ० हृ० चि० 11-18-30
		मूत्राघात, अपस्मार, उन्माद,	अ० हृ० चि 14-23,20
		गर, वातरोग, ग्रन्थियुक्त,	अ० हृ० शा० 1-23-24
		रजवीर्य दोष	
10.	दुरालभादि क्वाथ	मूत्रकृच्छ्र, विबन्ध, वातशूल	भै० र० चि० प्र० 34
11.	नागरादिक्वाथ	अश्मरी	चक्रदत्त चि० 34-27
12.	पाषाणभेदाद्यघृत	वातज अश्मरी	च० द० 3-34,8-8-10
13	पाषाणभेदाद्य चूर्ण	अश्मरी	चक्र० चि० 34-36
14.	पाषाणभेदादिक्वाथ	मूत्रकृच्छ	भै० र० चि० प्र० 34
15.	पाषाणभेदादिघृत	वातिक अश्मरी	भै० र० चि० प्र० 36-44
16.	पाषाणभेदादिचूर्ण	मूत्राश्मरी रोग	च० चि० 26-60,61
17.	पाषाणभेदादिचूर्ण,	मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी तथा	सू० सू० 29-7,38-22-23
	क्वाथ, घृत एवं विविध	वात विकार	चि० 7-5-7,9-13
	कल्पनायें।		उ० 59-17,18
18.	पुनर्नवादिमिश्रक स्नेह	वातज मूत्रकृच्छ्र	चा० चि० 26-46
19.	बृहद गोक्षुराद्यवलेह	अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र, प्रमेह आदि	भै० र० चि० प्र० 36-23-33
20.	भावाहघृत	मूत्राघात, अश्मरी, प्रमेह	भै० र० चि० प्र० 35-38-42
21.	वक्षणादिक्वाथ	अश्मरी, मूत्रशर्करा	चक्र० 34-29
22.	वंशत्वादिक्वाथ	कोष्ठाश्रित	चक्र० चि० 44-8
23.	वीरतर्वादिगण	अश्मरी, मूत्राघात, मूत्रकृच्छ्र	भै० र० चि० प्र० 36-12-14
		मधुमेह आदि	
24.	विदारीघृत	पैत्तिक मूत्राघात, मूत्रकृच्छ्र, शर्करा,	भै० र० चि० प्र० 35-26-36
		अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र, उरक्षत,	
		राज्यक्ष्मा आदि	
25.	शुष्ठ्यादिक्वाथ	अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र, वातरोग	चक्र० 34-5,6,7
26.	शिलोदि भद्रादितेल	मूत्रकृच्छ्र	भै० र० चि० प्र० 35-49
27.	हरीतक्यादिक्वाथ	मूत्रकृच्छ्र, विष्टम	शा० म० अ० 2
			भै० र० चि० 34
28.	त्रिकण्टकादिक्वाथ	अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र	भै० र० चि० प्र० 34
29.	क्षीर कल्पना		सु० उ० 58-37
30.	कुष्ठादिचूर्ण	मूत्रकृच्छ प्रमेह	च० सू० 13-15-26
			अन्य योग विभिन्न रोगों में
			प्रयुक्त—चि० 26-64,65,26-
			72-75, सि० 9-8
31.	त्रिकण्टकादिक्वाथ	अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र	चक्र० 32-22

पाषाणभेद के प्रयोग में समस्या

पाषाणभेद की शास्त्रोक्त उपयोगिता तथा व्यावहारिक प्रचलन के दृष्टिकोण से वर्तमान रूप में सबसे महत्वपूर्ण समस्या सही वनौषधि के प्रयोग की है । वस्तुस्थिति यह देखी जाती है कि पाषाणभेद का एकौषधि के रूप में चिकित्सकों द्वारा स्वयं प्रयोग करने अथवा चिकित्सक के निर्देशानुसार रोगी को प्रयोग करने की स्थिति हो या औषधि - निर्माणशालाओं में पाषाणभेद से सम्बन्धित औषधि योगों के निर्माण का प्रश्न हो, विभिन्न प्रदेशों में एक ही शास्त्रोक्त औषधि पाषाणभेद—के लिए अनेक वनस्पतियों को वास्तविक औषधि मानकर अथवा उसके प्रतिनिधि रूप में खुले रूप में प्रयोग किया जा रहा है। अत: यह स्वयं प्रकट है कि मूत्रवहस्रोतस सम्बन्धित व्याधियों की एक अत्यन्त लाभकारी औषधि का जब प्रयोग होता है तब बिना किसी एकरूपता तथा मानदण्ड के किसी भी अधिक या न्यून गुणकारी वनस्पति का प्रयोग किया जाता है । पाषाणभेद परिज्ञान में यही पक्ष आज विचारणीय है ।

पाषाणभेद का शास्त्रीय परिचय

चूंकि आयुर्वेदीय वाङ्मय में वनस्पतियों के परिचयात्मक पक्ष को सूत्र रूप में वर्णित किया गया है और वर्तमान साधन-सुविधाओं की दृष्टि से वह अपर्याप्त भी बताया जाता है, परन्तु वनस्पतियों के निरूपण की प्राचीन शैली में ऐसे कई महत्वपूर्ण संकेत दिये गये हैं जिनसे वनस्पति की प्रमुख संरचना तथा अन्य सम्बन्धित जानकारी को वर्तमान जिज्ञासा के अनुसार खोजने में एक दिशा मिलती है। पाषाणभेद के विषय में ऐसी ही स्थिति देखने में आती है ।

जहां तक पाषाणभेद के शास्त्र में वर्णित स्वरूप का प्रश्न है, उसका कार्मुकत्व एवं वानस्पतिक स्वरूप ही दो आधारभूत पक्ष हैं । कार्मुकत्व के अन्तर्गत रस, गुण, वीर्य, विपाक, कर्म तथा व्याधि शामकत्व का निर्देश पहले किया जा चुका है । जिससे इस औषधि की अश्मरी जैसे रोगों में उपयोगिता बतायी गयी है अर्थात् वास्तविक पाषाणभेद ही होना चाहिए जो शास्त्र द्वारा प्रतिपादित रोगनाशक क्षमता में समर्थ हो । दूसरा पक्ष-वानस्पतिक स्वरूप को संकेत करने वाली शास्त्रीय सामग्री का है जिसके अन्तर्गत पाषाणभेद की संस्कृत नामावली एवं उनकी व्याख्यायें समाविष्ट हैं ।

संहिता ग्रन्थों में पाषाणभेद के कई पर्यायों का उल्लेख मिलता है । उदाहरण के लिए चरक संहिता में पाषाणभेद अश्मभित, अश्मभेद तथा अश्मभेदक (चि० 26-46,66,64 60, सि० 8-13,9,18,3,65, सू० 4-15,35,23,15) इसी प्रकार सुश्रुत संहिता में पांच पर्यायों का उल्लेख मिलता है । (सू० 38-12,39-7 चि० 7-5,9,38-67, उ० 58-47) जिसमें पाषाणभेदक शब्द (सू० 42-11) का निर्देश सम्मिलित है । अष्टांग-हृदय में चरकोक्त परम्परा का अनुसरण प्रतीत होता है अर्थात् वाग्भट ने पाषाणभेद के लिए 4 नामों का प्रयोग किया है (सू० 15-24, चि० 8-146, 11-18,19, सि० 1-14) ।

संहिताकालीन पाषाणभेद के पांच पर्यायों के व्युत्पत्तिपरक अध्ययन से एक सामान्य तथ्य सामने आता है कि पाषाण या अश्म को भेदन करने वाली औषधि ही पाषाणभेद है तथा पाषाणभेदन की प्रक्रिया दो प्रकार से सम्पन्न हो सकती है—प्रथम रुग्ण शरीर में पाषाण रूप अश्मरी को खंडित कर मूत्र मार्ग से निष्कासित करके तथा द्वितीय, विशिष्ट प्रकार की भूमि में वनस्पति की उत्पत्ति या स्फुटन के कारण पाषाणमयी भूमि के प्रतीकात्मक भेदन के रूप में । निघण्टुओं में दिये गये पाषाणभेद के वर्णन में पर्यायों की दृष्टि से उल्लेखनीय परिवर्धन हुआ है। धन्वन्तरि निघंटु में पाषाणभेद के आठ पर्यायों का समावेश हुआ है—पाषाणभेदक अश्मघ्न, शिलाभेद, अश्मभेदक, उपलभेद, नगभेद एवं अश्मजित । राजनिघण्टु में केवल सात पर्यायों का ही उल्लेख है । कैयदेव निघंटु में कुछ नये नामों का निर्देश है यथा नगभेदक, वृषदभेद, प्रस्तर, अश्महृ, अश्मरीभेदन । इसी प्रकार राजनिघंटु में भी गिरिभित, शिलामरमर, श्वेता, नगजित । शालीग्राम निघंटु में समाविष्ट-शैलगर्भज नाम ही उल्लेखनीय है । भाव-प्रकाश निघंटु में पाषाणभेद के सामान्यत: जो नाम अन्य निघण्टुओंकी भांति दिये गये हैं उनमें भिन्नयोजनी पर्याय अभिनव प्रयोग है (भा० प्र०, हरीतक्यादि वर्ग, 175-177) । अन्य प्रमुख निघण्टुओं के विषय में यह देखा जाता है कि पाषाणभेद के लिये प्रयुक्त प्रधान पर्यायों, जिनका निर्देश, अभी किया जा चुका है, का प्रयोग सामान्यरूपेण किया गया है ।

आयुर्वेदीय द्रव्य नामकरण विशेषत: राजनिघण्टु

द्वारा प्रतिपादित नाम रचना हेतु आधार-भूत तत्वों के प्रकाश में पाषाणभेद की शास्त्रीय पर्यायों की नामावली का मूल्यांकन किया जाना औषधि के शास्त्र में निरूपित स्वरूप को समझने में सहायक होगा। इस दृष्टि से वस्तुतः पाषाण, शिला, नग, अश्म, प्रस्तर जैसे शब्दों का औषधि की नामावली में प्रयोग पत्थरों के साथ उत्पन्न होने या उसको भेदन-करने के अर्थ को प्रकट करते हैं, जो उत्पत्ति, स्थान, कर्म तथा स्वरूप-नामकरण के तीनों तत्वों के न्यूनाधिक द्योतक हैं। इसके पर्यायों का अधिकांश भाग इसी प्रकार का संज्ञा-बोधक है, जो एक या दो प्रकार के सामान्य अर्थ को प्रकट करते हैं।

पाषाणभेद के स्वरूप प्रतिपादन में निघण्टुकारों का महत्वपूर्ण योगदान औषधि के भेदों का वर्णन है, जिसमें धन्वन्तरि तथा राजनिघण्टु उल्लेखनीय हैं (धन्वन्तरि, गुडूच्यादिवर्ग, तथा राज पटिकादिवग) पाषाणभेद की तीन जातियों का निर्देश किया गया है—वटपत्री, शिला-वल्क एवं क्षुद्रपाषाणभेद। इनके पृथक्-पृथक् पर्यायों की भी रचना की गयी है और इन जातियों के कुछ विशिष्ट गुणकर्मों का भी उल्लेख राजनिघण्टुकार ने किया है। इस परम्परा का अनुसरण कई निघण्टुओं में उपलब्ध होता है।

पाषाणभेद का व्यावहारिक प्रचलन

पाषाणभेद के शास्त्रीय स्वरूप के प्रस्तुतीकरण के पश्चात् इस औषधि के नाम पर वास्तविक औषधि या प्रतिनिधि के रूप में प्रचलित विभिन्न वानस्पतिक द्रव्यों का निर्देश करना पाषाणभेद परिज्ञान का आवश्यक अंश है। द्रव्यगुणविज्ञान के प्रमुख ग्रन्थों, अन्य सम्बन्धित साहित्य तथा उपलब्ध सूचनाओं के आधार पर यह जानकारी संक्षेप में संकलित की गयी है।

क्रमांक	वनस्पति के नाम	स्वरूप	आयुर्वेदीय या स्थानीय नाम
1.	कोलियस एरोमेटिक्स	क्षुप	पाथरचूर्ण, पर्णयवानी
2.	केलेन्चोय पिन्नेटा	क्षुप	पथरचटा, घावपत्ता, पर्णबीज
3.	आवरिस सूडोकोरस	क्षुप	हेमवती वचा जाति
4.	एरवा लेनेटा	क्षुप	गोरख गांजी
5.	वर्जीनिया लिग्युलेटा	क्षुप	पाषाणभेद
6.	होमोनियारायपेरिया	सदाहरित गुल्म	पाषाणभेद
7.	रोटुला एकवारिका	क्षुप-गुल्मक	पाषाणभेद
8.	ओसियम वेसिलिकम्	क्षुप	तुलसी
9.	लाइनेरिया रेमासिसिमा	क्षुप-प्रसारी	
10.	जेंशियाना ल्युदिया	क्षुपक	
11.	बाडहिनिया वेरीगेटा	मध्यमाकार वृक्ष	अश्मन्तक

इस तालिका के अन्तिम कालम में जो नाम दिये गये हैं, वे शास्त्रीय उल्लेख द्वारा प्रमाणित, व्यवहार में प्रचलित अथवा आधुनिक ग्रन्थों के वर्णन पर आधारित हैं। उक्त प्रतिनिधि द्रव्यों की एक-एक करके व्याख्या तथा वास्तविक पाषाणभेद की दृष्टि से समीक्षा करना एक विस्तृत कार्य है। द्रव्यगुण विज्ञानीय साहित्य में विद्वान लेखकों ने कुछ वानस्पतिक द्रव्यों पर (तथा अन्य शोध-सम्बन्धी प्रकाशनों में भी) न्यूनाधिक प्रकाश डाला गया है तथा कुछ द्रव्य नाम से अपना परिचय प्रकट करते हैं। विद्वानों की धारा चिकित्सा में व्यवहार तथा शास्त्रोक्त स्वरूप आदि की दृष्टि से वर्जीनिया लिग्युलेटा (पूर्वनामः सेक्सिफ्रेगा लिग्यु-लेटा) ही सर्वाधिक उपयुक्त वनस्पति है, जो कि विशेषतः वटपत्री पाषाणभेद से साम्य रखती है।

पाषाणभेद

वर्जीनिया लिग्युलेटा (प्राकृतिक कुल: सेक्सिफ्रेगेसी) का छोटा बहु वर्षायुक्षुप होता है। यह पर्वतों की चट्टानों तथा उनकी दरारों के बीच से विशेषत: निकलता है, जो कि पाषाणभेद नामक उत्पत्ति - स्थान या स्वरूप वाचक संज्ञा से सम्बद्ध है। क्षुप का कांड स्थूल, छोटा तथा मांसल होता है। पत्र गोलाकर 3 से 5" लम्बे, चौड़े, कुछ मांसल-दन्तुर तथा ऊपरी पृष्ठ हरिताभ तथा निचला पृष्ठ रक्ताभ या चमकीला, एक साथ तीन या चार पत्र होते हैं, जिनके ऊपर मृदु या तीक्ष्ण रोम रहते हैं। पुष्प श्वेत, गुलाबी या नीलाभवर्ण के, व्यास 3.2 से० मी०, जो 10-25 से० मी० दीर्घ वृत्त पर लगे रहते हैं। फल कृष्णाभ, रक्त वर्ण के गोलाकार तथा छोटे रहते हैं, जिसमें सूक्ष्म बीज होते हैं। मूल रक्ताभ वर्ण का होता है, और यही औषधि में प्रयोज्यांग है। वनस्पति-शास्त्र के ग्रन्थों में इसकी उत्पत्ति स्थान के वर्णन में कई स्थानों का उल्लेख किया जाता है, जिनका अभिप्राय हिमालय प्रदेश तथा पर्वतीय स्थानों पर ऊँचाई वाले स्थानों से है, जो हिमाच्छादित रहते हैं।

इस प्रकार पाषाणभेद की आयुर्वेदीय उपयोगिता, शास्त्र-सम्मत स्वरूप एव व्यवहार में प्रचलित विभिन्न वानस्पतिक द्रव्यों के सामूहिक तथा यथाशक्य तुलनात्मक अध्ययन से उक्त वनस्पति के अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग की स्थिति सामने आती है। नि:सन्देह अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र जैसे रोगों की चिकित्सा में अति लाभकारी पाषाणभेद का प्रयोग वानस्पतिक सन्देहों के बिना तथा वास्तविक प्रामाणिक पाषाणभेद का मूल, जिनमें किसी प्रकार के समान रचना वाले मूलों का अपमिश्रण न हो, तो शास्त्रोक्त औषध क्रिया की फल प्राप्ति चिकित्सा के प्रसंग में अवश्य देखी जा सकती है।

धन्यवाद-प्रदर्शन

निदेशक, आयुर्वेदिक एवं यूनानी सेवा निदेशक, उत्तर प्रदेश (लखनऊ) तथा क्षेत्रीय आयुर्वेदिक एवं यूनानीअधिकारी पिथौरागढ़ (उ० प्र०) के प्रति कृतज्ञ हूँ। तथा निर्देशन हेतु आचार्य प्रवर डॉ० ज्ञानेन्द्र पाण्डेय—एच० पी० ए०, पी० एच० डी० प्रभारी अधिकारी, क्षेत्रीय आयुर्वेद अनुसन्धान केन्द्र, जोगिन्दरनगर (हिमाचल प्रदेश) का आभार प्रदर्शन करता हूँ।

प्रस्तुत विषय पर लेख लिखने की प्रेरणा हेतु मैं अपने गुरुवर्य आचार्य प्रवर पं० विश्वनाथ जी द्विवेदी के प्रति अत्यंत कृतज्ञ हूँ।

आधार ग्रन्थ

मूल ग्रन्थ

1. बृहत्त्रयी (चरक, सुश्रुत एवं वाग्भट)
2. निघंटु—धन्वन्तरि निघंटु, राजनिघंटु, शोढलनिघण्टु, शालिग्रामनिघण्टु, कैयदेव निघण्टु, भावप्रकाशनिघण्टु, मदनपालनिघण्टु।
3. संग्रहग्रन्थ—भैषज्यरत्नावली, योगरत्नाकर, चक्रदत्त, शारंगधर संहिता।
4. कोश—अमर कोष।

नवीन ग्रन्थ :—

1. द्रव्यगुण विज्ञान (प्रियव्रत शर्मा)
2. ग्लौसरी आफ इण्डियन मेडिसिनल प्लाण्ट्स आर० एन० चोपड़ा।
3. आयुर्वेद की औषधियां व उनका वर्गीकरण (विश्वनाथ द्विवेदी)
4. निघण्टु आदर्श (वा० ग० वैद्य)
5. हरीतक्यादि निघण्टु (विश्वनाथ द्विवेदी)

अन्य साहित्य :—

वनौषधियों के नाम तथा रूप में प्रचलित संदिग्धता का अध्ययन स्नातकोत्तर शोध प्रबन्ध, 1965 (ज्ञानेन्द्र पाण्डेय)।

Herbal Wealth of Bhutan

[A brief description of herbal Survey Carried out in Bhutan]

Sri Ramesh Bedi

Bhutan is the second largest of the independant kingdoms that separates India from Tibet. It is situated between latitudes 26° 40' and 28° 0'N, and longitudes 89° 10' and 91° 45' E. It is bounded on the north by Tibet, on the south by Assam and West Bengal, on the west by Sikkim and Chumbi Valley of Tibet and on the east by North East Frontier Agency. It is about 336 km. long from east to west and about 144 km. from north to south and covers about 44,66,200 hectares in area, particularly rich in forest resources.

Bhutan is almost entirely mountainous country lying in the heart of the eastern Himalayas amidst the highest mountains of the world, comprising, in considerable part of magnificent ranges varying in elevation from about 300 m to 7,500 m above the sea-level, the hills on the Indian border rising to 3,960 m. In addition to its southern and eastern boundaries with India, its north frontier has evolved along the main Himalayan watershed. The Pamir Boundary Commission (1895) states that 'geographically, politically and ethnographically watersheds are the only true and stable boundaries in these regions. The possession upto the head-waters of each system by one people constitutes the only frontier that can survive over a long period of time.'

On its south-western frontier Bhutan is continuous with Sikkim. The main communications with India are by means of two roads, one from Thimphu and Paro to Phuntsholing in the west and the other from Tashi gang to Rangia in the east. At present Tibetan frontier is sealed and no trade is allowed between these two countries. However, occasional refugees across the frontier from Tibet.

Population

The population of Bhutan in 1969 was estimated to be about eight lakhs of which twenty-five percent were Nepalese. The latter live mainly in southern Bhutan in the terai. The main concentration of population is along the east-west axis in the centre of the country, which consists of a series of fertile valleys running from Paro, Thimphu and Punakha to Tashi gang.

Origin

The origin of the Bhutan people is obscure but it is thought that the people of central and northern Bhutan came from Tibet. Many documents relating to their history

exist in Dzongs, but a number have been lost in fires or earthquakes and scholars have not yet been able to examine and translate the surviving papers.

Sir Ashley Eden visited Bhutan in 1882-83 as special envoy of the then British Governor General of India. According to him the original inhabitants of Bhutan were Tephoo Bhutias, a race originating from Cooch Behar and in West Bengal, India. They were converted to Buddhism.

Brief History

In the ninth century Bhutan was overturned by Landarma, the king of Tibet, and in the eleventh century a further Tibetan invasion occured. In the thirteenth century, the powerful Lama of Bhutan, Lama Apha, was defeated and he handed over the Chumbi valley, hitherto Bhutanese, to Tibet. He was replaced by a Ralong Lama named Fago Dukgom-shig-po. In 1557 another monk from Ralong, Dujom Dorji, made himself master of Bhutan after continuous wars with the successors of Fago and his band of Lamas. He firmly established his authority, repelling invasions from Tibet. He became known as the Devaraja or Deputy President. He died in 1592 aged 58. After his death a triple reincarnation arose, his body as the Dharmaraja, his voice as Chole Tilkhu and his mind as Thi Rimpoche. These officers remained continuous until the beginning of this century.

Languages

There are four main languages spoken in Bhutan viz., (a) Dzongkha in western and northern Bhutan, (b) Bumthangkha in central Bhutan, (c) Sarchapkha in eastern Bhutan and (d) Nepali in southern Bhutan.

The variations among different languages are such that those speaking one language cannot easily understand the other. However, Dzongkha is today the official language all over Bhutan. During the course of my herbal survey I have tried to collect the local names of Herbs. With the help of these names one can contact villagers and yak-breeders regarding herbal wealth of Bhutan.

Climate

From the climatic point of view Bhutan may be broadly divided into three zones-the southern, the central and the northern. These zones run more less parallel to one another in a south-west to north-east direction. The rainfall, however, diminishes gradually towards the central and the northern zones. The southern zone receives an average annual rainfall of about 400 cm while the central and northern zones receive about 200-300 cm and less than 100 cm. respectively. Heaviest rainfall prevails from June to August.

Flora

More than 2,81,000 species of plant life have been indentified and classified in the world. These include some 1,75,00 flowering plants, 12,000 mosses, 600 club mosses, 4,400 ferns, 4,000 liverworts, 20,000 algae, and some 65,000 different kinds of fungi. It is estimated that there would be about 3,000 species growing in Bhutan.

Herbal Explorations—A Brief History

Introduction

The botanical explorations in Himalayas have been done chiefly by British people. Buchanin-Hamilton and Nathaniel Wallich explored in 1802-1803 and 1820-1821. During the first half of the nineteenth century, the centre of research for east Himalayan plants

was located in Sibpore Botanical Garden at Calcutta. It was under the management of East India Company. The Superintendent was N. W. Wallich The Centre of research of west Himalayan plants was located in East India Company's Botanical Garden at Saharanpur, Uttar Pradesh Its Superintendent was John Forbes Royle, J. D. Hooker, C. B Clarke and other research botanists continued extensive and intensive study of Himalayan flora.

Nepal was first explored in the beginning of nineteenth century, then it remained closed to foreigners for a long time. Little information has been published during that time.

Bhutan was inaccessible to outsiders for a long time. Father John Cabral and Stephen Cacelli from Portugal were the first European missionaries who entered into Bhutan in the seventeenth century. Next was Turner. In May 1888, on his way to Tibet he passed through Buxa Duar, Tashi Chho dzong (Thimphu), Paro and Punakha. None of these travellers made any botanical collection.

Past Explorations:

An account of the botanical explorations conducted from time to time in Bhutan is given hereunder :

Dr. William Griffith entered Bhutan from the south-east at Devangiri, on January 3,1838. He proceeded north via Tashi gang upto Khumna, turned to the west and passed through Leng Loon, Tongsa, Punakha upto Thimphu Then he proceeded south via Chapsha, crossed the borders and reached Buxa Duar on May 18, 1838 In four and a half months, he made an extensive collection of 1,700 gatherings, which were sent from the Botanic Gardens, Calcutta to the Court of Directors of the East India Company, with the view of their being examined and distributed to the herbaria of Great Britain and Europe. Those were, however, transferred to the Royal Botanic Gardens, Kew, in 1859. One set of his collections distributed from there, is present in the Central National Herbarium, Calcutta.

The flora of Bhutan brought about the first American contact with the country. In 1849 the American botanist Nuttal, after he settled in England, sent Mr. Booth to Bhutan to collect ferns and seeds of rhododendrons and orchids. He crossed several lofty ranges in Bhutan in the course of his quest. His greatest discovery was the magnificent *Rhododendron nuttalli*, a species unequalled in size and beauty even by any of the splendid species of this genus discovered in Sikkim. Nuttal published an account of Booth's collection in Hookers Journal of Botany. One or two papers contributed by Booth on his journey to Bhutan appeared in the Gardener's Chronicle.

In subsequent times, some hundreds of different species of rare plants from Bhutan have reached and thrived in Kew Gardens in England.

Sir J. C. White, of the Indian Political Service, in his mission to Bhutan during 1905-07, made a considerable collection of herbarium specimens, a set of which was presented to the herbarium, Indian Botanic Gardens, Calcutta (now the Central National Hrebarium).

R. E. Cooper led a botanical explorations to Bhutan in 1914-15. He spent 348 days and made extensive collection from western and central Bhutan, following the route traversed by Gritffih, excepting a small area north of Devangiri. He made a number of important discoveries, especially in the genera of *Rhododendron* and *Primula*. His collections are preserved in the herbarium, Royal Botanic Gardens, Edinburgh.

F. Ludlow and G. Sherriff entered the country in April, 1933 at Ha in west Bhutan, proceeded eastwards via Paro, Wangdi Phodrang, Tongsa, Bumthang and Tashi Yangtshi to Me La and Pu La passes. They made 537 gatherings.

Both the surveyers again entered Bhutan in June, 1934, an Devangiri and proceeded north to Sakden and then across Kochen La to Tsona in Tibet. From Tsona they proceeded eastwards into the Mago district and then returned to India via eastern Bhutan.

G. Sheriff entered Bhutan in April, 1937 at Hatisahar (Gaylegphug), where from he proceeded to the Black mountain in central Bhutan via Chirang Chhu valley and Chendebi. He returned to India in August via Ha in west Bhutan. He made 661 gatherings.

The most extensive explorations ever made in Bhutan was in the expedition of F. Ludlow, Major & Mrs. G. Sherriff and Dr. J H. Hicks. They formed three parties and explored western, central and the main Himalayan Range. A very large collection of 5,518 gatherings was made.

All the collections of Ludlow, Sherriff and others are deposited in the herbarium of the British Museum (Natural History) and the duplicates in the herbarium of the Royal Botanic Gardens, Edinburgh.

While examining the herbarium sheets in Forest Research Institute, Dehradun, I found 380 specimens of Bhutan collected by Sir Basil Gould, head of the Indian Mission in Sikkim and Bhutan. He presented his collections in 1946 to the Forest Research Institute.

Recent Explorations

The Botanical Survey of India took up the exploration of Bhutan in 1963 and in subsequent years. These are listed below. Specimens collected in these tours are preserved in the Central National Herbarium, Calcutta and in the Regional Herbarium, Eastern Circle, Shillong.

1, G. Sen Gupta, N. P. Balakrishna and B. M. Wadhwa made collections for thirteen days in August, 1963 from Phuntsholing, Paro, Chile La and Ha areas. The made 486 gatherings of mosses, ferns and flowering plants.

2. S. K. Mukherjee and K. C. Malick made collection from Phuntsholing, Paro, Chaisilakha and Kamji in western Bhutan for fifteen days in October, 1963, and made 148 gatherings.

3. G, V. Subba Rao explored the areas from Phuntsholing to Kamji for twenty-five days in December-January, 1963-64 and made 335 gatherings.

4. K. Thothathri explored Samchi, Sangura and Dorokha in south-west Bhutan for twenty-eight days in December January, 1963-64 and made 331 gatherings.

5 G. Sen Gupta in December-January, 1963-64 explored Gaplegphug, Sureylakha, Shamkhara aud Batase in south central Bhutan for twenty-two days and made 333 gatherings.

6 J.M. Maheshwari visited Phuntsholing, chaisilakha chimakothi and Thimphu in April-May, 1364 and made 335 gatherings in thirty-two days.

7 G. Sen Gupta in April-May, 1964 visited Gaylegphug Shamkhara, Tama, Birti and Shemgang for twenty-six days and made 305 gatherings.

8 J. N. Vohra. P. K. Hajra and V. Abraham proceedad upto Dhochu La via Bhuntsholing and Thimphu in September, 1964 and made over 700 gatherings of mosses, ferns and flowering plants.

9 D.S. Deb in November, 1964 explored the region from Gaylegphug to Shemgang via Shamkhara, Rani Camp, Tama, Manos Camp and Dakpai for sixteen days making 462 gatherings.

10 S. K. Mukherjee visited Samchi and Borokha in November, 1964 for fifteen days and made about 100 gatherings.

11 N. P. Balakrishnan explored the forest along Samdrup Jonkar Tashigang and Tobrang regions in the eastern most part of Bhutan in March, 1965 for twenty-nine days and made 562 gatherings.

12. G. Sen Gupta and J. N. Vohra visited the Thimphu-Punakha areas in August September, 1965 and made collections in Honshu, Dhochu La and Lumichawa besides Thimphu and Punakha and made about 824 gatherings of mosses, fe ns and flowering plants in twenty-eight days.

13. A. S. Rao collected along the new motorable road between Samdrup Jonkar and Tashigang in August-September, 1965 for seventeen days and made 500 gatherings.

14. N. P. Balakrishnan visited the eastern-most parts of Bhutan in October-November, 1965 and made 902 gathering in forty days.

PRESENT EXPLORATIONS

Introduction

At the request of the Government of Bhutan I was deputed by the Government of India to conduct the herbal survey. I reached Thimphu the capital city on twenty-seventh May, 1971. After a meeting with His Royat Highness, Tengyel Lyonpo, Industrial Expert and Divisional Forest Officer it was decided to concentrate on Ha and Paro valley in order to have exhaustive collection of herbarium specimens with special reference to commercially exploitable species. The name of places with their altitude from sealevel, visited by me have been given in appendix nine.

A study of the reports of previous surveyers in Bhutan shows that all the explorations were made only from the point of view of systematic botany. My task was of somewhat different nature. The Government of Bhutan was interested in the economic aspects of herbs and plants which grow wild in the country. This work was entrusted to me

Since, no previous explorer had ventured to study the flora of Bhutan from this angle I had to start my work right from scratch.

First of all, it was necessary to know the names of plants and their place of occurrence. Only after having such information I would have been in a position to deal with the economic aspects of a plant.

In the available literature on flora of Bhutan, only the name of the species were enumerated. No, botanical description was furnished for indentifying the species,

Through the land of frozen lakes

I planned to carry out the survey of the ountry in different phases. To begin with, n the present phase, I started from the Valley of Ha. It was raining almost daily. In the humid conditions the drying of specimens was a difficult task, specially in remote parts of the higher passes. Ha is a developed town. I left my helpers in Ha who remained busy in drying and preservation of my collection. I proceeded from Ha on 6th June, 1971 and exploring Phaksana (3, 200 m), Tale La (3,718 m), Yakuna (4,224 m), Gadeten (3,962 m), Lolithang (3,720 m), Kampa La (4,375 m), Ha La (4,206 m), Damthang (2,928 m), returned to Ha on June 14, 1971. The next trip was to Sele La (3,962 m), a pass rich in vegetation. It was full of calt has displaying gorgeous yellow colour.

Last trip of my first phase survey was an arduous journey. I started from Thimphu on 24th October, 1971 along the bank of Thimphu river. I reached Bhukaranang by jeep the same day. The refugees from Tibet have made a small settlement there. They were engaged in clearing the forest of blue pine for cultivation. We transferred our baggage on pack-mules and proceeded after lunch. After two days journey in green forest we had to transfer our loads on yaks at Borishong. The yak area starts from here. Up to Gasa dzong yaks carried our luggage and we rode on yak backs I followed the following route from Thimphu : Bhukaranang (2,743 m), Dotinang (2,610 m), Jakhu the (3,962 m), Yale La (4,750 m), Lingshi (4,118 m), Laya (93.872 m), Tamji (353 m), Gasa (2.788 m), Punakha (1,847 m), Wangdi phudrang (1,219 m), Dhochu La (3,150 m), Simtokha (2,378 m), Thimphu (2.408 m).

While passing Yale La we had to face continous snow fall. The wind was blowing fast, hitting the tiny hard balls on our exposed faces. The surface of balls was made up of sharp points which was effectively striking. The lake near the summit—the origin of Thimphu river—was frozen and covered with snow. It was extremely cold. The nose was constantly running, but we could not wipe it. Our limbs refused to work I was unable to handle my camera. Though it was guarded beneath my rain coat, it was receiving snow flakes which had accumulated in the crevises of leather case.

We had started at seven O'clock from the base camp and reached on the La (Pass) at nine O'clock. We did not waste a single moment in the way. We were fully aware of the serious conseqences if the strong cold winds on the La, had taken the shape of a storm. Several lives have been lost in such odd conditions while crossing these Las.

After reaching the summit we disposed

of our riding animals. They rushed down to Barishong. Our caravan of nine packyaks had not reached so far. We were left alone in white snow land. It was continuously pouring down to cover every inch of soil. The heaven was full of snow showers. We were running on knee deep grannlar snow and sometimes through five feet deep heaps of hard snow. The snow had covered all the rocks and herbs. The route had completely disappeared in deep snow.

We had no compass. But, could we afford to stop without knowing the right direction ?

We continued rushing to reach a safer zone, till we even lost the hidden path. This side of Yale La slope, is the origin of Punakha Mo Chhu. It was emerging out of small rocks. The water was barely two or three inches deep. Suddenly it disappeared under the snow. Bushes of *Rhododendron anthopogon* D. Don and *Ephedra* were covered under snow.

In Laya and also Konai Rest House, we witnessed snow falls. The culms of ringal were bent with the load of accumulated snow on their leaves. *Berberis Betula Utilis* D, Don, dwarf *Acer*, *Abies Spectabilis* (D. Don) Spach, *Rosa* all were clad with thick white coat of snows. We hardly could make any gatherings.

I noted that the forest of *Rhododendron* marks the timber line at a height of about 4,000 m, and the area upto 5,000 m altitude is occupied by alpine meadows with prostrate *Juniperus squamata Buchanin-Hamilton* and low bushes of *Rhododendron anthopogan* D.Don, *Rhododendron Elaegnoides* hooker f. and *Rhododendron setosum* D.Don.

It was also true in Chile La, Sele La, Ha La, Saga La and in many other passes, but in Chekha there was a different sight. Trees and large bushes of *Rododendron* were missing. The slopes were covered mainly wiih *Impatiens* species. The species with red flowers was dominating.

Uncomparable pasture lands

In this trip I first travelled in blue pine, silver fir and juniper forests then came to open yak pastures and then again crossed the evergreen dense moist forest mainly composed of broad leaved trees of enormous length and girth. It extended from Gasa to Punakha two days journey. It is rich in ferns and orchids. Some beautiful orchids were in bloom. This group of fascinating plants of Bhutan is very little known.

Bhutan is not only a rich field for herbal exploration but also an interesting one. The glory of Bhutan Himalayas is mainly for its luxuriant rhododendrons *Primroses, Iris, Anaphalis, Gentiana. Pedicularis*, popies, etc.

Rhododendron, Primula, Caltha, Impatiens, and many other are the endemic species in Himalayas. The eastern Himalayas are famous for many curious and beautiful species and forms of rhododendrons and primroses. Both the genera are poisonous to the cattle and therefore are not browsed by them. Thus protected by grazing animals they get better chance to expand their habitat.

In lower hills flowers appear in the spring and in the alpines in early autuman in great luxuriance. They display more and more gorgeous colours at higher elevations with the

increasing intensity of light.

Somana (4,371 m) possesses uncomparable pasture slopes. I saw there several huts of yak-breeders, herds of yak and horses grazing on the green carpet spread all over the area. Here I found several new species which I did not come across in my previous trips. On the naked slopes grew a curious plant *Thylacospermum rupifragium* Sch. (Caryophyllaceae) forming great hemisperical balls on the ground, eight to ten inches across. A plant of Lamiaceae (*Lamium rhonbogium Benth*) was equally curious. It was about one foot high with white cottony thick leaves, ooked like a small doll dressed neatly. The ittered plants were so looking as if playful lls were running on slopes. Some plants ere growing in matted tuffes in level with the ground.

Normally my journey was continuous and it was unusual to spend two nights in one place. Therefore, my collection represents little more than an occasional mouthful snatched on the move. I feel there are many areas which would prove very fruitful, if really intensive botanising could be indulged in.

Even with my utmost care my several specimens were attacked by fungi. Some of such specimens were *Podophyllum hexandrum* Royle, *Arisaema* species and *Areca catochu* Linnaeus. *Podophylium* I collected phaksana, out of which I collected only four. Remaining were left standing so that they could multiply. In Sage La I found only three plants and all of them were dug out for my collection. Since, it was raining continuously at both Las (Bases) I could not search for more plants. Obviously, my little collection of eight plants was valuable.

Heavenly bliss in snow regions

Herbal explorations in the higher elevations are tiring and hazardous. Herbalists must, therefore, be of strong and sturdy constitution with capacity for endurance and ability to climb over steep hills and march at ease ten to fifteen miles a day. He must climb slowly and steadily and must not rush through or run at higher elevations. He should have frugal meals and must not overload the stomach. He should have strong heart, a sound mind and well—developed lungs. He must not get nervous when stung by sand-flies, or bitten by leeches, or attacked with mountain sickness or a little headache or chilblain above 3,660 m. These ailments are temporary and pass off soon after a little acclimatisation.

He should not, therefore, get nervous with a little fever, high blood pressure, and should be capable of withstanding extreme cold or a little fever due to change in climate. But if attacked with pneumonia or high fever or hill diaerhoea, he must come down to be medically treated immediately.

The herbalist and the members of his expedition must have genuine love for herbs, flowers and nature; determination and aspiration for study and research and inspiration for the enjoyment of the heavenly bliss in the snow region.

Fortunately, I had no trouble, even minor, in these difficult climbings. I did not need to swallow a single pill. My willpower remained strong. My ideals were yak-breeders who were so happy, cheerful and carefree all

the time. They inspired me, on those lofty peaks, in difficult times.

The surveyer of Himalayan flora should possess at least one big-tent in which numbering, pressing, changing of specimens and drying of papers can be done with convenience,

Phuntsholing is the gateway of Bhutan. It borders the Jalpaiguri district of Western Bengal. It is the most populous town and country's principal industrial and commercial centre. Most of the shops are owned by Marwadis, Sikhs, Biharis, Bengalis and by other Indians from various states.

I enquired from the shope-keepers and was informed that there does not exist any trade of Bhutanese herbs. No body is interested in medicinal plants and people, neither Indians nor Bhutanese, have any knowledge about herbs.

I could find only one article of medicinal value of Bhutanese origin in shoping centre of Phuntsholing :

gola pipala (*Piper*)

lamba pipala (*Piper longum Linnaeus*)

I could gather from the market that katuki (*Picrorhiza kurrooa* Royle ex Bentham Bhutanese name putishing) roots were also collected in 1969. However, no sample was available with the shop keepers.

I ascertained from the office of the Conservator of Forests, Bhutan, that pipali (fruits of all the species of *Piper*) is being collected from following four mahals in Sarbong division :

1, Khirkhiria range,

2. Samdrup jonkar range,

3. Gaylegphug range and

4. Phipsoo range.

The revenue eollected by the auction of this single raw drug is about ten thousand rupees a year.

During the course of my two day's herbal survey around Phuntsholing I collected the herbarium specimens af four different species of *Piper*. More species of this commercially important group of medicinal plants can be located if extensive search of the forests of lower altitude be made.

A few quintals of black, thick tapering roots of visha *Aconitum novoluridum* Munz, Bhutanese name : shodu) have been collected in the year 1971 and sold in Calcutta crude drug market.

Visha collected from Gharwal Himalayas are derived mainly from *Aconitum palmatum D.Don.*

On enquiry from the drug dealers in India I found that the roots collected from Bhutanese species *Aconitum novoluridum* Munz are similar in appearance to the roots of the Indian species *Aconitum palmatum* D Don and fetch the same price.

Yak-breeders around Linghi collect the fruits of ima sisi (*Podophyllum hexandrum* Royle) and keep in their houses. I have seen the garlands of ripe red fruits of ima sisi hung in their dwellings for use in vaternity medicine. In case of delayed delivery and other similar abnormal conditions associated with delivery fried frutis of ima sisi mixed with wet wheat flour are given to yaks. The fruits are eaten by cow-boys in Garhwal Himalyas and by yak-grazers in Bhutan. They are full of seeds embeded in juicy pulp. Owing to resemblence of the fruit with small

Cucumber it is called bana kakadu (वन काकड़ु) in Garhwal and giri kərkata (गिरिकर्कट) in Sanskrit, meaning wild cucumber and hill cucumber respectively.

Since, most of the fruits are eaten away by the hill boys the reproduction of ima sisi has become scarce. The roots of ima sisi are used in alopathic medicine as hepatic stimulant, cholagugu aad purgative. In recent years they were considered to be effective remedy in certain types of cancer found in stomach and intestines.

Marketing

The collections, drying, storage, transport and marketing of raw drugs is a technical job which requires special care at every stage. Utmost care should be taken to preserve their natural colour. There should be no attack of insects and they should remain free from fungal growth. They should look fresh and perfectly healthy when presented for marketing. The dealer is very particular about the quality and standard of raw drugs.

Most of the herbs grow in remote valleys at elevations between 3,050 m and 4,575 m and are very difficult to approach. At present no mode of communication exists there. The herbs and drugs are to be carried from these places of collection only on the back of human being. The expenditure on collection, drying and transport will come to such an extent on which the drug cannot be sold outside Bhutan.

The conditions are more less the same as prevail in Garhwal-Himalyas. Raw drugs have to undertake similar long journeys before they reach the marketing centres of big cities.

I feel that if the marketing of herbs be undertaken by the Government agencies it will not be a profitable proposition. I therefore, suggest that the entire venture from collection to the marketing should be undertaken by the private sector. The Government should impart primary training to the village folk and yak-grazers about the collection of certain drugs only. Once the collection work begins and collector gets some extra income, he will certainly be interested in extracting more money by digging and pulling out other drugs. In this manner, gradually, more and more drugs can be exploited and a regular trade of Bhutan drugs can be established.

The village folk should be encouraged to start the work on co-operative basis, so that the maximum benefit of herbal wealth of Bhutan go to the masses

After a preliminary survey of a small area of Bhutan I feel that raw drugs can be exported from Bhutan to Indian markets. Names and current prices of some drugs are given in appendix six.

About preservation

Before trying the numbers the specimens should be dipped in alcoholic solution of mercuric chloride. To prepare the solution two bottles of methylated spirit should be poured in a photographic tray, twelve inches broad, fifteen inches long and one inch deep. A few grams of mercuric chloride powder should be added in to it and mixed it with the help of long foreceps. Gradually more powder should be added till it starts settling at the bottom of tray. No more powder should be added.

Out of this stock solution 10 c.c. should be taken and added to 90 c.c. of alcohol to prepare a working solution, in which the plant specimen should be dipped for about half a minute. The tray, forceps and spirit containers should be of plastic.

Mercuric chloride is a poison. It should be handled after putting on rubber gloves. If properly treated it guards the specimens from the attack of insects. The spirit checks the growth of fungus to some extent. It has been observed that when a herbarium mounted sheet is repeatedly removed from its pigeon hole from the purpose of either study or for spraying with inseticides it gets friction with other specimens and consequently receives injury to its specimens. In case of delicate specimens the loss is great. Leaves, flowers, and fruits fall of each time when specimen is handled and it gets reduced to a bare skelton of thin branches.

The National Archives, New Delhi are engaged in preserving valuable documents and rare manuscripts adopting the latest technique. I consulted them for laminating the entire mounted sheet. We undertook certain trails.

One sheet each of acetate film and cell-lose sheet was placed on the mounted sheet. Acetone was smeared on it with cotton swab. Thereafter the sheet was placed under pressure in hand press for four minutes. Lamination of thin specimen can be done advantageously by this method; but I found that the specimen was not looking so bright as it was before this treatment. The green gloss of the leaves became dull under the whitish semiopague film.

I tried another method in one specimen. A saturated solution of acetate film was repeatedly aqplied with a cotton swab on all the parts of the specimen. The specimen apparently, got fixed. But next day I found that the coating is splitting.

Covering up with acetate foil was also tried. Benyle acetate film was placed on the mounted sheet. The margins were sealed on the back with tissues and acetone. It is a semi permanent arraagement which guards the specimens from friction. The acetate foil covering can easily be removed.

After a long experience I felt that the best thing would be to keep each herbarium sheet in separate polythene envelope. I did it in my set for Bhutan.

Review of Present work

My herbal survey work in Bhutan invloved the following duties:

1. Herbal survey.
2. Collection of herbarium specimens.
3. Collection of samples of seeds, flowers, roots, etc,, for studying the possibility of commercial exploitation.
4. Writing of field notes.
5. Treatment of herbarium specimens with insecticide and fungicide.
6. Mounting of herbarium specimens.
7. Identification of herbs and raw drugs,
8. Labelling of herbarium sheets,
9. Preservation of herbarium specimens and museum samples.
10. Writing of notes on economic plants.
11. Preparation of monographs of Bhutan plants.
12. Correspondence with prospective

buyers of raw drugs from Bhutan.

13 Advise the Goverment and private enterprises regarding cultivation as well as commercial exploition of raw drugs.

14. Photographing important herbal specimens, etc. We have been able to identify 950 gatherings consisting of 101 families, 344 genera and 489 species.

In addition we have ascertained only the names of families and genera of 106 plants.

The Forest Research Institute, Dehradun, Regional Research Laboratory, Jammu (Tawi), the Botanical Survey of India, Eastern Circle, Shillong, the National Botanical Garden and Herbarium Lucknow and Documentation Centre of Central Council for Research in Indian Medicine and Homoeopathy, New Delhi were interested in receiving my herbarium specimens of Bhutan. The specimens supplied to these institutions are listed in appendix five.

Royal Institute Herof bal Wealth: Proposed set-up

Herbarium:

After drying and properly treating with insecticides my gatherings have been duly mounted on sheets of standard size, which are kept at Thimphu for permanent record. This humble collection has served the purpose of a nucleous of the Royal Herbarium of Bhutan. Gradually, as the survey is conducted in other parts of the country, more specimens could be added to the Herbarium. Such a herbarium will he helpful to the students of botany and all those interested in herbal wealth of Bhutan. It will enable them to clarify their collection made from all parts of Bhutan—low lying terai, high valleys and inaccessible peaks. They will conveinently compare with the types specimens deposited in the herbarium. The botanists will find suffcient collections to determine on the spot the local plants without much difficulty before comming down to the plains for detailed study.

Royal Herbarium of Bhutan will receive specimens from other countries also on exchange basis.

Drug Museum:

It will consist of two wings:

1. The first wing will be devoted to authentic plant material, such as, leaves, barks, roots, rhizomes, flowers, seeds, fruits, gums of various trees and plants which are used in medicine or for other purposes.
2. The second wing will be devoted to mineral and animal material useful for medicine or industry. In this catagory specimens of oars metals, precious stones, shilajita, etc. and musk, horns, animal fats, honey, etc. will be displayed. The museum will supply the raw material for investigation to research institutions.

Herbal Library :

A library will be attached to the herbarium for handy reference in indentification and other allied investigative activities at the Royal Herbarium. Moreover, it will also serve as a central Herbal Library in Bhutan for other research workers visiting Bhutan in quest of discoveries and knowledge.

Herb Garden :

Herbarium, museum and library will be housed in one building which will be surrounded by a herb garden. The medicinal plants and herbs will be grown here for demonstration and experimental purposes.

Pharmacy :

There is a small dispensary at Thimphu where a few medicines from raw drugs of Bhutan are prepared and dispensed to suffering people. The incharge of this dispensary is a Bhutanese physician who studied the medicine for seven years in Tibet. The total number of crude drugs used by him are about one hundred and twentysix. His team goes for collection of roots and herbs in Lingshi area in the month of September and remains there for a month. In addition to the higher altitude drugs, such as *Nardostachys, Picrovhiza, Gentiana, Saussura,* he uses nutmag, mace, cloves, cinnamon, cardamom, etc., the drugs of Indian market. He showed me one pod of musk, a small horn of rhino and a piece of elephant tusk given by the King for converting them into medicines. Such valuable animal products are always supplied by the King only. Shilajita and some other minerals are also in use. In fact the indigenous system of medicine in Bhutan is modification of the indigenous system of India, i,e, ayurveda. Bhutanese Lamas used to study ayurvedic literature in Tibetan monastraries. While completing their course of studies they brought back with them the books neatly copied on lama paper. They gradually developed their own medical school at paro Dzong. Vagbhatta's Astamga Samgraha was one of the sexeral books regularly taught to lamas. I learnt that one manuscript of Astamaga Samfiraha is preserved in the Paro Dzong library.

I have seen thousands of manuscripts carefully wrapped in cloth folders and preserved in small and big dzongs and monastaries. Majority of them belong to religion, astrology, and tantric practices. The teaching of ayurveda was a part of these subjects in ancient India Likewise, it might have been in Bhutan. Thorough and careful examination of all these manuscripts is needed to search out manuscripts related to herbs and their uses prescribed for the benefit of mankind.

The indigenous doctor in Bhutan is known as tonsa Normally he prepares simple powders by pounding together a few numbers of drugs. The people have got good faith in his medicines. The daily number of patients is about one hundred. It is a great change. Because, in Bhutan, physical diseases are attributed to affliction by spirits, demons- or ghosts. To ward them off people restrain these spirits by religious practices—prayers, sacrifices, spells, rituals —both elaborate and simple.

Similar dispensaries can be opened in different parts of the country, To maintain the uniform standard of medicines in these dispensaries, the manufacturing of medicines should be undertaken in one centre, i.e., pharmacy. The medicines for common ailments should be prepared by this pharmacy in small attractive packings for sale to general public. The pharmacy can start manufacturing of popular ayurvedic medicines also. I have seen that the dispensary is already preparing some ayurvedic medicines.

All these sections combined together will be known as the Royal Institute of Herbal wealth.

The life size photographs of important plants can be displayed on the gallery walls of the Royal Herbarium, Royal Drug Museum and Royal Herbal Library. The photographs will be of further aid in identifying a plant.

Conclusion

Though several attempts have been made for botanical exploration of Bhutan, but, there is a great scope for further exploration. After having surveyed in some inaccessive parts of Bhutan I am of the opinion that the flora of Bhutan demands thorough exploration.

Herbal survey of other valleys of Bhutan should be undertaken as early as possible. The warmer valleys, such as Punakha, and warmer places adjacent to India border can be surveyed in winter season also. In such localities nature co-operates in almost all the season.

If proper facilities are provided and planning be made forehnad, it will require about five years to complete the fruitful herbal survey of Bhutan. Daruhaldi, ephedra, jatamansi, katuki, vihernum cortex, lycapadium,mamiri, mithavisha, mithiavacha (Paris), patharphodi (Didymocarpus), pippali, padophyllum, revandchini, shatavari. tagargantha (Valerian), talishapatra, tejapatra, tumburu, vanapsha and many more raw drugs of vegetable origin and shilajeet, etc. Can be exported from Bhutan in large quantity. I would advice to the interested organisations and prospective buyers to contact the chief censervator of forest, Thimpu, Bhutan.

ACKNOWLEDGEMENT

I express my gratefulness to late His Majesty Jigme Dorji wangchuk of Bhutan who offered me the opportunites for conducting herbal survey in strictly restricted areas also. I am greate ful to His Royal Highner Tengyel Lyonopo who took keen interest in my survey work,He is a keen lover of nature, flora and fauna; and a good photographer too. He showed personal interest in my comforts. My thanks are due to the Acting Secretary in the Ministry of Trade and Industry, Shri Om Pradhan, Industrial Expert Shri L. M. Menezes, Conservator of Forests Shri T. N. Prasad and Divisonal Forest Officer Shri C. Dorji for providing me necessary facilities for my work. Shri B. N. Das, Representative of India in Bhutan and Shri P N. V. Kurup, advisor in Indigeneous System of Medicine, Shri L. L. Mehrotra, Deputy Secretary in the External Affairs Ministry and Shri B. R. Jassal, Under Secretary in the External Affairs Ministry were deeply interested in my herbal survey and in spite of their various engagements were always kind enough to give me time for frequent consultations I am greatful for the useful guidance I got from time to time from them. I am very much thankful to the following for the assistance rendered in identification of plants : Shri Sahani Forest Botanist, and Shri K M. Baid, Botanist Forest Research Institute, Dehradun, Dr. Atal and his collegue in Regional Research Laboratory, Jammu; The Botanical Survey of India, Eastern Circle Shillong, and Sibpore Botanical Garden and Herbarium, Calcutta.

[To be continued]

खर्परिका तुत्थ
(Zinc Sulphate)

श्री मिलापचन्द्र जैन, बी० ए०, भिषगाचार्य
प्रिंसीपल
सरकारी आयुर्वेदिक फार्मेसी कालेज,
राजपीपला (गुजरात)

आयुर्वेद चिकित्सा में अनेक द्रव्यों का प्रयोग हुआ। काल-क्रम से अनेक द्रव्य संदिग्ध हैं, अनेक अज्ञात हैं एवं अनेक द्रव्यों पर विचार ही नहीं हुआ। ऐसे ही द्रव्यों में जिन पर विचार नहीं हो पाया एक द्रव्य है—"खर्परिका तुत्थ"।

चरक चिकित्सा स्थान के सप्तम अध्याय में कुष्ठ प्रकरण में अभ्यंग के लिए प्रयुक्त "तिक्तालाबुक बीज तैल' "का पाठ है, "इसमें द्वे तुत्थे" शब्द का प्रयोग किया है।

"तिक्तेक्ष्वाको बींज द्वे तुत्थे रोचना हरिद्रे द्वे।
बृहतीफलमेरण्ड: सविशालश्चित्रको मूर्वा।।
... ...
... ... ।।"
(च० चि० ७/१०८

इस पर टीकाकार चक्रपाणिदत्त ने स्पष्ट किया है। "द्वे तुत्थे इति कर्परिका तुत्थं मयूर तुत्थं च।" इसी प्रकार कनक क्षीर तैल में अमृतासंग का प्रयोग किया है!

"हरितालमवाक्पुष्पीतुत्थं कम्पिल्लकोऽमृतासंग।
सौराष्ट्री कासीसं दार्वी त्वक् सर्जिका लवणम्।।
(च० चि० ७/११४)"

'अमृतासंग: कर्परिकातुत्थम्' इस प्रकार चक्रपाणिदत्त ने अमृतासंग को भी कर्परिकातुत्थ का पर्याय स्वीकार किया है।

अब द्रव्यों की दृष्टि से विचार किया जाए तो कर्प-रिका-खर्परिका का खर्पर नाम से वर्णन प्राप्त है परन्तु खर्पर-कर्परिका है, कर्परिका तुत्थ नहीं। तुत्थ स्वयं अलग द्रव्य है जिसे मयूरतुत्थ या नीलाथोथा (Copper sulphate) नाम से जाना जाता है। कर्परिका तुत्थ अलग द्रव्य है। उस पर विचार अपेक्षित है सम्प्रति खर्पर शब्द पर विचार अपेक्षित है।

खर्पर शब्द भी संदिग्ध रहा है। परन्तु इसका निर्णय रसार्णव की निम्न पंक्ति से आसानी से हो सकता है।

"खर्परो नेत्ररोगारि रीतिकृत्ताम्र रन्जन:।"
(रसार्णव)

रसार्णवकार खर्पर के लिए तीन शब्दों का प्रयोग करता है।

(१) नेत्ररोगारि
(२) रीतिकृत
(३) ताम्ररन्जन:

रासायनिक संश्लेषण की दृष्टि से रीतिकृत एवं ताम्र रन्जन शब्द महत्वपूर्ण है। खर्पर से रीति (पीतल) बनता है। पीतल-ताम्र एवं यशद के मिश्रण से बनता है।

रीतीस्पुपधातु: स्यात्ताम्रस्य यशदस्य च।

ताम्र रन्जन अर्थात् ताम्बे का रंग बदलनेवाला अर्थात् लाल रंग के ताम्र में खर्पर डालने से रीती अर्थात् पीतल पीले रंग की धातु प्राप्त होता है।

रीती (पीतल) = ताम्र + यशद,
ताम्ररजक पीतल = ताम्र + खर्पर }

इस प्रक्रिया से खर्पर यशद का यौगिक है। यशद नेत्र रोगों में उपयोगी है। अत: तीसरा पर्याय नेत्र 'रोगारि' रसार्णव का स्वयंसिद्ध होता है, और तीनों पर्यायों से खर्पर यशद का यौगिक है। इतना स्वत:सिद्ध है।

आनन्दकंद जो दक्षिणात्य विचारधारा पर लिखा गया रस शास्त्रीय एवं धातुवादी ग्रन्थ हैं, उसने खर्पर एवं खर्परिका तुत्थ पर प्रकाश डाला है:—

खर्परी रसकं तुत्थ खर्पर्यमृतसम्भवा।
रसको द्विविध: प्रोक्तो दर्दुर: कारवेल्लक:
संदंशो (दलो) दर्दुर: प्रोक्तो निर्दंश (दल) कारवेल्लक:।
सत्वपाते शुभ: पूर्वो द्वितीयश्चौषधादिषु।
घनसत्व निभं बाह्य शुभं हारिद्रवत्तत:।
अच्छं खर्परवत्तुत्थं उत्तमं (स्यात्सि) सतोदरम्।
(आनन्द कंदक्रिया कारण विश्रान्तौ)
९-२३५-२३७

प्रस्तुत श्लोकों से स्वतः सिद्ध है कि आनन्दकन्द ने खर्पर के दो भेद बताये हैं—

(१) खर्पर

(२) खर्परतुत्थ

प्रथम पंक्ति में खर्पर का पर्याय रसक एवं खर्पर तुत्थ तुत्थखर्परी का पर्याय अमृत सम्भवा बताया है। इसके पश्चात् चार पंक्तियों में खर्पर रसक के भेदस्वरूप सत्वपातन एवं परिचयात्मक वर्णन किया है।

अन्तिम पंक्ति में खर्पर तुत्थ को स्वच्छ (अच्छ) या सफेद एवं काटने पर सितोदर अर्थात् सफेद होना प्रतिपादित किया है एवं उसे ही उत्तम तुत्थखर्पर बतलाया है।

प्रस्तुत विषय पर विचारणार्थ निम्न है।

(१) यशद का सफेद यौगिक एवं काटने पर भी सफेद ऐसा कौन-सा यौगिक है ?

(२) अमृतासंग (चरक) एवं अमृतासम्भवा (आनन्दकन्द) के पर्याय महत्व रखते हैं।

(३) तुत्थ खर्पर का तैल में प्रयोग जो चरक के कुष्ठ प्रकरण में किया है अतः खर्पर तुत्थ की तैल विलेयता एवं चिकित्सा में अभ्यगार्थ प्रयोग होने से बाह्य प्रयोग में निरापद हैं।

(४) तुत्थ एक वर्ग है।

उपरोक्त प्रश्नों पर विचार करने पर तथ्य स्पष्ट हो जाते हैं।

मयूर तुत्थ Copper sulphata है। यह असंदिग्ध द्रव्य है। खर्पर तुत्थ एवं मयूर तुत्थ दोनों में तुत्थ शब्द का प्रयोग कर तुत्थ एक वर्ग है। अतः यहां तुत्थ आज के शब्दों में Sulphate का पर्याय है। खर्पर शब्द यशद के यौगिक होने की ओर ध्यान केन्द्रित करता है, अतः खर्पर तुत्थ का अर्थ यशद सल्फेट या गंधकाम्लीय यशद (Zinc sulphate) ही है। गंधकाम्लीय यशद तैल में विलेय होने से उसका चरक में प्रयोग उपयुक्त है। गन्धकाम्लीय यशद के गुण बताते हुए रसतरंगिणीकार सदानन्द शर्मा कहते हैं :

गन्धकाम्लीय यशद चूर्णं पूयघ्नमुत्तमम् ॥
व्रण सस्राव शमनं नेत्राभिष्यन्द नाशनम्।
व्रणमेद हरं चैव श्वेत प्रदरकप्रणुन्।
संकोच कृद्विशेषेण कीर्तितं रसवेदिभिः ॥
शुष्कगन्धाम्ल यशदं क्षारकर्मकरं परम।
क्षार कर्म प्रयोगार्थं मतस्तद् विनि युज्यते।
(रस० त० तरं० १९-१५३-१५५)

उपरोक्त फलश्रुति में व्रण सस्राव शमन कुष्ठ की ओर इंगित करता है। यशद सल्फट तैल में घुलनशील है, उसी से चरक ने तिक्तालाबुक बीज तैल एवं कनकक्षीरी तैल में उपयोग चिकित्सा दृष्टि से महत्व रखता है। रसक Zinc carbonate या Calamine तैल में विलेय नहीं होने से उसका उपयोग कोई महत्व नहीं रखता।

अमृतासंग या अमृतसम्भवा शब्दों का प्रयोग अपना स्वतन्त्र महत्व रखता है। मयूरतुत्थ द्रव में लौह शलाका डालकर तुत्थोद्भूत ताम्र प्राप्त होता है, एवं द्रव कासीस में परिवर्तित होता है।

मयूरतुत्थ द्रव	+	लौह शलाका
ताम्र	+	लौह सल्फेट = कासीस
ताम्र	=	कासीस

इसी प्रकार कासीस द्रव में यशद का टुकड़ा डालने से लौह नीचे बैठ जाता है एवं यशदसल्फेट या गंधकाम्लीय यशद द्रव में परिवर्तित होता है। इस तुत्थ परावृत्ति पर अलग से लेख लिखा जायगा। प्रस्तुत संदर्भ में इतना ही कहना अपेक्षित है कि इस प्रसंग में अमृत शब्द का अर्थ गन्धकाम्ल (Sulphuric acid) है जो कासीस तुत्थ एवं खर्पर तुत्थ के परस्पर परिवर्तन में कारण रूप होते हुए भी स्वयं अमृत अर्थात् नहीं मरने वाला या नष्ट नहीं होनेवाला द्रव्य है। अतः यहां अमृत का अर्थ गन्धकाम्ल ही अभिप्रेत है।

आज से ५००० वर्ष पूर्व भारत में हीराकसी (कासीस एवं मयूरतुत्थ) बनता हो तभी चाक काल में खर्पर तुत्थ Zinc sulphate का निर्माण शक्य है, एवं उसका चिकित्सा में प्रयोग तैल में विलेयता एवं उसके अभ्यंग से कुष्ठ में लाभ।

आज से ३००० वर्ष से भी पूर्व (चरक के समय से पहले) जब भारत को अमृत अर्थात् गन्धकाम्ल Sulphuric acid का ज्ञान था उसके द्वारा धातुओं के विभिन्न परिवर्तित यौगिकों का निर्माण भी किया गया था। तब भी भारतीय उस दिशा में अधिक विकास क्यों नहीं कर पाये

एवं आज के रसायन-शास्त्र के समान विभिन्न क्षारों का निर्माण क्यों नहीं कर पाये इस विषय पर विचार अलग से अपेक्षित है।

खर्परिका तुत्थ—गन्धकाम्लीय यशद Zinc sulphate सफेद रंग का होता है, एवं काटने पर भी सफेद रंग ही प्राप्त होता है।

खर्परिका तुत्थ Zinc sulphate के द्वारा बनाये गये द्रव का उपयोग नेत्र रोगों में हितकारी है। रस तरंगिणीकार ने यशदामृत द्रव के नाम से नेत्र रोगों में उसका उपयोग किया है :

बिन्दुक्षेपक यन्त्रेण द्रव्यो अयं नेत्र योजितः।
विनिहन्त्याशु रक्ताभिष्यन्दाद्यक्षिमामयान्॥
(र० तं० १९/१७०)

रसतरंगिणीकार ने गधकाम्लीय यशद Zinc sulphate बनाने की विधि, उसके गुण-धर्म, उसके द्रव बनाने की विधियों का वर्णन, एवं उनके गुण एवं उपयोग विस्तार से १९वें अध्याय में श्लोक नं० १४९ से १७० तक २२ श्लोकों में दिया है। पाठकों को विस्तार से वहां देखना चाहिए।

यशद के पर्यायों को देखने पर चीनी भाषा में 'तूतेनग्युए' शब्द का प्रयोग एवं तमिल में तू तू नागमू शब्द का प्रयोग किया है। यशद के पर्याय में तुत्थ सदृश शब्दों का प्रयोग है, जो सम्भवत. प्राचीन काल में चीन एवं मद्रास में यशद तुत्थ Zinc sulphate बनता हो ऐसा प्रतिपादित करता है जो अन्वेषण एवं अनुसंधान का विषय है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि खर्परिका तुत्थ चरक में द्वे तुत्थे में से एक है। वह गन्धकाम्लीय यशद Zinc sulphate ही है एवं उसका अमृतासंग पर्याय उसका गन्धकाम्ल Sulphuric acid से बनाना प्रतिपादित करता है। सम्प्रति विद्वान वर्ग प्रस्तुत विषय पर अपने विचार प्रस्तुत कर विषय परिमार्जन में सहायक सिद्ध होंगे—इसी आशा से विराम लेता हूं।[1]

१. प्रस्तुत लेख में मेरे सह कार्य कर श्री अरविन्द कुमार प्यारेलाल जोशी असिसटेन्ट प्रोफेसर, सरकारी आयुर्वेद फार्मेसी कालेज, राजपीपला, ने योग्य सहयोग दिया है।

आयुर्वेद को जिनपर गर्व है

डा० प्राणजीवन माणेकचन्द मेहता



आचार्य राजकुमार जैन

डा० प्राणजीवन माणेकचंद मेहता आयुर्वेद के एक ऐसे युग पुरुष हैं जिन्होंने आयुर्वेद के अध्ययन-कर्त्ताओं, शोधार्थियों, अनुसन्धानकर्त्ताओं, चिकित्सकों, विद्वानों एवं वैद्यों को एक ऐसे विशाल वटवृक्ष की शीतल छाया प्रदान की जिसमें किसी ज्ञान-पिपासु को बिना तृप्ति के नहीं लौटना पड़ा। सामान्यत: किसी विशाल वृक्ष का बीज वपन करना बड़ा ही आसान है, किन्तु उसकी सुरक्षा और देखभाल करना उतना ही दुःसाध्य है। इसी प्रकार किसी संस्था की स्थापना करना एक सरल कार्य है, किन्तु उसे स्थायित्व तब तक नहीं दिया जा सकता जब तक लगन, निष्ठा और निःस्वार्थ सेवा-भाव से उसके लिए जीवन समर्पित न हो। आयुर्वेद जगत को आज विश्वविद्यालय के रूप में जामनगर (गुजरात) में जो वरदान मिला है वह केवल डा० प्राणजीवन मेहता के द्वारा आरोपित उस बीज का ही सुपरिणाम है जो उन्होंने धन्वन्तरि मन्दिर, गुलाब कुंवर या आयुर्वेद सोसायटी, शार्गंधर लेबोरेटरी आदि संस्थाओं के रूप में वपित किया था। उसी क्षुद्र बीज ने आज इतने विशाल वटवृक्ष का रूप धारण कर लिया है कि आज वह ज्ञान-पिपासुओं के लिए तृप्ति केन्द्र, जिज्ञासुओं के लिए साधना-स्थल, छात्रों के लिए विद्या-केन्द्र, चिकित्सकों, वैद्यों, विद्वज्जनों, अध्यापकों एवं सुधीजनों के लिए तीर्थस्थल तथा रोगियों के लिए तो कल्पवृक्ष तुल्य है।

आयुर्वेद के उत्थान, विकास एवं प्रसार के लिए श्रद्धेय डा० मेहता जी का जो स्तुत्य योगदान है उससे आयुर्वेद जगतभली भाँति परिचित है। अब उनका भौतिक शरीर वय की दीर्घावधि को लाँघता हुआ यद्यपि जरा जीर्ण होता जा रहा है, किन्तु उनके जीवन की मानव कल्याणकारी ज्योति अब भी उसी प्रकार अहर्निश प्रज्ज्वलित रहते हुए आयुर्वेद जगत के लिए प्रेरणादायी, जीवन-दायी और क्षेमकरी बनी हुई है। आज भी वह उसी भांति सम्पूर्ण आयुर्वेद जगत का पथ आलोकित कर रही है और आयुर्वेद समाज आज भी उनसे प्रेरणा एवं मार्ग दर्शन प्राप्त कर रहा है। श्रद्धेय मेहता जी का तपोनिष्ठ जीवन जिस प्रकार से आयुर्वेद के लिए समर्पित रहा है उसका अन्य उदाहरण विरले ही दृष्टिगोचर होता है। आज लगभग ८५ वर्ष की वय में भी उनके शरीर में विद्यमान तेज, स्फूर्ति, कर्मठता, और क्रियाशीलता उनकी अतीतकालीन गौरव गाथा का यशोगान कर रही है। विद्याव्यसनी के रूप में आज भी आप किंवदती को चरितार्थ कर रहे हैं जो आयुर्वेद के प्रति आपको निष्ठा और लगन की द्योतक है। आयुर्वेद को आपने जिस सहज भाव से अपना कर उसके प्रति अपना जीवन अर्पित किया उसे देख सुनकर अनायास ही आपके प्रति हमारा सिर श्रद्धावनत हुए बिना नहीं रहता। गंगा की भाँति पवित्र आपका जीवन प्रवाह जिससे आयुर्वेद को प्रेरणा स्फूर्ति और जीवन संचार प्राप्त हुआ तथा जो आज भी आयुर्वेद को पावन बना रहा है उससे यह समाज चिरकाल तक भी उऋण नहीं हो सकता।

जन्म एवं प्रारम्भिक शिक्षा

आपका जन्म २८-७-१८९२ में जामनगर (गुजरात) में एक साधारण किन्तु कुलीन परिवार में हुआ था। श्री माणेकचन्द्र जी मेहता आपके पिता थे और वे जैन वणिक् जाति के एक प्रतिष्ठाशाली व्यक्ति थे। समाज में उनका सम्मानित स्थान था। आपका परिवार यद्यपि सामान्य एवं मध्यमवर्गीय था किन्तु स्वधर्म के

प्रति अनन्य निष्ठा, मध्यस्थता, सहज भाव आदि के कारण आप समाज के एक सम्मानित व्यक्ति माने जाते थे। इसका पूरा प्रभाव आपके सुपुत्र श्री प्राणजीवन के हृदय पर पड़ा और वे उससे मनसा अभिभूत हुए बिना नहीं रह सके। जितने सरल हृदय और धर्मनिष्ठ आपके पिता श्री मानिकचन्द जी थे उतनी ही सरल दया शील स्वभावी और धर्मनिष्ठ आपकी पुज्यमातुश्री थीं। किन्तु दुर्भाग्यवश आप अधिक समय तक अपनी माता की स्नेह-मयी ममता पूर्ण आंचल की शीतल छाया के सुख का उप-भोग नहीं कर पाए और अल्पायु में ही आप को मातृ-वात्सल्य का वियोग सहन करना पड़ा। अपने पिता के एक मात्र पुत्र होने कारण पितृ स्नेह की आपको कोई कमी नहीं रही और उसी पितृ स्नेह की छाया में आपका बाल्य और किशोर काल व्यतीत हुआ। उन्हीं की देखरेख में आपने अपनी प्रारम्भिक एवं हाई स्कूल तक की शिक्षा जामनगर में ही प्राप्त की और अच्छे अंकों से परीक्षा में सफलता प्राप्त की।

उच्चशिक्षा एवं विषय-प्रवणता

हाई स्कूल की शिक्षा - समाप्ति के पश्चात आपने मेडिकल शिक्षा के प्रति अपना लक्ष्य निर्धारित किया और उसी दिशा में अग्रसर हुए। हाई स्कूल के अध्ययन काल में ही आपके हृदय में चिकित्सा - शास्त्र के अध्ययन की आकाँक्षा बलवती हो गई थी, अत: उसी के लिए आप निरन्तर प्रयत्नशील रहे। कहते हैं कि जब लक्ष्य साध्य बन जाता है उसमें सफलता असंदिग्ध रूप से विद्यमान रहती है। इसका ज्वलन्त उदाहरण आप हैं। आपने अपनी लगन और अध्ययनशीलता के कारण २२ वर्ष की अवस्था में १९१४ में बम्बई विश्वविद्यालय से एल०एम० एण्ड एस० की उपाधि सर्वोच्च अंक अर्जित कर प्राप्त की और विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त किया। तत्पश्चात् आप शासकीय सेवा में आ गए और सफलता-पूर्वक उसका निर्वाह किया। इसी प्रकार आप अपने चिकित्सा-सम्बन्धी स्वतन्त्र व्यवसाय में पूर्ण सफल रहे। किन्तु निरन्तर अध्ययन के लिए आपको उत्कट लालसा ने आपको और अधिक अध्ययन एवं उच्चतर अध्ययन के लिए प्रेरित किया, जिसके परिणामस्वरुप आपने सन् १९२३ में बम्बई विश्वविद्यालय की एम०डी० उपाधि ससम्मान प्राप्त की। इसके बाद भी अध्ययन का आपका क्रम निरन्तर जारी रहा और शल्यचिकित्सा में सर्वोच्च स्नातकोत्तर उपाधि एम०एस० उसी विश्वविद्यालय से सन् १९२८ में प्राप्त की। इसी बीच बम्बई के कालेज आफ फिजीसियन्स एण्ड सर्जन्स नामक एक संस्थान ने आपको सन् १९२६ में एफ०सी०पी०एस०...की उपाधि प्रदान कर अलंकृत एवं सम्मानित किया। आपके विशिष्ट ज्ञान एवं चिकित्सा के क्षेत्र में आपके द्वारा की गई सेवाओं से प्रभावित होकर अमेरिका के 'इन्टरनेशनल कालेज आफ सर्जन्स' की ओर से आपको 'एफ०आई०सी० एल०' की सम्मानित उपाधि प्रदान कर आपको अलंकृत किया गया और आपकी सेवाओं की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई।

इससे स्पष्ट है कि कायचिकित्सा और शल्य चिकित्सा दोनों में अद्भुत रूप से आपकी विषय-प्रवणता थी। दोनों में ही समान अधिकार होने से आप चिकित्सा के दोनों भागों के अधिकार-सम्पन्न विद्वान चिकित्सक माने जाते थे। शास्त्रमर्मज्ञ होने के साथ-साथ आप चिकित्सा में व्यवहार कुशल सफल चिकित्सक माने जाते थे। आपकी बहुमुखी प्रतिभा के अन्तर्गत आपकी एक विशेषता यह भी थी कि आप काय चिकित्सा एवं शल्य चिकित्सा के अतिरिक्त किरणोपचार (Rays Therapy) के भी पूर्ण ज्ञाता थे और इस दिशा में आपकी महान् उपलब्धियों ने चिकित्सा-जगत् को निरन्तर न केवल उपकृत अपितु चमत्कृत भी किया। आपने किरणोपचार का गम्भीर अध्ययन कर ऐसे अनेक कदम उठाए जिससे इस दिशा में अनुसंधान का पथ प्रशस्त हुआ और अनेक उपलब्धियाँ प्राप्त हुईं।

अपना अध्ययन पूर्ण करने के पश्चात् आपने सर्वप्रथम बम्बई सरकार के अधीन चिकित्सा सेवा में प्रवेश कर कार्य प्रारम्भ किया और निरन्तर उन्नति करते हुए असि-स्टेण्ट सर्जन, तत्पश्चात् सिविल सर्जन के पद को सुशोभित किया। कुछ समय के लिए आपने जेल विभाग के सुपरिंटेंडेंट के पद पर भी सफलतापूर्वक कार्य किया। आप जिस पद पर भी कार्यरत रहे आपने अत्यन्त दक्षता, कार्यकुशलता, परि-श्रम और लगन से अपने कर्त्तव्य का निर्वाह किया। आपकी कार्यकुशलता से प्रभावित होकर ही सरकार ने आपको निरन्तर उच्चतर पदों पर पदोन्नत किया। अपनी निष्ठा और लगन से आपने यह सिद्ध कर दिखाया कि आप एक सफल और सिद्धहस्त चिकित्सक हैं। चिकित्सा के प्रति

आपकी जितनी लगन और निष्ठा थी, अध्ययन के प्रति भी आपकी उतनी ही अभिरुचि थी। यही कारण है कि विभिन्न चिकित्सा महाविद्यालयों में अध्यापन के द्वारा आपने अपने ज्ञान से अनेक छात्र-जिज्ञासुओं को लाभान्वित किया। आपने अहमदाबाद और हैदराबाद (सिंध) के चिकित्सा महाविद्यालयों में अध्यापन करने के अतिरिक्त नेशनल मेडिकल कालेज, बम्बई में भी पूर्ण कुशलता एवं दक्षतापूर्वक अध्यापन कार्य किया। आपने वहाँ मानद प्राध्यापक (Hon. Professor) एवं मानद सर्जन (Hon Surgeon) के पद पर कार्य करते हुए पर्याप्त ख्याति अर्जित की। अनेक वर्षों तक आप बम्बई विश्वविद्यालय की ओर से एल० सी० पी० एस० तथा एम०बी०बी० एस० की परीक्षाओं में विभिन्न विषयों के लिए परीक्षक नियुक्त किये गये। नर्सिंग कौंसिल ने भी आपको परीक्षक नियुक्त किया। इस प्रकार आप चिकित्सा एवं अध्यापन दोनों ही दिशाओं में समान रूप से अग्रसर होते रहे।

कार्यक्षेत्र में पदार्पण आपने बम्बई से ही किया। बम्बई में आप अपने अध्यवसाय में सन् १९३३ के मध्य तक रहे, तत्पश्चात् आप अपने ज्ञान गांभीर्य एवं अनुभव के साथ जामनगर आ गये, जहां आपने तत्कालीन नवानगर स्टेट के चीफ मेडिकल आफीसर के पद पर कार्यभार ग्रहण किया। इस पद पर आप १९४७ तक अत्यन्त कुशलता एवं दक्षतापूर्वक कार्य करते रहे। सन् १९४७ में देश की स्वतन्त्रता के पश्चात् जब नवानगर स्टेट को सौराष्ट्र में विलीन कर दिया गया तो आप वहाँ से मुक्त होकर हालार जिला के सरकारी अस्पताल में सिविल सर्जन के पद पर नियुक्त हुए और लगभग चार वर्षों तक इस पद पर कार्य करते रहे। १९५१ में आप इस पद से निवृत्त हुए। अपने कार्य-काल में आपने रुग्णों की सेवा भावपूर्वक तो की ही, अस्पताल की उन्नति में भी आप निरन्तर दिलचस्पी लेते रहे।

इसी अवधि में किरणोपचार पद्धति ने आपको विशेष रूप से आकर्षित किया। धीरे-धीरे इस ओर आपकी अभिरूचि बढ़ती गई, जिसके परिणाम-स्वरूप आप ने इसके विषय में अनुसन्धानात्मक चिन्तन प्रारम्भ कर दिया। किरणोपचार पद्धति के प्रति आपकी गहरी रुची और अनुसन्धानात्मक प्रवृत्ति को देखते हुए आपको सूर्य किरण चिकित्सा-केन्द्र (सोलारियम-Solarium) के निदेशक (डायरेक्टर) के पद पर नियुक्त किया गया। इस पद को सम्भालने के बाद त्वरित गति से अनुसन्धान की दिशा में अपने कदम बढ़ाए। किरणोपचार में अनुसन्धानात्मक कार्य के अन्तर्गत आप ने जामनगर में सूर्य किरणों की तीव्रता का मापन, प्रकाशवाही किरणों और तापवाही किरणों का त्वचा पर प्रभाव, त्वचाओं के वैविध्य और उसके अनुसार किरणों के प्रति उनकी प्रतिक्रिया तारतम्य, विविध ग्रंथिमय विकारों में किरणोपचार का परिणाम तथा क्षय, आमवात सन्धिगत रोग और कुष्ठ आदि में किरणोपचार जनित प्रभाव इत्यादि विषयों पर गम्भीरता-पूर्वक कार्य किया। इसी प्रकार प्रकाश चिकित्सा के मूल भूत सिद्धान्त, आधुनिक चिकित्सा पद्धति में किरणोपचार का स्थान एवं महत्व जैसे मौलिक विषयों की भी आपने समीक्षात्मक विवेचना की। आप ने कैंसर के १५५ तथा ल्यूकीमिया के दो रोगियों पर रेडियम के प्रभाव का भी अध्ययन किया। इस प्रकार किरणोपचार पद्धति में अनु-सन्धानात्मक कतिपय महत्वपूर्ण कार्य कर चिकित्सा जगत को एक नवीन दिशा प्रदान की और चिकित्सकों को इस ओर पर्याप्त ध्यान देने हेतु प्रेरित किया।

आयुर्वेद के प्रति योगदान :

आयुर्वेद के प्रति आपके योगदान के सम्बन्ध में निबन्ध के प्रारम्भ में ही पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका हैं। तथापि, आयुर्वेद के प्रति आपकी रुचि तथा आयुर्वेद सम्बन्धी आपकी अन्यान्य गतिविधियों एवं प्रवृत्तियों से वैद्य समाज को अवगत कराना आवश्यक है। आप आयुर्वेद के सम्पर्क में तब ही आ गए थे जब आप नवा-नगर के चीफ मेडीकल आफीसर के पद पर कार्यरत थे। उस समय आपको आयुर्वेद महाविद्यालय और अस्पताल का डीन बनाया गया था। इस कार्यभार को सम्भालने पर आपने इसे अतिरिक्त भार न मान कर पूरी निष्ठा के के साथ उसे सम्भाला और रुचिपूर्वक कार्य किया। इसके साथ ही आप प्रकाशन विभाग के सम्पादक भी रहे। इस प्रकार आयुर्वेद के क्षेत्र में आपका पदार्पण हुआ और अन्ततोगत्वा आयुर्वेद के प्रति आपकी गहन रूचि, अपूर्व निष्ठा एवं लगन ने आपको इतना अधिक प्रेरित किया किया कि आप सर्वतोभावेन सम्पूर्ण आयुर्वेद जगत में छा गए। आपके द्वारा किए गए ठोस कार्य आयुर्वेद के विकास की उपलब्धियों के द्योतक हैं। यहाँ पर यह भी

उल्लेखनीय है कि जामनगर (गुजरात) स्थित आयुर्वेद की चिरसुपरिचित संस्था श्री गुलाब कुंवर बा आयुर्वेद सोसायटी के सम्माननीय संस्थापक सदस्यों में से आप भी एक हैं। इस संस्था को भी आपका आशीर्वाद प्राप्त है और निरन्तर आपका मार्ग-दर्शन मिल रहा है। आयुर्वेद की सतत प्रगति, विकास एवं अभ्युत्थान में इस संस्था का जो योगदान है उसके मूल प्रेरणा स्रोत मात्र आप ही रहे हैं। इस संस्था के माध्यम से अन्यान्य क्रिया कलापों के कार्यान्वयन में आप की क्रियाशीलता ही मूलरूप से प्रेरणादायी रही है। इस सोसाइटी के अधीन आपके मार्ग निर्देशन में निम्न संस्थाएं विभिन्न कार्यकलापों के संचालन हेतु निर्मित की गईं।

१. शास्त्रीय ढंग से विधिपूर्वक निर्मित आयुर्वेद औषध योगों को शुद्ध रूपेण प्राप्ति हेतु शार्ङ्गधर रसशाला का निर्माण।

२. आयुर्वेद के प्रामाणिक प्राचीन ग्रंथों की उपलब्धि हेतु उनके प्रकाशन की योजना के अधीन सुव्यस्थित मुद्रणालय की स्थापना।

३. आयुर्वेद की वनस्पतियों के असंदिग्ध ज्ञान एवं सद्यः प्राप्ति हेतु वनौषधि उद्यान का निर्माण।

४. आयुर्वेदज्ञ और आयुर्वेद निष्ठ सुयोग्य वैद्यों के निर्माण हेतु साधन सम्पन्न - आयुर्वेद महाविद्यालय की स्थापना।

५. आयुर्वेदाध्ययन रत छात्रों को काय चिकित्सा प्रभृति में व्यावहारिक ज्ञानोपलब्धि हेतु तथा सुयोग्य आयुर्वेद चिकित्सकों के निर्माण हेतु चिकित्सालय-आतुरालय की स्थापना।

इन सभी संस्थाओं ने डा० मेहता जी के सुयोग्य मार्ग निदेशन एवं कुशल संचालन में निरन्तर प्रगति करते हुये जो उत्साहजनक परिणाम प्रस्तुत किए हैं वे सुविदित हैं। यह ज्ञातव्य है कि शार्ङ्गधर रसशाला औषध निर्माण के क्षेत्र में निरन्तर ख्याति अर्जित करते हुए कालान्तर में शार्ङ्गधर फार्मेसी के नाम से एक व्यापारिक प्रतिष्ठान में परिणत हो गई। मुद्रणालय युक्त प्रकाशन संस्थान ने आयुर्वेद के आधारभूत प्राचीन ग्रंथ चरक संहिता के नवीनतम संस्करण के प्रकाशन के साथ-साथ उसका हिन्दी, गुजराती अंग्रेजी में संयुक्त अनुवाद प्रकाशित किया जो आयुर्वेद में सर्वत्र प्रशंसित हुआ। वर्तमान में यह अलक्ष्य है और उसकी मांग निरन्तर बढ़ रही है। आपके सुयोग्य निर्देशन में जो आयुर्वेद महाविद्यालय एवं आयुर्वेद चिकित्सालय स्थापित हुआ था उसने अनेक योग्य वैद्यों एवं सुयोग्य आयुर्वेद चिकित्सकों को जन्म दिया।

आपके कुशल निर्देशन एवं सम्पादन में तीन भाषाओं में अनूदित एवं विपुल विवेचनात्मक परिशिष्ट सहित चरक संहिता के जो छः भाग प्रकाशित हुए हैं उसमें आप की विद्वत्ता, गम्भीर अध्ययन एवं विवेचन शैली का सामन्जस्य लक्षित होता है। आपकी बहुश्रुतता, कुशाग्रबुद्धि, भाषा सौष्ठव एवं सुबोध भावाभिव्यक्ति की स्पष्ट झलक प्रथम भाग में देखने को मिलती है। इसी बीच आप स्वनामधन्य म० म० हाथी भाई शास्त्री जी के निकट सम्पर्क में आए और उनके संस्कृत भाषा के शब्द वैभव एवं अर्थ गाम्भीर्य से इतना अधिक प्रभावित हुए कि आपने इतनी बड़ी आयु में भी संस्कृत का अध्ययन करने का निश्चय कर लिया। आयुर्वेद के ग्रन्थों के अनुशीलन के लिये भी संस्कृत भाषा का ज्ञान नितांत आवश्यक था। अतः आपने संस्कृत का अध्ययन कर अपने ज्ञान कोष को और अधिक समृद्ध किया। इनके साथ ही दिवंगत श्री यादव जी महाराज, श्री दुर्गा शंकर जी शास्त्री, झण्डु फर्मेसी के संस्थापक जुगतराव भाई भट्ट आदि के सौहार्दपूर्ण सहयोग, स्नेहपूर्ण सुझाव एवं मित्रतापूर्ण व्यवहार ने नवीन वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में आयुर्वेद के विविध अंगों का अनुशीलनात्मक अध्ययन करने हेतु प्रेरित किया। इसका सुखद परिणाम यह निकला कि आयुर्वेदीय वैचारिक जगत् में एक नवीन क्रांति का सूत्रपात हुआ और आयुर्वेद को मिला अद्भुत दिशा दर्शन। यह श्री मेहता जी के जीवन का भी एक अद्भुत दिशा - परिवतन था जिसने आपके जीवन की मुख्य धारा ही बदल दी और आप आयुर्वेद के कट्टर पक्षधर बन गए। इस प्रकार आप के जीवन का सम्पूर्ण उत्तर काल सर्वतो भावेन आयुर्वेद के लिए समर्पित होकर आयुर्वेदमय बन गया। जब आपके चीफ मेडीकल आफीसर के पद से आयुर्वेद के क्षेत्र में पदार्पण किया तो संक्रमण के इस शुभावसर पर तत्कालीन महाराजा द्वारा आपको 'ताजिम सरदार' की पदवी से सम्मानित एवं सुवर्णलंकार से अलंकृत किया गया। यह सम्मान एवं अलंकार सम्भवतः आपके जीवन के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण था।

आपके अथक परिश्रम एवं सत्प्रेरणा से आयुर्वेद का तीर्थ कहा जाने वाला जामनगर में आयुर्वेद की अन्यान्य गतिविधियों एवं प्रवृत्तियों के सुचारु सचालन के लिए 'धन्वन्तरि मन्दिर' के नाम से एक विशाल भवन का निर्माण हुआ, जिसके एक भाग में गुलाब कुंवर बा आयुर्वेद महाविद्यालय संचालित हुआ। कालांतर में इसी भवन के दूसरे भाग में केन्द्रीय सरकार ने सन् १९५५ में आयुर्वेदीय स्नातकोत्तर प्रशिक्षण-केन्द्र की स्थापना की, जो सम्पूर्ण देश में आयुर्वेदीय स्नातकोत्तर प्रशिक्षण एवं अर्हता के लिए उस समय एक मात्र संस्था थी। इसकी स्थापना में भी आपकी प्रेरणापूर्ण परामर्श का मुख्य हाथ था। यद्यपि सर्वाधिक योगदान यादव जी महाराज का था, किंतु आपके परामर्श, मार्ग-दर्शन एवं सहयोग ने इस ओर भी अधिक सुगम बनाया। इस केन्द्र ने स्नातकोत्तर अर्हताधारी जितने विद्वज्जन प्रस्तुत किये हैं उन सभी ने अपने ज्ञान गाम्भीर्य से आयुर्वेद जगत को गौरवान्वित किया है।

सन् १९५२ में भारत सरकार द्वारा जामनगर में केन्द्रीय आयुर्वेदीय अनुसन्धान सस्थान (Central Institute of Research in Indian System of Medicine) में प्रथम निदेशक के पद पर भी आपकी ही नियुक्ति की गई थी। आपने लगभग सात वर्ष तक इस पद पर कार्यभार सम्भाला और सन् १९५९ में उस पद से निवृत्त हुए। आपने प्रथम केन्द्रीय आयुर्वेदीय अनुसन्धान संस्थान के निदेशक के गुरुत्तर काय भार का जिस योग्यता, क्षमता, सामर्थ्य एवं दूरदर्शितापूर्ण क्रियाकलापों से निर्वाह किया वह आपकी विद्वत्ता एवं प्रशासनिक कौशल का ही द्योतक है। आपने इसे अपना परम सौभाग्य माना कि आयुर्वेद में अनुसन्धान कार्य की वैज्ञानिक परिपाटी की आधारशिला रखने का गुरुत्तर भार आपके सशक्त कंधों पर आया और अपनी कर्त्तव्य निष्ठा के के साथ आपने उसे पूरा किया।

साहित्य साधना

जामनगर की आयुर्वेदान्वेषण संस्था से निवृत्ति के अनन्तर आयुर्वेद के प्रति आपका सेवाकार्य किसी भी रूप में कम नहीं हुआ, अपितु, और भी बढ़ गया। इसका कारण यह था कि सरकारी कार्य व्यस्तता की अधिकता के कारण अन्य संस्थाए जहाँ आपके पूर्ण मार्गदर्शन एवं प्रेरणा से वंचित रहती थीं उन्हें अब पर्याप्त मार्गदर्शन होने लगा। आपको अब अपने निजी अध्ययन के लिए पर्याप्त समय मिलने लगा और एकाग्रता एवं मनोयोग पूर्वक आप साहित्य साधना में तल्लीन रहने लगे। आपका अन्त:जगत और बाह्य दोनों से सम्पर्क और अधिक बढ़ गया। अध्ययन के समय आपकी मनोवृत्ति मधु संचय की भांति रहती है। अर्थात् सर्वप्रथम ग्रन्थों का विवेचनात्मक सूक्ष्म अध्ययन, तत्पश्चात प्रत्येक ग्रन्थ से मधु संचयवत् टिप्पणी संकलन और उन पर समीक्षात्मक स्वमत प्रतिपादन। आपके द्वारा लिखित लेखों में इसी शैली एव पद्धति का परिचय मिलता है। अब तो संकलित टिप्पणियों के आधार पर अध्ययन, मनन एवं चिन्तनपूर्वक तुलनात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए लेख निबद्ध करना ही आपकी दिनचर्या का एक प्रमुख अंग बन गया है।

अनेक विश्वविद्यालय, विचारगोष्ठियां और वैद्य सभाएं आपकी अनवरत भाषण मालाओं का लाभ ले चुकी हैं। आपके व्याख्यानों का सकलन करके गुजरात विश्वविद्यालय द्वारा "आयुर्वेद के मूल सिद्धान्त" नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया जा चुका है। अद्यावधि आपकी प्रकाशित कृतियों में निम्न उल्लेखनीय हैं—आतुर परीक्षा विज्ञान, त्रिदोष विज्ञान, वैद्यकीय सुभाषितावलि, औषध-निर्माण विज्ञान, क्षण एटलेशु ?—Elements of Light Therapy, Harbingers of future Medicines, India and the world in Medicine. A synthetic anaemia in Ayurved. आदि।

कहानी एव नाटक के रूप में भी आपने अपनी साहित्यिक प्रतिभा का परिचय दिया है। आयुर्वेद के सिद्धान्तों को व्यवहारिक रूप से प्रदर्शित करने हेतु आपने चार्ट्स को माध्यम बनाया और आयुर्वेदीय सिद्धांतों की विशेषताओं को ६० चार्टों द्वारा प्रदर्शित करके आयुर्वेद में नूतन कार्य-पद्धति का श्रीगणेश किया।

आप वर्षों तक केन्द्र तथा अनेक राज्यों में स्वास्थ्य अथवा आयुर्वेद-सम्बन्धी गठित अनेक समितियों में सक्रिय रूप से भाग लेते रहे और उन्हें अपने सत्परामर्श एवं एवं मार्गदर्शन से उपकृत करते रहे। आप अपने जीवन को ८६ बसन्त पार कर चुके हैं और निष्ठा एवं एकाग्रतापूर्वक आयुर्वेदीय साहित्य की मूक साधना में लगे हुए हैं। सुदीर्घ काल तक आयुर्वेद जगत् आपके मार्ग-दर्शन का लाभ लेता रहे—यही ईश्वर से करबद्ध प्रार्थना है।

अविस्मरणीय आयुर्वेद-सेवी

मूर्धन्य वनौषधि-विशेषज्ञ स्वर्गीय ठाकुर बलवन्त सिंह जी

आचार्य प्रियव्रत शर्मा, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

५ सितम्बर, १९७८ को १० बजे रात में वनौषधि-विज्ञान के अन्तरिक्ष का एक भास्वर नक्षत्र अस्त हो गया। सुप्रभात नहीं आने पाया—'हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार।' दूसरे दिन प्रभात आया किन्तु उसमें उल्लास एवं स्फूर्ति के बजाय अवसाद एवं विवशता थी। हमलोग हरिश्चन्द्रघाट पर स्वर्गीय ठाकुर बलवन्त सिंह के अन्तिम संस्कार के समय श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिये उपस्थित थे। भागीरथी का उद्गम जलप्रवाह उमड़ता हुआ सड़कों और गलियों में घुसता चला जा रहा था और देखता चला जा रहा था कि उसके बहुत ऊपर एक ऐसे दिव्य महापुरुष का भौतिक अवशेष वैश्नावर को समर्पित था जहाँ तक उसकी पहुंच नहीं थी। जो वनौष-धि-विशेषज्ञ जंगलों में नदी-नालों के किनारे घूमता हुआ विविध वृक्षों का सान्निध्य उपलब्ध करता था उन्हीं सूखे वृक्षों की शय्या पर आज वह समाधिस्थ शान्त भाव से सोया है। थोड़ी ही देर में वह राख होकर उन वनस्प-तियों की राख से मिल कर एकाकार हो जाएगा जिसकी साधना में वह सारा जीवन लगा रहा। वह छोटा-सा लौहपिण्ड जो विगत दस वर्षों से उनके उरूदण्ड को सम्भाले था वह भी राख की बगल में उदास पड़ा था शायद इस भावना से कि वह उसमें एकाकार न हो सका। होता भी कैसे, उसकी जात दूसरी थी। उसी समय देखा कि गंगा की प्रचण्ड तीव्र मध्यधार में एक नौका वेग से चली जा रही थी। लगा, जैसे यह ठाकुर साहब के समस्त जीवन का एक प्रतीक-चित्र हो। स्व० बलवन्त सिंह जी का जीवन ऐसा ही संघर्षमय और साथ-साथ जीवन्त भी था। वह वैज्ञानिक होने के साथ-साथ एक अतिशय भावुक, सहृदय कलाकार भी थे। उनकी यह भावुकता उनके द्वारा अभिनीत अनेक नाटकों में मुखर हुई थी जिन्हें देखकर दर्शक दंग रह जाते थे। कला एवं विज्ञान तथा भावुकता तथा जिज्ञासा के अद्भुत संयोग ने उन्हें प्रकृति के विशाल मनोहर प्रांगण के द्वार पर ला खड़ा किया जहां से उन्होंने वनस्पतियों और लता-गुल्मों के अपूर्व सौन्दर्य को देखा और सदा के लिये उनके बाहुपाश में बन्धकर रह गये। जीवन के अन्तिम क्षण तक उससे मुक्त न हो पाये, शायद इससे मुक्त होना भी नहीं चाहते हों। जन्म-जन्मान्तर तक यह सुखद स्पर्श उन्हें बांधे रहे; सम्भवतः यही उनकी कामना रही। अन्तिम वर्षों में जब वह शरीर से क्षीण थे तब भी उनका मन जंगलों में वनौष-धियों के अन्वेषण में भटकता-फिरता था। आश्विन-कार्तिक का महीना आते ही उनके मानसिक जगत् में वह वातावरण उपस्थित हो जाता था जब वह छात्रों के दल के साथ देश के विभिन्न अंचलों में, पहाड़ों और जंगलों की खाक छानने निकल पड़ते थे, जहां वह कभी नालों में कंटीली झाड़ियों से उलझते दिखाई पड़ते तो कभी छड़ी टेकते हुए पहाड़ की ऊंचाई तय करते हुए आगे बढ़ते जाते।

ठाकुर साहब में विद्वत्ता के साथ-साथ उदग्र कल्पना-शक्ति थी जिसका परिचय सन्दिग्ध वनौषधियों के निर्णय में मिलता है। महर्षि चरक ने वनौषधियों के नामरूपात्मक ज्ञान की जो आधारशिला रखी थी उस पर आपने अद्-भुत सृजनशक्ति से एक ऐसी विशाल अट्टालिका का निर्माण किया जहां खड़े होकर आज हम अनेक अज्ञात एवं संदिग्ध वनौषधियों को परिचित के रूप में देख रहे हैं।

ठाकुर साहब ने यावज्जीवन अनवरत साधना से बनौषधि-अनुसंधान का ऐसा पथ प्रशस्त किया जिस पर चल कर वर्त्तमान एवं भावी पीढ़ी सफलतापूर्वक आगे बढ़ सकती है।

संदिग्ध द्रव्यों के निर्णय तथा अनेक अज्ञात द्रव्यों को प्रकाश में लाने का जो स्तुत्य कार्य ठाकुर साहब ने किया है उसके लिये समस्त वैज्ञानिकजगत् उनका आभारी रहेगा। इस सम्बन्ध में अपने अनेक विचारों को उन्होंने

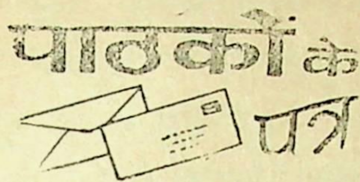
अपने अन्तिम ग्रन्थ 'ग्लासरी' में प्रकाशित किया है किन्तु उनका चिन्तन-क्रम उसके बाद भी चलता रहा और सम्भवतः अनेक नवीन विचार वह अपने साथ लेते चले गये। किन्तु जो भी विचार विन्दु वह छोड़ गए हैं वह द्रव्य-गुण जगत की अमूल्य ऐतिहासिक धरोहर है तथा इस पथ के पथिकों के लिये अमृत पाथेय के रूप में उपादेय होंगे।

ठाकुर बलवन्त सिंह का जन्म १ जुलाई, १९०३ को उत्तर प्रदेश के जौनपुर जिला (सरवोई ग्राम) में हुआ था। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से सन् १९२७ में वनस्पति विज्ञान में एम० एस-सी० कर उसी सत्र से वहीं के आयुर्वेदिक कालेज में वनस्पतिविज्ञान के व्याख्याता नियुक्त हुये। आयुर्वेदीय वातावरण के संपर्क से उनमें आयुर्वेदीय वनौषधियों पर अन्वेषण-विवेचन करने की प्रेरणा जागृत हुई और उस कार्य में वह पूरी तत्परता से संलग्न हो गये। इस क्रम में उन्होंने प्रायः समस्त भारत के वन्य एवं पर्वतीय अन्चलों में भ्रमण कर वहां की वनौषधियों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त की। समय-समय पर अपने विचारों को प्रकाशित भी करते रहे। वनौषधि दर्शिका (१९४७), 'बिहार की वनस्पतियां' (१९५५), 'प्रारम्भिक उद्भिदशास्त्र' (१९४९) तथा 'ग्लासरी आफ वेजिटेबुल ड्रग्स इन बृहत्रयी (१९७२)' आपकी प्रमुख रचनायें हैं। अन्तिम कृति में आपने वनस्पतियों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण विमर्श प्रस्तुत किया है।

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन द्वारा आयोजित बाह्यरोग मार्ग-विषयक शास्त्रचर्चा परिषद् में भाग लेकर हैदराबाद से ४ सितम्बर को घर वापस आये और ५ तारीख को ठाकुर साहब ७५ वर्ष की आयु में चल बसे। यह भूला नहीं जा सकता कि आपकी अनेक महत्वपूर्ण वनौषधि-यात्राओं की व्यवस्था श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन ने की थी। भवन के संस्थापक बैद्यराज पं० रामनारायण शर्मा का अटूट स्नेह, सम्मान एवं विश्वास ठाकुर साहब के प्रति था जिसका निर्वाह उन्होंने अन्तिम समय तक किया।

ठाकुर बलवन्त सिंह जी के शिष्यों की संख्या विशाल है जो देश-विदेश में फैले हैं। मुख्यतः वनौषधियों के क्षेत्र में कार्य करने वालों में प्रस्तुत लेखक के अतिरिक्त हमारे सहयोगी डा० कृष्णचन्द्र चुनेकर, वैद्य मायाराम उनियाल प्रभृति प्रमुख हैं।

स्वर्गीय ठाकुर साहब ने आयुर्वेद और विज्ञान के लिये जितना दिया उसका मूल्य नहीं चुकाया जा सका और न यह संभव ही था। हिरण्य-ज्योति तो ऊर्ध्व अन्तरिक्ष में विलीन हो गई, अब जो नीचे रह गये, अपनी समस्त श्रद्धाभावना के सहित दो फूल उनकी पावन स्मृति में समर्पित करने के सिवा उनके लिये और क्या रहा? दिव्य पुष्पों के अन्तर्यामी के पास क्या हमारे इन तुच्छ पुष्पों की सुरभि पहुंच पायेगी?



आयुर्वेद शिक्षण के नाम पर खुली दुकानदारी

लोकसभा द्वारा १९७० में एक बिल पारित किया गया था, जिसके द्वारा भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद् अधिनियम १९७० का निर्माण किया गया। इस अधिनियम के अधीन १ सितम्बर, १९७१ को भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद् नामक एक परिषद् का गठन किया गया था। इस परिषद ने अपने दीर्घकालीन परिश्रम एवं विचार-विमर्श के उपरान्त आयुर्वेद के लिए एक सर्वमान्य पंचवर्षीय पाठ्यक्रम का निर्माण कर सर्व-सम्मति से उसे पारित किया और यथासमय उसे केन्द्र सरकार की स्वीकृति भी प्राप्त हो गई। तत्पश्चात् अधिनियम की धारा २२ के अधीन केन्द्रीय परिषद ने ४ जनवरी १९७७ को वह पाठ्यक्रम देश के सभी आयुर्वेद महाविद्यालयों में सत्र ७७-७८ से लागू किए जाने हेतु अधिसूचित किया। जिसे देश के लगभग सभी आयुर्वेद महाविद्यालयों ने अपना लिया है। इस सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद ने केवल उन्हीं आयुर्वेद महाविद्यालयों को मान्य किया है जो किसी विश्वविद्यालय से सम्बद्ध हैं। निजी (प्राइवेट) उन महाविद्यालयों को मान्य नहीं किया है जो किसी परीक्षा निकाय या अन्य ऐसी ही प्राइवेट संस्थाओं से सम्बद्ध थे या हैं।

दिल्ली में केवल आयुर्वेदिक एवं यूनानी तिब्बिया कालेज ही एकमात्र ऐसा कालेज है जो दिल्ली विश्वविद्यालय से सम्बद्ध है। इससे पहले यह कालेज दिल्ली प्रशासन द्वारा गठित 'परीक्षा निकाय' (एग्जामिनिंग बाडी) से सम्बद्ध था। अब गत ५-६ वर्षों से वह परीक्षा निकाय अपनी अनुपयोगिता के कारण मृतप्राय हो चुकी थी। किन्तु अब जबकि आयुर्वेद का भविष्य उज्ज्वल दिखाई देने लगा है, कुछ भ्रष्ट एवं स्वार्थलोलुप व्यक्तियों द्वारा उसे पुनर्जीवित कर दिया गया है और अपनी दुकानदारी चलाने वाले तीन प्राइवेट आयुर्वेद महाविद्यालयों को उससे सम्बद्ध कर लिया गया है। परीक्षा निकाय ने यद्यपि केन्द्रीय परिषद का पाठ्यक्रम ही लागू किया है, किंतु एक महाविद्यालय के लिये जो न्यूनतम स्तर केन्द्रीय परिषद द्वारा निर्धारित किये गये हैं उनकी पूर्णतः उपेक्षा की जा रही है। ये महाविद्यालय केवल एक-एक कमरे में ही संचालित हैं और शवच्छेदन, आतुरालय, लेबोरेटरी, औषध-निर्माण आदि प्रायोगिक साधनों के नाम पर इनके पास कोई व्यवस्था नहीं है।

इन महाविद्यालयों में प्रवेशार्थियों की बढ़ती हुई भीड़ को देखते हुए प्रवेश-सम्बन्धी सभी नियमों एवं योग्यता क्रम को ताक पर रख दिया गया है और प्रवेश लेने वाले प्रत्येक छात्र से पांच हजार रुपया दान (डोनेशन) की माँग की गई है। आयुर्वेद कालेजों में केवल उसी छात्र का प्रवेश हो सकेगा जो दान की निर्धारित राशि देगा। इन कालेजों में योग्यता के आधार पर प्रवेश दिये जाने की कोई व्यवस्था नहीं है। हां, दान के साथ-साथ किसी महत्वपूर्ण व्यक्ति की सिफारिश भी आवश्यक है। क्या यह आयुर्वेद के नाम पर खुली दुकानदारी और अपने भविष्य की तलाश मे भटक रहे छात्रों से की जा रही खुली लूट नहीं है? यह सब दिल्ली प्रशासन की नाक के नीचे खुले आम हो रहा है और अधिकारीगण तथा कार्यकारी पार्षद चुपचाप देख रहे हैं।

ज्ञात हुआ है कि परीक्षा निकाय ने अपने दो सदस्यों श्री कविराज खजानचन्द एवं श्री दत्ता को तीनों महाविद्यालयों में छात्रों के चयन के लिए अधिकृत किया है। परीक्षा निकाय ने यह भी निर्णय लिया था कि जिन छात्रों के ४५ प्रतिशत से कम अंक हैं उन्हें प्रवेश नहीं दिया जाय किन्तु इस निर्णय को ताक पर रख दिया गया है तथा श्री खजानचन्द की मनमानी और इच्छानुसार छात्रों को प्रवेश दिया जा रहा है। पता चला है कि डोनेशन के नाम पर जो रकम ली जा रही है उसमें संस्था और चयनकर्ता महानुभावों का आधा-आधा हिस्सा है। यहां यह ध्यान देने योग्य है कि चयनकर्ता महानुभाव अपना राजनैतिक प्रभाव रखते हैं और भारतीय चिकित्सा केंद्रीय परिषद के सदस्य हैं। यह कितना दुर्भाग्यपूर्ण है कि सम्पन्न

कहे जाने वाले ये तथाकथित प्रतिष्ठित लोग चन्द चांदी के टुकड़ों के लिए आयुर्वेद के नाम पर कालाबाजारी, चोर बाजारी और खुली लूट-पाट कर रहे हैं और इनके शिकार हैं; असहाय बेरोजगार विद्यार्थीगण । इस काला बाजारी में दिल्ली के एक प्रतिष्ठित वैद्यराज का भी खुला हाथ है ।

दिल्ली प्रशासन के अधिकारियों एवं कार्यकारी पार्षद श्री खुराना जी से विनम्र अनुरोध है कि आयुर्वेद के नाम पर की जा रही इस कालाबाजारी को रोकें और आयुर्वेदिक कालेज के रूप में चल रही दूकानदारी को बन्द करें । इस प्रकार छात्रों के जीवन से खिलवाड़ करने वाले अनैतिक तत्वों के खिलाफ कड़ी कार्रवाई कर उन्हें यथोचित दंड दिलाने की व्यवस्था की जाय । अन्यथा ये लोग अपने कार्यों से आयुर्वेद का अहित किए बिना नहीं रहेंगे ।

भवदीय

वैद्य कात्यायन शास्त्री

नजफगढ़, नई दिल्ली-४३



भारतीय चिकित्सा संगठन द्वारा बाढ़ चिकित्सा शिविर

भारतीय चिकित्सा संगठन, वाराणसी शाखा द्वारा विभिन्न स्थानों पर बाढ़ राहत चिकित्सा शिविरों का आयोजन किया गया जिसमें सर्वप्रथम दिनांक १६-९-७८ को रानी भवानी कटरा बंगाली टोला में जिसका उद्घाटन श्री महावीर शर्मा, अध्यक्ष स्माल स्केल इन्डस्ट्रीज एसोसियेशन तथा श्री दयाशंकर मिश्र ने किया, दूसरे शिविर का उद्घाटन नगवा में प्रो० प्रियव्रत शर्मा, डीन फैकल्टी आफ इन्डियन मेडिसिन काशी हि० विश्वविद्यालय द्वारा तथा तीसरे का उद्घाटन कोदई चौवेपुर नगरमहापालिका के प्रशासक श्री बृजेन्द्र सहाय, आचार्य विश्वनाथ द्विवेदी की अध्यक्षता में एवं भारतीय चिकित्सा संगठन के राष्ट्रीय अध्यक्ष प्रो० लक्ष्मीशंकर विश्वनाथ गुरु की उपस्थिति में हुआ। चौथे शिविर का उद्घाटन श्री बागीश्वर शुक्ल, प्राचार्य, आयुर्वेद महाविद्यालय, वाराणसी द्वारा चौका घाट तेलवरियावीर पर हुआ। पांचवें शिविर का उद्घाटन भदैनी अस्सी पर भारतीय चिकित्सा संगठन के राष्ट्रीय महामंत्री डा० सत्येन्द्र प्रसाद मिश्र द्वारा शहर कांग्रेस कमेटी के महामंत्री श्री विजय दूबे की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। नागरिकों की ओर से श्री राजनारायण सिंह, अस्सी, शैलेन्द्र उपाध्याय, काशीकांत झा, भदेनी, देवाशीष भट्टाचार्य, निर्भयदत्त, बंगाली टोला, आर० सी० गुप्ता एवं नन्दलाल का विशेष सहयोग रहा। चौका घाट स्थित शिविर का जिलाधीश श्री अजितकुमार दास ने निरीक्षण किया और संगठन के कार्यों की प्रशंसा की।

क्षेत्रीय आयुर्वेदिक एवं यूनानी कम्पाउन्डर संघ चमोली-पौड़ी

माननीय जिलाधिकारी महोदय की सेवा में राजकीय आयुर्वेदिक एवं यूनानी क्षेत्रीय कम्पाउन्डर संघ चमोली एवं पोड़ी द्वारा मांग-पत्र समर्पित।

मान्यवर,

हम क्षेत्रीय आयुर्वेदिक एवं यूनानी कम्पाउन्डर संघ चमोली एव पोड़ी गढ़वाल के, कई वर्षों से मांग करते आ रहे हैं कि हमें समान कार्य के लिए एलोपैथिक (कम्पाउण्डरों) फार्मेसिस्ट की भांति वेतन आदि सुविधायें समान रूप से दी जायं। पुनः शासन से निवेदन है कि असमानताएं दूर कर निम्नलिखित मांगें शासन के सम्मुख रख कर हमें कृतार्थ करेंगे।

(१) समान कार्य के लिए एलोपैथिक फार्मेसेस्ट के समान वेतन दिया जाय।

(२) सलेक्सन ग्रेड। आयुर्वेदिक एवं यूनानी कम्पाउण्डरों की पदोन्नति का कोई अवसर नहीं है एलोपैथिक फार्मेसिस्ट के समान सलेक्सन ग्रेड दिया जाय।

(३) आवास भत्ता १०% दिया 'जाय।

(४) चार्ज एलाउन्स २५% दिया जाय।

(५) कम्पाउण्डर पद के स्थान पर फार्मेसिस्ट का पद घोषित किया जाय।

(६) आयुर्वेदिक कालेजों में बी० ए० एम० एस० एवं फार्मेसिस्ट प्रशिक्षण प्रवेश हेतु, आयुर्वेद विभाग में सेवारत कर्मचारियों के अभ्यार्थियों के लिए १० स्थान सुरक्षित रखे जायं।

उपरोक्त मांगों की पूर्ति हेतु संघ को प्रबल संघर्ष के लिए बाध्य होना पड़ेगा अब शासन द्वारा लगातार उपेक्षाएं लम्बे समय तक असह्य हैं।

अतः सरकार से निवेदन है कि ३ माह के भीतर हमारी उपरोक्त न्यायोचित मांगें स्वीकार कर ली जायं। विवशता के लिए समस्त उत्तरदायित्व सरकार का होगा।

कालाआगर (नैनीताल) में गांधी जयंती - समारोह सम्पन्न

राजकीय आयुर्वेदिक चिकित्सालय कालाआगर, जिला नैनीताल (उ० प्र०) में २ अक्तूबर सन् १९७८ को गांधी जयन्ती बड़ी धूमधाम से मनाई गई।

सर्वप्रथम प्रातः ८-३० बजे राष्ट्रीय ध्वजारोहण के

बाद सामूहिक तौर पर राष्ट्रीय गान एवं प्रा० पाठशाला कालाआगर के बच्चों द्वारा मंगलाचरण के साथ देशभक्ति एवं गांधीजी के प्रति सम्मानित गान हुआ। तत्पश्चात् स्वर्गीय आत्मा बापू जी को श्रद्धांजलि अर्पण करते हुए उनकी मूर्ति को माल्यार्पण किया गया। बाद में चिकित्सा अधिकारी श्री डा० जीतन प्रसाद द्विवेदीजी ने भी महात्मा जी की जीवनी पर प्रकाश डालते हुए स्वास्थ्य - विषयक आयुर्वेद के दृष्टिकोण की चर्चा की तथा चिकित्सालय के समस्त कर्मचारीगण एवं अन्य अध्यापक वर्गों एवं समस्त उपस्थित व्यक्तियों को अपने कार्य को निष्ठा से करने एवं श्री बापूजी के पदचिह्नों पर अमल करने की आवश्यकता पर बल दिया। अन्य व्यक्तियों के भी भाषणादि हुए। बच्चों को मिठाई बाँटी गई।

१३वां असम राज्य आयुर्वेद महासभा

असम राज्य आयुर्वेद महासभा का १३वां वार्षिक अधिवेशन आगामी दिनांक २ नवम्बर को तेजपुर में होने जा रहा है। इसकी अध्यक्षता कविराज वैकुण्ठनाथ देव अधिकारी करेंगे। असम के माननीय स्वास्थ्य मन्त्री श्री कोषेश्वर द्वारा अधिवेशन का उद्घाटन करेंगे। आशा की जाती है कि भारत के प्रधान मन्त्री श्री मोरारजी देसाई आशीर्वाद प्रदान करेंगे।

महासभा के अवसर पर 'आयुर्वेद अनुसन्धान और उसका भविष्य' विषय पर सम्भाषा परिषद् तथा आयुर्वेदिक प्रदर्शनी का भी आयोजन होगा।

राज० आयु० यू० चि० सेवा संघ, सीतापुर

दिनांक १७-९-७८ को राजकीय आयु० एवं यूनानी चिकित्सा सेवा सघ की क्षेत्रीय शाखा सीतापुर की कार्यकारिणी की बैठक श्री श्यामसुन्दर पाठक प्रभारी चिकित्साधिकारी राजकीय आयु० चिकित्सालय हरदोई नगर की अध्यक्षता में रा० आ० चि० हरदोई में हुई जिसमें सर्वसम्मति से महत्वपूर्ण प्रस्ताव पारित किये गये।

आयुर्वेद चिकित्सा शिविर में विशिष्ट रोगों का उपचार

जयपुर, १७ अक्तूबर। अग्रवाल धर्मशाला काँवटिया का खुर्रा रामगंज बाजार में आयुर्वेद मन्त्री श्री त्रिलोकचंद्र जैन ने आयुर्वेद निदेशालय के अन्तर्गत चलाये जा रहे आयुर्वेद चिकित्सा-शिविर का उद्घाटन किया, जिसकी अध्यक्षता विधायिका श्रीमती उज्ज्वला अरोड़ा ने की।

उन्होंने आयुर्वेद चिकित्सा-पद्धतियों के साथ-साथ भारतीय अन्य चिकित्सा पद्धतियों को भी अपनाने तथा उनकी प्रगति की ओर ध्यान देने का आग्रह किया। चिकित्सा मन्त्री ने विभाग द्वारा, समय-समय पर जहाँ चिकित्सा सुविधा समुचित मात्रा में उपलब्ध नहीं है, वहाँ विशिष्ट चिकित्सा शिविरों के आयोजन पर प्रसन्नता प्रकट की।

श्रीमती उज्ज्वला अरोड़ा ने अपने अध्यक्षीय भाषण में विश्वास प्रकट किया कि राज्य सरकार आयुर्वेद की उन्नति की ओर विशेष ध्यान दे रही है तथा समुचित साधनों एवं वनौषधियों में समस्त औषधालयों को प्रभावी चिकित्सा क्षेत्र बना कर इसके प्रचार-प्रसार एवं प्रगति की ओर विशेष ध्यान रखेगी।

सुजानगढ़ में आयुर्वेदिक औषधालय का भवन श्री जोशी द्वारा उद्घाटन

सुजानगढ़, १६ अक्तूबर। आयुर्वेद विभाग के अतिरिक्त निदेशक श्री ताराप्रकाश जोशी के अनुसार स्वतन्त्रता के बाद आयुर्वेद के अनुसन्धान में आयी बाधा का मूल कारण संस्कृतज्ञ वैद्य समाज द्वारा नयी पीढ़ी को संस्कृत का ज्ञान नहीं कराना है। श्री जोशी ने यहाँ लक्ष्मीनारायण बगड़िया आयुर्वेदिक औषधालय के नये भवन का उद्घाटन किया। आपने कहा कि हमारा वैद्य समाज आयुर्वेद की महत्वपूर्ण बातों का ज्ञान हिन्दी अनुवाद के सहारे प्राप्त करने का ही इच्छुक है। इसके अलावा उन्होंने पश्चिम में हुए आविष्कारों को प्रयोग में लाने की ओर कोई ध्यान नहीं दिया, जिससे आयुर्वेद का अहित हुआ है।

स्व० डा० द्वारकानाथ को श्रद्धांजलि

नेशनल इन्ट्रीग्रेटेड मेडिकल एसोसिएशन काशी हिंदू विश्वविद्यालय के सभी सदस्यों की शोक सभा आयुर्वेद के ख्याति-प्राप्त विद्वान प्रोफेसर डा० चक्रपाणि द्वारकानाथ अय्यङ्गर के आकस्मिक निधन पर शोक व्यक्त करती हुई दिवंगत आत्मा को श्रद्धाँजलि अर्पित करती है और ईश्वर से प्रार्थना करती है कि शोक - सन्तप्त परिवार को इस कष्ट को सहन करने की शक्ति प्रदान करे।

डा० द्वारकानाथ आयुर्वेद जगत से पिछले पचास वर्षों

से जुड़े रहे। समय-समय पर आयुर्वेद छात्रों, विद्वान चिकित्सकों के लिये उन्होंने जो निःस्वार्थ भाव से सेवा की है उसके लिए आयुर्वेद जगत उनका चिर ऋणी रहेगा।

जम्मू के विख्यात आयुर्वेद-सेवी का निधन

आयुर्वेदिक कालेज जम्मू के लब्ध-प्रतिष्ठित अध्यापक डा० गोपाल कृष्ण कपाई का ३४ वर्ष की अल्पायु में 'सेरिब्रल हेमरेज' के कारण निधन का समाचार सुनते ही नेशनल इन्ट्रीग्रेटेड मेडिकल एसोसिएशन बी० एच० यू० में शोक की लहर व्याप्त हो गयी।

डा० कपाई मृदुभाषी एवं प्रिय स्वभाव के व्यक्ति के रूप में अपने मित्रों एवं शिष्यों के बीच सम्मानित थे।

डा० कपाई मिश्रित चिकित्सा - पद्धति के विख्यात चिकित्सक थे। आपके निधन से आयुर्वेदिक कालेज जम्मू सहित आयुर्वेद समाज की अपूरणीय क्षति हुई है। आपने आयुर्वेद को जम्मू कश्मीर में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण भारत में उच्चतम शिखर पर पहुंचाने का हर सम्भव प्रयास किया।

नेशनल इन्ट्रीग्रेटेड मेडिकल एसोसिएशन, बी० एच० यू० के सदस्यों की शोक सभा उनकी आत्मा की शान्ति के लिये श्रद्धांजलि अर्पित करती है और शोक सन्तप्त परिवार को सम्वेदना प्रेषित करती है।

वैद्य शिवकरण शर्मा छांगाणी को पत्नी वियोग

वैद्यराज पं० शिवकरणजी शर्मा छांगाणी, नागपुर की धर्मपत्नी स्व० कान्ता देवी छांगाणी का दिनांक २३-९-७८ को असामयिक निधन हो जाने के कारण विदर्भ प्रान्तीय आयुर्वेद सम्मेलन की शोक सभा श्री वैद्यराज पं० रामदत्त जी शर्मा की अध्यक्षता में तथा आयुर्वेद-शिरोमणि वैद्यराज पं० गुलराजजी शर्मा, आयुर्वेदाचार्य की विशेष उपस्थिति में दिनांक २७-९-७८ को सायं ४ बजे सम्मेलन के कार्यालय में हुई। दिवंगता के प्रति शोक प्रस्ताव पारित कर श्रद्धांजलि अर्पित की गयी।

शोक सन्देश

बागड-प्रदेश के लोकप्रिय एवं ख्याति-प्राप्त यशस्वी आयुर्वेदिक चिकित्सक वैद्य श्री जीवननाथ भट्ट जो कि राजकीय आयुर्वेदिक चिकित्सालय खडगदा, जिला डंगरपुर (राजस्थान) का असामयिक देहावसान दिनांक ११-९-७८ सोमवार को हो गया है। उसी दिन अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त आयुर्वेदज्ञ प्रोफेसर श्री सी० द्वारका नाथ (भूतपूर्व परामर्शदाता—भारतीय चिकित्सा-पद्धति भारत सरकार) का भी देहावसान हो गया है, इस अत्यन्त दुःखद अवसर पर डगरपुर-बासवाडा जिले के अनेक चिकित्सकों, समाजसेवी संस्थाओं, उद्योगपतियों तथा जनसामान्य द्वारा उक्त दोनों आयुर्वेदज्ञों को हार्दिक श्रद्धांजलियां अर्पित की गईं एवं दोनों चिकित्सकों द्वारा अपने-अपने क्षेत्र में उनके द्वारा की गई सेवाओं की भूरि भूरि प्रशंसा की गई।

वैद्यनाथ धर्मार्थ चिकित्सालय, नागपुर

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० ग्रेट नाग रोड, नागपुर द्वारा संचालित श्री वैद्यनाथ धर्मार्थ चिकित्सालय तथा स्वास्थ्य-रक्षा-केन्द्र, बाकर रोड, नागपुर में माह सितम्बर सन् १९७८ में ९१८४ रोगियों की निःशुल्क चिकित्सा की गयी जिनमें १०४५ रोगी नये आये। रोगियों की संख्या निम्न प्रकार है।

वातश्लेष्मिकज्वर २०, ज्वर २३३, शीत ज्वर १, जीर्णज्वर २, अतिसार २२, ज्वरातिसार ३, अर्श १०, अग्निमान्द्य ३६, क्रिमि ६, रक्तपित्त १, राजयक्ष्मा १२, कास ४९, श्वास २९, स्वरभेद २४, वमन १, कासज्वर १४, दाह २६, वातव्याधि २३, गृध्रसी १, वातकुष्ठ ७८, आमवात ७, उदरशूल १४, परिणामशूल उदावर्त १४, प्रमेह ५, यकृदाल्युदर २, शोथ १५, आन्त्रवृद्धि ३, अण्डवृद्धि ३, ग्रन्थी शोक १, व्रण ४, कंठ १ पामा द्रद्रू १०९, शीतपित्त ५, अम्लपित्त १६, गुदभ्रंश १, दन्त ५, क्रिमिज्वर २, मुखपाक १७, कर्ण रोग ५, प्रतिश्याय ४०, नेत्ररोग ३, शिरोरोग १, शिरःशूल २२, प्रदर १६, सूतिका ३, बाल रोग २, बहुमूत्र १२, स्नायुक पित्त ४, कटिशूल ७, विबन्ध दौर्बल्य ८२, रक्त विकार १४ केश १, सगर्भा २। कुल जोड़ १०४५।

श्री ५ की सरकार
स्वास्थ्य मन्त्रालय स्वास्थ्य सेवा विभाग
आयुर्वेद चिकित्सालय

२०३५ साल में भाद्र महीने में निःशुल्क सेवा प्राप्त रोगियों का विवरण :—

(क) नवीन तथा पुराने रोगियों की कुल संख्या ४,७१४

(ख) २०३५ साल भाद्र महीने में उपचारार्थ आए हुये नवीन रोगी—२,८१७

(१) पुरुष रोगी-संख्या—१,४८५

(२) महिला रोगी-संख्या—१,३३२

(३) बालक रोगी-संख्या:—स्त्री, पु०:—२१—४१६ जिससे निम्न विभागों से निःशुल्क उपचार (सेवा) किया गया है।

(१) काय चिकित्सा विभाग से उपचार:—६७५०

(२) शल्य-शालाक्य विभाग से उपचार:—१,०२७

पुनरागत रोगी विवरण

(ग) पुनरागत उपचारार्थ आए हुए रोगियों की संख्या:—१,८५७

(१) काय चिकित्सा विभाग से उपचारित रोगी संख्या:—१,३०३

(२) शल्य - शालाक्य विभाग से उपचारित रोगी संख्या:—५९४

अन्तरंग विभाग में प्रविष्ट रोगियों का विवरण

(घ) प्रविष्ट रोगियों की कुल संख्या:—५४

(१) गत महीने से उपचारित रोगी संख्या:—२२

(२) वर्तमान प्रविष्ट रोगी संख्या:—३४

(३) पूर्ण स्वास्थ्य लाभ प्राप्त रोगी संख्या:—२५

(४) कुछ कम आरोग्य साम प्राप्त रोगी संख्या:—४

(५) स्वेच्छा से निकले रोगियों की संख्या:—५

(६) चिकित्साधीनस्थ रोगी संख्या:—२०

(७) मृत्यु संख्या:—२

—

सचित्र

SACHITRA AYURVED

आयुर्वेद

दिसम्बर, १६७८

धर्मार्थ काम मोक्षाणामारोग्यं मूल मुत्तमम् ।
रोगास्तस्यापहर्तारः श्रेयसो जीवितस्य च ।।

अर्थात् धर्म-कर्त्तव्यपालन, अर्थ-धनार्जन, काम-इच्छाओं की पूर्ति और मोक्ष-संसार के बन्धनों से मुक्ति—यह चार दिशाएं प्रत्येक मनुष्य के प्रयत्नों की हुआ करती हैं। स्वास्थ्य उन चारों प्रयत्नों के मूल में है। रोगी रहने पर जीवन के उद्देश्यों की प्राप्ति ही न केवल असम्भव हो जाती है, अपितु जीवन के सभी आनन्द भी समाप्त हो जाते हैं और कभी-कभी जीवन से ही हाथ धोना पड़ सकता है। इसलिए स्वास्थ्य-रक्षा के सभी नियमों का विधान-पूर्वक पालन करना बहुत ही आवश्यक है।

प्रकाशक



वैद्यनाथ

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि.

'सचित्र आयुर्वेद' के कृपालु ग्राहक अवश्य पढ़ें

चन्दा-समाप्ति-सूचना

'सचित्र आयुर्वेद' के ग्राहकों से हमारा विनम्र निवेदन यह है कि 'सचित्र आयुर्वेद' का ६ठा अंक आपके हाथ में है। ७वाँ अंक जनवरी, ७९ का अंक होगा। दिसम्बर, ७८ अंक पाने के साथ कतिपय ग्राहकों का वार्षिक शुल्क समाप्त हो जायेगा। ऐसे ग्राहकों, जिनकी ग्राहकता जनवरी, ७८ से दिसम्बर, ७८ तक के लिए थी, से हमारा विनम्र निवेदन यह है कि वे अपना वार्षिक शुल्क दिसम्बर ७८ का अंक मिलने के बाद अवश्य भेज दें। इस प्रकार जिनका वार्षिक चन्दा हमें प्राप्त हो जायेगा, उन्हें हम अलग से कोई सूचना-कार्ड या वी० पी० नहीं भेजेंगे। स्मरणीय है कि मनीआर्डर से भेजने पर ग्राहकों को केवल १०) ही देने पड़ेंगे, जबकि वी० पी० से मंगाने पर उन्हें १०) की जगह १६) रु० देने पड़ जायेंगे। इस आर्थिक अपव्यय से बचने का एकमात्र तरीका मनीआर्डर द्वारा वार्षिक चन्दा शीघ्र भेज देना है। आशा है, ग्राहक महानुभाव अविलम्ब वार्षिक शुल्क भेज देंगे। अगर किसी ग्राहक महानुभाव को अग्रिम वर्ष जनवरी, ७९ से दिसम्बर, ७९ तक के लिए ग्राहक नहीं बनता हो तो वैसी सूचना भी वे तत्काल ही कार्यालय को भेजने की कृपा करेंगे।

भवदीय
व्यवस्थापक
सचित्र आयुर्वेद
बैद्यनाथ भवन रोड,
पटना-८००००१

विषय सूची

सचित्र आयुर्वेद



संरक्षक :
आयुर्वेद-चक्रवर्ती,
आयुर्वेद-शिरोमणि
प्राणाचार्य
पं० दुर्गा प्रसाद शर्मा
आयुर्वेदाचार्य

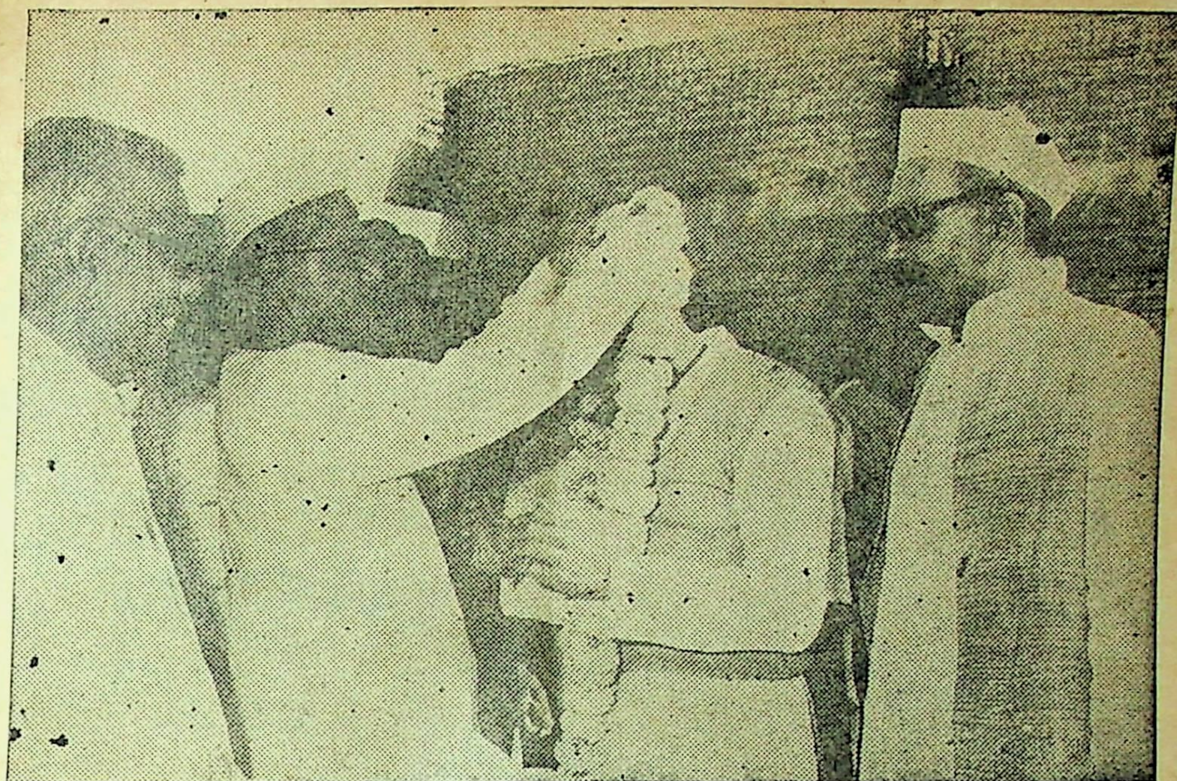


परामर्शदाता :
आयुर्वेद-बृहस्पति
आचार्य रामरक्ष पाठक

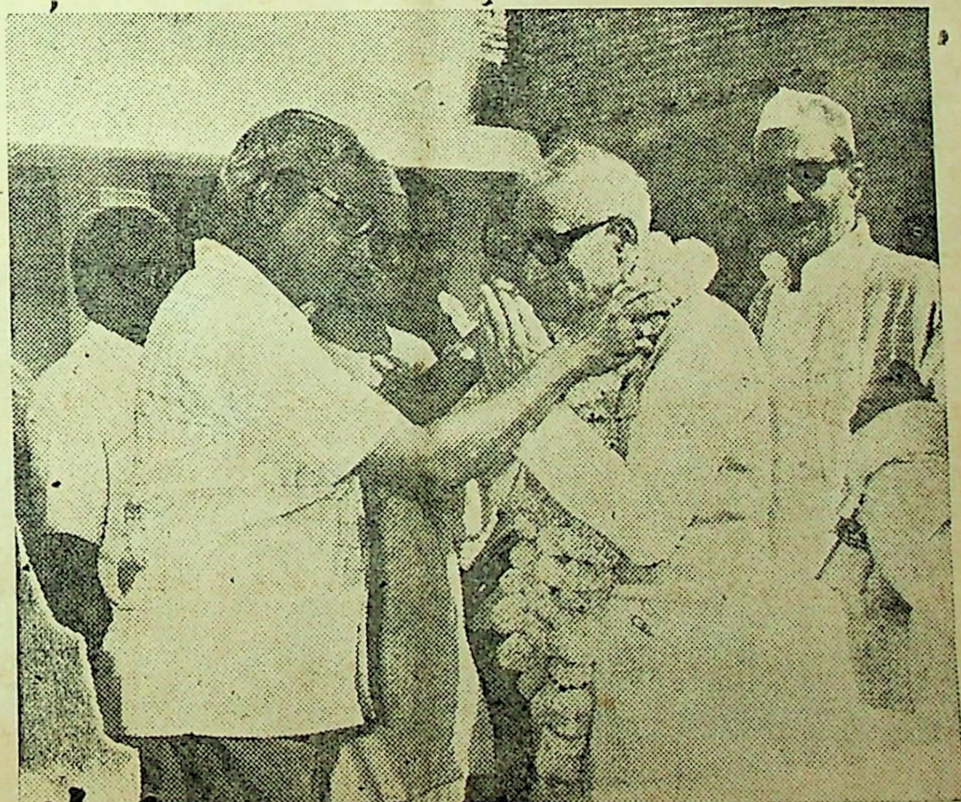


सम्पादक :
श्रीकान्त शास्त्री, एम. ए.

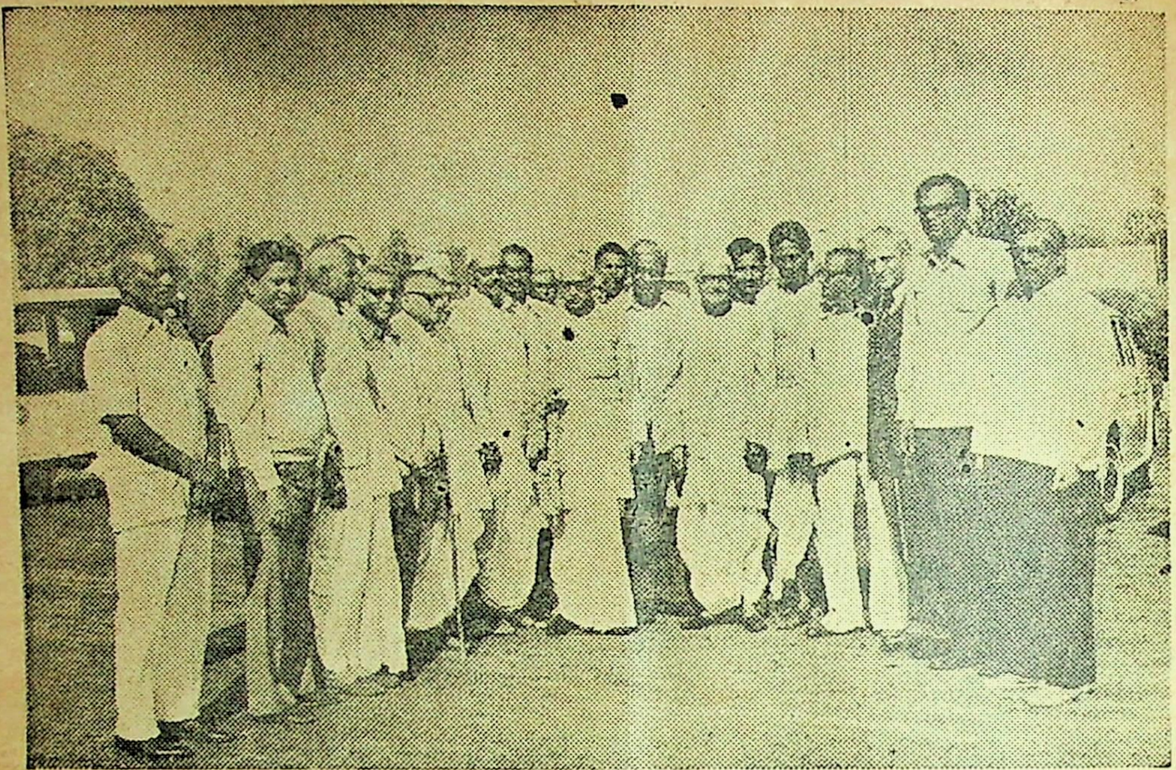
वार्षिक मूल्य १० रु०] [एक प्रति १ रुपया



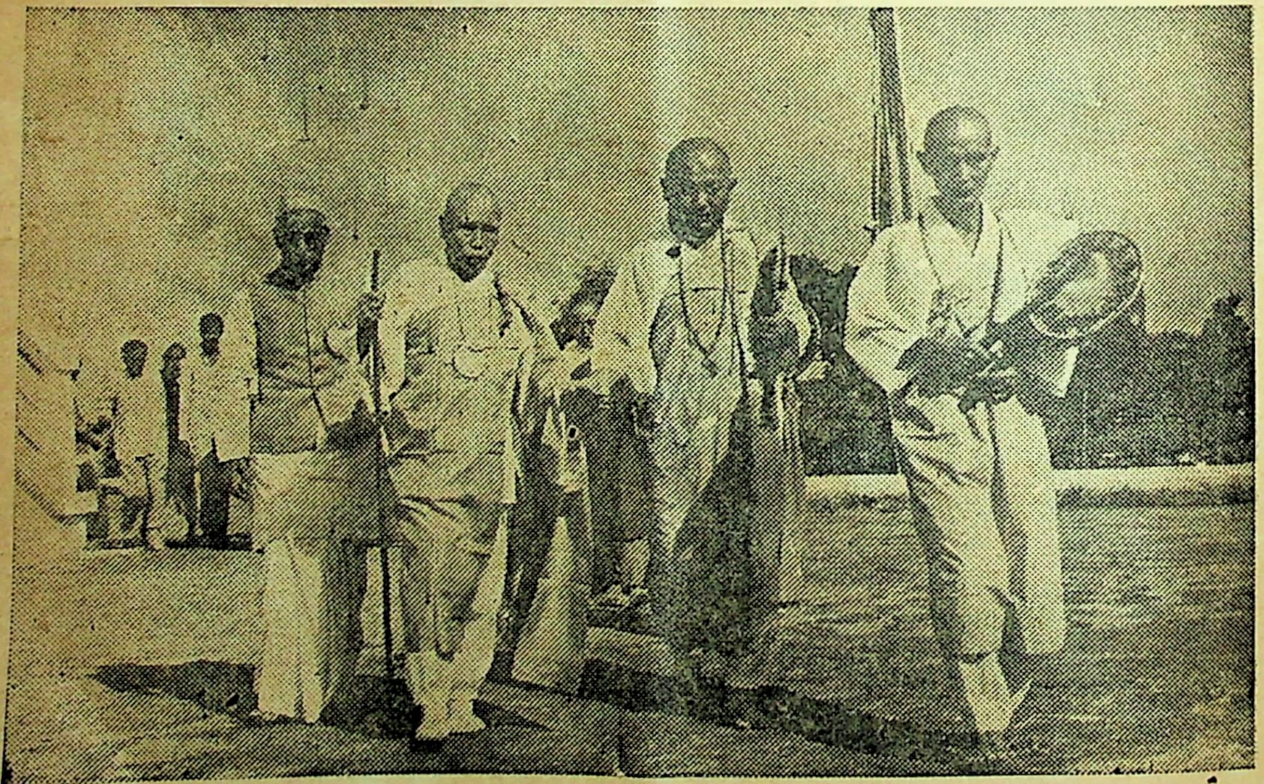
श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के संयुक्त प्रबन्ध-निदेशक, प्राणाचार्य पं० दुर्गा प्र० शर्मा की स्वदेश-वापसी पर पटना के विमान अड्डे पर स्वागत का एक दृश्य। चित्र में 'भवन' के पटना-केन्द्र के व्यवस्थापक श्री माहेश्वर मिश्र शर्माजी को माल्यदान कर रहे हैं।



बैद्यनाथ प्रतिष्ठान के संयुक्त प्रबन्ध-निदेशक, आयुर्वेद-चक्रवर्त्ती पं० दुर्गा प्र० शर्मा का पटना के विमान अड्डे [illegible] केन्द्र के उत्पादन नियंत्रक श्री आर० के० गुप्त स्वागत करते हुए।



आयुर्वेद-चक्रवर्त्ती, प्राणाचार्य पं० दुर्गा प्र० शर्मा की स्वदेश वापसी पर पटना के विमान अड्डे पर स्वागतार्थ समवेत मित्रों एवं शुभेच्छुओं का एक समूह चित्र। श्रीयुत् शर्मा मध्य में हाथ में माला लिए सुशोभित हो रहे हैं।



नेहरू पुरस्कार-विजेता पूज्यपाद श्री फूजी गुरु जी के साथ, आयुर्वेद-चक्रवर्त्ती, प्राणाचार्य पं० दुर्गा प्र० शर्मा। [illegible] बौद्ध संन्यासी भी हैं।

Registered with the Registrar of Newspapers for India Under R. N. 2277/75
आयुर्वेद-जगत् में सर्वजन-समादृत और सर्वाधिक बिक्री होने वाला आयुर्वेद-विज्ञान का प्रमुख मासिक पत्र

आयुर्वेद-विज्ञान का प्रमुख मासिक पत्र

सचित्र आयुर्वेद

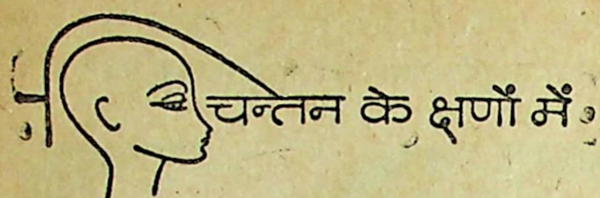
आयुःकामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम् । आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः ॥

वर्ष—३१ | पटना, नवम्बर, १९७८ | अंक-६

संगीत चिकित्सा

संगीत हमारे जीवन का अभिन्न अंग है। जन्म के समय गीत गाये जाते हैं, बाजे बजाये जाते हैं। हर उत्सव-त्यौहार पर इसकी अपेक्षा की जाती है। मृत्यु समय संकीर्त्तन, रामधुन और वेद मंत्र सस्वर आरम्भ से अन्त तक सुने जा सकते हैं। इस अभिन्नता का कारण सृष्टि के तीन अनादि पदार्थों में प्रकृति प्रमुख है और प्रकृति के कण-कण में पंच तत्वों में संगीत का समवेत स्वर विद्यमान है। आप जल के कल-कल स्वर को संगीतमय सुनते हैं, मन्द-मन्द वायु का संगीतमय प्रवाह आपके शरीर को चेतना देता है तब आपको आनन्दानुभूति होने लगती है। वर्षा काल में सूर्यास्त के समय प्रकृति के रंग-बिरंगे दृश्यों को देखकर मानस उद्वेलित हो उठता है। वह हृदय-स्पर्शी दृश्य अन्तःकरण के भीतर मधुर वाणी द्वारा गाने गुनगुना कर आनन्द की लहर में प्रवाहित होने लगता है और यदि उस समय मेघ घर्षण के विद्युत की चपला शक्ति के दूसरी ओर दर्शन होने लगे तब हमारा चित्त आनन्दातिरेक से प्रकृति की अद्भुत छटा में लीन हो जाता है। यह सब कुछ संगीतमय है। कुछ क्षणों के लिए ही नहीं, इस प्रकृति का आनन्द आप नगर से बाहर होकर घंटों ले सकते हैं। प्रकृति स्वयं आपके उत्तेजित मानस को सुखद पृष्ठभूमि देने में तत्पर है। हृदय-रोगी के लिए तो यह रामबाण औषधि है।

—'स्वास्थ्य' से साभार



तनाव से कैसे मुक्ति पाएँ

आदमी का 'अहम्' सदा सकारात्मक स्वप्नों पर जीता है। पर, स्वप्न शायद ही कभी साकार होते हों। और, जब स्वप्न असफल होता है, तो व्यक्ति घबरा जाता है। उसका प्रतिफल तनाव की स्थिति है। जब तक व्यक्ति अपने दृष्टिकोण में सांसारिकता के विकास के लिए और अपने 'स्व' को आगे ढकेलने का आग्रह रखेगा, वह जीवन की जटिल प्रतियोगिता की उलझन में फंसता ही जायेगा। यह सारी प्रक्रिया मात्र उत्तरजीविता (सरवाइवल) के लिए नहीं होती, बल्कि इनके पीछे परितृप्ति की भावना होती है। और, निश्चित रूप से विरोध (अपोजीशन), प्रतिस्पर्धा (कम्पीटीशन), कुण्ठा (फ्रस्ट्रेशन) उससे सम्बद्ध होंगे। ये सब तनाव को जन्म देने वाले हैं। प्रतिस्पर्धा जितनी अधिक होगी, तनाव भी उतना ही अधिक होगा। जितना खतरा कम होगा, तनाव भी उतना ही कम होगा।

तनाव का सबसे बड़ा स्रोत भय है और भय के अनन्त कारण होते हैं। मनोविज्ञान की मान्यता है कि, वयस्कों में तनाव के अधिकांश कारणों के पीछे बचपन के अनुभव होते हैं। भय तथा अन्य मनोग्रन्थियाँ जो बचपन में बच्चों पर लादी जाती हैं, अवचेतन मन में दबी पड़ी रहती हैं और प्रायः उस व्यक्ति विशेष के लिए अहितकर सिद्ध होती हैं।

नाना प्रकार के प्रतिबन्ध (टैबू), अज्ञान, सामाजिक आचार-शास्त्र, 'सेक्स'-सम्बन्धी नैतिकता, अन्धविश्वास आदि का घर बच्चों के व्यक्तित्व में बना दिया जाता है। बाद में जब उसे अस्तित्व का सामना करना पड़ता है, तो उसमें उत्साह नहीं रहता कि, वह मुकाबला कर सके, भले ही वह वयस्क होने पर उन सिद्धान्तों की सत्यता को स्वीकार न करता हो। इसके फलस्वरूप चिन्ता, भय और तनाव का वह शिकार हो जाता है।

जिस तनाव का उल्लेख ऊपर किया है, वह वस्तुतः सम्वेदन (सेंसेशन) और भावना (इमोशन) है, जिसका अनुभव उस समय होता है, जब शरीर किसी खतरे पर विजय पाने के लिए सक्रिय होता है। यह प्रक्रिया पिटुइटरी तथा ऐड्रेनल ग्रन्थियों द्वारा सोमारोट्राफिक हार्मोन तथा डेसोक्साइ कोर्टिकोस्टेरोन नामक हार्मोनों को रक्त में उत्सारित करने के फलस्वरूप होती है। यद्यपि सही रूप में सक्रिय करने पर तनाव रचनात्मक कामों में सहायक हो सकता है, पर अधिकांश परिस्थितियों में यह जुकाम से लेकर कैंसर तक अनेक रोगों का कारण सिद्ध होता है।

तनाव के फलस्वरूप होने वाले आम रोग हैं—सरदर्द, उच्च रक्तचाप, रुमेटिक अर्थराइटिस, गैस्ट्रिक अल्सर, हृदय रोग तथा अन्य कितने ही कष्ट। क्रोध अथवा घृणा, कुण्ठा अथवा निराशा के रूप में मानसिक तनाव या दबाव के कारण न केवल भोजन देर में पचता है, वरन् उससे पेट की अन्य गड़बड़ियाँ भी उत्पन्न हो सकती हैं—यहाँ तक कि, 'अल्सर' भी। और, आदमी में वृद्धावस्था के लक्षण प्रकट होने लगते हैं।

पश्चिमी देशों में औसत आदमी पर तनाव का जो बोझ पड़ा, उसके फलस्वरूप वह शराब, ट्रैंक्वीलाइजर, नींद लाने वाली गोलियों का अभ्यस्त बन गया। भारत में सुदृढ़ जाति-व्यवस्था, विनम्रता, अशिक्षा, अज्ञान और धार्मिक प्रवृत्ति पर दिया जाने वाला बल शताब्दियों तक "शामक" का काम करता रहा। पर अब ये प्राचीन मान्यताएं भंग हो रही हैं और उनमें गड़बड़ियाँ पैदा हो रही हैं।



कुछ महत्वपूर्ण प्रतिवेदन

कुछ माह पूर्व केन्द्रीय स्वास्थ्य राज्य मंत्री श्री जगदम्बी प्रसाद यादव की अध्यक्षता में सम्पन्न भारतीय चिकित्सा-पद्धति के राज्य निदेशकों के सम्मेलन में इस आशय की सिफारिश की गयी है कि भारतीय चिकित्सा-प्रणाली पर स्वास्थ्य मंत्रालय के बजट का कम से कम एक दसवां भाग खर्च किया जाना चाहिए।

सम्मेलन में भाग लेने वाले प्रतिनिधियों को भलीभांति यह ज्ञात था कि अभी तक भारतीय चिकित्सा-पद्धति में प्रशासन की यथेष्ट रुचि नहीं है। दूसरी ओर एलोपैथी का जबर्दस्त बोलबाला है। ऐसी अवस्था में कम-से-कम माँग रखना निश्चय ही प्रतिनिधियों की बुद्धिमानी ही कही जायगी। फलतः उन्होंने बजट के दसांश की ही मांग रखी, ताकि एक-दो प्रतिशत प्रत्येक प्रकार की भारतीय चिकित्सा-पद्धति जिसमें होम्योपैथी शामिल है, के लिए आरक्षित हो जाय।

सम्मेलन ने यह भी सिफारिश की है कि केन्द्र और राज्यों में भारतीय चिकित्सा पद्धति के अस्पतालों, शिक्षालयों और औषधालयों के प्रशासन का स्वतंत्र विभाग बनाया जाए तथा उसके लिए अलग से बजट भी निर्धारित किया जाय।

सम्मेलन ने यह भी सिफारिश की, कि आयुर्वेद, यूनानी, होम्योपैथी, योग एवं सिद्ध या प्राकृतिक चिकित्सा के पाठ्यक्रमों में सारे देश में एकरूपता लायी जानी चाहिए। साथ ही साथ स्नातकोत्तर स्तर की अनुसंधानशालाओं और शिक्षक-प्रशिक्षण महाविद्यालयों की संस्थापना भी होनी चाहिए।

सम्मेलन ने यह भी सिफारिश की, कि राज्य सरकारों को आयुर्वेद आदि भारतीय चिकित्सा-पद्धति की दवाओं के भंडारण की व्यवस्था होनी चाहिए तथा उनके निर्माण के लिए आवश्यक रस-रसायन की आपूर्त्ति सुनिश्चित करनी चाहिए। प्रामाणिक दवाओं का सरकारी तौर पर प्रचार करना चाहिए।

सम्मेलन ने इस बात पर भी बल दिया कि देशी दवाओं की गुणवत्ता को प्रमाणित करने की व्यवस्था की जाय तो इनके निर्यात की सम्भावना बढ़ेगी।

ग्रामीण स्वास्थ्य योजना और परिवार नियोजन सम्बन्धी कार्यक्रम में देशी चिकित्सा-पद्धति के चिकित्सकों को बड़ी संख्या में शामिल किये जाने पर जोर दिया गया।

निदेशकों के सम्मेलन द्वारा जो प्रतिवेदन समुपस्थित किये गये; मानना होगा कि कई दृष्टियों से वे अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं—और इन प्रतिवेदनों के औचित्य पर किसी को मतभेद नहीं हो सकता। भारतीय चिकित्सा-पद्धति के लिए स्वतन्त्र विभाग बनाये जाने सम्बन्धी प्रतिवेदन को तत्काल प्राथमिकता मिलनी चाहिए। जब तक पृथक विभाग स्वास्थ्य मंत्रालय के अन्तर्गत नहीं बनता, तब तक देशी चिकित्सा-पद्धति के सर्वाङ्गीण विकास का मार्ग प्रशस्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार शिक्षा में एकरूपता, स्नातकोत्तर प्रशिक्षण की सुव्यवस्था, भारतीय चिकित्सा-पद्धति की औषधियों का भण्डारण प्रभृति प्रतिवेदनों की ओर तत्काल प्रशासन को ध्यान देना चाहिए। आशा है, इस दिशा में भविष्य में सरकार कदम उठायेगी।

आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान

प्रकाशक श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि. कलकत्ता-६

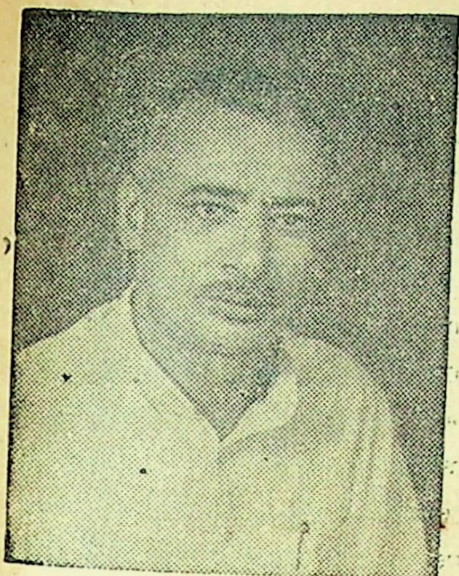
आधुनिक चिकित्सा शास्त्र के ज्ञान के लिए जिस प्रकार भौतिक (Physics), रसायन (Chemistry) शास्त्र की जानकारी आवश्यक है उसी प्रकार 'भारतीय चिकित्सा शास्त्र' को पूर्ण रूप से समझने के लिए आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। वर्तमान समय में उपलब्ध संहिता-ग्रन्थों में पदार्थ विज्ञान का विषय विविध स्थलों पर विकीर्ण रूपमें प्राप्त होता है। उनका एकत्र संग्रह कर स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में पाठ्यग्रन्थ तैयार करने की प्रयोजनीयता सदा अनुभव की जाती रही है।

वैद्य श्री रणजित राय देसाई, आयुर्वेदालंकार ने 'आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान' ग्रन्थ लिखकर अत्यन्त समयोचित कार्य किया है। पदार्थ विज्ञान को यथावत् समझने के लिए इस ग्रन्थ का उपयोग अध्ययन और अध्यापन में अध्यापक, विद्यार्थी और वैद्यजन करें, ऐसा मेरा अनुरोध है।

—वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य



कलकत्ता-६, पटना कार्यालय: बैद्यनाथ भवन रोड, पटना-१



आयुर्वेद-चक्रवर्ती, प्राणाचार्य

पं० दुर्गा प्रसाद शर्मा

संयुक्त-प्रबन्धक-निदेशक,

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०, पटना

का

प्रेस वक्तव्य

मेरी विदेश-यात्रा के पीछे मूल अभिप्राय था—दुनिया के जिन हिस्सों में विश्व स्वास्थ्य संगठन के अन्तर्गत पारम्परिक चिकित्सा (ट्रेडिशनल मेडिसिन्स) की प्रगति एवं विकास की दिशा में जो प्रयास चल रहे हैं, उनको देखना, परखना और जानकारी लेना । साथ-ही-साथ, डब्ल्यू० एच० ओ० के तत्वावधान में पारम्परिक चिकित्सा के गुण-धर्म की जांच-पड़ताल करके आधुनिक चिकित्सा के साथ उनका कहां तक तालमेल बैठाया जा सकता है, इसकी भी जानकारी लेनी थी ।

पारम्परिक चिकित्सा (ट्रेडिशनल मेडिसिन्स) के सम्बन्ध में विश्व स्वास्थ्य संगठन ने कतिपय प्रतिवेदन प्रस्तुत किए हैं, जो यहां दिए जा रहे हैं—

(१) वि० स्वास्थ्य संघ को पारम्परिक चिकित्सा, प्रयास करके देशी चिकित्सा के विकसित एवं मान्यता प्रदान करने की दिशा में एक विशेषज्ञों की समिति स्थापित करके उसके विकास-सम्बन्धी कार्यक्रम बनाना चाहिए ।

(२) विकसित तथा विकासशील देशों के बीच जहां तक पारम्परिक चिकित्सा का प्रश्न है, अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर सहयोग होना चाहिए ।

(३) विभिन्न देशों की राष्ट्रीय सरकारों को जन-साधारण की स्वास्थ्योन्नति की दिशा में पारम्परिक चिकित्सा का उपयोग करने की दिशा में प्रयासी होना चाहिए ।

(४) पारम्परिक चिकित्सा के सम्बन्ध में विचार-विमर्श करने के लिए डब्ल्यू० एच० ओ० को नयी-नयी संभावनाओं की खोज करनी चाहिए ।

(५) पारम्परिक चिकित्सा द्वारा चिकित्सित व्यक्तियों के सम्बन्ध में सर्वेक्षण द्वारा आंकड़ों की प्रस्तुति भी आवश्यक है ।

डब्ल्यू० एच० ओ० के इन उद्देश्यों से प्रेरित होकर ही मैं विदेश यात्रा पर गया था, यह देखने कि वि० स्वा० संगठन के कार्यक्रम के अन्तर्गत विभिन्न देशों में क्या कार्य हुए हैं । टी० डी० ए० के कार्यक्रम के अन्तर्गत आयोजित क्रेता-विक्रेता सम्मेलन में भी मैं कोलोन, कापेनहेगन, डेनमार्क आदि गया । इसके पहले मैं मास्को की भारत राष्ट्रीय प्रदर्शनी में भी शामिल हुआ था—प० जर्मनी भी गया । इसी यात्रा के क्रम में विश्व स्वास्थ्य संगठन के जेनेवा स्थित प्रधान कार्यालय भी गया और विश्व स्वास्थ्य संगठन के सेक्रेटरी जेनरल श्री बैनरमैन से मिला । श्री बैनरमैन ने मुझे बताया कि दुनिया के विकसित राष्ट्र पेट्रोकेमिकल पर आधारित सिंथेटिक द्रव्यों से ऊब गए हैं और उनसे मुक्ति चाहते हैं, क्योंकि सिंथेटिक द्रव्य मनुष्य की शरीर-रचना में प्रतिक्रिया उत्पन्न करके दूषण पैदा करते हैं—अन्य व्याधियां भी उत्पन्न कर देते हैं—इसलिए ये विकसित राष्ट्र 'नेचुरल प्रोडक्ट्स' की ओर झुकाव रखने लगे हैं क्योंकि इनके प्रयोग से कोई दुष्प्रभाव उत्पन्न नहीं होते ।

क्रेता-विक्रेता सम्मेलन का कोलोन (प० जर्मनी) में १० अक्टूबर, १९७८ को भारत सरकार के वाणिज्य-मंत्री श्री मोहन धारिया ने उद्घाटन किया था । उस बैठक में पं० जर्मनी के साइन्स-टेक्नोलाजी के मंत्री भी उपस्थित थे ।

दोनों ही महानुभावों ने ट्रेड डेभलपमेन्ट अथारिटी के तत्वावधान में आयोजित इस सम्मेलन की प्रशंसा की। इसमें भारत के प्राइवेट तथा पब्लिक सेक्टर के लगभग १५० स्टाल लगे थे—जर्मनी व्यवसायिक संस्थानों ने १० से १४ अक्टूबर, १९७८ तक सम्मेलन में प्रदर्शित वस्तुओं की जानकारी प्राप्त करने में बड़ी अभिरुचि ली। अधिकांश लोगों की ओर से औषधियों के मूल-द्रव्यों (क्रूड ड्रग्स) के प्रति जिज्ञासा प्रकट की गई थी। आयुर्वेदिक औषधियों के बारे में भी जर्मन जनता ने विशेष दिलचस्पी दिखाई।

प० जर्मनी में आयुर्वेदिक औषधियों के व्यवहार तथा विक्रय के सम्बन्ध में एक कठिनाई यह है कि विक्रयार्थ औषधियों को सर्वप्रथम प० जर्मनी के वरिष्ठ स्वास्थ्य-अधिकारियों द्वारा निबंधित किया जाता है—तत्पश्चात् औषधियों के गुण-दोष विषयक जांच विशेषज्ञों द्वारा होती है और उनके औषधीय गुण की परख की जाती है। इन सब जांच-पड़ताल के क्रम में लगभग ५ वर्ष लग जाते हैं। इसके अतिरिक्त जहां तक आयुर्वेदीय औषधियों का सम्बन्ध है, उसका निदान एक आयुर्वेद चिकित्सक ही कर सकता है, जिनका जर्मनी में अभाव है।

पारम्परिक चिकित्सा (जिसमें आयुर्वेद भी है) को अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर मान्य किए जाने की शुरूआत विश्व स्वास्थ्य संगठन (डब्लू० एच० ओ०) की उस बैठक में हुई, जो टोक्यो में १९७७ ई० में बुलाई गई थी। विश्व के स्तर पर पहली बार इसी बैठक में हर्बल मेडिसिन्स के सम्बन्ध में गंभीरतापूर्वक विचार-विमर्श हुआ। पारम्परिक चिकित्सा (ट्रेडिशनल मेडिसिन्स) के सम्बन्ध में एक सर्वेक्षण रिपोर्ट तैयार की गई (डब्लू० एच० ओ० रिपोर्ट नं० ६२२)। अंकटाड ने भी एक पुस्तक छापी जिसमें इन औषधियों के क्षेत्र, प्रयोग, उपयोगिता आदि के सम्बन्ध में विस्तृत रूप से विचार किया गया। इन औषधियों की अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर सुलभता, निर्यात, आयात आदि के बारे में इस पुस्तक में पर्याप्त आंकड़े प्रस्तुत किए गए हैं। इस सन्दर्भ में यह उल्लेख करना भी समीचीन लगता है कि राष्ट्रसंघ (यू० एन० ओ०) की एक योजना के अनुसार विकासशील देश, अविकसित देशों को, वित्तीय सहायता, टेक्नोलाजी तथा टेक्नीकल प्राविधि (नोहाउ) भी मुहैया करते हैं। जहां तक स्केन्डीनेवियन देशों का प्रश्न है, उन देशों ने इस योजना के अन्तर्गत विकसित देशों से इस प्रकार की सहायता के लिए अपनी मांग प्रस्तुत की है—क्योंकि नेचरल प्रोडक्ट्स के लिए स्केन्डीनेवियन देश, विकसित राष्ट्रों पर निर्भर करते हैं।

सुवेलक जी० एम० बी० एच० ४४२५ बिलरवेक। हैमर्न के मिस्टर उल्फ गैंग सुवेलक ने मुझे प्राकृतिक उपादान पर आधारित उत्पादन के लिए सलाह दी और कहा कि इसकी बिक्री एवं रजिस्ट्रेशन पश्चिम जर्मनी में कुछ दिनों में या अधिक-से-अधिक छः महीने के अन्दर अवश्य होगी। प्राकृतिक उत्पादन हेतु कच्चे द्रव्य के रूप में सर्वप्रथम केले, अनन्नास एवं पपीता लेने को कहा जिसका वे बाद में परीक्षण करके हमें नमूना प्रदान करेंगे और साथ ही साथ उसकी पूर्ण जानकारी भी देंगे। इस प्रकार प्राकृतिक उत्पादन की भूमिका प्रारम्भ हो जायेगी जो आगे चल कर तकनीकी के उपयोग से आयुर्वेद का स्थान ग्रहण कर लेगी। प्राकृतिक उत्पादन की दिशा में श्रीमान् सुवेलक के इस तकनीकी एवं ज्ञान का प्रयोग हमलोग सर्वप्रथम च्यवनप्राश, जन्मघूंटी, दशमूलारिष्ट एवं अनन्तमालता पर करेंगे। अस्थिरता एवं चिर प्रतीक्षा से मुक्त आयुर्वेदिक औषधों के निबन्धन की दिशा में यह उपयोगी काम होगा।

स्कैन्डिनेविया प्राकृतिक उत्पादन की खपत का अच्छा बाजार है। श्रीमान् ए० एच० जोस्तेद, डायरेक्टर जी० आई० ए० विलिस्फार्गटन—२९,३-४२२४४ हिसिग्स वाका स्कैंडिनेविया के सम्पूर्ण स्कैन्डिनेवियन देशों के लिए क्रेता के रूप में होंगे। परन्तु उनका नाम उत्पादकों की सूची में आना चाहिए। तात्पर्य यह कि उनको साख का उपयोग सभी प्राकृतिक और इस प्रकार हम जितने भी परिमाण मे प्राकृतिक उत्पादन करेंगे उतने ही परिमाण में वे हमसे उन्हें खरीद लेंगे।

पुनश्च, हमारे पास १४ जड़ी-बूटियों की एक सूची है जिन्हें हम दो या तीन ग्रूपों में बांट कर उनका चाय के रूप में उपयोग कर सकते हैं। यहां भी श्रीमान् सुवेलक उनकी नियमित जांच करेंगे और हमें उसका नमूना तथा तत्सम्बन्धी पूर्ण जानकारी देंगे। ये चौदहों क्रमशः वासक, तुलसी, लवंग, सोंठ, सौंफ, अजवाइन, मुलेठी पुदीना, गुग्गुलु, सेन्ना, इसफगोल, ब्राह्मी एवं अशोक है।

इनकी चाय कुछ किस्म की पीड़ाओं के शमनार्थ जर्मनी एवं दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

Paychological and spiritual aspcet of diseases.

Eminent Scholar Explains Ayurved

EUSTACE WIJETUNGE

Ayurveda considers the living human body not only materially but also takes into consideration the psychological and the spiritual aspects that affect the personality according to Ayurvedacharya R. R Pathak.

Dr. Pathak who came to ShriLanka on a short holiday left for India on Monday afternoon. He had been director of the Bandaranaike Ayurvedic Research Institute at Navinna from May 1964 to 1969.



Aspects

Dr. Pathak conversed freely explaining the various aspects of Ayurveda in simple layman's language to me. He is a veritable walking encyclopaedia and supported every point he made by reciting Sanskrit stanzas from memory.

प्राकृतिक वस्तुओं के उत्पादनार्थ मशीन खरीदने के लिए हमें इम्फाल की मदद लेनी होगी और इसका पूरा पता होगा—नार्मलम स्ट्रान्ग, पो०बा० नं० ७५०८, १०३९२ स्टाकहोम। पैकेजिंग फर्म से सम्पर्क स्थापित करने में स्वीडिश इन्टरनेशनल ट्रेड सेन्टर मदद देगा।

इम्पौंड के साथ सम्पर्क बनाये रखने में श्रीमान् अमूल्य चरण, डिप्टी चीफ मर्केन्डाइजिंग डिवीजन टी० ... ए० जो स्वेडेन के इम्पोड नार्मम स्ट्रांग बाक्स नं० ७५०८, १०३९२, स्टाकहोम में अवस्थित है, माध्यम का कार्य करेंगे।

परम्परागत औषधों की गुणवत्ता के सम्बन्ध में जहां तक यू० एन० ओ० की दिलचस्पी लेने का प्रश्न है, इसके सम्बन्ध में फाओ अपनी पूर्ण सेवा प्रदान कर रहा है। इसने आयुर्वेद प्लान्ट-सीड योजना तैयार की है, जिसके अन्तर्गत उत्तम कोटि के बीज, उनका संरक्षण एवं उनके समुचित वितरण की सर्वप्रथम ऐसी योजना नेपाल में चालू की गई है। ऐसी ही एक योजना को दक्षिण-पूर्वी एशियाई देश के किसी एक भाग में चालू करने पर विचार किया जा रहा है।

इसी सम्बन्ध में एक सर्वेक्षण दल ७ दिसम्बर, १९७८ को इस देश में और खास कर पटना में पहुंच रहा है और उसी दिन यह बिहार चेम्बर आफ कमर्स के सदस्यों एवं अन्य व्यक्तियों के साथ सलाह-मशविरा करेगा। वे बिहार में बीज उत्पादन-केन्द्र की स्थापना के सम्बन्ध में भी अध्ययन करेंगे और अगर वे उपयुक्त पायेंगे तो यहां एक ऐसे ही बीज उत्पादन-केन्द्र स्थापित करेंगे जो इस राज्य के लिए एक बहुमूल्य चीज होगी, और जिसमें सैकड़ों एवं हजारों व्यक्तियों को काम करने का सुअवसर मिलेगा। जर्मनी, जहां जड़ी-बूटियों की पर्याप्त कमी है, इस देश में जड़ी-बूटियों के उत्पादनार्थ एक कृषि केन्द्र के स्थापन की दिशा में अध्ययन करेगा और यहां से जड़ी-बूटियां प० जर्मनी में निर्यातित की जायगी। यह सर्वेक्षण-दल नेपाल, श्रीलंका, मलयेशिया एवं थाईलैंड की भी यात्रा करेगा।

फाओ इस प्रकार की कृषि योजना के लिए उपकरण भी प्रदान करता है।

प्रोग्राम फार रिसर्च एण्ड टेक्नोलाजी प्रोजेक्ट्स नं० एच-२४, ५ ई० टी०, २०२३ए नामक पुस्तक की पृ० सं० ९०० एवं ९०२ पर इस आधुनिक योजना का पूर्ण विवरण है।

डा० मेहरा, डायरेक्टर एन० ई० पी० जी० आर०, दिल्ली, दक्षिण-पूर्वी एशियाई देश के लिए फाओ के प्रतिनिधि हैं।

According to Dr. Pathak, all available texts and manuscripts are in Sanskrit. It is therefore imperative that one should know Sanskrit sufficiently before undertaking the study of Ayurveda.

The founders of the practice of Ayurveda took into consideration the various philosophies prevalent during those days and have taken all important and relevant parts of those philosophies to evolve a philosophy of its own. Prakriti (matter) and Purusha (consciousness) are considered in its entirety to establish the total concept of man. The consideration of the mind becomes essential in Ayurveda.

The abode of diseases has been described in Ayurveda as being the body as well as the mind.

The body without the mind is a dead body. Prakriti without Purusha is a dead thing.

If the life principle is missing the human body would start decomposing.

Tripod

Dr. Pathak compared the whole concept to a tripod, the three legs which he described as mind, the body with the sense organs and atman.

He categorised the method of treatment in Ayurveda as an attempt to make a sick man a healthy man.

"The perimeter of ayurveda treatment is not only to cure the disease but also to make the living body free from other ailments. If you prescribe any medicine to a patient which cures a disease but which creates another then this treatment cannot be called effective treatment Correct Ayurvedic treatments is that treatment which cures the disease without any after effects.', he said.

Dr. Pathak is the author of many books on Ayurveda which are used as text-books in practically all universities in India and Sri Lanka. These books are in Sanskrit, Hindi and also in English. In all these books Dr. Pathak has dealt with the metaphysical aspects of the science of Ayurveda.

Magnum Opus

Dr. Pathak's magnumopus is the five volumed Kaya Chikithsa the Ayurveda text for post graduate teaching.

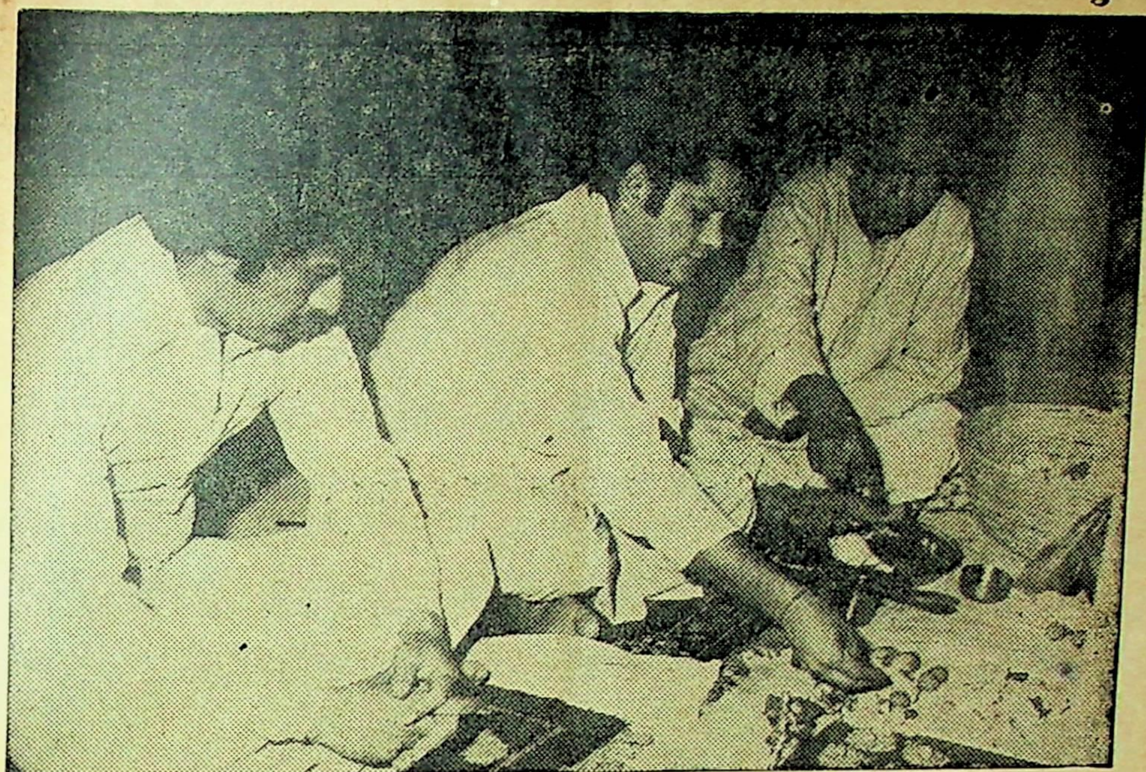
Dr Pathak is now aging but has certainly given his entire life for the cause of Ayurveda. Even at this ripe age his mind is remarkably agile.

He was full of praise for the present Government for appointing a committee to examine the synthesis of indigenous medical systems and the western system in Sri Lanka. He expressed the view that the terms of reference were quite adequate for a full examination of the steps that should be taken in regard to the development of post-graduate education and training in Ayurveda.

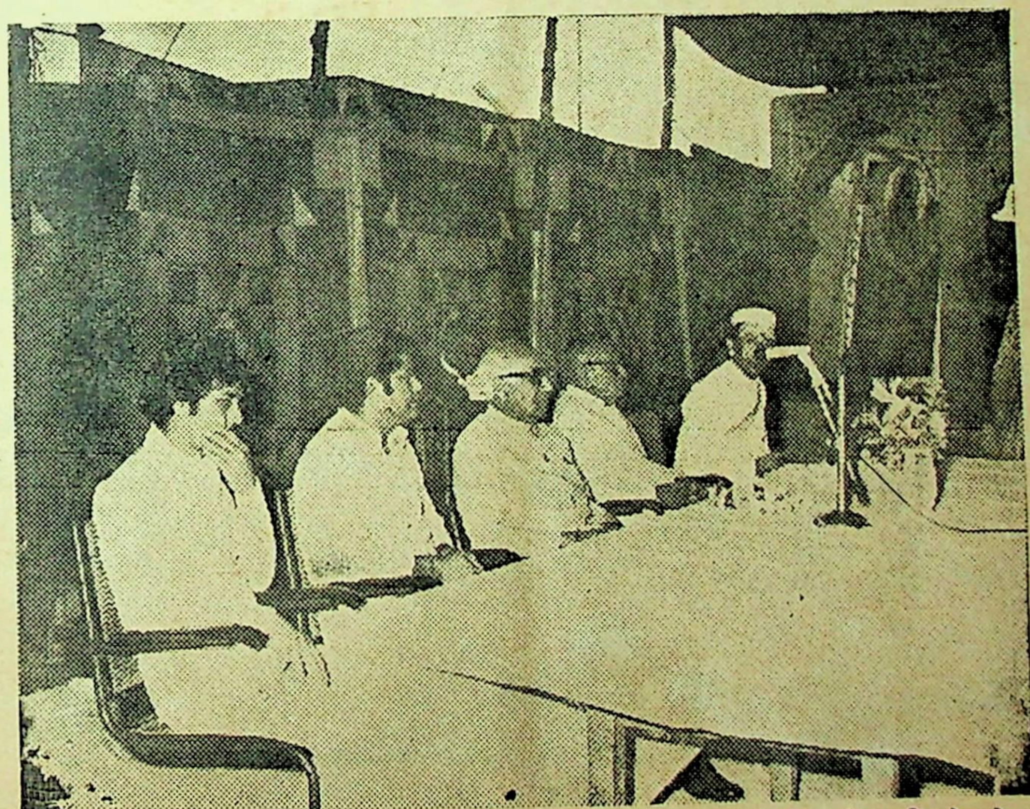
Dr. Pathak holds the highest qualifications for any man in his profession. Almost all reputed universities in India have conferred on him the highest degrees for any doctor of Ayurveda. He is also a Doctor of Literature of the Darbhanga Sanskrit University.

Dr. Pathak had started the study of ayurveda only after he had passed all his Sanskrit examinations. He believes that the study of Sanskrit should be made compulsory for those who wish to study Ayurveda.

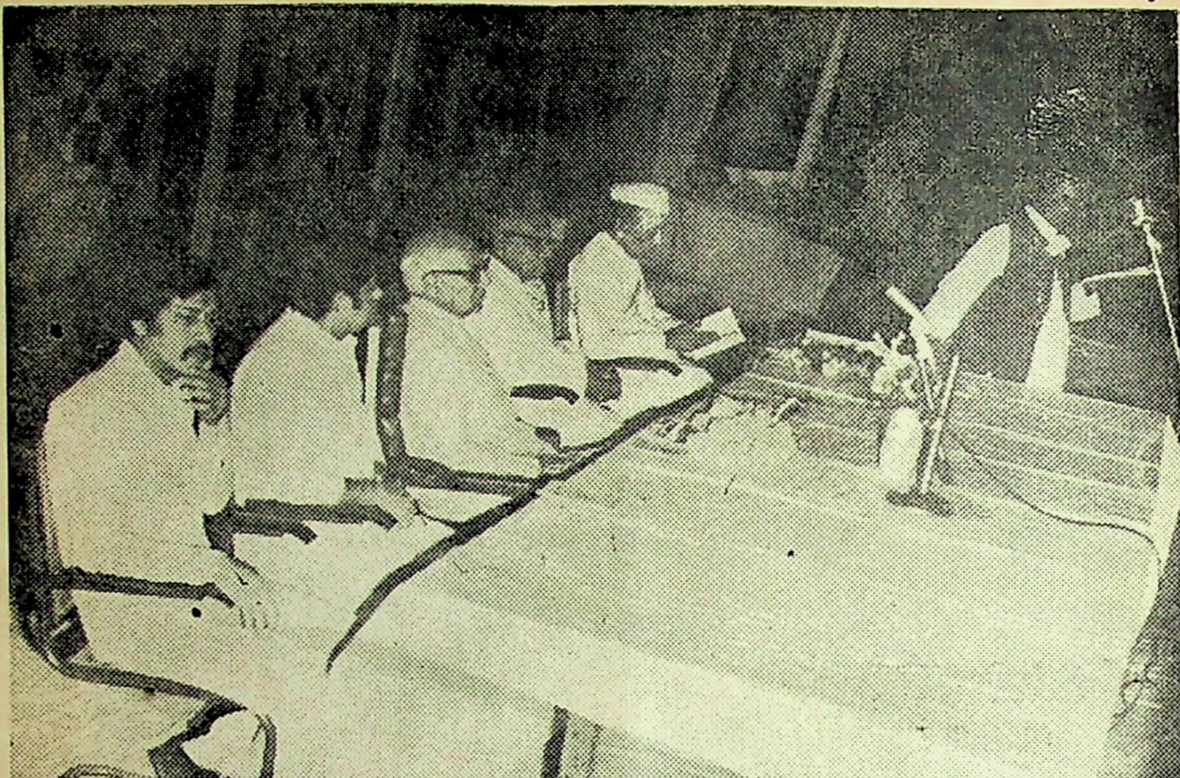
Dr. Pathak hails from a very learned family of Brahmins in India. But he has gracefully given up all the traditional inhibitions of the Brahmins, to be of service to his fellow men be he king, commoner or harijan.



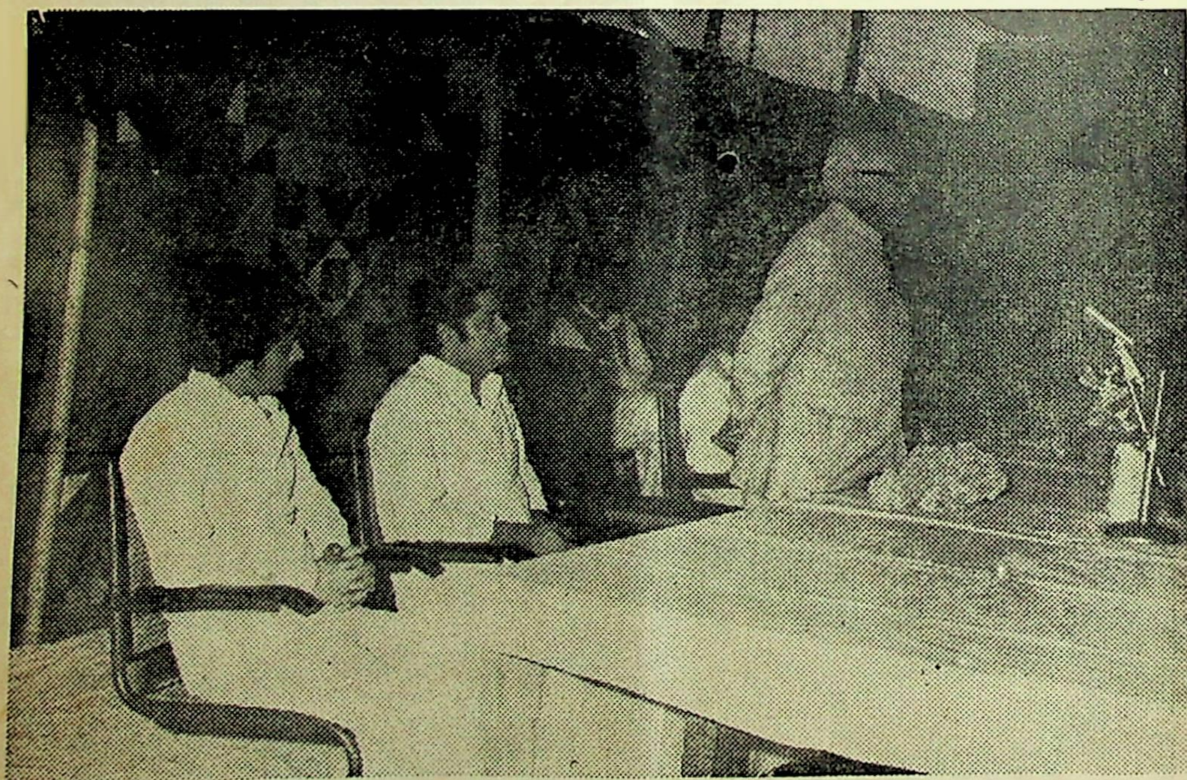
श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के पटना केन्द्र में 'भवन' के सचिव श्री रमाकान्त शर्मा धन्वन्तरि-पूजन करते हुए। पार्श्व में श्री प्रमोद कुमार शर्मा परिलक्षित हो रहे हैं।



बैद्यनाथ के पटना-केन्द्र में अनुष्ठित धन्वन्तरि जयन्ती-महोत्सव का एक दृश्य। चित्र में दायीं ओर से क्रमशः पं० विष्णुकान्त झा, ज्योतिषाचार्य, आचार्य पं० रामरक्ष पाठक, महामहिम राज्यपाल श्री जगन्नाथ कौशल, 'भवन' के सचिव श्री रमाकान्त शर्मा तथा श्री प्रमोद कुमार शर्मा मंचासीन हैं।



बैद्यनाथ के पटना-केन्द्र में अनुष्ठित धन्वन्तरि जयन्ती-महोत्सव में 'सचित्र आयुर्वेद' के सम्पादक स्वागत-भाषण पढ़ रहे हैं।



बैद्यनाथ के पटना-निर्माण-केन्द्र में अनुष्ठित धन्वन्तरि जयन्ती-महोत्सव में बिहार के महामहिम राज्यपाल श्री जगन्नाथ कौशल उद्घाटन भाषण देते हुए, उनकी बायीं ओर क्रमशः श्री रमाकान्त शर्मा एवं श्री प्रमोद कुमार शर्मा हैं।

निदान-चिकित्सा हस्तामलक
(छात्रोपयोगी निदान-चिकित्सा)

श्वास तथा हिक्का

वैद्य रणजितराय देसाई

श्वास के स्पष्टावबोध के हेतु उसे दो वर्गों में विभक्त कर इतःपर्यन्त उसके प्रथम वर्ग में समाविष्ट नैत्यक व्यवसाय में देखे जाने वाले दो भेदों—क्षुद्र श्वास एवं तमक श्वास के निदानादि का निरूपण किया। अब उसके द्वितीय वर्ग में अन्तर्भूत एवं प्रायः अन्त्यावस्था में पाए जाने वाले शेष तीन भेदों—महाश्वास, ऊर्ध्वश्वास अथवा छिन्न श्वास—का विवेचन अवसर-प्राप्त है। इन तीनों रोगों का विवरण आयुर्वेदीय संहिताओं के पदों में पीछे से देंगे। प्रथम इन्हें समझने में उपयोगी वैदिक दश उपनिषदों में एक छान्दोग्य उपनिषद् का एक वचन देख लें।

उपमा द्वारा अन्तकालिक श्वासों की विशदता—गोपथ ब्राह्मण की अङ्गभूत छान्दोग्य उपनिषद् का एक वचन है :

अस्य यदेकां शाखां जीवो जहात्यथ सा शुष्यति। द्वितीयां जहात्यथ सा शुष्यति। तृतीयां जहात्यथ सा शुष्यति। सर्वं जहाति सर्वः शुष्यत्येवमेव खलु सौम्य विद्धि इति हो वाच॥

—छान्दोग्य उपनिषद्, छठा प्रपाठक, ग्यारवाँ खण्ड, मन्त्र २

आयुर्वेद का सिद्धांत-सूत्र है कि सूक्ष्म शरीर, लिङ्ग शरीर, आतिवाहिक शरीर, षड्धातुक पुरुष आदि नामों से अभिहित (वर्णित) आत्मा स्थावर-जङ्गमों के शरीर में विद्यमान रहता है, तो जिस प्रकार प्रेक्षागार (थियेटर) में प्रेक्षकों की विद्यमानता-मात्र से मञ्च पर कलाकार अपनी-अपनी कला का प्रदर्शन करने लगते हैं, तद्वत् प्राणि-शरीर एवं वनस्पति-शरीर में, इतना ही नहीं, समस्त सृष्टि में भी प्रकृति से उसके कार्यभूत पञ्चभूतों[1] की क्रमिक उत्पत्ति तथा कर्म होने लगते हैं। इसके विपरीत, आत्मा शरीर को छोड़ जाता है, तो पञ्चभूतावशिष्ट शेष शरीर ज्ञान-कर्मात्मक व्यापारों से शून्य होकर मृत अवस्था को प्राप्त होता है। ऊपर धृत उपनिषद्-वचन में कहा है कि, आत्मा कदाचित् एक अङ्ग का परित्याग कर दे तो वही एक अङ्ग मृत्यु को प्राप्त होता है। अब मूल वाक्य का अर्थ देखिये—

जीवात्मा जब वनस्पति की एक शाखा का त्याग करता है तो वह सूख जाती है, दूसरी शाखा का परित्याग करता है, तो वह शुष्क हो जाती है, तीसरी को छोड़ देता है तो वह शुष्कता को प्राप्त होती है......। जीव समग्र वनस्पति को छोड़ दे तो सारा वृक्ष ही सूख जाता है। यही स्थिति मानवादि प्राणि-शरीरों में भी होती है। जीवात्मा उसके जिस भी एक अथवा अनेक अङ्गों को छोड़ देता है, वह या वे मृत्यु को प्राप्त होते हैं। वही आत्मा समस्त शरीर का परित्याग कर दे, तो समस्त शरीर पञ्चत्व (पञ्चभूतात्मक या मृत स्वरूप) को प्राप्त होता है। प्रतीत होता है, महाश्वास-प्रभृति श्वास-भेदों में आत्मा अमुकामुक एक अवयव को अंशतः छोड़ देता है तो उस अवयव के नैसर्गिक कर्मों का उतने अंश में लोप होता है, एवं उन

---

१. सांख्यों ने जिन्हें 'तन्मात्र' कहा है (देखिये—सुश्रुत शारीर प्रथम अध्याय) उन्हें आयुर्वेद में 'महाभूत' कहा गया है। इनसे उत्पन्न पृथिवी आदि के लिए प्राचीनों ने सर्वत्र 'भूत' शब्द का व्यवहार किया है। 'महाभूत' और 'भूत' शब्दों का यह भेद अध्यापन-लेखन प्रभृति में दृष्टि में रखना चाहिए। यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि, यथार्थ शब्द नपुंसक लिङ्गी 'तन्मात्र' है, न कि स्त्री लिङ्गी और आकारांत 'तन्मात्रा'।

कर्मों के लाभ से वञ्चित होने से शेष समस्त शरीरावयव भी मृत्यु के प्रति आकृष्ट किए जाते रहते हैं और अन्त में मृत्यु को प्राप्त होते हैं। श्वास के इन अन्तकालिक भेदों में किस अवयव की क्रियाहानि प्रथम होती है, यह उस-उस भेद के प्रकरण में देखेंगे। उनके निरूपण का अत्र प्रसंग है। इन तीनों भेदों के चरकोक्त लक्षणों की टीका के अनन्तर चक्रपाणि ने कहा है—**एते त्रयः श्वासा निसर्ग-तोऽसाध्याः**—च.चि. १७।५२-५४ पर। तात्पर्य, ये तीनों श्वास स्वभावतः असाध्य (प्रत्याख्येय ?) हैं।

छिन्न श्वास के लक्षण:[१]

रोग के नाम से सूचित है, तथैव लक्षणों में भी स्पष्ट कहा गया है कि, श्वास के इस भेद में श्वसन-कर्म विच्छिन्न होता है—आतुर बीच-बीच में श्वास नहीं भी लेता-छोड़ता।[२] श्वास लेता है, तो उसे शरीर की समग्र शक्ति उसमें लगानी पड़ती है।[३] अथवा, वह श्वास नहीं भी लेता (अर्थात्, उसकी दो श्वास-क्रियाओं का अन्तर अधिक दीर्घ होता है। वह नित्य दुःख-पीड़ित होता है। उसके हृदय, शिर और बस्ति इन तीनों (प्रधान) मर्मों का छेदन (कटना) हो रहा हो, ऐसी व्यथा रोगी अनुभव करता है।[४] पित्त के अनुबन्धवश बस्ति में दाह एवं मूत्रावरोध होता है।[५] वह आनाह है (ऊर्ध्व तथा अधोवायुओं की अप्रवृत्ति)।[६] से पीड़ित, अतएव आध्मान-युक्त एवं स्वेद और मूर्च्छा से आक्रान्त होता है। उसका एक नेत्र नीचे झुके हुए[७] व्याधि-प्रभाववश रक्तवर्ण[८] एवं दोनों नेत्र अश्रुपूर्ण, अथ च चञ्चल (अस्थिर) होते हैं।[९] उसके सर्व शरीरावयव क्षीण (कृश) होते हैं। चित्त उद्विग्न (घबराया हुआ), मुख शुष्क (त्वचा आदि का), वर्ण नष्ट (पाण्डुता या दोष-भेद से विविध-वर्णता) तथा संधियां टूटी शिथिल हो गई हों ऐसी होती है।[१०] वह प्रलाप (असंबद्ध (भाषण) एव विलाप) करता रहता है। रोगी शीघ्र ही पञ्चत्व को प्राप्त होता है। अन्य शब्दों में यह रोगमारक और असाध्य (प्रत्याख्येय) होता है।[११]

---

१. **संदर्भ**: च. चि. ७।५२-५४, सु. उ. ५१।२१, अ.हृ. नि. ४।११-१३, भा०प्र०म०ख० चि.८।११-१३, मा.नि. १२।२४-२६, योगरत्नाकर श्वासप्रकरण।

२. देखिए। श्वसिति विच्छिन्नमिति निःश्वस्य पुनः क्षणान्तेन श्वसिति- **चक्रपाणि**। विच्छिन्नं कृत्वा नरः श्वसिति न निरन्तरम्—**अरुणदत्त**। विच्छिन्नं सविच्छेद्यम् **भावमिश्र** तथा **मधुकोष**। विच्छिन्नमिव विच्छिन्नमन्तराऽन्तरा विच्छिद्यमानम् अनुवर्तते, सान्तरायमित्यर्थः—**आतङ्कदर्पण**।

३. देखिए—सर्वप्राणेन सर्वबलेन यावद्बलेन--**मधुकोष**। सर्वप्राणेन सर्वबलेन--**भावमिश्र**। सर्वप्राणेन समस्तया शक्त्या--**आतङ्कदर्पण**।

४. मर्मच्छेदरुगर्दित इति हृदयच्छेद वेदनयेव पीडितः—**मधुकोष**। मर्माणि हृदयबस्तिशिरांसि तेषां छेदनेनेव पीडितः--**आतङ्कदर्पण**।

५. चरक, सुश्रुत तथा भावप्रकाश में 'दह्यमानेन बस्तिना' पाठ है। अष्टाङ्ग हृदय में 'बस्तिदाह निरोधवान्' यह पाठ है। चक्रपाणि ने चरक में पूर्वोक्त पाठ होते हुए भी उसकी किसी अन्य प्रति को दृष्टि में रखते हुए 'बस्तिनिरोधो मूत्रनिरोध इत्यर्थः' लिखा है।

६. सानाहः ऊर्ध्वाधोवात रोधयुक्तः- टीकाकार चन्द्रनन्दन और तोडर अष्टाङ्ग-हृदय में।

७. चरक, माधव निदान तथा भावप्रकाश में आए 'विप्लुताक्षः परिक्षीणः पाठ के स्थान पर अष्टाङ्ग संग्रह तथा हृदय में 'अधोदृग्विप्लुताक्षश्च' यह पाठ है। नीची आँख का अर्थ 'पलकें नीची होना' ले सकते हैं।

८. रक्तैकलोचनत्वम् इह व्याधि प्रभावात्—**चक्रपाणि**। रक्तैक-लोचनत्वं व्याधि प्रभावात्, दोषात्तु द्वयोरपि स्यात्—**मधुकोष**। अर्थात् छिन्नश्वास में एक नेत्र की रक्तवर्णता रोग प्रभाववश होती है। दोष-प्रकोपवश होती, तो दोनों नेत्र रक्तवर्ण होने चाहिए।

९. विप्लुताक्षश्चञ्चलनेत्रोऽश्रुपूर्णचक्षुर्वा--**मधुकोष**। विप्लुताक्षः अश्रुपूर्ण नेत्रः—**भावमिश्र**। विप्लुते एकत्रानवस्थिते अक्षिणी यस्य स एवम्—**अरुणदत्त**।

१०. विच्छिन्नो विमुक्त सन्धिबन्धः—**चक्रपाणि**। विच्छिन्नो विमोक्षित-सन्धिः, पीडित इत्यन्ये; 'विहतः' इति पाठान्तरम्—**मधुकोष**। विकाशी द्रव्यों के लक्षण में आया 'सन्धिबन्धों की शिथिलता' यह अर्थ भी ग्राह्य हो सकता है।

११. मारकश्चायं छिन्नश्वासः —**भावमिश्र**। एते त्रयः श्वास निसर्गतोऽसाध्याः--च. चि. १७।५२-५४ पर **चक्रपाणि**। व्याधि प्रभावाद् साध्यत्वम्—**योगरत्नाकर**। चरक आदि में तो 'स शीघ्रं विजहात्यसून' कहा ही है।

इस छिन्नश्वास का सादृश्य निःसंशय आधुनिकों की 'चेइन स्टोक्स रेस्पिरेशन' नामक विकृति के साथ एवं उसी के सवर्गीय 'बायोट्स रेस्पिरेशन'—संज्ञक विकार के साथ सुस्पष्ट देखा जा सकता है। इन दोनों आधुनिकोक्त व्याधियों में श्वास-क्रिया बीच-बीच में स्थगित हो जाती है। कभी-कभी तो यह विराम दो-दो मिनिटों का भी हुआ करता है। चेइन स्टोक्स रेस्पिरेशन में श्वास क्रिया कुछ काल बल-वेगवती (हायपरप्निआ) होने एवं मध्यवर्ती विराम व्यवस्थित समय पर होते हैं; इसके विपरीत बायॉट्स रेस्पिरेशन में श्वास की वेग-वृद्धि एव विराम सहसा होते हैं।

पहले कहा जा चुका है कि, प्राणवायु अर्थात् आधुनिकों की कार्बन डाई ऑक्साइड मस्तिष्क में स्थित श्वसन-कर्म का (और अंशतः रस-रक्ताभिसरण केन्द्र का भी उद्दीपक (स्टिमुलेटर) है। किसी कारण शरीर में, विशेषतः मस्तिष्क में इस वायु की मात्रा में ह्रास हो जाए तो श्वसन-केन्द्र को प्राप्त होने वाला यह उद्दीपन कुछ काल अ-सुलभ हो जाने से श्वास क्रिया मन्द किंवा अवरुद्ध हो जाती है।

सामान्यतया, स्वस्थ पुरुषों में भी यह विक्रिया देखी जा सकती है। उस स्थिति में वस्तुस्थित्या इसे विक्रिया कहना भी न चाहिए। रात को सोते समय प्रायः सभी स्त्री-पुरुषों में यह स्थिति देखी जाती है। सुप्त पुरुष कभी सहसा वेग से और सशब्द श्वास खेंचे तो इसमें यही स्थिति होती है। इस प्रकार श्वसन के पूर्व विराम-काल आया होता है। समुद्र-तल से ऊँचे धरातल (हाई आल्टीट्यूड) पर जाने पर भी श्वास क्रिया का यह स्वरूप पाया जाता है। इसके अतिरिक्त, योगियों के भस्त्राप्राणायाम (भस्त्रा = धौंकनी)के समान कोई भी पुरुष दो-तीन मिनिट स्वैच्छिक जल्दी-जल्दी और बलपूर्वक श्वास ले, तो भी कुछ काल के लिए 'चेइन स्टोक्स रेस्पिरेशन'—सदृश श्वसन के वेग होते हैं।

विकार रूप में यह स्थिति आधुनिक मत से मस्तिष्क, हृदय और वृक्क के रोगों में हुआ करती है। प्राचीनों ने छिन्नश्वास में तीनों प्रधान मर्मों के विकार-ग्रस्त होने का उल्लेख किया है। इनमें प्राचीनोक्त शिर शब्द से आधुनिकों का मस्तिष्क गृहीत है। हृदय तो दोनों पद्धतियों में समान ही है। शेष वस्ति शब्द से वृक्क-समेत समस्त मूत्र-यन्त्र का ग्रहण न्याय्य है। कारण, वस्ति के जो कर्म पूर्वाचार्यों ने लिखे हैं वे केवल बस्ति नाम से प्रसिद्ध मूत्राशय (यूरीनरी ब्लैडर) के न होकर समस्त मूत्र-संस्थान (यूरीनरी सिस्टम) के हैं, यह निर्विवाद है। इस प्रकार चेइन स्टोक्स रेस्पिरेशन के कारणों में आधुनिकों ने वृक्कों की जो गणना की है तथा पूर्वाचार्यों ने छिन्नश्वास के निदान में बस्ति की विकृति का जो स्मरण किया है, उसमें कोई भिन्नता नहीं, यह सिद्ध है।

चेइन स्टोक्स रेस्पिरेशन के मूल में स्थित मस्तिष्क की विकृतियों में आधुनिक चिकित्सा-शास्त्रियों ने मस्तिष्क की किसी धमनी में रस-रक्त का स्कन्दन (जम जाना; थ्रॉम्बोसिस) अथवा किसी धमनी के विदीर्ण होने से रक्त स्राव (हेमोरेज; इन दोनों विकृतियों का एक नाम 'एपोप्लेक्सी है), मस्तिष्क में अर्बुद, श्वसन-कर्म का केन्द्र 'मेड्युला'—नामक मस्तिष्क के जिस भाग में स्थित होता है उसमें अथवा समग्र मस्तिष्क में होते रस-रक्त के संचार में बाधा होना, निद्राजनक (हिप्नोटिक) औषधों के उपयोग के कारण श्वास के केन्द्र का अवसाद (डिप्रेशन) एवं मस्तिष्क की तर्पकधरा कलाओं (मेनिंजीज) का यक्ष्मोत्पादक जीवाणुओं के संक्रमणवश हुआ शोथ (टयुबक्युलस मेनिंजाइटिस) इत्यादि की गणना की है।

वृक्क की विकृतियों में स्वयं वृक्क के रोग विशेष से आक्रान्त होने से अथवा अन्य शरीरावयवों के रोगों के परिणामस्वरूप शरीर के अब्धातु का क्षय होने से हुई वृक्कों की कर्म-हानि के परिणामस्वरूप वृक्कों द्वारा मूत्र द्वारा शरीर से बाहर निकाले जाने प्रमुख विष द्रव्य 'यूरिया' के शरीर से बाहर निकल न सकने से होने वाला यूरिया का रस-रक्त में संचय (यूरीमिआ) प्रधान है। आल्ब्यूमिन की मूत्रद्वार से प्रवृत्ति तथा उसके सर्वांग शोथ (ब्राइट्स डिसीज) की जीर्णता को भी इस प्रकरण में स्मरण किया गया है।

यकृत् के मूल घटकों की रूप हानि (नेक्रोसिस) से भी चेइन स्टोक्स रेस्पिरेशन होता है। परन्तु यह रोग अति विरल (दुर्लभ) और घातक हुआ करता है।

हृदय की विकृतियों में हृदय की क्रिया का नाश (हार्ट-फेलियर), विशेषतः वाम क्षेपक कोष्ठ की क्रिया-

हानि (राइट वेंट्रिकुलर फेलियर) गणनीय है। इस अथवा अन्य कारणवशात् फुपफुसों में दोष के संचय (पल्मोनरी कंजेश्चन) से भी चेइन स्टोक्स रेस्पिरेशन होता है।

छिन्नश्वास के लक्षणों में कहे अरुचि, अरति, प्रलाप (डिलीरियम), मोह (मूर्च्छा) और अन्ते मृत्यु—ये लक्षण चेइन स्टोक्स रेस्पिरेशन में भी उपलब्ध होते हैं।

इस प्रकरण के आरम्भ में कहे उपनिषद्-वाक्य की दृष्टि से विचार करें, तो आत्मा इन तीनों प्रधान मर्मों का परित्याग करता हुआ अन्त में समग्र शरीर का त्याग करता है, जिससे शरीर पंचतत्व को प्राप्त होता है।

चेइन स्टोक्स रेस्पिरेशन के आधुनिक उपचारों में मस्तिष्क में रस-रक्त के संवहन की क्रिया सुधारने के प्रयोजन से तत्रत्य रस-रक्तवह स्रोतों का विस्तरण (वासोडायलेशन), आक्सिजन तथा कार्बन डाइआक्साइड का मिश्रण सुंघाना एवं केन्द्रीय (मस्तिष्क सौपुम्निक) नाडी संस्थान के उत्तेजक औषधों का सेवन कराना मुख्य हैं।

ऊर्ध्वश्वास के लक्षण

आरम्भ में ही पुनः संक्षेप में समझ लें कि यह ऊर्ध्व श्वास कफ प्रधान व्याधि है, जिसमें प्रकुपित कफ का स्थान-संश्रय सविशेष श्वास-संस्थान (रेस्पिरेटरी सिस्टम) में होता है। आगे जिसका विवरण दिया जाएगा, वह महाश्वास वात-प्रधान रोग है और इसमें कुपित हुए वायु का स्थान-संश्रय विशेषतः उदर में होता है। एतद्विषयक अधिक स्पष्टता आगे इन श्वास-भेदों के लक्षण और संप्राप्ति के प्रकरणों में होगी।

इस ऊर्ध्व श्वास में रोगी का ऊर्ध्व श्वास[1] अर्थात् श्वास में वायु को बाहर निकालने की प्रक्रिया दीर्घ अर्थात् दीर्घकाल रहने वाली होती है।[2] श्वास के अन्य प्रकारों में रोगी दीर्घ तथा ऊर्ध्व श्वास छोड़ कर निःश्वास की क्रिया में—वायु के ग्रहण की क्रिया में—उसको (वायु को) अन्तःप्रविष्ट करने की क्रिया करने में समर्थ होता है, उस प्रकार इस ऊर्ध्व श्वास में नहीं कर पाता।[3] अतएव, यह क्रिया (निःश्वास) दीर्घ काल लेती है। यों तो, श्वास के समस्त भेदों में वायु ऊर्ध्वगत होता ही है, तथापि इस प्रकार में वायु की ऊर्ध्व गति सविशेष हुआ करती है (अर्थात्—ऊपर की दिशा से वायु को निकालने की क्रिया अधिक समय-पर्यन्त होती है)। अतएव, इसे 'ऊर्ध्व श्वास' यह संज्ञा दी गई है। जब-जब भी इस ऊर्ध्व श्वास के वेग होते हैं, तब-तब सर्वदा उसका अधःश्वास (निःश्वास अर्थात् श्वास क्रिया में वायु के अन्दर ग्रहण की क्रिया। निरुद्ध (मध्य में ही स्तम्भित, विघ्नित) होती है।[3]

(इस ऊर्ध्व श्वास की स्मरणीय विशेषता यह होती है कि) इसमें रोगी का मुख एवं (श्वास-संस्थान से सम्बद्ध) स्रोत कफ से लिप्त होते हैं अथवा मुख और ये स्रोत कफ से लिप्त होते हैं। (श्लेष्मावृत मुख स्रोताः)। रोगी प्रकुपित वायु से—उसके प्रकोपजन्य विकारों से—पीडित होता है। अन्य शब्दों में वायु प्रकोप को प्राप्त हो उसे अनेक प्रकार से व्यथित कर रहा होता है। (यथा), रोगी के हृदय (हृदय तथा प्राणवह स्रोत आदि उससे उपलक्षित प्रदेश), बस्ति (प्रधानतया वृक्क) और शिर (मस्तिष्क) ये तीनों प्रधान मर्म खैंचे जाते हैं (इस प्रकार की वेदना रोगी अनुभव करता है)।[4] अथवा, इन मर्मों में छेदनवत्—उनके आरी से काटे जाने की-सी—व्यथा आतुर को होती है। वह पुनः-पुनः मूढ (मोह अर्थात् मूर्च्छा—स्ट्यूपर और निश्चेष्टता को प्राप्त) होता है। उसकी आँखें ऊपर की ओर चढ़ (फिर) जाती हैं। उसकी आँखों में विकलता (विभ्रांताक्षता) देखी जाती है। उन्हें (आँखों को) विकृत रूप से चारों ओर फिराता हुआ देखता है। उसकी वाणी अवरुद्ध

---

१. श्वास शब्द इस प्रकरण में श्वास क्रिया में निर्गत तथा अन्तर्गृहीत वायुओं के लिये प्रयुक्त हुआ है। जैसे, लक्षणों में आए 'ऊर्ध्व श्वासे प्रकुपिते ह्यन्तः श्वासो निरुध्यते' की व्याख्या में मधुकोषकार ने कहा है: निरुध्यत इति हृदये एवाऽविस्तम्भितः स्यात्; अथवा श्वासो वातः सोऽधो न वर्तते। ऊर्ध्वं श्वास ऊर्ध्वश्वासः।

२. दीर्घं श्वसिति श्वासस्य बहिर्निगमनं दीर्घकालं करोति—चक्रपाणि। दीर्घमिति दीर्घकालम्—मधुकोष।

३. यथा अन्येषु श्वासेषु नर ऊर्ध्वं दीर्घं श्वासं मुक्त्वा पुनः अधः प्रत्याहरति पुनः अन्तः प्रवेशयितुं शक्नोति न एवमस्मिन् ऊर्ध्वश्वासे इत्यर्थः—अरुणदत्त। श्वास का अर्थ यहां अन्दर जाता-आता वायु है। देखिये—पादटिप्पणी-१।

४. मर्मसु हृद्बस्तिशिरःसु; आयम्यमानेषु आकृष्यमाणेषु—डल्हन।

गले में अन्दर ही अन्दर अटकी हुई; अतएव अस्फुट, (अस्पष्ट) अथवा रोगी बोलने में अशक्तिमान् होता है।[1] रोगी वेदनावश होता है, तथा विलाप (रोदन) करता रहता है।[2] वह अरतिमान् होता है--उठने-बैठने आदि किसी भी स्थिति में सुख (चैन) का अनुभव नहीं करता अथवा, उसका चित्त किसी भी विषय पर देर तक स्थिर (एकाग्र, केन्द्रित) नहीं हो सकता।[3] वह ग्लानि (हर्षाभाव) से अभिभूत होता है। (श्वास ग्रहण करने के हेतु मुख खुला रखने के कारण बाह्य वायु के स्पर्श के कारण कफ-लिप्त होते हुए भी उसका मुख शुष्क होता है। यह श्वास शीघ्र ही रोगी का प्राण-हरण करता है। मधुकोषकार की व्याख्यानुसार रोगी मोह (अन्धकार में डूबा जा रहा हो ऐसी प्रतीति) तथा ग्लानि से ग्रस्त होता है, तभी उसके प्राण लेता है, अन्यथा नहीं।[4]

इस ऊर्ध्वश्वास के विवरण में आए 'श्लेष्मावृत मुख स्रोता:' इस विशेषण से स्पष्ट है कि, आतुर के प्राणवाही स्रोत--नासिका से आरम्भ कर हृदय-पर्यन्त मार्ग--कफ से आवृत (अवरुद्ध) हुआ करते हैं। इनमें नासिका से फुप्फुसों के स्रोतों की अन्तिम शाखाओं के कफ से लिप्त होने का अर्थ तो नासिका या मुख से निकलते प्रत्यक्ष-दृष्ट कफ से आवृत्त होना ही है। रक्तवाही एवं रसवाही सिराओं सहित हृदय का इस प्रकार कफ-लिप्त होकर रुद्ध होना प्रत्यक्ष-विरुद्ध है। इस पक्ष में कफ से अवरोध का अर्थ मन्द गुण प्रधान कफ के प्रभाववश हृदय एवं स्रोतों का संवरण-असंवरण (अकुञ्चन-प्रसारण) मन्द ('लो' तथा 'स्लो') हो जाना है। नासिका से फुप्फुस-पर्यन्त मार्ग उल्लिखितरीत्या कफावरुद्ध होने के कारण कफ को भेद कर वायु का निःश्वास की क्रिया में अन्तःप्रवेश स्वस्थावस्था के समान सुगम नहीं होता—उसकी ऊर्ध्वगति अर्थात् निर्गमन की क्रिया—ही सरलतया होती है।

रोगी ऐसा हतबल होता है कि, वह इस कफ को बाहर निकाल नहीं सकता। निःश्वास की क्रिया में अपान वायु (ऑक्सिजन) यथेष्ट मात्रा में अन्दर जा नहीं सकता। इसके विपरीत, प्राणवायु का शरीरावयवों में मात्राधिक संचय होता जाता है। हृदय तथा रसरक्तवाही स्रोतों का बल और वेग न्यून होने से यह न्यून भी अपान वायु शरीरावयवों में पहुंच नहीं पाता। दूसरी ओर, शरीर में कफ की उल्वणता का अर्थ यह होता है कि, आतुर की देह में रसधातु का पोषण किसी कारण से यथावत् नहीं होता, उसके मल की (अर्थात् कफ की) ही पुष्टि सविशेष होती है। यह अल्पमात्र भी रस हृदय और धमनियों की मन्दक्रियता के कारण धातुओं को उचित मात्रा में पहुंच नहीं पाता। इस प्रकार शरीर में धातुपोषण की क्रिया (मेटाबॉलिजम) विघ्नित होने से विभिन्न विकार होते हैं। शिर (मस्तिष्क) को रस-रक्त एवं अपान वायु यथेष्ट परिमाण में न मिलने से उसके विभिन्न केन्द्रों की क्रिया में विक्षेप पड़ता है। ऊपर कहे अनेक लक्षण इसी दुःस्थिति के परिणामरूप होते हैं। अन्त में, कफ के श्वासपथ में संचित होने से रुग्ण श्वासावरोधवश जानो अपने ही कफ में डूबकर मृत्यु को प्राप्त होता हैं। अथवा, जैसा कि मधुकोषकार ने कहा है, वह अन्धकार में निमग्न (मोह-मूर्च्छा-को प्राप्त) एवं ग्लानि (म्लानता) को प्राप्त होकर मृत्यु का ग्रास होता है।

आरम्भ में धृत उपनिषद्—वचन का विचार करें तो जीव जानो मुख्यत्वेन श्वासमार्ग का क्रमशः परित्याग कर रहा होता है। तीनों प्रधान मर्मों के प्रति भी उसकी (जीवात्मा की) विरक्ति होती ही है।

महाश्वास के लक्षण

शास्त्रोक्त लक्षण उद्धृत करने के पूर्व शास्त्र के ही आधार पर अपने शब्दों में इस महाश्वास का भी स्वरूप-दर्शक परिचय प्राप्त कर लें। श्वास के इस प्रकार का विशिष्ट लक्षण '**बद्ध मूत्रवर्चाः**' है। इसका अर्थ यह है कि: रोगी का पुरीष (वर्चः) एवं मूत्र इस व्याधि में बद्ध (अवरुद्ध, सक्त, अप्रवृत्त) होते है। इस स्थिति का समर्थक एक विशेषण भावप्रकाश में आया है। चरक-संहिता तथा माधवनिदान में महाश्वास का एक लक्षण 'संरुद्धः' पठित है। लघु वाग्भट में 'संरब्धः' शब्द है,

---

१. हतरथः—सुश्रुत; विरुद्धवाक्—वाग्भट। निरुद्धवाक् अन्तःप्रविष्टवाक् इत्यर्थः—अरुणदत्त।

२. परिदेवी दुःखार्त्तः—अरुणदत्त; रोदनवान्—हेमाद्रि।

३. अरतिः कस्मिन्नपि विषये न चिरावस्थितिः—आतङ्कदर्पण।

४. ताम्यतो ग्लायतो मुहयतश्चासून् हन्ति, नान्यथेति—मधुकोष।

जिसका अर्थ तो डरने 'संक्रुद्ध' तथा 'सवेग' दिया है। परन्तु, भावप्रकाश में 'संनद्धः' पाठ है। इसकी स्वोपस (स्वयं कृत) व्याख्या में भावमिश्र जी कहते हैं—'संनद्धः आनद्धः, आनाह युक्तः इति यावत्।' अर्थात, रुग्ण इस महाश्वास में आनाह-नामक रोग विशेष से पीडित होता है। आनाह के प्रकरण में कह आए हैं कि, इस रोग में दुष्ट वायु के कारण पुरीष अथवा आम विबद्ध (रुद्धगति) हो जाता है।

उपर्युक्त स्थिति में, वायु का अपने नैसर्गिक मार्ग से मल द्वार से—निर्गमन न होने से, वह प्रतिलोम होकर उर्ध्वगामी होता है। मूल में इसका निर्देश 'उद्धूयमानतः' इस विशेषण द्वारा किया गया है। टीकाकारों ने शब्द का अर्थ दिया है—जिसका वायु बलात् ऊपर दिशा में ले जाया जाता रहा है ऐसा।[1] संक्षेप में, श्वास के इस प्रकार में वायु का प्राधान्य होता है। वह पुरीष तथा मूत्र के आशयों में स्थान-संश्रय कर उनके स्वमार्ग—गमन को स्तम्भित करता है। परिणामतया, वह ऊर्ध्वगमनशील होता हुआ सुतरा (अधिकतर) काप को प्राप्त हो कर श्वास के वक्ष्यमाण (आगे कहे जाने वाले) घोर लक्षणों एवं वेदनाओं की उत्पत्ति करता है।

उदर में मल, मूत्र एवं अधोवायु के संग (अप्रवृत्ति)-पूर्वक संचय का एक अन्य इस रोग के निदान का सूचक स्मरणीय चिह्न होता है। रोग के लक्षण-समुदाय में कहा गया है कि, इसमें रोगी

'उच्चैः श्वसिति'। टीकाकारों ने 'उच्चैः' का अर्थ दिया है—'दीर्घम्'। तात्पर्य महाश्वास के वेगों की विद्यमानता में (वेग-काल में) दीर्घ अर्थात् लंबा (दीर्घकालिक) और गहरा श्वास लेता है। रोगवाचक संज्ञा में आया, 'महा' शब्द इसी स्थिति का सूचक है। चरक, भावमिश्र और माधवकर ने इसके परिणामस्वरूप होने वाला एक लक्षण यह दिया है—**प्रश्वसित चास्य दूराद् विज्ञायते भृशम्।** ' यहाँ योगरत्नाकार में पाठ है—**'दीर्घः प्रश्वसित चास्य दूराद्विज्ञायते भृशम्।'** तात्पर्य, यह दीर्घ (गम्भीर, गहरा) श्वास अति दूर से भी स्पष्ट देखा जा सकता है। योगरत्नाकरकार ने 'दीर्घ' शब्द को 'प्रश्वसितं ··' इत्यादि वचनों के साथ रखते हुए श्वास के दूर से दिखाई देने का सीधा सम्बन्ध श्वास की दीर्घता के साथ दर्शाया है।

आधुनिक क्रियाशारीर (फिजियोलॉजी) के प्रकाश में महाश्वास के इन लक्षणों को समझना सुगम हो सकता है। जैसा कि अनेकशः कह आए हैं—श्वसन-कर्म में मुख्य भाग उदर-गुहा और उरः पञ्जर के मध्य में स्थिर श्वासपटल (महाप्राचीरा पेशी, डायाफ्राम) लेता है। यह पेशी आकुञ्चित होकर सपाट-सी होकर नीचे आती है तो, फुप्फुसों को प्रसरण का अवकाश सुलभ होता है। विस्तृत हुए फुप्फुसों में वायु का प्रसार हो जाने से उनमें (फुप्फुसों में) वायु का दबाव बाह्य वातावरण के वायु की तुलना में न्यून हो जाता है। परिणामतया, भौतिक शास्त्र (फिजिक्स) के नियमानुसार बाह्य वायु का अन्तः प्रवेश या निःश्वास क्रिया सम्पन्न होती है। तत्क्षण, यह पेशी प्रसारित हो गुम्बज के आकार में फुप्फुसों पर दबाव डालती है, तो तदन्तर्गत वायु न्यून स्थान में आ जाने से उसका दबाव बहिर्गत (वातावरण के) वायु की अपेक्षा या अधिक हो जाता है। फलस्वरूप, फुप्फुसगत वायु का निर्गमन होकर उच्छ्वास-क्रिया सम्पन्न होती है। अब, महाश्वास रोग में, विशेषतः स्थूलान्त्र में मल एवं वायु का अथ च मूत्राशय में मूत्र का संचय हुआ होने से वे फूल जाते हैं; अतः निःश्वास-काल में श्वासपटल के नीचे आने में अवरोध (अन्तराय) उपस्थित करते हैं। इस अवरोध का प्रतिकार कर श्वास क्रिया **में** वायु को अन्दर तक पहुंचाने के प्रयोजन से रोगी को गहरा श्वास लेना पड़ता है। इस प्रयास में स्वभावतः उसका समस्त शरीर

---

१. उद्धूयमानः इति ऊर्ध्वं धूयमान—चक्रपाणि। उद् ऊर्ध्वं धूयमानो नीयमानो वातो यस्यसः—भावमिश्र तथा मधुकोषकार। हेमाद्रि ने 'उद्धूयमानः' का अर्थ 'आन्दोल्यमानः'। तथा अरूणदत्त ने 'उत्कस्ध्यमानः' यही दिया है। निर्णय सागर—मुद्रित अष्टाङ्गहृदय की पाद—टिप्पणी में तो डर (प्रसिद्ध राजा टोडरमल) ने भी—उद्धयूमानः उत्पाधमानः आन्दोल्यमानः) यही व्याख्या दी है। इससे यह अभिप्रेत है कि, महाश्वास के वेगकाल में है। श्वास के ग्रहण की चेष्टा में भाग लेता हुआ रोगी का समस्त शरीर हिल-डुल उठता है। दोनों ही अर्थ प्रत्यक्ष-सिद्ध हैं। 'धून्' धातु का अर्थ कम्पन होता है।

आन्दोलित हो जाता है। श्वास क्रिया भी इस बल-प्रयोगवश दूर से भी दृश्यमान होती है। आगे कहे जाने वाले अन्य चिह्न इसीके अंग रूप होते हैं।

महाश्वास का यह प्रारम्भिक परिचय इसके संहितोक्त लक्षणों को समझने में उपयोगी हो सकता है। साथ ही, जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि तमकश्वास वात प्रधान हो तो वह भी इन लक्षणों को दृष्टिगत रखने से परखा जा सकता है। उधर, कफ प्रधान तमक श्वास का निदान पूर्व-वर्णित उर्ध्वश्वास के लक्षणों को ध्यान में रखने से यथावत हो सकता है। संक्षेप में, उर्ध्वश्वास में श्वास क्रिया कफ द्वारा अवरोधवश निःश्वास में वायु का अन्तः प्रवेश सुगम न होने से छाती के उर्ध्व प्रदेश में ही मर्यादित रहती है। परन्तु, महाश्वास में अवरोध दूर उदर में स्थित होने से उसके प्रतिकारपूर्वक स्वस्थतया वायु के ग्रहणार्थ रोगी को अति प्रयत्न-सहित गहरा (गम्भीर) श्वास लेना प्राप्त होता है। अन्य शब्दों द्वारा स्पष्टता करनी हो तो इस महाश्वास में मलावष्टम्भ होता है तथा उर्ध्वश्वास के मूल में छाती की कफ पूर्णता हुआ करती है। छोटे बालकों में पाये जाने वाले डब्बा रोग (पसली चलना) के भी इसी भाँति वात प्रधान एवं कफ प्रधान भेद करते हुए ही उपचार की दिशा निर्धारित करना उचित होता है। उसकी विशदरता भी इन श्वास-भेदों के स्वरूप को यथावत् समझने से अनायास होगी।

महाश्वास के संहितोक्त लक्षण एवं वेदनाएँ निम्न हैं: इस महाश्वास में वायु की गति ऊर्ध्व दिशा में होती है। मदोन्मत्त साँड को सब ओर से जकड़कर बाँधा गया हो, तो वह जिस प्रकार स-क्रोध, स-वेग (बलपूर्वक) दीर्घ (लम्बा) एवं सशब्द श्वास लेता है, इसी प्रकार महाश्वास-पीडित दुःखाक्रान्त पुरुष भी निरन्तर उच्च एवं अतिघोष (शब्द)-सहित श्वास लेता है। श्वास लेते हुए वह (अन्तरायाम-नामक धनुः स्तम्भ के समान) अन्दर की ओर आयाम-युक्त हो कर दुहरा हो जाता है।[1] मत्त वृषभ का दृष्टान्त (उपमा) इस हेतु प्रयुक्त किया गया है कि इससे श्वास के इस भेद में होनेवाले महाशब्द के स्वरूप की यथावत् कल्पना आ सके।[2] पीडा (क्लेश) के कारण आतुर दीन (दैन्य-युक्त; थके-माँदे मन वाला; क्लान्त) होता है। उल्लिखित परिस्थिति में उसकी श्वसन की क्रिया अति दूर से भी स्पष्ट सुनाई देती है।[3] वह निःसंज्ञ (चेतना-रहित) एवं ज्ञान-विज्ञान (शास्त्र ज्ञान एवं उसके अर्थ का ज्ञान अथवा यथार्थ ज्ञान तथा कौशल-पूर्वक कर्म) से शून्य एवं उद्विग्न (घबराए हुए) चित्त-वाला होता है। उसके नेत्र शोथयुक्त, चञ्चल (अस्थिर चारों ओर फिरने) विकृत स्वरूप वाले तथा स्तब्ध होते हैं। नेत्रों की स्तब्धता और चञ्चलता ये दो परस्पर विपरीत कर्म होने का अर्थ जेज्जट ने यह कहा है कि—कदाचित् वे स्थिर होते हैं तो कभी चपल—भ्रमणशील (अस्थिर)। मुख भी विकृत, विवृत(स्तब्ध, स्थिर, श्वास के ग्रहण के लिए खुला हुआ यह अर्थ प्रत्यक्षानुमोदित होगा)-तथा चञ्चल (गतिमान्) होता है। आतुर के नासा-पुटों से कूजन जैसा विलक्षण शब्द निकलता है।[5] उसकी वाक्-शक्ति सर्वथा नष्ट हो गई होती है, अथवा स्खलित (लड़खड़ाती हुई) अथवा मन्द होती है। श्वास के वेग-काल में उसकी छाती खिंचती है।[6] समग्र शरीर भी कम्पित (आन्दोलित) होता है—डोल उठता है। रोगी के कर्ण, शङ्ख (कनपटी) एवं पार्श्वों में शूल होता है। कण्ठ (मुख श्वास लेने के लिए खुला होने से बाह्य वायु के स्पर्श के कारण) शुष्क होता है। बार-बार वह मूर्च्छा से अभिभूत (ग्रस्त) होता है। उसके पुरीष और मूत्र का विबन्ध (अप्रवृत्त) होता है। वायु का भी ऊर्ध्वाधो मार्ग से प्रवर्तन नहीं होता (आनाह)। यह महाश्वास-पीडित पुरुष शीघ्र ही (क्षिप्रम्) मृत्यु को प्राप्त होता है।

---

१. आयम्य द्विधीभूयेव श्वस्यात् श्वासं कुर्यात्—डह्लन।

२. स्वरूपविशेषज्ञानार्थमुपमा—तोडर; स्वर विशेष-ज्ञानार्थमयं दृष्टान्तः—मधुकोष।

३. अस्य च श्वासवतः श्वसितम् अत्यर्थं दूरादेव श्रूयते—आतङ्क दर्पण।

४. ज्ञानं शास्त्रं, विज्ञानं तदर्थनिश्चयः—भावमिश्र तथा मधुकोषकार; ज्ञानं तत्त्वावबोधः, विज्ञानं कर्मसु कौशलम्—अरुणदत्त।

५. क्रथन् नासया अद्भुतं शब्दं कुर्वन्—तोडर; क्वणन्—अरुणदत्त; कूजन्—हेमाद्रि।

६. वक्षः समाक्षिपन् श्वासवशादाकर्षन्—तोडर।

प्रकरण के आरम्भ में धृत उपनिषद्-वाक्य को दृष्टि में रखकर विचार किया जाए, तो जीवात्मा इस महाश्वास रोग में मानो प्रथम महास्रोत का परित्याग करता है, जिससे उसके पचनात्मक व्यापार एवं पचनादि में उपयुक्त विभिन्न गतियां स्थगित होती हैं। आधुनिकों ने अन्त्रों के वध (पेरेलिसिस) का उल्लेख किया है। उसका साम्य इस विकृति के साथ कथंचित देखा जा सकता परन्तु उसमें श्वास संस्थान की विकृति होने का आधुनिकों द्वारा निर्देश उपलब्ध नहीं होता।

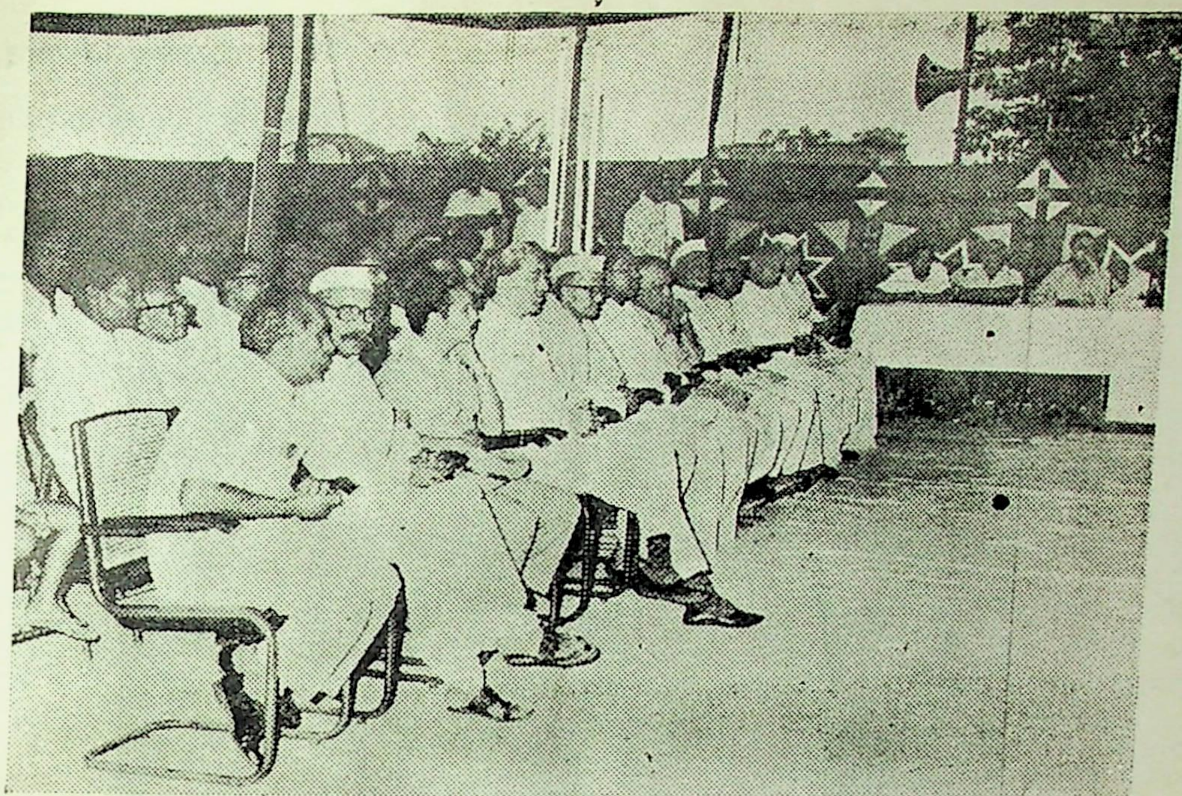
ऊर्ध्वश्वास एवं महाश्वास के इस प्रतिपादन के आधार पर तमकश्वास के कफ-प्रधान तथा वात-प्रधान भेदों का स्वरूप समझने में साहाय्य हो सकता है। अवश्य ही इस उपलब्धि से तमकश्वास के उपचार की दिशा का निर्धारण भी सुगम हो सकता है। यह तमकश्वास कफ-प्रधान हो तो उसमें नासापुट से आरम्भ कर श्वासपथ की अन्तिम शाखा-प्रशाखा विशाखाओं तक का मार्ग कफपूर्ण होता है। नेत्रों द्वारा यह परिस्थिति सुलक्षित होती है, साथ ही यन्त्रों की सहायता के बिना भी कफपूर्ण श्वासपथ में होने वाली विशिष्ट ध्वनि भी कर्ण-गोचर हुआ करती है। अन्त काल में स्वयं रुद्ध होकर वायु के गमनागमन में प्रत्यवाय (विघ्न) उपस्थित करने वाले कफ का घर्घर शब्द (स्ट्रायडर) और भी स्पष्ट होता है। सामान्य जन भी इसे सुनकर परिणाम की गम्भीरता की कल्पना कर लेते हैं। श्रावणी नलिका (स्टेथोस्कोप) से यह स्पष्टतर होती है। क्ष-किरण परीक्षा में श्वासपथ कफपूर्ण होने का निदान होता है। इसके विपरीत, वात प्रधान तमकश्वास में प्रतिश्याय आदि के रूप में श्वासपथ की कफलिप्तता दिखाई नहीं देती। मल और वायु की अप्रवृत्ति होती है। तमकश्वास के उपचार में विरेचन का महत्व है। वह इस वात-प्रधान प्रभेद में विशेषतया अङ्गीकार्य हुआ करता है। कफ प्रधान तमकश्वास में वमन सविशेष उपयुक्त ठहरता है।

बालकों के श्वास प्रधान संतत ज्वर (ब्रांकोन्यूमोनिया)[1] का उपचार आरम्भ करने के पूर्व उसमें कफ या वात का तारतम्य (न्यूनाधिकता) का परिज्ञान उपचार के क्रिया-क्रम के निर्णय में उपयोगी सिद्ध होता है। हिन्दी में इसकी डब्बा, पसली चलना आदि संज्ञाएं हैं। गुजरात आनूप देश होने से और देशस्वभाववश यहां कफ और वात के प्रकोप से होते रोगों का प्राधान्य होने से इन्हीं दोषों की प्रधानतावाला यह 'ब्रांकोन्यूमोनिया' इस ओर सविशेष देखा जाता है। सामान्यतया यह तीनों नामों से प्रख्यात है—ससणी, वराध और बावरी। यों, जैसा कि अनेक बार कहा जा चुका है, तीनों संज्ञाएं परस्पर पर्याय के रूप में व्यवहृत होती हैं। परन्तु इन के नामों को दृष्टि में रखें, तो ये दोष-भेद से भिन्न पृथक-पृथक विकृतियों के लिए व्यवहार में लाए जाने चाहिएं। इनमें ससणी शब्द कफ-पूर्ण श्वासपथ के मध्य होकर यातायात करते वायु के 'सण सण' शब्द के प्रति स्पष्ट संकेत कर रहा है। सो, कफ-प्रधान ब्रांकोन्यूमोनिया के लिए इस ससणी शब्द को मर्यादित रखा जा सकता है। बावरी शब्द वातप्रधान विकृति का वाचक है। शेष, वराध संज्ञा उस विकृति के लिए व्यवहार में लाई जाने योग्य है, जिसमें कफ और वायु दोनों तुल्यबल होते हैं। वराध शब्द का व्यवहार कुछ गंभीर परिस्थिति के लिए विशेषतः प्रयुक्त किया जाता है और यह गम्भीरता इस भेद में कफ और वायु दोनों दोषों की उत्पादकता को लक्ष्य में रखते हुए ही यथार्थ कही जा सकती है।

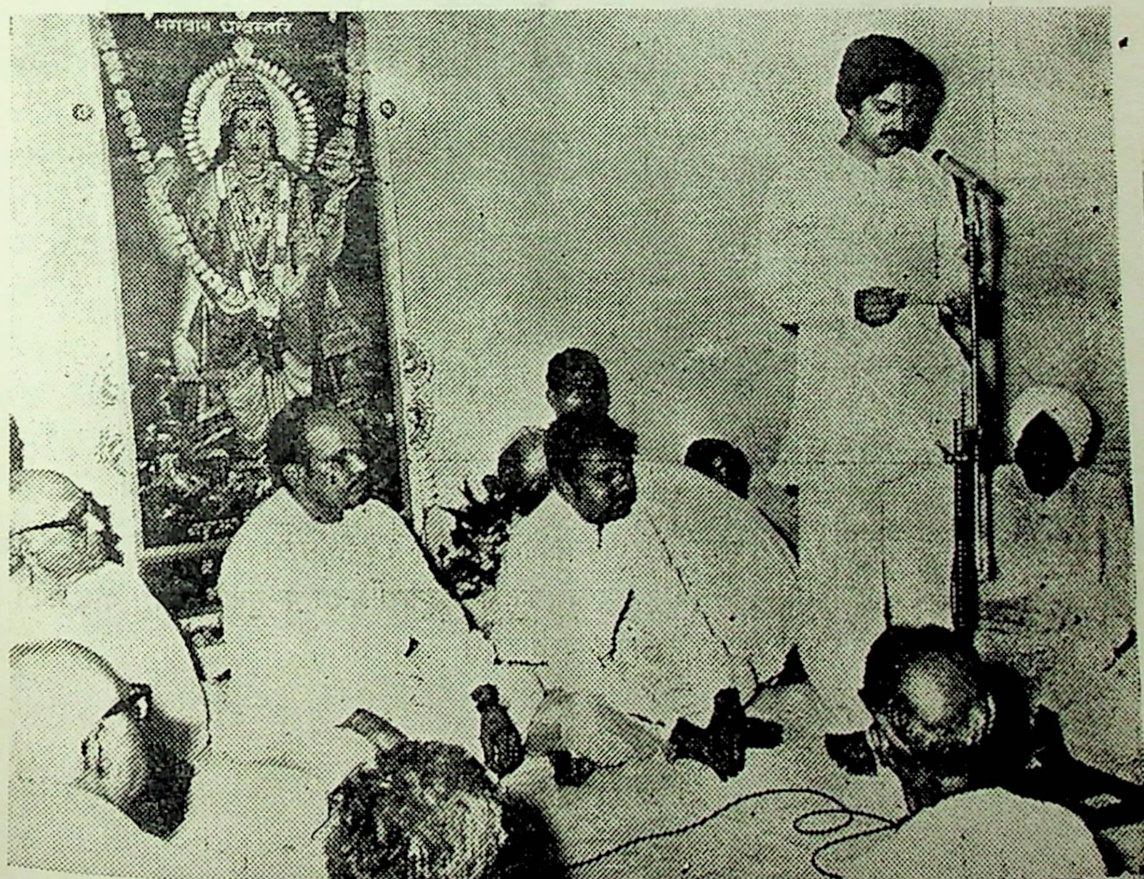
यह सत्य है कि, हमारी ओर इस रोग में उसारे

---

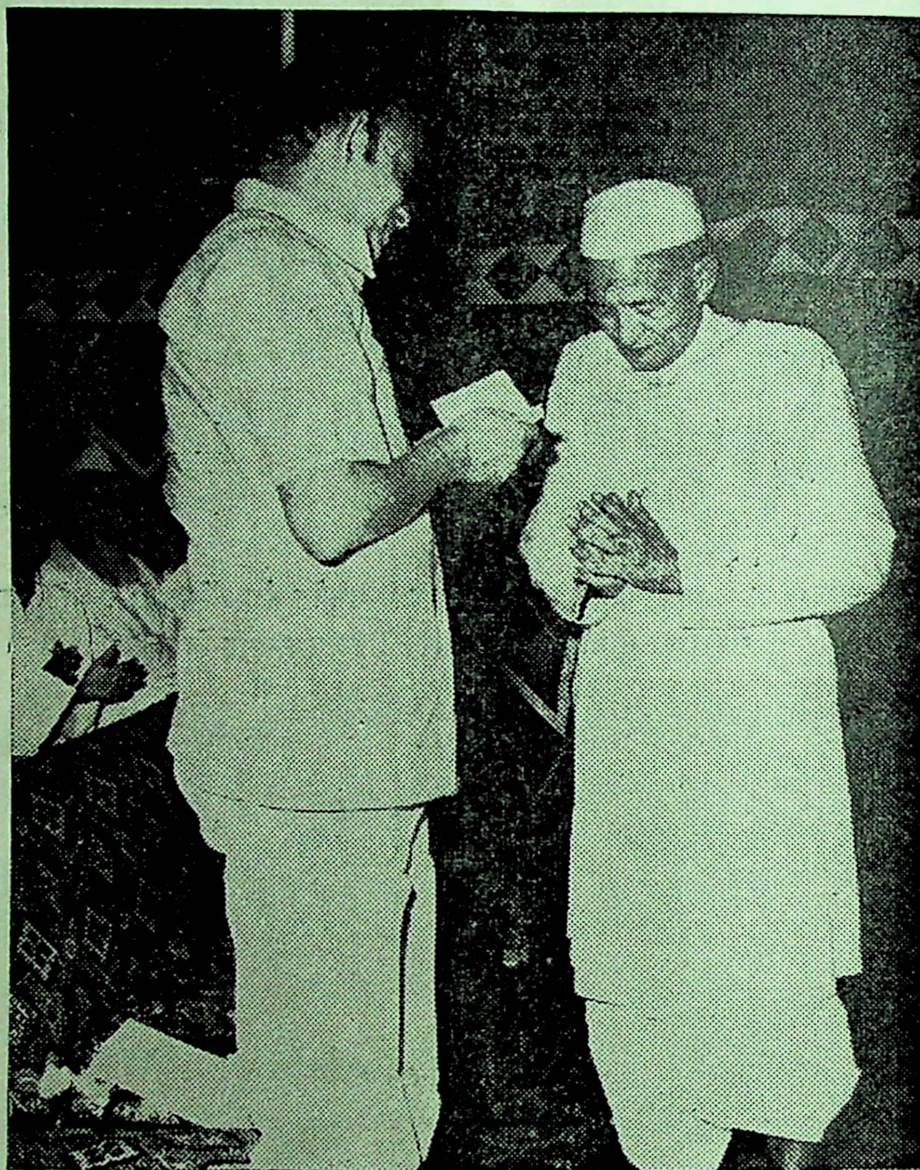
१. फुफ्फुस के प्रधान घटक दो हैं—फुफ्फुसों का घटक मूल धातु तथा उसमें ओतप्रोत श्वासपथ (ब्रांङ्कस) के प्रतान (शाखा-प्रशाखा-विशाखाएं)। बालक तथा वृद्ध, श्वासपथ के न्यूमोनिया (ब्रांङ्को न्यूमोनियो) से सविशेष आक्रान्त होते हैं। फुफ्फुसों के घटक मूल धातु के न्यूमोनिया को लोबार न्यूमोनिया कहा जाता है। युवजन इससे सविशेष पीडित हुआ करते हैं।



बैद्यनाथ के पटना-केन्द्र में धन्वन्तरि जयन्ती-महोत्सव में समवेत वैद्य-कविराजों के अतिरिक्त पटना के सम्भ्रान्त नागरिक तथा पत्रकारों का एक समूह चित्र ।



बैद्यनाथ प्रतिष्ठान के कलकत्ता निर्माण-केन्द्र में आयोजित धन्वन्तरि जयन्ती-समारोह में स्वागत-भाषण करते हुए; श्री रामकृष्ण शर्मा । चित्र में प्रधान प्रबंधक श्री वेणी प्र० वैद्य, कविराज रामाधीन वशिष्ट प्रभृति परिलक्षित हैं ।



श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के संचालक एवं प्रबन्ध-निदेशक वैद्य पं०रामनारायणजी शर्मा, झांसी मण्डल के आयुक्त श्री बी० के० सक्सेना को १० हजार रु० का चेक उत्तर प्रदेश के मुख्य मन्त्री बाढ़ कोष हेतु समर्पित करते हुए।

रेवन्द[1] आदि जिन औषधों की योजना की जाती है वे प्रकृत्या विरेचन होते हुये भी, छाती कफपूर्ण हो तो प्रथम वमन द्वारा कफ की शुद्धि करते हैं, तदनन्तर अपनी मूल प्रकृति के अनुरूप विरेचन क्रिया भी करते हैं। वात-प्रधान विकार में इनके योग से मुख्यतया विरेचन ही होता है। उसारे रेवन्द बाजार में दो प्रकार का प्राप्त होता है।

१. उसारे रेवन्द—यह एक संदिग्ध समझा जाने वाला औषध-द्रव्य है। आज से कई दशक पूर्व एक पक्ष में स्वर्गीय गुरुवर्य यादव जी त्रिकमजी आचार्य तथा दूसरी ओर स्व० श्री गोवर्धन शर्मा छांगाणी तथा स्व० शालग्राम शास्त्री जैसे सुभटों के मध्य लेखों के रूप में विवाद हुआ था। इसके केन्द्र स्थान में 'कङ्कुष्ठ' था। कङ्कुष्ठ का उल्लेख रस ग्रन्थों में एक खनिज द्रव्य के रूप में तथा एक वनौषधि के निर्यास के रूप में इस प्रकार दो रूपों में प्राचीनों ने किया है। छांगाणी जी तथा शास्त्री जी कंकुष्ठ को खनिज द्रव्य के रूप में उल्लेख को प्राधान्य देते हुए कंकुष्ठ का अर्थ रसतन्त्रोक्त मृद्दारश्रृंग (मुर्दासंग, प्लंबाई ऑक्साइडम, लेड ऑक्साइड, लिथार्ज, गुजराती में बोदार या बोदार पथरी) करते थे। इसका परिचय प्राचीन ग्रन्थों में एकीय मत से 'सद्योजात हाथी के बच्चे का पुरीष' यह भी दिया गया है। यादवजी भाई ने कङ्कुष्ठ का अर्थ उसारे रेवन्द (गुजराती—रेवंचीनों शीरो) करते हुए उसके समर्थन में अतीव स्वाध्यायपूर्ण तथा तर्कानुगत विस्तृत लेख लिखा था। परन्तु, इस मत में भी कुछ संशोधन हुआ है। संक्षेप में, अब मन्तव्य यह है कि : फारसी नाम उसारे रेवन्द का अर्थ है—रेवंदचीनी (हिउम एमोडी) का उसारा, अर्थात् सत्त्व। इस उसारे रेवद का अंग्रेजी पर्याय है—गेंबोज। अधिक विचार से इस निर्णय पर आया गया है कि : इस उसारे रेवंद को गुण-कर्म की दृष्टि से कङ्कुष्ठ का श्रेष्ठ प्रतिनिधि अवश्य कहा जा सकता है, परन्तु यह यथार्थ 'कङ्कुष्ठ' नहीं है। संक्षेप में, यह कश्मीर में 'हिरवी' नाम से जो वनौषधि उपलब्ध होती है, उसका निर्यास (काण्ड पर तेज धारदार शस्त्र से चीरा करने से निकलने वाले रस) का नाम कंकुष्ठ है। प्रचलित 'उसारे रेवंद' 'गार्सीनिया मॉरेला'—नामक वनौषधि का रस है; जबकि वास्तविक कंकुष्ठ 'यूफॉर्बिया थॉम्सो निआना' नामक वनस्पति, जिसे कश्मीरी भाषा में 'हिरवी' कहते हैं उसका निर्यास है।

डह्लन ने कंकुष्ठ का परिचय देते हुए उसे 'कंकुष्ठः स्वर्णक्षीरी निर्यासः' कहा है—अर्थात् स्वर्णक्षीरी के निर्यास (उसमें से झरने वाले रस या क्षीर) को कंकुष्ठ कहा जाता है। स्वर्णक्षीरी (पर्याय—सुवर्णक्षीरी, हेमक्षीरी, काञ्चनक्षीरी ...आदि) का अधिक प्रचलित अर्थ सत्यानाशी है। परन्तु यह मैक्सिको से भारत में आया क्षुप (पौधा) है। अतएव, इसकी वनस्पतिशास्त्रीय संज्ञा भी 'आर्जीमोन मेक्सिकाना' है। इसमें भी सुवर्णवर्ण पीला क्षीर झरता ही है। सो, वास्तविक सुवर्णक्षीरी मूलतः भारतीय वनस्पति ही होनी चाहिए। इस विषय की प्रथम स्पष्टता भावप्रकाश निघण्टु में उपलब्ध होती है। भावमिश्र ने 'स्वर्णक्षीरीद्वयम्' कह कर सुवर्णक्षीरी के दो प्रकार बताए हैं। इनमें एक भावमिश्र के काल में भारत में पदार्पण कर चुकी यह सत्यानाशी है। दूसरी सुवर्णक्षीरी यह 'हिरवी' है। सुवर्णक्षीरी का परिचय देते हुए डह्लन ने कहा है—सुवर्णक्षीरी अनन्ता सदृश पत्रा 'हियावली' इति लोके। तात्पर्य, सुवर्णक्षीरी के पत्र सारिवा (अनन्ता) के सदृश होते हैं, तथा काश्मीर की ओर इसका लोक में (बहुजन समाज में) प्रचलित नाम 'हियावली' है। 'हिरवी' नाम इसी 'हियावली' का अपभ्रंश है। हिन्दी में 'हिया' का अर्थ है—हृदय एवं 'आवली' का अर्थ है आमला (धात्री)। इसके आधार पर रसपद्धतिकार ने इसका 'हृद्धात्री' नाम रखा है। (देखिए : रस-पद्धति, पृष्ठ ८३, श्लोक १६१ पर नव्यचन्द्र रस)। इस हिरवी के मूल में चक्कू आदि से चीरा करने पर प्रचुर मात्रा में पीला क्षीर निकलता है। पत्र भी इसके सारिवा-सदृश ही होते हैं। इसमें से पुराकाल में कंकुष्ठ बनाया जाता होगा। इस विषय में पुनः प्रत्यक्षकर अन्तिम निर्णय पर आना चाहिए।

उसारे रेवंद नाम से प्रसिद्ध द्रव्य जिस वृक्ष से निकाला जाता है वह (पूर्वोक्त गार्सीनिआ मॉरेला) स्वयं भारत में उत्तर कानडा से लेकर ट्रावनकोर-पर्यन्त एवं असम के सदाहरित अरण्यों तथा बंगाल में उत्पन्न होता है। यह कोकम की जाति का तथा उससे मिलता-जुलता वृक्ष है। परन्तु भारत में इससे उसारे रेवंद निकाला नहीं जाता। स्याम, कंबोडिया, कोचीन, चीन आदि से इसका आयात होता है। इन देशों में इसका साधुओं के कपड़े रंगने, सुनहरे अक्षर लिखने आदि में प्रयोग होता है।

उल्लिखित विधान को प्रसिद्ध वनौषधि-विशारद, आचार्य बापालाल भाई का समर्थन प्राप्त है। उनके ग्रन्थों से ही यह विवरण लिया भी गया है।

एक भार में हलका और मूल्य तथा गुण की दृष्टि से भी अल्प; दूसरा भार मूल्य एवं गुण तीनों की दृष्टि से अधिक। यही व्यवहार में लाना चाहिए।

इस ओर किसी समय इन रोगों में देखे जाने वाले विशिष्ट लक्षणों की विद्यमानता के कारण भिन्न-भिन्न नाम दिए जाते थे। यहां इनके उल्लेख का प्रयोजन यह है कि, डब्बा रोग से पीड़ित बालक व्यवसाय में चिकित्सार्थ आए तो उसमें इन लक्षणों का भी प्रश्न-परीक्षा द्वारा ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए। इनमें कोई लक्षण विद्यमान हो तो तदनुरुप अन्य उपचार-योजना भी करना उचित ठहरता है। ये भेद निम्न हैं :

(क) **डमकी**—इसमें पेट 'डुम' (गुजराती शब्द; अर्थ—स्तब्ध, आध्मान और आरोप-युक्त तथा अ-मृदु) होता है। विबन्धं और आध्मान (वायु की अप्रवृत्ति) इसके मूल में होते हैं।

(ख) **हुपेटा**—इसमें श्वास निरन्तर चलता रहता है। हिन्दी छाज के लिए संस्कृत में शूर्प शब्द है। इसका अपभ्रंश 'सुपड़ा' शब्द, अथवा गुर्जरगिरा में 'श' या 'स' के स्थानपर 'ह्' उच्चरित होने से 'हुपड़ा' शब्द गुजराती में व्यवहार में आते हैं। निकटवर्ती जलाशय खेतों में पानी देना हो तो ग्रामों में ग्राम-निर्मित साधन-विशेष का प्रयोग होता है। इसमें नीचे की ओर पानी उलीचने के लिए छाज लगा रहता है। जैसे यह छाज निरन्तर चलता रहता है, वैसे ही जिस श्वास में बच्चे की छाती अविरा[म] चलती रहे उसे हुपेटा कहते हैं।

(ग) **हगरी**—इसमें बालक हगता ही रहता है—[व] अतिसार पीड़ित होता है।

(घ) **करमी**—यह करम (कृमि) के कारण हो[ता] है।

(ङ) **पाँखिया**—इसमें दोनों पार्श्वों की पां[ख] पक्षियों के पंखों) के समान गति होती रहती है। इस[के] लिए उत्तम उपमा धौंकनी की है। हिन्दी में इसे 'पस[ली] चलना' कहते हैं।

(च) **ऊंधरी**—इसमें बच्चा ऊँघता (सोता) रहता है। (यह प्राय: कृमि के कारण होता है। सोए बच[्चे] के शिर पर शीतल जल की धारा छोड़ने से वह तत्का[ल] जाग उठता है। अपतन्त्रक, अपस्मार और मूर्छा के वे[ग] में भी इस प्रकार धारा छोड़ना एवं मुख पर जल चुल्लू ले उसके बार-बार प्रहार करना उपयोगी सिद्ध होता है। कभी-कभी अजीर्ण, परिकर्तिका आदि विकारों के वश दो एक दिन बालक ने निद्रा-लाभ यथायोग्य न किया हो, त[ो] भी वह स्वस्थ होने पर विशेष सोता है, यह स्मरण रखें। कभी अहिफेनादि भी निद्रा के कारण हो सकते हैं)।

(छ) **ओकरी**—इसमें बच्चा उलटी ही करता रहत[ा] है। (गुजराती में 'ओकवु'' का अर्थ छर्दि—उलटी— होता है)।

(सावशेष)

हमारा विशेष लेख
वार्धिकी

डा० अनन्तराम शर्मा

वर्तमान में प्रयुक्त 'सांख्यिकी' 'यान्त्रिकी' 'अपराधिकी', प्रभृति शब्दों की भांति आयुर्वेद के आर्ष ग्रन्थों में 'कायिकी'—कायचिकित्सा के लिए, 'श्वासकी'—श्वास चिकित्सा के लिए प्रयुक्त होता है। इसी वजन पर विद्वान लेखक ने 'वृद्धों की व्याधियों की चिकित्सा' के लिए छोटा किन्तु सारगर्भित शब्द 'वार्धिकी' जिसका अंग्रेजी पर्याय Geriatrics है, प्रयुक्त किया है—जो सर्वथा स्वागतार्ह है। कृपालु वाचक इस नवीन शब्द को वृद्धों की व्याधियों की चिकित्सा के अर्थ में ग्रहण करेंगे—ऐसी आशा है। —सम्पादक

एक ओर ऋग्वेद में 'मा पुरा जरलोमृथा' जैसी प्रार्थनाएं हैं और दूसरी ओर चरक अनुपकरण की दीर्घायु को जघन्य पाप बताते हैं (नह्यतः पापीयात् पापीयोऽस्ति यदनुपकरणस्य दीर्घमायुः)। इसी प्रकार कहीं 'जीवन्नरो भद्र शतानि पश्येत्' है तो कहीं 'मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयो न तु धूमायितं चिरम्' है। आयुर्वेदीय संहिता-ग्रन्थों में भी अनेक स्थलों पर 'अर्चयेद्देवताविप्र वृद्धवैद्यनृपातिथीन्'—वा एवं 'यच्चान्यच्च ब्राह्मणा ब्रूयुः स्त्रियश्च वृद्धाः'—च० आदि वाक्य उपलब्ध होते हैं परन्तु अन्यत्र संस्कृत साहित्य में 'अंगं गलितं पलितं मुण्डम्' तथा 'पश्चाद्भूते जर्जरदेहे'—शंकराचार्य; और 'आयुःकल्लोललोलम्' एवं 'हा! कष्टं पुरुषस्य जीर्णवयसः पुत्रोऽप्यमित्रायते—भर्तृहरिः; आदि जरातुरों की जीर्णशीर्ण दशा का बड़ा ही भयावह वर्णन भी है। किन्तु; इतना परस्पर विरोधी वातावरण होने पर भी इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि मानव की दीर्घ जीवन के लिये प्रबल अभिलाषा युगयुगान्तर से चली आ रही है और आज भी उतनी ही सबल है जितनी कि पहिले कभी रही होगी (जीवेम शरदः शतम्-उपनिषद्)।

आयु के वेद आयुर्वेद में दीर्घायु की कदम-कदम पर चर्चा है और उसके मान तथा हिताहित का अनेकों स्थलों पर उल्लेख है। आयुर्वेद का शब्दार्थ भी यही है (हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्। मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेद स उच्यते—च०)। इसके अतिरिक्त चरक के सर्वप्रथम अध्याय का नाम 'दीर्घञ्जीवतीय' तथा उसके प्रथम श्लोक का 'दीर्घञ्जीवितमन्विच्छन्' से आरम्भ और वाग्भट के सर्वप्रथम अध्याय का नाम 'आयुष्कामीय' तथा उसके प्रथम श्लोक का 'आयुःकामयमानेन' से आरम्भ भी इस धारणा की पुष्टि करता है कि दीर्घायु प्राप्त करना जैसे जीवन का चरम लक्ष्य हो (ऋषयश्च भरद्वाजात् जगृहुस्तं प्रजाहितम्) दीर्घआयुश्चिकीर्षन्तो वेदं वर्धनमायुषः च० सू० १।२७)। इसी प्रकार 'तिस्रः एषणाः' में प्रथम स्थान 'प्राणैषणा' का है क्योंकि 'प्राण परित्यागे हि सर्व परित्यागः, प्राणानुपालनात् दीर्घमायुरवाप्नोति'—च०; अतः दीर्घायु प्राप्त करना जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है। आज भी उसी देश को पूर्णतः विकसित एवं समृद्ध माना जाता है जिसके निवासी सर्वाधिक लंबी उमर जीते हैं।

इस दीर्घ जीवन का ही अभिप्राय है वृद्धावस्था प्राप्त करना और संभवतः इसी अवस्था की प्राप्ति के लिए वेदकालीन याचना है कि 'हम बुढ़ापे से पहिले न मरें' तथा बार्धक्य के विरोध में वर्णित वैराग्य की बड़ी-बड़ी वार्त्ताओं के बावजूद मानवमात्र ही नहीं प्राणिमात्र ही कहना चाहिए, कि उसका बस चले तो 'अजर-अमर' होना ही पसन्द करे।

भले ही वर्तमान युग को उन्नति का प्रखर मध्याह्न माना जाता हो परन्तु आयुर्वेद ग्रन्थों में वृद्ध की जो आयु-सीमा बताई है उससे तो ऐसा ज्ञात होता है कि आधुनिकों को वहां तक पहुँचने में अभी तक कम से कम एक शताब्दी और अथक प्रयत्न करना होगा। आजकल भारतवर्ष में साठ वर्ष से उमर की आयु को वृद्धावस्था माना जाता है जबकि पश्चिम के देशों में यह सीमा पैंसठ वर्ष है। आयुर्वेदीय वाङ्मय में 'वयस्तु त्रिविधं—बाल्यं, मध्यं, वृद्धमिति' बताकर सत्तर वर्ष से ऊर्ध्व की आयु वालों को 'वृद्ध' कहा गया है। सुश्रुत ने स्पष्ट किया है :

'सप्ततेरुर्ध्वं क्षीयमाण धात्विन्द्रिय बलवीर्योत्साहमहन्यहनि वलिपलितखालित्य जुष्टं कासश्वासप्रभृतिभिरुपद्रवैरभिभूयमानं सर्वक्रियास्वसमर्थं जीर्णागारमिवाभिवृष्टमवसीदन्तं 'वृद्ध' माचक्षते'—सू० ३५-३५

यह प्रश्न आज भी निरुत्तरित है कि किन परिवर्तनों के परिणामस्वरूप वृद्धावस्था आती है। मनीषियों ने इस प्रश्न को हल करने के लिए अनेक प्रकार के प्रयत्न किये हैं। अनेक मारक व्याधियों पर चिकित्सा-विज्ञान की विजय को देखते हुए कुछ विचारकों ने मृत्यु को 'सामाजिक आवश्यकता बताया है; वृद्धावस्था जिसकी पूरक है। यह भी विचार है कि वृद्धावस्था में शरीर के कोषाणुओं में पुनर्भव की क्षमता नष्ट हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप शरीर का शनैः-शनैः ह्रास होता जाता है और अन्त में मृत्यु हो जाती है (शनैः-शनैः शृणाति हति शरीरम्) कोषिकाओं का दोषपूर्ण अन्त भी वार्धक्य का हेतु समझा जाता है जिसमें कोषिकाओं के अन्दर दोषपूर्ण प्रोटीन और एन्जाइम्स निर्मित होने लगते हैं। अब वैज्ञानिकों ने परीक्षणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि जरापीड़ित मानव की कोषिकाओं में विभाजन की क्षमता नष्ट होती चली जाती है। हमारी सम्मति में 'स्था' धातु से निर्मित होने वाले 'स्थविर' शब्द से, जहां नवीन धातुओं का निर्माण रुक जाता है और जरा शब्द की व्युत्पत्ति से 'जीर्गत्यनया—जृ-अङ्' स्थिति पर्याप्त मात्रा में स्पष्ट हो जाती है।

इस प्रकार वृद्धावस्था आयु की दृष्टि से धातुओं की जीर्णावस्था का नाम है जिसमें मात्र संकुचित, गतिविगलित, दन्तावलि भ्रष्ट, दृष्टि, नष्ट, बधिरता बढ़ी हुई, मुख लालायुक्त, अंग गलित और मुण्डपलित हो जाता है। इन अवस्थाओं की चिकित्सा चिकित्सक के लिये एक समस्या बन जाती है। आज के युग में जबकि जीवन का आयाम बढ़ गया है तथा मानव की आनुपातिक आयु में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है। वृद्धों की व्याधियों की व्यवस्था की ओर भी चिकित्सकों का ध्यान स्वभावतः उत्कृष्ट हुआ है।

पाश्चात्य वैद्यक में 'वार्धिकी Geriatrics' से संबंधित पर्याप्त-साहित्य उपलब्ध होने लगा है किन्तु लिखना पड़ता है कि आयुर्वेद जगत् में इस दिशा में कुछ नहीं हुआ है। ऐसी बात नहीं है कि आयुर्वेद वाङ्मय में इस समस्या का उल्लेख नहीं है। ग्रहणी प्रकरण में 'वृद्धेत्वसाध्या विज्ञेया,' कास-प्रकरण में 'स्थविराणां जराकासः सर्वोगाप्यः प्रकीर्तितः' यक्ष्मप्रकरण में जराशोषी कृशोमन्द-वीर्य बुद्धि बलेन्द्रियः' और मानप्रकरण में 'पूर्व मध्यान्तवयसामेक द्विद्विगुणैः क्रमात्' आदि अनेकों ऐसे उदाहरण हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वार्धक्य व्याधियों की व्यवस्था की समस्या पुराकाल में भी थी और तत्कालीन सुविधाओं को देखते हुए इस दिशा में प्रयत्न किया हुआ भी लगता है।

जराकालीन विकारों की एक विकट विचित्रता यह है कि इस अवस्था की व्याधियां बहुधा एक साथ बहुसंख्यक होती है और प्रायः दो, तीन, चार, पांच या और भी अधिक एक ही समय में स्वतन्त्र, परतन्त्र, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पायी जाती हैं। वृद्धावस्था की व्याधियों में एक कष्टकर स्थिति यह भी है कि कुछ व्याधियां प्रच्छन्नरूप से लक्षणहीन होकर पनपती रहती हैं जिनके सुविदित उदाहरण वेदनारहित हृत्पेशी रोधगलन गुप्तभंग्न, शंकारहित ग्रहणोव्रण, औदरिक व्यापत्तियां तथा प्रच्छन्न न्यूमोनिया आदि हैं।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि वृद्धों में होनेवाले परिवर्तन 'आयु के कारण हैं अथवा रोग के कारण' यह निर्णय करना कठिन हो जाता है। अस्थिसुषिरता ऐसी ही एक अवस्था है जो कि वृद्धावस्था में होती है तथा जिसका कारण ज्ञात नहीं है। इसी प्रकार शरीर ताप का विकृत नियन्त्रण एवं आसन Posture बदलने पर रक्तदाब को बनाए रखने में विकार आ जाना प्रमस्तिष्कवाहिक Cerebro Vascular रोग के कारण है अथवा वृद्धावस्था में होने वाले परिवर्तनों के परिणामस्वरूप, यह निर्णय करना कठिन होता है। तथ्य यह है कि गर्भावस्था को छोड़कर वृद्धावस्था में कुछ भी विकार होना संभव है। वृद्धों में प्रायः पाये जानेवाले विकारों में प्रमुख रोगों का वर्णन इस प्रकार है।

दोषों की दृष्टि से वृद्धावस्था में वायु का प्राधान्य होता है। (वयोऽहोरात्रि मुक्तानां तेऽन्तमध्यादिगाः क्रमात्- वसू० ८) चरक प्राकृत वात को 'नियन्ता प्रणेता च मनसः' बताते हैं और यही कुपित होकर 'मनो व्याहर्षयति' जैसे मनोविकार पैदा करता है। वृद्धावस्था में तन्त्रिकातन्त्र सम्बन्धी विकारों में मनोविभ्रम Dementia का प्रमुख स्थान है जिसमें दिग्विन्यास, स्मृति और प्रज्ञा (जैसे—अभिबोध-समझ-पूर्वविचार, ज्ञान और अध्ययन)

विकारग्रस्त हो जाते हैं। अवटु-अल्पक्रियता के कारण भी वृद्धों में मनोविभ्रम की अवस्था पायी जाती है।

धमनी काठिन्य के कारण प्रमस्तिष्क—वाहिनी अन्तरोंध occlusion भी जरापीड़ितों में देखा जाता है जिसके परिणामस्वरुप पक्षाघात, पक्ष-असंवेदनता या अर्ध-दृष्टिता Hemianopia होना सम्भव है (अकर्मण्यो—विचेतनः—वा०; नेत्रादीनां च वैकृतस्-सु०) रक्तदाव-वृद्धि वृद्धों की बहुविदित व्याधि है जिससे अन्तः प्रमस्तिष्क में शोणितस्राव होकर विविध विकार पाये जाते हैं तथा युवकों की अपेक्षा स्थविरों में मृत्युदर भी अधिक है। वृद्धों में होने वाले मनोविभ्रम का एक प्रमुख कारण अवदृढ़-तानिका Subdural रक्तस्राव भी है जिसे इस अवस्था के रोगियों की मानसिक चिकित्सा के समय ध्यान में अवश्य रखना चाहिए।

वार्धक्य मनोविभ्रम के कारणों में मस्तिष्क—अर्बुद, जलशीर्ष, संक्रमण, फिरंगरोग आदि का भी विशिष्ट स्थान हैं। स्वापक औषधियों के प्रचुर प्रयोग से भी तन्त्रिका तन्त्र में विकार आकर मनोविभ्रम से मिलती-जुलती दशाएं विशेष कर वृद्धों में, देखी जाती हैं। इसी प्रकार मूत्रलद्रव्यों के अधिक प्रयोग से भी वृद्धों में मनोविभ्रम देखा जाता है जिसका कारण इलेक्ट्रोलाइट्स के सन्तुलन का बिगड़ जाना है।

स्थविरों में होने वाले अन्य तन्त्रिकातन्त्र - सम्बन्धी विकारों में प्रमुख पारकिनसोनिज्म, कोरिया और कम्प हैं जो काफी कष्टप्रद विकार हैं। इसी प्रकार वात प्रकोप के कारण वृद्धों में नींद न आने की अवस्था (अनिद्रा) भी बड़ी दुःखदायी होती है। इन्हें सामान्यतः ४ से ६ घंटे की प्रतिदिन नींद पर्याप्त होती है। आवश्यकतानुसार साधारण-सी स्वापक औषध प्रयुक्त की जा सकती है।

वृद्धों में होने वाली मृत्यु का २६ प्रतिशत कारण रक्तार्बुद या कैंसर है जो यद्यपि शरीर में कहीं भी हो सकता है (गात्रप्रवेशे क्वचिदेव - सु०) तथापि आमाशय बृहदन्त्र और अधरगुद में यथापूर्व अधिक पाया जाता है। ६५-७० वर्ष की आयु के वृद्धों में यह विकार श्वास-प्रणाल को सर्वाधिक ग्रस्त करता है। इसके बाद अन्न-प्रणाली, पित्तमार्ग, अग्न्याशय एवं पौरुष ग्रन्थि का स्थान है तथा स्तन, डिम्बग्रन्थि, वृक्क, गर्भाशय, यकृत, स्वर-यन्त्र, लध्वन्तर की गणना है। यदा-कदा मस्तिष्क, उदरावरण, जिह्वा, गल्ल और ग्रसनी में भी कैंसर हो जाता है। मानव जीवन से प्रकृति का यह एक बहुत बड़ा खिलवाड़ है कि जब यह विकार चिकित्सा की दृष्टि से साध्य होता है। उस समय तक इसका सही-सही निदान ही नहीं हो पाता है और जब यह निर्णीत हो जाता है उस समय तक यह असाध्यरूप धारण कर चुका होता है (असाध्यमेतद् रुधिरात्मकं तु—सु० और मांसार्बुद Sarcoma त्वेतदसाध्य मुक्तम्—सु०नि० ११-१७)

माधवकार लिखते हैं कि यदि वायु स्थानस्थ प्रकृतिस्थ और अव्याहतगति रहे तो मनुष्य पूर्ण आयु (१२० वर्ष ५ दिन—समाः षष्ठिर्द्विघ्ना मनुजकरिणां पंच-च निशाः-वराहः) पर्यन्त नीरोग जीवन - यापन करता है (... सोऽधिकं जीवेत् वीतरोगः समाः शतम्—मा०) विकृत होने पर वृद्धावस्था में होने वाले वातविकारों में, तन्त्रि-कातन्त्र के विकारों के पश्चात्, अस्थि एवं संधिविकारों की गणना की जाती है। आमवात नामक इस रोग से पीड़ित वृद्ध व्यक्तियों का जीवन बड़ा दुर्वह हो जाता है (सकष्टः सर्वरोगाणाम्-मा०) अस्थिसंधि शोथ, ह्युमे-टिक संधिशोथ, अस्थिसुषिरता, स्कंधजाड्य, अस्थिकेंसर और अस्थिक्षय आदि भी ऐसे विकार हैं जो वृद्धों में प्रायः पाये जाते हैं। इन रोगों का उपचार तत्तद् व्याधियों में वर्णित विधियों से ही किया जाता है।

इसी प्रकार वृद्धावस्था में होनेवाले शारीर परिवर्तनों से 'मूत्र-प्रजनन तंत्र' भी प्रभावित होता है, वृक्क - कार्य धीमा होने लगता है तथा शोणित-संचार भी कम हो जाता है, मूत्र मार्ग-निकोचन Stricture और पौरुषग्रन्थि की वृद्धि से मूत्राशय में दौर्बल्य-सम्बन्धी परिवर्तन आने लगते हैं और मूत्र मूत्राशय में रुका रहकर कई प्रकार के संकट पैदा कर देता है (न वेगान्धारयेद्धीमान् जातान् मूत्र-पुरीषयोः-च) स्थानिक धमनी काठिन्य के परिणामस्वरूप होनेवाले वृद्ध विकार, स्तवक Glomeruto वृक्कशोथ, वृक्कपात Failure और वृक्कपुटी cyst जैसे रोग वृद्धा-वस्था में हो जाया करते हैं।

पौरुषग्रन्थि की वृद्धि वृद्धावस्था का बहुविदित विकार है। आयुर्वेद में वर्णित त्रयोदशविध मूत्राघात विकारों में अधिकांश का सम्बन्ध बड़ी उमर के पुरुषों से ही प्रतीत

होता है। अष्ठीला तो वृद्ध पुरुषों का विकार है ही (कुर्यात्तीव्रार्ति अष्ठीलां मूत्रविण्मार्गरोधिनीम्—मा०)

मूत्रमार्ग की अनेकों रचनाएं वृद्धावस्था में कैंसर की शिकार हो जाती हैं जिनमें वृक्क, मूत्राशय, पौरुषग्रन्थि, शिश्न आदि प्रमुख हैं (सरागैरसितैः स्फोटैः पिटिकाभिश्च पीड़ितम्। मेहनं वेदनाश्चोग्रा स्तं विद्यादस्टगर्बुदम्—अ० हृ० उ० ३३-३४)

स्थविर, स्त्री हो या पुरुष, दोनों में आयु की वृद्धि के साथ-साथ यौन अभिलाषाओं में ह्रास होने लगता है। हृष्ट-पुष्ट स्वस्थ वृद्ध साठ वर्ष की आयु के उपरान्त भी लैंगिक Sexual क्रियाकलापों में सक्रिय रहता है। परन्तु वृद्ध स्त्रियों में वार्धक्यजन्य योनिशोथ तथा योनि की दीवारों का मोटापन तथा बृद्धों में पौरुषग्रन्थि के विकार यौनक्रियाओं में बाधा उत्पन्न करने लगते हैं जिससे मानसिक उद्विग्नता होना स्वाभाविक है। चरक सत्तर वर्ष के उपरान्त स्त्रीसंभोग को वृद्धों के लिये निषिद्ध करार देते हैं (नतैवैषोडशात् वर्षात सप्तत्याः परतो न च—च० चि० २।८०)

पाश्चात्य जगत् की धारणा के नितान्ताविपरीत भारतीय संस्कृति में शुक्र धातु को विश्वरूप (आत्मा) का रूप द्रव्य मानकर 'मरणं विन्दुपातेन जीवनं विन्दु धारणात्' सदृश उच्च भावना से देखा जाता है। यही कारण है कि वृद्धों में सुख को नितान्त हेय बताया है। (शुष्क रूक्ष यथा काष्ठं जन्तुदग्ध विजर्जरम्। स्पृष्टमाशु विशीर्येत तथा वृद्ध स्त्रियो व्रजन्—च०चि० २) जज्जट इसका हेतु वात प्रकोप बताते हैं जिससे भयंकर दुष्परिणाम हो सकता है (वृद्धस्य तु शुक्रक्षयात् वातभूयिष्ठत्वात् भूयो मातरिश्वा उत्तप्यायित बलः असूनेवहरतीति युज्यते—ज.) चरक ने जरासंभव क्लैब्य के प्रसंग में इस दशा के हेतुओं का वैज्ञानिक उल्लेख किया है और बताया है कि रसादियों के संक्षय से, अवृष्य द्रव्यों के सेवन से, बलवीर्येन्द्रियों का क्रमशः परिक्षय होने से, आयु के ह्रास से और अनाहार से जरासंभव क्लैब्य होता है—च०चि० ३०-१७९।

वृद्धावस्था में मैथुन की अल्पता में उपरोक्त चारकीय हेतुओं के अतिरिक्त निम्नलिखित व्याधियों का भी विशेष स्थान है, जैसे—धमनी जरठता, प्रमस्तिष्क वाहिकाविकार श्वसनतन्त्र की जीर्णव्याधियां, प्रजनन-मूत्रविकार, मद्यात्यय और मधुमेह। माधवकार ने स्थौल्य पीड़ितों में भी अल्प मैथुन की प्रवृत्ति का उल्लेख किया है (अल्पप्राणोऽल्प मैथुनः—मा०) जो कि वृद्धावस्था में और अधिक हो जाती है।

वृद्धावस्था की समस्याओं का सामाजिक पहलू भी है। सम्प्रति रहन-सहन की सुविधाओं में उन्नति, अच्छे खान-पान की अपेक्षाकृत अधिक उपलब्धि और अच्छी चिकित्सा-सुविधाओं की सुलभता के परिणामस्वरूप भारतीयों की औसत आयु में पर्याप्त सुधार हुआ है जिससे समाज के सामने स्थविरों की समस्या आ खड़ी हुई है। जीवन-यापन के लिए युवा वर्ग को आजीविका-हेतु अपनी जन्म भूमि से तथा वृद्ध माता-पिता से दूर-दूर जाना होता है। इससे भी बुजुर्गों की देखभाल का सवाल पैदा हो गया है। दूसरी ओर भारत की पुरातन संयुक्त परिवार प्रणाली बड़ी तेजी से छिन्न-भिन्न होती जा रही है और 'पुन्नाम्नोनरकात् त्रायत इति पुत्रः' अद्भुतालय की वस्तु बन गया है। इन सबके परिणामस्वरूप आज का वृद्ध भर्तृहरि के शब्दों में कराहने के लिये विवश है कि 'हा ! कष्टं पुरषस्य जीर्णवयसः'।

चिकित्सा-सम्बन्धी उपचार की दृष्टि से भी वृद्ध रोगी को सुखसाध्यों की श्रेणी में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। पादचतुष्टय—(भिषक् द्रव्याण्युपस्थाता रोगी)—के षोडशगुणों की उपस्थिति में सुखसाध्यता आती है—च.। सुश्रुत व्रणों की शीघ्ररोहणता के लिये 'त्वङ्मांसजः सुखेदेशेतरुणस्यानुपद्रवः' लिखकर अप्रत्यक्ष रूप से वृद्धों को इस दृष्टि से अनुपयुक्त घोषित करते हैं। चरकोक्त आतुरगुण तो वृद्धों में सुलभ भी नहीं हो सकते। वृद्धातुरों में 'स्मृति' वैसे ही समाप्त हो चुकी होती है, निर्देशकारिता (वैद्योपदिष्टार्थ कर्तृत्वम्—च पा.) अशक्तता के कारण सम्भव ही नहीं है, इस आयु में भीरुता का होना कठिन है और फिर भीरुता तो रोगवर्धक होती है (विषादो रोगवर्धनानाम्—च. सू. २५) तथा 'ज्ञापकत्व' स्मृति के अभाव में रोगी में आ ही नही सकता (स्मृति निर्देशकारित्वमभीसत्वमथापिवा। ज्ञापकत्वं च रोगाणा मातुरस्य गुणाः स्मृताः—च. सू. ९।९) इस प्रकार वृद्धावस्था चिकित्सा की दृष्टि से भी एक समस्या है।

सुश्रुत वृद्धों की साध्य व्याधि को भी दुश्चिकित्स्य बताते हैं (तत्र साध्या अपि व्याधयः प्रायेणैषां दुश्चिकि

त्स्यतमा भवन्ति, तद्यथा—श्रोत्रियनृपति स्त्री बालवृद्ध राजसेवक···सू. ११-१७)। इस आयु के रोगी 'नैते क्षार-कृत्याः' की श्रेणी में आते है, उन्हें अग्नि चिकित्सा में 'इमान् अग्निनापरिहरेत्' लिखा है। जिस रस को 'अहृ-रहृर्गच्छतीति' बताया है तथा जिसे 'रसः प्रीणयति रक्त-पुष्टिं च केरति' लिखा है वह जरापक्व शरीरियों में अप्रीणन होती है—सु. सू. १४-२०। प्रत्यग्रधातुता वयःस्थों में होने के कारण धातुओं की विवर्धनशीलता उन्हीं में या शिशुओं में पाई जाती है वृद्धों में नहीं। अतः विरुद्ध (हानिकार) को वितथ (निर्वीर्य) करने की क्षमता भी उन्हीं में होती है, वृद्धों में नहीं (सात्म्यतोऽल्पतयावापि दीप्ताग्ने स्तरुणस्य च। स्निग्धव्यायाम बलिनां विरुद्धं वितथं भवेत्—सु. सू. २०/२१)

अतिसार वृद्धों में विशेषरूप से मारक होता है (विशेषेण नर वृद्ध मतिसोरा विनाशयेत्—सु. सू. ३३-१८) इस आयु में औषध मात्रा भी सावधानीपूर्वक निर्णीत करनी होती है (तत्रोत्तरासु वयोऽवस्थासु उत्तरो-त्तरा भेषज मात्रा विशेषा भवन्ति, ऋते च परिहाणेः, तत्र आद्यापेक्षाया प्रतिकुर्वीत—सु. सू. ३५/३६) वहां बालकों की तरह मात्रा निश्चित की जाती है। ततो-वालक वन्मात्रा ह्रासनीया शनैः शनैः शार्ङ्धरः) इतना ही नहीं, सुश्रुत ने चिकित्सामात्र के लिये वृद्धों में विशेष सावधानी वर्तने को लिखा है (दौर्बल्यं च स्वभाव दोष जरादिभिरवेक्षितव्यम्—सु.)

नित्य कर्मों में व्यायाम का विशेष स्थान है (व्यायाम मात्तरेन्नित्यं सजरा श्रम वात हा-वी.) किन्तु वृद्ध के लिये व्यायाम निषिद्ध है (वृद्धोऽजीर्णी च त त्यजेत्—वा.) योग-वाही पर मधु चक्रपाणि के अनुसार वृद्धों के लिये अहित-कर है—च. सू. १।२। भोज्य पदार्थों के पाचन की क्षमता भी इस आयु में न्यून हो जाती है (आहार मात्रा पुनरग्निबलापेक्षिणी—च. सू. ५।३ की टीका में चक्रपाणिः —अग्निबलेन व्यवस्थापिता मात्रा सा न सर्वकालं भवति। यत=ऋतुभेदेन वयोभेदेन च तथैवग्नि=कदा-चिद् वृद्धो भवति यथा—हेमन्ते यौवने च। कदाचित् मन्दो भवति यथा—वर्षासु वार्धक्ये च।

इस प्रकार आयुर्वेद वाङ्मय में वृद्धावस्था से संबं-धित अनेक प्रकार का साहित्य उपलब्ध होता है। इसको सामान्यतः दो भागों में विभक्त किया जा सकता है : (i) वृद्धावस्था को न आने देने सम्बन्धित और (ii) वृद्धों में होने वाले विकारों को दूर करना।

जहां तक वृद्धावस्था को रोकने का प्रश्न है वह परम श्रमसाध्य है। ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थाय' से लेकर स्वस्थवृत्त प्रकरण में वर्णित सम्पूर्ण नित्यकर्मों को विधिवत् जीवन भर करना होता है। यह स्वास्थ्यकर होने के साथ-साथ आयुष्य भी है। इसमें निर्मलाम्बर धारण गन्धमाल्यनिषे-वण, रत्नाभरणधारण, पादत्र-छत्र दण्डधारण, स्नान आदि का भी विशिष्ट स्थान है।

रसायन सेवन तो जराव्याधि विध्वंसी है ही। जीवनीय एवं वयः स्थापन (वयः तरुणं स्थापयतीति च. सा.) द्रव्यों का उपयुक्तविधि से सेवन बार्धक्य को पर्याप्त समय तक रोके रखता है। आचार-रसायन आयुर्वेद की अपनी विशेषता है। योगा आयुः प्रकर्षार्था जरारोगनिवर्हणाः। मनः शरीर शुद्धानां सिध्यन्ति प्रयता-त्मनाम्—च. सू. १) इसी प्रकार आमलक घृत के सेवन से 'अस्यत्रिवर्षं प्रयोगात् वर्षशतं वयोऽजरं तिष्ठति' होता है। च्यवनप्राश के सेवन से तो आये हुए बुढापे के चिर-यौवन में बदला जाने का वर्णन है (जराकृतंरूपमपास्य-सर्वं विभर्तिरूपं नवयौवनस्य—च.)

जहाँ तक वृद्धों में होनेवाले विकारों को दूर करने का प्रश्न है एतदर्थ तत्तत् रोगों के प्रसंग में वर्णित उपचार की व्यवस्था करनी होती है जिसका यहाँ विस्तारमय से वर्णन संभव नहीं है।

वार्धिकी अथवा वृद्धावस्था के विकारों का यह नितांत संक्षिप्ततम वर्णन मात्र है। वस्तुतः जराचिकित्सा का पृथक् ही अस्तित्व होना चाहिये। जिस प्रकार परिवार नियो-जन राष्ट्रीय समस्या होने के करण इसका अध्यापन आयु-र्महाविद्यालयों में पृथक् से किया जाने लगा है और योग जिसकी सार्वभौम सर्वाङ्गीणता एवं उपयोगिता प्रमाणित हो जाने पर इसको भी मेडिकल कालेजों के पाठ्यक्रम में स्थान मिलने ही को है उसी प्रकार आयुर्वेद के स्नातकों के लिये भी वार्धिकी के अध्यापन की भी चिकित्सा के अन्य अष्टांगों की तरह व्यवस्था होनी चाहिये। वार्धिकी के पृथक् अस्तित्व का यह विचार नवीन नहीं है। अष्टांग-हृदय के प्रसिद्ध टीकाकार अरुणदत्त ने वृद्धावस्था की

चिकित्सा का पृथक् से वर्णन की मांग सर्वप्रथम उठायी थी। उन्हीं के शब्दों में :

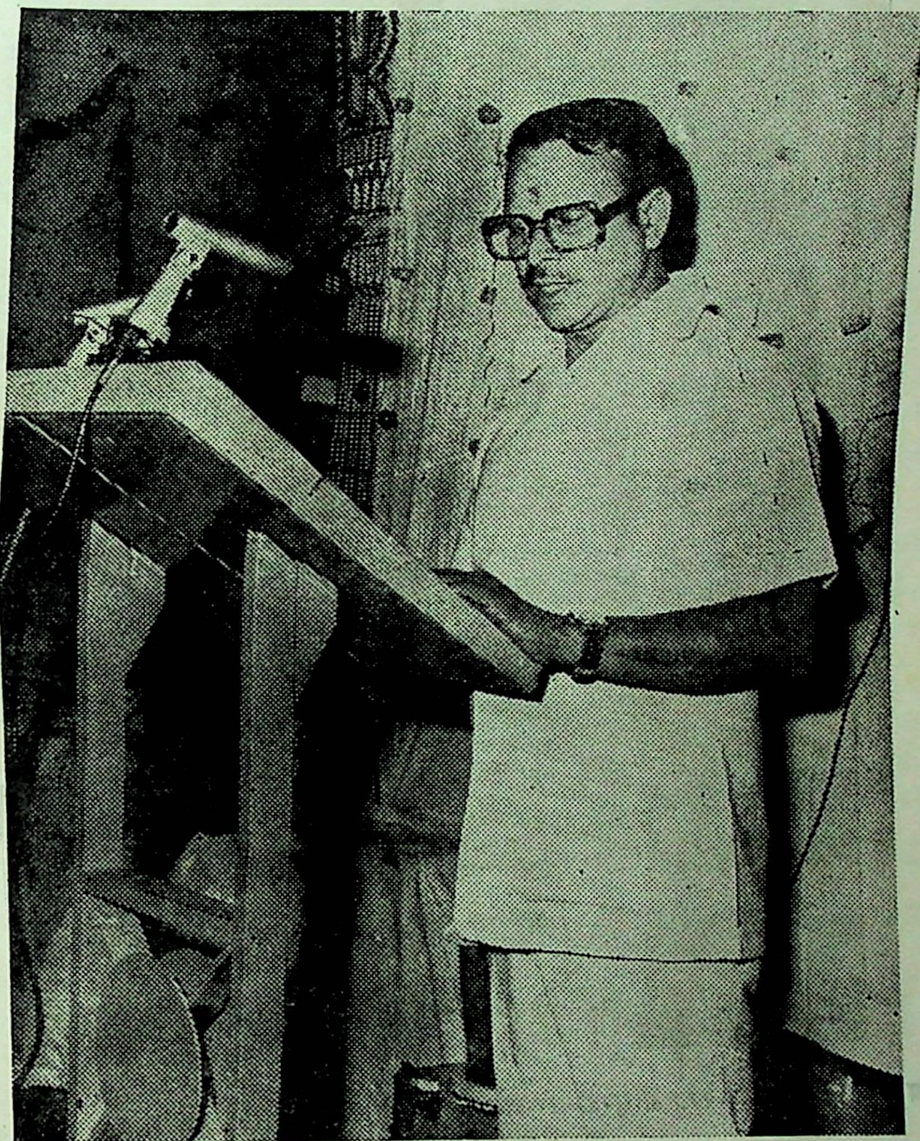
बालदेहेऽसम्पूर्ण बलधातुत्वाद् अप्रकृष्ट वयोवस्थाप्रभावात् तच्चिकित्सांगं पृथक् निर्दिष्टम्। तथा बालोपयिक भेषज धात्री दुग्धलक्षणं दुग्धोद्भव व्याधि प्रशमादि निर्देशाच्च।

नन्वेव वृद्धस्य प्रकृष्ट वयोवस्थाया अभावद तद्देहे कायचिकित्सेति कथं व्यवदेश: स्यात्—वा० सू० १।५

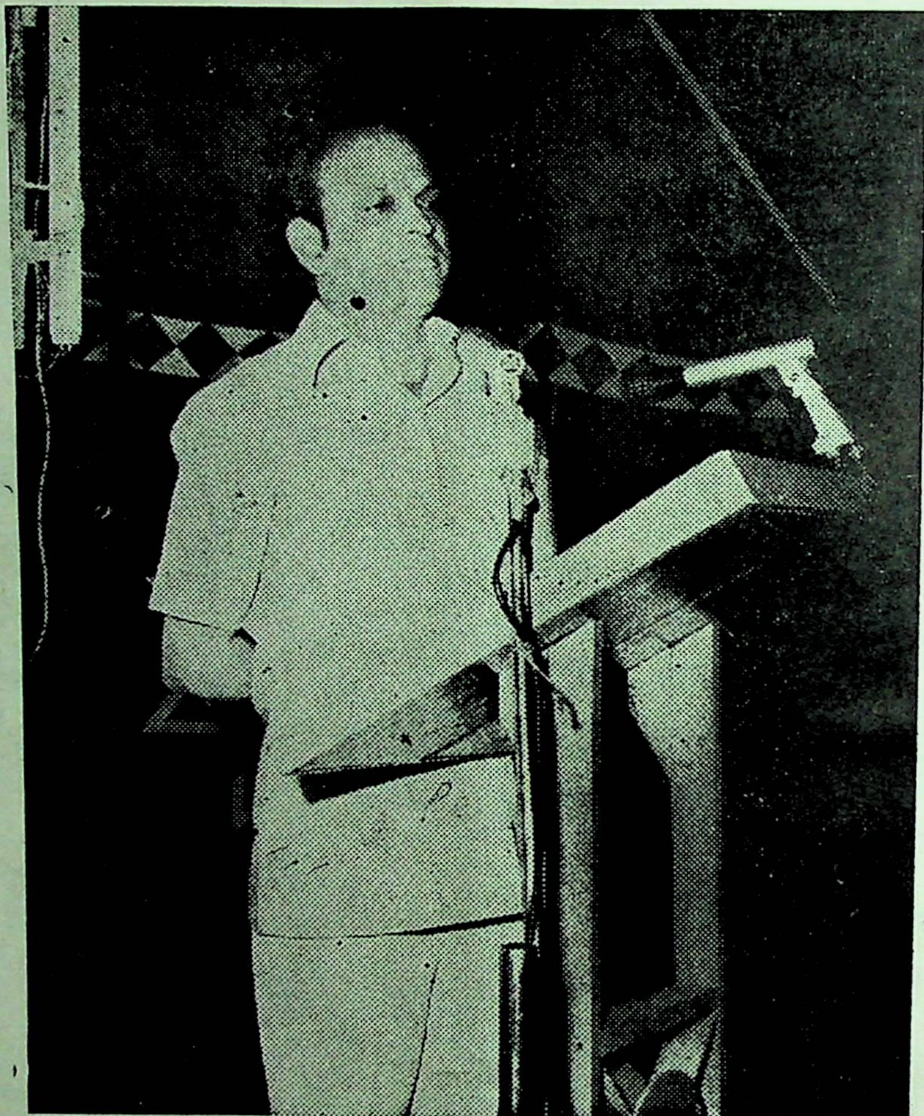
इस प्रश्न का जो उत्तर उन्होंने दिया है (अत्र ब्रूम:; र्व गत्या वृद्धदेहेन हि प्रकृष्टतयावस्था पूर्वमनुभूवता। अतो भूतपूर्व गत्या तत्र कायचिकित्सोपदेशोयुक्त:—अ०द०) उससे तत्कालीन जिज्ञासा भले ही शान्त हो गई हो किंतु आज का आयुर्वेदिक चिकित्सक प्रगति के वर्तमान वातावरण में व्यावहारिक दृष्टि से एवं जनोपयोगिता की दृष्टि से भी 'वार्धिकी' के पृथक् अस्तित्व की हृदय से कामना करता है।

उपासितारं वृद्धनां आस्तिकानां जितात्मनाम्।
धर्मशास्त्रपरं विद्यान्न नित्यरसायनम्॥

(च० चि० १।३४)



वैद्यनाथ प्रतिष्ठान के झांसी-निर्माण-केन्द्र में धन्वन्तरि-जयन्तीके अवसर पर श्रीयुत् ब्रजेन्द्र कुमार शर्मा स्वागत-भाषण पढ़ते हुए।



बैद्यनाथ के झांसी निर्माण-केन्द्र में धन्वन्तरि-जयन्ती के अवसर पर झांसी मण्डल के आयुक्त श्री वी० के० सक्सेना आयुर्वेद की उपयोगिता पर भाषण करते हुए।

क्षेमेन्द्र एवं आयुर्वेद

कु० विभा देवी, लेक्चरर
एम० ए०, बी० एड० एवं शोध-छात्रा
प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, यू० पी०

एकादश शतक के संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में कविवर क्षेमेन्द्र का एक महत्वपूर्ण तथा सम्मानित स्थान है। क्षेमेन्द्र कश्मीर प्रान्त के निवासी थे। यद्यपि इस काल के सभी लेखक किसी न किसी राजा के आश्रित रहे हैं अतः क्षेमेन्द्र भी कश्मीर के राजवंश के लोहर वंशीय राजा अनन्त (ई० १०२८-६३) एवं उसके पुत्र कलश (ई० १०६३-१०८९ तक) के आश्रित कवि थे।

क्षेमेन्द्र द्वारा प्रणीत—**अमृततरङ्ग** औचित्य-विचार-चर्चा, **अवसरसार (अवतारसार)**, **कनक जानकी**, कला-विलास, कविकण्ठाभरण, **कविकर्णिका**, **काव्यकलक**, **काव्य-विवेक**, **क्षेमेन्द्र-प्रकाश**, चातुर्वर्गसंग्रह, चारुचर्या, **चित्र भारत**, दर्पदलन, दशावतारचरित, देशोपदेश, **दान-पारिजात** नर्ममाला, **नीतिकल्पतरु**, **पद्यकादम्बरी**, **पवन पंचाशिका**, बृहत्कथामञ्जरी, बौद्धावदानकल्पलता, भरत-मञ्जरी, **मुक्तावली**, **मुनिमत**, **मीमांसा**, **राजावलि या नृपावली**, रामायण-मञ्जरी, **ललितरत्नमाला**, **लोक-प्रकाश**, लावण्यवती, **वात्स्यायन सूत्रसार**, विनयवल्ली, वेतालपंचविंशति, व्यासाष्टक, **शशिवंशकाव्य**, समय-मातृका, सुवृत्ततिलक एवं सेव्यसेवकोपदेश साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में उल्लिखित हैं।

इनमें से रेखांकित (—) ग्रन्थ अनुपलब्ध एवं अप्रकाशित है तथा शेष ग्रन्थों को निम्नलिखित श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—

अवतार चरित काव्य—दशावतारचरित एवं बौद्धा-वदान कल्पलता।

आचारोपदेशपरक—चातुर्वर्ग संग्रह एवं चारुचर्या।

वित्तीय प्रश्ननिष्ट—सेव्यसेवकोपदेश।

उपहासोपरोधपरक—कलाविलास, दर्पदलन, देशोप-देश एवं नर्ममाला।

सामाजिक विषयनिष्ठ—समयमातृका।

शास्त्रीय—औचित्यविचारचर्चा, कविकण्ठाभरण एवं सुवृत्ततिलक।

सारांश काव्य—वृहत्कथामञ्जरी भरतमञ्जरी एवं रामायणमञ्जरी।

स्तोत—व्यासाष्टक।

विवेच्य विषय की सामग्री कलाविलास, कविकण्ठा-भरण, चारुचर्या, चातुर्वर्ग संग्रह, दर्पदलन, देशोपदेश, नर्ममाला, समयमातृका, सुवृत्ततिलक एवं सेव्यसेवकोपदेश ग्रन्थों में प्रतिपादित है।

कवि ने समाज के सर्वाङ्गीण पक्ष को प्रस्तुत करते हुए आयुर्वेद जैसे वैज्ञानिक साहित्य विषय का भी उप-स्थापन जिस मनोरम शैली में किया है वह विश्व साहित्य में अप्रतिम है।

प्रस्तुत शोधपत्र में क्षेमेन्द्र के उपर्युक्त ग्रन्थों में निहित आयुर्वेद के कतिपय अवतरणों का उल्लेख किया जा रहा है जिसमें आयुर्वेद के वैज्ञानिक सिद्धान्तों को आकर्षक एवं बोधगम्य भाषा में चित्रित किया है। आयुर्वेद के विषयों का ऐसा सुसंगत वर्णन मिलने से प्रतीत होता है कि कवि का आयुर्वेद साहित्य से भी घनिष्ट सम्बन्ध अवश्य रहा होगा अन्यथा आयुर्वेद-विषयक सामग्री का सुरुचिपूर्ण एवं समीचीन वर्णन इस रूप में प्रस्तुत न हो पाता।

कवि का आयुर्वेद का ज्ञान होना स्वाभाविक है क्योंकि जिस काल में यह आविर्भूत हुआ उस काल में आयुर्वेद के कतिपय प्रसिद्ध आचार्य हुए। जिनमें—चन्द्रट, चक्रपाणिदत्त, श्रीकृष्ण वैद्य, नागार्जुन, माधवकर, बकुल, वाप्यचन्द्र, नरदत्त, श्रीकण्ठ, सुरेश्वर, गदाधर, अमृतप्रभ प्रभृति उल्लेखनीय हैं।

क्षेमेन्द्र के साहित्य में उपलब्ध सम्बद्ध सामग्री को निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत प्रस्तुत किया जा रहा है—

मौलिक सिद्धांत :

आयुर्वेद की संहिताओं में वात, पित्त एवं कफ आदि धातुओं की गणना दोष के नाम से किया है, क्षेमेन्द्र का भी मत है कि धातुजन्य विकृति के कारण व्यक्ति व्यर्थ में ही मिथ्या चिन्तन करता है (स० मा० ४।४०)। अपमान

के क्रोध के कारण व्यक्ति आत्महत्या करने पर उद्यत हो जाता है (स० मा० ४।३९)।

क्षेमेन्द्र निर्दिष्ट करता है कि मैं दर्प के दोष का चिकित्सक हूँ, मित्रों की प्रसन्नता से, मधुर सूक्ति भेषजों द्वारा सुन्दर स्वास्थ्य निर्माणार्थ प्रयत्नशील हूँ (द० द० १।३)।

सामान्यतः कुल, धन, ज्ञान, रूप, शौर्य, दान तथा तप—इस प्रकार इन सात वस्तुओं को मनुष्यों के मद का कारण माना गया है (द० द० १।४)।

अहंकार से अभिभूत-प्राणियों के लिए तथा उनके मोह की शक्ति के निमित्त कवि ने इन ग्रन्थ का प्रणयन किया है (द० द० १।५)।

दर्परूपी दोष के ज्वर से आक्रान्त ग्रीवा स्तम्भयुक्त व्यक्ति की शांति के लिए कतिपय पथ्यों का निर्देश की भी बात करता है (द० द० १।२४)।

जिस प्रकार रोगी औषधियों से सम्पन्न वैद्य के मुख अवलोकन करता है उसी प्रकार कवि शूर और कलावान एवं तपस्वी भी धनी की ओर मुँह किये रहता है द० द० (२।३०)।

क्षेमेन्द्र ने धन-संग्रह चिन्ता का कारण बताया है।[१]

रोगपीड़ित एवं एवं मुमुर्षू के लक्षणों का भी स्पष्ट उल्लेख किया है।[२]

मोक्ष प्रशंसा :

क्षेमेन्द्र के अनुसार यह शरीर अनेक प्रकार के भोग, शोक, काम एवं मोक्ष से आक्रान्त रहता है और इसके शांति के लिए आत्मविवेक का होना परमावश्यक है।[3]

आसक्ति के साथ अवस्था के बीतने पर तथा भोगों के समाप्त हो जाने पर स्पृहा के साथ शरीर और मोह एक साथ विलीन हो जाता है। इस प्रकार यह मोक्ष (अपवर्ग) सर्वथा बन्धनहीन नहीं है। चित्त या मन वायु के द्वारा बिखेरे गये धूलि की राशि के समान हैं। रूप दिन के अवसान काल में विद्यमान आतप के समान अर्थात् शीघ्र नष्ट होने वाला है, भोग विनाश को प्राप्त घर के शिथिल बन्धन के समान है तथा यौवन फूल के खिलने के समान, स्वप्न बन्धु समागम के समान, शरीर प्रस्थान के लिए उद्यतपूर्ण पौशाला के समान जो इस प्रकार के नित्य इन तथ्यों की चिन्तादि किया करते हैं। उन सज्जनों के हृदय में किसी प्रकार की कोई सांसारिक ग्रन्थि नहीं रह जाती।

(च० स० ४/२२-२३)

रागपरक वैशिष्ट्य

राग शब्द का सामान्य अर्थ 'अनुशक्ति' या 'लालिमा' है। क्षेमेन्द्र सभी वर्णित विषयों के साथ तादात्म्य स्थापित कर अपनी अभिज्ञता का परिचय दिया है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि राग वस्तुओं के स्वभाव का परिचायक होता है। आयुर्वेद में मानस् प्रकृतियों के तथ्य को समझने के लिए यह सामग्री बड़ी अत्युपादेय सिद्ध होगी क्योंकि स्वयं चरक ने सत्व-रजस् तमस् के अमान्तर विभाग में इनमें से अधिकांश का उपयोग किया है और उन्हें रजस् या तमस् श्रेणी माना है।[४]

शरीरगत राग

केश राग सप्ताहान्त तक रहने वाला एवं बड़ी कठिनाई से अनुरंजन करने वाला होता है।(स० भा० ४/४३)

अस्थि राग अन्तस्थ तथा प्रच्छन्न स्नेह से जीवित रहने वाला होता है। (स० मा० ५/४३

नख नामक राग केवल एक मास तक रहने वाला होता है और यह शनैः-शनैः विलीन हो जाता है। (स० मा० ५/४४)

प्राणि राग प्रबुद्ध होता हुआ भी लोभी व्यक्ति को दृष्टिगत नहीं होता। (स० मा० ५/४४)

दन्त राग सर्वदा केवल ताम्बूल चूर्ण में ही रुचि अथवा ताम्बूल चवर्ण से ही रक्तिमा धारण करता है। (स० मा० ४/४५)

पाद संज्ञक राग प्रणामों से ही संस्कृत होता है। (स० मा० ५/४५)

तिलक (तिल) राग नीच पुरुष का उत्तम स्त्री के साथ समागम है। (स० मा० ५/४५)

कर्णपूर राग कुटिलता के कारण कर्ण में लगने वाला तथा अत्यधिक बोलने वाला हुआ करता है।(स०मा०५/४६)

बुद्धि नामक राग गुणशाली प्रिय अथवा प्रिया विषयक आसक्ति रूप व्यसन से वर्जित रहता है।(स० मा० ५/३४)

अहंकार नामक राग प्रशसनीय व्यक्ति अथवा पदार्थ के संगम से उन्नति करने वाला होता है। (स० मा० ५/३

रुधिरगत राग कलह के समय नीच के रक्तोपातों से बढ़ने वाला होता है। (५/५८)

पशु-पक्षीयगत राग

वृष संज्ञक राग नम्रता के कारण शारीरिक द

तथा बल से उत्पन्न होता है। (५/३५)

अश्व राग गति मात्र का इच्छुक होता है। (५/३५)

कृकलास नामक राग स्त्री समूह के दर्शन मात्र से चंचल हो उठने वाला होता है। (५/३६)

मेष राग घास के ग्रास खाने की स्पृहा के समान ही रति का भी इच्छुक होता है। (५/३६)

कुक्कुर राग रति के अन्त में ही विमुख होने वाला तथा स्त्री के एकांत में होने वाले काम का प्रकाशक होता है। (३/३७)

विडालोत्पन्न राग निरन्तर के सम्पर्क से अत्यन्त निकट में ही रहने वाला होता है। (३/३८)

हस्ति राग क्लेश, बन्धन आदि से निरपेक्ष होकर के स्त्री समागम करता है। (५/३८)

शूक राग भीतर से स्नेह शून्य तथा मुख से पर्याप्त सुख-दायक होता है। (५/३९)

हंससंज्ञक राग अपनी सुखपूर्वक स्थिति से गुण और दोष का विभाग करने वाला होता है। (५/३०)

पारावत राग प्रेम-परिपूर्ण सम्भोग के समग्र लक्षक्षों से संयुक्त होता है। (५/४०)

मयूर सम्बन्धी राग अपने शरीर के फैलाये गये रूप से प्रमत्त होकर नाचने वाला होता है। (५/४०)

चटक नामक राग अति सुरति-संयोग मात्र को चाहने वाला होता है। (५/४१)

कृकवाकु संभव राग प्रिया के स्वल्पाति स्वल्प क्लेश में भी भाग लेने वाला होता है। (५/४१)

कोकिल राग मधुरभाषी चर्चा का अति विषयक होता है। (५/४२)

जीव जीवक (चक्रवाक) राग परिचुम्बन में निश्चन्त हुआ करता है। (५/४२)

भ्रामर राग कौतुकवश आस्वाद मात्र करने वाला तथा नवीन-नवीन प्रिय वस्तुओं की ओर जाने वाला होता है (५।५५)।

पातङ्ग राग विनाशोन्मुख एवं कामिनी कान्ति का संज्ञक होता है। (५'५५)

वृश्चिक राग अत्यधिक पीड़ा देने वाला तथा अन-भिमत होते हुए भी अत्यन्त निश्चल होता है (५।५६)।

इन्द्रियगत राग

श्रोत्रराग कर्ण सुख के अभ्यास के कारण अच्छे-अच्छे गुणों के सुनने में तत्पर रहता है (५।३१)।

नेत्रराग केवल रूप मात्र से ही स्पृह्यालु होता है (५।३१)।

रसना सम्बन्धी राग विविध आस्वाद वाले भोजनों का संहार करने का लोभी होता है (५।३२)।

त्वक् राग प्रिय के आलिङ्गन के लिए उत्सुक रहता है (५।३२)।

घ्राणराग पुष्प, धूपादि की सुगन्धि का लोभी होता है (५।३३)।

मानसराग अभ्यस्त पदार्थ में ही स्पृहा करने वाला होता है (५।३३)।

रोगगत राग

अपस्मार राग प्रतिक्षण भयंकर कोप के कारण आक्षेप करने वाला होता है। (स. भा. ५।४८)

कुष्ठराग वीभत्स के आचार के कारण अत्यधिक जुगुप्सापूर्ण होता है (५।५३)।

ज्वर राग आहार का परित्याग करने वाला एवं अति सन्ताप के कारण शारीरिक कान्ति का विनाशक होता है (५।५६)।

विसर्प नामक राग में अङ्गों के मर्मस्थलों के काटने की सी पीड़ा एवं विरूपता होती है (५।५४)।

क्षोभ नामक राग हृदय-विदारक पीड़ा का परित्याग करने वाला तथा अनर्गल प्रलाप करने वाला होता है (स. भा. ५।५९)।

द्रव्यगत राग

केशरिया राग रक्षित रहने पर स्थायी एवं उपेक्षित होने पर नष्ट हो जाता है।(५।१९)

सिन्दूर स्नेह के साथ मिश्रित होने पर धारण किया जाता है (५।१९)।

कुङ्कुमराग हलका होने पर सुखप्रदायक तथा गाढ़ा पर दुःखदायक होता है (५।२०)।

लाक्षाराग तप्त-उष्ण रहने पर जुड़ता है एवं शीतल होने पर संश्लिष्टता-जोड़ को नहीं प्राप्त होता (५।२०)।

मञ्जिष्ठा राग तप्त एवं शीतल दोनों में समान रूप से भोग एवं प्रयोग के योग्य होता है (५।२१)।

काषाय राग रूक्ष रहने पर चिरस्थायी होता है किन्तु तैल एवं पानी के या चिकने पदार्थ के संयोग से शीघ्र नष्ट हो जाता है (५।२१)।

नारङ्ग राग भीतर सरस एवं बाहर तीक्ष्ण होता है (५।५२)।

दाडिम राग भीतर ही भीतर गर्भरूप बहुत से बीजों को धारण करने के कारण प्रौढ़ अतः कठोर हुआ करता है (५।५२)।

हरिद्रा राग क्षण भर के लिए रंजित होता है(५।२२)।

नीला राग देह के विनाश पर्यन्त रहनेवाला तथा धोने पर भी निश्चल-अमिट होता है (५।२२)।

धातुगत राग

सौवर्ण राग काटने एवं तपाने पर सर्वदा समान रूप से चमकता है (५।२३)।

ताम्रसंज्ञक राग की विमलता मलने से होता है (५।२३)।

रीति राग की मलिनता स्नेह (तैल) से होती है (५।२४)।

सीसक राग आदि-मध्य-अन्त में मलिन होता है (५।२४)।

लोह राग तपाये जाने पर नम्रता प्राप्त करता है (५।२५)।

मणि राग स्वभावतः निश्चल एवं निर्मल होता है (५।२५)।

काच राग स्वभावतः टूटनेवाला तथा छलनिरीक्षण होता है (५।२६)।

अन्य राग

स्तम्ब राग भूत संज्ञक होता है, अपरिचित वित्तवाला तथा चेतना रहित होता है (५।४७)।

माद्य राग स्वस्थ एवं अनिर्णय्य लक्षणवाला होता है (५।५३)।

भ्रम राग मतिभ्रंश के कारण चाक पर स्थित आकुल की भाँति होता है (५।५७)।

स्मरण राग प्रिय के स्मरण से अन्य स्त्री का सम्भोग करनेवाला होता है (५।५७)।

सान्ध्य राग क्षणस्थायी, सर्वदा होने वाला, रात्रि तथा दोषों का उत्पादक तथा सन्ध्याश्रयी होता है (५।२७)।

चन्द्र राग क्षय एवं वृद्धि का भाजन तथा प्रशान्त एवं सन्तापशामक होता है (५।२७)।

इन्द्रधनुषी राग विभिन्न कांतिवाला, वक्र एवं माया के विलास का कारण होता है (५।२८)।

सूर्यराग—नित्य उदित होनेवाला, तीक्ष्ण होने के कारण नित्य ही सन्तापप्रद होता है (५।३०)।

दिद्युतराग—झटिति आरम्भ होने वाला, देखने मात्र से ही नष्ट हो जाने वाला और विकार से प्रादुर्भूत होने वाला होता है (५।२८)।

अङ्गार—(भौम) राग स्त्रीजनों की अवज्ञा से अथवा स्त्रीजनों के द्वारा विहित अवज्ञा से प्रज्वलित तथा लोहितमान होता है (५।२९)।

केतुसंज्ञकराग—बन्धन अथवा बध आदि के द्वारा स्पष्ट रूप से अनर्थ करने वाला है (५।२९)।

राहुराग—भयंकर सूर्य के विनाश को चाहने वाला महाग्रह है (५।३०)।

छायाग्रह—सर्वत्र पीछे-पीछे चलने वाला तथा शोषणकर्त्ता होता है (५।४७)।

पिशाचराग—अपवित्र एवं तीव्रक्षत से शरीर का विदारक है (५।५०)।

यक्षराग—फेंकने पर नहीं निकलता (५।४९)।

चिताराग—समग्र अवयवों को जलाने वाला होता है (५।५४)।

रतिग्रहराग—सर्वदा स्वप्न में भी स्त्री-सम्भोग से उत्पन्न आनन्द को प्राप्त करने वाला होता है (५।५८)।

स्वस्थवृत्त

आयुर्वेद के दो मूलभूत प्रयोजनों[५] के अन्तर्गत स्वास्थ्य संरक्षण का एक महत्वपूर्ण स्थान है। सुश्रुत[६] एवं चरक[७] ने स्वास्थ्य का स्पष्ट निर्देश किया है। स्वस्थ-वृत्त को वैयक्तिक एवं सामाजिक दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। क्षेमेन्द्र प्रायशः वैयक्तिक स्वस्थवृत्त का उल्लेख किया है। वैयक्तिक (दिनचर्या, रात्रिचर्या एवं ऋतुचर्या) स्वस्थ-वृत्त का पालन करता हुआ व्यक्ति सदा स्वस्थ रहता हुआ आरोग्ययुक्त होता है।[८]

ब्रह्ममुहूर्त में जागरण

क्षेमेन्द्र के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को ब्रह्ममुहूर्त में आलस्यरहित होकर निद्रा का त्याग कर देना चाहिए। प्रातःकाल जग जाने पर श्री (लक्ष्मी) गुणाश्रित होकर कमलासीन हो जाती है (च० च० २-४)। कवि मलत्याग एवं दन्तधावन का कोई निर्देश नहीं देता किन्तु केश प्रक्षालन के सन्दर्भ में त्रिफला-प्रयोग का उल्लेख करता है

इससे यह ज्ञात होता है कि उसके काल (११वीं शताब्दी) में त्रिफला द्वारा प्रक्षालन किया जाता था (देश०८।४७)।

स्नान

स्नान के सन्दर्भ में कहता है कि तदन्तर स्नान द्वारा शरीर को स्वच्छ कर मल रहित हो जाना चाहिए क्योंकि इन्द्र के वृत्रासुर-वध करने से अर्जित पाप का शमन द्वारा ही हुआ था (च० च० ३)।

शयन

उत्तराभिमुख या पश्चिमाभिमुख होकर शयन नहीं करना चाहिए क्योंकि शय्या के विपर्यय से शक्र ने एकदा गभस्थ भ्रूण का विनाश कर दिया था (वही० ४)।

भोजन-विधि

इस सन्दर्भ में कवि का मत है कि अति अन्न नहीं खाना चाहिए, इससे व्यक्ति रोगी हो जाता है तथा उसकी भोजन में रुचि मंद पड़ जाती है क्योंकि प्रचुर मात्रा में घृत के पड़ जाने से अग्नि भी जड़ता को प्राप्त हो जाती है।[९]

वैयक्तिक स्वस्थ-वृत्त के अतिरिक्त एक अवान्तर भेद सदाचारपरक भी किया जा सकता है जिसे आयुर्वेद ने सद्वृत्त की संज्ञा दी। सद्वृत्त के अनुष्ठान से दो लाभ है आरोग्य की प्राप्ति एवं इन्द्रिय विजय (च० सू० ८।१७)। इस प्रसंग में कवि का कथन है कि भक्तिपूर्वक माता-पिता को संतुष्ट करना चाहिए। ऐसा कोई भी कार्य नहीं करना चाहिए, जिससे वे क्रुद्ध हो जायें क्योंकि माता के शाप से ही सर्प सत्र में सर्पों का विनाश हुआ था—

मातरं पितरं भक्त्या तोषयेन, न प्रकोपयेत्।
मातृशापेन नागानां सर्पसत्रेऽभवत् क्षयः॥
(च० च० १६)

क्षेमेन्द्र द्वारा वर्णित चिकित्सक के गुण-दोषों के उल्लेख के उपरांत व्याधि एवं चिकित्सा की चर्चा करेंगे।

चिकित्सक की चिकित्सा जरुरी

क्षेमेन्द्र के अनुसार सभी मनुष्यों का सर्वस्व प्राण है जिसके लिए वैद्य प्रयत्नशील रहता है। विविध औषधियों के परिवर्तन के अनेक योगों के निर्माण के द्वारा वह अपने विद्या के बल से सहस्रों मनुष्यों का रोग दूर करता है (क. वि. ९/२-४)।

वैद्य के कुलक्षण :

वञ्चक वैद्य हृदय विहीन, धूर्त एवं संग्रह रहित होता है। पर्यटनशील (चरक) होते हुए भी चरक (चरक-संहिता) जैसे ग्रन्थ को नहीं जानता-चरकश्चरकं न जानाति।' भयोत्पादक शब्दाडम्बर के द्वारा दुःसह सन्निपात के द्वारा जनता—जनार्दन का जीवन हरण करने वाले वैद्यराज उग्र विद्युत् के समान सामान्य व्यक्तियों के घर फट पड़ते हैं (देश० ३३-३५)। इसके अतिरिक्त क्षेमेन्द्र निन्दित एवं विकृत वैद्य के लक्षण बताते हुए कहता है कि पापाचरण करने वाले विद्या-विहीन तथा अनेक लोकों का विनाशक को नमस्कार है। वैद्यराज जी उसी प्रकार हैं जिस प्रकार से यदि किसी के समीप सर्प है तो मृत्यु निश्चित है। संशययुक्त वैद्य सैंकड़ों लोगों के घर उसी प्रकार पहुँच जाते हैं जिस प्रकार भार से लदा व्यक्ति श्वास लेता हुआ किसी आश्रय स्थान पर बैठ जाता है। ऐसा वैद्य अपने हाथ के द्वारा मस्तक के स्वेद-बिन्दु को बराबर पोछता रहता है। वह कुवैद्य विविध-औषधियों के संकेत नाम, संयोग परक वस्त्रखण्डों को धारण करता हुआ यमराज के समान सबके आगे पहुंचकर खड़ा हो जाता है। वस्तुतः यह धन और प्राणों का ही चिकित्सक है व्याधि-चिकित्सा में सर्वथा असमर्थ रहता है। यह वैद्य अपने को जीवन पर्यन्त विष्णु एवं शंकर के समान प्रदर्शित करता है जिसका त्याग जनता कभी न कर सके। वस्तुतः ऐसा वैद्य कालकूट विष, सर्प के समान है जो पर्याप्त मात्रा में मांस के द्वारा शीघ्र ही अनुकूलता को प्राप्त हो जाता है। ऐसा वैद्य कुपित वायु के समान है जो आयु का क्षय कर देता है, वह इन्द्रियों का विनाशक है। वैद्य की मूर्खता के कारण जनता-जनार्दन को अग्निमान्द्य हो जाता है। ऐसा दुश्चरित्र वैद्य स्त्रियों के गुह्यांग का स्पर्श, प्रचुर मात्रा में भोजन करने वाला तथा प्राण का अपहर्त्ता होता है। त्रिदोष का प्रकोपक भी कहा गया है (नर्म-२।६८-७७)।

ऐसा कुवैद्य सुन्दर स्त्री के पास पहुंचकर उसके सुसंघत कठिन एवं परस्पर स्पर्श करने वालेस्तनों का स्पर्श करते हैं (नर्म २।७८), चरक ने इस प्रकार के छद्मचर वैद्यों की कड़ी भर्त्सना की है (च० सू० १।१२९-१३३; च० सू० २९।११ एवं ३०।७२-७७, ७९-८३)। अतः इस सन्दर्भ में ... उचित प्रतीत होता

है—तस्मान्न भिषजा युक्तं युक्तिबाह्येन भेषजम्। धीमता किञ्चिदादेयं जीवितारोग्यकांक्षिषा: (च० सू० १।१२८)।

यद्यपि क्षेमेन्द्र के साहित्य से हमें कायचिकित्सा, शल्य, शालाक्य आदि की कोई परिभाषा नहीं प्राप्त होती किन्तु कुछ रोगों की उत्पत्ति, निदान एवं चिकित्सा का उल्लेख मिलता है जिसे एकत्र कर यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

कामज्वर

इसकी चिकित्सा के लिए शरीर पर चन्दन का लेप एवं कमलकेसर से आच्छादित करने का विधान बताया है (क. क. ४।४५)।

सन्निपातज्वर

सन्निपात ज्वर की व्यवस्थित रुप से चिकित्सा का निर्देश देता है (देश० ६।२४), इसने भोगी व्यक्ति की सन्निपात ज्वर की प्रथम स्थिति से तुलना बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत की है—जिस प्रकार सन्निपात ज्वर की प्रथमावस्था में ज्वराक्रान्त व्यक्ति को शूल के विद्ध होने के समान वेदना होती है और वह मूर्च्छा से स्तब्ध हो जाता है, उसी प्रकार विभव के मद से मतवाला व्यक्ति अत्यन्त भोग के कारण इस स्थिति को प्राप्त हो जाता है (से० ०मे ६।५,८)।

क्षेमेन्द्र कहता है कि मन्द जठराग्नि वाले रोगियों की रुचि दुग्ध के सेवन से और भी अधिक क्षीण हो जाती है—रुचि:प्रयातिमन्दाग्ने क्षीरेणात्यन्त मन्दताम् (सु.ति. ७।१२)।

कामला की मन्त्र से चिकित्सा

अप्यस्ति कामला नूनं तां मन्त्रेण नुदाभ्यहम्—इस विवरण से प्रतीत होता है कि कामला की चिकित्सा उसके समय में मन्त्र के द्वारा होती थी (नर्म० २।८६)।

नेत्राभिष्यन्द रोगोत्पत्ति

ग्रीष्म काल में आतप के प्रकोप से नेत्राभिष्यन्द रोग हो जाता है (नर्म० ३।५९)। 'उष्णाभितप्तस्य जलप्रवेशात्' (सु०उ० १।२६) इस प्रकार का उल्लेख सुश्रुत में मिलता है।

यद्यपि क्षेमेन्द्र इसकी चिकित्सा के सन्दर्भ में कुछ नहीं कहता पर सुश्रुत का मत है कि जिन कारणों से होता है उनका परित्याग ही क्रियायोग चिकित्सा है (सु.उ. १।२५)

मण्डलगुल्म

इसकी चिकित्सा रग द्वारा होता था (स.मा. ६।१८)।

मदात्यय रोग

मदात्यय (च० चि० २४।११७-१२०) या पानात्यय (वाग्भट) रोग से आक्रान्त होने पर मद्यपान की चिकित्सा है (स०मा० ८।४७)। यदि मद्यपान से तापवृद्धि न हो तो उपवास का विधान भी क्षेमेन्द्र ने बताया है (वही)।

मूर्च्छाशामक

मूर्च्छा शमन के लिए मलय चन्दन लगाने का विधान प्राप्त होता है (स० मा० ६।२४)।

मूत्रकृच्छ्र रोगोत्पत्ति

क्षेमेन्द्र ने मूत्र निरोध से मूत्रकृच्छ्र रोग उत्पत्ति का कारण बताया है (देश० ८।२४)।

विसूचिका रोगोत्पत्ति

क्षेमेन्द्र के अनुसार मेष-यकृत् के अति-अभ्यकरण से विसूचिका रोग की उत्पत्ति होती है (स०मा० ६।१७)।

श्वासरोगोत्पत्ति

जिस प्रकार षष्ठी पर्व के अवसर पर कोई जागता है तो उस जागरण के कारण—अति वृद्ध व्यक्ति अजीर्ण का सेवन कर लेता है तथा उसे पर्याप्त मात्रा में काम होने पर विषम श्वास की उत्पत्ति का अवसर प्राप्त हो जाता है (देश० ७।२६)।

हृदय व्याधि

क्षेमेन्द्र के अनुसार हृदय व्याधि की चिकित्सा कुशल राजवैद्य द्वारा ही की जा सकती है (द०द० २।२३)।

मानसिक शान्ति

उचित काय सम्प्रयोग द्वारा मणि, मंत्र एवं औषधि के समान स्त्री की मानसिक व्यथा की शान्ति सम्भव है (स० मा० ४।६२)।

इसके अतिरिक्त अनेक अन्य सन्दर्भों में अन्ध, कुब्ज, कृश, खञ्ज, कुष्ठी, स्थूल एवं गलग्रह आदि रोगों का भी उल्लेख करता है (द० द० २।७७)। वह कहता है कि रोग पीड़ित व्यक्ति को भोजन भी अरुचिकर प्रतीत होता है (नर्म २६२)।

शल्य के समान धन-सञ्चय

क्षेमेन्द्र ने धनसञ्चय शल्य के समान बताया है। सञ्चित धन वाला व्यक्ति उद्विग्न हो निदानादि से पीड़ित एवं परिजनों द्वारा भयभीत किया जाता तथा अपने स्वास्थ्य को नष्ट कर देता है (द०द० २-६३-४)।

शल्यहर्त्ता

शल्यहर्ता नापित की भाँति व्यक्ति से उसका गूढ़ से गूढ़ तथ्य ले लिया करते है। उन्हें कोई लेप करना हो तो वे अण्डकोष को भी नहीं छोड़ते। धन के इतने लोभी

होते हैं कि कि ी व्यक्ति के नाक कट जाने पर अपने वधू के भग से मांस काट कर उसके निमित्त दे सकते हैं (नर्म ३।६)।

ऋतुमती के लक्षण

क्षेमेन्द्र ने, ऋतुस्नाता स्त्री किस प्रकार मनुष्य से रति की कामना के लिए उद्दीप्त हो उठती है, इसका मनोरम चित्रण किया है (द. द. १।६७-९) सुश्रुत ने भी ऋतुमती का स्पष्ट निर्देश किया है (सु. शा. ३।६)।

गर्भवती के लक्षण

गर्भावस्था में स्त्री का सौन्दर्य एवं यौवन क्षीण हो जाता है तथा पीनस्तनद्वय भी ढीले पड़ जाते हैं (स. मा. ८।१०१) सुश्रुत (सु शा. १०।८) में भी उल्लेख मिलता है।

आयुर्वेद के आठ अङ्गों के अन्तर्गत बालतन्त्र या कौमार भृत्य का महत्वपूर्ण स्थान है। सुश्रुत ने इसकी सीमा का स्पष्ट उल्लेख किया है (सु. सू. १।१३)। ऐतिहासिक सर्वेक्षण से ज्ञात होता है कि इस अग का ज्ञान महाभारत काल से ही था। (महा. सभा. ५।९१)। महाभारत में बालग्रह विषयक पर्याप्त सामग्री है।

शिशु ग्रह बाधापनयनार्थ रक्षार्थ सर्षपविधान

इस सन्दर्भ में शिशु के केश पर सर्षप रखने का विधान बताया है (स. मा. ७।१५)।

स्तन्य विकार चिकित्सा

धात्री के स्तन्य विकार की चिकित्सा का विधान मत्स्य-चूष से बताया गया है (वही, २।७१)।

धात्री-दुग्ध में कमी से अतीव सरस भोजन देना चाहिए (स. मा. २।६९)।

स्तन्धय शिशु के क्षीरालसक रोग में आमलकी स्वरस का पान विहित निर्देश है (वही, २।७२)।

धात्री स्तन दुग्ध के क्षीण हो जाने पर चुम्बन एवं प्यार के द्वारा बालक की वृद्धि करती है (वही, ५।८७)।

द्रव्य गुण

औषधार्थ प्रयुक्त होने वाली सभी वस्तुओं को आयुर्वेद में द्रव्य माना गया है। इस प्रकार जगत् में कोई ऐसी वस्तु नहीं हैं जो द्रव्य होकर औषध न हो (अ. स सू. १७।६)। कवि क्षेमेन्द्र ने एक श्लोक द्वारा २४ वृक्षों का उल्लेख किया है जो आयुर्वेद के द्रव्यगुण शास्त्रभिज्ञ का परिचायक है—

जम्बू, बिम्ब, कदम्ब, बकुल, प्लक्ष, अक्ष, भल्लातक, द्राक्षा, किंशुक, कर्णिकार, कदली, जम्बीर, उदुम्बर, सन्तान, बिल्व, तिल्व, तिलक, श्लेष्मातक, आरग्वध, न्यग्रोध, अर्जुन, शातन एव असन (सु. ति. ५।५६)।

अशोक वृक्ष का महत्व

कवि समयोक्ति है कि सुन्दरियों के पदाधात से अशोक पुष्पित होता है (क. क. ४।३१)।

धातुवादी का स्वरूप

'रसायन, विषपान, गन्धशास्त्र एवं योगशास्त्र के माध्यम से युक्तिपूर्वक कथा से वृद्ध विट द्वारा मूढ़ लोगों के वञ्चित करने का उल्लेख दृष्टिगत होता है (देश. ५।२७)। शतवेधि सिद्ध पारद के समान ही धातुवादी का स्वरूप बनाकर जराजीर्ण वञ्चकजन खल्वाट पुरुषों को रसायन द्वारा केशवपन के प्रलोभन देकर उनसे धन हरण कर लिया करते थे (क. वि. ९।८)।

स्वर्ण निर्माण-प्रक्रिया

क्षेमेन्द्र के ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस काल तक कृत्रिम स्वर्ण निर्माण-प्रक्रिया आरम्भ हो गयी थी (क. वि. ८।२१)।

स्वर्ण निर्माण के लिए प्रयुक्त विविध भूषाओं की निर्माण विधि पर भी प्रकाश डालता है (से. से. ८।५-६)। इसके अतिरिक्त पारद सिद्धि के द्वारा देह मलों की शुद्धि का भी विधान बताया है (देश. ८।२२)।

क्षेमेन्द्र ने अपने ग्रन्थ 'कलाविलास' में नागार्जुन के रस विषयक नामक ग्रन्थ का भी उल्लेख किया है (९।१९) जिसमें उपर्युक्त प्रकार के ही ऐसे तथ्यों का प्रतिपादन है।

जरा नाशक रसायन

रसायन की जराजीर्ण शामकता का भी ज्ञान उस युग में लोगों को था जिसकी पुष्टि के लिए जराजीर्ण च्यवन की अश्विनीद्वय द्वारा चिकित्सा किए जाने एवं ऋषि द्वारा उपकृत होने पर उन्हें सोमपान के अधिकार दिलाने वाली घटना का निर्देश क्षेमेन्द्र ने किया है (से० से० ६।२१)। वार्धक्य के लक्षण एवं उससे बचने के लिए रसायन सेवन का उल्लेख भी द्रष्टव्य है—

जरया जीर्णशरीरः कासः श्वास प्रयासहृत शक्तिः।
व्रजति रसायन सिद्धः स्वगुरु वृद्धोऽप्यशेषायुः

(देश० ८।२०), रोगापनयार्थ रसायन द्वारा चिकित्सा का विधान दर्पदलन नामक ग्रन्थ से ज्ञात होता है (३।४६)।

राग (खिजाब) आदि के द्वारा केश-कृष्ण करने का भी विधान प्राप्त होता है (स० मा० ६।२५)।

वाजीकरण (च० चि० १।१९) एव सु० सू० १।१६) की गणना अष्टांग आयुर्वेद के अन्तर्गत की गयी है।

वाजिकरण औषधि

क्षेमेन्द्र ने मत्स्य-यूष, घृत, क्षीर, पलाण्डु एव रसोन को वाजीकरण एवं वृष्य माना है (स. मा. २।२६)। क्षेमेन्द्र ने नर्ममाला (३।१०२) में एक ऐसे रूक्ष, कृशकाय, मलिन, स्थूल, दग्ध वस्त्रधारी, पिशाचकाय एवं धनाढ्य वणिक का वर्णन किया है जो भार्या के साथ संभोगार्थ वाजीकरण औषधियों का सेवन करना चाहता है।

जीर्णवीणावत् अतिकृशकाय वृद्ध व्यक्ति यदि पीन स्तनोरुविटपा स्त्री से सम्भोग करता है तो वह और भी क्षीण हो जाता है, उसने भले ही तीन वर्षों तक पौष्टिक एवं वृष्य आहार का सेवन कर लिया हो पर यदि वह वाजीकरण की इच्छा करता है तो वमन एवं अतीसार से आक्रान्त हो नष्ट हो जाता है (देश० ७।२०-२१)।

अत: वृद्ध व्यक्ति के लिए मैथुन सर्वथा निषिद्ध है। अन्यथा उसके प्राणच्युत हो सकते हैं (देश० ७।१९)।

क्षेमेन्द्र के उपर्युक्त निबन्ध के विवेच्य विषय के आधार पर सम्यक्तया कहा जा सकता है कि क्षेमेन्द्र के काल में आयुर्वेद के लगभग सभी अङ्गों का किसी न किसी रूप में अच्छा प्रचार था और वे नियम समाज द्वारा सर्वथा पालनीय थे। इसके अतिरिक्त इस अध्ययन से ११वीं शताब्दी के कश्मीर प्रान्त में व्यवहृत आयुर्वेदीय सामग्री के विकास के इतिहास का ज्ञान हो सकेगा।

कृतज्ञताभिव्यक्ति

मैं अपने निर्देशक डा० ज्योतिमित्र, रीडर, मौलिक सिद्धान्त विभाग, का. हि. वि. वि. तथा सह-निर्देशक प्रो० लल्लन जी गोपाल, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, का. हि. वि. वि.' की परम अनुगृहीत हूं जिनसे उक्त शोध-पत्र लिखने में साहाय्य, निर्देशन एवं सर्वविध उत्साह प्राप्त हुआ है।

संकेत-सूची

अ० सं० सू०—अष्टांग संग्रह सूत्र स्थान
क० क०—कविकण्ठाभरण
क० वि०—कलाविलास
च० च०—चारुचर्या
च० स०—चातुर्वर्ग संग्रह
च० सू०—चरक संहिता सूत्र स्थान
द० द०—दर्प दलन
देश—देशोपदेश
नर्म०—नर्ममाला
महा० सभा०—महाभारत सभापर्व
सु० ति०—सुवृत तिलक
स० मा०—समयमातृका
से० से०—सेव्यसेवकोपदेश
सु० सू०—सुश्रुत संहिता सूत्र स्थान
सु० उ०— ,, ,, उत्तरतन्त्र।
च० शा०—चरक संहिता शारीर स्थान

सन्दर्भ

१. यत् करोत्यरुचिं क्लेशं तृष्णां मोह-प्रजागरम्।
न तद् धन कदर्याणां हृदयव्याधिरेव तत्॥
(दर्प० २।३२)
वर्धते यो धन व्याधि सुखभोगवियोगकृत्।
तस्याशु शमनं पथ्यं राजवैद्य चिकित्सया॥
(दर्प० २।३४)

२. रोगार्दित: स्पृशति नैव दृशापि भोज्यं।
तीव्रव्यथा स्पृहयते मरणाय जन्तु:॥
सर्वौषधेषु विफलेषु यदा विरीति।
धान्यैर्धनेन च तदा वद किं करोति॥
(वही० २।६३)

३. च० स० ४।१
४. च. शा० ४।३६-४०
५. च० सू० ३०।३४, सु० सू० १।२२
६ सु० सू० १५।४८
७ च० सू०
८. च० सू० १।१५
९. बहवन्नाशनलोभेन रोगी मन्दरुचिभवेत्।
प्रभूताज्यभुजो जाड्यं दहनस्याप्यजायत॥
(च० च० ६०।१)
१०. भूषा एक प्रकार की घरिया है जिसमें धातुओं को गलाया जाता है। धातुओं के सत्वपातन के निमित्त प्रवत्त होने वाला पात्र भूषा कहलाता है।



श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के संचालक एवं प्रबन्ध-निदेशक वैद्य पं० रामनारायण शर्मा झांसी-केन्द्र में जयन्ती-समारोह के अन्त में आभार प्रदर्शित करते हुए ।



झांसी निर्माण-केन्द्र में धन्वन्तरि-महोत्सव के अध्यक्ष-पद से विद्याभूषण आयुर्वेद शिरोमणि भाषण देते हुए।

शिशु स्वास्थ्य

बालकों में चर्म दल रोग का निदान एवं चिकित्सा

(काश्यप संहिता के सन्दर्भ में एक तुलनात्मक अध्ययन)

साहित्यायुर्वेदाचार्य,
डा० योगेशचन्द्र मिश्र,
शास्त्री, बी ए. एम ए.एस., पी.एच.डी.
रीडर एवं विभागाध्यक्ष-मौलिक सिद्धान्त विभाग,
ललितहरि राजकीय आयुर्वेदिक कालेज, पीलीभीत, उ० प्र०

काश्यप संहिता यद्यपि अति प्राचीन ग्रन्थ है फिर भी बीसवीं शती में ही इसकी पुनर्प्राप्ति एवं प्रकाशन सम्भव हो पाया। बीच के काल खण्ड में इसकी अनुपलब्धता के कारण न तो इसके सन्दर्भ मध्यकालीन टीकाकारों द्वारा अपनी टीकाओंमें उद्धृत किये जा सके और न ही अर्वाचीन विद्वानों द्वारा अधिक विचार-विमर्श सम्भव हो सका।

प्राचीन आयुर्वेदिक संहिता ग्रन्थों में सात प्रकार के महाकुष्ठ तथा एकादश क्षुद्र कुष्ठ इस प्रकार १८ प्रकार के कुष्ठ भेदों का वर्णन है। क्षुद्र कुष्ठ के एकादश भेदों में चर्मदल की गणना चरक[1] एवं सुश्रुत[2] प्रभृति आर्ष ग्रन्थों तथा माधव निदानादि अर्वाचीन ग्रन्थों में की गयी है। इन ग्रन्थों में यह विवरण अति संक्षिप्त है किन्तु काश्यप संहिता अथवा वृद्धजीवकीय तन्त्र के रिक्त स्थान में चर्म दल चिकित्सा नामक एक स्वतन्त्र अध्याय वर्णित है। कुष्ठ रोग में सर्वप्रथम त्वचा प्रभावित होती है।[3]

चरक संहिता में चर्म दल का लक्षण करते हुए कहा गया है :—

रक्तं सकण्डु सस्फोटं सरुग्दलति चापि यत्।
तच्चर्म दल माख्यातं संस्पर्शा सहमुच्यते ।।[4]

तथा इस व्याधि को पित्तश्लेष्म बहुल कहा है।[5] सुश्रुत संहिता के अनुसार—

स्युयेन कण्डू व्यषमौषचोषस्तलैषु
तच्चर्म दाल वदन्ति।
सु० नि० ५।९

लक्षणों वाला चर्म दल पित्त दोष प्रभव कहा गया है।[6]

काश्यप संहिता के अनुसार यह रोग क्षीरप बालकों में क्षीर दोष से तथा क्षीरान्नाद बालकों में क्षीर एवं आहार दोष से होने वाली व्याधि है।

१. सहायक कारण :—सुकुमार बालकों में शारीरिक धातुओं का स्थिर न होना।
२. वस्त्र का अत्यन्त धारण
३. निरन्तर गोद में रहना
४. उपनाह, वायु, धूप, पसीना उपनाह तथा बालक के स्वयं अपने शरीर के मलमूत्र, पुरीष आदि के लगने गन्दगी हाथ के पीडन
५. अत्यन्त उद्वर्तन।
६. कुल प्रवृति

आदि कारणों से मुख, गले, हाथ, पैर (खुले अंग) वृषण के नीचे तथा कटि एवं अंगों की संधियों में चर्म दल उत्पन्न हो जाता है।[7]

शारीरिक दृढ़ता तथा पुष्टि के कारण यह बड़ी अवस्था में नहीं होता है।[8] इस रोग से चर्म (त्वचा) का दलन (विदारण) यह मुख्य लक्षण होता है। वायु की प्रधानता ही इसमें कारण है। इस रोग का काश्यप संहिता में वातज, पित्तज, कफज और सन्निपातिज चार प्रकार का होता है।

मुख्य कारण :—वातादि दोष प्रवलता से स्तन्यदुष्टि

वात दुष्ट स्तन्य सेवन जन्य चर्मदल के लक्षण[9]

१. कण्डू एवं स्फोटयुक्त कठोर काले रंग का मंडल
२. प्रवेलक—कम्पन
३. मुख शोष
४. रोम हर्ष
५. विप्लुत। मिले हुये। पतले रंग-विरंगे दस्त

पित्त दुष्ट स्तन्य सेवन जन्य चर्मदल के लक्षण[10]

१. लाल, नीले, काले तथा पीले रंग वाले शुष्क [illegible] युक्त, उष्ण, दुर्गन्धयुक्त दोषपूर्ण मण्डल २—

त्वचा एवं मांस दारण करने वाले पय पत्र के समान विसर्ग

३. निरन्तर हरे, पीले गुदा में पाक कर अतिसार

४. दाह

५. मुखशोष

६. छर्दि

७. मुख का पीलापन

कफ दुष्ट स्तन्य सेवनजन्य चर्मदल के लक्षण

१. शीत, सान्द्र तथा स्निग्ध मण्डल।

२. श्वेत वर्ण, संख्या में अल्प चिरपाकी, अल्पवेदना वाली सर्प के आकार वाली कण्डू एवं तोद से युक्त पिडिकायें।

३. तदुपरांत प्रतिश्याम, अरुचि, अंग गौरव, कास तथा पाक आदि हो जाते हैं।

४. संख्या में अधिक, पिच्छिल, बिना बंधे हुए दस्त।

५. श्वास लेने में कठिनता।

६. श्लेष्म वमन।

७. तन्द्रा।

८. ओष्ठ तथा तालू सफेद।

त्रिदोष संसृष्ट दुग्धपानजन्य लक्षण

१. मण्डल—काले तथा लाल वर्ण के, जले हुए गुड़ के समान, त्रिदोषयुक्त, शीघ्रपाकी, दुर्गन्धयुक्त, विदीर्ण होने वाले, पूति। दुर्गन्धित एवं कुणप-शब्द। गंधयुक्त, स्रावयुक्त, सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त।

२. निरन्तर कष्टपूर्वक श्वास।

३. रोने में कष्ट, दुग्धपान में अनिच्छा।

४. कृष्ण एवं अरुण वर्ण का अतिसार।

उपद्रव—वमन, तृष्णा, ज्वर, अतिसार शोथ, स्वर भेद आदि।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि चरक एवं सुश्रुत संहिताओं में चर्मदल रोग को चाहे बड़ी आयु में होने वाली व्याधि भी माना है क्योंकि मात्र बाल्यावस्था में ही इस व्याधि की उत्पत्ति का वर्णन इन ग्रन्थों में नहीं है किन्तु का० सं० के अनुसार इस रोग की निम्नलिखित विशेषताएं हैं।

१. यह क्षीरप एवं क्षीरान्नाद बालकों में ही होने वाली व्याधि है।

२. कुपोषण जन्यव्याधि है।

३. त्वचा विकृत—विभिन्न प्रकार के मण्डल स्फोट आदि।

४. पाचन संस्थान विकृत—अतिसार, वमन आदि।

५. नाड़ी संस्थान विकृत—प्रवेलक, कम्पन आदि।

इस व्याधि के लक्षणों के आधार पर pellegra नामक व्याधि में इससे आश्चर्यजनक साम्य दिखाई पड़ता है। वास्तव में पेलेग्रा शब्द pelle तथा agra इन दो इटेलियन शब्दों से बना है।

Palle का अर्थ होता है Skin और Agra का अर्थ होता है Rough। इस प्रकार चर्म-दल इन शब्दों से बना। यह शब्द चर्मदल न केवल लक्षणों की दृष्टि से अपितु नामकरण की दृष्टि से दोनों में साम्य है। इसका कारण बतलाते हुए कहा गया है कि, Pallegra is unquestionably associated with a poor and monotonous diet and its appearance can be prevented by suitable dietary alerations"

चिकित्सा

बालकों में होने वाले चर्मदल रोग में मातृस्तन्य शोधन धात्री के लिये दोषशामक आहार-विहार एवं औषधि विधान का निर्देश का० सं० में किया गया है।

वातिक चर्मदल-चिकित्सा

१. धात्री को वातशामक आहार-विहार की व्यवस्था।

२. स्तन्य शोधन हेतु—विदमी गन्धा, एरण्ड, वृहती आदि कषाय का पान।

३. स्तनों पर प्रलेपरास्ना सुगंध और गन्ध नाकुली, नागरमोथा आदि अथवा पुराने घी में तिल कल्क का लेप।

४. रोगी का परिषेक—श्वेत एरण्ड, ढाक, पाटली। रास्ना क्वाथ ईषदूषण जल से।

५. रोगी का अभ्यंग—देवदारु, रास्ना, मयूर मज्जा, बिल्वमूल, आम्रमज्जा आदि से सिद्ध तेल से अभ्यंग।

पैत्तिक चर्मदल चिकित्सा

१. धात्री को स्नेहन पूर्वक वमन विरेचन।

२. स्तन्य शोधन हेतु—गंभारी, मुलहठी झालस्य परस्या, सारिवा, गिलोय आदि का कषाय प्रयोग।

३. स्तनों पर लेप—पुण्डरीक सारिवा खस तथा चन्दन, रसौत, मुलहठी, गूलर, पीपल, बड़, नल मूल आदि के कल्क का घृत मिलाकर प्रलेप।

४. रोगी का अभ्यंग—मधुयष्ठी, गिलोय, वेतस, शतावरी, कुश काश, मधुरा आदि से साधित घृत से अभ्यंग।

५. अवचूर्णन—उपर्युक्त घृत को अभ्यंग करके शरीर पर लोध्र, मुलहठी, दारुहल्दी, आंवला और तेज पत्र के चूर्ण का अवचूर्णन करें।

श्लैष्मिक चर्म दल की चिकित्सा

१. स्नेहन, वमन तथा शिरो विरेचन।

२. इन्द्र जौ, नागरमोथा, प्रियंगु, पाठा, लोध्र, आर्द्रक आदि के चूर्ण का सुखोष्ण जल।

३. चिरायता, नागरमोथा आदि मधु के साथ सेवन।

४. नागरमोथा, नीम पटोल, सप्त पर्णत्वक क्वाथ का संधान करके मधु के साथ प्रयोग।

५ स्तनों पर लेप—नागरमोथा एवं चमेली के पत्तों का कल्क।

६ लेप—कुटज, नीम, अमलतास, मैनफल, गोखरू, नागरमोथा, करंज, तुलसी, रसोत आदि का लेप।

७ अभ्यंग—नागरमोथा, खस, वासा, हल्दी, करन्ज, नीम आदि सिद्ध तैल से अभ्यंग।

निष्कर्ष—का० सं० के अनुसार चर्मदल नामक रोग बालकों में ही आहार-विहार के दोष से दूषित मातृस्तन्य दुष्टि से उत्पन्न होनेवाला रोग है। इसमें त्वचा में विभिन्न प्रकार के मण्डल, त्वक दलन आदि त्वचा-संबन्धी विकार, अतिसार एवं अन्य सांस्थानिक विकार दोषानुसार होते हैं। मातृस्तन्य शोधन, स्तन पर दोषशामक औषधि प्रलेप, अभ्यंग अवचूर्णन आदि से हुए रोग की चिकित्सा की जा सकती है।

आभार-प्रदर्शन—इस लेख के लिखने में डा० जगदीश प्रसाद शर्मा—प्राचार्य—ललितहरि राजकीय आयुर्वेदिक कालेज, पीलीभीत का सब प्रकार का सहयोग प्राप्त हुआ। अतः मैं उनका हृदय से आभारी हूं।

सन्दर्भ

१. च० चि० ७
२. सु० नि० ५
३. एवं कुष्ठं समुत्पन्नं त्वचि काल प्रकर्षतः। क्रमेण धातून व्याप्नोति—। सु० नि० ५
४. च० चि० ७।२४
५. च० चि ७।३०
६. का० खि० १५।६
७. का० खि० १५।८
८. का० खि० १५।७
९. का० खि० १५
१०. का० खि० १५
११. द्रष्टव्य—Manson's Tropical Diseases edition 1940, P. P. 465
१२. का० खि० १५।१५
१३. का० खि० १५।१०
१४. का० खि० १५।१७

पूर्वांचल पर एक भयंकर आपत्ति

क्रकचसन्निपात (मस्तिष्क ज्वर)

श्री ताराशंकर वैद्य,
श्री मधुसूदन प्रसाद मिश्र एवं
श्री ब्रजेन्द्र मोहन तिवारी,
श्री अर्जुन आयुर्वेद विद्यालय,
ईश्वरगंगी, वाराणसी

व्याप्ति और अंधकार

इधर आसाम, बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश के जनपदोध्वंस या महामारी के रूप में एक नवीन व्याधि व्यापक रूप धारण कर चुकी है जिसका बेग पूरे उत्तर प्रदेश में बढ़ता हुआ प्रतीत होता है। इसका आक्रमण तीव्र और भयानक होता है कि रोगी का जीवन कठिन हो रहा है। इसलिये शासन और जनता त्रस्त हो गयी है।

लक्षण और तथाकथित चिकित्सा

समाचार पत्रों द्वारा रोग के निम्नलिखित लक्षण प्रकाश में आते हैं—

तीव्र ज्वर, भीषण शिरःशूल, गर्दन में जकड़ाहट, शरीर में ऐंठन, अर्ध या पूर्ण मूर्छा और आंशिक पक्षाधात। परिणामस्त्ररूप रोगी तीन दिन के अन्दर काल कवलित हो जाता है। विशेषतः मन्यास्तम्भ या गर्दन की जकड़ाहट से। आजमगढ़ के मुख्य चिकित्साधिकारी के कथनानुसार तत्काल चिकित्सा कराने पर दो दिनों में रोग-मुक्त होना सम्भव है। कुछ रोगियों में ज्वर के समय वमन भी हो रहा है परिणामतः मलेरिया की आशंका से उसकी चिकित्सा की जा रही है। ऐसा लगता है कि व्याधि की व्यापकता पर काबू नहीं पाया जा रहा है, इसीलिये भारत के चोटी के चिकित्सा - वैज्ञानिक तो रोग-क्षेत्र में पहुंच ही रहे हैं विश्व स्वास्थ्य संगठन से भी सम्पर्क किया जा रहा है। लेकिन दु.खद प्रसंग यह है कि कुल मिला कर अभी तक अनुसन्धान; विचार और गुहार की बात ही सामने आ रही है। व्याधि के भयावने प्रसार के बावजूद भी आश्वस्त होने का प्रकरण नहीं हो पाया। बताया जा रहा है कि इस व्याधि की चिकित्सा के लिए जापान ने जापानी २०,००० इंजेक्शन उत्तरप्रदेश को देने का प्रस्ताव किया। केन्द्रीय औषधि अनुसंधान संस्थान के निदेशक ने बताया है कि आसाम में इस इंजेक्शन से व्याधि को ठीक किया गया था।

प्रायः पाश्चात्य चिकित्सा वैज्ञानिकों की धारणा है कि यह रोग इन्सेफलाइटिस (मस्तिष्क शोथ) या मेनिनजाइटिस (मस्तिष्कावरण शोथ) के निकट है। इन दोनों रोगों की निश्चित चिकित्सा की गयी या नहीं की गयी और यदि की गयी तो क्या परिणाम हुआ? यह बात आज तक सामने नही आयी।

आयुर्वेदीय दृष्टिकोण

माधव निदान की मधुकोष व्याख्या में सन्निपात ज्वर के भेदों में एक क्रकच सन्निपात का नाम आया है। जिसका सं-प्राप्ति पूर्वक लक्षण इस प्रकार लिखा हुआ है—

प्रवृद्ध हीन मध्येस्तु बात पित्त कफैश्चयः।
तेन रोगास्त एवोक्ता यथादोष बलाश्रयाः॥
प्रलापायास सम्मोहो कम्पमूच्छ रतिप्रभाः।
मन्यास्तभ्मेन मृत्युः स्यान्तत्राप्येतविशेषतः।
भिषग्मिः सन्निपातो यं क्रकचः सम्पकीर्तितः॥

अर्थात प्रवृद्ध वात, मध्य कफ एवं हीन पित्त से जो सन्निपात ज्वर होता है उसमें दोष के बल और आश्रय के अनुसार ये लक्षण होते हैं—प्रलाप, आयास, सम्मोह, कम्प, मूर्च्छा, बेचैनी और भ्रम (चक्कर) आदि। इसकी विशेषता यह है कि मन्यास्तम्भ से रोगी की मृत्यु होती है। वैद्यों द्वारा यह क्रकच सन्निपात कहा गया है।

वर्तमान मस्तिष्क ज्वर में उपर्युक्त क्रकच सन्निपात ज्वर के सभी नहीं तो अधिकांश लक्षण मिल रहे हैं। कम्प के कारण विषम ज्वर या मलेरिया की आशंका की जाती है पर यह मलेरिया नहीं है। क्योंकि मलेरिया की निश्चित चिकित्सा है और उससे लाभ का पता नहीं चल रहा है। एक वैद्य के लिए हीन पित्त होने पर तीव्र ज्वर होने की बात खटकने वाली है। पर विद्वान वैद्य आशयापकर्ष को समझते हैं। जिसके अनुसार पित्त वात के आशय (मस्तिष्क) में जाकर तत्रस्थ वायु के कारण वात संस्थान में अधिक प्रकुपित हो जाता है। परिणामतः तीव्र ज्वर

होता है। यह प्रसिद्ध तथ्य है कि प्रलाप और मूर्च्छा साथ नहीं हो सकते अतः प्रवृद्ध वात के साथ कफ कहा है इसलिए अधिकाँश रोगियों में मूर्च्छा होती है।

आयुर्वेद में विकार का बिना नाम ग्रहण किये त्रिदोष के सिद्धान्तानुसार निदान और चिकित्सा सफलतापूर्वक की जाती है जो अन्यान्य चिकित्सा-पद्धतियों में नहीं मिलती। यहां उपर्युक्त क्रकच सन्निपात के दोष-क्रम को देखते हुए कृत चिकित्सा में सफलता मिल सकती है। इस दृष्टिकोण से निम्नलिखित योगों से लाभ उठाया जा सकता है।

१. वृहत वात चिन्तामणि	१।२ रत्ती
महावात विध्वंसक रस	१ रत्ती
पंचानन रस	२ रत्ती
प्रवाल भस्म	२ रत्ती
	१ ६

आदी के रस में इतनी प्रति मात्रा चार-चार घण्टे पर देनी चाहिये।

२. योगेन्द्र रस	१।२ रत्ती
सौभाग्यवटी	२ रत्ती
प्रभाकर	१।२ रत्ती
पंचानन	२ रत्ती
	१,६

इतनी प्रति मात्रा चार-चार घण्टे पर पान का रस और मधु के साथ देना चाहिये।

इस प्रकार २-२ घन्टे पर कोई न कोई योग रोगी को मिलता रहेगा। मुख से औषधि ग्रहण करने में कठिनायी हो तो उसे अनुपान में मिलकर किसी प्रकार जीभ पर डाल दें।

सिर के पूरे बाल बनाकर न्यूनतम १० वर्ष का पुराना गो-घृत कपूर मिलाकर हलका - सा गरम कर सिर पर मलना चाहिये।

पुरान गो-घृत न मिलने पर उरद की रोटी जो एक बगल सेकी रहे, सेके हुए भाग की ओर से सिर पर बांध देना चाहिये।

ग्रीवा के कड़े अंग पर या अन्य वातजनित कड़े अंग पर शराब की मालिश से बड़ा लाभ होता है।

अन्य विशिष्ट उपद्रवों में उपद्रवानुसार वैद्य चिकित्सा कर लेगा। जैसे शीतांग में, कस्तूरी भैरव, चन्द्रोदय या हिरण्य गर्भ, श्वास बढ़ने पर-वृहत श्वास कास चिन्तामणि और प्रलाप होने पर—ब्राह्मी वटी आदि का प्रयोग हितकारी होता है।

पथ्य

रोग-मुक्त होने पर दोषानुसार ज्वर का पथ्य देना चाहिये। विशेषतः पटोल यूष या मूंग की दाल का यूष आदि में से 'जो उचित हो दिया जाय।

उपसंहार

उस रोग की परम्परा में पाकल सन्निपात पर भी विचार किया जा सकता है।

एक वैद्य अच्छी तरह समझ सकता हे कि इस समय रोग ग्रस्त प्रान्तों की परिस्थिति वर्षा आदि के कारण उपर्युक्त दोषक्रम के अनुकूल है। जिसका प्रभाव ओजहीन रोगियों पर अधिक पड़ता है। आज वैद्य के सामने अत्यन्त शुद्ध औषधियों की बहुत बड़ी समस्या है। इसके लिए इस समय आयुर्वेद जगत का शासन को दोष देने से काम नहीं चलेगा। पर हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेद विभाग, मारवाड़ी अस्पताल के आयुर्वेद विभाग, सांगवेद विद्यालय रामघाट के आयुर्वेद विभाग, जिला परिषद् के आयुर्वेद विभाग और शासन के आयुर्वेद विभाग से यह अनुरोध है कि तत्काल उपर्युक्त औषधियों की व्यवस्था करें।

आयुर्वेद जगत से अनुरोध है कि उपर्युक्त दिशा या अन्य यथोचित दिशा में पग बढ़ाकर इस विपत्ति में जनता की सेवा में सन्नद्ध हो जांग।

Preventive Measures To Maintain Health As Mentioned In The Ayurvedic Texts*

Dr. M. M. Pandya
A. V. V., M. A., Ph. D.

The object of the medical science is two fold. First maintenance of good health and prolongation of life and second the combating of diseases.

The first of these two aims may be gained by proper living, by right regulation of diet, exercise and habits all of which are possible for each individual, provided a person possesses the necessary enlightenment and education. Where as the second aim i.e. cure of the diseases may not be possible for every individual, as it may require expert's opinion and guidance.

But this should not happen every now and then as it is found to day. The complaints of minor disorders of health can easily be averted by simple changes in diet or conduct and/or by use of simple house-hold drugs. Every individual should know and should be able to manage for himself without having resort to outside help.

Ayurved is more a science of positive health than the science for the cure of disease. As such it prescribes precepts and rules, that ensure the smooth running of the intricate mechanism of the human body without hitch and hindranee.

* Paper read at the 8th annual conference of the Indian Association of Preventive & Social Medicine and specially contributed to "Sachitra Ayurved."

Man is an Intellectual progressive creature. He is not going to be passive, static and vegetative organism. He will transgress the limitations of diet and behaviour. As a consequence his bodily mechanism will be strained, disordered or worn out or he may have to encounter the unusual environmental changes of time and space.

"A healthy person" as is mentioned by Maharshi Sushruta, "is he who has equilibrium of humors (दोष), digestive and metabolic powsr (अग्नि) and seven supporters (धातु), who has normal excretion and whose mind, atman and sense organs are always rejoiced". Ayurved uses the word 'Swastha' for a healthy person. It has significant indication. 'Swa'—means one own self and 'Stha' to stay in wellbeing state.

It is universally accepted that man is not conglomeration of mere physical substances. But the conscious entity like manas and atman are the vital forces for existence of life. Body is a meterial and absolutly visible, but manas and atman belong to the field of speculation. The diverse natures of these component factors that go to make the whole man, have provided cause for contention between religion and philosophy, between science and superstitions, and priests and physicians.

So looking to the strange but stupendous living phenomena; one will solely agree with the identification of healthy individual as it

explained by Sage Sushruta. It is curious that 'W. H. O.' (1948) also has defined the healthy person as "A state of complete physical, mental and social wellbeing and not merely absence of diseases or infirmity."

Ayurved has some peculiarities in order to clarify the objects and aims of the science of medicine. In the commencement it is mentioned by Acharya Charak, "we shall now expound the chapter of the quest of longevity" (अथाऽ तो दीर्घंजीवितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः)

The word 'Ayurved' has specific meaning. Acharya Chark alludes "This is named as the science of life, where in are laid down the good and bad life, the happy and unhappy life, and what is wholesome and what is unwholesome in relation to life as also the measurement of life" (Chark 1-1.81).

1. It should be fairly understood, the difference between good and bad, happiness and unhappiness in it's true sense. Developed and civilized country like U. S. A. passes through this puzzling problem. They people enjoy good health with all its ultra-modern amenities Yet happiness is like dream far away from realization. The present trend for search of happiness is diverted in other direction. It has cast the shadows of mock philosophy as a result of this trancendental meditation centers. Yoga Sadhna etc. are grown up like mushrooms. It is apparent that one, to preserve his health, should know what is wholesome and what is unwholesome.

Today the biochemical branch of science tries enormously to find out the interrelationship between life and matter. Various kinds of chemicals, produced by endocrinial glands are essential for bodily activity. But it also acts on mind and consequently changes take place in psychological trends of human beings.

Mind is an entity which is perplexed and its existence cannot be proved in the laboratory. Besides, its relation with activities of human being is also not recognized fully. Any how it is an established fact that the human body though is the conglomeration of five gross elements, is governed by metaphysic entity like Manas, Atman or Chetna.

Ayurved in this regard considers perfect healthiness of the mind before the physical healthiness is gained. This subject is explained in detail in the chapter of इन्द्रियोपक्रमणीय अध्याय

2. Mind is super-sensual but it is a dynamic force for the cause of activity of the sense-organs. Ayurved holds that the cause of many diseases is असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग i,e. unwholesome connection of the sense-organs with their objects, and (प्रज्ञापराध) volitional transgression. Unwholesome connection of sense organs can again be classified into the three categories अतियोग, मिथ्यायोग and हीनयोग i.e. Excessive use, misuse, abuse and disuse. For example, over eating is अतियोग, malnourishment is मिथ्यायोग and starvation is disuse or हीनयोग. Similarly if any sense organ is utilized excessively, worngly or unused will invite the illness.

No sensual perception can take place unless the mind is connected with the sense organs and sense objects. So bodily health largely depends upon the activity of the

mind. It is worthy to remember that the mind is an immortal entity in the mortal physical body. This cardinal point should not escape from our mind while discussing about wholesome and unwholesome.

3. Wholesome and Unwholesome :—

Every individual, first of all, should know his own physical constitution. General rules for maintenance of good health might be a guiding star, but may not be so helpful if one is not acquainted with his own constitution,

The great philosopher PLATO has said that, medicine is an art which considers the constitution of the patient, and has principles of actions and reasons in each case. This emphasizes the importance of the study of individual constitution in the medical service.

It is very interesting to note that Maharshi Charaka also holds similar view.

"He is the best physician who, before administration of drug takes into account the season and climate and who applies it only after examining each and every patient individually. (Ch. 1-1-123)

Three principale humors, according to Ayurved, are the basic elements for the human life. In the healthy state they are in equilibrium but imbalance of these three, creates illness. So it becomes absolutely necessary to keep the three humors in equilibrium.

Any measure taken to maintain the balance of the three humors are considerd as wholesome and contradictory to this will be unwholesome. Not only the diet but other factors like place, time and other environments are also responsible to disturb the equilibrium.

Maharshi Charak has explained vividly. "That substance is wholesome which is incompitible from the point of view of place, season, gastric fire, measure, homologation, vata and other body humors, preparation, poteney, bowel tendency, state of patient, rules of eating, things to be avoided or observe. cookery, combination, palatability, richness of quality and anything against these is unwholesome."

Ch. 1-26-86-87)

It appears that concept of unwholesome is very near to the concept of allergy. 'Allergy' concept is complex and yet the respodsible factors for action or reaction of the drug, diet, chemical or any substance causing allergy, is not known. It is advised by a physician that a person himself should ascertain the cause of the allergy. There is no positive clue of this perplexed question,

It is evidedt that one should be alert and should be on guard for maintenance of his physical health and mental trends. Otherwise it will not be possible ti maintain good health. It will also be impossible to prevent the attack of illness if the knowledge of wholesome and unwholesome is not acquired properly.

4. Dincharya, Ritucharyh, and Ratricharya :—

Among all the biological species only man has been endowed with particular faculty of thinking. He is accustomed to work in a particular way. He has framed a timetable to cope-up with his work with ease not only for a day but for the whole year. Ayurved has contributed an indespensoble ideology

which will be very helpful to check over indulgence by following the conducts mentioned in Dincharya etc.

What should be done right from the dawn and how the work should end at night in what manner one should behave, etc, are discussed at length in a very illuminating manner. A person will surely be saved from the various kinds of sickness if he will observe the suggetions made in the Dinceahrya.

Recommendations are made for cleaning the teeth, and tongue, application on collyrium prepared in buttermilk, daily use of nasal and ear-drops, physical exercise, massage, before bath, Anupan and prapanak before and after meal, and many more 'dos' and 'donts' are beautifuly narrated.

RITUCHARYA :

Certain recourses are to be practised in a particular season to avert the diseases springing up in a certain season. It is beyond doubt that change of weather plays very important role for not only epidemics but for minor ailments like influenza, cold gastritis, etc.

It will not be out of place if Dr. K. H. Kingdom's observation will be cited.

'Can a change in weather cause the flue (diseases) ? Dr. K. H. Kingdom has found evidences that change in weather has powerful influence. He gives the theory which links relative humidity and spread of respiratory diseases, on the basis of known physical and chemical factors, the spreading of infection, the effect of humidity or thousands of tiny water-droplets pervading in the atmosphere. When humidity is high, the droplets do not evaporate, so they remain relatively large and settle out at the atmosphere fairly—quickly. When the humidity is somewhat lower then about 85% chemical factors resulting from rapid evaporation cornbat to kill or weaken the virus.' (New York Science Journal, Nov. 1960)

How the change in weather effects the atmosphere and how the atmosphere jeopardizes public health is known to everyone.

In the Ritucharya, Ayurved has explained this in the peculiar way and exhaustively.

The year is divided into six seasons. But major part of the year is divided into two, viz आदान and विसर्ग. In the विसर्ग one can receive much for improving health. Where as in आदान one may have to lose much if proper care is not taken.

आदान consists of three seasons, viz. शिशिर, वसंत and ग्रीष्म i. e. from January to May, while remaining three seasons, viz वर्षा, शरद and हेमन्त fall into the विसर्ग i. e. from June to December.

It is well known that in our country diseases are more prevailing from June to December than from January to May. Therefore it becomes evident that the diseases can be prevented if necessary precautions are taken in the particular season.

Acharya Charaka very clearly indicates, 'The seasonal dietary and regimen practised by a man who knows the seasonal homologation with regard to behaviour and diet, promotes vigour and complexion' (Charaka 1-6-3).

It is also important to know what is suitable in a particular season depending

upon place and time. (देशकालऋतुसात्म्य). The three humors (वात-पित्त-कफ) have peculiar characteristics and they develop variations according to the changes of seasons.

Diseases arising in a particular season are preventable if necessary actions are taken, but one should take info consideration the pattern of the three humors.

Five kinds of methods for purification of body, Viz वमन-विरेचन, आस्थापन, बस्ति-अनुवासन बस्ति and शिरो-विरेचन are recommended for the prevention of the diseases. Humors are provoked in a particular season, but it can be stopped by applying the methods of पंचकर्म. Vatatcan be controlled by using स्नेहन स्वेदन and बस्ति. Pitta can be lowered or regularized by विरेचन and cough predominancy can be diminished by वमन and शिरोविरेचन.

Descriptive and interesting topic i s discussed in almost all the books of Ayurved which demands sincere attention, because to-day much stress is laid on preventive measures. Diseases like influenza, diarrhoea, dysentry, gastritis, conjunctivitis, etc. raise their monstrous heads at a particular time, and probably in a particular season The attempt should, therefore, be made to put in practice the five modes of purification of वमन-विरेचन etc.

As regards the place or region is concerned,, three classifications are made, viz. आनूप, जांगल and सम. The country, where much rain and moisture is prevalent is known as आनूप. Diseases with predominance of cough are rampant in आनूप country. The जांगल country has much dryness and less moisture. Hree the diseases predominant with vata are more prevailing. सम or normal countr where there is normal dryness and norma moisture, is considered best for the health

The location, dietetic habits and mod of behaviours should be in accordance wit the change of the season. Besides attempt should be made to regularize the imbalanc of the three humors.

RATRICHARYA :

In the major three works of Charak Shushrat and Vagabhata no clear mention i made about Ratricharya (The rules to b observed at night). But Pandit Bhavmishra author of Bhavprakash (1600 A. D.) ha written briefly on this subject.

Pandit Bhavmishra hints to avoid th five kinds of deeds at evening twilight. 'A wise man should forbid eating, coition sleep, study and exercise at twilight. Becaus it creates diseases, malformation of foetus poverty, shortening of life-span and fear respectively.' (Bhavprakash 1. 4.)

He also strongly advocates, 'One shoul eat very light food at night. Meal should b taken in the first part of the night. The foo should be avoided from the night-meal whic is not easily digestible'.

To-day night clubs and cinema-house have totally topsy-tervied the age old custom which has invited many social and persona ills. It plays important part for the health hazards.

Another important topic discussed by Bhavmishra is about sexual act. Many authors have written on this subject at length But Pandit Bhavmishra has specially included this subject in the chapter of Ratricharya

Sexual act is a natural instinct in all

animal beings. But only mankind specially has been provided with thinking faculty, and as such nature has not provided particular time or season for the satisfaction of the urge of sex. It is expected that a man can become his own master and judge to decide about the use and abuse or misuse of his senses and sex. But it is a proven fact that to-day man is the only animal who goes astray merely to satisfy his carnal desires. This kind of trend has created many putid problems, like venereal diseases, STD (Sexually transmitted diseases), illegal birth of child with low grade intelligence, who in his growing age becomes an antisocial element etc.

Pandit Bhavmishra in various ways describes how, when, why and where the sexual act should be enjoyed.

Lastly the suggestion is made to drink eight handful of water before the bed is left, i. e. in the first part of the early morning. This kind of drinking water will be helpful to remove constipation, piles, edema, alimentary canal diseases, obesity, urinary disorders, eye diseases and nasal diseases. It is also advised to drink the water through nostrlis, which is advantageous to prevent eye-diseases, nasal diseases like cold, coryza, etc. It will also be useful to stop premature greying hair and baldness.

Taking into account the description given above one will be convinced about the importance of Dincharya, etc. as an adjuant preventive measure, which perhaps will cost very little and pay much.

Diet and Disciplinary Way of Life :

Ayurved concedes that diet and drug are of the same origin. The Pro-perties and actions of the substances of the both are intermixed, but the main difference between diet and drug is about the potency. Ras (रस) is the predominant factor of diet, while the potency is predominant in the drug.

It is also believed that diet consumed for the maintenance of health also plays important role for the make-up of mind or mental behaviour. So the diet and disciplinary way of life, both go together.

Charakacharya says 'Whatever artiles of food having dislodged the morbid humors, do not eliminate them from the body, are to be regarded as unwholesome' (Charaka 1-26·85).

Whatever is consumed as foodstuff, should be excreted with the morbidity of the humors. It will keep the equilibrium of the three humors and will be helpful for the preservation of health.

The properties of the dietetic stuff can be judged by the excess or less percentage of the taste and characteristics. Taste, according to Ayurved is of six kinds and characteristics are also of the six kinds.

The property of the drug and diet not only depends upon its natural characteristics but also on the various factors and processes. The following are the eight factors of diet which change the property. 'Prakriti (Inherent quality), Karana (Preparation), Samyoga (Combination), Rashi (Quantity), Desh (Habitat or Region), Kala (Stage of disease), Upyoga (Rules for use) and Upabhokta (User). These factors change the properties of the dietetic stuff.' (Charaka 3-1-21).

This is very important point for a phy-

sician while he aduises his partient for a diet in a diseased condition or in a healthy state.

Sage Sushruata lays much emphasis on the regularity of taking diet 'One should eat only twice a day, taking into consideration of the time, place and balance and imbalance of the three humors' (Sushruta 1-46-238).'

The equlibrium of the three humors must be maintained by adding or diminishing the wholesome and unwholesome edible articles which is known as पथ्यापथ्य.

Acharya Charaka also alludes, 'That is the wholesome regimen, which does not impair the body system and which is pleasing to the mind. That which is not pleasing is unwholesome regimen. This should not be regarded as an invariable rule.' (Charak 1·25-45).

Psychological factors also play important part to inhibit or to increase the appetite. Not only gastric disorders but diseases like blood-pressure and even skin diseases are born due to psychological disturbances. The mind has strong hold on every system and particularly on the digestive system. Itmust be in coloboration with psychological and physiological behaviours of the human beings. For the very reason disciplinary way of living must be observed as it is mentioned in the Sadvritta.

Care of Organs By Various Me.hods :

The fragments of this topic are discussed in the Dincharya etc. However a brief reference will be made here.

The body should be kept in quite working condition to meet the demand of daily repuirements. It has to work for years together without taking repose for a longer time. So to avoid wear and tear, the parts of the body should be maintained well to keep away from the invaders of the illness.

Various means, to protect the organs from diseases, have been suggested in the Ayurvedic texts. But among these, the five sense organs are considered as important. Therefore the care of the five sense organs is discussed at length.

Eyes are to be protected by the application of various kinds of collyriums; nose should be kept free from contamination by instilling medicated oil like Anutail etc., ear drops should be used regularly for the prevention of the ear diseases; teeth and tongue should be made clean by gargles and तैलगण्डूषधारण (mouthful of til oil) should be taken at regular intervals; skin should be kept clean by massage and regular bath. धूम्रपान (Not bidis or cigar smoking), or medicinal herbs and powders used in pipe as smoking should be used to eliminate throat, nasal and respiratory diseases; physical excercise should be done for the maintenance of good health.

Besides it is strongly recommended not to suppress natural urges (न वेगान्धारयेत्) as passing of urine and stools, flatus, semen, sneezing, vomitting, eructation, yawning, hunger, thirst, tears, sleep and deep breath (निःश्वास). (Charak 1-7-3)

Vagabhata advises not only for suppression of the natural urges, but also recommends not to induce these impulses by force. The modern mode of living compels to restrain the natural impulses. Diseases like constipation, gastric disorders, urinany tract

diseases, cold etc may be prevented if the nature is allowed to function in its own way. The natural urges must be attained without shame, fear and any inferiority complex.

Causes of Epidemics and their Preventive Measures :

In certain atmospheric conditions constitutional factors are unable to check the outbreak of the diseases. This state occurs where the outbreak of diseases is so powerful and sudden that the traditional and usual preventing and curing agents become futile. All people with varying constitutions suffer simultaneously from the severe types of diseases and run nearly uniform clinical course. This is called as epidemic and in Ayurved is known as जनपदोद्ध्वंस (Ravage of people of particular area).

It is not clearly understood how the sudden changes in the atmosphere occur. But Acharya Charak has cited very interesting reasons. "Abnormal situation and condition of stars, planets. moon, sun, wind, temperature, seasons and fluctuation in seasons may effect on food grains and herbs. This results in loss of taste, potency, specification of the drug and diet. Consumption of these unpotential and vitiated articles affects the people at large and breaks out epidemics" (Charak 3-3-4)

Circumstances become beyond the control of human beings. Man has limited capacity and at times he fails to avert epidemics. Natural factors like, wind and water in their vitiated condition create cyclone, deluge, etc and affect the people endangering their health Acharya Charaka reveals this in a very vivid manner."

"The deterioration affecting the wind, etc. has its origin in transgression or wrong deeds performed in a former birth or when the ruling authorities of the country, cities, traders, etc. govern the people irresponsibly by unlawful actions, then their subordinates and undersubordinates, the citizens, villagers, as well as those who earn their livlihood by malpractices promote the lawlessness. As a result of this the sinful actions superceed the lawful, right and religious deeds, which ultimately vitiates the natural wind, etc. and do not function in a normal way. It does not rain in a season, water drys up, herbs and botanical kingdom lose their true properties and suffer deterioration. In consequence, the people perish as a result of infectious diseases." (Charak 3 3-19).

To avert the epidemics Ayurved generally suggests performance of holy and religious rituals. But other preventive measures are also suggested along with ritual performance.

"Well before the calamities occur and well before the earth has lost its potency, one should collect the medicinal herbs while yet there is taste, potency, post-digestive effect and specific actions remain unspoiled" (Charaka 3-3-4)

It is also mentioned that a person who has always followed the rules of दिनचर्या, etc. will be saved from the devastation of the epidemics. One who has taken पंचकर्म in the respective season can also refrain from the effect of epidemics. A person also will be able to avert the danger of epidemics who has used Rasayan (Vitalizing medicines).

It appears that the view about epidemics and their preventive measures explained by Ayurved, need no remark. However, it is

thought-provoking concept and probably progress in radiation physics may be able one day to find the value between physical and spiritual universe.

How To Maiatain Old Age Diseaseless

From the dawn of the civilization man is in ever search of some sort of elixir which can prevent old age and decayings. Everybody wishes to live longer, but natural circumstances and social environments are experienced as hindrance. Yet the struggle to conquer the nature is going on.

In the modern age many dreadful diseases are controlled. Mortality rate has been reduced. This has helped for the prolongation of life span. But meri longivity is not enough. Long life without vigour, energy and healthy mind will be a misfor- tune for the individual as well as for the society.

Ayurved has developed special branch of Rasayana and Vajikarana to preserve diseasesless old age. Rasayana maintain the health well and adds more energy. (Charaka 6-1-5).

स्वस्थस्योर्जस्करं यत्तु तद् वृष्यं तत् रसायनम्

Advantages of Rasayana are : prolongs the life span, makes better remembrance, intellect, health, young-age, lusture, makes good appearance and voice, vigour of body and sense organs, respectability amongst the people. (Charaka 6-1-7).

Sage Susbruta and Vagbhatta also hold similar views but both have drawn a line of demarcation, for a person who should and should not use Rasayana. It is suggested that a person who desires to take rasayana should be of pure mind, free from sinful act, he must have control on his sense organs, should not be idle and poor, should be free from bad habits and wrong deeds, and should not be reluctant to medicine. (Sushruta 4-30-3)

It is also advised that one should perform पंचकर्म before he starts Rasayana. Various drugs are suggested to use as Rasayana, depending upon the physical constitution, season and place. आमलक-विडंग-पिप्पली-लशुन-हरीतकी are the prominent ingredients used as Rasayana.

Rasayana is advantageous for wear and tear occuring in old age or due to frequent attacks of diseases. It prevents premature old age, fatigue and senility. Rasayana can play great part as a remedy for prevention of illness. It replenishes lost energy, builds up worn out tissues and creates a new life that can stand firmly against stress and strain through which every individual has to pass.

Swasthavritta and Sadvritta

Man is a biological species. He needs to adjust himself according to his physical environments, and as a social and spiritual class according to his environments in the society he lives. Man in the universe does not live alone. Many natural factors have contributed enormously for the existence of human race. So he has to fulfil the debt which he owes from the nature by giving much for the uplift of all the biological species. This can be done only by observation of moral and ethical code of conducts.

Diseases are not only outbreak of unhealthy state of physical body. Many more factors are responsible which in Ayurved are recognized as आध्यात्मिक and आधिदैविक.

Observation of Sadvritta (Good conducts)

is more essential for understanding and application of the social preventive medicine. By observation of the rules of good conducts one acheives at once both the objects, viz. health and conquest of the senses (Charaka 1-8-18).

Today when we go astray from the view-point of social and moral behaviours, the explanation given by Acharya Charaka is worthy to remember.

How to Maintain Healthy Life and Mind

Human body and mind are intermingled in such a complex way that it is impossible to separate each other. All the pains and mental disorders are the subjects of presence of mind. The mind, according to the Indian philosophy is metaphysical entity.

But its essentiality for the health of human body con not be underestimatep. Hoalth of human beings is the supreme foundation of virtue, wealth, enjoyment and salvation. धर्मार्थकाममोक्षाणाम् आरोग्यमूलमुत्तमम् ।

It is said that healthy mind resides in the healthy body, but on the other hand it can also be said that unhealthy mind may pervert and perish the health. Psychological disorders like strain, stress, worries, fear etc. do harm the mind and create bodily ailments. So the mind should be cultivated in such a fashion that it can resist any kind of hardship. Strongminded persons suffers less than the weak-minded person. Perfect healthy condition is only that when one enjoys health of mind and body, as Sage Sushruta says प्रसन्नात्मेन्द्रियमना: ।

Implementation of Rules is Practicable

After having close scrutiny of the topic discussed above, one can very easily be convinced that the measures for maintenance of health, as laid down in the Ayurvedic texts, are easily practicable. It does not require any special technique, nor does it require much materials.

So far as the drug side of Ayurved is concerned, it largely depends upon the herbs available at door steps and in the near surroundings. Many ingredients, prescribed for routine use are familiar to all and need no expert advice. But sincere efforts and definite deliberations will certainly fetch good fortune and fate.

Conclussion

Ayurved emphasises more on prevention of diseases than curing them. Complete health only can be acquired not merely by physical fitness but by observation of good conducts. One who desires and is inclined for good health, must know his own physical constitution and must know what is wholesome and what is unwholesome in regard to diet, place, time and other environments. Observation of Dincharya, etc, dietetic regulation and good conducts are essential not only for the maintenance of individual health but als for the preservation of social health.

Epidemic is an unexpected natural calamity. Individual efforts to prevent such calamities may be found inadequate. The people at large should strive all together to combat such disaster. Moral and eathical codes, therefore, are interwoven as religion to persuade the people.

Mature judgment, experience, wisdom and discipline come with the advancement of

the age. Old age is crowned with wisdom and matured thinking. Young generation can acquire much from the fountain of old people's wisdom. Hence the diseasesless old age is considered of great importance. Rasayan is meant to replenish lost energy and particularly for the aging people. Observation of good conduct (सद्वृत्त) is a pivot, around which all the social and personal evironments move on. Diseases at times become an off-spring of transgression of good conducts as such it becomes equally important to follow Sadvritta for prevention of diseases. The methods and measures mentioned in the Ayurvedic texts are easy to practise. It does not require expert's guidance nor much money. Everyone can become his own master and physician to enable to put in action the measures laid down in the Ayurvedic scriptures. This will be very helpful for preventive and social medicine.

The Promotion & Development of Traditional Medicine

Report of

W. H. O. Meeting

Introduction

A who Meeting on the Promotion and Development of Traditional Medicine was held in Geneva from 28 November to 2 December, 1977. Dr Ch'en Wen-chieh, Assistant Director-General and Chairman of the Headquarters Working Group on Traditional Medicine, opened the meeting on behalf of the Director—General. He stated that the consultation had been convened in response to the considerable interest evinced in traditional medicine, which had also been expressed in resolution WHO 30.49, adopted by the Thirtieth World Health Assembly in 1977, and in subsequent requests by Member States for technical collaboration in organizing educational and research activities in this field.

The aim of the Meeting was therefore to assemble expert representatives of the major systems of traditional medicine to work together and suggest a plan of action to promote and develop the various aspects of traditional medicine.

The specific objectives were to make practical suggestions on policy guidelines for the provision of materials and techniques, collaboration among different systems of health care, health education of the public, manpower development, organization of health services, the future development of traditional medicine and its utilization, particularly in the national health services, and relevant research.

A major problem for special consideration was the effective collaboration of different paractitioners and their integration into an overall national health care delivery system.

The Meeting then proceeded to discuss the theme : 'Promotion and development of traditional medicine' under the following headings:

Traditional medicine in health care

Reasons for the promotion of traditional medicine.

Utilization of traditional medicine in national health care systems

Integration of traditional medicine and modern medicine

Manpower development for traditional medicine

Research promotion and development in traditional medicine

Recommendations

1. TRADITIONAL MEDICINE IN HEALTH CARE

The Meeting addressed itself to the following questions:

What is traditional medicine ?

What is a health care system ?

How can traditional medicine be linked with health care systems ?

What factors determine the indentification of traditional medicine ?

What kind of policies and practical actions could be adopted to promote traditional medicine ?

1.1, Concepts of traditional medicine and practitioners

1.1.1. Traditional medicine

Reference was made to the definition of traditional medicine already attempted by a group of experts from the African Region, convened by the WHO Regional Office for Africa, that met in Brazzaville in 1976. The definition arrived at by the group of experts was as follows:

"...the sum total of all the knowledge and practises, whether explicable or not, used in diagnosis, prevention and elimination of physical, mental or social imbalance and relying exclusively on practical experience and observation handed down from generation to generation, whether verbally or in writing.

"Traditional medicine might also be considered as a solid amalgamation of dynamic medical know- how and ancestral experience.

"Traditional African medicine might also be considered to be the sum total of practices, measures, ingredients and procedures of all kinds, whether material or not, which from time immemorial had enabled the African to guard against disease, to olleviate his sufferings and to cure himself. "[1]

Traditional practitioners of Ayurveda define life "as the union of body, senses, mind and soul," and in this context consider "positive health as the blending of physical, mental, social, moral and spiritual welfare"[2] The moral and spiritual aspects are here stressed and thus give new dimension to man and the system of medicine by which he maintains his health.

1. 1. 2. The traditional healer.

The African Regional Office expert group also adopted a difinition of the traditional healer, as follows :

"...a person who is recognized by the community in which he lives as competent to provide health care by using vegetable, animaland mineral substances and certain other methods based on the social, cultural and religious background as well as on the knowledge, attitudes and beliefs that are prevalent in the community regarding physical, mental and social well-being and the causation of disease and disability. "[2]

1. 2. Nature, goal and scope of traditional medicine.

The Meeting held that all medicine is modern in so far as it is satisfactorily directed towards the common goal of providing health care, despite the setting in time, place and culture. In this light, it was observed

---

1. AFRO Technical Report series, No. 1, 1976 (African traditional medicine., Report of the Regional Expert Committee), PP. 3-4

2. From : Principles and practice of traditional systems of medicine in India (working paper presented by M, A. Razzack to the Meeting).

2. See footnote 1 on the preceding page.

that the essential differences among the various systems of medicine arise not from the difference in the goal of effects, but rather from the cultures of the peoples who practise the different systems. It was further stated that traditional medicine is nothing new, since it has always been an integral part of all human cultures. However, as traditional medicine in some developing countries has tended to stagnate through not exploiting the rapid discoveries of science and technology for its own development, it has kept a slow pace of change in comparison with medicine as practised in the industrialized countries, which keeps abreast of scientific and technological innovations to the extent that it is often exclusively referred to as modern medicine.

It was observed that many professional health personnel had often tended to regard traditional medicine as a practice on the decline and of no importance, and that this was a serious fallacy in so far as culture itself, of which traditional medicine was an integral part, was neither static nor dead.

Culture was defined generally as the sum total of the life-style, society patterns, beliefs, attitudes and commonly accepted organized ways in which a community attempted to solve its life problems.

Cultural change and development take place with the acquisition of new knowledge or with a change in the surroundings of the people, who need to adopt in order to survive or to achieve a new life equilibrium. In this context of cultural evolution, traditional medicine has always developed and preserved its role of providing health care in all communities.

Because contemporary research has been heavily oriented towards medicinal plants, it was stressed that this tendency must not be allowed to continue to give the impression that traditional medicine was limited to the use of medicinal plants exclusively in the health-giving process. It was therefore necessary to keep in focus the wider scope of traditional medicine as experienced in actual practice in the health care systems of various countries In this way a holistic approach to the study of traditional medicine would be assured and all aspects of research could be covered.

1.3 Some country experiences

In order to substantiate these concepts some country experiences were presented.

1.3.1 SRI LANKA

In Sri Lanka various systems of indigenous medicine are widely practised in rural areas. It was observed that the existence of different systems is conditioned and supported by the vast variation in the ecology of the country and in cultural patterns. The accumulated wisdcm of the people and their experiences constitute the substantive knowledge and skills used in traditional medicine. Over the centuries there has difinitely been some change, albeit gradual.

As a result of the various system of medicine being the major source of health care, there is quite a variety as well as a large number of traditional medicine practitioners at work in the country. Ten thousand practitioners are already registered and 6000 mord are being considered for registration. The therapeutic scope of the practice is wide and includes preventive, curative, and speeialized

aspects. Most of the traditional systems follow the classical pattern of taking a history, determining the etiological factor complex, making a diagnosis, providing appropriate treatment, following up progress, and offering the appropriate rehabilitative measures.

Perhaps what appeared unique to the various systems of medicine was the nature of the prescriptions, which seem to be highly influenced by geographical factors, by local herbs and a hereditary formulary, and by the local cultural concepts and knowledge of the prevaling diseases and health problems.

The traditional system of medicine in Sri Lanka meets the basic health needs of about 70% of the population. Most of the traditional physicians run their dispensaries in their homes; a few are employed by the Government or by local government authorities as specialist in hospitals. Some 80% of patients live within about 10 kilometres of their dispensaries.

1.3.2 SUDAN

The Sudan presentation focused on the psychosocial aspects of traditional medicine. It was reported that traditional medicine is sosuccessful in the Sudan that it is extensively used in the control of neuroses and alcoholism, and as such possesses a potential for research on the treatment and rehabilitation of neurotic reactions, alcoholism and drug dependence. Traditional medicine presents several valuable solutions to the mangement of culturally linked diseases and other health problems, and the reason for this spectacular success is that it is an integral part of the people's culture and they have deep confidence in it. The methods and techniques employed are at present closely guarded secrets.

1.3.3 EGYPT

Some valuable discoveries relating to medicinal plant research were reported.

Ammimajus—A common plant in the fields and waste lands of Egypt—has been shown to contain ammoidin (xantho toxin), ammidin (imperatorin), and majudin (bergatene). The extracts of this plant have been shown to induce pigmentation in idiopathic leukoderma (vitiligo). Ammi visnaga—another perennial plant, used in traditional medicine by the ancient Egyptians in the form of a decoction and as a diuretic to treat renal colic—was recently analysed and found to contain the two principles khellin and visnagin. Khellin is useful in the treatment of angina pectoris and whooping cough and in the relief of ureteric and gallbladder spasms. It has been found to contain anthelmintic, antianaphylatic, antiatherosclerotic, antidiabetic and antilcerogenic properties.

The seeds of Nigella sativa Linna.—known in Arabic as habbetel barakah—are used in folk medicine by the Egyptian people as a diuretic and as a carminative, and the oil expressed frome them is used in the treatment of asthma, respiratory distress, and coughs. The active principle, nigellone, has been isolated from the volatile oil fraction and is useful for the treatment of bronchial asthma.

Much research in traditional medicinal plants is widely undertaken in Egypt and the following plants are currently under investigation : Urginea maritima, phytolacca, Euphorbia sp., Glycrrhiza glabra, Cynara scoly-

mus, and Solaman laciniatum. The last-named plant has already been shown to contain alkamines which are steroidal in nature and which can be converted into steroidal hormones. This plant is the main source of solasodine, which is being isolated industrially for the preparation of pregnadienone acetate and used for further synthesis of various hormones.

This research activity in Egypt is undertaken by multidisciplinary teams, including pharacologists, chemists, traditional healers, botanists, and clinicians, and is carried out in the following institutions : departments of pharmacognosy, chemistry, and pharmacology in the different universities; national research centres (Pharmacutical sciences, natural products and pharmacology laboratories); desert insttutes; and the horticultural department of the Ministry of Agriculture.

The integration of traditional and modern medicine in the broad fields of research at the university and industrial levels was noted; likewise the application of modern science and technology to traditional medicine.

1.3.4 GHANA

Reference was made to similar research work in Ghana but mainly in the filed of clinical drug trials. According to Oku Ampofo, Director of the Centre for Scientific Research into plant medicine, Mampong—Akwapim, Ghana.

"...the leaves of Elaeophorbia drupifera and Hilleria latifolla, taken in combination with a palm oil soup preparation, act as a filaricide in guinea-worm infestation...Four traditional tretments of herpes zoster are partjcularly interesting. The local application of the flowers of Hoslundla opposita and red cola nut, chewed together and sprayed on the lesion twice a day, often heals it within a fortnight. The local application of guava leaves, ground into paste with kaolin or white clay and piper guineense, twice a day heals infeetion in about ten days...."

1.3.5 I NDIA.

India provided another example of the role of traditional medicine in health care systems As in Shri Lanka, the integration of traditional medicine into the public heath service systems is advancing satisfactorily. Ayurveda, Siddha, Unani and Yoga are now widely adopted through government policy and included in the cursricula of several institutions of learning, including universities, colleges of medicine, and secondary and primary schools, as well as in centres for the training of diverse types of health personnel. There are abut 5000000/ practitioners of traditional medicine in India, and their qualifications range from university doctorates, through certificates awarded in private schools, to skills and knowledge aequired after several years of apprenticeship to established practitioners. There are 108 colleges of indigenous medicine, and a statutory National Central Council directs their activities, controles standards of training, education and practice, and awards recognition status, which is necessary for employmen in the public health services.

One major advance in the integration of traditional medicine was the passage of the Drug Act of 1940, which also covers traditional medicaments, demands licensure for practice, and assures the safety and control of drugs produced in India. This integration of the various systems of medicine-indigenous and otherwise---is already institutionalized at the national and state levels, in universities and other training centers, and in the utilization of all types of personnel in health care delivery systems in the rural areas, and in drug manufacturing establishments.

[To the continued]

1 Plants that heal. World Health, Novmber, 1977, p. 38.

जिसकी इन दिनों बड़ी चर्चा है

जनपदोध्वंसी सन्निपातिक वातव्याधि

(मारक संक्रामक रोग एनसेफलाइटिस पर आयुर्वेदीय दृष्टि से विचार)

प्रो० वेणी माधव अश्वनी कुमार शास्त्री
एसोसियेट प्रोफेसर,
शासकीय आयुर्वेद महाविद्यालय, ग्वालियर (म० प्र०)

रोग-परिचय:

आयुर्वेदीय विकृतिविज्ञान (पैथोजेनेसिस) की दृष्टि से यह रोग सन्निपात जन्य वातव्याधि एवं ज्वर वर्ग में समाविष्ट होता है। रोग की तीव्र प्रसरणशीलता एवं शरीर के महत्वपूर्ण अंग (वाइटल आर्गन) मस्तिष्क में विकृति करने के स्वभाव के आधार पर यह रोग सन्निपात-जन्य वातप्रधान व्याधि स्वीकृत किया जा सकता है। महर्षि चरक द्वारा निरूपित रोग से प्राप्ति विज्ञान (पैथालाजीकल कन्सेप्ट आफ डिजीज) के अनुसार निम्न रोगावस्थाओं से इसका सामंजस्य किया जा सकता हैं :

१. वातपित्तोल्वण मन्दकफ सन्निपातज्वर।
२. वातोल्वण समपित्तकफ सन्निपातज्वर।
३. हीनपित्त मध्यकफ वाताधिक सन्निपातज्वर।
४. हीनपित्त वातमध्य श्लैष्माधिक सन्निपात ज्वर।

(प्रमाण—च० सू० १७।४१-४४ टीका)

उक्त ज्वरावस्था के रोगों के साथ ही रोग के वर्तमान महामारी (जनपदोध्वंसी) रूप के आधार पर ज्वर के साथ-साथ वातव्याधि वर्ग (नाड़ी मण्डल एवं मस्तिष्क के रोग) के कुछ रोगों की विकृति भी इस रोग में समाविष्ट होती है। वातव्याधि वर्ग के जो रोग इस महामारी में सम्मिलित होते हैं उनके नाम निम्न प्रकार हैं :

(१) मन्यास्तम्भ
(२) दण्डक
(३) उदानावृत्त प्राणवायु
(४) पितावृत उदानवायु
(५) पित्तावृत व्यानवायु
(६) प्राणावृत उदानवायु
(७) समानावृत व्यानवायु (च० चि० २८।)

रोग कारण मीमांसा—(एक्सट्रेन्जिक काजेज आफ डिजीज)।

वाह्य कारण—आयुर्वेद शास्त्रानुसार संक्रामक रोगों की उत्पति जनपदोध्वंस सिद्धांत के अनुसार होती है। जब वाह्य वातावरण के अभिन्न अंग वायु-उदक (जल)—देश (रोगी शरीर एवं भूमि) काल (ऋतु एवं, रोगी की वय:) विकृति होती है तभी महामारी वर्ग की व्याधि उत्पन्न होती है। इसी क्रमानुसार बाढ़ एवं वर्षा की भी अधिकता से यह प्रकोप हुआ है। उक्त वातावरण विकृति का प्रभाव समूह पर होता है। अत: महामारी रूप यह घातक व्याधि शरीर की रोगक्षमता (इम्यूनिटी) के दुर्बल होने के कारण उत्पन्न होती है। अतिवृद्धि एवं बाढ़ के कारण पेय जलदुष्टि-खाद्यान्नदुष्टि-तेल मे मिलावट एवं प्रथम रोग प्रसार क्षेत्र में प्रचलित अन्नपान भी इसके लिए उत्तरदायी हैं। ऐसे वातावरण से आयुर्वेद सिद्धांतानुसार वात-पित्त-कफ शरीर धारक दोषों का प्रकोप रोगोत्पत्ति मारक प्रभाव भी करता है। (च० वि० अ० ३।)

आभ्यंतर कारण—(इन्ट्रिन्जिक काजेज) वातनाड़ी संस्थान एवं मस्तिष्क (नर्वससिस्टम) एवं (ब्रेन) में विकृति कर यह रोग फैला हुआ है। इसी तरह की विकृति की उत्पत्ति के लिए बाह्यवातावरण के कारण दूषित शरीर में रहने वाले तथा शरीर की सभी जीवनीय क्रियाओं को नियंत्रित करने वाले तीन दोष वात-पित्त-कफ दूषित होकर रोग उत्पन्न करते हैं। इनमें प्रधान दोष वात है। क्योंकि वातदोष से ही नाड़ी संस्थान की व्याधियाँ एवं मस्तिष्क की गंभीर मारक व्यधियाँ बात प्रकोप की मात्रा (डिग्री) के आधार पर उत्पन्न होती हैं। महर्षि चरक ने चरक संहिता के सिद्धिस्थान अध्याय ९।६ पर शिरोमर्म (ब्रेन इन्क्लूडिंग नर्वस् सिस्टिम) के ऊपर वात-पित्त-कफ तीनों दोषों द्वारा आघात (डैमेज) होने पर तथा बाह्य कारणों (ऊपर लिखे) से गंभीर मारक एवं असाध्य परिणाम वाली निम्न व्याधियाँ उत्पन्न होती है।

१. ग्रीवा स्तंभ (नैक रेजिडिटी)
२. अर्दित रोग (फेशियल पेरालाइसिस)
३. नेत्र चालन (एब्नार्मल मूव्हमेन्टस् आफ आई)
४. मोह (कौमा)
५. ऐंठन (क्रैम्प)
६. चेष्टानाश (अन्कोंशशनैस)
७. हनुस्तम्भ (लाक जॉ)
८. वाणीस्तम्भ (लास आफ स्पीच)
९. नेत्र निमीलन (आइलिड ड्राप)
१०. कम्प (क्लोनिक स्पाज्म)
११. जंभाई (यॉनिंग)
१२. लालास्राव (सलाइवेशन)
१३. स्वरनाश (लास आफ वॉयस)
१४. मुखवक्रता (फेशियल पाल्सी)

उक्त व्याधियों अथवा लक्षणों में वर्तमान महामारी की पूर्ण लक्षणावली समाविष्ट हो जाती है। (च०सि०९)

रोग कारण एवं संप्राप्ति—(इडियो पैथालाजी आफ डिजीज)

बाह्य वातावरण के दूषण से दूषित शरीर धारक वात प्रधान तथा पित्त एवं कफ रोग मुख्य रूप से जब विभिन्न व्यक्तियों के शरीर में विकृति उत्पन्न करता है तब रोग का आश्रय विशेष रूप से शरीर में निरंतर वहनशील रस धातु (आधुनिक रक्त) माँस धातु मांस धातु (मस्क्युलर टिश्यू), मज्जधातु (मैरो) तथा वातसंस्थान (नाड़ी मण्डल मस्तिष्क एव सुषुम्ना नाड़ी सहित) (ब्रेन एन्ड होल नर्वस् सिस्टम विथ स्पाइनल कॉर्ड एन्ड फ्लूइड) दूषित होते हैं। इनकी दुष्टि मुख्य रूप से होने पर सहयोगी शरीर अंग एवं संस्थान जिनमें स्वेद वह स्रोतस (ज्वर तीव्रता का कारण) चेतना वह स्रोतस (बेहोशी के लिए कारण भी दूषित होते हैं। मस्तिष्क के विकार के कारण ही तीव्र शिरः पीड़ा होती है। विकृति विज्ञानानुसार जब पित्त क्षीण हो तथा श्लेष्मा एवं वायु वृद्ध हों तो स्तम्भ (रेजिडिटी) उत्पन्न होती है। जब बात पित्त क्षीण हों तथा श्लेष्मा वृद्ध हो तो चेष्टानाश (लास आफ फॉकान्स) मूर्च्छा (कौमा) वाग्संग (लॉस आफ स्पीच) उत्पन्न होती है। जब पित्त एवं श्लेष्मा क्षीण हों तथा वायु वृद्ध हो तो शरीर के धारक मर्मस्थल जैसे हृदय-मस्तिष्क एवं वृक्क तथा यकृत् में गंभीर विकृति होने से संज्ञाजन्य पाश (अन्कांशसनैस) कम्प (ट्रेमर्स) तथा आक्षेप (कन्वल्सन्स) तथा मृत्यु भी होती है।(च०सू०१७)

इसी विकृति की उत्पत्ति के प्रसंग में गम्भीर अंगों को हानि पहुंचाने वाली अवस्था के लिए वायुदोष के पांच भेद प्राणवायु, उदानवायु, समानवायु, व्यानवायु एवं अपानवायु की स्वतंत्र एवं पित्त एवं कफ के संसर्ग से अथवा एक दूसरे वायुभेद के संसर्ग से गंभीर विकृतियां जैसे—

१. गात्र विक्षेप (कन्वल्सन्स)
२. संग (लॉस आफ फंक्शन)
३. संताप (हायपरपाइरेक्सिया)
४. वेदना (ऐक्यूट पेन)
५. शिरोग्रह (हैड रिजिडिटी)
६. हृद्रोग (हार्ट डिजीज)
७. मूर्च्छा (कौमा)
८. तन्द्रा (लैसीय्यूड)
९. प्रलाप (डिलेरियम)
१०. ओजक्षय (लास आफ इक्यूनिटी फैक्टर)
११. बलक्षय (लास आफ वाइटैलिटी)(च०चि० २८)

उत्पन्न होते हैं। इन सभी के साथ-साथ रस-धातु--मज्ज धातु एव औजोधातु (जो शरीर की व्याधि-क्षमता है) का क्षय हो जाता है। परिणामतः रोग मारक-गंभीर एवं महामारी रूप में संक्रामक बनकर बिनाशकारी आशु-प्रभावी हो जाता है। मस्तिष्क में शोथ एवं कोथ (नेक्रोसिस) होकर रोग आशुमारक हो जाता है।

चिकित्सा सिद्धान्त : (प्रिंसीपल आफ ट्रीटमेन्ट)

इस रोग की उत्पत्ति में कारणभूत हेतुओं, रोग उत्पत्ति का स्थान, रोग कारण रूप शरीर के अन्तर हेतुओं वात पित्त कफ दोष रस तथा मज्ज धातु विकार तथा व्याधि के शीघ्र प्रभावकारी लक्षण जैसे—तीव्र ज्वर, कंपकपी, तेज सिरदर्द, वमन, गर्दन में जकड़ाहट, लकवा, मूर्च्छा तथा बालकों में दौरे के साथ झटके (आक्षेप) के आधार पर ऐसी औषध एवं आहार-विहार की आवश्यकता है। जो तीव्र प्रभावकारी एवं मस्तिष्क एवं नाड़ी संस्थान पर शीघ्र कार्यकर इस व्याधि के प्रभाव से होने वाले शोथ एवं कोथ (नेक्रोसिस, को रोक दे। इसी कारण रोग से मृत्यु होती है। अतः नीचे आयुर्वेद शास्त्रोक्त द्रव्य गुणानुसार (फार्माकालोजिकली) त्वरित क्रियाकारी एकोषध (सिंगल ड्रग) तथा अनेक प्रकार के मिश्रण योग

(कम्पाउन्डस्) वैद्य जगत के लाभार्थ प्रस्तुत किये हैं। चूंकि इस रोग का आधुनिक कोई चिकित्सा विज्ञान अभी तक निश्चित नहीं है, अतः आयुर्वेदीय चिकित्सा सिद्धांतानुसार प्रभाव एवं औषध गुणवत्ता जनकल्याण हेतु प्रकट करने का समुचित अवसर है। नीचे शहरी क्षेत्र से लेकर सुदूर ग्रामीण अंचल तक प्राप्त होने वाली विख्यात आयुर्वेदिक औषधियों के एकौषध प्रयोग लिखे हैं। इनका प्रयोग सामान्यतः यथालाभ करना चाहिये तथा लक्षण विशेष के अनुसार चिकित्सक को स्वबुद्धि से ऊहापोह करना अपेक्षित है। इन ग्रन्थों की अधिक जानकारी हेतु द्रव्यगुण ग्रंथ देखें।

१. **कस्तूरी**—३२ मि० ग्रा० से ६५ मि० ग्रा० चूर्ण मात्रा।

दिन में अनेक बार जल से या नागरपान या तुलसी के रस से।

२. **गौरोचन**—चूर्ण मात्रा ३२ मि० ग्रा० से ६५ मि० ग्रा०। दिन में अनेक बार ब्राह्मी क्वाथ से।

३. **अम्बर**—चूर्ण मात्रा ३२ मि० ग्रा० से ६५ मि० ग्राम। दिन में कई बार जटामांसी क्वाथ से।

४. **शुद्ध कुचिला**—चूर्ण मात्रा ३२ मि० ग्राम से ६५ मि० ग्राम दिन में ३-४ बार तगरादि क्वाथ से।

५. **जदवार (निर्विषी)**—चूर्ण मात्रा १२५ मि० ग्रा० से १५० मि० ग्राम। तीन-चार बार अर्क दशमूल से।

६. **केसर**—चूर्ण मात्रा १२५ मि० ग्राम से २५० मि० ग्राम। ३-४ बार अर्क वेद मुश्क से।

७. **अकरकरा**—चूर्ण मात्रा १२५ मि० ग्राम। दिन में २-३ बार शहद से।

८. **कूठ**—चूर्ण मात्रा १२५ मि० ग्राम से २५० मि० ग्राम। ३-४ बार शहद से।

९. **क्षवक (नकछिकनी)**—चूर्ण मात्रा १२५ मि० ग्राम से २५० मि० ग्राम। तीन-चार बार दशमूल क्वाथ से।

१०. **पारसीक यवानी**—चूर्ण मात्रा २५० मि० ग्राम से ५०० मि० ग्राम। दो-तीन बार गर्म जल से।

११. **शुद्धवत्सनाभ**—चूर्ण मात्रा ३२ मि० ग्राम से ६५ मि० ग्राम। ३-४ बार तुलसी पत्र रस से।

१२. **जटामांसी**—चूर्ण मात्रा २५० से ५०० मि० ग्राम क्वाथ मात्रा १५ मि० ली० से ३० मि० ली०। दिन में कई बार।

१३. **तगर**—क्वाथ मात्रा १५ मि० ली० से ३० मि० ली०। कई बार।

१४. **ब्राह्मी मण्डूकपर्णी-शंखपुष्पी, लताकस्तूरी**—मिलाकर क्वाथ मात्रा १५ एम०एल० से ३० एम०एल०।

१५. **दशमूलक्वाथ**—क्वाथ मात्रा १५ एम० एल० से ३० एम० एल० दो तीन बार।

१६. **कौंच के बीज**—क्वाथ मात्रा १५ एम० एल० से ३० एम० एल० दो-तीन बार।

१७. **हींग शुद्ध**—चूर्ण मात्रा ३२ मि० ग्राम से ६५ मि० ग्राम दो-तीन बार गर्म जल से।

१८. **रास्ना**—क्वाथ मात्रा १५ से ३० एम० एल० तीन बार।

१९. **बला**—मूल क्वाथ १५ से ३० एम० एल० ३ बार।

२०. **असगंध**—क्वाथ १५ से ३० एम०एल० ३ बार।

२१. **लहसुन**—स्वरस ५ से २० बिन्दु २-३ बार।

२२. **त्रिकुट**—चूर्ण १२५ से २५० मि० ग्राम २-३ बार दशमूल क्वाथ से।

२३. **छोटी इलायची**—चूर्ण मात्रा १२५ से २५० मि० ग्राम ३-४ बार शहद से।

२४ **हरमल बीज**—चूर्ण मात्रा २५० से ५०० मि० ग्राम २-३ बार दशमूल क्वाथ से।

२५. **तुम्बरू (तेजबल)**—क्वाथ मात्रा १० से २० मि० ली० २-३ बार।

२६. **तुलसी**—पत्र स्वरस ५ से १० एम० एल० कई बार।

२७. **बर्बरी (बनतुलसी)**—पत्र स्वरस ५ से १० एम० एल० ३-४ बार।

२८. **उस्तखद्दूस**—क्वाथ मात्रा २ से ४ एम० एल० कई बार।

२९ **लवंग**—चूर्ण मात्रा १२५ से २५० मिली ग्राम कई बार गरम जल से।

३०. **अजगंधा (हुरहुर)**—स्वरस मात्रा ५ से १० एम० एल० २-३ बार।

इन एकौषध प्रयोगों के अतिरिक्त वर्तमान में औषध निर्माताओं द्वारा बाजार में उपलब्ध नीचे लिखे योग भी आवश्यकता एवं शीघ्र फलप्रद होने के साथ-साथ प्रयोग किये जा सकते है :

१. **वृहत कस्तूरी भैरव रस**—मात्रा १२५ से २५० मि० ग्राम कई बार आवश्यकतानुसार।

२. लघु कस्तूरी भैरव रस—मात्रा १२५ से २५० मि० ग्राम कई बार आवश्यकतानुसार।

३. बृहत्वातचिन्तामणि रस—मात्रा १२५ से २५० मिली ग्राम २-३ बार।

४ स्वर्णमुक्तादि वटी—मात्रा १२५ से २५० मि०ग्राम ३-४ बार।

५. वातकुलान्तक रस—मात्रा १२५ से २५० मि०ग्राम ४ से ६ बार।

६. कस्तूरी भूषण रस—मात्रा १२५ मि० ग्राम ३-४ बार।

७. हिंगुकपूरवटी—मात्रा १२५ से २५० मि० ग्राम ३-४ बार।

८. जवाहर मोहरा—मात्रा ६५ से १२५ मि० ग्रा० ३-४ बार।

९. मुक्तापिष्टी—मात्रा ६५ से १२५ मि० ग्रा० ३-४ बार।

१०. स्वर्णसूतशेखर रस—मात्रा १२५ से २५० मि० ग्रा० ३-४ बार।

११. कुपीलुवटी—मात्रा ६५ से १२५ मि० ग्रा० ३-४ बार या अधिक।

१२. अमरसुन्दरी रस—मात्रा १२५ से २५० मि० ग्रा० ३ ४ बार।

१३. ब्राह्मीवटी स्वर्ण युक्त—मात्रा १२५ से २५० मि० ग्रा० ३-४ बार।

उक्त औषध मात्राएं पूर्ण वयस्क व्यक्ति के लिए हैं। बालकों में अवस्थानुसार प्रयोग करना चाहिए तथा अनुपान रूप में तगरादि क्वाथ तथा मांस्यादि क्वाथ प्रयोग करना चाहिए। उक्त सभी औषधियाँ एक या कई मिला कर रोग लक्षणों की विशेषता अथवा रोग गम्भीरतानुसार प्रयोग की जा सकती है। रोग की चिकित्सा आयुर्वेद द्वारा ही सम्भावित है क्योंकि आधुनिक कोई चिकित्सा नहीं है। इसीलिए मात्र कुछ लिखने के स्थान पर पूर्णत: आयुर्वेद के व्याधि एवं चिकित्सा सिद्धान्त के अनुसार इस महामारी का स्वरूप मीमांसा-सहित विज्ञान जनसाधारण एवं आयुर्वेदीय चिकित्सकों, महाविद्यालयों के काय चिकित्सकों के ज्ञानार्थ प्रस्तुत किया है। ऊपर रोग प्रशमन चिकित्सा अपने पारिवारिक ज्ञानानुभव एवं शास्त्र सिद्धान्तानुसार दी गई है। नीचे विशेष प्रतिबन्धन चिकित्सा दी जा रही है जिसे आम जनता अपना कर रोग-भय से सुरक्षित रह सकती है।

प्रतिबंधन चिकित्सा (प्रिव्हेन्टिव ट्रीटमेंट)

इस सिद्धांत के अनुसार रोग के जनपदोध्वंसी (एपीडैमिक) कारणों को दूर करना प्रथम आवश्यकता इनमें प्रथम—

१. वायु की शुद्धि के लिए सुगंधित धूम (सुदर्शन धूप· गुग्गुल धूप लोवान धूप) करें।
२ जल शुद्धि के लिए जल को उबालकर छानकर पीवें।
३. देश शुद्धि के लिए गंदे पानी एवं कीचड़ के गड्ढों में कीटनाशक छिड़काव तथा मच्छरों के स्थानों की सफाई, कूड़े करकट के ढेरों का दाह।
४. काल शुद्धि के लिए ऋतु अनुकूल पथ्याहार एवं विहार।

सामान्य उपाय

१. नित्य ७ पत्ते तुलसी ३, काली मिर्च चबायें प्रातः।
२. तुलसी की चाय पीवें।
३. चाय में दालचीनी, बड़ी इलायची, सोंठ का चूर्ण डाल कर पीवें।
४. केशर का प्रयोग दूध-चाय या पान में करें।
५. हरी सब्जियों को बाजार से लाकर उबले जल से या पोटाश परमेंगनेट के जल से धोकर सेवन करें।
६. घर के फ्रिज को बन्द रखें।
७. बासी भोजन का सेवन न करें।
८. बाजार के खाद्य पदार्थ विशेषकर चाट, कटेफल, गन्ने का रस एवं गीली मिठाई सेवन न करें।
९. आईसक्रीम न लें।
१०. घर में धूप लगावें।

आयुर्वेद सिद्धान्तानुसार इस रोग की यथासंभव पूर्ण जानकारी एवं पूर्ण चिकित्सा इस संक्षिप्त लेख में देने की प्रथम बार चेष्टा की गई है। जन साधारण इससे लाभान्वित होंगे तथा आयुर्वेदज्ञ इसे अपनाकर अनुभव प्राप्त कर हमें लिखेंगे तो इस रोग को आलेख बनाने में मदद मिल सकेगी।

सामयिक चर्चाएँ

फूजी गुरुजी नेहरू पुरस्कार से सम्मानित

अन्तर्राष्ट्रीय परिज्ञान के लिये इस वर्ष का जवाहर लाल नेहरू पुरस्कार परम श्रद्धेय निकिदात्सू फूजी को मिला है, जिन्होंने गान्धी जी की विचारधारा का प्रचार जापान में किया है और जिन्होंने विश्वशान्ति एवं भ्रातृत्व के लिये काम किया है।

श्रद्धेय फूजी जो इस समय ९१ वर्ष के हैं, जापान भारत सर्वोदय मित्र संघ के सभापति हैं। गान्धी जी की विचारधारा को प्रचार-प्रसार का रूप देने के अतिरिक्त यह संस्था "सर्वोदय" नामक एक मासिक पत्रिका भी प्रकाशित करती है।

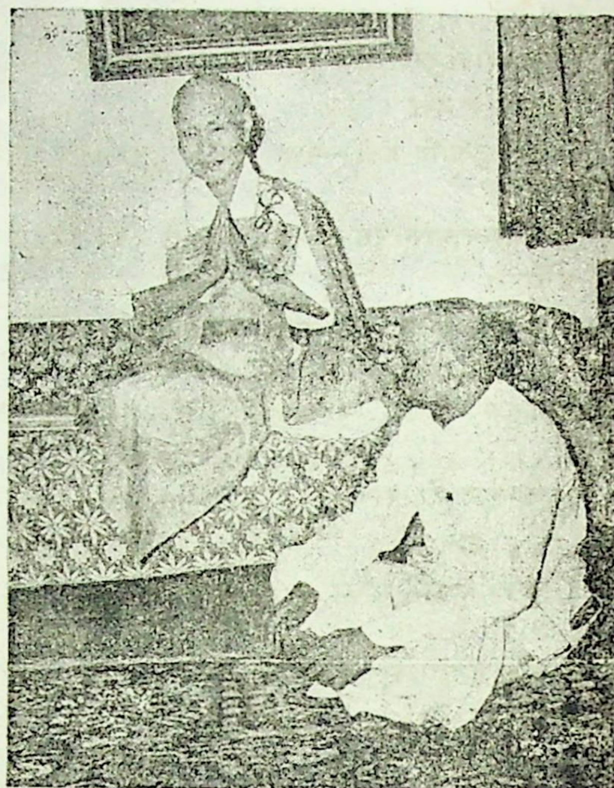
उप-राष्ट्रपति श्रीमान् बी० डी० जत्ती ने, जिन्होंने पुरस्कार की घोषणा की, कहा कि श्रद्धेय फूजी से कोलम्बो में सम्पर्क स्थापित किया गया और उन्होंने अपनी सम्मति दे दी।

श्रीमान् जत्ती ने आगे कहा कि अपने दीर्घकालीन जीवन में श्रद्धेय फूजी ने बड़े ही त्याग एवं स्वार्थ से रहित होकर विश्वशांति, निरस्त्रीकरण एवं मानवों के बीच सद्भावना के स्थापन हेतु काम किया है जो स्वर्गीय जवाहर लाल नेहरू का प्रिय विषय था।

यह पुरस्कार का १४वां वर्ष है और इसके अन्तर्गत १ लाख का नगद पुरस्कार एवं एक मानपत्र है। यह एक या दो महीने में श्रद्धेय फूजी को समर्पित कर दिया जायगा।

इससे पहले यह पुरस्कार यू थाँ, स्व० मार्टिन लूथर किंग, खान अब्दुल गफ्फार खाँ, यहूदी मेजुद्दीन, मदर टरेसा, केन्नेथ कौंडा, जोसिप ब्रौज टीटो, एन्ड्री मालरौ, जूलियस न्येरेरे, रौल प्रेविस्क, जोनस सल्क जिउसेप्पे टुकी एवं तुलसी मेहर जी श्रेष्ठ को दिया गया था।

इस पुरस्कार की व्यवस्था इण्डियन काउन्सिल फार कल्चरल रिलेशन्स के द्वारा की जाती है। प्रति वर्ष



पुरस्कार देने योग्य व्यक्ति का चयन विशिष्ट पंचों के द्वारा, जिसमें उपराष्ट्रपति भी शामिल होते हैं, किया जाता है।

वर्तमान वर्ष के पंचों में श्रीमान् जत्ती, न्यायाधीश वाई० भी० चन्द्रचूड़, न्यायाधीश ओबुल रेड्डी, डॉ० मालकोम आडीसेसिया, श्रीमान् एम० चलपति राउ, श्रीमान् बी० के० नेहरू, श्रीमती अरुणा आसफ अली एवं श्रीमान् जे० एन० दीक्षित के नाम उल्लेखनीय हैं।

अपने वक्तव्य में श्रीमान् जत्ती ने कहा कि श्रद्धेय फूजी ने अपना कार्य क्यूशू (जापान) के अन्तर्गत सकनाशी नामक एक छोटे से गाँव में प्रारम्भ किया था और शान्ति तथा आध्यात्मिक उपलब्धियों का सन्देश एशियाई महादेश से यूरोप एवं उत्तरी अमेरिका तक भेजा था। उनके त्याग और साहस का परिचय इस बात से होता है कि उन्होंने प्रथम विश्वयुद्ध के बाद एवं द्वितीय विश्वयुद्ध के समय राजनीति में जो होड़ मची हुई थी और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में जो तनाव आ गया था उसकी उन्होंने भर्त्सना की तथा कोरिया, चीन एवं मंचूरिया में पूर्ण शांति का अथक प्रयत्न किया।

नेपाल आयुर्वेद के विकास के लिए भारत से सहयोग लेने को इच्छुक

श्री वेदानन्द झा, (भारत स्थित नेपाल के राजदूत)

नयी दिल्ली : नेपाल के राजदूत श्री वेदानन्द झा ने कहा कि नेपाल अपने अधिराज्य में आयुर्वेद के विकास में भारत से पूरा सहयोग लेने का इच्छुक हैं, खासकर चिकित्सा-पद्धति को विकसित करने और औषधियों के निर्माण-कार्य में प्रधान मन्त्री श्री मोरारजी देसाई ने कहा कि जो लोग मिश्रित चिकित्सा-पद्धति के पक्षधर हैं वो आयुर्वेद को नुकसान पहुंचा रहे हैं। और आयुर्वेद का विकास केवल आयुर्वेद की शुद्ध पद्धति द्वारा ही सम्भव है।

प्रधान मन्त्री यहां धन्वन्तरि-जयन्ती के उपलक्ष में आयोजित वृक्षारोपण-समारोह के अवसर पर बोल रहे थे। उन्होंने बताया कि प्रकृति में इतने तत्व हैं कि कोई भी ऐसी बीमारी नहीं है जिसका इलाज आयुर्वेद-पद्धति से न हो सके। लेकिन इसके लिए वैद्यों की साधना की जरूरत है।

प्रधान मन्त्री ने कहा कि आयुर्वेद का उत्थान तो स्वयं आयुर्वेद के ज्ञाता ही करेंगे सरकार तो केवल उनके बीच आने वाली बाधाएं ही हटा सकती है।

समारोह की अध्यक्षता कर रहे वैद्यराज पंडित जगदीश प्रसाद शर्मा ने प्रधान मन्त्री को बताया कि परिषद पांच योजनाएं मद्य-निषेध, परिवार कल्याण, वृक्षारोपण, श्रमदान और गरीबों के लिए आयुर्वेदिक निःशुल्क चिकित्सा प्रस्तुत कर रही है। इसके लिए परिषद कृत-संकल्प है।

वैद्य परिषद द्वारा आयोजित इस समारोह में नेपाल के राजदूत श्री वेदानन्द झा भी शामिल थे।

श्री झा ने कहा कि आयुर्वेद के विकास के लिए नेपाल भारत से पूरा सहयोग लेना चाहता है। नेपाल में औषधि के हेतु जड़ी-बूटियों की कमी नहीं है।

धन्वन्तरि जयन्ती-महोत्सव

बैद्यनाथ के पटना-केन्द्र में जयंती-महोत्सव

इस वर्ष गत कार्तिक कृष्ण त्रयोदशी संवत् २०३५ वि. (दिनांक २९ अक्टूबर, १९७८) को आयुर्वेद के आदि प्रवर्त्तक, आरोग्य देवता धन्वन्तरि महाराज का जयन्ती-महोत्सव श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के पटना निर्माण-केन्द्र में अत्यन्त उल्लास एवं उत्साहपूर्ण वातावरण में मनाया गया। (स्मरण रहे कि गत वर्ष प्रतिष्ठान में उत्पन्न श्रमिक अशांति के कारण 'भवन' द्वारा धन्वन्तरि महोत्सव का आयोजन नहीं हो सका था) समारोह का उद्घाटन बिहार के राज्यपाल महामहिम श्री जगन्नाथ कौशल ने किया—और समारोह की अध्यक्षता ज्योतिषाचार्य पं० विष्णुकान्त झा ने की। इस अवसर पर नगर के सुख्यात आयुर्वेदज्ञों, सम्भ्रान्त नागरिकों, सुप्रसिद्ध शिक्षाविदों, पत्रकारों एव 'भवन' के शुभेच्छुओं की उपस्थिति समारोह में चार चाँद लगा रही थी। सभा-मण्डप विद्युत प्रकाश से पूर्ण आलोकित था। सर्वश्री रमाकान्त शर्मा एवं प्रमोदकुमार शर्मा द्वारा विधिवत् धन्वन्तरि-पूजन-अर्चन के बाद, ठीक निर्धारित समय (४-३० बजे) पर राज्यपाल की कार 'भवन' के प्रांगण में रेंगती हुई दिखायी दी। 'भवन की ओर से संयुक्त प्रबन्ध-निदेशक, आयुर्वेद चक्रवर्ती पं० दुर्गा प्र० शर्मा की अनुपस्थिति में (श्री शर्मा विदेश यात्रा पर थे) उनके सुपुत्र श्री प्रमोद कुमार शर्मा ने राज्यपाल महोदय का हार्दिक स्वागत प्रतिष्ठान के वरिष्ठ अधिकारियों के साथ किया और उन्हें सभा-मण्डप में सादर ले आये। मंगलाचरण के साथ कार्यवाही का श्रीगणेश हुआ। तत्पश्चात् सर्वश्री रमाकान्त शर्मा एवं प्रमोद कुमार शर्मा द्वारा समारोह के उदघाटनकर्त्ता महामहिम राज्यपाल महोदय को माल्यार्पण किया गया।

स्वागत-भाषण

तत्पश्चात् 'सचित्र आयुर्वेद' के सम्पादक श्रीकान्त शास्त्री ने बैद्यनाथ प्रतिष्ठान के प्रबन्ध-निदेशक द्वय वैद्य श्री रामनारायण शर्मा और पं० हजारीलाल शर्मा की ओर से स्वागत-भाषण पढ़ा। स्वागत-भाषण में श्री बैद्यनाथ भवन की प्रगति तथा आयुर्वेद-सम्बन्धी विभिन्न समस्याओं पर सम्यकरुपेण प्रकाश डाला गया था।

स्वागत-भाषण में आगे कहा गया कि 'आयुर्वेद' विश्व का प्राचीनतम एवं परम वैज्ञानिक आरोग्य-शास्त्र है, और इसके प्रवर्त्तक श्री धन्वन्तरि का जयन्ती-समारोह बैद्यनाथ प्रतिष्ठान की प्रेरणा एवं सद्-प्रयत्न से यह आज भारतव्यापी हो गया है। पिछले चार दशकों से 'बैद्यनाथ' प्रतिष्ठान द्वारा धन्वन्तरि-जयन्ती समारोह आयोजित होता आ रहा है—और आप महानुभावों एवं आयुर्वेद-प्रेमियों की अनुकम्पा से यह प्रतिष्ठान भी मानव सेवा के क्षेत्र में उत्तरोत्तर दृढ़ता से पग बढ़ाता जा रहा है और अपने सेवामय जीवन के छठे दशक में पहुंच चुका है। निश्चय ही यह इसकी सेवा-परायणता का ही प्रतिफल है। यह और भी हर्ष का विषय है कि धन्वन्तरि जयन्ती-समारोह का अब अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर भी आयोजन होने लगा है, जिसके पीछे मानना होगा कि श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के सुयोग्य एवं निष्ठावान आयुर्वेद सेवाव्रती आयुर्वेद-चक्रवर्त्ती पं० दुर्गा प्र० जी शर्मा की प्रेरणा ही कारण रही है। श्रीयुत् शर्मा जी ने अपनी लगातार अन्तरराष्ट्रीय यात्राओं के क्रम में इस समारोह के प्रवर्त्तन पर जोर दिया और फलतः न केवल पड़ोसी देश नेपाल, बल्कि बर्मा, श्रीलंका, थाईलैण्ड, मारीशस, मलयेशिया आदि देशों में भी इस जयन्ती-समारोह का आयोजन उत्साहपूर्वक होने लगा है।

जहां तक इस देश की प्राचीन चिकित्सा-पद्धति-आयुर्वेद का प्रश्न है, ऐसी आशा की जाती थी कि विदेशी दासता की समाप्ति के साथ-साथ एलोपैथी के पंजे से भी यह देश मुक्त हो जाएगा। स्वराज्य के पूर्व राष्ट्र के मान्य नेतागण इस बात के लिए प्रतिबद्ध भी थे, और राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन में ऐसा निर्णय भी हुआ था कि स्वराज्योत्तर काल में आयुर्वेद ही देश की राष्ट्रीय चिकित्सा-पद्धति होगा। परन्तु दुर्भाग्यवश अब तक ऐसा नहीं हो पाया। सरकार द्वारा जो कुछ

प्रयास आयुर्वेद-विकास की दिशा में हुए हैं, उनसे आयुर्वेद को जो लाभ मिलना चाहिए था, नहीं मिल सका। और तो और, केन्द्र में आज तक आयुर्वेद के लिए न पृथक मंत्रालय ही बना, न आयुर्वेद निदेशालय ही, जिसकी वैद्य समाज वर्षों से मांग करता रहा है। राज्यों की भी यही स्थिति है, कुछ राज्यों को छोड़कर कई अन्य राज्यों में आयुर्वेद निदेशालय भी नहीं हैं।

हम कथमपि ऐसा नहीं कहते कि सरकार आयुर्वेदोन्नति के प्रति सदिच्छा नहीं रखती अथवा वह इस प्राचीन चिकित्सा-पद्धति की जान-बूझकर उपेक्षा करती है। केन्द्र की सरकार समय-समय पर ऐसी घोषणा करती रही है कि वह भारतीय चिकित्सा-पद्धति आयुर्वेद को पर्याप्त प्रोत्साहन एवं संरक्षण प्रदान कर रही है। किन्तु सरकार की कथनी और करनी में पार्थक्य देख कर खेद होता है, जबकि कथनी के अनुरूप एक चौथाई भी करनी सामने नहीं आ पाती। दृष्टान्त-स्वरूप केन्द्रीय सरकार के स्वास्थ्य मन्त्रालय द्वारा प्रवर्तित स्वास्थ्य योजना को ही लें। वर्त्तमान जनता पार्टी के सत्तारुढ़ होने के बाद ही तत्कालीन केन्द्रीय स्वास्थ्य मन्त्री ने दिल्ली के विज्ञान भवन में सम्पूर्ण देश के आयुर्वेद, यूनानी, सिद्ध, होम्योपैथी आदि चिकित्सा-पद्धतियों के योग्यतम अधिकारियों, चिकित्सकों, प्राध्यापकों एवं विशेषज्ञों की द्विदिवसीय गोष्ठी का आह्वान करके जिस शोर-शराबे के साथ ग्रामीण स्वास्थ्य योजना को लागू किए जाने का एलान किया था, उसका जो दुखद अन्त हुआ—वह आप को विदित ही है। केन्द्रीय स्वास्थ्य मन्त्रालय में जब श्री उमाशंकर दीक्षित, स्वास्थ्य मंत्री के पद पर आरुढ़ थे, उन्होंने भी ग्रामीण स्वास्थ्य योजना की परिकल्पना को साकार रूप देना चाहा, किन्तु आयुर्वेद विरोधियों की दुरभि संधि से उक्त योजना खटाई मे पड़ गई। केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्रालय अनिश्चितता की स्थिति से ऊपर नहीं उठ सका—यह सचाई है। आयुर्वेद-हित केन्द्रीय सरकार द्वारा दिए जानेवाले वित्तीय साहाय्य एवं अनुदान का जहां तक सम्बन्ध है, एलोपैथी ही केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्रालय के बजट का अधिकांश खा जाती रही है और कुछ अवशिष्ट ही आयुर्वेद तथा अन्यान्य चिकित्सा-पद्धतियों को मिल पाता है। वर्त्तमान केन्द्रीय सरकार ने निःसन्देह सहायता एवं अनुदान-सम्बन्धी मिलने वाली राशि में बढ़ोतरी की है, जो शुभ है और उज्ज्वल भविष्य के प्रति आशा का मन में संचार करती है।

यहां यह बताना स्यात् अप्रासांगिक न होगा कि विश्व संगठन (डब्ल्यू० एच० ओ०) ने भी आयुर्वेद की महत्ता एवं उपयोगिता को स्वीकार किया है और उसने न केवल आधुनिक चिकित्सा-प्रणाली के विकल्प के रूप में, बल्कि सहायक चिकित्सा-प्रणाली के रूप में भी पारम्परिक चिकित्सा पद्धति (ट्रेडिशनल मेडिसिन्स) को समुचित महत्व प्रदान करने की पुरजोर सिफारिश की है। विश्व स्वास्थ्य सगठन द्वारा पारित प्रस्ताव में स्पष्ट रूप में कहा गया है कि समाज के सभी वर्गों तक, विशेषतः ग्रामीण तथा पिछड़े इलाकों में आधुनिक चिकित्सा सेवाएं सुलभ करने में अभी बहुत समय लगेगा और इसके लिए काफी धन की भी आवश्यकता पड़ेगी, जबकि देशी चिकित्सा पद्धति अपेक्षाकृत सस्ती होती है और स्थानीय जड़ी-बूटियाँ उपलब्ध होने के कारण अधिक प्रभावशाली भी होती है। इस प्रसंग में हम यह निवेदन करना भी आवश्यक मानते हैं कि विश्व स्वास्थ्य संगठन अपने प्रतिवेदन में यह स्वीकार कर चुका है कि आधुनिक चिकित्सा लाख प्रयत्न करने पर भी २० प्रतिशत जनता की ही सेवा कर पाती है जबकि ८० प्रतिशत जनता आज भी देशी चिकित्सा-पद्धतियों से लाभान्वित होती है।

देश में आयुर्वेद के ४ लाख से भी अधिक चिकित्सक हैं, जबकि मेडिकल कालेजों पर भारी खर्च के बावजूद देश में लगभग डेढ़ लाख ही डाक्टर हैं, जो गाँवों में जाकर सेवा करना कतई पसंद नहीं करते। क्योंकि प्रकृत्या डाक्टर बन्धु ग्राम्य जीवन के साथ समरस नही हो पाते। शायद इसी स्थिति को ध्यान में रख कर भारत सरकार ने ग्रामीण स्वास्थ्य योजना को कार्यान्वित करने की ठानी थी, किन्तु दुर्भाग्यवश वह 'खोदा पहाड़ मिली चुहिया' वाली कहावत ही चरितार्थ कर सकी।

आयुर्वेद का विश्व-सन्दर्भ में इन दिनों जो उभरता हुआ चित्र परिलक्षित होने लगा है, उसका श्रेय मुख्यतः प्रतिष्ठान के संयुक्त प्रबन्ध-निदेशक पं० दुर्गा प्रसाद शर्मा जी के अथक प्रयासों को है, जिन्होंने न केवल श्रीलका, नेपाल, बर्मा और थाइलैंड में, बल्कि सुदूर मारीशस तथा

जापान में भी आयुर्वेद की आवाज बुलन्द की है। अभी गत जुलाई-अगस्त माह में श्री शर्मा ने सोवियत रूस, पश्चिम जर्मनी एवं जेनेवा की यात्रा की थी और अभी भी वे विदेश यात्रा पर ही हैं और उनकी अनुपस्थिति में ही हमें आज का यह समारोह मनाना पड़ रहा है।

आपको यह सूचना देते हुए हमें सन्तोष एवं हर्ष की अनुभूति हो रही है कि हमारे पटना-निर्माण-केन्द्र ने अपनी प्रचुर औषधियों के साथ आयुर्वेद-प्रदर्शनी का आयोजन संयुक्त प्रबन्ध-निदेशक पं० दुर्गा प्र० शर्मा के नेतृत्व में भारतेतर देशों में समय-समय पर किया है। अभी हाल में ही १ अगस्त से सोवियत रूस की ऐतिहासिक राजधानी मास्को में आयोजित भारत राष्ट्रीय प्रदर्शनी में भी वैद्यनाथ का स्टॉल लगा था। और उस प्रदर्शनी में भी भारत की ओर से श्री दुर्गा बाबू ने भाग लिया था। इसी प्रकार जून-जुलाई १९७५ ई० में अफ्रीका के जाम्बिया देश के एण्डोला नगर में आयोजित अन्तरराष्ट्रीय व्यापार मेले में वैद्यनाथ औषधियों की प्रदर्शनी लगायी गयी थी, जिसमें प्रतिष्ठान की ओर से प्रतिष्ठान के उत्पादन-नियंत्रक श्री रामेश्वर कुमार गुप्त ने भाग लिया था। यह प्रदर्शनी बहुप्रशंसित हुई और आयुर्वेद के प्रति विदेशियों में अभिरुचि उत्पन्न करने में सफल रही।

आयुर्वेद के प्रति विदेशियों में उत्पन्न अभिरुचि के फलस्वरूप इस वर्ष जनवरी माह में इलिनॉय विश्वविद्यालय, स्प्रिंगफील्ड के ६ शीर्षस्थ वैज्ञानिकों का एक दल यह अध्ययन करने भारत आया था कि मनुष्य की सर्वाङ्गीण चिकित्सा (टोटल हेल्थ केयर) में आयुर्वेद किस हद तक उपयोगी हो सकेगा। उक्त वैज्ञानिक दल १६ जनवरी से १७ फरवरी तक भारत में रहा और आयुर्वेद के प्रमुख शिक्षण एवं शोध संस्थानों का दल ने निरीक्षण किया। यहाँ यह सूचित करने में हर्ष एवं गर्व का अनुभव हो रहा है कि उक्त अमरीकी वैज्ञानिक दल का वैद्यनाथ के पटना निर्माण-केन्द्र की ओर से हमारे संयुक्त प्रबन्ध-निदेशक श्री दुर्गा प्र० शर्मा ने, जब दल काशी विश्वविद्यालय के चिकित्सा-विज्ञान-संस्थान के निरीक्षणार्थ वाराणसी पहुंचा हुआ था, वाराणसी स्थित डायमण्ड होटल में एक विशेष समारोह का आयोजन करके सभी वैज्ञानिकों का विशुद्ध भारतीय ढंग से भावभीना स्वागत किया। दल के प्रत्येक सदस्य को रेशमी रामनामी चादर ओढ़ा कर रेशमी वस्त्र में परिवेष्टित वैद्यनाथ के अंग्रेजी प्रकाशन का एक-एक सेट विदेशी आगन्तुकों को भेंट किया गया, जिसकी वाराणसी के पत्रकारों, साहित्यकारों एवं सुधी नागरिकों ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की। अमरीकी वैज्ञानिक भी हमारे स्वागत-अभिनन्दन से भावाभिभूत हो उठे थे। सचमुच वह दृश्य दर्शनीय था। भारत और अमरीका के बीच आयुर्वेदीय-चिकित्सा-पद्धति पर परस्पर प्रशिक्षण कार्यक्रम आयोजित करने, उच्च अध्ययन तथा आयुर्वेदीय औषधियों के निर्माण आदि कार्यों के दोनों देशों के सहयोग से कोई काम प्रारंभ करने की सम्भावना पर वैज्ञानिकों ने भरपूर विचार-विमर्श किया—निश्चय ही आयुर्वेदोन्नयन की दिशा में यह एक बड़ी बात मानी जानी चाहिए।

अब प्रतिष्ठान द्वारा आयुर्वेद के प्रचार-प्रसार की दिशा में हो रहे कार्यों के सम्बन्ध में कुछ निवेदन करना समीचीन लगता है। प्रतिष्ठान द्वारा प्रकाशित आयुर्वेद का प्रमुख मासिक पत्र 'सचित्र-आयुर्वेद' के व्ययसाध्य प्रकाशन का ३१वां वर्ष चल रहा है। यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि इस पत्र ने आयुर्वेदीय मासिक पत्रों में अपना एक मानक स्थापित किया है। इस वर्ष खूब सज-धज कर आयुर्वेद के मौलिक सिद्धांतों पर एक ३०० पृष्ठों का वृहत् विशेषांक गत जुलाई माह में प्रकाशित हुआ है, जिसकी सर्वत्र प्रशंसा हुई। वि० स्वास्थ्य-संगठन के विशेष आग्रह पर उसके चुने हुए लेखों का अंग्रेजी अनुवाद Basic principles of Ayurved के नाम से शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है, जो विश्व स्वास्थ्य संगठन को भेजा जायगा।

प्रतिष्ठान के संस्थापक पुण्यश्लोक पं० रामदयाल जोशी की पुण्यस्मृति में स्थापित आयुर्वेद शोध-संस्थान भी उत्तरोत्तर प्रगति-पथ पर है। शोध-संस्थान के निदेशक आयुर्वेद महामहोपाध्याय आचार्य रामरक्ष जी पाठक के निदेशन में उसका कार्य सुचारुरूपेण चल रहा है।

आपको यह विदित है कि हमारे प्रतिष्ठान का एक प्रमुख कार्यक्रम है—आयुर्वेदीय साहित्य-विषयक अनुसंधान तथा संग्रह और प्रकाशन। इसी उद्देश्य से शोध-संस्थान के पूरक के रूप में पुस्तकालय की स्थापना की गयी है। इस समय इस पुस्तकालय में लगभग १० हजार महत्वपूर्ण ग्रन्थों का संकलन किया जा चुका है, जिनमें दुर्लभ पाण्डु-

लिपियों का भी संग्रह मौजूद है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के भी लगभग दो सौ महत्वपूर्ण प्रकाशनों का सचयन किया गया है। आशा की जाती है कि निकट भविष्य में पुस्तकालय और उन्नति करेगा।

हमारे बैद्यनाथ प्रकाशन ने हाल में प्रख्यात आयुर्वेद विद्वान पं० दामोदर शर्मा जी गौड़ लिखित 'अभिनव-शारीरम्' नामक विशाल चित्र-बहुल संस्कृत ग्रन्थ प्रकाशित किया है, जो न केवल आयुर्वेद-जगत का महत्वपूर्ण एवं ऐतिहासिक ग्रन्थ है, बल्कि जिसके व्ययसाध्य प्रकाशन पर किसी भी प्रकाशक को गर्व हो सकता है।

पटना निर्माण-केन्द्र की ओर से पिछले वर्ष दो महत्वपूर्ण अंग्रेजी पुस्तकों का प्रकाशन किया गया—(1) Problems of Ayurvedic Research और (2) Treatise on thirty important Baidyanath Ayurvedic Products. पहली पुस्तक पाश्चात्य जगत को आयुर्वेद अनुसंधान की गतिविधियों का परिचय देने के लिए तथा दूसरी पुस्तक बैद्यनाथ प्रतिष्ठान में निर्मित होने वाली प्रमुख औषधियों के सन्दर्भ में अंग्रेजी भाषा के माध्यम से उन लोगों को जानकारी प्राप्त कराने के लिए, जो हिन्दी से अनभिज्ञ हैं। जड़ी-बूटियों के सम्बन्ध में एक बृहत् ग्रन्थ की प्रतिष्ठान के मान्य निदेशक प्राणाचार्य पं० दुर्गा प्रसाद शर्मा की देख रेख में तैयारी की जा रही है, जिसकी टंकित सामग्री डब्ल्यू० एच० ओ० के सेक्रेटरी श्री आर० एच० बैनरमैन को अपनी जेनेवा की यात्रा के क्रम में जब श्री दुर्गा बाबू ने दिखायी, तब वे प्रभावित हुए बगैर न रहे और इस अप्रकाशित पुस्तक का नाम Medicinal Atlas अथवा Medical Dictionary रखने का सुझाव दिया। उक्त पुस्तक बृहत्काय होगी। जिसमें मूल द्रव्यों (Herbs) के १८ भाषाओं में प्रचलित नाम रहेंगे।

इसके अतिरिक्त दो विशाल आयुर्वेद ग्रन्थ और प्रकाशनाधीन हैं। उनमें से एक है श्रीलंका के वैद्य शिरोमणि प्राणाचार्य पंडित आर्यदास 'कुमार सिंह लिखित—'प्रयोग समुच्चय।' इसके अतिरिक्त काशी विश्वविद्यालय के आयुर्वेद-शोधकर्त्ता एवं रीडर डा० ज्योतिर्मित्र का शोध-प्रबन्ध 'चरक एवं सुश्रुत के दार्शनिक विषय का अध्ययन' भी शीघ्र ही प्रकाशित होगा, इसके अधिकांश मुद्रित हो चुके हैं—कुछ ही अंश छपने को शेष है। अस्तु, उत्कृष्ट ग्रन्थों के प्रकाशन से आयुर्वेद-साहित्य-भण्डार को समृद्ध करने की दिशा में बैद्यनाथ प्रतिष्ठान के अवदान को आयुर्वेद-जगत कभी विस्मृत नहीं कर सकता।'

राज्यपाल का भाषण

समारोह का उद्घाटन करते हुए राज्यपाल महोदय ने बैद्यनाथ प्रतिष्ठान के संयुक्त प्रबन्ध-निदेशक आयुर्वेद-चक्रवर्त्ती, प्राणाचार्य पं० दुर्गा प्र० शर्मा द्वारा आयुर्वेद के सर्वांगीण विकास की दिशा में हो रहे अनेक प्रयासों की चर्चा करते हुए इस बात पर खेद प्रकट किया कि इन दिनों चिकित्सा के क्षेत्र में कार्य करने वालों में सेवा के बजाय पैसा कमाने की मनोवृत्ति काम कर रही है। फलस्वरूप वे ग्रामवासियों की चिकित्सा के लिए गांवों में नहीं जाना चाहते। राज्यपाल महोदय ने आगे कहा कि देशी चिकित्सा के चिकित्सक भी अपना प्रमख जमाने के उद्देश्य से एलोपैथी का सहारा लेते हैं, जिससे उनकी तथा उनकी चिकित्सा-पद्धति की प्रतिष्ठा पर गहरा आघात पहुंचता है।

उन्होंने चेतावनी के स्वर में कहा कि यदि देशी चिकित्सकों ने इस प्रवृति का त्याग नहीं किया तो सरकार उनके विरुद्ध कठोर कार्रवाई करने के लिए बाध्य होगी।

देशी चिकित्सकों से अपील

राज्यपाल महोदय ने देशी चिकित्सकों से अपील की कि वे आयुर्वेद, यूनानी तथा होमियोपैथिक चिकित्सा-पद्धतियों को अधिकाधिक सस्ती, सुलभ तथा तुरत लाभ पहुंचाने वाली बनायें, जिससे यह पद्धति एलोपैथिक चिकित्सा का स्थान ग्रहण कर सके। इसके लिए उन्होंने इन चिकित्सा-पद्धतियों में अधिकाधिक अनुसंधान कर इसे आधुनिक रूप देने की आवश्यकता पर बल दिया।

राज्यपाल महोदय श्री कौशल ने आयुर्वेद को भारतीय स्थिति के अनुकूल बताते हुए इस बात पर प्रसन्नता प्रकट की कि इसके उत्थान के लिए सरकार हर सम्भव सहायता देने में सचेष्ट है। पर इसके चिकित्सकों को गाँवों में जाने के लिए भी तैयार रहना चाहिये।

राज्यपाल महोदय ने खेद प्रकट करते हुए बताया कि देशी चिकित्सा के चिकित्सकों में यह प्रवृत्ति देखी जा रही है कि अधिकाधिक तथा समुचित वेतनमान प्राप्त होने

पर ये लोग भी एलोपैथ डाक्टरों की तरह ग्रामाभिमुख नहीं होते—यह प्रवृत्ति अच्छी नहीं कही जा सकती।

अध्यक्षीय भाषण के अनन्तर आयुर्वेद महामहोपाध्याय आचार्य पं० रामरक्ष पाठक ने आयुर्वेद की वर्त्तमान समस्याओं का सिंहावलोकन प्रस्तुत करते हुए राज्यपाल महोदय एवं समागत अतिथियों के प्रति धन्यवाद-ज्ञापन किया।

समारोह की समाप्ति स्वल्पाहार के साथ हुई। इस अवसर पर समागत आगन्तुकों को बैद्यनाथ केलेण्डर तथा अन्यान्य प्रचार साहित्य भेंट-स्वरूप दिया गया।

कलकत्ता-निर्माण-केन्द्रमें जयंती-उत्सव

जहां तक इस देश की प्राचीन चिकित्सा-पद्धति आयुर्वेद का प्रश्न है, ऐसी आशा की जाती थी कि विदेशी दासता की समाप्ति के साथ-साथ एलोपैथी के पंजे से भी यह देश मुक्त हो जायेगा। स्वराज्य के पूर्व राष्ट्र के मान्य नेतागण इस बात के लिये प्रतिवद्ध भी थे और राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन में ऐसा निर्णय भी हुआ था कि स्वराज्य के बाद आयुर्वेद ही देश की राष्ट्रीय चिकित्सा पद्धति होगी, परन्तु अब तक ऐसा नहीं हो पाया। सरकार द्वारा कुछ प्रयास आयुर्वेद विकास के लिये अवश्य हुए हैं, लेकिन उनसे आयुर्वेद को जो लाभ मिलना चाहिये था वह नहीं मिल सका है। आयुर्वेद के पीठ-स्थान पश्चिम बंगाल में तो आयुर्वेद बिलकुल उपेक्षित बना हुआ है। हम चाहते हैं कि पश्चिम बंगाल में आयुर्वेद विकास के लिये कुछ ठोस कदम उठाये जाएं। यह श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के तत्वावधान में रविवार को कविराज श्री रामाधीन शर्मा वशिष्ठ के सभापतित्व में आयोजित श्री धन्वन्तरि जयन्ती समारोह में स्वागत-भाषण करते हुए श्री रामकृष्ण शर्मा ने कहा।

श्री शर्मा ने आगे कहा कि विश्व स्वास्थ्य संगठन ने भी आयुर्वेद की महत्ता एवं उपयोगिता को स्वीकार किया है और उसने न केवल आधुनिक चिकित्सा प्रणाली के विकल्प के रूप में बल्कि सहायक चिकित्सा प्रणाली के रूप में भी पारस्परिक चिकित्सा पद्धति (ट्रेडिसनल मेडिसिन्स) की समुचित महत्व प्रदान करने की सिफारिश की है। इसके लिये काफी धन की भी आवश्यकता पड़ेगी, जबकि देशी चिकित्सा-पद्धति सस्ती होती है और स्थानीय जड़ी-बूटियाँ उपलब्ध होने के कारण अधिक प्रभावशाली भी होती है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन अपने प्रतिवेदन में यह स्वीकार कर चुका है कि आधुनिक चिकित्सा लाख प्रयत्न करने पर भी २० प्रतिशत जनता की सेवा कर पाती है, जबकि ८० प्रतिशत जनता आज भी देशी चिकित्सा-पद्धति से लाभान्वित होती है।

प्रधान वक्ता डा० कविराज श्री प्रदीप कुमार देवनाथ ने अपने गवेषणपूर्ण भाषण में कहा कि आयुर्वेद संसार की सबसे पुरानी चिकित्सा है। लेकिन अंधविश्वास और परम्पराओं की लीक पीटने वालों के चंगुल में फंसकर विज्ञान की दौड़ में पिछड़ गयी है। जब तक हम आधुनिक विज्ञान और प्राचीन शास्त्रीय आयुर्वेद का समन्वय नहीं करेंगे, तब तक हम चिकित्सा के क्षेत्र में कमाल नहीं दिखा सकेंगे। आयुर्वेद इस देश के जन-जन की चिकित्सा है, इसलिये हमें कीमती धातुओं की बजाय दवाओं में सामान्य जड़ी-बूटियों का उपयोग करना चाहिये। पेड़-पौधों के माध्यम से कठिन से कठिन रोगों का इलाज किया जा सकता है। आयुर्वेदज्ञों को सबसे पहले उदर रोगों की ओर ध्यान देना चाहिये। क्योंकि आजकल आहार-विहार दूषित होने के कारण उदररोगों का बाहुल्य हो गया है। श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० उदररोगों की कुछ उत्तम दवाएं तैयार करता है। हमलोग भी रोगियों पर अपने अस्पताल में उदररोगो की दवाओं का प्रयोग कर अच्छा परिणाम पा रहे है। वैद्य-कविराजों को प्रचार से दूर रहकर मानव सेवा का पथ प्रशस्त करना चाहिये।

श्रीराम प्रसन्न शास्त्री ने कहा कि आयुर्वेद का विकास तभी हो सकता है जब हम ऋषि-मुनियों के बताये मार्ग का अनुसरण करें। सुप्रसिद्ध समाजसेवी श्री धर्मचन्द सरावगी ने आयुर्वेद के प्राकृतिक-चिकित्सा के अंगों पर जोर देते हुए कहा कि साधारण जड़ी-बूटियों से बड़े-से-बड़े रोग ठीक किये जा सकते हैं। हमलोग दमा और कुष्ठ रोगियों को सामान्य जड़ी-बूटियां और प्राकृतिक उपायों का निर्देशन कर लाभ पहुंचा रहे हैं। जो वैद्य-कविराज इनके बारे में अनुसंधान कर इन रोगों के बारे में नयी-नयी दवाएं आविष्कृत कर सकें उनको सहयोग देने और उनका सहयोग लेने के लिये हम प्रस्तुत हैं। जीवन में प्राकृतिक

उपायों का अवलम्बन करने से प्रत्येक मनुष्य स्वस्थ, प्रसन्न रह कर दीर्घायु प्राप्त कर सकता है।

प्रधान अतिथि कविराज श्री शैलेन्द्रचन्द्र चौधरी ने कहा कि आयुर्वेद के पास संसार को देने के लिये बहुत कुछ है, लेकिन यह हमारी अज्ञता के कारण संभव नहीं होता है। यदि हम अपने मस्तिष्क के दरवाजे खोलकर आयुर्वेद का अध्ययन करेंगे तो उस अथाह सागर के अनेक अमूल्य रत्न प्राप्त कर मानवता की सेवा कर सकते हैं।

हरदिल अजीज श्री गोपाल आचार्य ने अपने ओजस्वी भाषण में कहा कि वैद्य लोग बातें तो बड़ी-बड़ी करते हैं, लेकिन काम में डाक्टरों के सामने हीनता का अनुभव करते हैं; जो बातें रोगियों को अच्छे होने के बाद कहनी चाहिये वे स्वयं वैद्य ही कहते हैं। यह ठीक नहीं हैं। विज्ञान से आंखे बन्द कर रखने से आयुर्वेद का विकास नहीं हो सकता है।

सभापति कविराज श्री रामाधीन शर्मा वशिष्ठ ने आयुर्वेद चिकित्सा-पद्धति की वैज्ञानिकता का समर्थन करते हुए कहा कि आयुर्वेद विज्ञान है और इसका बराबर विकास होता रहा है। भारत के पराधीन होने पर इसके विकास-क्रम में वाधा उपस्थित हो गयी थी। साम्राज्य-वादियों ने आयुर्वेद के पथ-अवरोध के लिए भारी साजिश की। लेकिन आयुर्वेद जीवित रहा। अब आयुर्वेद की वैज्ञानिकता को सारे संसार ने स्वीकार कर लिया है। सोवियत रूस, जर्मनी, स्वीडेन और अमेरिका में आयुर्वेद के बारे में शोध कार्य हो रहे हैं। आज एलोपैथिक दवाओं से होने वाले भयानक विकारों से मानव समाज को आयुर्वेद ही राहत पहुंचा सकता है। भारत के ८० प्रतिशत लोग आयुर्वेदीय चिकित्सा से लाभान्वित होते हैं। जबकि डाक्टर शहरों में ही अपना धन्धा चलाते हैं। जनता से उनका सम्पर्क बिलकुल नहीं रहता है। आयुर्वेद के साधारण नुस्खे एलोपैथी की बड़ी-बड़ी दवाओं से अधिक गुणकारी हैं। श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० इस दिशा में प्रशंसनीय कार्य कर रहा है। इसके निदेशक प्राणाचार्य पं० दुर्गा प्रसाद शर्मा ने देश-विदेश में आयुर्वेद का गौरव बढ़ाने के लिए ऐतिहासिक कार्य किया है। व्यवसाय के साथ-साथ यह प्रतिष्ठान आयुर्वेद विकास के लिए सतत चेष्टा करता रहता है। दूसरे प्रतिष्ठानों को इससे सबक लेना चाहिए।

'भवन' के प्रधान प्रबन्धक श्री वेणीप्रसाद वैद्य ने धन्यवाद दिया और आगत सज्जनों का स्वागत् किया।

झांसी-कार्यालय में धन्वन्तरि-जयंती सम्पन्न

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड, झांसी में मानिक चौक शहर कांग्रेस कमिटी कार्यालय के पीछे वैद्यनाथ अहाते में आयुर्वेद के प्रवर्तक भगवान् धन्वन्तरि की जयंती दिनांक 29-10-78 को सायं 5 बजे से प्रारम्भ हुई। जयंती समारोह की अध्यक्षता वैद्य विद्याभूषण आयुर्वेद-शिरोमणि ने की।

पं० किशोरीलाल जी शास्त्री ने भगवान् धन्वन्तरि जी का पूजन-अर्चन वैदिक मन्त्रों के सुमधुर उच्चारण के साथ सम्पन्न किया।

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड, झांसी के अध्यक्ष श्रीयुत वृजेन्द्रकुमार जी शर्मा ने स्वागत-भाषण पढ़ कर आयुर्वेद भवन के कार्यों, अनुसंधान व प्रगति पर प्रकाश डालते हुए कहा कि आयुर्वेद विश्व की प्रथम चिकित्सा-पद्धति है जिससे जनता-जनार्दन स्वास्थ्य लाभ करते हैं। श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड ने आयुर्वेद के तलस्पर्शी विद्वानों को एक साथ बैठाकर आयुर्वेद की वास्तविक वृद्धि के लिये अखिल भारतीय शास्त्र चर्चा परिषद का आयोजन करके आयुर्वेद को समृद्ध बनाने का प्रयत्न किया है। अब तक पांच अधिवेशन किये जा चुके हैं। परिषद् के पंचम् अधिवेशन (हैदराबाद, आन्ध्र प्रदेश) में समस्त भारत के आयुर्वेद के उच्चकोटि के तत्वज्ञ विद्वानों ने शास्त्र मन्थन एवं अपने अनुभवों को प्रकट किया। इससे महाकुष्ठ, क्षुद्र कुष्ठ, विर्चाचिका आदि बाह्य रोगों के शोध के लिये द्वार खुल गया है। समस्त आयुर्वेद जगत् के लिये यह एक महान् उपलब्धि है।

आपने अन्त में अपने भाषण में भगवान् धन्वन्तरिजी की पावन जयन्ती के इस समारोह में भाग लेने वाले सभी महानुभावों के प्रति हार्दिक धन्यवाद देते हुए सादर आभार प्रदर्शित किया एवं भगवान् श्री धन्वन्तरि से समस्त मानव प्राणियों के लिये रोग-रहित, सुस्वास्थ्य, दीर्घायु तथा धन-धान्य-समृद्धि पूर्ण भविष्य की कामना की।

स्वागत-भाषण के पश्चात् श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड के संस्थापक एवं प्रबन्ध-निर्देशक पूज्य वैद्य पं० रामनारायणजी शर्मा ने समारोह के अध्यक्ष वैद्य श्री

विद्याभूषणजी का स्वागत कर उनका परिचय दिया। तत्पश्चात् उन्होंने 10 हजार रुपये का चेक उत्तर प्रदेश-मुख्य मन्त्री कोष हेतु बाढ़ पीड़ितों की सहायतार्थ मुख्य अतिथि श्री वी० के० सक्सेना, आयुक्त, झांसी-मण्डल को भेंट दिया।

आयुक्त श्री सक्सेनाजी ने श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन की सेवाओं तथा चिकित्सा-पद्धति व अनुसंधान में किये गये कार्यों की सराहना करते हुए इस बात पर बल दिया कि समन्वित चिकित्सा-प्रणाली होना चाहिये, क्योंकि प्रत्येक प्रकार की चिकित्सा में महत्वपूर्ण गुण हैं। आपने कहा कि स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है कि रोग न हो, ऐसे अनुभूत सिद्धान्त अपनायें जायं, ताकि निदान की भी आवश्यकता न पड़े।

अध्यक्ष वैद्य श्री विद्याभूषण आयुर्वेद शिरोमणि ने आयुर्वेद चिकित्सा-पद्धति पर प्रकाश डाला तथा आयुर्वेद सम्मेलन में हुए प्रस्तावों के बारे में बताया तथा हैदराबाद सम्मेलन की रूपरेखा का विस्तार से विश्लेषण किया।

समारोह में नगर के लगभग सभी वैद्य, हकीम एवं प्रतिष्ठित नागरिकों ने भाग लिया।

अन्त में भवन के संस्थापक एवं प्रबन्ध निर्देशक पूज्य वैद्य पं० रामनारायणजी शर्मा ने आगन्तुक वैद्यों, हकीमों, नागरिकों तथा अधिकारियों के पधारने पर आभार व्यक्त किया और विश्वास प्रकट किया कि आयुर्वेद की सेवा के लिए कोई कसर नहीं रखेंगे तथा आयुर्वेद के प्रचार व प्रसार के लिए कृतसंकल्प होंगे। समारोह का संचालन भवन के व्यवस्थापक श्री रामप्रकाश अग्रवाल ने तथा व्यवस्था श्री योगेन्द्रपाल शर्मा ने की।



आधुनिक चिकित्सा-पद्धति को सस्ता बनाना जरूरी

प्रधान मंत्री की सलाह

प्रधान मन्त्री श्री मोरारजी देसाई ने आज आधुनिक चिकित्सा पद्धति को काफी सस्ती बनाने की आवश्यकता की पेशकश की ताकि निर्धन भी इसका लाभ उठा सके।

उन्होंने इण्डियन मेडिकल एसोसिएशन के स्वर्ण जयन्ती समारोह का उद्घाटन करते हुए कहा कि आधुनिक पद्धति महगी होती जा रही है तथा यह गरीब लोगों की क्षमता के बाहर है; इसलिये आधुनिक दवाइयों के वाजिब मूल्य तय करने के लिये कोई साधारण प्रक्रिया निकाली जानी चाहिये।

श्री देसाई ने कहा कि आधुनिक चिकित्सा-प्रणाली ने खासतौर से शल्य चिकित्सा के क्षेत्र में जबरदस्त प्रगति की है, लेकिन उन्हें औषधियों के विकास के बारे में संदेह है।

प्राकृतिक चिकित्सा में अपना विश्वास दोहराते हुए प्रधान मन्त्री ने प्राकृतिक नियमों की अवहेलना के विरुद्ध सजग किया। प्रकृति को अच्छी तरह समझ लेना चाहिये। आधुनिक चिकित्सा पद्धति का यह दोष है कि इस प्रणाली से व्यक्ति अपनी देखभाल नहीं कर पाता। उन्होंने डाक्टरों पर निर्भर रहने की आदत से असहमति व्यक्त की।

श्री मोरारजी देसाई ने कहा कि प्रत्येक चिकित्सा पद्धति ने काफी अच्छा काम किया है हालांकि प्रत्येक की अपनी सीमाएं हैं।

इनसेफलाइटिस से बचें

बिहार के स्वास्थ्य मन्त्री प्रो० जाबिर हुसैन ने राज्य की जनता को इनसेफलाईटीस बीमारी से आतंकित न होकर इसकी रोकथाम एव रोगियों की चिकित्सा में सरकार के साथ सहयोग करने की अपील की है। उन्होंने कहा है कि उत्तर प्रदेश और पश्चिमबंगाल में जापानी इनसेफ्लाईटिस नामक वायरस जनित घातक बीमारी महामारी के रूप में फैली हुई थी। उस बीमारी का प्रकोप अब इस बिहार राज्य में भी हो गया है। मच्छड़, पशु, सूअर, बत्तक आदि इस बीमारी को लेकर मनुष्य तक पहुंचाते हैं। यह बीमारी किसी भी आयु के व्यक्ति को हो सकती है। बीमारी के लक्षण हैं—सरदर्द, तेजबुखार, शरीर में ऐठन, कपकपी, लकवा तथा मस्तिष्क का सन्तुलित होना।

स्वास्थ्यमन्त्री ने कहा है कि सभी अस्पतालों में इस रोग की चिकित्सा के लिए दवाओं आदि की व्यवस्था की गई है। उन्होंने कहा कि स्थानीय चिकित्सापदाधिकारी जांच में यदि रोगी को इस रोग से आक्रांत घोषित करें तो वैसे रोगी को तत्काल सदर अस्पताल चिकित्सा के लिए पहुंचाना चाहिए।

रा० आ० कालेज, पटना में इन्सेफ्लाईटिस शिविर

केन्द्रीय सरकार (भारतीय चिकित्सा-पद्धति एवं होम्योपैथी को केन्द्रीय अनुसंधान परिषद्) एवं बिहार राज्य सरकार के संयुक्त तत्वावधान में राजकीय आयुर्वेदिक कालेज, पटना में इन्सेफ्लाईटिस रोग की चिकित्सा एवं रोक-थाम की व्यवस्था की गयी है। इन्सेफ्लाईटिस रोग से उत्पादित अन्य विकृतियों की चिकित्सा की व्यवस्था है। अतः सर्वसाधारण को सूचित किया जाता है कि जो व्यक्ति इस रोग की चिकित्सा एवं रोक-थाम आयुर्वेदिक-पद्धति से कराना चाहते हैं, वे संस्था द्वारा प्रदत्त निःशुल्क सेवा से लाभ उठा सकते हैं। रोगियों को सुविधा हेतु अन्तरंग कक्ष (रोगियों को भर्ती हेतु शय्यायें) की सेवायें भी उपलब्ध हैं।

आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति का संरक्षण जरूरी

महावीरजी, ५ नवम्बर। चिकित्सा एवं स्वास्थ्य मन्त्री, श्री त्रिलोकचन्द जैन ने कहा कि आयुर्वेद-पद्धति का अपना महत्व है और अनुसन्धान के माध्यम से आयुर्वेदिक प्रतिभाओं को आगे आने का अवसर दिया जाना चाहिये।

उन्होंने कहा कि अन्य पद्धतियों के मुकाबले आयुर्वेद पद्धति को उचित सुरक्षा प्रदान किया जाना चाहिये।

श्री जैन सवाईमाधोपुर जिले के श्री महावीरजी में धन्वन्तरि जयन्ती के अवसर पर श्री रामनिवास कृष्ण दिगम्बर जैन आयुर्वेदिक चिकित्सालय एवं अनुसन्धान केन्द्र का उद्घाटन कर रहे थे।

चिकित्सा एवं स्वास्थ्य मंत्री ने कहा कि आयुर्वेद असाध्य रोगों के उपचार में सक्षम है एवं रोग के निदान की दृष्टि से भी उपयुक्त सिद्ध हुआ है। आयुर्वेद को प्रोत्साहित करने की आवश्यकता पर बल देते हुए उन्होंने कहा कि मानव कल्याण की दृष्टि से उपयुक्त वातावरण बनाने तथा साधन सुविधाएं जुटाने के लिये केवल सरकारी साधनों के भरोसे न रह कर सामाजिक कार्यकर्त्ताओं तथा संस्थाओं को जन-सहयोग पर भी बल देना चाहिये।

विधायक वैद्य गोविन्द सहाय ने आयुर्वेद के माध्यम से कैंसर के उपचार की दशा में किये गये सफल प्रयोगों की जानकारी दी और आशा व्यक्त की कि राजस्थान में भी यह प्रयोग अपेक्षित परिणाम सामने ला सकेगा।

समारोह की अध्यक्षता तीर्थ क्षेत्र श्री महावीरजी कमेटी के अध्यक्ष, श्री मोहनलाला काल ने की। उन्होंने जन सुविधाओं के विकास की दिशा में कमेटी द्वारा किये जा रहे प्रयत्नों पर प्रकाश डाला।

देश में बनने वाले कपूर का बाजार ठप्प

बरेली, २० नवम्बर। कृत्रिम कपूर का उत्पादन संस्थान कैम्फर एलाइड प्रोडक्ट्स का उत्पादन २८ अक्तूबर से बन्द कर दिया गया है। फलस्वरूप एक ओर जहां उक्त संस्थान को १२ लाख रुपया प्रतिमास की क्षति हो रही है वहां दूसरी ओर सरकार को भी ६ लाख रुपये प्रतिमास के शुल्क की हानि उठानी पड़ रही है।

फैक्टरी में लगभग ७.५ लाख रुपये का उत्पादित कृत्रिम कपूर का स्टाक जमा है। संस्थाओं के प्रवक्ता के अनुसार भारत सरकार द्वारा विदेशों से आयातित कपूर की छूट देने के फलस्वरूप देश में बनने वाले कपूर का बाजार ठप्प हो रहा है।

क्षेत्रीय आयुर्वेद एवं यूनानी कम्पाउण्डर संघ, आगरा

गत दिनांक २०-१०-७८ को क्षेत्रीय आयुर्वेद एवं यूनानी कम्पाउन्डर संघ की बैठक श्रीमान क्षेत्रीय आयुर्वेद एवं यूनानी अधिकारी आगरा की अध्यक्षता में हुई जिसमें निम्न पदाधिकारी अगले वर्ष के लिये चुने गये। साथ ही निजी प्रस्ताव भी माननीय क्षेत्रीय अधिकारी महोदय के सम्मुख रखा गया जिसके माननीय क्षेत्रीय आयुर्वेद एवं यूनानी अधिकारी महोदय ने यथासम्भव पूरा कराने का आश्वासन दिया।

पदाधिकारी

१ अध्यक्ष—श्रीमान क्षेत्रीय आयुर्वेद एवं यूनानी अधिकारी महोदय आगरा

२ मन्त्री—श्री हरिश्चन्द्र तिवारी, कम्पाउन्डर रा. आयु चिकि. नगर आगरा

३ प्रचार मन्त्री—श्री दयाशंकर पाण्डेय, कम्पाउन्ड रा. आयु. चिकि. तेहरा आगरा

४. आयव्यय निरीक्षक—श्री सुरेन्द्रदत्त तिवारी रा. आयु. चिकि. ज्योती मैनपुरी

सदस्यगण

१. दुर्गादत्त दुबे कम्पाउन्डर (मैनपुरी) २. श्री शिवशंकर सिंह कम्पाउन्डर मैनपुरी ३. श्री श्रीप्रकाश पांडेय कम्पा. एटा ४. श्री उजिपारेलाल, कम्पाउन्डर एटा ५. श्री वृजनाथ शर्मा, कम्पाउन्डर आगरा ६. श्री प्रेम किशोर अवस्थी, कम्पाउन्डर आगरा

निम्न प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास किए गए।

१. जिन भाइयों की दक्षता अवरोध पार नहीं हुई हो उनकी EB पार कर वेतन वृद्धि देने की कृपा करें।

२ समान कार्य हेतु समान वेतन ऐलोपैथिक कम्पाउन्डरों के समान हमलोगों को भी वेतन दिया जाये साथ ही अन्य सुविधाये भी दी जायें।

३. हम सभी ग्रामीण क्षेत्र के कार्य करते हैं जहां मकान आदि की महान असुविधा है अतः असुविधा को ध्यान में रखते हुये मकान भत्ता दिया जाये।

४. हम लोगों की नगदी कारण अवकाश की सुविधा क्षेत्रीय आयुर्वेद एवं यूनानी अवकाश की सुविधा मिल सके।

५. जिनका कार्यकाल ३ वर्ष का हो गया है, वह अगर स्थायी नहीं किये गये है तो उनको तुरंत स्थाई करने की कृपा करें।

तहसील वैद्य सभा, फीरोजाबाद

दिनांक ११-११-१९७८ दिन शनिवार को स्वर्गीय छदामीलाल जैन मन्दिर के पुस्तकालय भवन से उत्तर

!प्रदेशीय चतुर्थ श्रेणी राज्य कर्मचारी महासंघ की जिला शाखा, आगरा के तत्वावधान में आगरा क्षेत्र के आयुर्वेद एवं यूनानी चतुर्थ श्रेणी कर्मचारियों का विराट सम्मेलन देखने का अवसर मिला।

इस सम्मेलन में क्षेत्रीय अधिकारी, आगरा वरिष्ठ चिकित्साधिकारी, तहसील वैद्य सभा के पदाधिकारी नेशनल मेडीकल एसोशिएशन के तहसील अध्यक्ष जनता युवा मोर्चा, चूड़ी उद्योग संघ, तथा सरोजनी नायडू स्मारक चिकित्सालय कर्मचारी संघ के वरिष्ठ पदाधिकारियों की उपस्थिति में श्री लालाराम स्वच्छक रा. आ. चि. नैनी (आगरा) व श्री छोटे लाल भृत्य रा. आ. चि. किनावा (एटा) ने क्रमशः छुआछूत, अभद्र व्यवहार, आर्थिक शोषण, अनुचित दवाव और अनियमित स्थानान्तरण के आरोप क्षेत्रीय आयुर्वेदिक अधिकारी आगरा के नाति उनके समक्ष खुले सम्मेलन में प्रगट किए। इसके अतिरिक्त श्री रामजी लाल वैद्य एवं श्री मंगल सिंह राठोर एडवोकेट ने उपरोक्त समस्याओं का समर्थन कर खेद व्यक्त किया। क्षेत्रीय अधिकारी आगरा ने अपने विचारों द्वारा कोई इसके लिए क्षोभ व्यक्त नहीं किया। कर्मचारियों का हार्दिक क्षोभ और क्लेश वैद्य समाज के लिए दुखद और लज्जा का विषय है। इस जनतन्त्र के युग में देश के उज्ज्वल भविष्य पर कलंक की रेखा है। ऐसा व्यवहार देश और आयुर्वेद को ठेस पहुंचाने वाला है। ::,|इ|६ : [illegible] तशोध अपेक्षित है।

आयुर्वेद रसौषधि सम्मेलन

नवयुवक वैद्य जिला मथुरा के तत्वावधान में दिनांक २८ १०-७८ को भगवान धन्वन्तरि जयन्ती का आयोजन नगरपालिका सभा भवन मथुरा में किया गया। इस अवसर पर मुख्य अतिथि उत्तर-प्रदेश विधान सभा के बाबू बनारसी दास जी गुप्त थे। सभा भवन मथुरा के यशस्वी वैद्यों, औषधि-निर्माताओं और संभ्रांत नागरिकों से भरा हुआ था। समारोह का शुभारम्भ युग निर्माण विद्यालय के छात्रों द्वारा प्रस्तुत मंगलाचरण से हुआ। फिर भगवान धन्वन्तरि का पूजन तथा माल्यार्पण किया गया। मंडल के मंत्री वैद्य घनश्याम किशोर ने मंडल द्वारा किये गये कार्य, भविष्य की योजनाओं का विवरण दिया। रसौषधि सम्मेलन के अन्तर्गत कूपीपक्व रसायन पर विचार जिला आयुर्वेद सम्मेलन के अध्यक्ष, वैद्य नन्दकिशोर जी पाठक ने प्रारम्भ किया। इस अवसर पर आयोजित रसौषधि प्रदर्शनी का उद्घाटन बाबू बनारसीदास जी गुप्त ने किया। आपने आयुर्वेद चिकित्सा द्वारा ही विश्व में निरोग समाज का निर्माण हो सकता है। उत्तर प्रदेश प्राक्कलन समिति के अध्यक्ष श्री राधेश्याम जी शर्मा (विधायक) ने भी आयुर्वेद की महत्ता पर प्रकाश डाला। कार्यक्रम का अध्यक्षीय भाषण करते हुए डा० रमण दास जी पंड्या द्वारा आयुर्वेदीय सिद्धान्तों तथा कूपीपक्व रसायनों पर विस्तृत प्रकाश डाला। तत्पश्चात् बाबू जी ने जिले के रसचिकित्सकों को दुपट्टा तथा प्रमाण-पत्र प्रदान कर सम्मानित किया। समारोह का समापन भगवान धन्वन्तरि जी की आरती के साथ सानन्द सम्पन्न हुआ।

बम्बई महानगर आयुर्वेद सम्मेलन

दिनांक २९-१०-७८ को धन्वन्तरि जयन्ती समारोह श्रीमती कमला देवी गौरीदत्त मित्तल पुनर्वसु आयुर्वेद महाविद्यालय बम्बई २ वैद्यराज श्री वेणी माधवजी शास्त्री जोशी की अध्यक्षता में मनाया गया।

इसी शुभावसर पर नगर के वयोवृद्ध विद्वान वैद्यराज श्रीयुत् अनन्ताचार्य बलसारी एवं वैद्यराज श्रीयुत् चम्पक भाई मुलतानी का सम्मान किया गया।

सर्वप्रथम भगवान धन्वन्तरि जी की स्तुति वैद्यराज श्री हरिनारायण जी शर्मा ने की, स्वागत वैद्य श्री कृष्णचन्दजी पंजाबी ने किया।

सम्माननीय अतिथि महानुभावों का परिचय वैद्य श्री मि० के० पाद्ये गुर्जर एवं वैद्य श्री अनन्तराव जोशी ने किया।

सम्मति के प्रति दोनों ही महानुभावों ने वैद्यराज के प्रति कृतज्ञता व्यक्त की।

समारोह के प्रसंग में सर्वश्री वैद्य रामगोपालजी शास्त्री, वैद्य श्री सोमेश्वर भाई भट्ट, वैद्य श्री रामजी शर्मा वैद्य, श्री वासुदेवजी लाढा, वैद्य श्री हेमचन्द्र भाई, नरसी वैद्य श्री डी० एस० अन्तरकर आदि महानुभावों के सारगर्भित भाषण एवं सम्माननीय वैद्य महानुभावों की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी।

अन्त में सभी के प्रति आभार वैद्य श्री वासुदेव जी ने किया।

कार्यक्रम का संचालन वैद्य श्री दीनानाथ उपाध्याय ने किया।

स्मरण-शक्ति बढ़ाने के लिए नयी सुंघनी का आविष्कार

नयी दिल्ली। खराब स्मरण शक्ति वाले के लिए भी वैज्ञानिकों ने एक तोहफा दिया है।

बेल्जियम के लीज विश्वविद्यालय में शोधकर्ताओं द्वारा और मेंड्रिड के दिसान कार्लोस अस्पताल में एक दवा निकाली गयी है जो स्मरण शक्ति को तेज करती है।

पिटुटरीग्लैंड में पाये जाने वाले हारमोन से यह मिश्रित दवा बनी है। इसके प्रभाव की खबर पहली बार एक डच वैज्ञानिक डा० वीड ने दी।

इस दवा का नाम वासोप्रेसिन है। डा० वीड ने चूहों पर प्रयोग कर देखा कि पिटुटरी ग्लैंड हटा देने से स्मरण-शक्ति को नुकसान होता है।

बाद में देखा गया कि चूहों को वासोप्रेसिन की कुछ खुराक देने से वे बड़ी जल्दी सीखते हैं। और भूलभुलैया में बड़ी आसानी से रास्ता भी ढूंढ़ लेते हैं।

बेल्जियम और स्पेनिश वैज्ञानिक की खोज के परिणाम ब्रिटिश पत्र 'लांसेट' में छपे है, इन खोजों से मालूम पड़ता है कि वासोप्रेसिन मनुष्य की स्मरण-शक्ति को काफी हद तक बढ़ाती है और सीखने की तथा एकाग्रता की उनकी शक्ति भी बढ़ाती है।

इन दवा को नस की तरह सूंघा जाता है। इसके कुछ कुपरिणाम भी होते हैं। खासकर अधिक उम्र वालों के लिए।

वैज्ञानिक इस वक्त यह खोज कर रहे हैं कि मस्तिष्क में यह हार्मोन किस प्रकार अपना काम करता है।

श्री बैद्यनाथ धर्मार्थ चिकित्सालय पटना-१

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० पटना द्वारा संचालित श्री बैद्यनाथ धर्मार्थ चिकित्सालय तथा स्वास्थ्य रक्षा केन्द्र पटना-१ में माह नवम्बर १९७८ में १०२५ रोगियों की निःशुल्क चिकित्सा की गयी। जिनमें २२५ नये रोगी तथा ८०० पुराने रोगी आये। नये रोगियों की संख्या निम्न प्रकार है—वातश्लैष्मिक ज्वर ६५, शिशु रोग २५ चर्म रोग ३५ कर्ण रोग २० प्रदर १० कासश्वास ३० अजीर्ण १० आम तिसार ३०।

श्री बैद्यनाथ धर्मार्थ चिकित्सालय, नागपुर

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० ग्रेट नाग रोड, नागपुर द्वारा संचालित श्री बैद्यनाथ धर्मार्थ चिकित्सालय तथा स्वास्थ्य रक्षा-केन्द्र, वाकर रोड, नागपुर में माह अक्टूबर सन् १९७८ में ८९७३ रोगियों की निःशुल्क चिकित्सा की गयी जिनमें ९४८ रोगी नये आये। रोगियों की संख्या निम्न प्रकार है।

वातश्लेष्मिक ज्वर २३, ज्वर २२८, शीत ज्वर १, जीर्णज्वर ६, अतिसार १६, ज्वरातिसार ४, अर्श १५, अग्निमांद्य ३५, अजीर्ण ६, क्रिमि ५, कामला १, पित्त ३, राजयक्ष्मा ५, कास ६६, हिक्का १, श्वास ४०, वमन ३, शिरोभ्रम २, दाह २९, वातव्याधि १४, आध्मान १५, गृध्रसी १, वातशुष्क ६३, आमवात १०, उदरशूल १६, परिणामशूल ८, उदावर्त ६, प्रमेह, यकृताल्युदर १, जलोदर १, शोथ १८, आन्त्रवृद्धि २, ग्रंथि शोथ १, व्रण १, उपदंश १, पामादद्रु ८१, शीतपित्त ७, अम्लपित्त १८, रक्तविकार १४, दन्त ४, कण्ठ रोग २, मुखपाक ६, कर्ण-रोग ९, प्रतिश्याय ३४, नेत्र रोग २, शिरःशूल ९, प्रदर १४, सुतिका ४, बालरोग १, बहुमूत्र, कटिशूल ४, विबंध दौर्बल्य ६२, कास ज्वर १२, कुल जोड़ ९४८।

श्री ५ की सरकार

स्वास्थ्य मंत्रालय स्वास्थ्य सेवा विभाग

आयुर्वेद चिकित्सालय काठमांडू

२०३५ साल में आश्विन महीने में निःशुल्क सेवा प्राप्त रोगियों का विवरण

(क) नवीन तथा पुराने रोगियों की कुल संख्या २,२५२

(ख) (१) पुरुष रोगी संख्या-१,०८१

(२) महिला रोगी संख्या ८०३

(२) बालक रोगी संख्या : स्त्री-१०६ पु० १०९=२१५

जिसमें निम्न विभागों से निःशुल्क उपचार (सेवा) किया गया है।

(१) काय चिकित्सा विभाग से उपचारित सं० १,२१५

(२) शल्य-शालाक्य विभाग से उपचारित सं० ७६९

पुनरागत रोगियों का विवरण

(ग) पुनरागत उपचारार्थ आए हुए रोगियों की सं० १,२६८

(१) काय-चिकित्सा विभाग में उपचारित सं० ८६७

(२) शल्य-शालाक्य विभाग से उपचारित सं० ४०१

अन्तरंग विभाग में प्रविष्ट रोगियों का विवरण

(ख) प्रविष्ट रोगियों की कुल सं० ४६

(१) गत माह उपचारित रोगी सं० २०

(२) वर्तमान प्रविष्ट रोगी सं० २६

(३) पूर्ण स्वास्थ्य लाभ प्राप्त रोगी सं० २३

(४) कुछ कम लाभ प्राप्त रोगी सं० १२

(५) स्वेच्छा से मुक्त हुए रोगियों की सं० ३

(६) चिकित्साधीनस्थ रोगी सं० ७

(७) मृत्यु संख्या-१

सेण्ट्रल काउन्सिल आफ इंडियन मेडिसिन द्वारा आयुर्वेदीय पाठ्यक्रम में स्वीकृत

बैद्यनाथ प्रकाशन

सेण्ट्रल काउन्सिल आफ इण्डियन मेडिसिन ने समग्र भारत में आयुर्वेदीय पाठ्यक्रम में एकरूपता लाने हेतु आयुर्वेदाचार्य (बी. ए. एम. एस.) का पाठ्यक्रम तैयार किया है । जनवरी १९७७ से यह व्यवहार में भी आ गया है। इसमें कई बैद्यनाथ प्रकाशन भी पाठ्य ग्रंथ अथवा आलोच्य ग्रंथ के रूप में स्वीकृत हुए हैं। इनकी पृथक-पृथक सूची विषय तथा लेखक के नाम के साथ नीचे दी जा रही है।

पाठ्य ग्रंथ (टेक्स्ट बुक)

१. पदार्थ विज्ञान—पदार्थ विज्ञान, लेखक—डा० रामरक्ष पाठक
२. शरीर रचना विज्ञान—अभिनव शारीरम्, लेखक—श्री दामोदर शर्मा गौड़
३. शरीर क्रिया विज्ञान—आयुर्वेदीय क्रिया शारीर, लेखक—वैद्य रणजित राय देसाई
४. काय-चिकित्सा—आयुर्वेदीय पंचकर्म विज्ञान, लेखक—वैद्य हरिदास श्रीधर कस्तुरे

आलोच्य ग्रंथ (रेफरेन्स बुक)

१. पदार्थ विज्ञान—आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान, वैद्य रणजित राय देसाई
२. स्वस्थवृत्त—आयुर्वेदीय हितोपदेश, वैद्य रणजित राय देसाई
३. द्रव्यगुण विज्ञान—द्रव्यगुण विज्ञान, लेखक—वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य
४. द्रव्यगुण विज्ञान—औषध विज्ञान-शास्त्र, लेखक—आचार्य विश्वनाथ द्विवेदी
५. रोग विज्ञान तथा विकृति विज्ञान—आयुर्वेदीय व्याधि विज्ञान
लेखक—वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य
६. काय-चिकित्सा—मानस रोग विज्ञान, लेखक—डा० बालकृष्ण अमरजी पाठक
७. शालाक्य तंत्र—नेत्र चिकित्सा विज्ञान, लेखक—डा० वी० एस० मुंजे

बैद्यनाथ-प्रतिष्ठान अपने प्रकाशनों की इस स्वीकृति से अपने को गौरवान्वित मानता हुआ काउन्सिल के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता है तथा लेखकों को अभिनन्दन प्रदान करता है॥